ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यम्

श्रीवाचस्पति मिश्र प्रणीत 'भामती' संवलित

स्वामी योगीन्द्रानन्द कृत

'भामती' हिन्दी व्याख्या विभूषित

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी
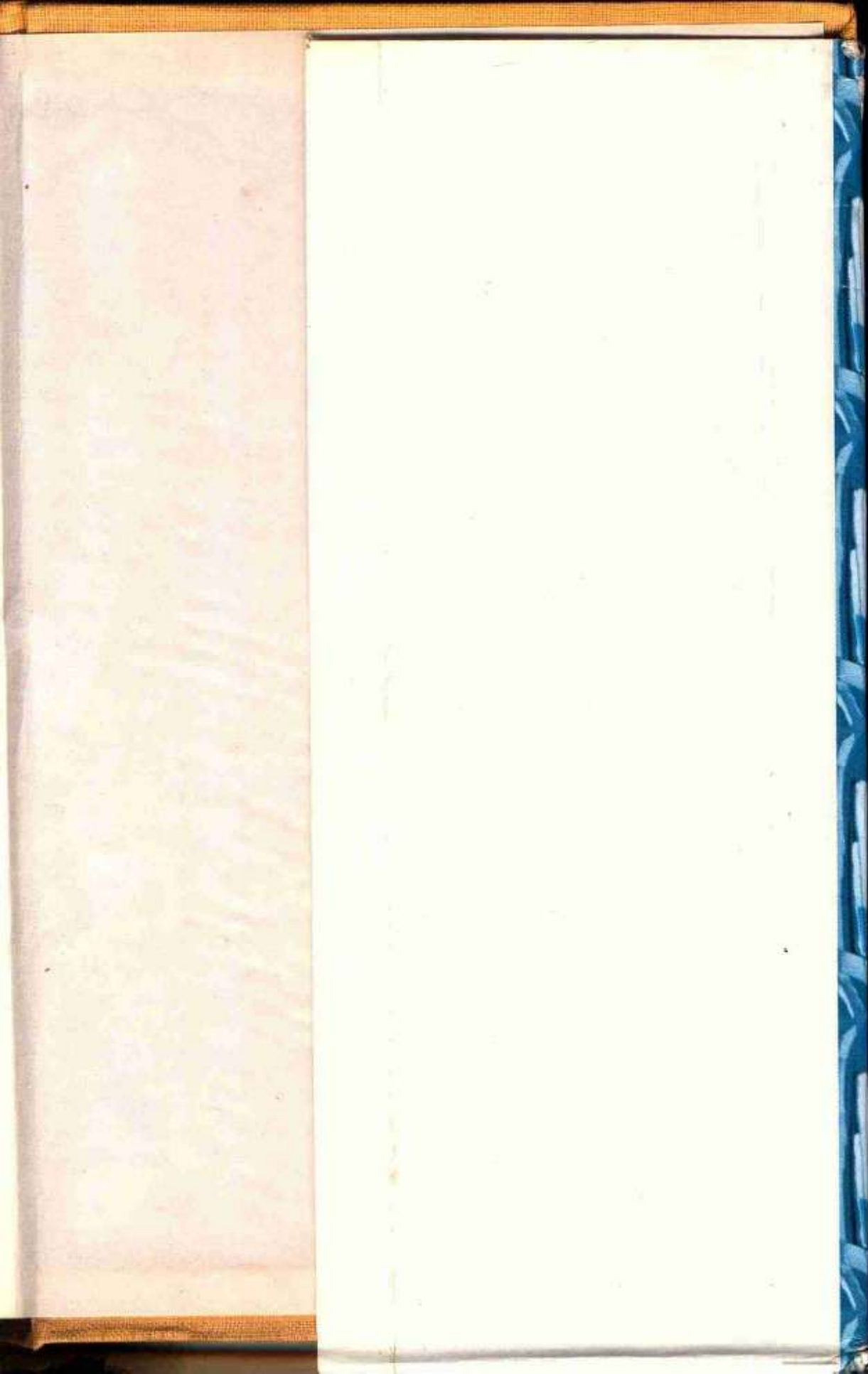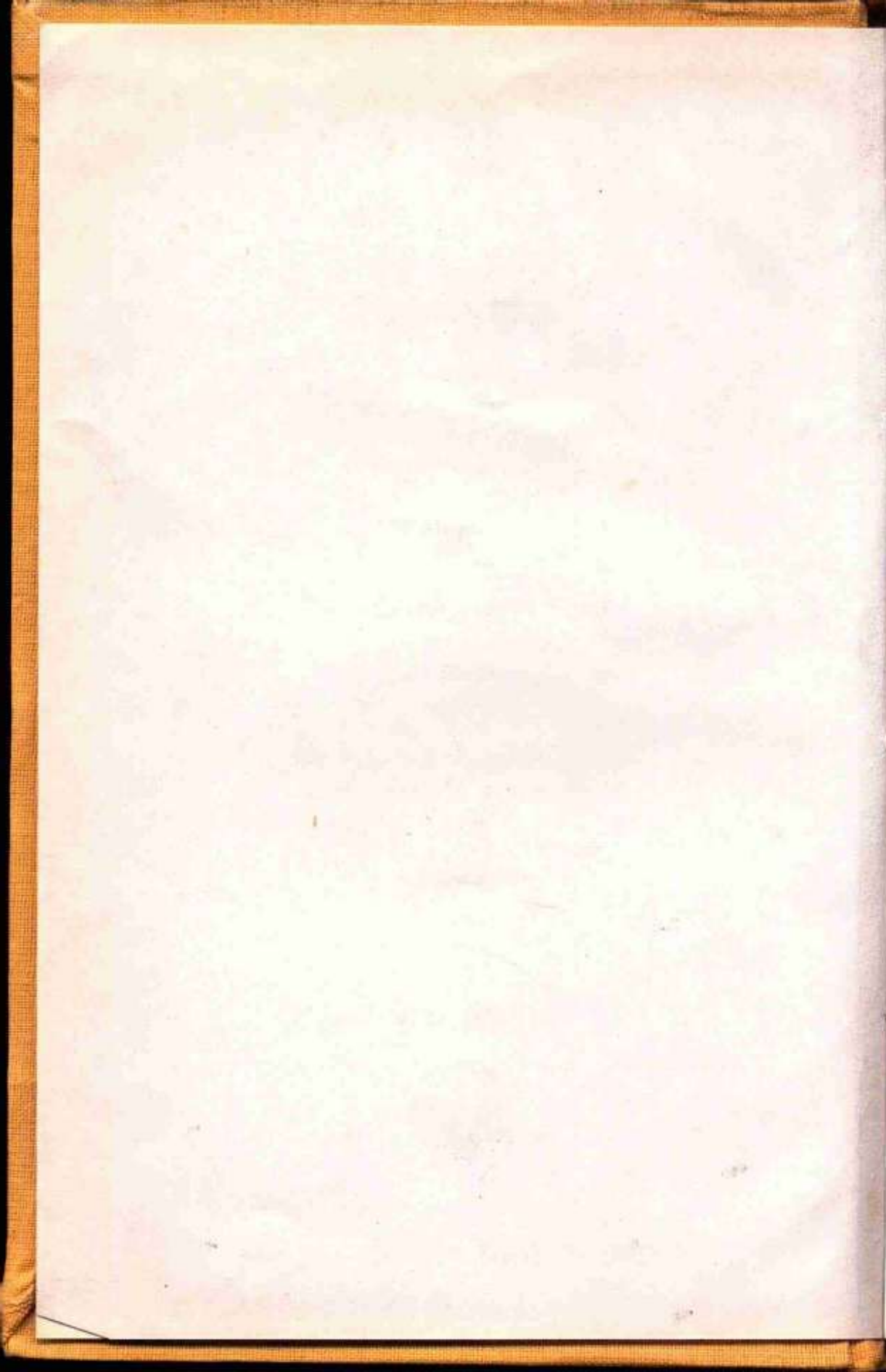
विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला
१२

महर्षिबादरायणप्रणीतम्

ब्रह्मसूत्रम्

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगव-
त्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्कराचार्यभगव-
त्पूज्यपादविरचितम्

शारीरकमीमांसाभाष्यम्

श्रीमद्वाचस्पतिमिश्रभावितभाष्यविभागो

भामती

परमहंसपरिव्राजकाचार्योदासीनवर्यस्वामिश्री-
ऋषिरामशिष्यस्वामियोगीन्द्रानन्द-
निर्मिता

भामतीव्याख्या

१
प्रथमो भागः

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : 2420404

संस्करण २००५ ई
मूल्य ३००–००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ३३३४३१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर
पो० बा० नं० २११३
दिल्ली ११०००७
दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक
फूल प्रिण्टर्स
वाराणसी

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ की अन्त:परिधि का अध्ययन करने से पहले इसके बाह्य कलेवर की मीमांसा आवश्यक प्रतीत होती है, क्योंकि नाम और रूप का परिवेष ही अपने में अवगुण्ठित अस्ति-भाति-प्रियतत्त्व का उपलक्षक माना जाता है, परीक्षित लक्षण लक्ष्य का सटीक परिचायक होता है। फलतः ग्रन्थ का नाम तथा उसके रचयिता का कुछ परिचय कराया जाता है—

१. ग्रन्थ और ग्रन्थकार

१. ग्रन्थ का नाम—'ब्रह्मसूत्र' इस ग्रन्थ की प्रख्यात समाख्या है। सूत्र-ग्रन्थों का नामकरण दो प्रकार से होता आया है—(१) प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से, जैसे 'सांख्यसूत्र,' 'न्यायसूत्र' इत्यादि। (२) ग्रन्थकार के नाम पर भी ग्रन्थ का नाम रखा जाता है, जैसे 'पाणिनिसूत्र', 'कात्यायनसूत्र', 'जैमिनिसूत्र'। ब्रह्मविषयिणी मीमांसा को 'ब्रह्मसूत्र' कहना सर्वथा न्याय-संगत है।

आदरणीय वासुदेवशरण अग्रवाल ने कुछ पाश्चात्य विचारकों के साक्ष्य पर इस ग्रन्थ का नाम 'भिक्षुसूत्र' बताया है[1]। दार्शनिक वाङ्मय के प्रमुख पारखी श्री गोपीनाथ कविराज ने अपनी प्रसिद्ध ब्रह्म-सूत्र-भूमिका (पृ० २) में लिखा है कि यदि यह कल्पना सत्य है, तब वह 'भिक्षुसूत्र' 'वेदान्तसूत्र' या 'ब्रह्मसूत्र' से भिन्न नहीं होगा''। कविराज जी की इस व्यवस्था से असहमति व्यक्त करते हुए उदयवीर शास्त्री कहते हैं[2] कि ''पाणिनि ने पञ्चशिख की सांख्यविषयक रचना का 'भिक्षुसूत्र' पद से निर्देश किया है। फलतः पाणिनि के इस सूत्र के आधार पर कविराज डा० गोपीनाथ द्वारा की गई कल्पना पूर्णरूप से सन्दिग्ध है''।

गवेषकों का बहुमत इसी पक्ष में प्रतीत होता है कि पाणिनि-सूत्र में निर्दिष्ट 'भिक्षुसूत्र' यह 'ब्रह्मसूत्र' नहीं, क्योंकि यह यदि कृष्णद्वैपायन व्यास-द्वारा रचित मान भी लिया जाय, तब भी व्यास को पाराशर्य मुख्यतः नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'पराशर' शब्द से गोत्रार्थ में ''गर्गादिभ्यो यञ्'' (पा० सू० ४।१।१०५) इस सूत्र के द्वारा यञ्' प्रत्यय करने पर पाराशर्य' शब्द सम्पन्न होता है। ''अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्'' (पा. सू. ४।१।१६२) इस सूत्र के द्वारा पौत्र-प्रपौत्रादि की ही गोत्र संज्ञा होती है, साक्षात् पुत्र की नहीं, व्यास तो पराशर के साक्षात् पुत्र थे, अतः व्यास को पाराशर्य कहना क्योंकर सम्भव होगा? दूसरी बात यह भी है कि वहाँ कर्मन्द के द्वारा प्रणीत अन्य भी भिक्षुसूत्र निर्दिष्ट है, अतः भिक्षुसूत्र अनेक मानने ही पड़ते हैं तब इस बादरायण-सूत्र को उस झमेल मे डालने को आवश्यकता नहीं। आगे चल कर यह कहा जायगा कि तर्कपाद में आलोचित विषय और उनका सूत्र-निर्दिष्ट परिभाषाएँ बुद्ध-काल से बहुत परवर्ती बौद्धाचार्यों-द्वारा उद्भावित हैं, अतः बुद्धकालीन पाणिनि-सूत्रों मे आबद्ध भिक्षुसूत्र कोई अन्य ही होगा, जो इस समय उपलब्ध नहीं। हाँ, नागार्जुन (ई. द्वितीय शताब्दी) के द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद का निराकरण सूत्रों में न होने के कारण उससे पूर्व किसी समय की यह रचना मानी जाती है।

२. ग्रन्थकार—इस सूत्र-ग्रन्थ का रचयिता कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में

---

१. ''पाणिनिकालीन भारत'' के पृष्ठ ३२६ पर लिखा है—'वेबर का मत है कि पा. सू. ४।३।११०,१११ में पाणिनि बुद्धकालीन ब्राह्मण-भिक्षुओं का उल्लेख कर रहे हैं। पाराशर्य-कृत भिक्षुसूत्र वर्तमान वेदान्तसूत्र ज्ञात होते हैं।''

२ 'वेदान्त दर्शन का इतिहास' पृ० ६० पर।

पञ्चपादिकाकारादि के द्वारा बादरायण का नाम प्रस्तुत किया जाता है[1]। खण्डनखण्डखाद्य-कार भी उसी का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं[2]। श्री वाचस्पति मिश्रादि आचार्यगण वेदव्यास की चर्चा करते हैं[3]। इन विभिन्न वादों का सामञ्जस्य करनेवाले विद्वानों का कहना है कि दोनों नाम उन्हीं महर्षि कृष्णद्वैपायन के हैं, जिन्होंने महाभारतादि इतिहासों और अष्टादश पुराणों की रचना की। इतना ही नहीं पातञ्जल योगसूत्रों के भाष्यकार भी वे ही हैं[4]। चिरजीवी महायोगियों का जीवन कई सहस्र वर्ष तक बना रहता है, समय-समय पर श्रद्धालु अधिकारियों को दर्शन देते रहते हैं। भगवान् आद्य शङ्कराचार्य को भी काशी में महर्षि वेदव्यास ने दर्शन देकर भाष्य-प्रणयन की प्रेरणा दी थी।

यहाँ यह विचारणीय है कि 'वेदव्यास' या 'व्यास' नाम का एक ही महापुरुष हुआ है? अथवा अनेक? यदि एक ही है, तब वह निश्चित कृष्णद्वैपायन व्यास है, बादरायण-व्यास कैसे? यदि व्यास अनेक हैं, तब उनमें बादरायण व्यास का उल्लेख है? या नहीं? इस विषय की चर्चा करते हुए स्वयं महर्षि पराशर ने कहा है कि व्यास एक नहीं, अट्ठाईस हुए हैं—

वेदव्यासा व्यतीता ये ह्यष्टाविंशति सत्तम।
चतुर्धा यैः कृतो वेदो द्वापरेषु पुनः पुनः॥ (वि. पु. ३।३।१०)

अट्ठाईसों के क्रमशः नाम इस प्रकार हैं—

१. स्वयम्भू (ब्रह्मा)
२. प्रजापति
३. शुक्राचार्य
४. बृहस्पति
५. सविता
६. मृत्यु (यम)
७. इन्द्र
८. वसिष्ठ
९. सारस्वत
१०. त्रिधामा
११. त्रिशिख
१२. भरद्वाज
१३. अन्तरिक्ष
१४. वर्णी
१५. त्र्यारुण
१६. धनञ्जय
१७. क्रतुञ्जय
१८. जय
१९. भरद्वाज
२०. गौतम
२१. हर्यात्मा
२२. वाजश्रवा मुनि
२३. तृणविन्दु
२४. ऋक्ष
२५. शक्ति
२६. पराशर
२७. जातुकर्ण
२८. कृष्णद्वैपायन

कथित अट्ठाईस व्यासों में जैसे कृष्णद्वैपायन का स्पष्ट उल्लेख है, वैसा बादरायण का नहीं, अतः बादरायण को कृष्णद्वैपायन व्यास से भिन्न मानना अनिवार्य है।

"अपि च स्मर्यते" (ब्र. सू. २।३।४५) इस सूत्र में निर्दिष्ट स्मृति के रूप में भाष्यकार

---

१. पञ्चपादिका के मङ्गल-पद्यों में कहा है —

नमः श्रुतिशिरःपद्मषण्डमार्तण्डमूर्तये।
बादरायणसंज्ञाय मुनये शमवेश्मने॥

२. खण्डन. पृ. ८ पर कहा है—"भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाभावि"।

३. भामती-मङ्गल-श्लोकों में कहा है—"वेदव्यासाय धीमते"।

४. द्र. सर्वशास्त्रनिष्णात स्वामी बालराम द्वारा व्याख्यात योग-भाष्य की भूमिका।

ने "ममैवांशो जीवलोके" (गी. १५।७) इस गीता-पद्य को प्रस्तुत किया है। यदि गीताशास्त्र के प्रणेता भगवान् व्यास ही ब्रह्मसूत्रकार हैं, तब वे अपनी ही कृति को स्मृति के रूप में उल्लिखित करते हैं—यह समुचित प्रतीत नहीं होता, अत एव भगवद्गीता[1] में जो 'ब्रह्मसूत्र' पद आया है, उसका अर्थ आचार्य शङ्कर ने किया है—"ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि। आत्मेत्येवोपासीत (बृह. उ. १।४।७) इत्यादिभिर्हि ब्रह्मसूत्रपदैः आत्मा ज्ञायते" (गी. १३।४)। इससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि गीता में निर्दिष्ट 'ब्रह्मसूत्र' पद से बादरायणीय सूत्रों का ग्रहण सम्भव नहीं, क्योंकि उनकी रचना गीता के बहुत पश्चात् की गई है। स्वयं भगवान् शङ्कराचार्य "अनावृत्तिः शब्दात्" (ब्र. सू. ४।४।२२) इस सूत्र की पातनिका में कहते हैं—"भगवान् बादरायणः आचार्यः पठति"।

श्री बालगङ्गाधर तिलक ने जो अपने 'गीता-रहस्य' में व्यवस्था दी है कि 'पहले कोई विस्तृत गीता बनी, उसके अनन्तर ब्रह्मसूत्र और उसके पश्चात् संक्षिप्त गीता की रचना की गई, अत एव ब्रह्मसूत्र में गीता और गीता में ब्रह्मसूत्र का उल्लेख संगत है'। तिलक जी का वह बौद्धिक व्यायाम ऋषियों की असीम शक्ति को सीमित कर देता है। जैसे हमलोग कुछ लिख कर उसे काटते-कूटते और बढ़ाते-घटाते हैं, वैसे ऋषिगण नहीं किया करते। उनकी सधी लेखनी से जो लकीर बन गई, वह पत्थर की लकीर हो जाती थी।

बादरायण-सूत्रों में जो सांख्य, योग और पाञ्चरात्र आदि के मतवाद आलोचित हैं, उनका मूलरूप महाभारत[2] में पाया जाता है, अतः महाभारत-काल के पश्चात् ही इनकी रचना सिद्ध होती है।

३. आचार्य बादरायण का समय

ऊपर के विवेचनों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि बौद्धों की माहायानिक धारा का उद्गम हो जाने के अनन्तर ही आचार्य बादरायण के अद्वयवाद का समुदय होता है—जैमिनि और बादरायण का एक-दूसरे के सूत्रों में परस्पर उल्लेख होने के कारण दोनों समसामयिक हैं। जैमिनि का समय ई. पूर्व द्वितीय शताब्दी माना जाता है, अतः [3]श्रीदास गुप्ता के अनुसार ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी ही बादरायण का समय मानना उचित प्रतीत होता है। श्री उदयवीर शास्त्री का जो महान् प्रयत्न समूचे हिमालय पर्वत को पीछे ढकेलने में हो रहा है, वह तभी सफल हो सकता है, जब कि महाभारत-काल को स्थिर और ध्रुव माना जा सके, किन्तु यह एक टेढ़ी खीर है। आचार्य बादरायण चाहे पुरातन हों या नूतन, उनका व्यक्तित्व सदैव श्रद्धास्पद और सराहनीय ही रहेगा।

जैमिनि-सूत्रों में केवल बादरायण का ही उल्लेख नहीं, अपितु बादरायण-सूत्र चर्चित आचार्यों का बहुत साम्य है, अतः दोनों के सूत्रों में निर्दिष्ट व्यक्तियों की नामावलि प्रस्तुत की जाती है—

४. जैमिनि सूत्र-निर्दिष्ट आचार्य—बादरायण (१।१।५), बादरि (३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ९।२।३०), आश्मरथ्य (६।५।१६, १६।२।१), आत्रेय (४।३।१८, ५।२।१८, ६।१।२६),

---

१. "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" (गी० १३।४)

२. सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥ (म. भा. शान्ति ३४९।६४)

३. इण्डियन फिलासफी का हिन्दी रूपान्तर भाग १ पृ. ४२६

४. शाण्डिल्य सूत्रों में बादरायण के लिए कहा है—
"आत्मैकपरां बादरायणः" (शां. सू. ३०)

कार्ष्णाजिनि (४।३।३५, ६।७।२६), ऐतिशायन (३।२।४३, ३।४।२४, ६।१।६), कामुकायन (११।१।५६, ११।१।६१), कार्वायण (४।३।१७, ६।७।३५), लाबुलायन (६।७।३७), आलेखन (६।५।१७, १६।२।१)।

५. बादरायण-सूत्र-उद्धृत आचार्य–जैमिनि (१।२।२८, १।३।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२–७, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११), बादरि (१।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०), आश्मरथ्य (१।२।२९, १।४।२०), आत्रेय (३।४।४४), काशकृत्स्न (१।४।२२), कार्ष्णाजिनि (३।१।९), औडुलोमि (१।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६)।

२. भाष्यकार भगवान शङ्कर

आज-कल ७८८ ई० से लेकर ८२० ई० तक का समय आचार्य शङ्कर का माना जाता है, क्योंकि आचार्य शङ्कर के समकालिक एवं प्रधान शिष्य श्री सुरेश्वराचार्य ने बौद्धाचार्य श्री [1]धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है। धर्मकीर्ति का समय ६०० ई० से लेकर ६५० ई० तक माना जाता है। अन्य विद्वानों का यह मत है कि आचार्य शङ्कर धर्मकीर्ति और दिङ्नाग के मध्य में हुए हैं, क्योंकि आचार्य ने अपने भाष्य में दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय से एक वाक्य उद्धृत किया है[2]–'सहोपलम्भनियमादभेदः'। किंतु प्रत्यक्ष के लक्षण में धर्मकीर्ति ने जो 'अभ्रांत' पद जोड़ा है, वह शां. भाष्य में उद्धृत नहीं। यद्यपि मठाम्नायों की परम्परा से उक्त समय का मेल नहीं खाता, तथापि श्री गोपीनाथ कविराज-जैसे इतिहासवेत्ता आस्तिक पुरुषों ने कहा है—"गौडपादाचार्य तक गुरु-परम्परा को ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत मानने में कोई मत-भेद नहीं है, परन्तु गौडपाद के गुरु शुकदेव तथा उनके गुरु व्यास—इसी क्रम से प्राचीन गुरु-परम्परा वर्तमान ऐतिहासिक विचार के बहिर्भूत है" (ब्र. सू. भूमिका पृ. १९)।

३. भामतीकार श्रीवाचस्पतिमिश्र

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्री वाचस्पतिमिश्र ने तो न्यायसूचीनिबन्ध में अपने समय का उल्लेख कर ही दिया है[4]। उसके अनुसार ८९८ वि. संवत् या ८४१ ई. निश्चित होता है। भामती व्याख्या सम्भवतः इनकी अन्तिम रचना है, जैसा कि अपनी रचनाओं का क्रम-निर्देश स्वयं मिश्रजी ने भामती के अन्त में किया है—

यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वबिन्दुभिः।
यन्न्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः॥

सबसे पहले श्री मण्डनमिश्र के विधिविवेक की व्याख्या न्यायकणिका की रचना की गई, उसके पश्चात् ब्रह्म-सिद्धि की व्याख्या तत्त्वसमीक्षा, तत्त्वबिन्दु (स्वतन्त्र भाट्टपक्षीय शाब्द-ग्रन्थ)। न्याय में उद्योतकर-वार्तिक की व्याख्या तात्पर्यटीका, सांख्य में ईश्वरकृष्ण-कृत कारिकाओं की व्याख्या सांख्यतत्त्वकौमुदी, योग में पातञ्जल सूत्रों के व्यास-भाष्य की व्याख्या तत्त्ववैशारदी—इन ग्रन्थरत्नों का निर्माण हुआ। सबसे अन्त में ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य की व्याख्या भामती की रचना की गई।

---

१. "त्रिष्वेव स्वविनाभावाविति यद् धर्मकीर्तिना।
प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः॥" (बृह० वा० ४।३।७५२)

२. ब्र० सू० भा० २।२।२८ में उद्धृत वाक्य से भिन्न यह पद्य है—
सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥ (प्र० वा० २।३९)

४. न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥

'भामती' नाम के विषय में कुछ लोगों का कहना है कि मिश्रजी की पत्नी का नाम भामती था, कुछ मिश्र जी की कन्या का नाम बताते हैं और कुछ विद्वानों का कहना है कि 'भामा' नाम की नगरी में रहने के कारण श्रीवाचस्पतिमिश्र ने अपनी व्याख्या का नाम भामती रखा है। कुछ हो, यह एक अमर कीर्ति है उस कीर्ति पुञ्ज की, जिसकी चका-चौन्ध समूचे दार्शनिक विश्व में व्याप्त है।

१—भामती और भास्कर-भाष्य

श्री वाचस्पति मिश्र ने भेदाभेदवादी आचार्य भास्कर की विशेषरूप मे आलोचना की है, क्योंकि भास्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य शाङ्कर-भाष्य का निराकरण ही माना है—

सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये॥ (भास्कर. पृ. १)

यहाँ 'यैः' पद से आचार्य शङ्कर का ही ग्रहण किया गया है। आचार्य शङ्कर से पहले भी आचार्य बोधायन और आचार्य उपवर्षादि के बृहत्काय वृत्ति-ग्रन्थ थे, जिनमें ब्रह्मसूत्रों की विशद व्याख्या की गई थी, किन्तु उनमें विशुद्ध अद्वैतवाद का सम्भवतः प्रतिपादन नहीं था। आचार्य शङ्कर के द्वारा उनकी अवहेलना अनिवार्य थी। वही अवहेलना आचार्य भास्कर और परवर्ती अन्य आचार्यों के मस्तिष्क में अद्वयवाद के प्रति भयङ्कर विस्फोट उत्पन्न करती आ रही है। आचार्य उपवर्ष और द्रविड़ाचार्यादि ने भी बोधायन की वृत्ति को कुछ संक्षेप और अर्थान्तर की ओर मोड़ दिया था, अत एव आचार्य रामानुज ने कहा है—"भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः, तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते' (श्रीभा. पृ. १)।

प्रकृत में आचार्य भास्कर के द्वारा किए गए शाङ्कर भाष्य के निराकरण-प्रकारों का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है, जिससे वाचस्पति मिश्र की भास्करीय आलोचना प्रशस्त हो सके—

१—"अक्षरमम्बरान्तधृतेः" (ब्र. सू. १।३।१०) इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य भास्कर लिखते हैं—'केचिद् अक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वादक्षरमोंकार इति पूर्वपक्षयन्ति,..... तदेतदधिकरणेनासम्बद्धम्" (भास्कर. पृ. ५४)। यहाँ 'केचित्' पद से भास्कर ने आचार्य शङ्कर का ग्रहण कर उनके पूर्वपक्ष को असंगत ठहराया है। वाचस्पतिमिश्र ने वहीं पर भास्करीय वक्तव्य का अनुवाद करके खण्डन किया है—"ये तु प्रधानं पूर्वपक्षयित्वा..." (भामती पृ. ४४३)।

२. आचार्य भास्कर ने जीव और ईश्वर के भेदाभेद का उपपादन करते हुए कहा है—"ननु भेदाभेदौ कथं परस्पर विरुद्धौ सम्भवेताम्? नैष दोषः—

प्रमाणतश्चेत् प्रतीयते को विरोधोऽयमुच्यते।
विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम्॥

(भास्कर. पृ. १०३)। आचार्य वाचस्पति कहते हैं—'अथ त्वगृह्यमाणविशेषतया..." (भामती पृ. ५१८)। मिश्र जी का भाव स्पष्ट करते हुए वहीं कल्पतरुकार ने कहा है—"भेदाभेदव्यवस्था चेत्"। श्री अप्पयदीक्षित ने इस ग्रन्थ का अवतरण दिया है—"भास्करग्रन्थेषु विरुद्धयोरपि समवल्पयोरपि भेदाभेदयोरसंकरोपपादनं कृतम्, तन्निरस्यति"।

३—श्री भास्कराचार्य ने जीव को ईश्वर का अंश बताते हुए एक लम्बा-सा वक्तव्य दिया है—"तदंशो जीवोऽस्ति....." (भास्कर. पृ. १४०)। आचार्य वाचस्पति ने उस वक्तव्य

का अनुवाद करके खण्डन किया है—"ये तु काशकृत्स्नीयमेव मतमास्थाय जीवं परमात्मनोऽभमाचख्युः" (भामती. पृ. ५२२)।

४. श्री भास्कराचार्य ने परिणामवाद का समर्थन करते हुए कहा है—"सूत्रकारः श्रुत्यनुकारी परिणामपक्षं सूत्रयाम्बभूव। अयमेव छान्दोग्ये वाक्यकारवृत्तिकाराभ्यां समाश्रितः, तथा च वाक्यम्—परिणामस्तु दध्यादिवदिति। विगीतं विच्छिन्नमूलं माहायानिकबौद्धगाथायितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति" (भास्कर. पृ. ८५)। वाचस्पति मिश्र ने आचार्य ब्रह्मनन्दी के उक्त वाक्य का आशय बताते हुए कहा है—"इयं चोपादानपरिणामादिभाषा न विकाराभिप्रायेण, अपितु यथा सर्पस्योपादानं रज्जुरेवं ब्रह्म जगदुपादानम्" (भामती० पृ० ५३०)।

२—भामती व्याख्या

व्याख्या तो सम्पूर्ण भामती की प्रकाशित हो रही है, किन्तु ग्रन्थके कलेवर को अप्रत्याशित बृंहण से बचाने के लिए पूरे ग्रन्थ को दो भागों में प्रकाशित करना ही उचित समझा गया। प्रथम अध्याय के चार पाद एवं द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद को मिलाकर सवा छः सौ पृष्ठ के लगभग हो गए हैं, आगे सम्भवतः इतना ही शेष है। प्रकाशन कार्य की विलम्बता से बहुत से प्रतीक्षकों का धैर्य भी टूट रहा है, अतः पञ्च पाद का यह प्रथम भाग प्रकाशित कर दिया गया है। द्वितीय भाग का प्रकाशन भी चालू है, उसके पूरा होने में कुछ समय तो लग ही जायगा।

पूरे ग्रन्थ का मुद्रण हो जाने के पश्चात् ही भूमिकादि पूर्वाङ्ग एवं परिशिष्टात्मक उत्तराङ्गों का सम्पादन सम्भव हो पाता है, अतः यहाँ मूल ग्रन्थ, भाष्य एवं भामती के रचयिता का स्वल्प परिचय ही दिया गया है, ग्रन्थ के विषय में शेष वक्तव्य द्वितीय भाग के आरम्भ में दिया जायगा।

के० ३७/२ ठठेरीबाजार
वाराणसी

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य मीमांसातीर्थ

हिन्दीव्याख्यासहितभामतीसंवलितस्य ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यस्य विषयानुक्रमणी

समन्वयाख्यप्रथमाध्यायस्य

अविरोधाख्यद्वितीयाध्यायस्य

(१) प्रथमे पादे—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्,

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा,

धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

(श्रीमद्भा० १।१।१।)

तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

समन्वयाध्याये प्रथमे

प्रथमः पादः

भामती

अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो विवर्त्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽब्वनयः ।
यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम् ॥ १ ॥

भामती–व्याख्या

सहस्रधारके यस्मिन्नृषयो नो मनीषिणः ।
पुनन्ति स्वं वचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥
यदावृत्याविद्या परिणतिविवर्ता विजयते,
अनिर्वाच्या चित्रा सदसदभिलापाप्रलपिता ।
यदेवानावृत्य प्रक्रिरति विमुक्ति मतिमतां,
तदेव ब्रह्माहं कथमपि नमस्यामि मननात् ॥ २ ॥
अश्रौततन्त्रकान्तारे श्रौतदर्शनविस्तरे ।
श्रीवाचस्पतिमिश्राणां समं नृत्यति भारती ॥ ३ ॥
प्रसादो वदने यस्या हृदि गाम्भीर्यमद्भुतम् ।
भाष्याभिरूपतामेति व्याख्या सैषेव भामती ॥ ४ ॥
भामतीपतिरेकाकी बभूवास्या रहस्यवित् ।
वयं तु केवलमस्या वीक्षितं वीक्षितु क्षमाः ॥ ५ ॥

स्वभावतः अनिर्वाच्य (सत् और असत् से भिन्न) एवं मूलाविद्या और तूलाविद्या के भेद से दो प्रकार की अविद्या (भावरूप अज्ञान) के सहयोग से ब्रह्म के 'आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी'—ये पाँच भूत विवर्त (अतात्त्विक कार्य) हो जाते हैं। इतना ही नहीं जिस ब्रह्म से समस्त चराचर (चल और अचल) प्रपञ्च समुद्भूत हो जाता है, उस असीम सुख-सिन्धु और शाश्वत ज्ञानरूप ब्रह्म को हम (वाचस्पति मिश्र) नमस्कार करते हैं। [इस शिखरिणी छन्द में ब्रह्म का द्वितीय-सूत्र-सूचित जगज्जन्मादिकर्तृत्वरूप तटस्थ लक्षण तथा सच्चिदानन्दत्वरूप स्वरूप लक्षण प्रस्तुत किया गया है] ॥ १ ॥

इसी ब्रह्म के द्वारा श्वास-प्रश्वास के समान ऋगादि वेद, दृष्टिपातमात्र के समान आकाशादि पाँच महाभूत एवं एक सहज मुस्कान के समान समग्र स्थावर-जङ्गम जगत्

भामती

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि ।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः ॥ २ ॥
षड्भिरङ्गैरुपेताय विविधैरव्ययैरपि ।
शाश्वताय नमस्कुर्मो वेदाय च भवाय च ॥ ३ ॥
मार्त्तण्डतिलकस्वामिमहागणपतीन् वयम् ।
विश्ववन्द्यान् नमस्यामः सर्वसिद्धिविधायिनः ॥ ४ ॥

भामती—व्याख्या

अनायास ही रचा गया है । जैसे उसके सङ्कल्प मात्रसे विशाल विश्व की सृष्टि हो जाती है, वैसे ही उसका सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) में सो जानामात्र महाप्रलय कहलाता है । [इस पद्य के द्वारा तृतीय सूत्र-प्रोक्त शास्त्रयोनित्व का स्पष्टीकरण "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः" (बृह० उ० २।४।१०) इस श्रुति के प्रकाश में किया गया है। इससे ब्रह्म में सर्वज्ञता फलित होती है] ॥ २ ॥

छः अङ्ग और विविध अव्ययों से परिपूर्ण भगवान् शङ्कर और वेद को हम (वाचस्पति मिश्र) नमस्कार करते हैं । [भगवान् शङ्कर के छः अङ्ग शिवपुराण (विद्येश्वर-रसं. १६।१२) में वर्णित हैं—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अचिन्त्यशक्तिश्च विभोर्विविज्ञा षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥

इसी प्रकार भगवान् वेद के छः अङ्ग मुण्डकोपनिषत् (१।१।५) में कहे गये हैं—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दो ज्योतिषम् ।" भगवान् शङ्कर के दश अव्ययों का वर्णन वायु पुराण में किया गया है—

ज्ञानं विरागतैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टृत्वमात्मसंबोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥

वेद में 'च, ह, वा' आदि अव्ययपदों का प्रयोग अत्यन्त प्रसिद्ध है] ॥ ३ ॥

मार्तण्ड (भगवान् सूर्य), तिलकस्वामी (भाल में तिलक लगाना जिन्हें अत्यन्त प्रिय है, ऐसे स्वामी कार्तिकेय) और महागणपति को हम (वाचस्पति मिश्र) नमस्कार करते हैं । ये सब देवगण विश्व-वन्द्य हैं, इनकी पूजा करने से सिद्धि प्राप्त होती है [जैसा कि याज्ञवल्क्यस्मृति (१।२९४) में कहा गया है—

आदित्यस्य सदा पूजां तिलकं स्वामिनस्तथा ।
महागणपतेश्चैव कुर्वन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥] ॥ ४ ॥

वैष्णवी ज्ञान शक्ति के अवताररूप ब्रह्मसूत्रों के रचयिता, सर्वज्ञ महर्षि वेदव्यास को हमारा (वाचस्पति मिश्र का) नमस्कार है । [महर्षि पराशर ने अपने समय तक हुए अट्ठाईस वेदव्यासों को भगवान् विष्णु का अवतार बताते हुए अपने पितामह महर्षि वसिष्ठ को आठवें द्वापर का व्यास, अपने पिता महर्षि शक्ति को पच्चीसवां, अपने को छब्बीसवां तथा अपने पुत्र कृष्णद्वैपायन को अट्ठाईसवां व्यास कहा है—

द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने ।
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः ॥ (विष्णुपु० ३।३।५)
तस्मादस्मत्पिता शक्तिर्व्यासस्तस्मादहं मुने ॥
जातुकर्णोऽभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः ।
अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः ॥ (विष्णुपु० ३।३।१९)

भामती

ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय वेधसे ।
ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवतो हरेः ॥ ५ ॥
नत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करुणाकरम् ।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते ॥ ६ ॥
आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम् ।
रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातः पवित्रयति ॥ ७ ॥

अथ यदसन्दिग्धमप्रयोजनं च न तत्प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः, यथा समनस्केन्द्रियसन्निकृष्टः स्फीतालोकमध्यवर्त्ती घटः करटदन्ता वा, तथा चेदं ब्रह्मेति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । तथाहि 'बृहत्वाद् बृंह-

भामती–व्याख्या

कृष्णद्वैपायन के पश्चात् आगामी द्वापर में द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा को उनतीसवाँ व्यास कहा गया है] ॥ ५ ॥

विमलप्रज्ञ एवं करुणा-सागर भगवान् शङ्कराचार्य को नमस्कार करके उनके द्वारा प्रणीत प्रसन्न [सुगम पदावलि एवं गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत करनेवाले] भाष्य (ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर भाष्य) का व्याख्यान किया जा रहा है । [प्रसाद नाम का शब्दालङ्कार काव्यादर्श में वर्णित है—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥ (काव्या० १।४१)

सुगम और सुप्रसिद्ध पदावलि का प्रयोग ही प्रसाद गुण माना जाता है । श्री पद्मपादाचार्य ने भी शाङ्कर भाष्य में प्रसाद गुण का उल्लेख किया है—

"भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तद्व्याख्यां श्रद्धयारभे" (पञ्चपा० पृ० १)] ॥ ६ ॥

जैसे गङ्गा में मिल जाने मात्र से गली-कूचों का अपवित्र जल पवित्र हो जाता है, वैसे ही भाष्य के साथ हमारी (वाचस्पतिमिश्र की) भामती नाम की व्याख्या का सम्बन्ध हो जाने मात्र से हमारी अपवित्र वाणी भी पवित्र हो जाती है ॥ ७ ॥

["अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र. सू. १।१।१) इस सूत्र के द्वारा भगवान् सूत्रकार कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ब्रह्म की सहज-सिद्ध जिज्ञास्यता दिखा कर ब्रह्म-विचार का प्रस्ताव रख रहे हैं । उसकी व्याख्या में भगवान् भाष्यकार अध्यास का उपपादन (आक्षेपपूर्वक स्वरूप-निरूपण) कर रहे हैं । आपाततः प्रतीयमान सूत्र और भाष्य की इस असमञ्जसता को दूर करते हुए भामतीकार ब्रह्म की जिज्ञास्यता के साथ अध्यास का अन्वय-व्यतिरेक दिखाने के लिए एक सामान्य व्याप्ति प्रदर्शित कर रहे हैं—] जो वस्तु असन्दिग्ध (सन्देह-रहित) और निष्प्रयोजन होती है, वह प्रेक्षक (विचार में समर्थ) मनीषिया की जिज्ञासा का विषय नहीं होती, जैसे सजग पुरुष की आँखों के सामने प्रखर प्रकाश में रखा घट-जैसा असन्दिग्ध और काक-दन्त के समान निरर्थक पदार्थ, प्रकृत में ब्रह्म तत्त्व भी वैसा ही असन्दिग्ध और निष्प्रयोजन है—इस प्रकार यहाँ जिज्ञास्यता (विचारणीयता) की व्यापकीभूत सन्दिग्धता एवं सप्रयोजनता के विरोधी असन्दिग्धत्व एवं निष्प्रयोजनत्व की उपलब्धि (सिद्धि) है, अतः ब्रह्म की विचारणीयता कदापि न्यायोचित नहीं ठहराई जा सकती [प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार श्री धर्मकीर्ति ने अपने न्यायबिन्दु में सद्धेतु के तीन भेद कहे हैं—"अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेति" (न्या० बि० १।११) । अनुपलब्धि हेतु के ग्यारह भेदों में एक व्यापकविरुद्धोपलब्धि भी वर्णित है—"व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेरिति" (न्या० बि० २।३८) । श्री वाचस्पतिमिश्र ने यहाँ उसी का प्रयोग प्रदर्शित किया है] ।

भामती

णत्वाद्वात्मैव ब्रह्मेति गीयते' । स चायमाकीटपतङ्गेभ्य आ च देवर्षिभ्यः प्राणभृन्मात्रस्यैवङ्कारास्पदेभ्यो देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयेभ्यो विवेकेनाहमिति असन्दिग्धाविपर्य्यस्तापरोक्षानुभवसिद्ध इति न जिज्ञासास्पदं, न हि जातु कश्चिदत्र सन्दिग्धेऽहं वा नाहं वेति, न च विपर्य्यस्यति नाहमेवेति । न चाहं कृशः स्थूलो गच्छामीत्यादिदेहधर्मसामानाधिकरण्यदर्शनात् देहालम्बनोऽयमहङ्कार इति साम्प्रतम् । तदालम्बनत्वे हि योऽहं बाल्ये पितरावन्वभवं स एव स्थाविरे प्रणप्तॄननुभवामीति प्रतिसन्धानं न भवेत् । न हि बालस्थविरयोः शरीरयोरस्ति मनागपि प्रत्यभिज्ञानगन्धो येनैकत्वमध्यवसीयेत । तस्माद्येषु व्यावर्त्यमानेषु यदनुवर्त्तते तत्तेभ्यो भिन्नं, यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम् । तथा च बालादिशरीरेषु व्यावर्त्तमानेष्वपि परस्परमहङ्कारास्पदमनुवर्त्तमानं तेभ्यो भिद्यते ।

अपि च स्वप्नान्ते दिव्यं शरीरभेदमास्थाय तदुचितान् भोगान् भुञ्जान एव प्रतिबुद्धो मनुष्यशरीरमात्मानं पश्यन्नाहं देवो मनुष्य एवेति देवशरीरे बाध्यमानेऽप्यहमास्पदमबाध्यमानं शरीराद्भिन्नं प्रति-

भामती-व्याख्या

ब्रह्म में असन्दिग्धता का उपपादन—

विष्णुपुराण (३।२२) में कहा गया है—''बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते ।'' अर्थात् बृहत् (व्यापक) या बृंहण (अपने शरीरादि की वृद्धि का कारण) होने से जीवात्मा ही ब्रह्म कहलाता है, वह तो कीड़े-मकोड़ों से लेकर देवों और ऋषियों तक सभी प्राणियों को देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शब्दादिरूप इदंकारास्पद बाह्य पदार्थों से भिन्न 'अहम्'—इस प्रकार अपरोक्ष अनुभव के द्वारा अवगत है, अतः वह 'आत्मा क्या है?' इस प्रकार की जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता । इस (आत्मा) के विषय में न तो कोई प्राणी 'अहं वा नाहं वा ?' ऐसा सन्देह ही करता है और न 'नाहमेव' ऐसा विपरीत निश्चय । यदि कहा जाय कि 'अहं कृशः, स्थूलः, गच्छामि'—इत्यादि अनुभूतियों के द्वारा कृशत्व, स्थूलत्व और गमनादि क्रियारूप शरीर के धर्मों और अहन्त्वरूप आत्मा के धर्मों का एक अधिकरण में रहना सिद्ध होता है, अतः साधारण मनुष्य शरीर को ही आत्मा मानता है, शरीरादि से भिन्न आत्मा का अनुभव नहीं करता । तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि शरीर को 'अहम्'—इस प्रकार की प्रतीति का विषय नहीं माना जा सकता, अन्यथा अहंपदार्थ में पूर्व और पर काल की एकता का अवगाहन करनेवाली प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी—'योऽहं बाल्यावस्थायां पितृपितामहादिकमनुभूतवान्, स एवाहं वृद्धावस्थायां पुत्रपौत्रादिकमनुभवामि ।'' इसका कारण यह है कि बाल्य और वृद्धावस्था के शरीर एक नहीं रहते, स्पष्ट रूप से भिन्न हो जाया करते हैं, अतः शरीर से भिन्न ही अहंपदार्थ का होना निश्चित है । यदि बाल और वृद्ध शरीरों में कुछ भी एकरूपता होती, तब उसे अहंपदार्थ माना जा सकता था, किन्तु वैसा सम्भव नहीं । यह निश्चित व्याप्ति है कि जिन बाल्यकाल के शरीरादि पदार्थों के वृद्धावस्था में व्यावृत्त (निवृत्त) हो जाने पर भी जो अहंपदार्थ अनुवृत्त रहता है, वह शरीरादि व्यावृत्त हो जाने वाले पदार्थों से भिन्न होता है, जैसे एक धागे में पिरोए हुए फूल एक-दूसरे के स्थान से व्यावृत्त होते (हटते) जाते हैं, किन्तु धागा सर्वत्र अपनी एकता बनाए रखता है, अतः फूलों से धागा भिन्न तत्त्व होता है । वैसे ही बाल्य और वृद्धावस्था के शरीर परस्पर व्यावृत्त हैं, किन्तु अहंकारास्पद आत्मतत्त्व सर्वत्र अनुगत होने के कारण शरीरादि से भिन्न स्थिर होता है ।

केवल शरीरों की बाल्यादि अवस्थाओं के व्यावृत्त होने पर ही अहंकारास्पद पदार्थ की अनुवृत्ति नहीं देखी जाती, अपि तु एक व्यक्ति अपने स्वप्न में देव-शरीर पाकर देव-सुलभ

भामती

पद्यते । अपि च योगव्याघ्रः शरीरभेदेऽपि आत्मानमभिन्नमनुभवतीति नाहङ्कारालम्बनं देहः । अत एव नेन्द्रियाण्यपि अस्यालम्बनम् , इन्द्रियभेदेऽपि योऽहमद्राक्षं स एवेतर्हि स्पृशामीत्यहमालम्बनस्य प्रत्यभिज्ञानात् । विषयेभ्यस्त्वस्य विवेकः स्फुटीयानेव । बुद्धिमनसोश्च करणयोरहमितिकर्त्तृप्रतिभासप्रत्ययानालम्बनत्वायोगः । कृशोऽहमन्धोऽहमित्यादयश्च प्रयोगा असत्यपि अभेदे कथंचिन्मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादिवदौपचारिका इति युक्तमुत्पश्यामः । तस्मादिदङ्कारास्पदेभ्यो देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयेभ्यो व्यावृत्तः स्फुटतराहमनुभवगम्य आत्मा संशयाभावादजिज्ञास्य इति सिद्धम् । अप्रयोजनत्वाच्च । तथाहि—संसारनिवृत्तिरपवर्ग इह प्रयोजनं विवक्षितम् । संसारश्चात्मयाथात्म्याननुभवनिमित्त आत्मयाथात्म्यज्ञानेन निवर्त्तनीयः । स चेदयमनादिरनादिनात्मयाथात्म्यज्ञानेन सहानुवर्त्तते कुतोऽस्य निवृत्तिरविरोधात् । कुतश्चात्मयाथात्म्या-

भामती-व्याख्या

भोगों का उपभोग करता है, जागने पर वह व्यक्ति अपने को मनुष्य-शरीर में पाकर यह अनुभव करता है कि स्वप्न में प्राप्त देव-शरीर से यह मनुष्य-शरीर सर्वथा भिन्न है किन्तु मैं वही हूं ।

केवल स्वप्न में ही नहीं, जागरण-काल में भी कोई योगी अपने योग-बल के द्वारा अपने मानव-शरीर से भिन्न व्याघ्रादि का शरीर धारण कर लेता है, किन्तु एक ही समय उस योगी को विभिन्न शरीरों में भी अपनी अनुवृत्ति और एकता का विस्पष्ट भान होता रहता है । इससे यह तथ्य निश्चित हो जाता है कि व्यावृत्त होनेवाले शरीरों से सर्वत्र अनुवृत्त अहंकारास्पद आत्मा भिन्न है ।

इसी प्रकार इन्द्रियों को भी अहंप्रतीति का विषय नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियों के भिन्न होने पर भी अहमर्थ की एकता अनुभूत होती है—'योऽहमिदमद्राक्षम्, स एवाहमिदानीमिदं स्पृशामि' । शब्दादि बाह्य विषयों से तो इस (आत्मा) का भेद अत्यन्त स्थूल और अतिस्पष्ट है । बुद्धि और मन को अहंकारास्पद नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'बुद्ध्याऽध्यवस्यामि', 'मनसा सङ्कल्पयामि'—इत्यादि व्यवहारों के द्वारा अध्यवसान क्रिया की करणता बुद्धि और सङ्कल्पन क्रिया की करणता मन में निश्चित होती है, अहंपदार्थ उन क्रियाओं का कर्त्ता है, करण कभी कर्त्ता नहीं हो सकता । यदि शरीर और इन्द्रियों को अहंपदार्थ नहीं कहा जा सकता, तब 'अहं कृशः' 'अहमन्धः'—इत्यादि व्यवहारों में कृशता के आश्रयीभूत शरीर और अन्धता के आधारभूत चक्षु इन्द्रिय को अहमास्पद क्यों कहा गया ? इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर है कि उक्त स्थल पर शरीरादि में जो आत्मरूपता का व्यवहार किया गया, वह वैसा ही गौण व्यवहार है, जैसा कि मञ्चादि में मञ्चस्थ पुरुषों का व्यवहार—'मञ्चाः क्रोशन्ति' ऐसी व्यवस्था ही उक्त स्थलों पर युक्ति-संगत प्रतीत होती है। फलतः 'इदम्-इदम्'—इस प्रकार प्रतीत होनेवाले शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शब्दादि विषयों से भिन्न 'अहम्'—इस प्रकार के स्फुटतर अनुभव (निश्चय) के विषयीभूत आत्मा में सन्दिग्धत्व न होने के कारण जिज्ञास्यत्व सम्भव नहीं ।

सप्रयोजनत्वाभाव का उपपादन—

विचार के द्वारा निष्पादित होनेवाले आत्मज्ञान का कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं सिद्ध होता, इस लिए भी जिज्ञास्यता सम्भव नहीं—'आत्मा जिज्ञास्यो न भवति, निष्प्रयोजनत्वात्, काकदन्तवत्' । कर्तृत्वादिरूप बन्धन की निवृत्ति ही वेदान्त-सिद्धान्त में मोक्ष विवक्षित है । आत्मा का जो अज्ञान (यथार्थाननुभव) ही कर्तृत्वादि प्रपञ्च का आत्मा में आरोपक है, वह अज्ञान आत्म-ज्ञान से ही निवृत्त हो सकता था, किन्तु कर्तृत्वादि प्रपञ्च अनादि है और आत्मज्ञान भी आत्मरूप होने के कारण अनादि है, जो दो पदार्थ अनादिकाल

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरे·

भामती

मनुभवः, नह्यहमित्यनुभवादन्यदात्मयाथात्म्यज्ञानमस्ति । न चाहमिति सर्वजनीनस्फुटतरानुभवसमर्थित आत्मा देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः शक्य उपनिषदां सहस्रैरपि अन्यथयितुमनुभवविरोधात् । नह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुमीशते । तस्मादनुभवविरोधादुपचरितार्था एवोपनिषद इति युक्तमुत्पश्याम इत्याशयवानाशङ्क्य परिहरति ॐ युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति ॐ । अत्र च युष्मदस्मदित्यादिर्मिथ्या भवितुं युक्तमित्यन्तः शङ्काग्रन्थः । तथापीत्यादिपरिहारग्रन्थः । तथापीत्यभिसम्बन्धाच्छङ्कायां यद्यपीति पठितव्यम् । इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति वक्तव्ये युष्मद्ग्रहणमत्यन्तभेदोपलक्षणार्थम् । यथा ह्यहङ्कारप्रतियोगी त्वङ्कारो नैवमिदङ्कारः, एते वयमिमे वयमास्महे इति बहुलं प्रयोगदर्शनादिति । चित्स्वभाव आत्मा

भामती–व्याख्या

से साथ-साथ चले आ रहे हैं, उन दोनों में नाश्य-नाशकभाव सम्भव नहीं, क्योंकि साथ-साथ रहनेवाले पदार्थों का परस्पर विरोध ही नहीं माना जाता।

यहाँ यह भी एक जिज्ञासा होती है कि कर्तृत्वादि के आरोप का निमित्त कारण जो आत्मतत्त्व का अननुभव (अज्ञान) माना जाता है, वह भी कभी सम्भावित नहीं, क्योंकि 'अहं कर्त्ता', 'अहं भोक्ता'—इस प्रकार के अनुभव से भिन्न और कोई आत्मतत्त्व का अनुभव प्रसिद्ध नहीं, वह अनुभव तो सदैव विद्यमान ही है, उसके रहते-रहते आत्मतत्त्व का अननुभव क्योंकर होगा ? यह जो कहा जाता है कि उपनिषत्-प्रतिपाद्य अकर्त्ता अभोक्ता और देह, इन्द्रियादि से भिन्न निरुपाधि आत्मा का अनुभव ही तात्त्विक अनुभव है, वैसा आत्मतत्त्व का अनुभव उपनिषत् ग्रन्थों के श्रवणादि से पूर्व उत्पन्न नहीं हो सकता, वह अनादि नहीं, वही तत्त्वज्ञान आत्मा के अज्ञान का विरोधी और निवर्त्तक माना जाता है। वह कहना समुचित नहीं, क्योंकि 'अहं कर्त्ता', 'अहं भोक्ता'—इस प्रकार के लौकिक अनुभव से सिद्ध कर्तृत्वादि धर्मयुक्त आत्मा के स्वरूप का अपलाप या अन्यथात्व एक उपनिषत् तो क्या, हजारों उपनिषत् ग्रन्थ मिलकर नहीं कर सकते। यह वस्तु-स्थिति है कि आत्मा को अकर्त्ता-अभोक्ता मानने पर उक्त लोक-प्रसिद्ध अनुभव विरुद्ध पड़ जाता है। सर्वजनीन स्फुटतर अनुभव से सिद्ध घट को कभी पट नहीं बनाया जा सकता। फलतः 'अहं कर्त्ता', 'अहं भोक्ता'—इस प्रकार के सुदृढ़ अनुभव से विरुद्ध अकर्त्ता-अभोक्ता आत्मा के प्रतिपादक उपनिषत् ग्रन्थों को औपचारिक या गौणार्थक मानना ही उचिततर प्रतीत होता है। पूर्वपक्ष के द्वारा उठाई गई इन सभी आशङ्काओं का परिहार करने के लिए भगवान् भाष्यकार ने उपक्रम किया है—"युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः"—यहाँ से लेकर "नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः"—यहाँ तक।

अध्यास की अनुपपत्ति—

अध्यास-भाष्य के दो भाग हैं—(१) अध्यास पर आक्षेप (अध्यास की अनुपपत्ति) और (२) उसका समाधान (अध्यास की उपपत्ति)। आरम्भ से लेकर "मिथ्या भवितुं युक्तम्"—यहां तक का भाष्य आक्षेप और "तथापि"—यहाँ से लेकर "नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः"—यहाँ तक का समाधान भाष्य कहलाता है। समाधान-भाष्य के आरम्भ में "तथापि" पद का प्रयोग हुआ है, अतः आक्षेप-भाष्य के आरम्भ में "यद्यपि"—ऐसा प्रयोग होना चाहिए था, किन्तु वैसा नहीं किया गया, अतः दोनों भाष्य खण्डों की संगति करने के लिए 'यद्यपि' पद का प्रयोग अपनी ओर से जोड़ लेना चाहिए, क्योंकि 'यद्यपि' और 'तथापि'—ये दोनों प्रयोग नित्य सापेक्ष हैं, एक के बिना दूसरा पद साकांक्ष रह कर अन्वयबोध कराने में अक्षम हो जाता है। यहाँ यद्यपि आत्मा का बोध कराने के लिए जैसे 'अस्मत्'

तरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः, इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चा-

भामती

विषयी, जडस्वभावा बुद्धीन्द्रियदेहविषयाः विषयाः । एते हि चिदात्मानं विसिन्वन्ति अवबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत् । परस्परानध्यासहेतावत्यन्तवैलक्षण्ये दृष्टान्तस्तमःप्रकाशवदिति । नहि जातु कश्चित्समुदाचरद्वृत्तिनी प्रकाशतमसी परस्परात्मतया प्रतिपत्तुमर्हति । तदिदमुक्तं ❀ इतरेतरभावानुपपत्ताविति ❀ । इतरेतरभाव इतरेतरत्वं, तादात्म्यमिति यावत् । तस्यानुपपत्ताविति । स्यादेतत्—मा भूद्धर्मिणोः परस्परभावस्तद्धर्माणां तु जाड्यचैतन्यनित्यत्वानित्यत्वादीनामितरेतराध्यासो भविष्यति । दृश्यते हि धर्मिणोर्विवेकग्रहणेऽपि तद्धर्माणामध्यासः, यथा कुसुमाद्भेदेन गृह्यमाणेऽपि स्फटिकमणावतिस्वच्छतया जपाकुसुमप्रतिबिम्बोद्ग्राहिण्यरुणः स्फटिक इत्यारुण्यविभ्रम इत्यत उक्तम् ❀ तद्धर्माणामपीति ❀ । इतरेतरत्र धर्मिणि धर्माणां भावो विनिमयस्तस्यानुपपत्तिः । अयमभिसन्धिः—

भामती-व्याख्या

शब्द रखा है, वैसे अनात्म पदार्थों का संग्रह करने के लिए 'इदम्' शब्द रखना चाहिये था, 'युष्मत्' शब्द नहीं, क्योंकि सभी अनात्म पदार्थ इदंकारास्पद ही होते हैं। तथापि आत्मा और अनात्म पदार्थों का पारस्परिक अत्यन्त विरोध प्रकट करने के लिए 'अस्मत्' पद के साथ 'युष्मत्' पद की योजना ही समुचित है, क्योंकि 'अहंकार' का विरोधी जैसा 'त्वंकार' होता है, वैसा 'इदंकार' नहीं, अस्मत्, के साथ युष्मत् का कभी प्रयोग नहीं होता, किन्तु इदमादि का सहप्रयोग हो जाता है—'इमे वयम्', 'एते वयमास्महे'। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि 'युष्मत्' और 'अस्मत्' प्रयोगों का प्रखर विरोध देखकर आक्षेपवादी ने आत्मा और अनात्मपदार्थों का अत्यन्त विरोध दिखाने के लिए युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः'—ऐसा प्रयोग ही उचित समझा।

चिदात्मा विषयी और बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर एवं शब्दादि—ये सब विषय कहे जाते हैं, क्योंकि विपूर्वक 'षीञ् बन्धने' धातु से पचाद्यच् करके 'विषय' शब्द बना है, इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'विसिन्वन्ति निबध्नन्ति विषयिणमिति विषयः' अर्थात् ज्ञानरूप विषयी पदार्थ को अपने साथ ऐसा बाँध देते हैं कि 'घटज्ञानम्', 'पटज्ञानम्'—इस प्रकार विषय का सहयोग पाये विना ज्ञान का निरूपण ही नहीं हो सकता। आत्मा और अनात्मजगत् के परस्पर-अध्यास की अनुपपत्ति का मुख्य कारण है—आत्मा और अनात्मपदार्थों का अत्यन्त विरोध या वैरूप्य, क्योंकि शुक्ति और रजत के समान रूपवाले पदार्थों का ही परस्पर विनिमयात्मक अध्यास लोक-प्रसिद्ध है। प्रखर प्रकाश और गाढ़ अन्धकार का कभी शुक्ति-रजत के समान तादात्म्याध्यास नहीं देखा जाता—यही भाष्यकार कहते हैं "तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतराभावानुपपत्तौ"। 'इतरेतरभाव' का अर्थ होता है—अन्य पदार्थ में अन्यरूपता [जैसे शुक्ति में रजतरूपता प्रतीत होती है, वैसे आत्मा और अनात्मा का] तादात्म्य जो अपेक्षित है, उसकी उपपत्ति (सिद्धि) न हो सकने के कारण आत्मा और अनात्मा का अध्यास नहीं हो सकता। यह जो आशङ्का होती है कि जैसे जपाकुसुम और स्फटिक रूप दो धर्मी पदार्थों का तादात्म्याध्यास न होने पर भी स्फटिक में जपाकुसुम के आरुण्य (रक्तिमा) धर्म का अध्यास देखा जाता है, वैसे ही आत्मा और अनात्म पदार्थों का परस्पर तादात्म्य-भ्रम या धर्म्यध्यास न हो सकने पर भी अनात्मभूत बुद्ध्यादि के कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्मों का अध्यास उपपन्न क्यों नहीं हो सकता? उस आशङ्का को निवृत्त करने के लिए कहा गया है—"तद्धर्माणां सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः"। यहाँ 'इतरेतरभाव' शब्द का अर्थ है—

ध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम् ;

भामती

रूपवद्धि द्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणस्यापि छायां गृह्णीयात् , चिदात्मा त्वरूपो विषयी न विषयच्छायामुद्ग्राहयितुमर्हति । यथाहुः—"शब्दगन्धरसानां च कीदृशी प्रतिबिम्बता" इति । तदिह पारिशेष्याद्विषयविषयिणोरन्योन्यात्मसम्भेदेनैव तद्धर्माणामपि परस्परसम्भेदेन विनिमयात्मना भवितव्यं, तौ चेद्धर्मिणावत्यन्तविवेकेन गृह्यमाणावसम्भिन्नौ, असम्भिन्नाः सुतरां तयोर्धर्माः, स्वाश्रयाभ्यां व्यवधानेन दूरापेतत्वात् , तदिदमुक्तं ❀सुतरामिति❀ । ❀तद्विपर्य्ययेणेति❀ । विषयविपर्ययेणेत्यर्थः । मिथ्याशब्दोऽपह्नववचनः । एतदुक्तं भवति—अध्यासो भेदाग्रहेण व्याप्तस्तद्विरुद्धश्चेहास्ति भेदग्रहः स भेदाग्रहं निवर्त्तयंस्तद्व्याप्तमध्यासमपि निवर्त्तयतीति । मिथ्येति भवितुं युक्तं यद्यपि तथापीति योजना । इदमत्राकूतम्—भवेदेतदेवं यद्यहमित्यनुभवे आत्मतत्त्वं प्रकाशेत, न त्वेतदस्ति । तथाहि समस्तो-

भामती–व्याख्या

अन्यान्य धर्मी में धर्मों का भाव (व्यत्यास) अर्थात् धर्माध्यास की भी उपपत्ति नहीं हो सकती । आशय यह है कि धर्माध्यास दो प्रकार से होता है—(१) रूपवाले स्फटिकादि पदार्थों में जपाकुसुमादि के आरुण्य रूप का प्रतिबिम्ब पड़ने से और (२) लोह-पिण्ड और अग्नि-जैसे धर्मी पदार्थों का तादात्म्य हो जाने पर अग्नि के दाहकत्वादि धर्मों का लोह-पिण्ड में अध्यास होता है । प्रथम प्रकार का धर्माध्यास नियमतः स्फटिक के समान रूप-युक्त पदार्थों में ही होता है, आत्मा रूपवान् नहीं, अतः धर्म-प्रतिबिम्बात्मक धर्माध्यास वहाँ सम्भव नहीं, श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—"शब्दगन्धरसानां कीदृशी प्रतिबिम्बता" (श्लो. वा. पृ. २८०) । अर्थात् स्फटिकादि में रूप का प्रतिबिम्ब तो अनुभूत होता है, किन्तु रूप और रूपवान् द्रव्य को छोड़कर शब्द, स्पर्श, रस और गन्धादि का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता, तब आत्मा में अनात्मपदार्थों के अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्मों का प्रतिबिम्ब कैसे उपपन्न होगा ? परिशेषतः द्वितीय प्रकार से ही (धर्म्यध्यासपूर्वक) धर्माध्यास हो सकता था, किन्तु जब आत्मा और अनात्मरूप दोनों धर्मी अत्यन्त भिन्न प्रतीत हो रहे हैं, तब उनके धर्मों का व्यत्यास कभी भी संभव नहीं, क्योंकि पृथक्-पृथक् रहकर धर्मी अपने धर्मों का विनिमय या संक्रमण नहीं कर सकते—इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए भाष्यकार ने कहा है—"तद्धर्माणां सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः" ।

भाष्यकार ने जो कहा है—"तद्विपर्ययेण विषयिणः तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासः" । यहाँ 'तद्विपर्यय' पद का अर्थ है—विषयविपर्ययेण । अर्थात् 'तद्विपर्यय' पद के घटकीभूत 'तद्' शब्द के द्वारा अनात्मरूप विषय का परामर्श किया गया है । [भाव यह है कि आत्मा और अनात्मपदार्थ—ये दोनों जब प्रकाश और अन्धकार के समान अत्यन्त विपरीत स्वभाव के हैं और दोनों का भेद प्रकट हो रहा है, तब न तो विषय के धर्मों का विषयी में अध्यास हो सकता है और न उसके विपरीत विषयी के धर्मों का विषय में विनिमय हो सकता है] । भाष्य में प्रयुक्त 'मिथ्या' शब्द अपलापार्थक है । अर्थात् 'अध्यासो मिथ्येति युक्तं भवितुम्'— इस भाष्य का अर्थ है—अध्यास नहीं हो सकता । अभिप्राय यह है कि 'यत्र यत्राध्यासः, तत्र तत्र भेदाग्रहः'—इस प्रकार अध्यास व्याप्य और भेदाग्रह व्यापक है, व्यापकीभूत भेदाग्रह का विरोधी भेद-ग्रह यहाँ उपलब्ध हो रहा है, वह भेदाग्रह का निवर्तक है, भेदाग्रह की निवृत्ति से उसके व्याप्यभूत अध्यास की भी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि जहाँ जो व्यापक नहीं रहता, वहाँ उसका व्याप्य पदार्थ कभी नहीं रह सकता ।

यहाँ भाष्य की योजना इस प्रकार कर लेनी चाहिए—"यद्यपि अध्यासो मिथ्येति

भामती

पाध्यनवच्छिन्नानन्तानन्दचैतन्यैकरसमुदासीनमेकमद्वितीयमात्मतत्त्वं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु गीयते । न चैतान्युपक्रमपरामर्शोपसंहारैः क्रियासमभिहारेणेदृगात्मतत्त्वमभिदधति तत्पराणि सन्ति शक्यानि शक्रेणाप्युपचरितार्थानि कर्तुम् । अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति 'यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति' न न्यूनत्वं प्रागेवोपचरितत्वमिति । अहमनुभवस्तु प्रादेशिकमनेकविधशोकदुःखादिप्रपञ्चोपप्लुतमात्मानमादर्शयन् कथमात्मतत्त्वगोचरः कथं वाऽनुपप्लवः ? न च ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वं चेति युक्तम् , तस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य बोधकतया च स्वतःसिद्ध-

भामती-व्याख्या

भवितुं युक्तम् , तथापि नैसर्गिकोऽयम्" । इसका आशय यह है कि आक्षेपवादी का कथन तब सत्य हो सकता था, जब कि 'अहम्-अहम्'—इस व्यावहारिक अनुभव में विशुद्ध आत्मतत्त्व परिलक्षित होता, किन्तु वह प्रकाश में नहीं आ रहा है, क्योंकि कर्तृत्वादि समस्त उपाधियों से रहित, अनन्त, आनन्दरूप, चैतन्य, एकरस, उदासीन, एक, अद्वितीय आत्मतत्त्व जो श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में प्रतिपादित है, वैसा शुद्ध आत्मतत्त्व व्यावहारिक 'अहम्' अनुभव का विषय नहीं, अतः आत्मतत्त्व का अननुभव या भेदाग्रह सुलभ हो जाता है, भेदाग्रह होने के कारण उक्त अध्यास भी उपपन्न हो जाता है ।

आक्षेपवादी ने जो यह कहा था कि कर्तृत्वादि-रहित शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रतिपादक उपनिषदादि शास्त्र गौणार्थक हैं, वह कहना अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि जब शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रतिपादक श्रुत्यादि वाक्य, उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल और उपपत्ति नाम के षड्विध तात्पर्य-ग्राहक लिङ्गों की कसौटी पर खरे उतर रहे हैं, जब विशुद्ध आत्मतत्त्व के प्रतिपादन में ही उनका तात्पर्य निश्चित है, तब उन्हें गौणार्थक इन्द्र भी सिद्ध नहीं कर सकता । जहाँ किसी एक ही तत्त्व का पुनः-पुनः संकीर्तन किया जाता है, वहाँ उस तत्त्व का उत्कर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, जैसे किसी सुन्दरी के लिए कहा गया—'अहो दर्शनीया, अहो दर्शनीया' । वहाँ बार-बार वैसा कहने से सुन्दरता में उत्कर्ष प्रकट होता है, किञ्चिन्मात्र भी ऊनता नहीं आती, गौणार्थता तो दूर रही [श्री मण्डन मिश्र ने भी कहा है—एकमेवाद्वितीयमित्यवधारणाद्वितीयशब्दाभ्यां तस्यैवार्थस्य पुनः पुनरभिधानात् सर्वप्रकारभेदनिवृत्तिपरता श्रुतेर्लक्ष्यते, अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति, यथा अहो दर्शनीया, अहो दर्शनीया इति, न न्यूनत्वमपि, दूरत एवोपचरितत्वम्" (ब्र. सि. पृ. ६)] ।

उपनिषद्वाक्य ही वास्तविक शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, व्यापक आत्मतत्त्व के प्रकाशक हैं, लौकिक अहमनुभाव नहीं, क्योंकि अहमनुभव तो प्रदेश भाग में सीमित (परिच्छिन्न) एवं अनेकविध शोक, दुःखादि प्रपञ्च में फँसे हुए आत्मा को ही विषय करता है, अतः वह अनुभव बाधितार्थविषयक (भ्रमात्मक) होकर शुद्ध आत्मतत्त्व का प्रकाशक क्योंकर होगा ?

शङ्का—यहाँ अहमनुभवरूप प्रत्यक्ष और उपनिषद्वाक्य जन्य शाब्द के बलाबल पर दृष्टिपात करने से अहमनुभव ही प्रबल ठहरता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों में ज्येष्ठ (अग्रज) होने के कारण प्रबल है, अतः इससे विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक शब्द को ही अप्रमाण मानना न्यायसङ्गत है । प्रत्यक्ष प्रमाण को अपनी उत्पत्ति, ज्ञप्ति या अर्थक्रियाकारिता में शब्द प्रमाण की अपेक्षा नहीं, प्रत्युत शब्द प्रमाण को अपनी उत्पत्त्यादि में प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा है, लोक में निरपेक्ष प्रबल और सापेक्ष दुर्बल माना जाता है, महाभाष्यकार कहते हैं—''सापेक्षमसमर्थं भवति' (पा. सू. ३।१।८)। अतः उपनिषद्वाक्यों को अप्रमाण या गौणार्थक मानना ही युक्ति-युक्त है ।

भामती

प्रमाणभावस्य स्वकार्य्ये प्रमितावनपेक्षत्वात् । प्रमितावनपेक्षत्वेऽप्युत्पत्तौ प्रत्यक्षापेक्षत्वात्तद्विरोधादनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यमिति चेन्न, उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात् । न ह्यागमज्ञानं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपहन्ति येन कारणाभावान्न भवेदपि तु तात्त्विकम् । न च तत्तस्योत्पादकम् । अतात्त्विकप्रमाणभावेभ्योऽपि सांव्यवहारिकप्रमाणेभ्यस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् । तथा च वर्णे ह्रस्वदीर्घत्वादयोऽन्यधर्मा अपि समारोपितास्तत्त्वप्रतिपत्तिहेतवः, न हि लौकिका नाग इति वा नग इति वा पदात् कुञ्जरं वा तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः । न चानन्यपरं वाक्यं स्वार्थे उपचरितार्थं युक्तम् । उक्तं हि

भामती—व्याख्या

समाधान—उपनिषद्वाक्य उस वेद के एकदेश हैं, जो कि अपौरुषेय होने के कारण पुरुष-सम्बन्ध-सम्भावित समस्त भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और लोभादि दोषों से रहित है। उसमें किसी प्रकार का भी अप्रामाण्य प्रसक्त नहीं हो सकता। श्री कुमारिल भट्ट ने जो तीन प्रकार का अप्रामाण्य कहा है—"अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः" (श्लो, वा. पृ. ६१) । अर्थात् विपरीतार्थ-बोधकत्व, अबोधकत्व और सन्दिग्धार्थ-बोधकत्व इन तीन प्रकार के अप्रामाण्य-प्रकारों में प्रथम (विपरीतार्थ-बोधकत्व) वेद में इसलिए नहीं कि वह पुरुषगत भ्रमादि दोषों से दूषित नहीं। द्वितीय (अबोधकत्वरूप) अप्रामाण्य भी सम्भावित नहीं, क्योंकि उपनिषद्रूप वैदिक वाक्य अपने समुचित अर्थ के बोधक हैं और वेद में प्रामाण्य स्वतःसिद्ध होने के कारण सन्दिग्धार्थ-बोधकत्वरूप तृतीय प्रकार भी प्रसक्त नहीं होता। आगम-ज्ञान को अपने प्रमापनरूप कार्य में प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं, अतः सापेक्षत्वरूप अप्रामाण्य भी प्राप्त नहीं होता।

शङ्का—प्रत्यक्ष प्रमाण की सहायता के विना शब्द का प्रत्यक्ष एवं संगति-ग्रह नहीं होता और इसके विना शब्द किसी ज्ञान का उत्पादक नहीं हो सकता, अतः आगम-ज्ञान को अपनी उत्पत्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा निश्चितरूप से है, श्री मण्डन मिश्र ने भी कहा है—"पदपदार्थविभागाधीन आम्नायार्थपरिच्छेदः, स च प्रत्यक्षादिष्वायतते" (ब्र. सि. पृ. ३९)। फलतः शब्द प्रमाण के स्वरूप की निष्पत्ति में प्रत्यक्ष अवश्य अपेक्षित है, प्रत्यक्ष की सहायता के विना पद का ज्ञान एवं उसका पदार्थ के साथ संगति-ग्रहण न हो सकने के कारण शब्द अपना अर्थ-निश्चयरूप कार्य सम्पन्न नहीं करा सकता।

समाधान—आगम प्रमाण अपने उत्पादकीभूत व्यावहारिक प्रत्यक्ष का विरोधी नहीं, क्योंकि शब्द प्रमाण प्रत्यक्षगत पारमार्थिक प्रामाण्य का ही घातक है, व्यावहारिक प्रामाण्य का नहीं, व्यावहारिक प्रामाण्य ही आगम ज्ञान का उत्पादक है, श्री मण्डन मिश्र भी यही कहते हैं—"प्रत्यक्षादीनां तु व्यावहारिकं प्रामाण्यम्" (ब्र. सि. पृ. ४०) । आगम यदि प्रत्यक्षगत व्यावहारिक प्रामाण्य का निराकरण करता, तब अपनी उत्पादक सामग्री का ही हनन कर डालता, उत्पादक सामग्री के विना आगम का स्वरूप-लाभ ही नहीं होता। प्रत्यक्षगत जिस तात्त्विक प्रामाण्य का निषेध आगम करता है, वह आगम का उत्पादक नहीं, क्योंकि जिनमें तात्त्विक प्रामाण्य न होने पर भी केवल व्यावहारिक प्रामाण्य होता है, उन पदार्थों से भी तत्त्व-बोध का उत्पादन देखा जाता है, जैसे कि वर्णात्मक शब्दों में ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादि धर्म अपने नहीं होते, अपि तु शब्द के व्यञ्जकीभूत ध्वनि (नादसंज्ञक वायवीय संयोग-विभाग) के धर्म शब्द में आरोपित किन्तु लोक-प्रसिद्ध व्यावहारिकमात्र माने जाते हैं, फिर भी वे तात्त्विक बोध के उद्भावक माने जाते हैं, जैसे कि दीर्घ नकाररूप वर्ण से घटित 'नाग' पद के द्वारा हस्ती और ह्रस्व नकार-गर्भित 'नग' के द्वारा वृक्षादि का बोध लोक में न तो

भामती

"न विधौ परः शब्दार्थः" इति। ज्येष्ठत्वं चानपेक्षितस्य बाध्यत्वे हेतुर्न बाधकत्वे, रजतज्ञानस्य ज्यायसः शुक्तिज्ञानेन कनीयसा बाधदर्शनात्। तदनपबाधने तदबबाधात्मनस्तस्योत्पत्तेरनुपपत्तेः। दर्शितं च तात्त्विकप्रमाणभावस्यानपेक्षितत्वम्। तथा च पारमर्षं सूत्रं "पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्" (जै० सू० ६।५।५४) इति। तथा --

"पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम्।
अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्॥" इति।

भामती–व्याख्या

भ्रमात्मक माना जाता है और न उस बोध को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति भ्रान्त, अपितु यथार्थ ज्ञानवाला ही माना जाता है [श्री मण्डन मिश्र भी कहते हैं–"शब्दाच्च नित्यादसत्यदीर्घादि-विभागभाजोऽर्थप्रतिपत्तिर्न मिथ्या" (ब्र. सि. पृ. १४)। महर्षि जैमिनि ने अपने "नादवृद्धि-परा" (जै. सू. १।१।१७) इस सूत्र में सिद्ध किया है कि वर्णात्मक शब्द नित्य होते हैं, उनमें ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादि विकार अपने नहीं होते, अपितु नाद पद-वाच्य वायवीय संयोग-विभाग या कण्ठ-ताल्वादि स्थानों पर जिह्वा के आघात के द्वारा जनित विशेष कम्पन से युक्त वायु के वेग की एक विधा ही दीर्घत्वादि के रूप में परिलक्षित होती हैं]।

व्यावहारिक प्रामाण्य के आश्रयीभूत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से संबल पाकर उपनिषद्रूप आगम प्रमाण जब अपने स्वार्थ का बोध कराने में सक्षम और अनन्यार्थपरक है, तब अपने वाच्यार्थ के बोधन में ही उसे औपचारिक (गौणार्थक) कहना कभी भी उचित नहीं, श्री शबर स्वामी कहते हैं—"विधौ हि न परः शब्दार्थः प्रतीयते" (शा. भा. पृ. १४१) अर्थात् विधेय अर्थ का प्रतिपादक (स्वार्थ-बोधक) वाक्य कभी परार्थक (गौणार्थक) प्रतीत नहीं होता। आगम की अपेक्षा जो प्रत्यक्ष प्रमाण में ज्येष्ठत्व कहा गया, वह प्रत्यक्षगत ज्येष्ठत्व यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण में बाध्यता का साधक है, बाधकता का नहीं, क्योंकि ज्येष्ठ (पूर्वोत्पन्न) शुक्ति में रजत-ज्ञान का कनिष्ठ (पश्चात् उत्पन्न) शुक्ति में शुक्ति-ज्ञान के द्वारा बाध देखा जाता है, क्योंकि शुक्ति-ज्ञान जब तक पूर्वोत्पन्न रजत-ज्ञान का बाध नहीं करता, तब तक शुक्ति-ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—"पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सिध्यति" (श्लो. वा. पृ. ६२)। यह भी कहा जा चुका है कि आगम को व्यावहारिक प्रामाण्य की अपेक्षा होने पर भी तात्त्विक प्रामाण्यवाले प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा यहाँ आगम का बाध सम्भव नहीं, अपितु आगम के द्वारा ही प्रत्यक्ष का बाध होता है, जैसा कि श्री जैमिनि महर्षि ने कहा है—"पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्" (जै. सू. ६।५।५४) अर्थात् दो निरपेक्ष विरोधी पदार्थों के क्रमशः पूर्व और पर काल में उपस्थित होने पर पूर्वोपस्थित पदार्थ वैसे ही दुर्बल (बाधित) होता है, जैसे 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—इस न्याय के द्वारा प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास कर्म में पठित पाँच प्रयाज कर्मों की प्राप्ति होने पर विकृति कर्म में "नव प्रयाजा इज्यन्ते"—इस वाक्य से विहित प्रयाजगत नवत्व संख्या के द्वारा पूर्वोपस्थित पञ्चत्व संख्या का बाध हो जाता है, श्री भट्टपाद की भी ऐसी ही व्यवस्था है—

पूर्वात् परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम्।
अन्योऽन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्॥
पूर्वं परमजातत्वादबाधित्वैव जायते।
परस्यानन्यथोत्पादान्न त्वबाधेन सम्भवः॥ (तं. वा. पृ. ८५९)

भामती

अपि च येऽप्यहङ्कारास्पदमात्मानमास्थिषत तैरपि अस्य न तात्त्विकत्वमभ्युपेतव्यम् । अहमिहैवास्मि सदने जानान इति सर्वव्यापिनः प्रादेशिकत्वेन ग्रहात् । उच्चतरगिरिशिखरवर्त्तिषु महातरुषु भूमिष्ठस्य दूर्वाप्रवालनिर्भासप्रत्ययवत् । न चेदं देहस्य प्रादेशिकत्वमनुभूयते न त्वात्मन इति साम्प्रतं, नहि तदैवं भवत्यहमिति, गौणत्वे वा न जानामीति । अपि च परशब्दः परत्र लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्त्तत इति यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्त्रोः सम्प्रतिपत्तिः स गौणः स च भेदप्रत्ययपुरःसरः । तद्यथा नैयमिकाग्निहोत्रवचनोऽग्निहोत्रशब्दः (अ० १ पा० ४) प्रकरणान्तरावधृतभेदे कौण्डपायिनामयनगते कर्मणि मासमग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्र साध्यसादृश्येन गौणः (अ० ७ पा० ३) । माणवके चानुभवसिद्धभेदे सिंहात्सिंहशब्दः । न

भामती-व्याख्या

[कहीं पूर्व से उत्तर और कहीं उत्तर से पूर्व का बाध होता है, उसकी व्यवस्था यह है कि पूर्वोत्पन्न पदार्थ की अपेक्षा पश्चात् उत्पन्न पदार्थ का प्राबल्य वहाँ ही समझा जाता है, जहाँ दोनों पदार्थों की उत्पत्ति में परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। पूर्वोत्पन्न पदार्थ के समय पश्चात् उत्पन्न पदार्थ था ही नही, अतः पर का बाध किए बिना ही पूर्व की उत्पत्ति हो जाती है किन्तु पश्चात् उत्पन्न पदार्थ की तब तक उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, जब तक पूर्व का बाध न किया जाय]।

दूसरी बात यह भी है कि जो लोग 'अहम्'—इस प्रतीति के विषयीभूत पदार्थ को ही आत्मा मान बैठे हैं, उन्हें भी उसे तात्त्विक (वास्तविक) नहीं समझना चाहिए, क्योंकि 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः'—इस प्रतीति के द्वारा आत्मा को एक घर के कोने में ही परिच्छिन्न बताया जाता है, जबकि आत्मा व्यापक होता है। व्यापकीभूत आत्मा में परिच्छिन्नत्व की प्रतीति वैसे ही भ्रमात्मक है, जैसे कि पर्वत के प्रोत्तुङ्ग शिखर पर अवस्थित विशाल विटप भी पृथिवी-तल पर खड़े हुए व्यक्ति को घास की छोटी सी पूली के समान दिखाई देते हैं। 'अहमिहैवास्मि'—इस प्रतीति में जो प्रादेशिकत्व (एतद्देशावच्छिन्नत्व) प्रतीत होता है, वह शरीरगत है – ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शरीर के लिए अहम् – ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता। 'अहम्' शब्द गौणी वृत्ति से शरीर का ही बोधक है'—ऐसा मानने पर 'अहं जानानः'—ऐसा व्यवहार न हो सकेगा, क्योंकि शरीर न तो ज्ञानस्वरूप है और न ज्ञान का आश्रय। 'अहं' शब्द का शरीर में गौण प्रयोग भी सम्भव नहीं, क्योंकि भट्टपाद ने कहा है— "लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।" (तं० वा० पृ० ३५४) अर्थात् 'जहाँ पर 'सिंह' शब्द माणवक में लक्ष्यमाण माणवकगत क्रूरत्व, शूरत्वादि गुणों के सम्बन्ध से प्रवृत्त हुआ है'—ऐसा वक्ता और श्रोता दोनों को निश्चय होता है, वहाँ ही सिंहादि शब्द गौण माने जाते हैं। गौण-प्रयोग के लिए मुख्यार्थ (सिंहादि) और गौणार्थ (माणबकादि) में भेद का निश्चय भी होना अनिवार्य है, जैसे कि 'अग्निहोत्र' नाम का कर्म दो प्रकार का श्रुत है— (१) नित्य अग्निहोत्र और (२) कुण्डपायी ऋषियों के द्वारा अनुष्ठीयमान सत्र कर्म का अङ्गभूत अग्निहोत्र ["अग्निहोत्रं जुहोति" (तै. सं. १।५।९।१) इस वाक्य से विहित अग्निहोत्र कर्म नित्य कर्म है, जिसका अनुष्ठान आहिताग्नि पुरुष जीवन-पर्यन्त नित्य सायं और प्रातः किया करता है। "मासमग्निहोत्रं जुहोति" (तां० ब्रा० २५।४।१) इस वाक्य से अवबोधित अग्निहोत्र कर्म कुण्डपायी ऋषियों के अयनसंज्ञक सत्रकर्म का अङ्ग कहलाता है]। नित्य अग्निहोत्र कर्म का वाचक 'अग्निहोत्र' शब्द सत्रविशेष के अङ्गभूत अग्निहोत्र कर्म के बोधन में गौणीवृत्ति से प्रवृत्त है। प्रकरणान्तराधिकरण (२।३।११) में दोनों अग्निहोत्र कर्मों का भेद सिद्ध किया गया है। नित्य अग्निहोत्र कर्म 'अग्निहोत्र' शब्द का मुख्य और सत्राङ्गभूत कर्म

भामती

त्वहङ्कारस्य मुख्योऽर्थो निर्लुठितगर्भतया देहादिभ्यो भिन्नोऽनुभूयते येन परशब्दः शरीरादौ गौणो भवेत् । न चात्यन्तनिरूढतया गौणेऽपि न गौणत्वाभिमानः सार्षपादिषु तैलशब्दवदिति वेदितव्यम् । तत्रापि स्नेहात्तिलभवाद्भेदे सिद्ध एव सार्षपादीनां तैलशब्दवाच्यत्वाभिमानो न स्वर्थयोस्तैलसार्षपयोरभेदाध्यवसायः । तत्सिद्धं गौणत्वमुभयदर्शिनो गौणमुख्यविवेकविज्ञानेन व्याप्तं तदिह व्यापकं विवेकज्ञानं निवर्त्तमानं गौणतामपि निवर्त्तयतीति । न च बालस्थविरशरीरभेदेऽपि सोऽहमित्येकस्यात्मनः प्रतिसन्धानाद्देहादिभ्यो भेदेनास्त्यात्मानुभव इति वाच्यम् । परीक्षकाणां खल्वियं कथा न लौकिकानाम् । परीक्षका अपि हि व्यवहारसमये न लोकसामान्यमतिवर्त्तन्ते । वक्ष्यत्यनन्तरमेव हि भगवान् भाष्यकारः । ❀पश्वादिभिश्चाविशेषादिति ❀ । बाह्या अप्याहुः "शास्त्रचिन्तकाः खल्वेवं विवेचयन्ति न प्रतिपत्तारः" इति । तत्पारिशेष्याच्चिदात्मगोचरमहङ्कारमहमिहास्मि सदन इति प्रयुञ्जानो लौकिकः शरीराद्यभेदग्रहादात्मनः प्रादेशिकत्वमभिमन्यते नभस इव घटमणिकमल्लिकाद्युपाध्यवच्छेदादिति युक्तमुत्पश्यामः ।

भामती–व्याख्या

गौण अर्थ माना जाता है, क्योंकि दोनों कर्मों में साध्य–सादृश्य विद्यमान है । जहाँ माणवक में 'सिंह' शब्द का गौण प्रयोग होता है, वहाँ भी अनुभव के द्वारा माणव और सिंह का भेद सिद्ध होता है । इसी प्रकार यदि अहं शब्द का शरीर में गौण प्रयोग माना जाता है, तब 'अहं' शब्द के मुख्य और गौणभूत अर्थों का भेद किसी प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए था, किन्तु अभी तक देहादि से भिन्न किसी अत्यन्त प्रसिद्ध आकार में प्रस्फुटित मुख्य अर्थ अनुभूत नहीं हुआ, जिसको मुख्य मानकर 'अहं' शब्द शरीर में गौणरूप से प्रवृत्त होता । यद्यपि कहीं-कहीं अत्यन्त निरूढ़ हो जाने के कारण 'गौण' शब्द में भी गौणता का स्पष्ट भान नहीं होता, जैसे तिल से निकले द्रव का मुख्य रूप से वाचक 'तैल' शब्द सरसों से निकले द्रव विशेष को गौणी वृत्ति से कहता है, किन्तु उसमें गौणता आपाततः प्रतीत नहीं होती । तथापि वहाँ भी सरसों से निकले तेल का तिलोद्भूत तैल से भेद निश्चित होता है । सरसों के तेल में 'तैल' शब्द की वाच्यता का अभिमानमात्र होता है, अभेदाध्यवसाय नहीं । फलतः 'यत्र यत्र गौणार्थत्वम्, तत्र तत्र मुख्यार्थाद् भेदः'– इस प्रकार गौणत्व व्याप्य और मुख्यार्थप्रतियोगिक भेद व्यापक होता है । प्रकृत में व्यापक (मुख्यार्थ-भेद) सिद्ध न होने के कारण शरीरादि में 'अहम्' शब्द का गौण प्रयोग सम्भव नहीं ।

यह जो कहा जाता है कि बाल्य और वृद्धावस्था के शरीरों का भेद होने पर भी आत्मा की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा शरीरादि से आत्मरूप मुख्यार्थ का भेद निश्चित है । वह कथा विवेक-कुशल प्रेक्षा-दक्ष परीक्षक मनीषियों की है, साधारण व्यक्ति की नहीं । परीक्षक महापुरुष भी व्यवहार-काल में साधारण व्यक्तियों की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं किया करते । भगवान् भाष्यकार भी कुछ आगे चलकर ही कहेंगे—"पश्वादिभिश्चाविशेषात्" (ब्र. सू. शां. भा. पृ. ४२) । वैदिक क्षेत्र से बहिर्भूत विद्वान् धर्मकीर्ति ने भी ऐसा ही कहा है–"शास्त्रचिन्तकाः खल्वेवं विवेचयन्ति, न प्रतिपत्तारः" अर्थात् शास्त्रार्थ का निरन्तर चिन्तन करने वाले विवेचक महापुरुष ही गम्भीर विवेचन प्रस्तुत कर सकते हैं, साधारण प्रतिपत्ता नहीं । इस प्रकार यहाँ गौणादि प्रयोगों के न हो सकने के कारण परिशेषतः 'अहमिहास्मि'—ऐसा प्रयोग करनेवाला लौकिक व्यक्ति शरीरादि से अविविक्त आत्मा को वैसे ही प्रादेशिक और परिच्छिन्न मानता है, जैसे एक व्यापक आकाश घट, मणिक (मटका) मल्लिका (मलिया या हाँडी) आदि उपाधियों के परिच्छेद से (परिवेश में घिर कर) परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है ।

भामती

न चाहङ्कारप्रामाण्याय देहादिवदात्मापि प्रादेशिक इति युक्तम्। तदा खल्वयमणुपरिमाणो वा स्याद्देहपरिमाणो वा ? अणुपरिमाणत्वे स्थूलोऽहं दीर्घ इति च न स्यात्। देहपरिमाणत्वे तु सावयवतया देहवदनित्यत्वप्रसङ्गः। किं चास्मिन् पक्षेऽवयवसमुदायो वा चेतयेत् प्रत्येकं वाऽवयवाः। प्रत्येकं चेतनत्वपक्षे बहूनां चेतनानां स्वतन्त्राणामेकवाक्यताभावादपर्य्यायं विरुद्धदिक्क्रियतया शरीरमुन्मथ्येत, अक्रियं वा प्रसज्येत। समुदायस्य तु चैतन्ययोगे पृथक् एकस्मिन्नवयवे चिदात्मनोऽप्यवयवो पृथक् इति न चेतयेत्। न च बहूनामवयवानामविनाभावनियमो दृष्टो य एवावयवो विशीर्णस्तदा तदभावे न चेतयेत्। विज्ञानालम्बनत्वेऽप्यहम्प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वं तदवस्थमेव। तस्य स्थिरवस्तुनिर्भासत्वादस्थिरत्वाच्च विज्ञानानाम्। एतेन स्थूलोऽहमन्धोऽहं गच्छामीत्यादयोऽप्यध्यासतया व्याख्याताः तदेवमुक्तक्रमेणाहंप्रत्यये पूतिकूष्माण्डीकृते भगवती श्रुतिरप्रत्यूहं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखशोकाद्यात्मत्वमहमनुभवप्रसञ्जितमात्मनो निषेद्धुमर्हतीति। तदेवं सर्वप्रवादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रथितमिथ्याभावस्याहम्प्रत्ययस्य स्वरूपनिमित्त-

भामती-व्याख्या

'अहमिहैवास्मि'—इस भ्रमात्मक प्रतीति में प्रमाणता लाने के लिए शरीरादि के समान आत्मा को भी प्रादेशिक (प्रदेशमात्र में रहने वाला परिच्छिन्न) मान लेना उचित नहीं, क्योंकि प्रादेशिक मान लेने पर प्रश्न उठता है कि आत्मा को अणु परिमाण मानेंगे ? या मध्यम परिमाण का (शरीर के आकार का) ? अणु मानने पर आत्मा में 'स्थूलोऽहम्', 'दीर्घोऽहम्'—ऐसा व्यवहार न हो सकेगा और शरीर के समान मध्यम परिमाण का मान लेने पर आत्मा भी शरीर के समान ही सावयव और अनित्य हो जायगा। यह भी इस पक्ष में जिज्ञासा होती है कि अवयवी आत्मा के अवयव-समुदाय में चैतन्य मानेंगे ? या प्रत्येक अवयव में पृथक्-पृथक् चैतन्य ? प्रत्येक अवयव को चेतन मानने पर एक ही शरीर को अनेक स्वतन्त्र चेतनों का साम्राज्य मानना होगा। अनेक स्वतन्त्र चेतनों में परस्पर एकवाक्यता (गुण-प्रधानभाव) न होने के कारण एक ही शरीर का विरुद्ध विविध दिशाओं में संचालन प्राप्त होगा, फलस्वरूप शरीर या तो टुकड़े-टुकड़े हो जायगा या विपरीत आकर्षणों में पड़कर शरीर निष्क्रिय और स्तब्ध-सा होकर रह जायगा। सभी अवयवों के समूह में एक चैतन्य मानने पर किसी एक अवयव के टूट-फूट जाने पर आत्मा टूट-फूट जायेगा, चेतन नाम की वस्तु ही वहाँ नहीं रह जायगी। सभी अवयवों में अविनाभाव (परस्पर साथ-साथ रहने का स्वभाव) तो देखा नहीं जाता, फलतः जब भी कोई एक अवयव विशीर्ण हो (बिखर) जाता है, तभी उसका अभाव हो जाने से चैतन्य समाप्त हो जायगा।

बौद्ध-सम्मत विज्ञानक्षण को 'अहम्'—इस प्रतीति का विषय मानने पर भी अहं प्रतीति की भ्रमरूपता दूर नहीं होती, क्योंकि वह प्रतीति एक स्थिर वस्तु को विषय करती है, किन्तु विज्ञान अस्थिर और क्षणिक है। इस प्रकार अहंप्रतीति का कोई विशुद्ध एक विषय सिद्ध न हो सकने के कारण अध्यासात्मक मानना पड़ता है। जिस प्रत्यक्षभूत अहंप्रतीति के बल पर प्रत्यक्षवादी इतनी उछल-कूद मचाते थे, उसकी सड़े हुए कूष्माण्ड (कोहड़े) की सी दुर्गति हो जाने पर, अहंप्रतीति के विरोधाभास की नीहारिका (कुहासा) को फाड़ती हुई भगवती श्रुति की प्रखर ज्योति जगमगाती है और दहराकाश में छिपे कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःख, शोक-मोहादि की काली रेखाएँ मिटा कर रख देती है। इस प्रकार समस्त वाद, श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में प्रसिद्ध मिथ्याभूत अहमनुभव के स्वरूप (अन्योऽन्यात्मकत्व), निमित्त (इतरेतराविवेक) और लोकव्यवहाररूप फल का विश्लेषण प्रस्तुत

ताप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयो-र्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहमिदं' 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

भामती

फलेऽपव्याख्यानम् ॐअन्योन्यस्मिन्नित्यादिॐ। अत्र चान्योन्यस्मिन् धर्मिणि आत्मशरीरादावन्योन्यात्मकतामध्यस्याहमिदं शरीरादीति। इदमिति च वस्तुतो न प्रतीतितः। लोकव्यवहारो लोकानां व्यवहारः स चायमहमिति व्यपदेशः। इतिशब्दसूचितश्च शरीराद्यनुकूलं प्रतिकूलं च प्रमेयजातं प्रमाणेन प्रमाय तदुपादानपरिवर्जनादिः। अन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्यान्योन्यस्मिन् धर्मिणि देहादिधर्मान् जन्ममरणजराव्याध्यादीनात्मनि धर्मिणि अध्यस्तदेहात्मभावे समारोप्य तथा चैतन्यादीनात्मनि धर्मिणि अध्यस्तदेहात्मभावे समारोप्य तथा चैतन्यादीनात्मधर्मान् देहादावध्यस्तात्मभावे समारोप्य ममेदं जरामरणपुत्रपशुस्वाम्यादीति व्यवहारो व्यपदेशः इतिशब्दसूचितश्च तदनुरूपः प्रवृत्त्यादिः। अत्र चाध्यासव्यवहारक्रियाभ्यां यः कर्त्ताप्रीतः स समान इति समानकर्तृकत्वेनाध्यस्य व्यवहार इत्युपपन्नम्। पूर्वकालत्वसूचितमध्यासस्य व्यवहारकारणत्वं सूचयति ॐमिथ्याज्ञाननिमित्तो व्यवहारःॐ। मिथ्याज्ञानमध्यासस्तन्निमित्तस्तद्भावाभा-

भामती–व्याख्या

करते हुए भगवान् भाष्यकार कहते हैं—"अन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकतामन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्य लोकव्यवहारः।" यहाँ 'अन्योऽस्मिन् धर्मिणि' का अर्थ है—आत्मा और शरीरादि धर्मियों में "अन्योऽन्यात्मकतामध्यस्याहमिदम्"—इस भाष्य में 'इदम्' पद से शरीरादि का ग्रहण किया गया है। यद्यपि 'मैं यह शरीर हूँ'—ऐसी प्रतीति नहीं होती, तथापि शरीर के साथ 'अहं स्थूलः' आदि अनुभवों के आधार पर सिद्ध तादात्म्याध्यास की वस्तु-स्थिति को लेकर भाष्यकार ने 'अहमिदम्'—ऐसा कहा है। 'लोकव्यवहारः'—यहाँ 'व्यवहार' के द्वारा 'अहम्-अहम्'—इस प्रकार का अभिवदन विवक्षित है। 'अहमिदम्' 'ममेदमिति'—यहाँ इति पद से सूचित व्यवहार है—प्रमाणों के द्वारा पदार्थों की अनुकूलता, तन्मूलक ग्राह्यता और प्रतिकूलता तन्मूलक परिवर्जनीयता आदि का निष्पादन। अन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्य'—इसका तात्पर्य यह है कि अन्योऽन्य धर्मियों में परस्पर के धर्मों [आत्मा में देह के जन्म, मरण, जरा, व्याधि आदि धर्मों एवं शरीर में आत्मा के चैतन्यादि धर्मों] का अध्यास करके व्यवहार करना—'ममेदं जरामरणपुत्रपशुस्वामित्वमिति'। 'व्यवहार' पद का वाच्यार्थ शब्द-प्रयोग है। 'इति' शब्द के द्वारा तदनुरूप प्रवृत्यादि व्यवहार सूचित किए गए हैं [विवरणकार ने चार प्रकार का व्यवहार कहा है—"अभिज्ञा, अभिवदनम्, उपादानम्, अर्थक्रिया इति चतुर्विधः" (पं० वि० पृ० ६२) अर्थात् घटादि पदार्थों का (१) ज्ञान, (२) संज्ञा पद का अभिधान, (३) प्रवृत्ति और (४) जलाहरणादि के भेद से सब व्यवहार चार प्रकार का होता है। यहाँ भाष्यकार ने कुछ व्यवहारों का अभिधान कर शेष को 'इति' पद से सूचित किया है]।

शङ्का—'अध्यस्य व्यवहारः'—ऐसी भाष्य-योजना में यह विचारणीय है कि 'अध्यस्य' पद में प्रयुक्त 'ल्यप्' आदेश का स्थानीभूत 'क्त्वा' प्रत्यय कैसे हुआ? "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" (पा. सू. ३।४।२१) इस सूत्र के द्वारा एककर्तृक दो क्रियाओं में से पूर्वकालीन क्रिया की उपस्थापक धातु के उत्तर 'क्त्वा' प्रत्यय का विधान किया जाता है, किन्तु यहाँ कोई ऐसा एक कर्त्ता प्रतीत नहीं होता, जिसकी पूर्वकालीन क्रिया की वाचक 'अस्' धातु हो।

समाधान—[वेदान्तियों का सभी व्यवहार श्री कुमारिल भट्ट की प्रक्रिया पर निर्भर है। भाट्टगण आख्यात की शक्ति भावना में मानते हैं, भावना पदार्थ चेतन का एक व्यापार

भामती

वानुविधानाद्व्यवहारभावाभावयोरित्यर्थः। तदेवमध्यासस्वरूपं फलं च व्यवहारमुक्त्वा तस्य निमित्तमाह ॐ इतरेतराविवेकेन ॐ। विवेकाग्रहेणेत्यर्थः। अथाविवेक एव कस्मान्न भवति, तथा च नाध्यास इत्यत आह ॐअत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोः ॐ। परमार्थतो धर्मिणोरतादात्म्यं विवेको धर्माणां चासङ्कीर्णता विवेकः।

स्यादेतत्—विविक्तयोर्वस्तुसतोर्भेदाग्रहनिबन्धनस्तादात्म्यविभ्रमो युज्यते शुक्तेरिव रजताद्भेदाग्रहे रजततादात्म्यविभ्रमः। इह तु परमार्थसतश्चिदात्मनो न भिन्नं देहाद्यस्ति वस्तुसत्तत् कुतश्चिदात्मनो भेदाग्रहः कुतश्च तादात्म्यविभ्रम इत्यत आह ॐ सत्यानृते मिथुनीकृत्य ॐ। विवेकाग्रहादध्यस्येति योजना। सत्यं चिदात्मा, अनृतं बुद्धीन्द्रियदेहादि, ते द्वे धर्मिणी मिथुनीकृत्य, युगलीकृत्येत्यर्थः। न च संवृतिपरमार्थसतोः पारमार्थिकं मिथुनमस्तीत्यभूततद्भावार्थस्य च्वेः प्रयोगः। एतदुक्तं भवति—अप्रतीतस्यारोपा-

भामती-व्याख्या

है, अपने आश्रयीभूत कर्त्ता के विना भावना उपपन्न नहीं हो सकती, अतः भावना के द्वारा कर्त्ता का आक्षेप या उन्नयन किया जाता है]। यहाँ भी अध्यसन और व्यवहरण—इन दो क्रियाओं के द्वारा जो कर्त्ता उन्नीत होता है, वह एक ही है, अतः एक ही कर्त्ता की अध्यसन और व्यवहरण—इन दो क्रियाओं में अध्यसन क्रिया पूर्वकालीन है, अतः उसकी वाचकीभूत अधिपूर्वक अस् धातु के उत्तर क्त्वा प्रत्यय निष्पन्न हो जाता है। 'अधि' अव्यय पूर्व में होने के कारण "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" (पा० सू० ७।१।३७) इस सूत्र के द्वारा क्त्वा को 'ल्यप्' का आदेश होकर 'अध्यस्य' पद सम्पन्न हो जाता है, उक्त प्रयोग का तात्पर्य 'अध्यस्य व्यवहारति लोकः'—इस प्रयोग में है।

'अध्यस्य' पद में प्रयुक्त 'क्त्वा' प्रत्यय के द्वारा अध्यास में पूर्वकालभावित्व सूचित किया गया, अतः पूर्वकालभावी अध्यास में उत्तरभावी व्यवहार क्रिया की कारणता का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"मिथ्याज्ञाननिमित्तो व्यवहारः"। 'मिथ्या ज्ञान' शब्द का अर्थ है—अध्यास, यही अध्यास उक्त व्यवहार का निमित्त है, अतः व्यवहार को अध्यास निमित्तक कहा गया है, क्योंकि 'अध्याससत्त्वे व्यवहारसत्त्वम्, अध्यासाभावे व्यवहाराभावः'—इस प्रकार अध्यास के भावाभाव का अनुविधान व्यवहार का भावाभाव करता है। इस प्रकार अध्यास के स्वरूप एवं उसके फलभूत व्यवहार का कथन करके उसका निमित्त कहते हैं—"इतरेतराविवेकेन"। यहाँ 'विवेक' पद से विवेक (भेद) का अग्रह विवक्षित है। 'विवेकाग्रह को अध्यास का निमित्त न मान कर अविवेक (भेदाभाव) को ही अध्यास का निमित्त क्यों नहीं माना जाता ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जहाँ अविवेक या भेदाभाव है, वहाँ अध्यास हो ही नहीं सकता—यह दिखाने के लिए कहा गया है—अत्यन्त-विविक्तयोः धर्मिणोः।" आशय यह है कि अभिन्न पदार्थ में कभी अध्यास नहीं होता, शुक्ति और रजत के समान दो नितान्त विविक्त (भिन्न) धर्मियों में ही अध्यास होता है, हाँ उनमें विवेक (भेद) का भान नहीं होना चाहिए। विवेक दो प्रकार का होता है—(१) दो धर्मियों का अतादात्म्य धर्मिविवेक कहलाता है और (२) आरुण्यादि धर्मों का असंकीर्णत्व (स्फटिकाद्यवृत्तित्व) धर्मविवेक है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि जो दो धर्मी वस्तुतः विविक्त हों किन्तु उनके विवेक (भेद) का ग्रह (भान) न हो रहा हो, तब उनमें तादात्म्य-विभ्रम (शुक्ति में रजतरूपतादि का भ्रम) घटित हो जाता है, जैसे कि शुक्ति और रजत—दो वस्तुतः भिन्न पदार्थ हैं, उनका भेद-ग्रह न होने के कारण उनका 'इदं रजतम्'—इस प्रकार तादात्म्य-भ्रम हो जाता है, किन्तु

आह—कोऽयमध्यासो नामेति ? उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः । तं

भामती

योगादारोप्यस्य प्रतीतिरुपयुज्यते न वस्तुसत्तेति । स्यादेतत्—आरोप्यस्य प्रतीतौ सत्यां पूर्वदृष्टस्य समारोपः, समारोपनिबन्धना च प्रतीतिरिति दुर्वारं परस्पराश्रयत्वमित्यत आह—* नैसर्गिक इति * । स्वाभाविकोऽनादिरयं व्यवहारः । व्यवहारानादितया तत्कारणस्याध्यासस्यानादितोक्ता । ततश्च पूर्वपूर्वमिथ्याज्ञानोपदर्शितस्य बुद्धीन्द्रियशरीरादेरुत्तरोत्तराध्यासोपयोग इत्यनादित्वाद्बीजाङ्कुरवन्न परस्पराश्रयत्वमित्यर्थः ।

स्यादेतद्—अद्धा पूर्वप्रतीतिमात्रमुपयुज्यत आरोपे, न तु प्रतीयमानस्य परमार्थसत्ता । प्रतीतिरेव त्वत्यन्तासतो गगनकमलिनीकल्पस्य देहेन्द्रियादेर्नोपपद्यते । प्रकाशमानत्वमेव हि चिदात्मनोऽपि सत्त्वं न तु तदतिरिक्तं सत्तासामान्यसमवायोऽर्थक्रियाकारिता वा, द्वैतापत्तेः । सत्तायाश्चार्थक्रियाकारितायाश्च सत्तान्तरार्थक्रियाकारितान्तरकल्पनेऽनवस्थापातात् प्रकाशमानतैव सत्ताऽभ्युपेतव्या । तथा च देहादयः प्रकाशमानत्वान्नासन्तश्चिदात्मवद्, असत्त्वे वा न प्रकाशमानास्तत् कथं सत्यानृतयोर्मिथुनीभावस्तदभावे वा कस्य कुतो भेदाग्रहस्तदसम्भवे कुतोऽध्यास इत्याशयवानाह * आह आक्षेप्ता कोऽयमध्यासो नाम ? * क इत्याक्षेपे ।

भामती-व्याख्या

परमार्थसत् आत्मा से अत्यन्त भिन्न शरीरादि कुछ भी वस्तुसत् नहीं, तब चिदात्मा का किसके साथ भेदाग्रह और तादात्म्य-विभ्रम होगा ? इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है—"सत्यानृते मिथुनीकृत्य" । इसका अन्वय है– "विवेकाग्रहादध्यासः" इसके साथ । यहाँ सत्य पदार्थ है—चिदात्मा और असत्य है—बुद्धि, इन्द्रिय और देहादि । इन दोनों धर्मियों को एक युगल के रूप में बुद्धिस्थ करना ही मिथुनीकरण है, क्योंकि संवृतिसत् (संवृतिसंज्ञक अविद्या का कार्य) और परमार्थसत् (ब्रह्म) का वास्तविक युगलीकरण सम्भव नहीं, परिशेषतः अभूत पदार्थ को आरोप-प्रणाली के द्वारा ही भूत वस्तु बनाकर परमार्थ तत्त्व के साथ मिथुनीकरण करना होगा—इस प्रक्रिया की सूचना देने के लिए 'मिथुनीकृत्य' पद में 'च्वि' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है ["कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः" (पा. सू. ५।४।५०) इस सूत्र के द्वारा स्वार्थ में 'च्वि' प्रत्यय का जो वैकल्पिक विधान किया गया है, उसके लिए वार्तिककार ने कहा है—"च्विविधावभूततद्भावग्रहणम्" । फलतः जो वस्तु जैसी नहीं है, उसका वैसा बन जाना च्वि प्रत्यय से ध्वनित होता है । प्रकृत में पारमार्थिक युगलभाव सम्भव नहीं, अतः एक पदार्थ का अध्यास करके उसका दूसरे सत्य पदार्थ के साथ युगलभाव सम्पादित किया गया है—इस तथ्य को अभिसूचित करने के लिए 'च्वि' प्रत्यय का यहाँ प्रयोग किया गया है । 'संवृति' शब्द का प्रयोग नागार्जुन ने अविद्या या अध्यास के अर्थ में किया है—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं सत्यं च परमार्थतः ।। (आगम. २४।८)

चन्द्रकीर्ति ने इसकी वृत्ति में "समन्ताद्वरणं संवृत्तिरज्ञानम्" कहा है । प्रज्ञाकर गुप्त संवृति का अर्थ करते हैं—"संवृतिर्नाम विकल्पविज्ञानम् , अनादिवासनाबलायातः प्रतिभासः" (प्र. वा. पृ. १८५) । श्री शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार में श्री प्रज्ञाकरमति कहते हैं— "संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्च अनयेति संवृतिः, अविद्या, मोहो, विपर्यासः इति पर्यायः" (बो. च. पं. पृ. १७०) । फलतः संवृतिसत् का अर्थ है— आविद्यक या व्यावहारिक सत्] । आशय यह है कि अप्रतीयमान पदार्थ का कभी आरोप

भामती

समाधाता लोकसिद्धमध्यासलक्षणमाचक्षाण एवाक्षेपं प्रतिक्षिपति ॐ उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः ॐ। अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः। प्रत्ययान्तरबाधश्चास्यावसादोऽवमानो वा।

भामती-व्याख्या

(अध्यास) नहीं होता, अतः अध्यास में आरोप्यमान (अध्यस्यमान) रजतादि पदार्थों की प्रतीति का उपयोग होता है, उनकी पारमार्थिक सत्ता अपेक्षित नहीं होती।

यहाँ जो यह शङ्का होती है कि अध्यस्यमान पदार्थ की प्रतीति हो जानेपर वह पूर्व-दृष्ट कहलाता है और पूर्व-दृष्ट पदार्थ का अन्यत्र अध्यास होता है। किन्तु अध्यास हो जाने के पश्चात् ही रजतादि की प्रतीति होती है—इस प्रकार अध्यास और प्रतीति का अन्योऽन्याश्रय प्रसक्त क्यों न होगा? इस शङ्का का परिहार करने के लिए कहा गया है—"नैसर्गिकः"। उक्त व्यवहार स्वाभाविक (अनादि) है। प्रतीत्यादिरूप व्यवहार अनादि है, अतः उसके कारणीभूत अध्यास में भी अनादिता ध्वनित हो जाती है, फलतः पूर्व-पूर्व मिथ्याज्ञानोपदर्शित पदार्थ का उत्तरोत्तर अध्यास में उपयोग होता जाता है। बीज-वृक्ष प्रवाह के समान अनादि पदार्थों में अन्योऽन्याश्रयता नहीं मानी जाती [जिस बीज व्यक्ति से जो वृक्ष उत्पन्न होता है, यदि उसी वृक्ष व्यक्ति से उसके जनकीभूत बीज की उत्पत्ति मानी जाती है, तब अवश्य अन्योऽन्याश्रयता होगी, किन्तु अन्य बीज से अन्य वृक्ष की उत्पत्ति मानने में परस्पराश्रयता नहीं होती। इसी प्रकार प्रकृत में प्रतीति और अध्यास का अनादि प्रवाह माना जा सकता है]।

यह बात ठीक है कि अध्यास में अध्यस्यमान की केवल पूर्व प्रतीति उपयोगी है, परमार्थ सत्ता नहीं, किन्तु गगन-कुसुम के समान अत्यन्त असत् देह, इन्द्रियादि की प्रतीति ही सम्भव नहीं, क्योंकि असत्ता का अर्थ अप्रतीयमानता और सत्ता का अर्थ प्रतीयमानता ही किया जाता है। चिदात्मा में प्रतीयमानत्वरूप ही सत्त्व माना जाता है, उससे भिन्न वैशेषिक-सम्मत सत्ता जाति का समवाय वा बौद्ध-स्वीकृत अर्थक्रियाकारित्व को यहाँ सत्त्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि वैसा मानने पर 'सत्ता' जाति में सत्ता और 'अर्थक्रियाकारित्व' धर्म में अर्थक्रियाकारिता न होने के कारण सत्तादि प्रपञ्च को असत् मानना होगा। सत्तादि में भी दूसरी सत्तादि की कल्पना करने पर अनवस्था हो जाती है। फलतः प्रकाशमानता को ही सत्ता मानना आवश्यक है। तब तो देहादि को भी सत् ही मानना होगा, असत् नहीं—'देहादयः नासन्तः, प्रतीयमानत्वात् , चिदात्मवत्'। देहादि को यदि असत् माना जाता है, तब वे प्रतीयमान न हो सकेंगे, अतः सत् और असत् का मिथुनीभाव क्योंकर होगा? मिथुनीभाव के विना किसका किससे भेदाग्रह होगा? एवं भेदाग्रह सम्भव न होने पर अध्यास कैसे होगा? इस शङ्का को हृदय में रखकर आक्षेपवादी प्रश्न करता है—"कोऽयमध्यासो नाम?" यहाँ 'किम्' शब्द आक्षेपार्थक है अर्थात् अध्यास उपपन्न नहीं हो सकता।

इस आक्षेप के समाधान में समाधान करनेवाला अध्यास का लोक-प्रसिद्ध लक्षण प्रस्तुत करता है—"उच्यते स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः"। 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेः' इस धातु से निष्पन्न अवसाद या अवमत का अर्थ ही 'अव' उपसर्ग से अवद्योतित है, अतः अवसन्न (अवसाद-युक्त) या अवमत (तिरस्कृत) अवभास ही अध्यास का शब्दार्थ सिद्ध होता है। यहाँ अधिष्ठान-ज्ञान के द्वारा उसका बाध होना ही अवसाद या अवमान है। इस प्रकार अवभास के द्वारा मिथ्या ज्ञान विवक्षित होने पर अध्यास का संक्षिप्त लक्षण 'मिथ्याज्ञानमध्यासः'—ऐसा पर्यवसित होता है। [न्यायवार्तिककार निर्णय को मिथ्या ज्ञान मानते हुए

भामती

एतावता मिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति—तस्येदमुपव्याख्यानं ® पूर्वदृष्टेत्यादि ®। पूर्वदृष्टस्यावभासः पूर्वदृष्टावभासः। मिथ्याप्रत्ययश्चारोपविषयारोपणीयस्य मिथुनमन्तरेण न भवतीति पूर्वदृष्टग्रहणेनानृतमारोपणीयमुपस्थापयति, तस्य च दृष्टत्वमात्रमुपयुज्यते न वस्तुसत्तेति दृष्टग्रहणम्, तथापि वर्त्तमानं दृष्टं दर्शनं नारोपोपयोगीति पूर्वेत्युक्तं, तत्र पूर्वदृष्टं स्वरूपेण सदप्यारोपणीयतयाऽनिर्वाच्यमित्यनृतम्। आरोपविषयं सत्यमाह ® परत्रेति ®। परत्र शुक्तिकादौ परमार्थसति, तदनेन सत्यानृतमिथुनमुक्तम्। स्यादेतत्—परत्र पूर्वदृष्टावभास इत्यलक्षणमतिव्यापकत्वात्। अस्ति हि स्वस्तिमत्यां गवि पूर्वदृष्टस्य गोत्वस्य परत्र कालाक्ष्यामवभासः। अस्ति च पाटलिपुत्रे पूर्वदृष्टस्य देवदत्तस्य परत्र माहिष्मत्यामवभासः समीचीनः। अवभासपदं च समीचीनेऽपि प्रत्यये प्रसिद्धं यथा नीलस्यावभासः पीतस्यावभास इत्यत आह ® स्मृतिरूप

भामती—व्याख्या

कहते हैं—"सामान्यविशेषधर्मपरिज्ञाने सति तद्विपरीतधर्माध्यारोपेण विपर्ययः सर्वत्र भवतीति। कः पुनरयं विपर्ययः? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः" (न्या. सू. १।१।२)। श्री कुमारिल भट्ट ने भी मिथ्याज्ञान विपर्यय को ही माना है, जैसा कि श्लो. वा. पृ. ६१-६२ में प्रयुक्त "मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः" और "साक्षाद् विपर्ययज्ञानाद् लब्ध्येव स्वप्रमाणता"—इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है। श्री ज्ञानश्री ने भी आरोप के अर्थ में ही 'अध्यास' शब्द का प्रयोग किया—"अर्थश्चैकोऽध्यासतो भासतेऽन्यः स्थाप्यो वाच्यस्तत्त्वतो नैव कश्चित्" (ज्ञानश्री. पृ. २०३)। किन्तु प्राचीन आचार्य वसुबन्धु ने अध्यास के लिए उपचार शब्द का प्रयोग उचित समझा है—"आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते" (विज्ञप्ति. पृ. ९६)। इसकी व्याख्या में कहा गया है—"यच्च यत्र नास्ति, तत् तत्रोपचर्यते।" जपाकुसुमादि के समीपवर्ती स्फटिकादि में जपाकुसुम की अरुणिमा का उपचार (उपसंक्रमण) प्रसिद्ध ही है]।

मिथ्याज्ञान का विस्तृत लक्षण किया गया है—"परत्र पूर्वदृष्टावभासः"। 'पूर्वदृष्टस्य अवभासः पूर्वदृष्टावभासः'—इस प्रकार यहाँ षष्ठी समास है। मिथ्या ज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जब तक आरोप के विषय (अधिष्ठान) और आरोपणीय रजतादि पदार्थों के मिथुन (युगल) की उपस्थिति न हो, अतः यहाँ 'पूर्वदृष्ट' पद के द्वारा अनृत (असत्य) आरोपणीय की उपस्थिति कराई गई है। उस (आरोपणीय पदार्थ) की केवल दृष्टता (प्रतीति) अपेक्षित है, परमार्थ सत्ता नहीं—इस तथ्य का आविष्कार 'दृष्ट' पद के द्वारा किया गया है। उसमें भी वर्तमानकालीन दर्शन उपयोगी नहीं—यह दिखाने के लिए 'पूर्व' पद का ग्रहण किया गया है। यद्यपि पूर्वदृष्ट रजतादि पदार्थ स्वरूपतः सत् (व्यावहारिक) है, प्रातिभासिक नहीं, तथापि आरोपणीयत्व (ब्रह्मज्ञानेतरज्ञानबाध्यत्व) रूप से असत् होने के कारण अनृत कहा जाता है। अध्यास के विषय (अधिष्ठान) की अनृत-विरुद्ध सत्यता प्रकट करने के लिए 'परत्र' का प्रयोग किया गया है। शुक्त्यादि पर पदार्थ रजतादि की अपेक्षा सत्य (अधिकसत्ताक) होते हैं। इस प्रकार अनृत और ऋत (सत्य) का मिथुन (जोड़ा) प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ शङ्का होती है कि 'परत्र पूर्वदृष्टावभासः'—यह अध्यास का लक्षण निर्दुष्ट नहीं, क्योंकि स्वस्तिमती नाम की गो व्यक्ति में पूर्व दृष्ट 'गोत्व' जाति का परत्र (कालाक्षी नाम की गो व्यक्ति में) अवभास (सत्य ज्ञान) होता है। इसी प्रकार पाटलिपुत्र (पटना नगर) में पूर्व दृष्ट देवदत्त का परत्र (माहिष्मति नाम के नगर में) अवभास होता है। 'अवभास' पद सत्य ज्ञान में भी प्रयुक्त होता है, जैसे—'नीलस्यावभासः', 'पीतस्यावभासः'। इस प्रकार गोत्वादि जाति एवं देवदत्तादि व्यक्तियों की सत्य अनुभूति में प्रसक्त अतिव्याप्ति की इस

भामती

इति ॐ। स्मृते रूपमिव रूपमस्येति स्मृतिरूपः। असन्निहितविषयत्वं च स्मृतिरूपत्वं सन्निहितविषयं च प्रत्यभिज्ञानं समीचीनमिति नातिव्याप्तिः। नाप्यव्याप्तिः स्वप्नज्ञानस्यापि स्मृतिविभ्रमरूपस्यैवंरूपत्वात्तत्रापि हि स्मर्यमाणे पित्रादौ निद्रोपप्लववशादसन्निधानापरामर्शे तत्र तत्र पूर्वदृष्टस्यैव सन्निहितदेशकालत्वस्य समारोपः।

एवं पीतः शङ्खस्तिक्तो गुड इत्यत्राप्येतल्लक्षणं योजनीयम्। तथाहि—बहिर्विनिर्गच्छदत्यच्छनयनरश्मिसंपृक्तपित्तद्रव्यवर्त्तिनीं पीततां पित्तद्रव्यरहितामनुभवन् शङ्खं च दोषाच्छादितशुक्लिमानं द्रव्यमात्रमनुभवन् पीततायाश्च शङ्खासम्बन्धमननुभवन्नसम्बन्धाग्रहणसारूप्येण पीतं तपनीयपिण्डं पीतं बिल्वफलमित्यादौ पूर्वदृष्टं सामानाधिकरण्य पीतत्वशङ्खत्वयोरारोप्याह पीतः शङ्ख इति। एतेन तिक्तो गुड इति प्रत्ययो व्याख्यातः।

एवं विज्ञातुपुरुषाभिमुखेष्वादर्शोदकादिषु स्वच्छेषु चाक्षुषं तेजो लग्नमपि बलीयसा सौर्य्येण तेजसा प्रतिस्रोतः प्रवर्त्तितं मुखसंयुक्तं मुखं ग्राहयद् दोषवशात्तद्देशतामनभिमुखतां च मुखस्याग्राहयत् पूर्वदृष्टाभि-

भामती-व्याख्या

शङ्का को दूर करने के लिए कहा गया है—"स्मृतिरूपः"। ["प्रशंसायां रूपप्" (पा. सू. ५।३।६६) इस सूत्र के द्वारा 'रूपप्' प्रत्यय करके जो 'स्मृतिरूप' पद निष्पन्न होता है, वह यहाँ अनुपयुक्त है, क्योंकि उससे स्मृति की प्रशस्तता या परिपूर्णता प्रतीत होती है, किन्तु यहाँ स्मृतिविषय का एक अंशमात्र विवक्षित है, अतः बहुव्रीहि समास के द्वारा 'स्मृतिरूपः' शब्द श्री मिश्र जी निष्पन्न कर रहे हैं] 'स्मृते रूपमिव रूपमस्य'—इस प्रकार सम्पन्न 'स्मृतिरूप' पद के द्वारा असन्निकृष्टार्थविषयकत्व मात्र की उपस्थिति कराई जाती है, जिससे 'तदेवात्र गोत्वम्', 'स एवायं देवदत्तः'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञात्मक प्रमा ज्ञान में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सन्निहितविषयक होता है। इस लक्षण की कहीं अव्याप्ति भी नहीं, क्योंकि सभी भ्रमप्रकारों में इस लक्षण का सम्यक् समन्वय हो जाता है, जैसे कि—

(१) **स्वाप्न ज्ञान**—स्वप्न देखते समय स्मर्यमाण माता-पिता आदि पदार्थों में 'निद्रा' दोष के कारण उनकी असन्निधानता का भान नहीं हो पाता और पूर्व जाग्रत अवस्था में दृष्ट सन्निहित देश-कालवृत्तित्व का समारोप होकर 'इयं मे माता', 'अयं मे पिता' ऐसी प्रतीति हो जाती है।

(२) पीतः शङ्खः—ऐसा भ्रम पीलिया रोगवाले व्यक्ति को प्रायः होता है। उसके नेत्रों से निकली शुभ्र रश्मियों के साथ पीलिया का कारणीभूत कुपित पित्त द्रव्य वैसे ही चिपक जाता है, जैसे चाँदी के तारों पर सोने का रंग चढ़ा हो। उस पित्त द्रव्य को साथ चिपकाए नेत्र-रश्मियाँ बाहर निकल कर श्वेत शङ्ख पर फैल जाती हैं। 'अतिसामीप्य' दोष के कारण पित्त द्रव्य का ग्रहण नहीं हो पाता और पीलिया रोग के कारण शङ्खगत शुक्ल वर्ण का भान नहीं होता, पित्तगत पीत वर्ण और शङ्ख के वास्तविक असम्बन्ध का ग्रहण भी नहीं होता। जैसे 'पीतं स्वर्णपिण्डम्', 'पीतं बिल्वफलम्—इत्यादि सत्य स्थल पर गुण और गुणी द्रव्य का असम्बन्धाग्रह होता है, वैसे ही 'पीतः शङ्खः'—इत्यादि भ्रम-स्थल पर पूर्वदृष्ट पीतत्व और तपनीयपिण्डत्वादि के सामानाधिकरण्य का पीतत्व और शङ्खत्व में आरोप करके पीलियावाला व्यक्ति व्यवहार करने लग जाता है—'पीतः शङ्खः'। इसी प्रकार 'तिक्तो गुडः' आदि भ्रमों की प्रक्रिया होती है।

(३) **प्रतिबिम्ब विभ्रम-स्थलों** में द्रष्टा पुरुष के सम्मुखस्थ दर्पण या जलादि स्वच्छ पदार्थों पर उसकी नेत्र-रश्मियाँ जाती हैं और दर्पण-तल पर प्रसृत सूर्य के प्रखर प्रकाश से टकराकर द्रष्टा के मुख की ओर ही मुड़ जाती और मुख का ही पूर्णतया ग्रहण

भामती

मुखादर्शोदकदेशतामाभिमुख्यं च मुखस्यारोपयतीति प्रतिबिम्बविभ्रमोऽपि लक्षितो भवति। एतेन द्विचन्द्र-दिङ्मोहालातचक्रगन्धर्वनगरवंशोरगादिविभ्रमेष्वपि यथासम्भवं लक्षणं योजनीयम्।

एतदुक्तं भवति - न प्रकाशमानतामात्रं सत्त्वं येन देहेन्द्रियादेः प्रकाशमानतया सद्भावो भवेत्। नहि सर्पादिभावेन रज्ज्वादयो वा स्फटिकादयो वा रक्तादिगुणयोगिनो न प्रतिभासन्ते, प्रतिभासमाना वा भवन्ति तदात्मानस्तद्धर्माणो वा। तथा सति मरुषु मरीचिचयमुच्चावचमुच्चलत्तुङ्गतरङ्गभङ्गमालेयमभ्यर्ण-मवतीर्णा मन्दाकिनीत्यभिसन्धाय प्रवृत्तः तत् तोयमापीय पिपासामुपशमयेत्। तस्मादकामेनापि आरोपितस्य प्रकाशमानस्यापि न वस्तुसत्त्वमभ्युपगमनीयम्। न च मरीचिरूपेण सलिलमवस्तुसत् स्वरूपेण तु परमार्थ-सदेव देहेन्द्रियादयस्तु स्वरूपेणापि असन्त इत्यनुभवागोचरत्वात्कथमारोप्यन्त इति साम्प्रतम्, यतो यद्यसन्तो नानुभवगोचराः कथं तर्हि मरीच्यादीनामसतां तोयतयानुभवगोचरत्वम्? न च स्वरूपसत्त्वेन तोयात्मनापि सन्तो भवन्ति। यद्युच्येत नाभावो नाम भावादन्यः कश्चिदस्ति अपि तु भाव एव भावान्तरा-त्मनाऽभावः स्वरूपेण तु भावः। यथाहुः—"भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षयेति।" ततश्च

भामती-व्याख्या

करती हैं। रश्मियों के मोड़-तोड़ दोष के कारण मुख की ग्रीवास्थता और अनभिमुखता का भान नहीं होता। फलतः द्रष्टा के द्वारा दर्पणादि में पूर्वदृष्ट दर्पणादि का देश और आभि-मुख्य अपने मुख में आरोप करके व्यवहार किया जाता है—'अहं दर्पणे मुखं पश्यामि'। इसी प्रकार 'द्विचन्द्रभ्रम', 'दिग्भ्रम', 'अलातचक्र', 'गन्धर्वनगर', 'वंशोरग' (बाँस के दण्ड में सर्प-भ्रम) आदि भ्रमों में भी यथासम्भव यह लक्षण घटा लेना चाहिए।

[आक्षेपवादी ने जो कहा था कि चिदात्मा में जो प्रकाशमानता रूप सत्ता है, वही शरीरादि में भी विद्यमान है, अतः शरीरादि को असत् या अनृत नहीं कहा जा सकता, तब सत् और असत् का मिथुनीकरण कैसे होगा? उस पर सिद्धान्ती कहता है कि] प्रकाशमान-त्वमात्र को सत्त्व नहीं कहा जाता कि शरीर और इन्द्रियादि भी प्रकाशमान होने के कारण सत् हो जाते। येन केन रूपेण तो असत् पदार्थ भी प्रतीयमान हो जाते हैं, जैसे सर्पस्वरूप से रज्जु, आरुण्यादि के योग से स्फटिकादि प्रतीयमान होते हैं। जो जिस रूप में प्रतीयमान होता है, वैसा सत् नहीं हो जाता, अन्यथा रज्जु भी सर्प और स्फटिकादि भी अरुण हो जायँगे और ग्रीष्म काल में तपते मरुस्थल पर ऊपर-नीचे लहराती सघन सूर्य-रश्मियाँ ही उन्नतावनत तरङ्गावलिसंकुल जाह्नवी के रूप में मूर्तिमान हो जाएँगी और प्यास से व्याकुल मृगों के यूथ उसी गंगा का जल पीकर अपनी चिरतृषा दूर कर लेंगे। इसलिए आरोपित पदार्थों की प्रकाशमानता को वस्तुसत्ता नहीं मानना चाहिए। यदि कहा जाय कि मरु-जल तो किरणों के रूप में असत् होने पर भी स्वरूपेण सत् ही होता है किन्तु देह, इन्द्रियादि तो स्वरूप से भी सत् नहीं, अतः अनुभव के अविषय होने के कारण क्योंकर आरोपित होंगे? तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि यदि असत् पदार्थ अनुभव के विषय नहीं होते, तब जल के रूप में मरु-मरीचियाँ क्यों प्रतीयमान होती हैं? मरीचियाँ स्वरूपतः सत् हैं, तो जलरूप में सत् हो जाएँगी—ऐसा कभी नहीं हो सकता।

शङ्का—यदि कहा जाय कि भाव से भिन्न अभाव नाम की कोई वस्तु ही नहीं होती, अपितु एक ही भाव अन्य भाव के रूप में अभाव हो जाता है, किन्तु वह स्वरूपतः भाव ही रहता है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट कहते है—"भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया" (श्लो. वा. पृ ५६६)। अर्थात् एक भाव अन्य भाव की अपेक्षा अभाव होता है, जैसे घट स्वरूपेण भावरूप होने पर भी पटादि के रूप में अभाव ही होता है। अतः भावरूप

भामती

भावात्मनोपाख्येयतयास्य युज्येतानुभवगोचरता, प्रपञ्चस्य पुनरत्यन्तासतो निरस्तसमस्तसामर्थ्यस्य निस्तत्त्वस्य कुतोऽनुभवविषयभावः ? कुतो वा चिदात्मन्यारोपः ?

न च विषयस्य समस्तसामर्थ्यस्य विरहेऽपि ज्ञानमेव तत्तादृशं स्वप्रत्ययसामर्थ्यासादितादृष्टान्तसिद्धस्वभावमेवमुपजातमसतः प्रकाशनं तस्मादसत्प्रकाशनशक्तिरेवाविद्येति साम्प्रतम्, यतो येयमसत्प्रकाशनशक्तिर्विज्ञानस्य किं पुनरस्याः शक्यम्? असदिति चेत्, किमेतत्कार्य्यमाहोस्विदस्या ज्ञाप्यम्? न तावत्कार्य्यमसतस्तत्त्वानुपपत्तेः। नापि ज्ञाप्यं, ज्ञानान्तरानुपलब्धेः। अनवस्थापाताच्च। विज्ञानस्वरूपमेवासतः प्रकाश इति चेत्, कः पुनरेष सदसतोः सम्बन्धः? असदधीननिरूपणत्वं सतो ज्ञानस्यासता सम्बन्ध इति चेत्, अहो बतायमतिनिर्वृत्तः प्रत्ययतपस्वी यस्यासत्यपि निरूपणमायतते, न च प्रत्ययस्तत्राधत्ते किञ्चित्। असत आधारत्वायोगात्। असदन्तरेण प्रत्ययो न प्रथते इति प्रत्ययस्यैवैष स्वभावो न त्वसदधीनमस्य किञ्चिदिति चेत्, अहो बतास्यासत्पक्षपातो यदयमतदुत्पत्तिरतदात्मा च तदविनाभावनियतः प्रत्यय इति। तस्मादत्यन्तासन्तः शरीरेन्द्रियादयो निस्तत्त्वा नानुभवविषया भवितुमर्हन्तीति।

अत्र ब्रूमः—निस्तत्त्वं चेन्नानुभवगोचरस्तत्किमिदानीं मरीचयोऽपि तोयात्मना सतत्त्वा यदनुभवगो-

भामती-व्याख्या

में प्रतीयमान होने के कारण मरीच्यादि में अनुभव-विषयता बन जाती है किन्तु कर्तृत्वादि प्रपञ्च तो अत्यन्त असत् और समस्तसामर्थ्य-रहित निस्तत्त्वमात्र है, इसमें अनुभवविषयता क्योंकर होगी और इसका आत्मा में आरोप कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि यद्यपि विषय-प्रपञ्च अत्यन्त सामर्थ्य-शून्य है, तथापि उसका ज्ञान ही ऐसा है कि वह अपने समनन्तर प्रत्यय (स्वसजातीय और अव्यवहित पूर्व ज्ञानरूप कारण) से ऐसा लोकोत्तर सामर्थ्य प्राप्त करता है, जो किसी बाह्य दृष्टान्त में अनुभूत नहीं, उसी सामर्थ्य के बल पर असत् पदार्थों का प्रकाश कर देता है उसकी असत्प्रकाशनशक्ति का ही नाम अविद्या कहा जाता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह जो विज्ञान की असत्प्रकाशन शक्ति है, उसका शक्य क्या है ? यदि असत् को शक्य माना जाता है, तब वह (असत् पदार्थ) इस शक्ति का कार्य ? अथवा उसका ज्ञाप्य है ? असत् पदार्थ को शक्ति का कार्य नहीं कह सकते, क्योंकि असत् पदार्थ में उत्पद्यमानत्वरूप कार्यत्व सम्भव नहीं। असत् को उस शक्ति का ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञान-ज्ञाप्यता का अर्थ है—ज्ञानजन्य ज्ञान की विषयता। प्रकृत में दो ज्ञान पदार्थों का भान नहीं होता, केवल असत् का एक ही ज्ञान प्रतीत होता है। उसका भी ज्ञान मानने पर अनवस्था हो जायगी। असत् का प्रकाश उसके ज्ञान से भिन्न नहीं, अतः अनवस्था नहीं होती—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत् ज्ञान का असत् विषय के साथ क्या सम्बन्ध ? यदि कहा जाय कि ज्ञान अपने असद्भूत विषय के द्वारा निरूपित होता है—यही सत् और असत् का सम्बन्ध है। तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि जिस ज्ञान का जीवन असत् पर निर्भर है, वह ज्ञान ही क्या होगा ? ज्ञान अपने ऐसे विषय पर कोई अतिशय का भी आधान नहीं कर सकता, क्योंकि असत् पदार्थ किसी भी धर्म का आश्रय नहीं बन सकता। 'ज्ञान अपने विषय पर कोई अतिशय उत्पन्न नहीं करता, अपितु असत् के बिना उसका भान नहीं हो सकता—यह ज्ञान का स्वभाव है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह सम्भव नहीं कि जब ज्ञान न तो उस असत् से उत्पन्न है और असद्रूप है, तब असत् का अविनाभाव (असत् के बिना न रह सकना) ज्ञान में क्योंकर बनेगा ? फलतः देह, इन्द्रियादि अत्यन्त असत् और निस्तत्त्व हैं, उनमें अनुभव-विषयता कभी नहीं बन सकती और उसके बिना उनका आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता।

भामती

परा: स्युः, न सतत्त्वास्तदात्मना मरीचीनामसत्त्वात् । द्विविधं च वस्तूनां तत्त्वं सत्त्वमसत्त्वं च, तत्र पूर्वं स्वतः परं तु परतः । यथाहु—

"स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद्रूपं कैश्चित्कदाचन ॥" इति ।

तत् किं मरीचिषु तोयनिर्भासप्रत्ययस्तत्त्वगोचरः ? तथा च समीचीन इति न भ्रान्तो नापि बाध्येत । अद्धा न बाध्येत, यदि मरीचीनतोयात्मतत्त्वान् अतोयात्मना गृह्णीयात् । तोयात्मना तु गृह्णन् कथमभ्रान्तः कथं वाऽबाध्यः ? हन्त तोयाभावात्मनां मरीचीनां तोयभावात्मत्वं तावन्न सत्, तेषां तोयाभावादभेदेन तोयभावात्मतानुपपत्तेः । नाप्यसत्, वस्त्वन्तरमेव हि वस्त्वन्तरस्यासत्त्वमास्थीयते भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणादिति वदद्भिः । न चारोपितं रूपं वस्त्वन्तरं तद्धि मरीचयो वा भवेद्, गङ्गादिगतं तोयं वा ? पूर्वस्मिन् कल्पे मरीचय इति प्रत्ययः स्यात् न तोयमिति । उत्तरस्मिंस्तु गङ्गायां तोयमिति स्यान्न पुनरिहेति । देशभेदास्मरणे तोयमिति स्यान्न पुनरिहेति । न चेवमत्यन्तमसन्निरस्तसमस्तस्वरूपमलीकमेवास्त्विति साम्प्रतम् , नाप्यसत्, तस्यानुभवगोचरत्वानुपपत्तेरित्युक्तमधस्तात् । तस्मान्न सत्

भामती–व्याख्या

समाधान—असत् (निस्तत्त्व) भी अनुभव का विषय होता है । यदि वह अनुभव का विषय नहीं होता, तो क्या मरु-मरीचियाँ भी जलरूप में सतत्त्व (सत्) हैं कि अनुभव का विषय हो जाती हैं ? यदि कहा जाय कि 'जलरूप में मरीचियाँ असत् हैं । वस्तुओं का तत्त्व दो प्रकार का होता है—(१) सत्त्व और (२) असत्त्व, जैसा कि न्यायभाष्यकार ने कहा है—"सतः सद्भावः, असतश्चासद्भावस्तत्त्वम्" (न्या. सू. १।१।१) । इनमें प्रथम (सत्त्व) स्वतः (पर-निरपेक्ष) और द्वितीय (असत्त्व) परतः (पर-सापेक्ष या प्रतियोगिनिरूपित) होता है, जैसा कि श्री कुमारिलभट्ट ने कहा है—

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद्रूपं कैश्चित्कदाचन ॥" (श्लो. वा. पृ. ४७६)

[अर्थात् सभी पदार्थ स्वरूपतः सत् और पर-रूप से असत् होते हैं, जैसे घट घटत्वेन सत् और पटत्वेन असत् होता है । उन रूपों में किसी को कभी एक रूप और कभी अन्य रूप प्रतीत होता है] ।' तो वैसा कहना समुचित नहीं, क्योंकि तब तो मरु-मरीचियों में जलज्ञान क्या तत्त्वगोचर है ? यदि ऐसा है, तब वह समीचीन ज्ञान है, भ्रम नहीं, अतः उसका बाध नहीं होना चाहिए । यदि कहें कि वह तब बाधित न होता, जब कि अजलरूप से मरीचियों को वह ग्रहण करता, किन्तु जलरूपेण मरीचियों का ग्रहण करता है, अतः वह समीचीन (अभ्रमरूप) क्यों होगा और अबाध्य क्योंकर होगा ? तो वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि जल से भिन्न मरीचियों में जलरूपता सत् नहीं, अन्यथा जलाभाव और जलभाव का अभेद प्रसक्त होगा । मरीचियों में जलरूपता को असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अन्य वस्तु की अन्यरूपता ही असत्त्व है—"भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्" (श्लो. वा. पृ. ५६६) । आरोपित जलादि पदार्थ तृतीय वस्तु नहीं हो सकता । आरोपित जल या तो मरीचिरूप होगा या गङ्गादिगत जल । मरीचिरूप मानने पर 'मरीचयः'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, 'जलम्'—ऐसी नहीं । गङ्गादिगत जलरूप मानने पर 'गङ्गायां जलम्'—ऐसी प्रतीति होगी, 'इह जलम्'—ऐसी प्रतीति नहीं । यदि गङ्गारूप देश का विस्मरण मान लिया जाय, तब भी 'जलम्'—ऐसी प्रतीति होगी, 'इह जलम्'—ऐसी नहीं । मरुमरीचि-जल को

भामती

नापि सदसद्, परस्परविरोधादिति अनिर्वाच्यमेवारोपणीयं मरीचिषु तोयमास्थेयं तदनेन क्रमेणाध्यस्तं तोयं परमार्थतोयमिव । अत एव पूर्वदृष्टमिव । तत्त्वतस्तु न तोयं न च पूर्वदृष्टं किं त्वनृतमनिर्वाच्यम् । एवं च देहेन्द्रियादिप्रपञ्चोऽप्यनिर्वाच्योऽपूर्वोऽपि पूर्वमिथ्याप्रत्ययोपदर्शित इव परत्र चिदात्मन्यध्यस्यत इति उपपन्नमध्यासलक्षणयोगाद् देहेन्द्रियादिप्रपञ्चबाधनं चोपपादयिष्यते । चिदात्मा तु श्रुतिस्मृतीतिहास-पुराणगोचरस्तन्मूलतदविरुद्धन्यायनिर्णीतशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सत्त्वेनैव निर्वाच्यः । अबाधिता स्वयम्प्रकाश-तैवाऽस्य सत्ता सा च स्वरूपमेव चिदात्मनो न तु तदतिरिक्तं सत्तासामान्यसमवायोऽर्थक्रियाकारिता वा इति सर्वमवदातम् ।

स चायमेवंलक्षणकोऽध्यासोऽनिर्वचनीयः सर्वेषामेव सम्मतः परीक्षकाणां तद्भेदे परं विप्रतिपत्ति-रित्यनिर्वचनीयतां द्रढयितुमाह ॐ तं केचिदन्यत्राऽन्यधर्माध्यास इति वदन्ति ॐ । अन्यधर्मस्य, ज्ञानधर्मस्य

भामती–व्याख्या

खपुष्प के समान अत्यन्त अलीक कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि अत्यन्त अलीक पदार्थ कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता । परिशेषतः अध्यस्यमान जलादि पदार्थों को सत्, असत् और सदसदुभयरूप न मानकर अनिर्वाच्य ही मानना होगा, अतः अध्यस्त जल व्यावहारिक जल के समान अत एव पूर्व-दृष्ट जैसा है । वस्तुतः न तो वह जल है और न पूर्वदृष्ट किन्तु अनृत और अनिर्वाच्यमात्र है । इस प्रकार देह इन्द्रियादि प्रपञ्च भी अनिर्वाच्य है, अपूर्व (पूर्व सत् न) होने पर भी मिथ्या ज्ञान के द्वारा पूर्व उपदर्शित एवं चिदात्मरूप अधिष्ठान में अध्यस्त है—यह उपपन्न हो गया, क्योंकि अध्यास का लक्षण उनमें घट जाता है ।

देह और इन्द्रियादि प्रपञ्च बाधित होने के कारण अनृत या मिथ्या है, इसके बाध का उपपादन आगे किया जायगा किन्तु चिदात्मा श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि में परमार्थ वस्तुत्वेन निर्णीत एवं श्रुतिमूलक उपक्रमादि न्यायों से अवधारित है, अतः शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव के आत्मा का सत्त्वेन निर्वचन करना होगा । चिदात्मा की जो अबाधित स्वयं प्रकाशता है, वही उसका सत्त्व है, उससे अतिरिक्त सत्तारूप महासामान्य (जाति) का समवाय या अर्थक्रियाकारित्व को सत्त्व नहीं माना जाता [सत् पदार्थों की सत्ता का निर्वचन दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से किया है—वैशेषिकाचार्यों ने सत्ता नाम की एक जाति मानी है, जो द्रव्य, गुण और कर्म—इन पदार्थों में रहती है—"सामान्यं द्विविधम् परमपरं चानु-वृत्तिप्रत्ययकारणम् । तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात्" (प्र. भा. पृ. २९)। इसी के आधार पर सत्ता-समवायवान् पदार्थ को सत् और 'सत्तासमवाय' (व्योम. पृ. १२९) को सत्त्व कहा गया है । बौद्धों ने सत्ता का लक्षण किया है—"सत्ता अर्थक्रियास्थितिः" (प्र. वा. ३।१) किन्तु वेदान्त में 'सतो भावः सत्ता'—ऐसा भावार्थक 'तल्' प्रत्यय न कर 'देवता' शब्द के समान स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय मानकर सद्रूप ही सत्ता मानी है । वार्तिककार कहते हैं—

प्रकृत्यर्थातिरेकेण प्रत्ययार्थो न विद्यते ।
सत्तेत्यत्र ततः स्वार्थस्तद्धितोऽत्र भवन् भवेत् ॥ (बृह. वा. पृ. १६७८)

वैशेषिक-सम्मत सत्ता का निरास बौद्धों ने भी किया है—सच्छब्दनिमित्तं हि सतो भावः सत्ता, द्रव्यं प्रकृत्यर्थः, द्रव्यात्मसंग्रहः प्रत्ययार्थः । सत्क्रिया वोपचारसत्तारूपा । वैशेषिकसत्ता नोभयम्, अर्थान्तरत्वात्" (अभिधर्मप्र. पृ. ६)] ।

उक्त अनिर्वचनीय अध्यास प्रायः सभी दार्शनिकों को सम्मत है, केवल उसके स्वरूप विशेष में विप्रतिपत्ति (मतभेद) है, उसे दिखाने के लिए कहा गया है—"तं केचिदन्यत्रान्य-धर्माध्यास इति वदन्ति" ।

केचित्—अन्यत्रान्यधर्माध्यास-इति वदन्ति । केचितु - यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रह-

भामती

रजतस्य, ज्ञानाकारस्येति यावत्, अध्यासोऽन्यत्र बाह्ये । सौत्रान्तिकनये तावद् बाह्यमस्ति वस्तुसत्तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः । विज्ञानवादिनामपि यद्यपि न बाह्यं वस्तुसत्तथाप्यनाद्यविद्यावासनारोपितमलीकं बाह्यं, तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः । उपपत्तिश्च यद्यादृशमनुभवसिद्धं रूपं तत्तादृशमेवाभ्युपेतव्यमित्युत्सर्गोऽन्यथात्वं पुनरस्य बलवद्बाधकप्रत्ययवशान्नेदं रजतमिति च बाधस्येदन्तामात्रबाधेनोपपत्तौ न रजतगोचरतोचिता । रजतस्य धर्मिणो बाधे हि रजतं च तस्य च धर्म इदन्ता बाधिते भवेताम्, तद्वरमिदन्तैवास्य धर्मो बाध्यतां न पुना रजतमपि धर्मि, तथा च रजतं बहिर्बाधितमर्थादान्तरे ज्ञाने व्यवतिष्ठत इति ज्ञानाकारस्य बहिरध्यासः सिध्यति ।

केचित्तु ज्ञानाकारख्यातावपरितुष्यन्तो वदन्ति ॐ यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति ॐ । अपरितोषकारणं चाहुः—विज्ञानाकारता रजतादेरनुभवाद्वा व्यवस्थाप्येतानुमानाद्वा ? तत्रानुमानमुपरिष्टान्निराकरिष्यते । अनुभवोऽपि रतजप्रत्ययो वा स्याद्, बाधकप्रत्ययो वा ? न तावद्रजतानुभवः । स हीदङ्कारास्पदं रजतमावेदयति न त्वान्तरम्, अहमिति हि तदा स्यात् प्रतिपत्तुः प्रत्ययादव्यतिरेकात् ।

भामती–व्याख्या

(१) आत्मख्याति—बौद्धों का योगाचार निकाय अन्य पदार्थ (ज्ञान) के रजतादि धर्मों (आकारों) का आरोप अन्य पदार्थ (बाह्य वस्तु) में किया करता है। सौत्रान्तिक मत में बाह्य वस्तु अनुमित है, उसमें ज्ञान के आकार का समारोप हो सकता है। योगाचार के मत में यद्यपि बाह्य वस्तु सत् नहीं, तथापि अनादि अविद्या-वासना के द्वारा आरोपित अलीक बाह्य पदार्थ माना जाता है, उसी में ज्ञान के रजतादि आकारों का अध्यास हो जाता है। इस पक्ष में उपपत्ति का प्रदर्शन इस प्रकार किया जाता है कि जो वस्तु जैसी अनुभव में आती है, उसे वैसा ही स्वीकार करना चाहिए—ऐसा नैसर्गिक नियम है। उसका अन्यथाकरण तो किसी प्रबल बाधक प्रत्यय के बल पर ही सम्भव हो सकता है। 'नेदं रजतम्'—इस बाध की चरितार्थता जब रजतगत केवल इदन्ता धर्म का बाध कर देने मात्र से हो जाती है, तब रजतरूप धर्मी का वह बाध नहीं कर सकता, क्योंकि रजतरूप धर्मी का भी बाध करने पर रजत और उसके धर्मभूत इदन्ता—इन दोनों का बाध करना होगा, उससे लाघव तो इसी में है कि रजत के केवल 'इदन्ता' धर्म का ही बाध किया जाय, रजतरूप धर्मी का नहीं। रजत बाहर बाधित होकर आन्तरिक ज्ञान में अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान के आकार का बाहर आरोप उपपन्न हो जाता है।

(२) अख्याति—कतिपय विद्वान् विज्ञानाकार ख्याति से सन्तुष्ट न होकर कहते हैं कि "यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः" अर्थात् शुक्त्यादि में जो रजतादि का अध्यास कहा जाता है, वह वस्तुतः शुक्ति और रजत का भेद-ग्रह न रहने के कारण 'इदं रजतम्'—ऐसे ज्ञान में भ्रमरूपता का व्यवहार होने लग जाता है। ये लोग आत्मख्याति में अपनी अरुचि का कारण यह बताते हैं कि बाह्य पदार्थ में रजताकारता का जो आरोप माना जाता है, वह अनुभव के आधार पर वैसा माना जाता है ? अथवा अनुमान के बल पर ? अनुमान का निराकरण आगे तर्कपाद में किया जायगा। अनुभव वहाँ दो होते हैं—(१) इदं रजतम् और (२) नेदं रजतम्। 'इदं रजतम्'—यह अनुभव रजत की ज्ञानाकारता में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह रजत को इदन्त्वेन बाहर सिद्ध करता है आन्तरिक ज्ञानाकारता का व्यवस्थापक नहीं हो सकता। रजत को ज्ञान का आकार मानने पर 'इदं रजतम्'- ऐसा अनुभव न होकर 'अहं रजतम्'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि विज्ञानवाद में विज्ञान

भामती

भ्रान्तं विज्ञानं स्वाकारमेव बाह्यतयाऽध्यवस्यति । तथा च नाहङ्कारास्पदमस्य गोचरो ज्ञानाकारता पुनरस्य बाधकप्रत्ययप्रवेदनीयेति चेत्, हन्त बाधकप्रत्ययमालोचयत्वायुष्मान् । किं पुरोवर्त्तिद्रव्यं रजताद्विवेचयत्याहो ज्ञानाकारतामप्यस्य दर्शयति । तत्र ज्ञानाकारतोपदर्शनव्यापारं बाधकप्रत्ययस्य ब्रुवाणः श्लाघनीयप्रज्ञो देवानां प्रियः । पुरोवर्त्तित्वप्रतिषेधादर्थादस्य ज्ञानाकारतेति चेत्, न; असन्निधानाग्रहनिषेधाद् असन्निहितो भवति प्रतिप्रत्युरत्यन्तसन्निधानं त्वस्य प्रतिपत्त्रात्मकं कुतस्त्यम् ?

न चेष रजतस्य निषेधो न चेदन्तायाः, किन्तु विवेकाग्रहप्रसञ्जितस्य रजतमिदमिति रजतव्यवहारस्य । न च रजतमेव शुक्तिकायां प्रसञ्जितं रजतज्ञानेन, नहि रजतनिर्भासस्य शुक्तिकालम्बनं युक्तमनुभवविरोधात् । न खलु सत्तामात्रेणालम्बनम्, अतिप्रसङ्गात् । सर्वेषामर्थानां सत्त्वाविशेषादालम्बनत्वप्रसङ्गात् । नापि कारणत्वेन, इन्द्रियादीनामपि कारणत्वात् । तथा च भासमानतैवालम्बनार्थः । न च रजतज्ञाने शुक्तिका भासत इति कथमालम्बनं भासमानताभ्युपगमे वा कथं नानुभावविरोधः ? अपि चेन्द्रियादीनां समीचीनज्ञानोप-

भामती–व्याख्या

को ही अहंपदार्थ माना जाता है। यदि कहा जाय कि रजत है तो विज्ञान का अपना ही आकार किन्तु भ्रान्त विज्ञान अपने आकार को ही बाह्य पदार्थ पर आरोपित कर देता है, इसलिए 'अहं रजतम्'—ऐसी प्रतीति नहीं होती। यदि रजत की विज्ञानाकारता 'नेदं रजतम्'—इस बाधक ज्ञान के द्वारा सिद्ध होती है, तब बाधक ज्ञान की परीक्षा कर ली जाय। बाधक ज्ञान क्या पुरोवर्ती (शुक्ति) द्रव्य को रजत से केवल भिन्न बताता है ? अथवा रजत में ज्ञानाकारता की भी सिद्धि करता है ? 'नेदं रजतम्'—इस निषेध ज्ञान को रजत की ज्ञानाकारता का साधक मानना तो निरी मूर्खता है। यदि कहा जाय कि रजत में पुरोवर्तित्व का निषेध कर देने से अर्थात् अन्तरवर्ती ज्ञानाकारता पर्यवसित होती है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि शुक्ति और रजत का वस्तुतः असन्निधान है, किन्तु उसका ग्रहण न होने के कारण रजत को इदं रूप से सन्निहित समझ लिया गया था, अब उस असन्निधानाग्रह का 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार निषेध कर देने से वास्तविक असन्निधान (ज्ञाता पुरुष से दूर आपण में अवस्थान) सिद्ध होना चाहिए, अत्यन्त सन्निधान (विज्ञानरूप ज्ञाता पुरुष का आकार) क्योंकर स्थिर होगा ? वस्तु-स्थिति यह है कि 'नेदं रजतम्'—यह निषेध न तो रजत का निषेधक है और न रजतगत इदन्ता का, किन्तु शुक्ति और रजत के भेदाग्रह के द्वारा आपादित 'रजतमिदम्'—इस प्रकार के व्यवहारमात्र का निषेधक होता है।

'इदं रजतम्'—इस ज्ञान के द्वारा रजत ही शुक्ति में अध्यस्त होता है'—यह कहना संगत नहीं, क्योंकि रजत-भासक ज्ञान का शुक्ति को आलम्बन (विषय) मानना अनुभव से विरुद्ध है। सदैव अनुभव यही बताता है कि जो ज्ञान जिस पदार्थ का भासक होता है, उस ज्ञान का वही आलम्बन होता है। शुक्ति उस देश में विद्यमान होने मात्र से रजत-ज्ञान का आलम्बन हो जायगी—ऐसा मानने पर यह अतिप्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है कि वहाँ विद्यमान सभी पदार्थ सभी ज्ञानों के विषय हो जायेंगे। 'रजत-ज्ञान का कारण होने से शुक्ति उसका आलम्बन है'—ऐसा मानने पर इन्द्रियादि भी रजत-ज्ञान के आलम्बन हो जायेंगे, क्योंकि वे भी उस ज्ञान के कारण हैं। अतः 'भासमानत्वमेवालम्बनत्वम्'—ऐसा ही आलम्बन का लक्षण करना चाहिए, जब 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में शुक्ति भासित नहीं हो रही, तब वह उसका आलम्बन क्योंकर होगी ? अतः 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान की भासमानता शुक्ति में मानना अनुभव-विरुद्ध है।

दूसरी बात यह भी है कि ज्ञानोत्पादक इन्द्रियादि पदार्थों में समीचीन (प्रमा) ज्ञान

भामती

जनने सामर्थ्यमुपलब्धमिति कथमेभ्यो मिथ्याज्ञानसम्भवः ? दोषसहितानां तेषां मिथ्याप्रत्ययेऽपि सामर्थ्यमिति चेत्, न, दोषाणां कार्य्योपजननसामर्थ्यविघातमात्रे हेतुत्वात् । अन्यथा दुष्टादपि कुटजबीजाद् वटाङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात् । अपि च स्वगोचरव्यभिचारे विज्ञानानां सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गः । तस्मात् सर्वं ज्ञानं समीचीनमास्थेयम् । तथा च रजतमिदमिति च द्वे विज्ञाने स्मृत्यनुभवरूपे तत्रेदमिति पुरोवर्त्तिद्रव्यमात्रग्रहणं दोषवशात् तद्गतशुक्तित्वसामान्यविशेषस्याग्रहात् तन्मात्रं च गृहीतं सदृशतया संस्कारोद्बोधक्रमेण रजते स्मृतिं जनयति । सा च गृहीतग्रहणस्वभावापि दोषवशाद् गृहीतत्वांशप्रमोषाद् ग्रहणमात्रमवतिष्ठते । तथा च रजतस्मृतेः पुरोवर्त्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य च मिथः स्वरूपतो विषयतश्च भेदाग्रहात् सन्निहितरजतगोचरज्ञानसारूप्येणेदं रजतमिति भिन्ने अपि स्मरणग्रहणे अभेदव्यवहारं च सामानाधिकरण्यव्यपदेशं च

भामती–व्याख्या

के उत्पादन का ही सामर्थ्य और स्वभाव पाया जाता है, उनसे मिथ्या ज्ञान की उत्पत्ति क्योंकर होगी ? यदि कहा जाय कि किसी दोष से युक्त हो जाने पर उन्हीं कारणों में मिथ्या ज्ञान के उत्पादन का सामर्थ्य आ जाता है । तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि दोष सदैव नैसर्गिक सामर्थ्य के घातक होते हैं, कार्यान्तर के जनक नहीं होते, अन्यथा कुटज (कुटवेर) के दुष्ट बीज से वट अङ्कुरित हो जाना चाहिए ।

'सभी ज्ञान नियमतः अपने विषय के ही भासक होते हैं'—इस नियम का यदि कहीं भी व्यभिचार माना जाता है, तब सभी ज्ञानों पर से विश्वास उठ जायगा, अतः सभी ज्ञानों को प्रमात्मक ही मानना चाहिए [श्री शालिकनाथ मिश्र कहते हैं—

"यथार्थं सर्वमेवेह विज्ञानमिति सिद्धये ।
प्रभाकरगुरोर्भावः समीचीनः प्रकाश्यते ॥
अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते ।
वेद्यः स एव नान्यद्धि विद्याद्वेद्यस्य लक्षणम् ॥
इदं रजतमित्यत्र रजतं चावभासते ।
तदेव तेन वेद्यं स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात् ॥
तेनाऽन्यस्यान्यथाभानं प्रतोत्यैव पराहतम् ।
परस्मिन् भासमाने हि परं भासते यतः ॥ (प्र. पं. पृ. ४८)
अहो बत महानेष प्रमादो धीमतामपि ।
ज्ञानस्य व्यभिचारे हि विश्वासः किन्निबन्धनः ॥ (प्र. पं. पृ. ४९)] ।

अख्यातिवाद के अनुसार 'इदं रजतम्'—यहाँ पर 'रजतम्'—यह ज्ञान स्मृति और 'इदम्'—यह ज्ञान अनुभवरूप है । 'इदम्'—इस ज्ञान के द्वारा पुरोवर्ती शुक्ति का केवल द्रव्यत्वेन सामान्य-ज्ञान मात्र होता है, नेत्रगत दोष के कारण शुक्तिकात्वरूप विशेष जाति का ग्रहण नहीं हो पाता । चमकीले द्रव्यमात्र के ग्रहण से वैसे ही चमकीले रजत द्रव्य के संस्कार उद्बुद्ध होकर रजत का स्मरण करा देते हैं । यद्यपि स्मृति ज्ञान गृहीतमात्र का ग्राहक होता है, अतः वहाँ भी 'रजतं स्मरामि' या 'तद् रजतम्'—ऐसा स्मरण होना चाहिए, तथापि दोष-वश गृहीतत्त्वादि अंशों का प्रमोष (विस्मरण) होकर वह स्मृतिज्ञान केवल ज्ञान के रूप में अवस्थित होता है । इस प्रकार 'रजत का स्मरण' और 'पुरोवर्ती द्रव्यमात्र का प्रत्यक्ष'—इन दोनों ज्ञानों के न तो स्वरूपों का भेद-भान होता है और न उनके विषयों का । वहाँ 'इदम्' और 'रजतम्'—ये दोनों ज्ञान वैसे ही अभेद-व्यवहार और सामानाधिकरण्यबोधक 'इदं रजतम्'—इस प्रकार शब्द-प्रयोग के प्रवर्तक हो जाते हैं, जैसे, 'इदं रजतम्'—इस

भामती

प्रवर्त्तयतः ।

क्वचित् पुनर्ग्रहण एव मिथोऽगृहीतभेदे, यथा पीतः शङ्ख इति । अत्र हि विनिर्गच्छन्नयनरश्मिवर्त्तिनः पित्तद्रव्यस्य काचस्येवातिस्वच्छस्य पीतत्वं गृह्यते पित्तं तु न गृह्यते, शङ्खोऽपि दोषवशात् शुक्लगुणरहितः स्वरूपमात्रेण गृह्यते । तदनयोर्गुणगुणिनोरसंसर्गाग्रहसारूप्यात् पीततपनीयपिण्डप्रत्ययाविशेषेणाभेदव्यवहारः सामानाधिकरण्यव्यपदेशश्च, भेदाग्रहप्रसञ्जिताभेदव्यवहारबाधनाच्च नेदमिति विवेकप्रत्ययस्य बाधकत्वमप्युपपद्यते, तदुपपत्तौ च प्राक्तनस्य प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वमपि लोकसिद्धं सिद्धं भवति । तस्माद्यथार्थाः सर्वे विप्रतिपन्नाः सन्देहविभ्रमा, प्रत्ययत्वात् घटादिप्रत्ययवत् । तदिदमुक्तं ❀ यदध्यास इति ❀ । यस्मिन् शुक्तिकादौ यस्य रजतादेरध्यास इति लोकप्रसिद्धिः नासावन्यथाख्यातिनिबन्धना, किन्तु गृहीतस्य रजतादेस्तत्स्मरणस्य च गृहीततांशप्रमोषेण गृहीतमात्रस्य य इदमिति पुरोऽवस्थिताद् द्रव्यमात्रात्तत्प्रज्ञानाच्च विवेकस्तदग्रहणनिबन्धनो भ्रमः । भ्रान्तत्वं च ग्रहणस्मरणयोरितरेतरसामानाधिकरण्यव्यपदेशो रजतादिव्यवहारश्चेति ।

भामती-व्याख्या

प्रकार का समीचीन ज्ञान, क्योंकि दोनों में असंसर्ग का अग्रह समान है ।

कहीं-कहीं दो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान अगृहीतभेदक होकर वैसे ही व्यवहार के जनक हो जाते हैं, जैसे 'पीतः शङ्खः'—यहाँ पर गोलक से बाहर निकलती हुई अति स्वच्छ नेत्र-रश्मियाँ अपने साथ चिपके काँच के समान पारदर्शी पित्त द्रव्य का ग्रहण न करके उसके केवल पीत वर्ण का ग्रहण करती हैं । शङ्ख का शुक्ल वर्ण भी उसी दोष के कारण गृहीत न होकर केवल शङ्ख द्रव्य ही गृहीत होता है । पीत गुण और शङ्खरूप गुणी (द्रव्य) में वैसे ही अभेद-व्यवहार और सामानाधिकरण्य-व्यपदेश प्रवृत्त हो जाता है, जैसे, 'पीतं स्वर्णपिण्डम्', 'पीतं बिल्वम्'—इत्यादि प्रमा ज्ञानों के द्वारा प्रवर्तित होता है, क्योंकि उन दोनों ज्ञानों में समीचीन ज्ञान का असंसर्गाग्रह रूप सादृश्य है । भेदाग्रह के द्वारा प्रापित उक्त अभेद-व्यवहार का बाध कर देने मात्र से 'नेदम्'—इस प्रकार के भेद-ज्ञान में बाधकत्व का भी निर्वाह हो जाता है । उसका निर्वाह हो जाने के कारण उससे पूर्ववर्ती 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में लोक-प्रसिद्ध भ्रमरूपता भी उपपन्न हो जाती है । फलतः सभी ज्ञानों में यथार्थत्व की सिद्धि पर्यवसित हो जाती है—'सर्वे विप्रतिपन्ना विभ्रमप्रत्यया यथार्थाः, प्रत्ययत्वाद्, घटादिप्रत्ययवत्' । इस अख्याति का लक्षण भाष्य में किया गया है—"यदध्यासः" । जिन शुक्त्यादि आधारों में जिन रजतादि का अध्यास लोक में प्रसिद्ध है, वह अन्यथा-ख्याति-प्रयुक्त नहीं, अपितु पूर्व-गृहीत और पश्चात् स्मर्यमाण रजतादि पदार्थों के गृहीतत्व धर्म का विस्मरण हो जाता है, अतः केवल रजतरूप धर्मी का जो पुरोवर्ती इदं पदार्थ से एवं स्मरणरूप रजत-ज्ञान का जो प्रत्यक्षात्मक इदमाकार ज्ञान से भेद है, उसका ग्रहण न होने के कारण भ्रम-व्यवहार हो जाता है । उसकी भ्रमरूपता यही है, जो कि इदमाकार प्रत्यक्षज्ञान और रजताकार स्मरण ज्ञान की एकात्मता का भान और शुक्ति में रजत पद का प्रयोग होता है [श्रीशालिकनाथ मिश्र कहते हैं—

"नन्वेवं रजताभासः कथमेष घटिष्यति ।
उच्यते शुक्तिशकलं गृहीतं भेदवर्जितम् ॥
शुक्तिकाया विशेषा ये रजताद्भेदहेतवः ।
ते न ज्ञाता अभिभवाद् ज्ञाता सामान्यरूपतः ॥
अनन्तरं च रजते स्मृतिर्जाता तथापि च ।
मनोदोषात् तदित्यंशपरामर्शविवर्जितम् ॥

भामती

अन्ये त्वत्राप्यपरितुष्यन्तो यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते। अत्रेदमाकूतम्—अस्ति तावद्रजतार्थिनो रजतमिदमिति प्रत्ययात् पुरोवर्त्तिनि द्रव्ये प्रवृत्तिः सामानाधिकरण्यव्यपदेशश्चेति सर्वजनीनम्। तदेतन्न तावद् ग्रहणस्मरणयोस्तद्गोचरयोश्च मिथो भेदाग्रहमात्राद्भवितुमर्हति। ग्रहणनिबन्धनौ हि चेतनस्य व्यवहारव्यपदेशौ कथमग्रहणमात्राद्भवेताम्? ननूक्तं नाग्रहणमात्रात् किन्तु ग्रहणस्मरणे एव मिथः स्वरूपतो विषयतश्चागृहीतभेदे समीचीनपुरस्थितरजतविज्ञानसादृश्येन अभेदव्यवहारं सामानाधिकरण्यव्यपदेशं च प्रवर्त्तयतः। अथ समीचीनज्ञानसारूप्यमनयोर्गृह्यमाणं वा व्यवहारप्रवृत्तिहेतुरगृह्यमाणं वा सत्तामात्रेण? गृह्यमाणत्वेऽपि समीचीनज्ञानसारूप्यमनयोरिदमिति रजतमिति च ज्ञानयोरिति ग्रहणमथवा तयोरेव स्वरूपतो विषयतश्च मिथो भेदाग्रह इति ग्रहणम्? तत्र न तावत्समीचीनज्ञानसदृशो इति ज्ञानं समीचीनज्ञानवद्व्यवहारप्रवर्त्तकम्। नहि गोसदृशो गवय इति ज्ञानं गवार्थिनं गवये प्रवर्त्तयति। अनयोरेव भेदाग्रह इति

भामती-व्याख्या

रजतं विषयीकृत्य नैव शुक्तेर्विवेचितम्।
स्मृत्याऽतो रजताभास उपपन्नो भविष्यति॥
ग्रहणस्मरणे चेमे विवेकानवभासिनी।
सन्निहितरजतशकले रजतमतिर्भवति यादृशी सत्या।
भेदानध्यवसायादियमपि तादृक् परिस्फुरति॥
बाधकप्रत्ययस्यापि बाधकत्वमता मतम्।
प्रसज्यमानरजतव्यवहारनिवारणात् ॥ (प्र० प० पृ० ४९)]।

(२) **अन्यथाख्याति**—अन्य आचार्य कहते हैं कि जिस शुक्त्यादि पदार्थ में रजतादि का जो अध्यास होता है, वह शुक्ति में रजतत्वरूप विपरीत धर्म का आरोप है। इन आचार्यों का आशय यह है कि रजतार्थी पुरुष की 'रजतमिदम्'—इस प्रतीति के आधार पर पुरोवर्ती शुक्तिरूप द्रव्य में प्रवृति होती है, केवल प्रवृति ही नहीं, 'रजतमिदम्'—इस प्रकार का सामानाधिकरण्य-व्यपदेश भी होता है—यह सर्व-सम्मत तथ्य है। यह सब कुछ प्रत्यक्ष और स्मरण ज्ञानों और उनके विषयीभूत शुक्ति और रजतादि विषयों के पारस्परिक भेद के अग्रहण मात्र से सम्पादित नहीं हो सकता, क्योंकि चेतन पुरुष की प्रत्येक क्रिया और शब्द-व्यवहार तभी सम्भव होते हैं, जब कि विषय वस्तु का ग्रहण (ज्ञान) हो जाय, अतः अग्रहण मात्र के बल पर पुरोदेश में प्रवृत्ति और 'इदं रजतम्'—ऐसा शब्द-प्रयोग क्योंकर होगा? यह जो कहा जाता है कि केवल अग्रहण को ही प्रवृत्त्यादि का कारण नहीं माना जाता, अपितु रजत का स्मरण और इदं पदार्थ का ग्रहण (प्रत्यक्ष ज्ञान) ये दोनों ज्ञान ऐसे हैं कि जिन के न तो स्वरूपों का भेद-ग्रह होता है और न उनके विषयों का। इन दोनों ज्ञानों में 'रजतमिदम्'—इस प्रकार के समीचीन ज्ञान का सारूप्य (असंसर्गाग्रह) भी है, अत एव ये दोनों ज्ञान शुक्ति और रजत के अभेद-व्यवहार एवं सामानाधिकरण्य-व्यपदेश के प्रवर्तक माने जाते हैं। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि ('इदम्' और 'रजतम्') इन दोनों ज्ञानों में समीचीन ज्ञान का सादृश्य गृह्यमाण होकर उक्त व्यवहार का हेतु है? अथवा अगृह्यमाण होकर सत्तामात्र से? गृह्यमाणत्व-पक्ष में भी 'समीचीनज्ञानसारूप्यमनयोर्ज्ञानयोः'—इस प्रकार सादृश्य का ग्रहण माना जाता है? या 'अनयोः ज्ञानयोः स्वरूपतो विषयतश्च भेदाग्रहः'—इस रीति से ग्रहण होता है? प्रथम कल्प युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि किसी वस्तु में उसका सादृश्य-ज्ञान मात्र प्रवर्तक नहीं होता, अन्यथा गवय में 'गोसदृशोऽयम्'—इस प्रकार गौ का सादृश्य-बोध रहने के कारण गवय की ओर उस व्यक्ति की प्रवृत्ति होनी चाहिए, जो गौ चाहता है। द्वितीय कल्प में जो

भामती

तु ज्ञानं पराहतं, नहि भेदाग्रहेऽनयोरिति भवति, अनयोरिति ग्रहे भेदाग्रहणमिति च भवति । तस्मात्सत्तामात्रेण भेदाग्रहोऽगृहीत एव व्यवहारहेतुरिति वक्तव्यम् । तत्र किमयमारोपोत्पादक्रमेण व्यवहारहेतुराहो अनुत्पादितारोप एव स्वत इति ? वयं तु पश्यामः—चेतनव्यवहारस्याज्ञानपूर्वकत्वानुपपत्तेरारोपज्ञानोत्पादक्रमेणैवेति । ननु सत्यं चेतनव्यवहारो नाज्ञानपूर्वकः किन्त्वविदितविवेकग्रहणस्मरणपूर्वक इति । मैवम्, नहि रजतप्रातिपदिकार्थमात्रस्मरणं प्रवृत्तावुपयुज्यते । इदङ्कारास्पदाभिमुखी खलु रजतार्थिनां प्रवृत्तिरित्यविवादम् । कथं चायमिदाङ्कारास्पदे प्रवर्त्तेत, यदि तु न तदिच्छेत् ? अन्यदिच्छत्यन्यत्करोतीति व्याहतम् । न चेदिदङ्कारास्पदं रजतमिति जानीयात् कथं रजतार्थी तदिच्छेत् ? अतथात्वेनाग्रहणादिति ब्रूयात्स च प्रतिवक्तव्योऽथ तथात्वेनाग्रहणात् कस्मान्नोपेक्षेतेति ? सोऽयमुपादानोपेक्षाभ्यामभित आकृष्यमाणश्चेतनोऽव्यवस्थित इदङ्कारास्पदे रजतसमारोपेणोपादान एव व्यवस्थाप्यत इति भेदाग्रहः समारोपोत्पादक्रमेण चेतनप्रवृत्तिहेतुः । तथाहि—भेदाग्रहादिदङ्कारास्पदे रजतत्वं समारोप्य तज्जातीयस्योपकारहेतुभावमनुचिन्त्य तज्जातीयतयेदङ्कारास्पदे रजते तमनुमाय तदर्थी प्रवर्त्तते इत्यानुपूर्व्यं सिद्धम् । न च तटस्थरजत-

भामती-व्याख्या

कहा गया—'अनयोः भेदाग्रहः' । वह अत्यन्त विरुद्ध है, क्योंकि जिन पदार्थों में भेद-ग्रह नहीं, होता, उनके लिए 'अनयोः'—इस प्रकार द्विवचन का प्रयोग कैसे होगा ? यदि उनमें द्वित्व का निश्चय है, तब अनयोः का प्रयोग सम्भव हो जाने पर भी 'भेदाग्रह'—यह कहना विरुद्ध पड़ जाता है । फलतः भेदाग्रह स्वयं अगृहीत होकर सत्ता मात्र से व्यवहार का जनक है—ऐसा मानना होगा । तब जिज्ञासा होती है कि वह अज्ञात भेदाग्रह रजतादि का आरोप कराकर व्यवहार का हेतु होता है ? या रजतादि का आरोप कराए बिना ही अकेला रजार्थी का प्रवर्तक होता है ? वहाँ हमारा तो कहना यह है कि चेतन मनुष्य का व्यवहार केवल अग्रहण (अज्ञान) के आधार पर नहीं देखा जाता, अतः रजतादि का अवभास कराकर ही वह रजतार्थी का प्रवर्तक होगा ।

यह जो कहा जाता है कि यद्यपि चेतन पुरुष का कोई भी व्यवहार केवल अज्ञान से नहीं होता, तथापि कथित अगृहीतभेदक इदमाकार प्रत्यक्ष और रजताकार स्मरण—ये दोनों ज्ञान व्यवहार के निर्वाहक हो जाते हैं । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि प्रकृत में केवल 'रजत' पद के अर्थ का स्वतन्त्र ज्ञान प्रवृत्ति का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि यह ध्रुव सत्य है कि रजतार्थी पुरुष की प्रवृत्ति इदंकारास्पद पदार्थ की ओर हो रही है । इदंकारास्पद पदार्थ की ओर उसकी प्रवृत्ति तभी बनेगी, जब कि उसे उसकी इच्छा होगी, क्योंकि अन्य वस्तु की इच्छा से अन्य वस्तु में प्रवृत्ति सम्भव नहीं । यदि इदंकारास्पद वस्तु को रजत न समझे, तब उसकी इच्छा ही क्यों होगा ? यदि अरजतरूपेण अग्रहण को प्रवर्तक माना जाता है, तब रजतरूपेण अग्रहण को रजतार्थी का निवर्तक मानना होगा । फलतः प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप विरोधी पदार्थों के आकर्षण में पड़ कर जब चेतन पुरुष किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है, तब रजतारोपपूर्वक ही भेदाग्रह उस पुरुष की प्रवृत्ति का व्यवस्थापक हो सकेगा ।

उसका क्रम इस प्रकार है कि भेदाग्रह से इदंकारास्पद पदार्थ में रजतत्वरूप धर्म का आरोप होता है, रजतजातीय पदार्थ की इष्ट-साधनता का स्मरण होता है, उसके पश्चात् इदंकारास्पदीभूत रजत में तज्जातीयत्वरूप हेतु के द्वारा इष्ट-साधनता का अनुमान होता है—'इदं मम (रजतार्थिनः) इष्टसाधनम्, रजतजातीयत्वाद्, आपणस्थरजतवत्' । तब रजतार्थी व्यक्ति पुरःस्थित द्रव्य की ओर प्रवृत्त होता है । इदंकारास्पद पदार्थ से भिन्न तटस्थ रजत की स्मृति इदंकारास्पद पदार्थ में इष्ट-साधनत्व का अनुमान नहीं करा सकती, क्योंकि 'इदं

भामती

स्मृतिरिवङ्कारास्पदस्योपकारहेतुभावमनुमापयितुमर्हति, रजतत्वस्य हेतोरपक्षधर्मत्वात् । एकदेशदर्शनं खल्वनुमापकं न त्वनेकदेशदर्शनम् । यथाहुः—"ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादिति" । समारोपे त्वेकदेशदर्शनमस्ति । तत्सिद्धमेतद्विवादाध्यासितं रजतादिज्ञानं पुरोवर्त्तिवस्तुविषयं रजतार्थिनस्तत्र नियमेन प्रवर्त्तकत्वात् । यद्यदर्थिनं यत्र नियमेन प्रवर्त्तयति तज्ज्ञानं तद्विषयं, यथोभयसिद्धसमीचीनरजतज्ञानं, तथा चेदं, तस्मात्तथेति ।

यच्चोक्तमनवभासमानतया न शुक्तिरालम्बनमिति, तत्र भवान् पृष्टो व्याचष्टां, किं शुक्तिकात्वस्येदं रजतमिति ज्ञानं प्रत्यगालम्बनत्वमाहोस्विद् द्रव्यमात्रस्य पुरःस्थितस्य सितभास्वरस्य ? यदि शुक्तिकात्वस्यानालम्बनत्वम्, अद्धा । उत्तरस्यानालम्बनत्वं ब्रुवाणस्य तथैवानुभवविरोधः । तथाहि—रजतमिदमित्यनुभवन्ननुभविता पुरोवर्त्ति वस्त्वङ्गुल्यादिना निर्दिशति । दृष्टं च दुष्टानां कारणानामौत्सर्गिककार्य्यप्रतिबन्धेन कार्य्यान्तरोपजननसामर्थ्यम् , यथा दावाग्निदग्धानां वेत्रबीजानां कदलीकाण्डजनकत्वम्, भस्मकदुष्टस्य चौदर्य्यस्य तेजसो बह्वन्नपचनमिति । प्रत्यक्षबाधापहृतविषयं च विभ्रमाणां यथार्थत्वानुमान-

भामती-व्याख्या

मदिष्टसाधनम्, रजतत्वात्'— इस अनुमान का रजतत्व हेतु इदंकारास्पदरूप पक्ष में न रह कर स्मर्यमाण तटस्थ रजत में रहता है, [अतः प्रकृत अनुमान स्वरूपासिद्धि दोष से दूषित होने के कारण अपने साध्य की सिद्धि नहीं करा सकता]। एकदेश (पक्षवृत्तिहेतु) का दर्शन ही अनुमिति का जनक माना जाता है, पक्ष से भिन्न देश में रहनेवाले हेतु का दर्शन नहीं, जैसा कि श्री शबरस्वामी कहते हैं—"अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः" (शा. भा. पृ. ३६) [पर्वत में अग्नि और धूम—दोनों एकदेशवृत्ति या (समानाधिकरण या पक्षवृत्ति) पदार्थ हैं। उनमें धूमरूप एकदेशीय (पक्षवृत्ति) पदार्थ के द्वारा अग्निरूप दूसरे एकदेशीय (पक्षवृत्ति) पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वही अनुमान है]। जब पुरोवर्ती द्रव्य में रजतत्व का समारोप हो जाता है, तब 'रजतत्व' हेतु पक्षवृत्ति हो जाता है। अतः यह अनुमान फलित होता है कि (१) 'एतद्विवादास्पदाध्यस्तरजतादिज्ञानं, पुरोवर्तिवस्तुविषयम्, (२) रजतार्थिनस्तत्र नियमेन प्रवर्तकत्वाद्, (३) यज्ज्ञानं यदर्थिनं यत्र नियमेन प्रवर्तयति, तज्ज्ञानं तद्विषयं यथोभयसिद्धसमीचीनरजतज्ञानम्, (४) तथा चेदम्, (५) तस्मात्तथा' [नैयायिकगण परार्थानुमान के पाँच अवयव मानते हैं—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" (न्या. सू. १।१।३२)। उन्हीं पाँच अवयवों का प्रयोग यहाँ किया है]।

अख्यातिवादियों का यह जो कहना है कि 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में शुक्ति अवभासित नहीं हो रही है, अतः इस ज्ञान का शुक्ति को विषय नहीं माना जा सकता। वहाँ जिज्ञासा होती है कि शुक्तित्व को उक्त ज्ञान का विषय नहीं माना जा सकता ? अथवा पुरोवर्ती भास्वर (चमकीले) द्रव्य मात्र को ? शुक्तित्व को तो उस ज्ञान का विषय हम भी नहीं मानते किन्तु सित भास्वर द्रव्यमात्र को उक्त ज्ञान का अविषय मानना अनुभव-विरुद्ध है, क्योंकि 'रजतमिदम्'—इस प्रकार अनुभव करनेवाला व्यक्ति पुरोवर्ती द्रव्य को ही उँगली से दिखाता है कि यह रजत है। दोषपूर्ण नेत्र के द्वारा शुक्ति में रजत का दर्शन असम्भव नहीं। यह जो कहा गया कि दोष सदैव नियत शक्ति का विघटक ही होता है, कार्यान्तर-जनन शक्ति का जनक नहीं होता। वह कहना भी अनुचित है, क्योंकि दोषों में कार्यान्तरोपजनन शक्ति की जनकता भी देखी जाती है, जैसे—दावाग्नि (वन में बाँसादि की रगड़ से पैदा हुई आग) में जले हुए बेत के बीजों से केले का अङ्कुर उत्पन्न होता है, इसी प्रकार पेट में भस्मक रोग से ग्रस्त जठराग्नि में अधिक अन्न-पचन की शक्ति देखी जाती है।

निबन्धनो भ्रम इति । अन्ये तु—यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते इति । सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति । तथा च लोकेऽ-

भामती

माभासो हुतवहानुष्णत्वानुमानवत् । यच्चोक्तं मिथ्याप्रत्ययस्य व्यभिचारे सर्वप्रमाणेष्वनाश्वास इति । तद्बोधकत्वेन स्वतः प्रामाण्यं नाव्यभिचारेणेति व्युत्पादयद्भिरस्माभिः परिहृतं न्यायकणिकायामिति नेह प्रतन्यते । दिङ्मात्रं चास्य स्मृतिप्रमोषभङ्गस्योक्तम् । विस्तरस्तु ब्रह्मतत्त्वसमीक्षायामवगन्तव्य इति तदिदमुक्तम् ॐ अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मकल्पनमाचक्षते इति ॐ । यत्र शुक्तिकादौ यस्य रजतादेरध्यासस्तस्यैव शुक्तिकादेर्विपरीतधर्मकल्पनं रजतत्वधर्मकल्पनमिति योजना । ननु सन्तु नाम परीक्षकाणां विप्रतिपत्तयः प्रकृते तु किमायातमित्यत आह ॐ सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभि-

भामती—व्याख्या

सभी भ्रम ज्ञानों में जो यथार्थत्व का अनुमान किया जाता है—'विभ्रमप्रत्यया यथार्थाः, प्रत्ययत्वात्'। वह अनुमान अग्नि में अनुष्णत्व-साधक अनुमान के समान ही प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, क्योंकि इदं रजतमित्यादि ज्ञानों में तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूप अयथार्थत्व प्रत्यक्षतः सिद्ध है। यह जो कहा गया कि यदि किसी ज्ञान को विषय-व्यभिचारी माना गया तो सभी ज्ञानों पर से विश्वास उठ जायगा। वह संगत नहीं, क्योंकि ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतः होता है, अव्यभिचार-प्रयुक्त नहीं। जब कि ज्ञान स्वभावतः विषय-प्रकाशक है, तब अबोधकत्व-रूप अप्रामाण्य उसमें रह ही कैसे सकता है--यह सब कुछ न्यायकणिका में कहा गया है। यहाँ तो उसका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है, विस्तार ब्रह्मसिद्धि की व्याख्या तत्त्वसमीक्षा में किया गया है। [न्यायकणिका में अनाश्वासापत्ति का प्रतीकार करते हुए कहा गया है—
"यत्तूक्तमनाश्वासादिति तदन्यत्र (ब्र. सि. पृ. १४४) आचार्येण—

बोधादेव प्रमाणत्वमिति मीमांसकस्थितिम् ।
विदन्नव्यभिचारेण तां व्युदस्यत्यपण्डितः ।।

इत्यादिना प्रबन्धेन दूषितमिति नेह दूषितम्। तथापि दूषणकणिकेह सूच्यते—किमव्यभिचारितैव प्रामाण्यम्? अथ तत्कारणम्? तद्व्यापिका वा? येन क्वचिद् व्यभिचारदर्शनात् तदभावे सति ज्ञानमात्रेऽनाश्वासः स्यात्। न तावदव्यभिचारितैव प्रामाण्यम्, अव्यभिचारिणामपि वह्न्यादौ धूमादीनां कुतश्चिन्निमित्तादनुपजनितकृशानुप्रत्ययानामप्रामाण्यं स्यात्। व्यभिचारिणामपि चक्षुरादीनां नीलादिभेदे तद्विषयज्ञानहेतूनां प्रामाण्यमिति साम्प्रतम्, प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमत्वाभावसम्भवात्, अन्यथा काष्ठादीनामपि पाकादावपि असाधनत्वप्रसङ्गात्" (न्या. क. पृ. १६२) इसी प्रकार अन्य पक्षों का भी खण्डन किया गया है। ब्रह्मसिद्धि में मण्डन मिश्र ने इस वाद का विस्तारपूर्वक निरास किया है, अतः उसकी व्याख्या तत्त्व-समीक्षा में अवश्य पूर्ण विस्तार किया गया होगा, किन्तु इस समय तक वह कहीं उपलब्ध नहीं हुई है]।

भाष्यकार ने अन्यथाख्याति का स्वरूप बताया है—"अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मकल्पनामाचक्षते"। जिस (शुक्त्यादि) में जिस (रजतादि) का अध्यास लोक-प्रसिद्ध है, वह शुक्त्यादि में विपरीत (स्वावृत्ति) रजतत्व धर्म की कल्पना है [न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में श्री वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"कस्मात् पुनरयं शुक्तौ रजतार्थी प्रवर्तते न पुना रजताभावे? कस्माच्चेदं पुरोवर्तिद्रव्यमङ्गुल्या निर्दिश्य रजतत्वं निषेधति—नेदं रजतमिति, यदि तत्र न प्रसञ्जितं रजतत्वं पूर्वविज्ञानेन" (ता. टी. १।२।१)]

परीक्षक विद्वानों के विवाद का पर्यवसित अर्थ बताते हुए भाष्यकार कहते हैं—

नुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति ।

कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम् ? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते

भामती

चरति ॐ । अन्यस्यान्यधर्मकल्पनाऽनृतता, सा चानिर्वचनीयतेत्यधस्तादुपपादितम् । तेन सर्वेषामेव परीक्षकाणां मतेऽन्यस्यान्यधर्मकल्पनानिर्वचनीयताऽवश्यम्भाविनीत्यनिर्वचनीयता सर्वतन्त्राविरुद्धोऽर्थं इत्यर्थः । अख्यातिवादिभिरकामैरपि सामानाधिकरण्यव्यपदेशप्रवृत्तिनियमस्नेहाविदमभ्युपेयमिति भावः । न केवलमियमनृतता परीक्षकाणां सिद्धाऽपितु लौकिकानामपीत्याह । ॐ तथा च लोकेऽनुभवः । शुक्तिका हि रजतवदवभासत इति ॐ । न पुना रजतमिदमिति शेषः । स्यादेतत्—अन्यस्यान्यात्मताविभ्रमो लोकसिद्धः, एकस्य स्वभिन्नस्य भेदभ्रमो न दृष्ट इति कुतश्चिदात्मनोऽभिन्नानां जीवानां भेदविभ्रम इत्यत आह ॐ एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति ॐ ।

पुनरपि चिदात्मन्यध्यासमाक्षिपति ॐ कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम् ॐ । अयमर्थः—चिदात्मा प्रकाशते न वा ? न चेत् प्रकाशते, कथमस्मिन्नध्यासो विषयतद्धर्माणाम् । न खल्वप्रतिभासमाने पुरोवर्त्तिनि द्रव्ये रजतस्य वा तद्धर्माणां वा समारोपः सम्भवतीति । प्रतिभासे वा न तावदयमात्माऽजड़ो घटादिवत् पराधीनप्रकाश इति युक्तम् । न खलु स एव कर्ता च कर्म च भवति, विरोधात्, परसमवेतक्रियाफलशालि हि कर्म, न च ज्ञानक्रिया परसमवायिनीति कथमस्यां कर्म ? न च तदेव

भामती–व्याख्या

"सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति" । अन्य वस्तु में अन्यरूपता की कल्पना ही अनृतता है, अनृतता का अर्थ अनिर्वचनीयता है—यह पहले कहा जा चुका है । सभी दार्शनिकों के मत में अन्यत्रान्यधर्मकल्पना या अनिर्वचनीयता अवश्यंभाविनी है, अतः अनिर्वचनीयता एक सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है [जिसका लक्षण करते हुए न्यायसूत्रकार कहते हैं—"सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः" (न्या. सू. १।१।२८) सभी दर्शनों से अविरुद्ध सिद्धान्त सर्वतन्त्रसिद्धान्त कहा जाती है]। अख्यातिवादी प्राभाकरगणों को विवश होकर पुरोवर्ती द्रव्य में प्रवृत्ति और सामानाधिकरण्य-व्यपदेश के आधार पर यह भ्रमरूपता माननी होगी। पूर्व-निरूपित अनृतता केवल परीक्षक विद्वानों तक ही सीमित नहीं, अपितु लोक-प्रसिद्ध भी है—"तथा च लोकेऽनुभवः 'शुक्तिका हि रजतवदवभासते इति" । 'रजतमिदम्'—ऐसा लोक में अनुभव नहीं होता, अपितु 'शुक्तिका रजतवदवभासते'—ऐसा ही अनुभव होता है ।

यह जो शङ्का होती है कि लोक में अन्य वस्तु में अन्यरूपतात्मक विभ्रम तो प्रसिद्ध है, किन्तु एक अभिन्न तत्त्व में भेद-भ्रम नहीं देखा जाता, अतः एक चित्तत्व में अभिन्न जीवों का भेद-भ्रम क्योंकर होगा ? उस शङ्का को दूर करने के लिए कहा गया है—"एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति" । जैसे एक चन्द्र में द्वित्वादि का भ्रम हो जाता है, वैसे ही एक ब्रह्म में अनेक जीवरूपता का भ्रम हो जाता है ।

अध्यास पर पुनः आक्षेप—चिदात्मा के अध्यास पर पुनः आक्षेप किया जाता है—"कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम् ?" आक्षेपवादी का अभिप्राय यह है कि चिदात्मा प्रकाशित होता है ? या नहीं ? यदि वह प्रकाशित नहीं होता, तब उसमें विषय और उसके धर्मों का अध्यास कैसे होगा ? क्योंकि जो शुक्ति प्रतीयमान नहीं, उसमें कभी भी रजत और उसके धर्मों का आरोप नहीं होता । यदि आत्मा प्रकाशित होता है, तब जिज्ञासा होती है कि उसका प्रकाशक कौन ? यदि कहा जाय कि आत्मा अजड़ चैतन्यरूप है, अतः घटादि के समान उसका प्रकाश अन्य किसी के द्वारा सम्भव नहीं, अतः आत्मा स्वयं अपना प्रकाशक है । तब वही प्रकाशक (प्रकाश का कर्त्ता) और वही प्रकाश्य (प्रकाश का

भामती

स्वं च परं च, विरोधात् । आत्मान्तरसमवायाभ्युपगमे तु ज्ञेयस्यात्मनोऽनात्मत्वप्रसङ्गः । एवं तस्य तस्येत्यनवस्थाप्रसङ्गः ।

स्यादेतत् । आत्मा जडोऽपि सर्वार्थज्ञानेषु भासमानोऽपि कर्तैव न कर्म, परसमवेतक्रियाफलशालित्वाभावात्, चैत्रवत् । यथा हि चैत्रसमवेतक्रियया चैत्रनगरप्राप्तावुभयसमवेतायामपि क्रियमाणायां नगरस्यैव कर्मता परसमवेतक्रियाफलशालित्वात् । न तु चैत्रस्य क्रियाफलशालिनोऽपि, चैत्रसमवायाद्गमनक्रियाया इति । तन्न, श्रुतिविरोधात् । श्रूयते हि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति । उपपद्यते च । तथाहि—योऽयमर्थप्रकाशः फलं यस्मिन्नर्थश्च आत्मा च प्रथेते स किं जडः, स्वयम्प्रकाशो वा ? जडश्चेद्विषयात्मानावपि जडाविति कस्मिन् किं प्रकाशेताविशेषात्, इति प्राप्तमान्ध्यमशेषस्य जगतः । तथा चाभाणकः—''अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे'' । न च निलीनमेव विज्ञानमर्थात्मानौ ज्ञापयति

भामती-व्याख्या

कर्म) हो—ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि कर्मकारक सदैव कर्त्ता से भिन्न होता है, 'देवदत्तः ग्रामं गच्छति'—यहाँ पर ग्रामरूप कर्मकारक से भिन्न देवदत्त की गमन क्रिया से जो देवदत्त और ग्राम का संयोगरूप फल होता है, उस संयोग का आश्रय होने के कारण ग्राम को कर्म कहा जाता है, किन्तु 'आत्मा आत्मानं प्रकाशयति'—यहाँ पर प्रकाश क्रिया कर्मरूप आत्मा से भिन्न पदार्थ में नहीं रहती, फलतः कर्तृत्व और कर्मत्व का एक आधार में रहना सर्वथा विरुद्ध है, वही आत्मा स्व भी हो और पर भी—यह क्योंकर सम्भव होगा ? यदि आत्मा का प्रकाश अन्य किसी आत्मा से माना जाता है, तब प्रकाश्य भूत (ज्ञेय या वेद्य) आत्मा जड़ और अनात्मरूप हो जायगा एवं अन्यान्य प्रकाशक-परम्परा की कल्पना में अनवस्था भी होती है ।

यह जो कहा जाता है कि यद्यपि आत्मा अजड़ और सभी पदार्थों के ज्ञानों में भासमान है, तथापि वह कर्त्ता ही माना जाता है, कर्म नहीं, क्योंकि वह पर-समवेत क्रिया से जनित फल का आश्रय नहीं, जैसे—चैत्र । 'चैत्रो नगरं गच्छति'—यहाँ चैत्र-समवेत गमनरूप क्रिया से जनित जो फल है—चैत्र और नगर का संयोग, उस संयोग के यद्यपि चैत्र और नगर—दोनों आश्रय हैं, तथापि कर्मता नगर में ही घटती है, चैत्र में नहीं, क्योंकि वह गमन क्रिया जिस चैत्र में समवेत (समवायसम्बन्धेन वृत्ति) है, वह नगर से भिन्न है, अपने से नहीं, अतः पर-समवेत क्रिया-जन्य फल का आश्रय होने से नगर ही कर्म बनता है, चैत्र नहीं, क्योंकि वह स्वसमवेत क्रिया-जन्य फल का ही आश्रय है, पर-समवेत क्रिया-जन्य फल का आश्रय नहीं । इसी प्रकार आत्मा भी स्वसमवेत क्रिया-जन्य फल का ही आश्रय है, अतः वह चैत्र के समान कर्त्ता ही होता है, कर्म नहीं ।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है कि वह किसी भी प्रकाश से प्रकाशित [प्रकाश क्रिया-जन्य फल का आश्रय] नहीं—'अगृह्यो न हि गृह्यते' (बृ. उ. ३।९।२६), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै. उ. २।१।१) । युक्ति-युक्त भी यही है, क्योंकि जो यह अर्थ-प्रकाशरूप फल है, जिसके होने पर अर्थ (विषय) और आत्मा—दोनों भासित होते हैं, वह क्या जड़ है ? अथवा स्वयंप्रकाश ? यदि जड़ है, तब विषय और आत्मा तो पहले ही जड़ हैं, फिर किससे कौन प्रकाशित होगा ? विषय भी अन्य प्रकाश से प्रकाशनीय होने के कारण जड़ और आत्मा भी वैसा ही, दोनों में कोई विशेषता नहीं कि एक से दूसरे का प्रकाश हो जाता । परिशेषतः जगत् सर्वथा प्रकाश-शून्य अन्धकारमय बन कर रह जायगा, जैसी कि कहावत प्रसिद्ध है—"अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे ।" अन्धे बैल की पूँछ पकड़ कर अन्धे व्यक्ति चल पड़े, स्थान-स्थान पर गर्त-पात होना ही था । अर्थ और आत्मा का

भामती

चक्षुरादिवदिति वाच्यम्, ज्ञापनं हि ज्ञानजननं, जनितं च ज्ञानं जडं सम्रोक्तदूषणमतिवर्त्तेतेति । एवमुत्तरोत्तराण्यपि ज्ञानानि जडानीत्यनवस्था । तस्मादपराधीनप्रकाशा संविदुपेतव्या । तथापि किमायातं विषयात्मनोः स्वभावजडयोः ? एतदायातं यत्तयोः संविदजडेति । तत्किं पुत्रः पण्डित इति पितापि पण्डितोऽस्तु ? स्वभाव एव संविदः स्वयम्प्रकाशाया यदर्थात्मसम्बन्धितेति चेत् , हन्त पुत्त्रस्यापि पण्डितस्य स्वभाव एव यत् पितृसम्बन्धितेति समानम् । सहार्थात्मप्रकाशेन संवित्प्रकाशो न स्वर्थात्मप्रकाशं विनेति तस्याः स्वभाव इति चेत्, तत्किं संविदो भिन्नौ संविदर्थात्मप्रकाशौ । तथा च न स्वयम्प्रकाशा संविन्न च संविदर्थात्मप्रकाश इति । अथ संविदर्थात्मप्रकाशौ न संविदो भिद्येते, संविदेव तौ । एवं चेत्, यावदुक्तं भवति संविदात्मार्थौ सहेति तावदुक्तं भवति संविदर्थात्मप्रकाशौ सहेति, तथा च न विवक्षितार्थसिद्धिः । न चातीतानागतार्थगोचरायाः संविदोऽर्थसहभावोऽपि । तद्विषयहानोपादानोपेक्षाबुद्धि-

भामती—व्याख्या

प्रकाश स्वयं अप्रकाशित रह कर ही चक्षुरादि के समान यदि अर्थ और आत्मा का प्रकाशक माना जाता है, तब भी कथित जगदान्ध्यरूप दोष से पीछा नहीं छूटता, क्योंकि विषय के प्रकाशन या ज्ञापन का अर्थ होता है—विषय के ज्ञान को जन्म देना, उक्त प्रकाश से जनित ज्ञान भी जड़ ही है, अतः वह भी स्वयं दूसरे का प्रकाश क्योंकर कर सकेगा ? इसी प्रकार कल्प्यमान उत्तरोत्तर ज्ञान व्यक्तियाँ भी जड़ ही मानी जाएँगी, इस प्रकार परप्रकाशवाद में अनवस्था दोष प्रसक्त होता है, अतः स्वयंप्रकाश ज्ञान तत्त्व को ही मानना चाहिए ।

विषय और आत्मा के ज्ञान को स्वयंप्रकाश मान लेने से स्वभावतः जड़भूत विषय और आत्मा पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा । इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वयंप्रकाश ज्ञान में प्रकाशमानता स्वतः सिद्ध है, ज्ञानगत प्रकाशमानता के बल पर ज्ञान के विषयीभूत विषय और आत्मा में भी प्रकाशमानता सिद्ध हो जाती है । यदि कहा जाय कि ज्ञान की प्रकाशमानता से ज्ञान के जनकीभूत विषय और आत्मा में प्रकाशमानता तभी सिद्ध हो सकती है, जबकि पुत्रगत पाण्डित्य के द्वारा उसके जनकीभूत माता-पिता में पाडित्य सिद्ध होता हो, किन्तु ऐसा नियम नहीं, क्योंकि पुत्र में पाण्डित्य होने पर भी उसके माता-पिता में पाडित्य की अवश्यंभाविता नहीं देखी जाती । यदि कहा जाय कि ज्ञान विषय और आत्मा का नियत सम्बन्धी है, अतः ज्ञान की प्रकाशमानता से विषय और आत्मा में प्रकाशमानता आ जाती है । तब भी वह आपत्ति बनीं ही रहती है, क्योंकि पुत्र भी माता-पिता का नियत सम्बन्धी है, अतः पुत्र के प्रण्डित होने पर माता-पिता को भी अवश्य पण्डित होना चाहिए ।

यदि पुत्र की अपेक्षा ज्ञान का एक यह वैशिष्ट्य माना जाता है कि विषय और आत्मा की प्रकाशमानता के बिना ज्ञान में प्रकाशमानता नहीं होती, अपितु अर्थात्म-प्रकाश के साथ ही ज्ञान का प्रकाश होता है । तब जिज्ञासा होती है कि ज्ञान से [ज्ञान का प्रकाश और अर्थात्मा का प्रकाश—ये] दोनों प्रकाश क्या भिन्न हैं ? अथवा अभिन्न ? यदि ज्ञान से ज्ञान का प्रकाश भिन्न है, तब ज्ञान को स्वयंप्रकाश नहीं कहा जा सकता, किन्तु घटादि के समान भिन्न प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण ज्ञान को जड़ ही मानना होगा । अर्थ और आत्मा के प्रकाश को ज्ञान से भिन्न मानने पर विषय और आत्मा में ज्ञान की विषयता सिद्ध न होकर ज्ञान-जन्य प्रकाश की विषयता (ज्ञान-ज्ञाप्यता) माननी होगी, जिसमें अनवस्था दोष दिखाया जा चुका है । यदि 'ज्ञान का प्रकाश और अर्थात्मा का प्रकाश'—ये दोनों प्रकाश ज्ञान से भिन्न नहीं, ज्ञानरूप ही हैं, तब जो कहा गया कि 'संविदर्थात्मप्रकाशौ सह' उसका अर्थ होता है—संविदात्मार्थौ सह' । तब आत्मगत ज्ञानाश्रयत्वरूप विवक्षित अर्थ की सिद्धि

भामती

जननादर्थसहभाव इति चेन्न, अर्थसंविद इव हानादिबुद्धीनामपि तद्विषयत्वानुपपत्तेः। हानादिजनना-द्धानादिबुद्धीनामर्थविषयत्वम्, अर्थविषयहानादिबुद्धिजननाच्चार्थसंविदस्तद्विषयत्वमिति चेत्, तत् किं देहस्य प्रयत्नवदात्मसंयोगो देहप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुरर्थे इत्ययंप्रकाशोऽस्तु? जाड्याद्देहात्मसंयोगो नार्थप्रकाश इति चेत्, नन्वयं स्वयम्प्रकाशोऽपि स्वात्मन्येव खद्योतवत्प्रकाशः, अर्थे तु जड इत्युपपादितम्। न च प्रकाशस्यात्मानो विषयाः। ते हि विच्छिन्नदीर्घस्थूलतयाऽनुभूयन्ते। प्रकाशश्चायमान्तरोऽस्थूलोऽनणुर-ह्रस्वोऽदीर्घश्चेति प्रकाशते। तस्माच्चन्द्रेऽनुभूयमान इव द्वितीयश्चन्द्रमाः स्वप्रकाशादन्योऽर्थोऽनिर्वचनीय एवेति युक्तमुत्पश्यामः। न चास्य प्रकाशस्याजानतः स्वलक्षणभेदोऽनुभूयते। न चानिर्वाच्यार्थभेदः प्रकाशं निर्वाच्यं भेत्तुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। न चार्थानामपि परस्परं भेदः समीचीनज्ञानपद्धतिमध्यास्ते इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यते। तदयं प्रकाश एव स्वयम्प्रकाश एकः कूटस्थो नित्यो निरंशः प्रत्यगात्मा अज्ञानानिर्वचनीयेभ्यो देहेन्द्रियादिभ्य आत्मानं प्रतीपं निर्वचनीयमञ्चति जानातीति प्रत्यङ् स चात्मेति

भामती–व्याख्या

नहीं होती। अतीत और अनागत घटादि रूप अर्थ के वर्तमानकालीन ज्ञान का अर्थ-सहभाव सम्भव भी नहीं। यदि कहा जाय कि जो ज्ञान जिस विषय की हान-बुद्धि, उपादान-बुद्धि या उपेक्षा-बुद्धि को जन्म देता है, उस ज्ञान में उस विषय का सहभाव माना जाता है। वर्तमान ज्ञान अतीतघटादिविषयक हानादि-बुद्धि का जनक होता है, यही उस ज्ञान में अर्थ-सहभाव अनुमित हो जाता है—'अतीतघटविषयकं ज्ञानम्, अतीतघटसहभूतम्, अतीतघटविषयकहानादि-बुद्धिजनकत्वात्। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अतीतघटादि के ज्ञान में जैसे अतीतघटविष-यकत्व सिद्ध है, वैसा हानादि-बुद्धि में अतीतघटविषयकत्व सिद्ध नहीं, अतः अतीतघटविषयक-हानादिबुद्धिजनकत्वरूप हेतु स्वरूपासिद्धिदोष से युक्त है, उसके द्वारा अर्थ सहभाव का ज्ञान में अनुमान नहीं किया जा सकता। 'घटादिविषयक हानादिरूप प्रवृत्ति की जनक होने के कारण हानादि-बुद्धि में घटविषयकत्व और घटादिविषयक हानादि-बुद्धि की जनकता होने के कारण घटादि के ज्ञान में घटादिविषयकत्व सिद्ध होता है'—ऐसा कहने पर देहगत प्रयत्नवदात्मा के संयोग में अर्थ-प्रकाशत्वापत्ति होती है, क्योंकि वह संयोग भी देहरूप अर्थ में प्रवृत्त्यादि का जनक होता है। यदि कहा जाय कि जड़ होने के कारण देहात्म-संयोग को अर्थविषयक प्रकाश नहीं कह सकते। तब स्वयंप्रकाशरूप अर्थ-ज्ञान में भी अर्थप्रकाशता न बनेगी, क्योंकि उसकी प्रकाश्य कोटि में स्वयं ज्ञान ही आता है, विषय नहीं, अतः वह खद्योत (जुगनू) के समान केवल अपने अंश में प्रकाशरूप होने पर भी विषयांश में जड़ ही है—ऐसा पहले कहा जा चुका है। घटादि विषय ज्ञान के आत्मा (स्वरूप) ही हैं—ऐसा कहना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि घटादि विषय विच्छिन्न (शरीर के बाहर), दीर्घ, स्थूल, अणु और ह्रस्व के रूप में देखे जाते हैं और उनका ज्ञान शरीर के अन्दर अदीर्घ, अस्थूल, अनणु और अह्रस्व के रूप में अवभासित होता है। फलतः एक चन्द्र में प्रतीयमान द्वितीय चन्द्रमा के समान स्वयंप्रकाश चित्तत्त्व से भिन्न घटादि प्रपञ्च को अनिर्वचनीय मानना ही उचित है।

इस स्वयंप्रकाश चित्तत्व का स्वाभाविक स्वलक्षण (अवान्तरव्यक्ति-भेद) अनुभूत नहीं होता और घटादि अनिर्वचनीय प्रपञ्च आत्मा के वास्तविक भेद का जनक नहीं हो सकता, अन्यथा घटादि उपाधियों के द्वारा गगन का भी वास्तविक भेद हो जायगा। घटादि पदार्थों का परस्पर भेद भी समीचीन ज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता—यह आगे चल कर कहा जायगा। परिशेषतः यह घटादि का प्रकाश ही स्वयंप्रकाश, एक कूटस्थ, नित्य और निरंश प्रत्यगात्मा है। उसे प्रत्यगात्मा इस लिए कहा जाता है कि वह देह, इन्द्रियादि

विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि ?

भामती

प्रत्यगात्मा, स चापराधीनप्रकाशत्वादनंशत्वाच्चाविषयस्तस्मिन्नध्यासो विषयधर्माणां, देहेन्द्रियादिधर्माणाम्। कथं, किमाक्षेपे। अयुक्तोऽयमध्यास इत्याक्षेपः। कस्मादयमयुक्त इत्यत आह ॐ सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति ॐ। एतदुक्तं भवति - यत्पराधीनप्रकाशमंशवच्च तत्सामान्यांशग्रहे कारण-दोषवशाच्च विशेषाग्रहेऽन्यथा प्रकाशते। प्रत्यगात्मा त्वपराधीनप्रकाशतया न स्वज्ञाने कारणान्यपेक्षते। येन तदाश्रयैर्दोषैर्दूष्येत। न चांशवान्, येन कश्चिदस्यांशो गृह्येत कश्चिन्न गृह्येत, नहि तदेव तदानीमेव तेनैव गृहीतमगृहीतं च सम्भवतीति न स्वयम्प्रकाशपक्षेऽध्यासः। सदात्मनेऽप्यप्रकाशे पुरोऽवस्थितत्व-स्यापरोक्षत्वस्याभावान्नाध्यासः। नहि शुक्त्यावपुरःस्थितायां रजतमध्यस्यतीदं रजतमिति। तस्माद-त्यन्तग्रहेऽत्यन्ताग्रहे च नाध्यास इति सिद्धम्। स्यादेतत् — अविषयत्वे हि चिदात्मनो नाध्यासो, विषय एव तु चिदात्मा अस्मत्प्रत्ययस्य, तत्कथं नाध्यास इत्यत आह ॐ युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽ-विषयत्वं ब्रवीषि ॐ। विषयत्वे हि चिदात्मनोऽन्यो विषयी भवेत्। तथा च यो विषयी स एव चिदात्मा,

भामती–व्याख्या

अनिर्वचदीय प्रपञ्च से प्रतीप (विपरीत) अपने को निर्वचनीय जानता है ['प्रत्यगात्मा' इस शब्द के 'प्रत्यग्' और 'आत्मा' दो भाग हैं। उनमें 'प्रत्यग्' प्रतिपूर्वक 'अञ्चु गतिपूजनयोः' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है—प्रतीपम् (विपरीतम्) आत्मानमञ्चति जानाति। अर्थात् जो अनात्म प्रपञ्च से अपने को विपरीत अनुभव करता है। वही आत्मतत्त्व है, अतः चित्तत्त्व प्रत्यगात्मा कहलाता है]। वह आत्मा पर-प्रकाश (अन्य प्रकाश से प्रकाशित होनेवाला) नहीं एवं निरंश है, अतः किसी अन्य ज्ञान का विषय नहीं। उस आत्मा में शरीरादि विषय और उनके कर्तृत्वादि धर्मों का अध्यास क्योंकर होगा ? भाष्य में प्रयुक्त 'कथम्' शब्द का घटकीभूत 'किम्' पद आक्षेपार्थक है, अतः 'कथमध्यासः'—इस वाक्य का अर्थ है—'अयुक्तोऽयमध्यासः'। अध्यास अयुक्त क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर है—"सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति।" आशय यह है कि जो शुक्त्यादि पदार्थ परप्रकाश और सांश होता है, उसके चमकीले अंश (अवयव) का ग्रहण एवं नीलपृष्ठादि भाग का अभान होने के कारण वह शुक्त्यादि द्रव्य अन्यथा (रजतरूपेण) प्रतीत होता है, किन्तु प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाश है, अपने ज्ञान में कारण-कलाप की अपेक्षा ही नहीं करता कि उन कारणों के दोषों से दूषित हो जाता। सावयव भी नहीं कि सामान्य अवयवों का ग्रहण और विशेष अवयवों का अग्रहण हो जाता। एक अखण्ड वस्तु एक ही समय एक ही पुरुष के द्वारा गृहीत भी हो और अगृहीत भी—ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। फलतः स्वयंप्रकाशत्व पक्ष में अध्यास उपपन्न नहीं होता। यदि आत्मा का कभी भी प्रकाश नहीं माना जाता, तब भी पुरोऽवस्थितत्व और अपरोक्षत्व का अभाव होने के कारण अध्यास नहीं बनता, क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो शुक्ति पुरःस्थित नहीं, उसमें 'इदं रजतम्'—इस प्रकार रजत का अध्यास नहीं कर सकता। फलतः अत्यन्त गृहीत या अत्यन्त अगृहीत पदार्थ में कभी अध्यास नहीं होता—यह सिद्ध हो जाता है।

यह सत्य है कि यदि चिदात्मा किसी ज्ञान का विषय न होता, तब उसमें किसी पदार्थ का अध्यास नहीं हो सकता था, किन्तु जब चिदात्मा 'अहम्'—इस प्रतीति का विषय हो जाता है, तब उसमें अध्यास क्यों नहीं होगा ? भाष्यकार कहते हैं—"युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि"। चिदात्मा यदि किसी ज्ञान का विषय है, तब वह ज्ञानरूप विषयी चिदात्मा से भिन्न ही होगा, अतः वहाँ जो विषयी है, वही चिदात्मा माना जायगा

उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्य-

भामती

विषयस्तु ततोऽन्यो युष्मत्प्रत्ययगोचरोऽभ्युपेयः। तस्मादनात्मत्वप्रसङ्गादनवस्थापरिहाराय युष्मत्प्रत्ययापेतत्वम्, अत एवाविषयत्वमात्मनो वक्तव्यं। तथा च नाध्यास इत्यर्थः।

परिहरति ❀ उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः ❀। कुतः ?। ❀ अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात् ❀। अयमर्थः। सत्यं प्रत्यगात्मा स्वयम्प्रकाशत्वादविषयोऽनंशश्च, तथाप्यनिर्वचनीयानाद्यविद्यापरिकल्पितबुद्धिमनः सूक्ष्मस्थूलशरीरेन्द्रियावच्छेदेनानवच्छिन्नोऽपि वस्तुतोऽवच्छिन्न इवाभिन्नोऽपि भिन्न इवाकर्त्तापि कर्त्तेवाभोक्तापि भोक्तेवाविषयोऽप्यस्मत्प्रत्ययविषय इव जीवभावमापन्नोऽवभासते। नभ इव घटमणिकमल्लिकाद्यवच्छेदभेदेन भिन्नमिवानेकविधधर्मकमिवेति। नहि चिदेकरसस्यात्मनश्चिदंशे गृहीतेऽगृहीतं किंचिदस्ति। खल्वानन्दनित्यत्वविभुत्वादयोऽस्य चिद्रूपाद्वस्तुतो भिद्यन्ते, येन तद्ग्रहे न। गृह्येरन्। गृहीता एव तु कल्पितेन भेदेन न विवेचिता इत्यगृहीता इवाभान्ति। न चात्मनो बुद्ध्यादिभ्यो भेदस्तात्त्विकः, येन चिदात्मनि गृह्यमाणे सोऽपि गृहीतो भवेत्। बुद्ध्यादीनामनिर्वाच्यत्वेन तद्भेदस्याप्यनिर्वचनीयत्वात्। तस्माच्चिदात्मनः स्वयम्प्रकाशस्यैवानवच्छिन्नस्यावच्छिन्नेभ्यो बुद्ध्यादिभ्यो भेदाग्रहात् तदध्यासेन जीवभाव इति। तस्य चानिदमिदमात्मनोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वमुपपद्यते। तथाहि— कर्त्ता भोक्ता चिदात्माऽ-

भामती—व्याख्या

और विषय को उससे भिन्न 'त्वम्' या 'इदम्'—इस प्रतीति का विषय कहना होगा, तब आत्मा में अनात्मत्व प्रसक्त होगा, अतः ग्राहक-परम्परा की अनवस्था का भी परिहार करने के लिए आत्मा को 'त्वम्'—इस प्रतीति का अविषय मानना आवश्यक है, फलतः आत्मा में अविषयता कहनी होगी, अविषयीभूत पदार्थ में अध्यास नहीं हो सकता—यहाँ तक आक्षेपवादी ने कहा।

समाधान—उक्त आक्षेप का परिहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"उच्यते, न तावदयमेकान्तेनाविषयः", नियमतः आत्मा अविषय नहीं, क्योंकि वह अस्मत्प्रत्यय ('अहम्'—इस प्रतीति) का विषय हो जाता है। आशय यह है कि यद्यपि प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाश होने के कारण अविषय और निरवयव है, तथापि अनिर्वचनीय और अनादि अविद्या के द्वारा परिकल्पित बुद्धि और मन आदि से घटित सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीररूप उपाधियों के द्वारा अवच्छिन्न होकर वस्तुतः अपरिछिन्न, अकर्त्ता, अभोक्ता और अविषयीभूत आत्मा परिच्छिन्न, कर्त्ता, भोक्ता और अस्मत्प्रत्यय ('अहम्'—इस प्रतीति) का विषय मान लिया जाता है। ऐसा चिदात्मा जीवभाव को प्राप्त होकर विभिन्न रूपों में वैसे ही अवभासित होता है, जैसे घट, मणिक (मटका) और मल्लिकादि (हाँडी आदि रूप) उपाधियों से अवच्छिन्न होकर एक ही आकाश विभिन्न रूप और धर्मवाला प्रतीत होता है। यद्यपि चिदेकरस आत्मा का चिदंश गृहीत होने पर कुछ अगृहीत नहीं रहता। आनन्दत्व, नित्यत्व, विभुत्वादि धर्म भी चिद्रूप आत्मा से वस्तुतः भिन्न नहीं होते कि चिदात्मा का ग्रहण होने पर भी वे अगृहीत रह जाते। बुद्ध्यादि उपाधियों से आत्मा का तात्त्विक भेद नहीं कि चिदात्मा का ग्रहण हो जाने पर वह भेद भी गृहीत हो जाता। बुद्ध्यादिरूप अनिर्वचनीय प्रतियोगियों से निरूपित होने के कारण वह आत्मगत भेद भी अनिर्वचनीय ही है, तात्त्विक नहीं हो सकता। यद्यपि आत्मा अपरिच्छिन्न और स्वयंप्रकाश है, तथापि बुद्ध्यादि परिच्छिन्न पदार्थों से भेदाग्रह होने के कारण बुद्ध्यादि का तादात्म्याध्यास हो जाता है, बुद्ध्यादि से तादात्म्यापन्न आत्मा जीवरूप होकर 'अहम्'— इस प्रतीति का विषय बन जाता है, क्योंकि 'अहं कर्त्ता', 'अहं भोक्ता'—इस प्रकार कर्त्ता-भोक्ता के रूप में आत्मा अहंकाराकार प्रतीति का विषय होता है। आत्मा वस्तुतः

भामती

हम्प्रत्यये प्रत्यवभासते। न चोदासीनस्य तस्य क्रियाशक्तिर्भोगशक्तिर्वा सम्भवति। यस्य च बुद्धयादेः कार्य्यकरणसङ्घातस्य क्रियाभोगशक्ती न तस्य चैतन्यम्। तस्माच्चिदात्मैव कार्य्यकरणसङ्घातेन ग्रथितो लब्धक्रियाभोगशक्तिः स्वयम्प्रकाशोऽपि बुद्धयादिविषयविच्छुरणात् कथंचिदस्मत्प्रत्ययविषयोऽहङ्कारास्पदं जीव इति च जन्तुरिति च क्षेत्रज्ञ इति चाख्यायते। न खलु जीवश्चिदात्मनो भिद्यते। तथा च श्रुतिः "अनेन जीवेनात्मना" इति। तस्माच्चिदात्मनोऽव्यतिरेकाज्जीवः स्वयम्प्रकाशोऽप्यहम्प्रत्ययेन कर्तृभोक्तृतया व्यवहारयोग्यः क्रियत इत्यहम्प्रत्ययालम्बनमुच्यते। न चाध्यासे सति विषयत्वं विषयत्वे चाध्यास इत्यन्योन्याश्रयत्वमिति साम्प्रतम्। बीजाङ्कुरवदनादित्वात् पूर्वपूर्वाध्यासतद्वासनाविषयीकृतस्योत्तरोत्तराध्यासविषयत्वाविरोधादित्युक्तं ॐ नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ॐ इति भाष्यग्रन्थेन। तस्मात् सुष्ठूक्तं 'न तावदयमेकान्तेनाविषयः' इति। जीवो हि चिदात्मतया स्वयम्प्रकाशतयाऽविषयोऽप्यौपाधिकेन रूपेण विषय इति भावः। स्यादेतत् - न वयमपराधीनप्रकाशतयाऽविषयत्वेनाध्यासमपाकुर्मः, किन्तु प्रत्यगात्मा न स्वतो नापि परतः प्रथत इत्यविषय इति ब्रूमः। तथा च सर्वथाऽप्रथमाने प्रत्यगात्मनि कुतोऽध्यास इत्यत आह ॐ अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः ॐ। प्रतीच आत्मनः प्रसिद्धिः

भामती–व्याख्या

अकर्त्ता-अभोक्ता, असङ्ग और उदासीन है, उसमें वास्तविक क्रिया शक्ति और भोग शक्ति सम्भव नहीं। जिस बुद्धयादिरूप सूक्ष्मशरीर और कार्य-कारण-संघातात्मक स्थूल शरीर में क्रिया शक्ति और भोगशक्ति वस्तुतः होती है, उसमें चैतन्य नहीं होता, अतः कार्य-कारण-संघातरूप शरीर से तादात्म्यापन्न आत्मा में ही क्रिया और भोग शक्ति मानी जाती है। यद्यपि आत्मा स्वभावतः स्वयंप्रकाश (अन्य ज्ञान का अविषय) है, तथापि विषयीभूत बुद्धयादि से तादात्म्यापन्न होकर कथंचित् 'अहम्'—इस प्रतीति का विषय होकर अहङ्कारास्पद जीव, जन्तु, क्षेत्रज्ञ—इत्यादि नामों से प्रख्यात होता है। जीव चिदात्मा से वस्तुतः भिन्न नहीं होता, जैसा कि श्रुति कहती है—"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छां० ६।३।२) [चिदात्मा ने संकल्प किया कि मैं जीव बन कर इस मानव शरीर में प्रविष्ट होकर नाम और रूप की अभिव्यक्ति करूँ, अत. जीव चिदात्मरूप ही है]। चिदात्मा से अभिन्न होने के कारण जीव स्वयंप्रकाश होने पर भी अहमाकार प्रतीति के द्वारा कर्त्ता-भोक्ता के रूप में व्यवहार-योग्य बना दिया जाता है, अतः वह अहङ्काराकार प्रतीति का आलम्बन माना जाता है। 'अध्यास होने पर विषयत्व और विषयत्व होने पर अध्यास होगा—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयता है'—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि बीज और अंकुर के समान दोनों अनादि हैं, पूर्व-पूर्व अध्यास के द्वारा विषयीकृत आत्मा का उत्तरोत्तर अध्यास होता जाता है—इस भाव को प्रकट करने के लिए भाष्यकार ने कहा है—"औत्सर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः"। इस लिए भाष्यकार ने बहुत ठीक कहा है कि "न तावदयमेकान्तेनाविषयः"। अर्थात् जीव के दो रूप परिलक्षित होते हैं—(१) स्वाभाविक और (२) औपाधिक। स्वाभाविक स्वयंप्रकाश या अविषय होने पर भी औपाधिक रूप से विषय हो जाता है [आत्मा अविषय ही है या विषय ही है—ऐसा ऐकान्तिकरूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह विषय भी है और अविषय भी, स्वाभाविकरूपेण अविषय और आध्यासिकरूपेण विषय होता है]।

यहाँ आक्षेपवादी कहता है कि आत्मा स्वयंप्रकाश होने से अविषय है, अतः उसमें अध्यास नहीं हो सकता—ऐसा हम नहीं कहते, अपितु हमारी शङ्का यह है कि आत्मा न तो स्वतः और न परतः प्रकाशित होता है, अतः सर्वथा अप्रसिद्ध और अप्रथमान आत्मा में अध्यास क्योंकर होगा? इस आक्षेप के समाधान में भाष्यकार ने कहा है—"अपरोक्षत्वाच्च

गात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्ति नियमः—पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति; अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति। एवमविरुद्धः

भामती

प्रथा तस्य। अपरोक्षत्वात्। यद्यपि प्रत्यगात्मनि नान्या प्रथास्ति, तथापि भेदोपचारः, यथा पुरुषस्य चैतन्यमिति। एतदुक्तं भवति—अवश्यं चिदात्माऽपरोक्षोऽभ्युपेतव्यस्तदप्रथायां सर्वस्याप्रथनेन जगदान्ध्यप्रसङ्गादित्युक्तं, श्रुतिश्चात्र भवति 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'' इति। तदेवं परमार्थपरिहारमुक्त्वाऽभ्युपेत्यापि चिदात्मनः परोक्षतां प्रौढवादितया परिहारान्तरमाह। ❀ न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव ❀ अपरोक्ष एव ❀। विषये विषयान्तरमध्यसितव्यम ❀। कस्मादयं न नियम इत्यत आह ❀ अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति ❀। हियंस्मादर्थे। नभो हि द्रव्यं सद् रूपस्पर्शविरहान्न बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षम्। नापि मानसं, मनसोऽसहायस्य बाह्येऽप्रवृत्तेः। तस्मादप्रत्यक्षम्। अथ च तत्र बाला अविवेकिनः परदर्शितदर्शिनः कदाचित्पार्थिवच्छायां श्यामतामारोप्य, कदाचित्तैजसं शुक्लत्वमारोप्य नीलोत्पलपलाशश्याममिति वा राजहंसमालाधवलमिति वा निर्वर्णयन्ति तत्रापि पूर्वदृष्टस्य तैजसस्य वा तामसस्य वा रूपस्य परत्र नभसि स्मृतिरूपोऽवभास इति। एवं तदेव तलमध्यस्यन्ति अवाङ्मुखीभूतमहेन्द्रनीलमणिमयमहाकटाहकल्पमित्यर्थः। उपसंहरति ❀ एवम् ❀। उक्तेन प्रकारेण सर्वाक्षेपपरिहारात् ❀ अविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्मनां ❀। बुद्ध्यादीनाम् ❀ अध्यासः ❀।

भामती—व्याख्या

प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः''। प्रत्यगात्मा की प्रथा या प्रसिद्धि अवश्य माननी होगी, क्योंकि वह अपरोक्ष है। यद्यपि प्रत्यगात्मा की प्रथा प्रत्यगात्मा से भिन्न नहीं, अतः 'प्रत्यगात्मनः प्रथा'—ऐसा व्यवहार सम्भव नहीं। तथापि उसी प्रकार यहाँ भेद का उपचार हो जाता है, जैसे 'आत्मनः चैतन्यम्'—इत्यादि व्यवहारों में होता है। आशय यह है कि आत्मा को अवश्य ही अपरोक्षरूप मानना होगा, क्योंकि उसका प्रकाश न होने पर जगदान्ध्य-प्रसङ्ग पहले दिखाया जा चुका है। उसके प्रकाश से ही विश्व प्रकाशित है, श्रुति स्पष्ट उद्घोष कर रही है कि ''तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'' (कौ. २।५।१५)। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से आक्षेप का परिहार करके चिदात्मा की परोक्षता को स्वीकार करते हुए भी प्रौढीवाद का सहारा लेकर उक्त आक्षेप का समाधान किया जाता है—''न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थिते एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यम्''। अर्थात् ऐसा कोई नियम नहीं कि अपरोक्ष विषय में ही अध्यास होता हो, क्योंकि ''अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालाः तलमलिनतादि अध्यस्यन्ति''। अर्थात् यद्यपि आकाश द्रव्य रूप और स्पर्श गुण से रहित होने के कारण, चक्षु और त्वग्रूप बाह्य इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। मानस प्रत्यक्ष का भी वह विषय नहीं, क्योंकि बाह्य विषय के ग्रहण में मन स्वतन्त्र नहीं, अपितु बाह्य इन्द्रिय की सहायता से ही प्रवृत्त होता है, जैसा कि कहा गया है—परतन्त्रं बहिर्मनः'' (विधिवि. पृ. ११४)। अतः आकाश प्रत्यक्ष नहीं, फिर भी बालक (अल्पज्ञ मनुष्य) आकाश में कदाचित् पार्थिव छायारूप श्यामता का आरोप करके कहते हैं—यह आकाश नीलोत्पल के पत्तों जैसा श्यामल है। एवं कदाचित् तैजस शुक्ल रूप का अध्यास करके व्यवहार करते हैं—यह आकाश राजहंसों के समूह के समान धवल (श्वेत) है। वहाँ भी पूर्वदृष्ट तामस श्याम और तैजस शुक्ल रूप का आकाशरूप पर द्रव्य में स्मृतिरूप अवभास बन जाता है। इसी प्रकार सुदूर ऊपर गगन में तल का आरोप करके लोग कहा करते हैं कि यह गगन नीलमणि से निर्मित औंधा कड़ाहा है। अध्यास-लक्षण का उपसंहार करते हुए कहा है—''एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यपि अनात्माध्यासः''। 'एवम्' का अर्थ है—

प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः ।

तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते; तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपा-

---

भामती

ननु सन्ति च सहस्रमध्यासास्तत्किमयमयमेवाध्यास आक्षेपसमाधानाभ्यां व्युत्पादितः, नाध्यासमात्रमित्यत आह ❀ तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते ❀ । अविद्या हि सर्वानर्थबीजमिति श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु प्रसिद्धम्, तदुच्छेदाय वेदान्ताः प्रवृत्ता इति वक्ष्यति । प्रत्यगात्मन्यनात्माध्यास एव सर्वानर्थहेतुर्न पुना रजतादिविभ्रमा इति स एवाविद्या, तत्स्वरूपं चाविज्ञातं न शक्यमुच्छेत्तुमिति तदेव व्युत्पाद्यं नाध्यासमात्रम् । अत्र च एवंलक्षणमित्येवंरूपतयाऽनर्थहेतुतोक्ता । यस्मात्प्रत्यगात्मन्यशनायादिरहितेऽशनायाद्युपेतान्तःकरणाद्यहितारोपेण प्रत्यगात्मानमदुःखं दुःखाकरोति, तस्मादनर्थहेतुः । न चैवं पृथक्जना अपि मन्यन्तेऽध्यासं, येन न व्युत्पाद्येतेत्यत उक्तं ❀ पण्डिता मन्यन्ते ❀ ।

नन्वियमनादिरतिनिरूढनिबिडवासनानुविद्धाऽविद्या न शक्या निरोद्धुम्, उपायाभावादिति यो मन्यते तं प्रति तन्निरोधोपायमाह ❀ तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं ❀ । निर्विचिकित्सं ज्ञानं ❀ विद्यामाहुः ❀ । पण्डिताः प्रत्यगात्मनि खल्वत्यन्तविविक्ते बुद्ध्यादिभ्यो बुद्ध्यादिभेदाग्रहनिमित्तो बुद्ध्याद्यात्मत्वतद्धर्माध्यासः । तत्र श्रवणमननादिभिर्यद्विवेकविज्ञानं तेन विवेकाग्रहे निवर्त्तितेऽध्यासापबाधात्मकं वस्तुस्वरूपावधारणं विद्या चिदात्मरूपं स्वरूपे व्यवतिष्ठत इत्यर्थः ।

भामती–व्याख्या

सभी आक्षेपों का परिहार हो जाने पर प्रत्यगात्मा में बुद्ध्यादि का अध्यास बन जाता है ।

शङ्का होती है कि सहस्रों अध्यास-प्रकार दिखाए जा सकते थे, तब यह आत्मानात्माध्यास का ही निरूपण क्यों किया ? इस शङ्का को दूर करने के लिए कहा जाता है–"तमेतमेवंलक्षणकमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते" । अविद्या सभी अनर्थों का मूल कारण है—ऐसा श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि में प्रसिद्ध है । उस अविद्या का उच्छेद करने के लिए ही वेदान्त ग्रन्थ प्रवृत्त हुए हैं—ऐसा कहा जायगा । प्रत्यगात्मा में अनात्माध्यास ही सर्वानर्थ का हेतु है, शुक्ति-रजतादि-भ्रम नहीं, अतः आत्मानात्माध्यास ही मुख्य अविद्या है । उसके स्वरूप का जब तक ज्ञान न हो, तब तक उसका उच्छेद नहीं किया जा सकता, अतः वही विशेषतः व्युत्पादनीय है, सभी अध्यास नहीं । भाष्यकार ने 'एवंलक्षणम्'— ऐसा कहकर उसकी अनर्थहेतुता प्रकट की है । क्षुधा-पिपासादि से रहित आत्मा में क्षुधा-पिपासादि से युक्त अन्तःकरणादि अहितकर पदार्थों का अध्यास वस्तुतः दुःख-रहित आत्मा को भी दुःखी बना देता है, अतः वह अनर्थ का हेतु है । ऐसे अध्यास का ज्ञान सर्वजन-साधारण नहीं कि उसका निरूपण अनावश्यक हो जाता—यह दिखाने के लिए कहा गया है—"पण्डिता मन्यन्ते" ।

'यह अविद्या अनादि, अतिनिरूढ (सुदृढ), निबिड़ (घनीभूत) वासनाओं से युक्त होने के कारण कभी समुच्छेदनीय ही नहीं, क्योंकि उसके उच्छेद का कोई उपाय ही दिखाई नहीं देता'—ऐसी धारणावाले व्यक्तियों के लिए अविद्या के निरोध का उपाय दिखाते हैं—"तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः" । पण्डितगण असन्दिग्ध ज्ञान को विद्या कहा करते हैं । प्रत्यगात्मा बुद्ध्यादि से वस्तुतः अत्यन्त विविक्त (निर्लिप्त) है किन्तु बुद्ध्यादि का विवेक-ग्रह (भेद-ज्ञान) न होने के कारण बुद्ध्यादि के तादात्म्य एवं धर्मों का अध्यास आत्मा में हो जाता है । वेदान्त-वेद्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप आत्मा के श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि के द्वारा जो विवेक-विज्ञान उत्पन्न होता है, उसके द्वारा विवेकाग्रह की निवृत्ति हो जाने पर अध्यास का बाधरूप वस्तु-स्वरूपात्मक अवधारण प्रकट होता है, वही विद्या है, वह चिदात्मस्वरूप होकर आत्मस्वरूप में व्यवस्थित होती है ।

वधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवं सति यत्र यदध्यासः, तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणु-मात्रेणापि स न संबध्यते, तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे

भामती

स्यादेतद् — अतिनिरूढनिबिडवासनानुविद्धाऽविद्या विद्ययाऽपबाधिताऽपि स्ववासनावशात्पुनरुद्भ-विष्यति, प्रवर्त्तयिष्यति च वासनादिकार्य्यं स्वोचितमित्यत आह ❀ तत्रैवं सति ❀ एवम्भूतवस्तुतत्त्वा-वधारणे सति। ❀ यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते ❀। अन्तः-करणादिदोषेणाशनायादिना चिदात्मा चिदात्मनो गुणेन चैतन्यानन्दादिनाऽन्तःकरणादि न सम्बध्यते। एतदुक्तं भवति—तत्त्वावधारणाभ्यासस्य हि स्वभाव एव स तादृशो यदनादिमपि निरूढनिबिडवासनमपि मिथ्याप्रत्ययमपनयति। तत्त्वपक्षपातो हि स्वभावो धियाम्। यथाऽऽहुर्बाह्या अपि—

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥ इति।

विशेषतस्तु चिदात्मस्वभावस्य तत्त्वज्ञानस्यात्यन्तान्तरङ्गस्य कुतोऽनिर्वाच्ययाऽविद्यया बाध इति। यदुक्तम्—'सत्यानृते मिथुनीकृत्य विवेकाग्रहादध्यस्याहमिदं ममेदमिति लोकव्यवहारः' इति, तत्र व्यपदेश-

भामती—व्याख्या

यह जो भय होता है कि अविद्या ऐसी निरूढ और निबिड़ वासनाओं से युक्त है कि एक बार विद्या के द्वारा अपबाधित होकर भी अपनी सुदृढ़ वासनाओं के बल पर पुनः प्रकट होकर अपने संस्कारों को अपने अनुरूप मूर्तरूप दे डालेगी। उस भय को दूर करने के लिए कहा है—"तत्रैवं सति"। 'एवं' शब्द का अर्थ है—पूर्वोक्त रीति से वस्तु-तत्त्व का अवधारण (निश्चय) कर लेने पर। "यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वा अणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते"। आत्मा में तादात्म्येन अध्यस्त अन्तःकरण के क्षुधा-पिपासादि दोषों से चिदात्मा और चिदात्मा के चैतन्य, आनन्दत्वादि गुणों से अन्तःकरण का अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता। आशय यह है कि कथित तत्त्वावधारण का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अनादि, निरूढ और सघन वासना से युक्त मिथ्या ज्ञान को नष्ट कर देता है, जैसा कि वेद-बाह्य बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने भी कहा है—

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥ (प्र. वा. पृ. १४४)

[वस्तु-स्वभाव की रक्षा के लिए कुछ भी यत्न न करने पर भी विपर्ययों (मिथ्या ज्ञानों) के द्वारा तत्त्व ज्ञान का बाध कभी नहीं होता, क्योंकि भूतार्थ-स्वभाव (वस्तुतत्त्व का स्वभाव) सदैव उपद्रवों (सभी प्रकार की बाधाओं) से रहित होता है। प्राणियों की बुद्धि सदैव तत्त्व-पक्षपातिनी होती है। उक्त वार्तिक की व्याख्या में भाष्यकार कहते हैं—

ततः स्वभावो भूतात्मा निरुपद्रव एव च।
कथमस्य परित्यागः कर्तुं शक्यः सचेतसा॥
पक्षपातश्च चित्तस्य न दोषेषु प्रवर्तते।
ततः तस्य न दोषाय यत्नः कश्चित्प्रवर्तते॥ (प्रज्ञाकर. पृ. १४४)]।

उसमें भी विशेषता यह है कि हमारा तत्त्वज्ञान चिदात्मस्वरूप होने से अत्यन्त अन्तरङ्ग है, उसका अनिर्वचनीय एवं निस्तत्त्वभूत अविद्या के द्वारा बाध हो भी कैसे सकता है ?

भाष्यकार ने कहा है—"सत्यानृते मिथुनीकृत्य विवेकाग्रहादध्यस्य 'अहमिदम्', 'ममेदम्'—इति लोकव्यवहारः"। वहाँ व्यवहार चार प्रकार का कहा गया है—"अभिज्ञाभि-वदनमुपादानमर्थक्रिया इति चतुर्विधः" (पं. वि. पृ. ६२)। उसमें शब्दात्मक व्यवहार तो

प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।

कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति? उच्यते—देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनु-

भामती

लक्षणो व्यवहारः कण्ठोक्तः, इतिशब्दसूचितं लोकव्यवहारमादर्शयति ❀ तमेतमविद्याख्यं ❀ इति। निगदव्याख्यातम्।

आक्षिपति – ❀ कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि ❀। तत्त्वपरिच्छेदो हि प्रमा विद्या, तत्साधनानि प्रमाणानि कथमविद्यावद्विषयाणि? नाविद्यावन्तं प्रमाणान्याश्रयन्ति, तत्कार्य्यस्य विद्याया अविद्याविरोधित्वादिति भावः। सन्तु वा प्रत्यक्षादीनि संवृत्यापि यथा तथा, शास्त्राणि तु पुरुषहितानुशासनपराण्यविद्याप्रतिपक्षतया नाविद्यावद्विषयाणि भवितुमर्हन्तीत्याह ❀ शास्त्राणि चेति ❀।

समाधत्ते ❀ उच्यते—देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानहीनस्य ❀। तादात्म्यतद्धर्माध्यासहीनस्य। ❀ प्रमातृत्वानुपपत्तौ सत्यां प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः ❀। अयमर्थः—प्रमातृत्वं हि प्रमां प्रति कर्तृत्वं तच्च स्वातन्त्र्यं, स्वातन्त्र्यं च प्रमातुरितरकारकाप्रयोज्यस्य समस्तकारकप्रयोक्तृत्वम्। तदनेन प्रमाकरणं

भामती-व्याख्या

भाष्यकार ने 'अहमिदं ममेदम्'—इस वाक्य से ही प्रदर्शित कर दिया है, शेष व्यवहारों की सूचना के लिए कहा है—"इति लोकव्यवहारा:' अर्थात् 'इत्येवंविधा व्यवहारा:'। वहाँ 'इति' पद के द्वारा अभिसूचित लोकव्यवहारों का स्पष्टीकरण करने के लिए भाष्यकार ने कहा है—"तमेतमविद्याख्यम्"—यहाँ से लेकर "सर्वाणि शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि"—यहाँ तक। भाष्य की पदावली अत्यन्त सरल और स्पष्टार्थक है।

उक्त स्थापना पर आक्षेप किया गया—"कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि"। उसका भाव यह है कि तत्त्व-परिच्छेदरूप प्रमा विद्यारूप है, उस प्रमा के साधनीभूत प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अविद्यावद्विषयकत्व सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्यावान् (अज्ञानी) पुरुष की अधिकार-कक्षा में नहीं आते, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का कार्य जो प्रमा या विद्या है, वह अविद्या की विरोधिनी होती है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों को यदि किसी प्रकार सांवृतिक (आविद्यक) व्यवहार का साधन मान भी लिया जाय, तब भी शास्त्रीय व्यवहार में कभी भी आविद्यकत्व की सम्भावना नहीं कर सकते, क्योंकि शास्त्र सदैव पुरुष को उसके हित की ही शिक्षा देते हैं, वे अविद्या के सर्वथा प्रबल प्रतिपक्षी होते हैं, अविद्यावान् पुरुष उनका अधिकारी क्योंकर होगा? ऐसी आशङ्का की गई है—"शास्त्राणि च"। उक्त आशङ्का का परिहार किया जाता है—"उच्यते"। "देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानहीनस्य"—इस वाक्य का अर्थ है—तादात्म्यतद्धर्माध्यासहीनस्य। प्रमातृत्वानुपपत्तौ सत्यां प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः'—ऐसा अन्वय कर लेना चाहिए। आशय यह है कि प्रमातृत्व का अर्थ है—प्रमा का कर्तृत्व, कर्तृत्व का अर्थ है—स्वातन्त्र्य। प्रमाता में जो इतर (कर्मादि) कारकों से अप्रयोज्यत्व और कर्मादि समस्त कारकों का प्रयोक्तृत्व है, वही प्रमाता पुरुष में स्वातन्त्र्य है ["स्वतन्त्रः कर्त्ता" (पा. सू. १।४।५४) में भाष्यकार ने 'तन्त्र' शब्द प्रधानार्थक मान कर कहा है—"अस्ति प्राधान्ये वर्तते। तद्यथा स्वतन्त्रोऽयं ब्राह्मण इत्युच्यमाने स्वप्रधान इति गम्यते। तद्यः प्राधान्ये वर्तते तन्त्रशब्दः तस्येदं ग्रहणम्"। कारक सूत्र में भी कहा है—"किं पुनः प्रधानम्? कर्त्ता। कथं पुनर्ज्ञायते कर्त्ता प्रधानमिति? यत्सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्त्ता

पपत्तेः। न हीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते। न

भामती

प्रमाणं प्रयोजनीयम्। न च स्वव्यापारमन्तरेण करणं प्रयोक्तुमर्हति। न च कूटस्थनित्यश्चिदात्माऽपरिणामी स्वतो व्यापारवान्। तस्माद् व्यापारवद्बुद्ध्यादितादात्म्याध्यासाद् व्यापारवत्तया प्रमाणमधिष्ठातुमर्हतीति भवत्यविद्यावत्पुरुषविषयत्वमविद्यावत्पुरुषाश्रयत्वं प्रमाणानामिति। अथ मा प्रवर्त्तिषत प्रमाणानि किं नश्छिन्नमित्यत आह ❀ नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति ❀। व्यवह्रियतेऽनेनेति व्यवहारः फलं, प्रत्यक्षादीनां प्रमाणानां फलमित्यर्थः। इन्द्रियाणीति, इन्द्रियलिङ्गादीनीति द्रष्टव्यं, दण्डिनो गच्छन्तीतिवत्। एवं हि प्रत्यक्षादीत्युपपद्यते। व्यवहारक्रियया च व्यवहार्य्याक्षेपात्समानकर्तृकता। अनुपादाय यो व्यवहार इति योजना। किमिति पुनः प्रमातोपादत्ते प्रमाणानि? अथ स्वयमेव कस्मान्न प्रवर्त्तन्ते प्रमाणानि इत्यत आह। ❀ न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यापारः ❀। प्रमाणानां व्यापारः ❀ सम्भवति ❀ न जातु करणान्यनधिष्ठितानि कर्त्रा स्वकार्य्ये व्याप्रियन्ते। मा भूत् कुविन्दरहितेभ्यो

भामती–व्याख्या

प्रवर्तयिता भवति"। उद्योतकार ने कहा है—"अनेन कारचक्रप्रयोक्तृत्वं कर्त्तुः स्वातन्त्र्यमित्युक्तम्"]। फलतः प्रमा के कर्त्ता को भी प्रमा के करण का प्रयोजक या प्रवर्तयिता होना चाहिए। कर्त्ता पुरुष में जब तक अपना व्यापार (क्रिया) नहीं होता, तब तक वह करण का प्रवर्तक नहीं हो सकता। कूटस्थ नित्य चिदात्मा अपरिणामी और अमूर्त द्रव्य है, उसमें स्वतः क्रिया नहीं हो सकती, परिशेषतः व्यापार-युक्त सूक्ष्म और स्थूल शरीर रूप उपाधियों के तादात्म्याध्यास से चिदात्मा स्वयं व्यापारवान् होकर प्रमा के करणीभूत इन्द्रियादि का अधिष्ठाता (प्रवर्तक) हो सकता है। यही प्रमाणों (प्रमा के करणों) की अविद्यावत्पुरुषों में विषयता (आश्रयता या प्रेर्यता) है। प्रमा के करणीभूत इन्द्रियादि पदार्थों में यदि कोई व्यापार या क्रिया नहीं होती, तब क्या क्षति? इस प्रश्न का उत्तर है—"नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति।" यहाँ 'व्यवह्रियतेऽनेन'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'व्यवहार' शब्द प्रमाणजनित ज्ञानरूप फल का उपस्थापक है। 'इन्द्रिय' पद अजहत्स्वार्थ लक्षणा के द्वारा इन्द्रिय और लिङ्गादि करणों का वैसे ही बोधक है, जैसे कि 'दण्डिनो गच्छन्ति'—यहाँ पर दण्डी पद दण्डी और अदण्डी के समुदाय का गमक होता है। 'इन्द्रिय' पद की इन्द्रियादि में लक्षणा करने पर ही 'प्रत्यक्षादि'—ऐसे प्रयोग का औचित्य स्थिर होता है। भाष्य में जो कहा गया है—'इन्द्रियाण्यनुपादाय व्यवहारः।' वहाँ पर व्यवहाररूप क्रिया के द्वारा व्यवहार क्रिया के कर्त्ता (व्यवहारी पुरुष) का आक्षेप करके 'अनुपादाय व्यवहरति'—ऐसे प्रयोग का लाभ किया जाता है। इस प्रकार अनुपादान और व्यवहार—इन दो क्रियाओं में समानकर्तृकत्व का भान हो जाता है, जिसकी चर्चा विगत पृ० १५ पर की जा चुकी है। 'अनुपादाय व्यवहारो न सम्भवति'—यहाँ प्रतीयमान 'अनुपादान' और 'सम्भव'—इन दो क्रियाओं का कर्त्ता एक नहीं, क्योंकि 'अनुपादान' क्रिया का कर्त्ता प्रमाता और सम्भव क्रिया का कर्त्ता व्यवहार है, तब 'अनुपादाय'—इस पद में 'क्त्वा' प्रत्यय और उसको 'ल्यप्' का आदेश नहीं हो सकता, अतः वहाँ 'अनुपादाय यो व्यवहारः, स न सम्भवति'—ऐसी योजना कर लेनी चाहिए। प्रमाता प्रमाणों को प्रवृत्त क्यों करता है? प्रमाण स्वयं ज्ञानोत्पादनार्थ क्यों प्रवृत्त नहीं हो जाते? इस प्रश्न का उत्तर है—"न चाधिष्ठानमन्तरेण इन्द्रियाणां व्यापारः"। किसी चेतन अधिष्ठाता की प्रेरणा के बिना इन्द्रिय स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकते, क्योंकि कुविन्द (तन्तुवाय या जुलाहा) की प्रेरणा के बिना केवल तुरी

चैतस्मिन्सर्वस्मिन्नसति असङ्गस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

भामती

वेमादिभ्यः पटोत्पत्तिरिति। अथ देह एवाधिष्ठाता कस्मान्न भवति, कृतमत्रात्माध्यासेनेत्यत आह ※ न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते ※। सुषुप्तेऽपि व्यापारप्रसङ्गादिति भावः।

स्यादेतद्—यथाऽनध्यस्तात्मभावं वेमादिकं कुविन्दो व्यापारयन् पटस्य कर्त्ता, एवमनध्यस्तात्मभावं देहेन्द्रियादि व्यापारयन् भविष्यति तदभिज्ञः प्रमातेत्यत आह ※ न चैतस्मिन् सर्वस्मिन् ※। इतरेतराध्यासे इतरेतरधर्माध्यासे चासति आत्मनोऽसङ्गस्य सर्वथा सर्वदा सर्वधर्मधर्मिवियुक्तस्य प्रमातृत्वमुपपद्यते। व्यापारवन्तो हि कुविन्दादयो वेमादीनधिष्ठाय व्यापारयन्ति। अनध्यस्तात्मभावस्य तु देहादिष्वात्मनो न व्यापारयोगोऽसङ्गत्वादित्यर्थः। अतश्चाध्यासाश्रयाणि प्रमाणानीत्याह ※ न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति ※। प्रमायां खलु फले स्वतन्त्रः प्रमाता भवति। अन्तःकरणपरिणामभेदश्च प्रमेयप्रवणः कर्त्तृस्थश्चित्स्वभावः प्रमा कथं च जडस्यान्तःकरणस्य परिणामश्चिद्रूपो भवेत्। यदि चिदात्मा तत्र नाध्यस्येत ? कथं चिदात्मकर्त्तृको भवेत्। यद्यन्तःकरणं व्यापारवच्चिदात्मनि नाध्यस्येत् ? तस्मादितरेतराध्यासाच्चिदात्मकर्त्तृस्थं प्रमाफलं सिध्यति। तत्सिद्धौ च प्रमातृत्वं, तामेव च प्रमामुररीकृत्य प्रमाणस्य प्रवृत्तिः। प्रमातृत्वेन च प्रमोपलक्ष्यते। प्रमायाः फलस्याभावे प्रमाणं न प्रवर्त्तेत। तथा च प्रमाणमप्रमाणं

भामती–व्याख्या

और वेमादि साधनों से पट की उत्पत्ति कहीं भी नहीं देखी जाती। तुरी-वेमादि कारण-कलाप का अधिष्ठाता केवल शरीर क्यों नहीं हो जाता, इसमें आत्मा के तादात्म्याध्यास की क्या आवश्यकता ? इस शङ्का का समाधान है–"न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते।" जिस देह में आत्मा का अध्यास न हो, उस देह के द्वारा कुछ भी सञ्चालित नहीं होता, अन्यथा सुषुप्ति अवस्था में भी शरीर के द्वारा करण-ग्राम का सञ्चालन होना चाहिए। 'जिन तुरी-वेमादि साधनों में आत्मा का तादात्म्याध्यास नहीं होता, उन साधनों को भी कुविन्द सञ्चालित कर पटादि कार्यों का जैसे कर्त्ता बन जाता है, वैसे ही जिन देहादि पदार्थों में आत्माध्यास नहीं होता, उनको सञ्चालित करके उनका अभिज्ञ व्यक्ति प्रमाता क्यों नहीं बन जाता ?' इस शङ्का का समाधान है—"न चैतस्मिन् सर्वस्मिन् असति"। अर्थात् इस आत्मा के तादात्म्याध्यास के बिना सर्वथा असङ्ग एवं समस्त धर्मधर्मिभाव से रहित आत्मा में प्रमातृत्व नहीं बन सकता, क्योंकि कुविन्दादि स्वयं सक्रिय होकर ही तुरी वेमादि का सञ्चालन कर सकते हैं। जिस आत्मा में देहादि का तादात्म्याध्यास नहीं, उसमें किसी प्रकार की भी क्रिया सम्भव नहीं, क्योंकि आत्मा असङ्ग है। प्रमाणों के अध्यासापेक्षी होने में यह भी एक कारण है कि "न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति।" आशय है कि प्रमारूप फल के उत्पादन में स्वतन्त्र कर्त्ता को प्रमाता कहा गया है। अन्तःकरण के उस परिणाम-विशेष को प्रमा कहा जाता है, जो प्रमेय-विषयक और कर्त्ता में रहनेवाला चित्स्वभाव है। जड़ाभूत अन्तःकरण का चित्स्वरूप परिणाम तभी सम्भव होगा, जब कि अन्तःकरण में चिदात्मा का तादात्म्याध्यास होगा। उक्त प्रमा का कर्त्ता आत्मा तभी होगा, जबकि कर्तृत्वादि धर्म-युक्त अन्तःकरण का आत्मा में तादात्माध्यास होगा, फलतः आत्मा और अन्तःकरणादि का अन्योऽन्याध्यास होने पर ही प्रमारूपफल चिदात्मरूप कर्त्ता के आश्रित सिद्ध हो सकेगा, उसकी सिद्धि हो जाने पर कर्त्ता में प्रमातृत्व बन सकेगा और उसी प्रमा को उद्देश्य करके प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है। भाष्यकार ने जो कहा है—"न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिः"। वहाँ पर 'प्रमातृत्व' पद की लक्षणा 'प्रमा' में की जाती है, क्योंकि प्रमारूप फल के न होने पर प्रमाण

पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते; यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणि-

भामती

स्यादित्यर्थः । उपसंहरति—❀ तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि ❀ ।

स्यादेतद्—भवतु पृथग्जनानामेवम्, आगमोपपत्तिप्रतिपन्नप्रत्यगात्मतत्त्वानां व्युत्पन्नानामपि पुंसां प्रमाणप्रमेयव्यवहारा दृश्यन्त इति कथमविद्यावद्विषयाण्येव प्रमाणानीत्यत आह । ❀ पश्वादिभिश्चा-विशेषादिति ❀ । विदन्तु नामागमोपपत्तिभ्यां देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नं प्रत्यगात्मानं, प्रमाणप्रमेयव्यवहारे तु प्राणभृन्मात्रधर्मान्नातिवर्त्तन्ते । यादृशो हि पशुशकुन्तादीनामविप्रतिपन्नमुग्धभावानां व्यवहारस्तादृशो व्युत्पन्नानामपि पुंसा दृश्यते । तेन तत्सामान्यात्तेषामपि व्यवहारसमयेऽविद्यावत्त्वमनुमेयम् । चशब्दः समुच्चये, उक्तशङ्कानिवर्त्तनसहितपूर्वोक्तोपपत्तिरविद्यावत्पुरुषविषयत्वं प्रमाणानां साधयतीत्यर्थः । एतदेव विभजते ❀ यथा हि पश्वादयः इति ❀ । अत्र च ❀ शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति ❀ इति प्रत्यक्षं प्रमाणं दर्शितम् । ❀ शब्दादिविज्ञाने ❀ इति तत्फलमुक्तम् । ❀ प्रतिकूले ❀ इति चानुमान-फलम् । तथाहि—शब्दादिस्वरूपमुपलभ्य तज्जातीयस्य प्रतिकूलतामनुस्मृत्य तज्जातीयतयोपलभ्यमानस्य प्रतिकूलतामनुमिमीत इति । उदाहरति—❀ यथा दण्डेति ❀ । शेषमतिरोहितार्थम् । स्यादेतद्—भवन्तु

भामती-व्याख्या

की प्रवृत्ति क्योंकर होगी ? तब प्रमाण अप्रमाण होकर रह जायगा । अविद्यावद्विषयकत्व का उपसंहार किया जाता है—"तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि ।"

साधारण पठित या अपठित व्यक्तियों के प्रत्यक्षादि प्रमाण तो अवश्य ही अविद्यावान् पुरुषों में सीमित माने जा सकते हैं, किन्तु जिन मनीषियों ने आगम प्रमाण और आगमानुकूल युक्तियों के बल पर आत्मतत्त्व का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसे व्युत्पन्न विद्वानों के प्रमाण-प्रमेयादि व्यवहारों में अविद्यावद्विषयकत्व क्योंकर सम्भव होगा ? इस शङ्का का अपनयन करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"पश्वादिभिश्चाविशेषात्" । भले ही तत्त्ववेत्ता पुरुष उपनिषदादि प्रमाणों और उनकी अनुगुण उपपत्तियों की सहायता से देहेन्द्रियादि-भिन्न प्रत्यगात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लें, किन्तु प्रमाण-प्रमेयादि व्यवहारों में साधारण प्राणियों की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं किया करते, क्योंकि पशु-पक्षी आदि अव्युत्पन्न प्राणियों के व्यवहार जैसे देखे जाते हैं, वैसे ही व्युत्पन्न विद्वानों के भी व्यवहार देखे जाते हैं । इस प्रकार व्यवहारों की समानता के द्वारा व्युत्पन्न विद्वानों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी अविद्यावत्पुरुषविषयकत्व का अनुमान किया जा सकता है—'विदुषामपि प्रत्यक्षादिव्यवहारः, अध्यासनिबन्धनः, व्यवहारत्वात्, पश्वादिव्यवहारवत्' । भाष्य में प्रयुक्त 'च' शब्द समुच्चयार्थक है, उसके प्रयोग से अध्यासनिबन्धनत्व की सिद्धि में उक्त आशङ्का की निवृत्ति और कथित युक्तियों का समुच्चय किया जाता है । भाष्यकार अपने दृष्टान्त का स्पष्टीकरण स्वयं कर रहे हैं—"यथा पश्वादयः" इत्यादि । 'शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति'—इस वाक्य के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाया है । 'शब्दादि विज्ञाने'—इस वाक्य से प्रत्यक्ष का फल सूचित किया है । 'प्रतिकूले'—ऐसा कह कर अनुमान का फल प्रदर्शित किया गया है, क्योंकि शब्दादि को श्रोत्र से सुन एवं उसी प्रकार के शब्द की प्रतिकूलता का स्मरण कर 'तज्जातीयत्व' हेतु के द्वारा उपलभ्यमान शब्द में प्रतिकूलता (अनिष्ट-साधनता) का अनुमान किया जाता है—'अयं शब्द, मदनिष्ट-साधनम्, शब्दविशेषत्वात्, पूर्वोपलब्धशब्दवत्' । उदाहरण दिया गया—"यथा दण्ड"—इत्यादि से । [हरा-हरा खेत चरती गौ जब देखती है कि खेत का मालिक हाथ में लट्ठ लिए

मुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति; एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेक-पुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षा-दिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।

शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसंब-

भामती

प्रत्यक्षादीन्यविद्यावद्विषयाणि। शास्त्रं तु ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादि न देहात्माध्यासेन प्रवर्तितु-महंति। अत्र खल्वामुष्मिकफलोपभोगयोग्योऽधिकारी प्रतीयते। तथा च पारमर्षं सूत्रम् —"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यादिति"। न च देहादि भस्मीभूतं पारलौकिकाय फलाय कल्पत इति देहाद्यतिरिक्तं कञ्चिदधिकारिणमाक्षिपति शास्त्रं, तदवगमश्च विद्येति कथमविद्यावद्विषयं शास्त्रमित्याशङ्क्याह ❀ शास्त्रीये तु इति ❀। तुशब्दः प्रत्यक्षादिव्यवहाराद्भिनत्ति शास्त्रीयम्। अधि-कारशास्त्रं हि स्वर्गकामस्य पुंसः परलोकसम्बन्धं विना न निर्वहतीति तावन्मात्रमाक्षिपेत्, न त्वस्या-संसारित्वमपि तस्याधिकारेऽनुपयोगात्। प्रत्युतौपनिषदस्य पुरुषस्याकर्तुरभोक्तुरधिकारविरोधात्। प्रयोक्ता हि कर्मणः कर्मजनितफलभोगभागी कर्मण्यधिकारी स्वामी भवति। तत्र कथमकर्त्ता प्रयोक्ता कथं वाऽभोक्ता कर्मजनितफलभोगभागी? तस्मादनाद्यविद्यालब्धकर्तृत्वभोक्तृत्वब्राह्मणत्वाद्यभिमानिनं नरमधिकृत्य विधि-निषेधशास्त्रं प्रवर्त्तते। एवं वेदान्ता अप्यविद्यावत्पुरुषविषया एव, नहि प्रमातृविभागादृते तदर्थाधि-

भामती–व्याख्या

उसकी ओर दौड़ता आ रहा है, तब वह वहाँ से भाग खड़ी होती है और जब अपने मालिक को हरा-हरा घास लिये अपनी ओर पुचकार करते आता देखती है, तब गौ अपने मालिक के पास आ जाती है। इसी प्रकार हिताहित की बात सोच-समझ कर प्राणिमात्र का व्यवहार प्रवृत्त होता है]।

यहाँ यह शङ्का अवश्य उठ जाती है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रवृत्ति अध्यासमूलक मानी जा सकती है, किन्तु "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"—इत्यादि शास्त्र देहात्माध्यास-मूलक नहीं हो सकते, क्योंकि ज्योतिष्टोमादि कर्मों का अधिकारी वही हो सकता है, जो पारलौकिक स्वर्गादि फलों का उपभोग करने योग्य हो, जैसे कि महर्षि जैमिनि कहते हैं—"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् स्वयं प्रयोगे स्यात्" (जै. सू. ३।७।१८) अर्थात् वेद-प्रतिपादित स्वर्गादिरूप फल कर्म के प्रयोक्ता (अनुष्ठान करनेवाले कर्त्ता) को ही प्राप्त होता है, क्योंकि विधिवाक्य-घटक 'स्वर्गकाम,' इत्यादि शब्द उसी कर्त्ता का फलभोक्तृत्वरूप लक्षण प्रस्तुत करते हैं। यजमान को अपने स्वयं किए हुए कर्मों का ही फल मिलता है। जन्मान्तर में प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फलों का भोग यजमान का यह शरीर नहीं कर सकता, क्योंकि प्राण निकल जाने पर इस शरीर को यहाँ ही भस्म कर दिया जाता है, अतः उक्त शास्त्र देहादि से भिन्न किसी अधिकारी का आक्षेप करता है, देहादि से अतिरिक्त आत्मरूप अधि-कारी का ज्ञान ही विद्या कहलाता है, अतः शास्त्र को अविद्यावत्पुरुषविषयक क्योंकर कहा जा सकेगा? इस आशङ्का का उचित समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वा परलोकसम्बन्धमधिक्रियते।" 'तु' पद के द्वारा शास्त्रीय व्यवहार में प्रत्यक्षादि-व्यवहारों से विशेषता ध्वनित की है। अधिकार (फल-भोक्तृत्व-प्रतिपादक) शास्त्र का निर्वाह तब तक नहीं होता, जब तक स्वर्गकामनावान् पुरुष का परलोक के साथ सम्बन्ध उपपन्न नहीं हो जाता, अतः अधिकार-शास्त्र केवल इतना

न्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यम्, अशनायाद्यतीतम्, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदम्, असंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च। प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथा

भामती

गमः। ते त्वविद्यावन्तमनुशासन्तो निर्मृष्टनिखिलाविद्यमनुशिष्टं स्वरूपे व्यवस्थापयन्तीत्येतावानेषां विशेषः। तस्मादविद्यावत्पुरुषविषयाण्येव शास्त्राणीति सिद्धम्॥

स्यादेतद्—यद्यपि विरोधानुपयोगाभ्यामौपनिषदः पुरुषोऽधिकारे नापेक्ष्यते, तथाप्युपनिषद्भ्योऽवगम्यमानः शक्नोत्यधिकारं निरोद्धुम्। तथा च परस्परापहतार्थत्वेन कृत्स्न एव वेदः प्रामाण्यमपजह्यादित्यत आह ® प्राक् च तथाभूतात्म इति ®। सत्यमौपनिषदपुरुषाधिगमोऽधिकारविरोधी, तस्मात्तु पुरस्तात् कर्मविषयः स्वोचितं व्यवहारं निर्वर्त्तयन्तो नानुपजातेन ब्रह्मज्ञानेन शक्या निरोद्धुम्। न च परस्परापहतिः, विद्याविद्यावत्पुरुषभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः। यथा "न हिंस्यात् सर्वा भूतानीति" साध्यांशनिषेधेऽपि "श्येनेनाभिचरन् यजेतेति" शास्त्रं प्रवर्त्तमानं न हिंस्यादित्यनेन न विरुध्यते, तत् कस्य हेतोः?

भामती-व्याख्या

ही आक्षेप कर सकता है कि हमारे फल का भोक्ता परलोकसम्बन्ध के योग्य है। उससे अधिक भोक्ता में असंसारित्वादि का आक्षेप नहीं कर सकता, क्योंकि असंसारित्वादि का प्रतिपादन अधिकार में उपयोगी नहीं, प्रत्युत उपनिषद्-गम्य असंसारित्व (अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व) फल-भोक्तृत्वरूप अधिकार के विरुद्ध है, क्योंकि प्रयोक्ता (कर्म का प्रयोग करनेवाला कर्त्ता) ही कर्म-जनित फल का भोक्ता बन कर कर्म का अधिकारी (स्वामी) माना जाता है। वहाँ अकर्त्ता पुरुष कर्म का अनुष्ठाता एवं अभोक्ता पुरुष कर्म-जनित फल के भोग का भागी कैसे बनेगा? फलतः अनादि अविद्या से प्रयुक्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अधिकारी पुरुष को उद्देश्य करके ही विधि-निषेध शास्त्र प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार वेदान्त शास्त्र भी अविद्यावत्पुरुष को ही विषय करके प्रवृत्त होता है, क्योंकि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयादि-विभाग के बिना वेदान्त शास्त्र के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकता। वेदान्त वाक्य तो अविद्यावान् पुरुष को अपने पावन उपदेशों के द्वारा सकल आध्यासिक परिच्छेदों से निकाल कर अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप में व्यवस्थापित कर देते हैं—इतना वेदान्त-शास्त्र का विधि-निषेधात्मक धर्म-शास्त्र से अन्तर अवश्य है। इस प्रकार यह एकान्ततः सिद्ध हो जाता है कि सभी शास्त्र अविद्यावान् पुरुष को विषय करते हैं।

यद्यपि कथित अनुपयोग और विरोध होने के कारण औपनिषद (अकर्त्ता-अभोक्ता) पुरुष कर्माधिकार में अपेक्षित नहीं, तथापि उपनिषत् प्रमाण से अवगम्यमान पुरुष कर्माधिकार का निरोध या बाध तो कर सकता है। इस प्रकार परस्पर-बाधित अर्थ का प्रतिपादक वेद अपनी प्रमाणता खो बैठेगा। इस आक्षेप का परिहार किया गया—"प्राक् तथाभूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते"। यह सत्य है कि औपनिषद पुरुष का ज्ञान कर्माधिकार का विरोधी है, किन्तु उस ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व कर्म-विधायक वाक्य अपने अनुकूल व्यवहार का सम्पादन करते हुए अनुत्पन्न ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा बाधितार्थक नहीं हो सकते? कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड का परस्पर कोई विरोध भी नहीं, क्योंकि कर्म-काण्ड का अधिकारी अज्ञानवान् और ज्ञान-काण्ड का अधिकारी ज्ञानवान् पुरुष होता है—इस प्रकार अधिकारी के भेद से उक्त काण्डों की व्यवस्था हो जाती है। जैसे कि "न हिंस्यात् सर्वा-भूतानि" (कूर्मपु० अ. १६)। यह शास्त्र साध्यरूप हिंसा का निषेध करता है और "श्येनेनाभिचरन् यजेत" (षड्वि. ब्रा. १।८) यह शास्त्र हिंसा (शत्रु-वध) का विधान करता है,

हि—'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यास-

भामती

पुरुषभेदादिति। अवजितक्रोधारातयः पुरुषा निषेधेऽधिक्रियन्ते, क्रोधारातिवशीकृतास्तु श्येनादिशास्त्र इति। अविद्यावत्पुरुषविषयत्वं नातिवर्त्तत इति यदुक्तं तदेव स्फोरयति ॐ तथाहि इति ॐ। वर्णाध्यासः—"राजा राजसूयेन यजेतेत्यादिः"। आश्रमाध्यासः—"गृहस्थः सदृशीं भार्य्यां विन्देदित्यादिः"। वयोऽध्यासः—"कृष्णकेशोऽग्नीनादधीतेत्यादिः"। अवस्थाध्यासः—अप्रतिसमाधेयव्याधीनां जलादिप्रवेशेन प्राणत्याग इति। आदिग्रहणं महापातकोपपातकसङ्करीकरणापात्रीकरणमलिनीकरणाद्यध्यासोपसंग्र-

भामती–व्याख्या

फिर भी इन दोनों शास्त्रों का कोई विरोध नहीं, क्योंकि अधिकारी पुरुष के भेद से उनकी व्यवस्था बन जाती है। अर्थात् क्रोधरूप शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेनेवाले पुरुष "न हिंस्यात्"—इस निषेध शास्त्र के अधिकारी एवं क्रोधरूप शत्रु के वशवर्ती पुरुष 'श्येनेनाभिचरन्'—इत्यादि विधि शास्त्रों के अधिकारी माने जाते हैं। यह जो कहा गया कि "शास्त्रमविद्यावत्पुरुषविषयत्वं नातिवर्तते"। उसी का विशदीकरण किया जाता है—"तथा हि" इत्यादि से। वर्णाध्यास का उदाहरण है—"राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत" (आप. श्रौ. सू. १८।८।१।४)। यहाँ राजा का अर्थ क्षत्रिय है, अतः क्षत्रिय वर्ण का अभिमानी पुरुष राजसूय कर्म का अधिकारी है। आश्रमाध्यास भी कहीं अपेक्षित है, जैसे—"गृहस्थः सदृशीं भार्या विन्देत्" (गौतम स्मृ. ४)। यहाँ गृहस्थ आश्रम का अध्यास होना चाहिए। "जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत"—इत्यादि शास्त्रों के द्वारा विहित अग्न्याधान कर्म में लगभग तीस वर्ष की अवस्था का अभिमान अनिवार्य है। "अप्रतिसमाधेयव्याधीनां जलादिप्रवेशेन प्राणत्यागः"—इत्यादि वाक्यों में असाध्य रोग से पीड़ित अवस्था की अपेक्षा है। आदि पद के द्वारा (१) महापातक, (२) उपपातक, (३) संकरीकरण, (४) अपात्रीकरण, (५) मलिनीकरणादि का अध्यास गृहीत होता है [(१) ब्रह्महत्यादि को महापातक कहा गया है—

"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥" (मनु. ११।४)

उपपातक इस प्रकार गिनाए गए हैं—

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च॥
परिवित्तिताऽनुजेऽनूढे परिवेदनमेव च।
तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम्॥
कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम्।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः॥
व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च।
भृत्या चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः॥
सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम्।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च॥
बन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा॥
अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामपक्रिया।
असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया॥

माश्रित्य प्रवर्तन्ते । अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम । तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति;

भामती

हार्यम् ।

तदेवमात्मानात्मनोः परस्पराध्यासमाक्षेपसमाधानाभ्यामुपपाद्य प्रमाणप्रमेयव्यवहारप्रवर्त्तनेन च दृढीकृत्य तस्यानर्थहेतुतामुदाहरणप्रपञ्चेन प्रतिपादयितुं तत्स्वरूपमुक्तं स्मारयति ❀ अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम ❀। 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' इत्यस्य संक्षेपाभिधानमेतत् । तत्राहमिति धर्मितादात्म्याध्यासमात्रं ममेत्यनुत्पादितधर्माध्यासं नानर्थहेतुरिति धर्माध्यासमेव ममकारं साक्षादशेषानर्थसंसारकारणमुदाहरणप्रपञ्चेनाह ❀ तद्यथा,.पुत्रभार्य्यादिषु इति ❀। देहतादात्म्यमात्मन्यध्यस्य देहधर्मं पुत्रकलत्रादिस्वाम्यं च कृशत्वादिवदारोप्याहाहमेव विकलः सकल इति । स्वस्य खलु साकल्येन स्वाम्यसाकल्यात् स्वामीश्वरः सकलः सम्पूर्णो भवति । तथा स्वस्य वैकल्येन स्वाम्यवैकल्यात् स्वामीश्वरो विकलोऽसम्पूर्णो भवतीति । बाह्यधर्मा ये वैकल्यादयः स्वाम्यप्रणालिकया सञ्चारिताः शरीरे तानात्मन्यध्य-

---

भामती–व्याख्या

धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ (मनु. ११।५९–६६)

गर्दभ-वधादि को सङ्करीकरण कहा गया है—

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।
संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ (मनु. ११।६८)

अपात्र से दानादि-ग्रहण अपात्रीकरण कहा गया है—

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
आपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ (मनु० ११।६९)

मनुस्मृति में मलिनीकरण पातक भी गिनाए हैं—

कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ (मनु० ११।७०)]।

इस प्रकार आत्मानात्मपदार्थों के अन्योऽन्याध्यास का आक्षेपसमाधानपूर्वक उपपादन किया गया, प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की उसमें प्रवर्तकता दिखाकर अध्यास का दृढीकरण दिखाया गया, अब विविध उदाहरणों के माध्यम से अध्यास की कथित अनर्थ-हेतुता का चित्रण करने के लिए अध्यास के पूर्वोक्त स्वरूप का स्मरण दिलाया जाता है—"अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम" । यह "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः"—इस विशद लक्षण का संक्षिप्ताभिधान मात्र है। अध्यास के दो अंश दिखाए गए—(१) अहङ्काराध्यास और (२) ममकाराध्यास । इन्हीं को क्रमशः धर्म्यध्यास और धर्माध्यास भी कहा जाता है। इनमें धर्माध्यास साक्षात् अनर्थ का हेतु है—यह अनेक उदाहरणों के द्वारा सिद्ध किया जाता है—"पुत्रभार्यादिषु" । आत्मा में देह का तादात्म्याध्यास करके देह के धर्मभूत पुत्रभार्यादि के स्वामित्व एवं कृशत्वादि का आरोप करके मनुष्य कहता है—"अहमेव विकलः सकलः"—इत्यादि । अर्थात् पुत्रादिरूप स्वकीय जनों की सकलता (सम्पन्नता) से उसका स्वामित्व सकल हो जाने के कारण स्वामी अपने को सकल (सम्पन्न) मानता है। उसी प्रकार पुत्रादि स्वकीय परिजनों की विकलता (विपन्नता) से अपने को विकल मानता है—इस प्रकार पुत्रादि बाह्य पदार्थों के धर्म स्वामित्व-परम्परा से आत्मा में सञ्चारित और अध्यस्त होते दिखाए गए । ये वैकल्य और साकल्यादि धर्म देह के अपने नहीं, अपितु पुत्रादि उपाधियों के

तथा देहधर्मान्–स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्–मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरण-धर्मान्–कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्। एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसा-क्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य, तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादि-

भामती

स्यतीत्यर्थः। यदा च परोपाध्यपेक्षे देहधर्मे स्वाम्ये इयं गतिस्तदा केव कथाऽनौपाधिकेषु देहधर्मेषु कृशत्वादिष्विव्यध्यासाशयवानाह ❀ तथा देहधर्मान् इति ❀। देहादेरप्यन्तरङ्गाणामिन्द्रियाणामध्यस्तात्म-भावानां धर्मान्मूकत्वादींस्ततोऽप्यन्तरङ्गस्यान्तःकरणस्याध्यस्तात्मभावस्य धर्मान् कामसङ्कल्पादीन् आत्म-न्यध्यस्यतीति योजना।

तदनेन प्रपञ्चेन धर्माध्यासमुक्त्वा तस्य मूलं धर्म्यध्यासमाह ❀ एवमहम्प्रत्ययिनम् ❀। अहम्प्रत्ययो वृत्तिर्यस्मिन्नन्तःकरणादौ सोऽयमहम्प्रत्ययी तं ❀ स्वप्रचारसाक्षिणि ❀ अन्तःकरणप्रचार-साक्षिणि, चैतन्योदासीनताभ्यां, ❀ प्रत्यगात्मन्यध्यस्य ❀ तदनेन कर्तृत्वभोक्तृत्वे उपपादिते। चैतन्यमुप-पादयति ❀ तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्य्ययेण ❀ अन्तःकरणादिविपर्य्ययेण, अन्तःकरणाद्यचेतनं तस्य विपर्य्ययः चैतन्यं तेन, इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। ❀ अन्तःकरणादिष्वध्यस्यति ❀। तदनेनान्तः-करणाद्यवच्छिन्नः प्रत्यगात्मा इदमनिदंरूपश्चेतनः कर्त्ता भोक्ता कार्य्यकारणाविद्याद्वयाधारोऽहङ्कारास्पदं

भामती–व्याख्या

द्वारा सञ्चारित औपाधिक धर्म हैं, उनकी जब ऐसी गति है, तब देहगत अनौपाधिक कृशत्वादि का आरोप आत्मा में क्यों न होगा? इसी भाव की अभिव्यक्ति करने के लिए कहा है—"तथा देहधर्मान्"। देह की अपेक्षा इन्द्रियाँ अन्तरङ्ग हैं, जिन वागादि इन्द्रियों में आत्म-रूपता अध्यस्त है, उनके मूकत्वादि धर्मों एवं उनसे भी अन्तरङ्ग अन्तःकरण के सङ्कल्पादि धर्मों का आत्मा में अध्यास हो जाता है—इस प्रकार भाष्यार्थ की योजना कर लेनी चाहिए।

विस्तारपूर्वक धर्माध्यास की चर्चा करने के पश्चात् धर्माध्यास के मूल कारण धर्म्यध्यास का भाष्यकार वर्णन कर रहे हैं—"एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मान-मध्यस्य"। 'अहम्', 'अहम्'—इस प्रकार का प्रत्यय (वृत्ति) जिसमें होता है, उस अन्तःकरण को 'अहंप्रत्ययी' कहते हैं। उस (अन्तःकरण) का तादात्म्याध्यास उस प्रत्यगात्मा में किया जाता है, जो अन्तःकरण की वृत्तियों का स्वगत चैतन्य (ज्ञान) और तटस्थता के कारण साक्षी है [लोक में भी साक्षी वही पुरुष कहा जाता है, जो किसी वाद का ज्ञान तो रखता है, किन्तु उस वाद में सक्रिय भाग नहीं लेता, तटस्थ रहता है]। इस प्रकार 'अन्तःकरण से तादात्म्यापन्न होकर प्रत्यगात्मा अपने को कर्त्ता-भोक्ता मानने लगता है'—यह दिखाया गया। अन्तःकरण में चैतन्यारोप दिखाया जाता है—"तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणम्"। "तद्विपर्य-येण" का अर्थ है—अन्तःकरणगत अचैतन्य (जाड्य) के विपरीत जो चैतन्य है, उस चैतन्य से उपलक्षित आत्मा का अन्तःकरण में अध्यास होता है। 'तद्विपर्ययेण'—यहाँ तृतीया विभक्ति "इत्थंभूतलक्षणे" (पा. सू. २।३।२१) इस सूत्र के द्वारा विहित हुई है [जो कि ज्ञापकार्थक होती है, जैसे किसी व्यक्ति के शिर पर जटाएँ देख कर समझ लिया जाता है कि यह तपस्वी है। वहाँ 'जटाभिः तापसः' ऐसा प्रयोग होता है, वैसे ही 'तद्विपर्ययेण प्रत्यगात्मा अध्यस्तो भवति'–यहाँ पर 'जाड्यविपरीतेन चैतन्यरूपेण'—ऐसा अर्थ फलित होता है]। "अन्तःकरणादिषु अध्यस्यति" ऐसा कह कर भाष्यकार ने स्पष्ट कर दिया है कि अन्तःकरणादि से अवच्छिन्न प्रत्यगात्मा 'इदम्' और 'अनिदम्'—इस प्रकार विरुद्धरूपापन्न (चिदचिद्रूप) होकर चेतन, कर्त्ता-भोक्ता, 'कार्याविद्या और कारणाविद्या'—इन दो प्रकार की 'अविद्याओं का आधारभूत,

ध्यध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये

भामती

संसारी सर्वानर्थसम्भारभाजनं जीवात्मा इतरेतराध्यासोपादानस्तदुपादानश्चाध्यास इत्यनादित्वाद्बीजाङ्कुरवन्नेतरेतराश्रयत्वमित्युक्तं भवति। प्रमाणप्रमेयव्यवहारदृढीकृतमपि शिष्यहिताय स्वरूपाभिधानपूर्वकं सर्वलोकप्रत्यक्षतयाऽध्यासं सुदृढीकरोति। ❀ एवमयमनादिरनन्तः ❀ तत्त्वज्ञानमन्तरेणाशक्यसमुच्छेदः। अनाद्यनन्तत्वे हेतुरुक्तः ❀ नैसर्गिकः ❀ इति। ❀ मिथ्याप्रत्ययरूपः ❀ मिथ्याप्रत्ययानां रूपमनिर्वचनीयत्वं तद्यस्य स तथोक्तः, अनिर्वचनीय इत्यर्थः। प्रकृतमुपसंहरति ❀ अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय ❀। विरोधिप्रत्ययं विना कुतोऽस्य प्रहाणमित्यत उक्तम् ❀ आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये ❀। प्रतिपत्तिः प्राप्तिः तस्यै न तु जपमात्राय, नापि कर्मसु प्रवृत्तये, आत्मैकत्वं विगलितनिखिलप्रपञ्चत्वमानन्दरूपस्य सतस्तत्प्रतिपत्तिं निर्विचिकित्सां भावयन्तो वेदान्ताः समूलघातमध्यासमुपघ्नन्ति। एतदुक्तं भवति—अस्मत्प्रत्ययस्यात्मविषयस्य समीचीनत्वे सति ब्रह्मणो ज्ञातत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्च न जिज्ञासा स्यात्। तदभावे च न ब्रह्मज्ञानाय वेदान्ताः पठ्येरन्। अपि त्वविवक्षितार्था जपमात्रे उपयुज्येरन्। नहि तदौपनिषदात्मप्रत्ययः प्रमाणतामश्नुते। न चासावप्रमाणमभ्यस्तोऽपि वास्तवं कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यात्मनोऽपनेतुमर्हति। आरोपितं

भामती-व्याख्या

अहङ्कारास्पद, संसारी समस्त अनर्थ-प्रपञ्च का पात्र, जीवात्मा अन्योन्याध्यास पर आधृत और उत्तरोत्तर अध्यास का प्रयोजक होता है [अर्थात् अध्यास-प्रयुक्त अहंविषयता और अहंविषयतापन्न चिदात्मा में प्रपञ्चाध्यास होता है]। फलतः पूर्वोक्त अध्यासों की अन्योऽन्याश्रयता प्रत्याख्यात हो जाती है। यद्यपि प्रमाण-प्रमेयादि व्यवहारों के द्वारा अध्यास की दृढता का चित्रण किया जा चुका है, तथापि अबोध शिष्यों को भली प्रकार समझाने के लिए अध्यास का स्वरूप दिखा कर उसे दृढता प्रदान की जा रही है—"एवमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः"। यहाँ अनन्त का अर्थ है कि तत्त्व-ज्ञान के बिना उस (अध्यास) का अन्त (उच्छेद) नहीं किया जा सकता। अध्यास की अनादिता और अनन्तता का कारण बताया जाता है—'नैसर्गिकः"। "मिथ्याप्रत्ययरूपः'—का तात्पर्य है कि मिथ्या ज्ञानों के रूप (अनिर्वचनीयत्व) से युक्त अध्यास अनिर्वचनीय है। प्रकृत प्रसङ्ग का उपसंहार किया जाता है—"अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय"।

विरोधी ज्ञान के बिना इस (मिथ्या प्रत्यय) का प्रहाण नहीं हो सकता, अतः विरोधी ज्ञान और उसके साधनों का प्रदर्शन किया जाता है—"आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते"। प्रतिपत्ति का अर्थ प्राप्ति है, उसके लिए ही वेदान्त शास्त्र प्रवृत्त हुआ है, केवल जप या कर्म-प्रपञ्च में प्रवृत्ति के लिए नहीं, "आत्मैकत्व' से आत्मगत निखिल-प्रपञ्चाभावरूपता विवक्षित है, आत्मा स्वतः आनन्दरूप है, किन्तु पूर्वोक्त अध्यास के कारण उसकी आनन्दरूपता जो अप्राप्त-जैसी हो गई है, उसकी प्राप्ति (असन्दिग्ध निश्चय) कराते हुए वेदान्त-वाक्य अध्यास का समूल घात कर डालते हैं। सारांश यह है कि यदि आत्मविषयक अहंप्रत्यय समीचीन (प्रमारूप) होता, तब अहङ्कारास्पदत्वेन ब्रह्म ज्ञात ही है, अतः निष्प्रयोजन होने के कारण ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं हो सकती थी, जिज्ञासा के अभाव में ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिए वेदान्त वाक्यों की प्रवृत्ति ही नहीं होती या वे अविवक्षितार्थक होकर जपमात्र के उपयोगी रह जाते, क्योंकि पहले ही ब्रह्म का निश्चय रहने पर औपनिषद ब्रह्म का ज्ञान ज्ञातार्थ-ज्ञापक होने के कारण अप्रमाण ही हो जाता। अप्रमाणभूत ज्ञान का कितना भी अभ्यास किया जाय, वह आत्मा के वास्तविक कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मों का अपनयन नहीं कर

सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

भामती

हि रूपं तत्त्वज्ञानेनापोद्यते, न तु वास्तवमतत्त्वज्ञानेन। नहि रज्ज्वा रज्जुत्वं सहस्रमपि सर्पधाराप्रत्यया अपवदितुं समुत्सहन्ते। मिथ्याज्ञानप्रसञ्जितं च स्वरूपं शक्यं तत्त्वज्ञानेनापवदितुम्। मिथ्याज्ञानसंस्कारश्च सुदृढोऽपि तत्त्वज्ञानसंस्कारेणादरनैरन्तर्य्यदीर्घकालतत्त्वज्ञानाभ्यासजन्मनेति।

स्यादेतत्—प्राणाद्युपासना अपि वेदान्तेषु बहुलमुपलभ्यन्ते, तत्कथं सर्वेषां वेदान्तानामात्मैकत्वप्रतिपादनमर्थं इत्यत आह ॐ यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः ॐ। शरीरमेव शरीरकं तत्र निवासी शारीरको जीवात्मा तस्य त्वंपदाभिधेयस्य तत्पदाभिधेयपरमात्मरूपतामीमांसा या सा तथोक्ता।

भामती–व्याख्या

सकता। यह नैसर्गिक नियम है कि अध्यस्त पदार्थ का ही तत्त्व-ज्ञान से बाध होता है, वास्तविक पदार्थ की मिथ्या ज्ञान के द्वारा कभी भी निवृत्ति नहीं होती, जैसे कि रज्जुगत वास्तविक रज्जुत्व धर्म को 'अयं सर्पः', 'इयं जलधारा'—इत्यादि सहस्रों प्रकार के मिथ्या ज्ञान कभी भी निवृत्त नहीं कर सकते। मिथ्या ज्ञान के द्वारा आरोपित रूप का ही बाध तत्त्व-ज्ञान कर सकता है। मिथ्या ज्ञान से जनित सुदृढ़ संस्कार भी उस तत्त्व-ज्ञान के द्वारा जनित संस्कारों से विनष्ट हो जाते हैं, जिस तत्त्व का दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक अभ्यास किया गया है। [विजातीय वृत्तियों या संस्कारों के झंझावात को शान्त करने का एकमात्र उपाय है—सुदृढ़ निरोधाभ्यास, अभ्यास सुदृढ़ कैसे होता है ? इसका मार्ग योग-सूत्र ने दिखाया है—"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमि" (यो. सू. २।१४)। श्रद्धापूर्वक निरन्तर दीर्घ समय तक आसेवित अभ्यास सुदृढ़ होकर पूर्णतया अर्थक्रियाकारी माना जाता है]। भाष्यकार ने जो कहा है—"आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते"। वहाँ यह शङ्का होती है कि वेदान्त या उपनिषद् ग्रन्थों में "यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च" (छां० उ० ५।१।१) इत्यादि प्रसङ्गों में प्राणादि उपासनाओं का भी प्रतिपादन किया गया है, तब सभी वेदान्त-वाक्यों में केवल आत्मैकत्वप्रतिपादकत्व क्योंकर घटेगा ? इस शङ्का के समाधानार्थ कहा है—"यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः"। 'शारीरक' शब्द की शरीरमेव शरीरकम्, तत्र भवः शारीरकम्—ऐसी व्युत्पत्ति के आधार 'शारीरक' शब्द का अर्थ है—शरीराभिमानी चेतन जीव। यह जीव "तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) इस महावाक्य के घटकीभूत 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है। उसमें तत्पदाभिधेय परमात्मरूपता की मीमांसा (विचारशास्त्र) [यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि इस वेदान्त-दर्शन को जीव-मीमांसा कहा जाय ? या ब्रह्म-मीमांसा ? जीव-मीमांसारूप मानने पर "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र. सू. १।१।१) इस सूत्र में 'ब्रह्म' शब्द का जीवभावापन्न ब्रह्म अर्थ करना होगा और जिज्ञासा का आकार रखना होगा—कोऽयं जीवः ? उसके अनुसार द्वितीय सूत्र में जिज्ञास्यभूत जीव का लक्षण करना चाहिए था, ब्रह्म का नहीं। कर्त्ता-भोक्ता जीव में संशयादि न होने के कारण जिज्ञास्यता भी नहीं बनती, अतः इस शास्त्र को ब्रह्ममीमांसा ही कहना चाहिए, हाँ, वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर 'जीव-मीमांसा' शब्द के द्वारा इस शास्त्र का अभिधान किया जा सकता है, अतः 'शारीरक' शब्द का अर्थ कुछ विद्वानों ने शरीरे भवः शारीरो जीवः, तं शारीरं कायति ब्रह्मरूपं गायति'—इस व्युत्पत्ति के माध्यम से 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्यादि

भामती

एतावानत्रार्थसंक्षेपः—यद्यपि च स्वाध्यायाध्ययनविधिना स्वाध्यायपदवाच्यस्य वेदराशेः फलवदर्थावबोधपरतामापादयता कर्मविधिनिषेधानामिव वेदान्तानामपि स्वाध्यायशब्दवाच्यानां फलवदर्थावबोधपरत्वमापादितम्। यद्यपि चाविशिष्टस्तु वाक्यार्थ इति न्यायान्मन्त्राणामिव वेदान्तानामर्थपरत्वमौत्सर्गिकं, यद्यपि च वेदान्तेभ्यश्चैतन्यानन्दघनः कर्तृत्वभोक्तृत्वरहितो निष्प्रपञ्च एकः प्रत्यगात्माऽवगम्यते, तथापि कर्तृत्वभोक्तृत्वदुःखशोकमोहमयमात्मानमवगाहमानेनाहम्प्रत्ययेन सन्देहबाधविरहिणा विरुध्यमाना वेदान्ताः स्वार्थात्प्रच्युता उपचरितार्था वा जपमात्रोपयोगिनो वेत्यविवक्षितस्वार्थाः। तथा च तदर्थविचारात्मिका चतुर्लक्षणी शारीरकमीमांसा नारब्धव्या। न च सर्वजनीनाहमनुभवसिद्ध आत्मा सन्दिग्धो वा सप्रयोजनो वा येन जिज्ञास्यः सन् विचारं प्रयुञ्जीतेति पूर्वः पक्षः।

सिद्धान्तस्तु भवेदेतदेवं यद्यहम्प्रत्ययः प्रमाणं, तस्य तूक्तेन क्रमेण श्रुत्यादिबाधकत्वानुपपत्तेः। श्रुत्यादिभिश्च समस्ततीर्थकरैश्च प्रमाणत्वानभ्युपगमादध्यासत्वम्। एवं वेदान्ता नाविवक्षितार्थाः, नाप्युप-

भामती-व्याख्या

वेदान्त वाक्यों को शारीरक और इस वेदान्त-दर्शन को शारीरक-मीमांसा या वेदान्त-विचार कहा है। इन्हीं सब समस्याओं को ध्यान में रखकर श्री वाचस्पति मिश्र इस अधिकरण-ग्रन्थ में प्रथम अधिकरण की रचना करते हुए सभी प्रकार के सन्देहों का परिमार्जन करते हैं। प्रत्येक अधिकरण के पाँच अवयव होते हैं—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
प्रयोजनं संगतिश्च शास्त्रेऽधिकरणं विदुः॥]।

इसके अनुसार यहाँ अङ्ग हैं—

(१) **विषय**—अज्ञात ब्रह्म

(२) **संशय**—वेदान्तमीमांसा शास्त्र आरम्भणीय है? अथवा नहीं?

(३) **पूर्वपक्ष**—यद्यपि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (शत. ब्रा. १९।५।७।२) इस स्वाध्याय-अध्ययन-विधि के द्वारा 'स्वाध्याय' (स्वकीय शाखारूप वेद) का सप्रयोजन अर्थ के प्रतिपादन में तात्पर्य स्थिर किया गया है, अतः शाखागत कर्मविषयक विधि-निषेध वाक्यों के समान वेदान्त वाक्यों में भी फलवदर्थ-बोधकता निश्चित है। एवं "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" (जै. सू. १।२।३२) इस सूत्र के भाष्य में कहा है—"अविशिष्टस्तु लोके प्रयुज्यमानानां वेदे च पदानामर्थः। स यथैव लोके विवक्षितः तथैव वेदे भवितुमर्हति।" अतः संहिता भाग के समान ही वेदान्त-वाक्यों में विवक्षितार्थत्व स्वाभाविक है। वेदान्त-वाक्यों के द्वारा सच्चिदानन्दरूप-कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित, निष्प्रपञ्च, एक प्रत्यगात्मतत्व अवगत होता है।

तथापि कर्तृत्व, भोक्तृत्व, दुःख, शोकादि से युक्त आत्मा को विषय करने वाले संदेह और बाध से रहित अहमनुभव के द्वारा विरुद्ध पड़ जाने के कारण वेदान्त-वाक्य अपने वाच्यार्थ से हट कर गौणार्थक या जपमात्र में उपयोगी माने जाते हैं। फलतः वेदान्तार्थ-विचारात्मक चार अध्यायों वाला यह शारीरक-मीमांसा शास्त्र आरम्भणीय नहीं है। सर्वजन-प्रसिद्ध अनुभव के द्वारा प्रमाणित कर्त्ता भोक्ता आत्मा न सन्दिग्ध है और न उसके ज्ञान का कोई विशेष प्रयोजन, अतः वह न तो जिज्ञास्य है और न किसी प्रकार के विचार का प्रवर्तक।

(४) **उत्तर पक्ष**—यह सब कुछ कहना तभी सत्य हो सकता था, जबकि अहमनुभव प्रमाणभूत होता। जब कि पूर्वोक्त रीति से उक्त अनुभव में श्रुत्यादि की बाधकता सम्भव नहीं। अहमनुभव की प्रामाणिकता न तो श्रुत्यादि वाक्यों से संवादित है और न किसी तैर्थिक (दार्शनिक) के द्वारा अनुमोदित, पारिशेष्यात् उसे अध्यासात्मक ही मानना पड़ता

(१ जिज्ञासाधिकरणम् । सू० १)

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

भामती

चरितार्थाः, किन्तूक्तलक्षणाः । प्रत्यगात्मैव तेषां मुख्योऽर्थः । तस्य च वक्ष्यमाणेन क्रमेण सन्दिग्धत्वात्प्रयोजनवत्त्वाच्च युक्ता जिज्ञासा, इत्याशयवान् सूत्रकारः तज्जिज्ञासामसूत्रयत् —

❀ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इति ❀। जिज्ञासया सन्देहप्रयोजने सूचयति । तत्र साक्षादिच्छाव्याप्यत्वाद् ब्रह्मज्ञानं कण्ठोक्तं प्रयोजनम् । न च कर्मज्ञानात् पराचीनमनुष्ठानमिव ब्रह्मज्ञानात् पराचीनं किञ्चिदस्ति येनैतदवान्तरप्रयोजनं भवेत् । किन्तु ब्रह्ममीमांसाख्यतर्केतिकर्तव्यतानुज्ञातविषयैर्वेदान्तैराहितं निर्विचिकित्सं ब्रह्मज्ञानमेव समस्तदुःखोपशमरूपमानन्दैकरसं परमं प्रयोजनम् । तमर्थमधिकृत्य हि प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्तेतराम् । तच्च प्राप्तमप्यनाद्यविद्यावशादप्राप्तमिवेति प्रेप्सितं भवति । यथा स्वग्रीवागतमपि ग्रैवेयकं कुतश्चिद् भ्रमान्नास्तीति मन्यमानः परेण प्रतिपादितमप्राप्तमिव प्राप्नोति । जिज्ञासा तु संशयस्य कार्यमिति स्वकारणं संशयं सूचयति। संशयश्च मीमांसारम्भं प्रयोजयति । तथा च शास्त्रे प्रेक्षावत्प्रवृत्तिहेतुसंशयप्रयोजनसूचनाद् युक्तमस्य सूत्रस्य शास्त्रादित्वमित्याह भगवान् भाष्यकारः ❀ वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य अस्माभिः इदमादिमं सूत्रम् ❀ । पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः ।

भामती-व्याख्या

है । वेदान्त-वाक्यों का जब कोई विरोधी नहीं, तब वे न तो अविवक्षितार्थक हो सकते हैं और न गौणाद्यर्थक, किन्तु शुद्ध, बुद्ध मुक्तरूप आत्मतत्त्व के प्रतिपादक हैं। प्रत्यगात्मा ही उनका मुख्य अर्थ है, वह वक्ष्यमाण क्रम से सन्दिग्ध भी है और सप्रयोजन भी, अतः उसकी जिज्ञासा समुचित है—इस आशय से सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा को सूत्रित किया है— "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" । जिज्ञासा के माध्यम से अधिकरण के सन्देह और प्रयोजनरूप दो अवयव सूचित किए गए हैं।

(५) **प्रयोजन**—ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा है, इच्छा का साक्षात् विषय होने के कारण ब्रह्म-ज्ञान मुख्य प्रयोजन है । कर्मपरक वाक्यों से कर्म का ज्ञान और ज्ञान से कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, तब स्वर्गादिरूप मुख्य प्रयोजन सिद्ध होता है, अतः वहाँ कर्म-ज्ञान जैसे अवान्तर प्रयोजन माना जाता है, वैसे यहाँ ब्रह्म-ज्ञान को मुख्य प्रयोजन न मानकर अवान्तर प्रयोजन नहीं माना जा सकता, क्योंकि कर्म-ज्ञान के पश्चात् जैसे कर्म का अनुष्ठान अपेक्षित होता है, वैसे यहाँ ब्रह्म-ज्ञान के पश्चात् कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता, क्योंकि ब्रह्म-विचारात्मक तर्करूप इतिकर्त्तव्यता (सहायक व्यापार) के द्वारा जिनके अर्थों का परिपोषण किया गया, ऐसे वेदान्त-वाक्यों से समुत्पादित असन्दिग्ध ब्रह्म-ज्ञान ही समस्त दुःखों का उपशामक और परमानन्दैकरसात्मक परम प्रयोजन माना जाता है। उसकी लालसा से ही विवेकिगण वेदान्त-विचार में प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि वह तत्त्व-ज्ञान ब्रह्मरूप होने के कारण सदैव प्राप्त है, तथापि अनादि अविद्या के कारण वह अप्राप्त-जैसा होकर वैसे ही प्रेप्सित (प्राप्त करने की इच्छा का विषय) हो जाता है, जैसे कि अपने गले में विद्यमान हार किसी भ्रम के कारण विस्मृत एवं खो गया-सा हो जाता है और किसी व्यक्ति के द्वारा स्मरण दिलाने पर प्राप्त-सा हो जाता है । जिज्ञासा संशय से जनित होती है, अतः वह अपने कारणीभूत संशय को सूचित करती है और संशय मीमांसा के आरम्भ का प्रयोजक हो जाता है । इस प्रकार विचारशील व्यक्ति की शास्त्र में प्रवृत्ति के हेतुभूत संशय और प्रयोजन को सूचित करके के कारण "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—इस वाक्य को भगवान्

तत्र अथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधि-

भामती

परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलता विचारस्य पूजितता। तस्या मीमांसायाः शास्त्रम्, सा ह्यनेन शिष्यते शिष्येभ्यो यथावत्प्रतिपाद्यत इति। सूत्रं च बह्वर्थसूचनाद् भवति। यथाहुः—

"लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥" इति।

तदेवं सूत्रतात्पर्यं व्याख्याय तस्य प्रथमपदमथेति व्याचष्टे ❀ तत्राथशब्द आनन्तर्य्यार्थः परिगृह्यते ❀। तेषु सूत्रपदेषु मध्ये योऽयमथशब्दः स आनन्तर्य्यार्थ इति योजना। नन्वधिकारार्थोऽप्यथ-शब्दो दृश्यते, यथा—'अथैष ज्योतिः' इति वेदे, यथा वा लोके 'अथ शब्दानुशासनम्, 'अथ योगानुशा-सनम्' इति, तत्किमत्राधिकारार्थो न गृह्यत इत्यत आह ❀ नाधिकारार्थः ❀। कुतः? ❀ ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्य्यत्वात् ❀। जिज्ञासा तावदिह सूत्रे ब्रह्मणश्च तत्प्रज्ञानाच्च शब्दतः प्रधानं प्रतीयते। न च यथा दण्डी प्रैषानन्वाहेत्यत्राप्रधानमपि दण्डशब्दार्थो विवक्ष्यते, एवमिहापि ब्रह्मतज्ज्ञाने इति युक्तम्,

भामती—व्याख्या

भाष्यकार शास्त्र का आदिम (प्रथम) सूत्र कहते हैं—"वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचि-ख्यासितस्य इदमादिमं सूत्रम्"।

यहाँ 'मीमांसा' शब्द पूजित विचार का वाचक है। प्रकृत विचार में जो मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के हेतुभूत सूक्ष्मतम अर्थ की निर्णायकता है, वही विचारगत पूजितता है। उस मीमांसात्मक तर्क की इस (वेदान्त दर्शन) शास्त्र के द्वारा अधिकारी शिष्यों को शिक्षा दी जाती है। सूत्रवाक्य अपने विषय की पुष्कलरूप में संक्षिप्त सूचनामात्र देते हैं, इसी में उनका गौरव माना जाता है, क्योंकि सूत्र का लक्षण किया गया है—

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥ (पराशरोप. अ. १८)

[स्वल्पकाय उस पदावलि को मनीषिगणों ने सूत्र कहा हैं, जिसमें सारभूत प्रतिपाद्य वस्तु के सम्यक् प्रतिपादन की पूर्ण क्षमता हो]।

इस प्रकार प्रथम सूत्र का तात्पर्य बताकर सूत्र-घटक प्रथम 'अथ' पद की व्याख्या करते हैं—"तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते"। तत्र (इस सूत्र के सभी पदों के मध्य में) जो यह 'अथ' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह आनन्तर्यार्थक है। शङ्का होती है कि 'अथ' शब्द अधिकार (आरम्भ) अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे वेद में "अथैव ज्योतिः" (ता. ब्रा. १६।८।१) अथवा लोक में जैसे—'अथ शब्दानुशासनम्" (म. भाष्य पृ. ५) "अथ योगानु-शासनम्" (यो. सू. १।१)। अतः यहाँ भी उस (आरम्भ) अर्थ में 'अथ' शब्द का प्रयोग क्यों न मान लिया जाय? इस शङ्का का निराकरण करते हैं—"नाधिकारार्थः", क्योंकि 'ब्रह्म-जिज्ञासा'—यहाँ शब्दतः इच्छा 'ब्रह्म और उसके ज्ञान' इन दोनों से प्रधान है, उसका विषय ज्ञान है और ज्ञान का विषय है—ब्रह्म। ['इच्छा का आरम्भ करना चाहिए'—ऐसी आज्ञा कर देने मात्र से इच्छा की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु विषयगत इष्टसाधनता या सौन्दर्य का ज्ञान ही इच्छा का जनक माना जाता है, उसके बिना] इच्छा अधिकार्य या समुत्पाद्य नहीं होती। यदि कहा जाय कि इच्छा यदि आरम्भणीय नहीं, तब उसके विषयीभूत ज्ञान और ब्रह्म को 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद का अर्थ वैसे ही माना जा सकता है, जैसे "दण्डी प्रैषान् अन्वाह" [दण्ड के सहारे खड़ा होकर आज्ञा वचनों का उच्चारण करे] यहाँ पर अप्रधानभूत 'दण्ड' शब्दार्थ की विवक्षा होती है, अतः प्रकृत में ब्रह्म या ब्रह्म-ज्ञानरूप अमुख्यार्थ में अधिकारार्थ

भामती

ब्रह्ममीमांसाशास्त्रप्रवृत्त्यङ्गसंशयप्रयोजनसूचनार्थत्वेन जिज्ञासाया एव विवक्षितत्वात् । तदविवक्षायां तु तदसूचनेन काकदन्तपरीक्षायामिव ब्रह्ममीमांसायां न प्रेक्षावन्तः प्रवर्तेरन् । न हि तदानीं ब्रह्म वा तज्ज्ञानं वाऽभिधेयप्रयोजने भवितुमर्हतः । अनध्यस्ताहम्प्रत्ययविरोधेन वेदान्तानामेवंविधेऽर्थे प्रामाण्यानुपपत्तेः । कर्मप्रवृत्त्युपयोगितयोपचरितार्थानां वा जपोपयोगिनां वा हुमित्येवमादीनामविवक्षितार्थानामपि स्वाध्यायाध्ययनविध्यधीनग्रहणत्वस्य सम्भवात् । तस्मात्सन्देहप्रयोजनसूचनी जिज्ञासा इह पदतो वाक्यतश्च प्रधानं विवक्षितव्या । न च तस्या अधिकार्य्यत्वम्, अप्रस्तूयमानत्वात्, येन तत्समभिव्याहृतोऽथशब्दोऽधिकारार्थः स्यात् । जिज्ञासाविशेषणं तु ब्रह्मज्ञानमधिकार्य्यं भवेत् । न च तदथशब्देन सम्बध्यते, प्राधान्याभावात् । न च जिज्ञासा मीमांसा येन योगानुशासनवदधिक्रियेत । नान्तरवं निपात्य माङ् मान इत्यस्माद्वा मान पूजायामित्यस्माद्वा धातोर्मान्बधेत्यादिनाऽनिच्छार्थे सनि व्युत्पादितस्य मीमांसाशब्दस्य पूजितविचार-

भामती–व्याख्या

का अन्वय क्यों न कर दिया जाय ? तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्मविचारात्मक शास्त्र में प्रवृत्ति के अङ्गभूत संशय और प्रयोजन के सूचनार्थ जिज्ञासा ही विवक्षित है, उसकी विवक्षा न करने पर संशय और प्रयोजन का लाभ न होगा और उसके न होने के कारण जैसे निरर्थक और निष्प्रयोजन काक-दन्त-परीक्षा शास्त्र में कोई विचारशील प्रवृत्त नहीं होता, वैसे ही इस ब्रह्म-मीमांसा में भी कोई प्रवृत्त न होगा, क्योंकि जिज्ञासा के बिना ब्रह्म में सन्दिग्धत्व और ब्रह्म-ज्ञान में सप्रयोजनरूपता का लाभ नहीं होता। ब्रह्म और ज्ञान स्वरूप सत् प्रवर्तक नहीं होते, अपितु सन्दिग्ध और सप्रयोजन के रूप में ही प्रवर्तक होते हैं। संशय का विषयीभूत सद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्य माना नहीं जा सकता, क्योंकि 'अहमद्वितीयः', 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्यादि अनध्यस्त अहमाकार (अखण्डाकार) वृत्ति उसकी विरोधिनी है। वेदान्त-वाक्य यदि अविवक्षितार्थक या जपमात्र के उपयोगी मान लिए जाते हैं, तब "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस स्वाध्याय विधि के द्वारा उनके सविधि अध्ययन का विधान क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्म की प्रवृत्ति में अनुपयोगी अविवक्षितार्थक, या जपमात्र में उपयोगी 'हुम्'—इत्यादि शब्दों का भी स्वाध्यायाध्ययन-विधि के द्वारा ग्रहण माना जाता है। फलतः प्रकृत में संशय और प्रयोजन की सूचिका जिज्ञासा ही पद और वाक्य की मर्यादा के अनुसार विवक्षित है। ['शमदमादिसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा भवति'—इस प्रकार के विवक्षित वाक्य में जैसे 'जिज्ञासा' प्रधान है, वैसे ही 'ब्रह्म-जिज्ञासा'—इस पद में भी ब्रह्म की अपेक्षा जिज्ञासा प्रधान है]। यह जिज्ञासा अधिकार्य (आरम्भणीय) नहीं, क्योंकि इस वेदान्त-दर्शन के द्वितीयादि सूत्रों में कहीं भी इसका प्रतिपादन नहीं किया गया है। यदि किसी भी सूत्र में जिज्ञासा का आरम्भ या प्रतिपादन किया गया होता, तब 'जिज्ञासा' पद के समीप में पठित 'अथ' शब्द को आरम्भार्थक माना जा सकता था। जिज्ञासा का विशेषणीभूत ब्रह्म-ज्ञान अवश्य आरम्भणीय है, किन्तु 'अथ' शब्द के साथ उसका अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि पद के प्रधानभूत अर्थों का ही परस्पर अन्वय होता है, 'ब्रह्म-ज्ञान' प्रधान नहीं, अपितु जिज्ञासा का विशेषण है। जिज्ञासा का यहाँ मीमांसा अर्थ भी नहीं कर सकते कि "अथ योगानुशासनं" के समान उसका आरम्भ सम्भव हो जाता, क्योंकि 'जिज्ञासा' पद में 'सन्' प्रत्यय इच्छार्थक है, किन्तु 'मीमांसा' पद में 'सन्' प्रत्यय इच्छार्थक नहीं, अपितु स्वार्थमात्र का समर्पक है—'माङ् माने' अथवा 'मान पूजायां'—इस धातु से "मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य" (पा. सू. ३।१।६) इस सूत्र के द्वारा 'माङ्' धातु में 'ङ्' के स्थान पर 'न्' का निपातनतः आदेश और अभ्यास के विकारभूत इकार को दीर्घ करके

कार्यत्वात् । मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् । अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः

भामती

वचनत्वात् । ज्ञानेच्छावाचकत्वाज्जिज्ञासापदस्य, प्रवर्त्तिका हि मीमांसायां जिज्ञासा स्यात् । न च प्रवर्त्य-प्रवर्त्तकयोरैक्यम् , एकत्वे तद्भावानुपपत्तेः । न च स्वार्थपरत्वस्योपपत्तौ सत्यामन्यार्थपरत्वकल्पना युक्ताऽतिप्रसङ्गात् । तस्मात् सुष्ठूक्तं जिज्ञासाया अनधिकार्य्यत्वादिति ।

अथ मङ्गलार्थोऽथशब्दः कस्मान्न भवति ? तथा च मङ्गलहेतुत्वात् प्रत्यहं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येति सूत्रार्थः सम्पद्यत इत्याह ॐ मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् ॐ । पदार्थ एव हि वाक्यार्थे समन्वीयते, स च वाच्यो वा लक्ष्यो वा । न चेह मङ्गलमथशब्दस्य वाच्यं वा लक्ष्यं वा, किन्तु मृदङ्गशङ्खध्वनिवदथशब्दश्रवणमात्रकार्यम् । न च कार्यज्ञाप्ययोर्वाक्यार्थे समन्वयः शब्दव्यवहारे दृष्ट इत्यर्थः ॥ तत्किमिदानीं मङ्गलार्थोऽथशब्दस्तेषु तेषु न प्रयोक्तव्यः । तथा च—

"ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥"

इति स्मृतिव्याकोप इत्यत आह ॐ अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति ॐ । अर्थान्तरेषु आनन्तर्यादिषु प्रयुक्तोऽथशब्दः श्रुत्या श्रवणमात्रेण वेणुवीणाध्वनिवद् मङ्गलं कुर्वन् मङ्गलप्रयो-

भामती-व्याख्या

'मीमांसा' शब्द बनाया गया है, जिसका रूढ़ अर्थ 'पूजित विचार' है। 'मान्बध'—इस सूत्र के द्वारा 'सन्' प्रत्यय इच्छा में नहीं किया गया, क्योंकि इस सूत्र के उत्तरवर्ती "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" (पा. सू. ३।१।७) इस सूत्र के द्वारा इच्छा में 'सन्' का विधान करना यह सिद्ध करता है कि इस सूत्र के पूर्ववर्ती 'मान्बध'—इस सूत्र से विहित सन् इच्छार्थक नहीं और 'जिज्ञासा' में सन् इच्छार्थक है—'ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा'। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तक और मीमांसा (विचार) प्रवर्त्य है। प्रवर्तक और प्रवर्त्य—दोनों अभिन्न नहीं हो सकते, अन्यथा उनमें प्रवर्त्य-प्रवर्तकभाव ही नहीं बन सकेगा। 'मीमांसा' शब्द में जब स्वार्थपरक 'सन्' प्रत्यय की उपपत्ति हो सकती है, तब अन्य अर्थ में 'सन्' का तात्पर्य मानना युक्ति-युक्त नहीं, अन्यथा स्वार्थपरक प्रत्यय का विधान ही व्यर्थ हो जायगा। अतः भाष्यकार ने जो कहा है—'जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्' वह बहुत सोच-समझ कर कहा है।

सूत्रोपात्त 'अथ' शब्द का मंगल अर्थ क्यों न मान लिया जाय ? 'मंगल की साधिका होने के कारण ब्रह्म-जिज्ञासा प्रतिदिन करनी चाहिए'—ऐसा सूत्र का अर्थ किया जा सकता है। इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है—"मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् ।" वाक्य-घटक पद के अर्थ का ही वाक्यार्थ में अन्वय हुआ करता है, वह अर्थ 'पद'-का वाच्य होता है या लक्ष्य। मंगलरूप अर्थ न तो 'अथ' पद का वाच्य है और न लक्ष्य, किन्तु जैसे मृदङ्ग और शङ्खादि की ध्वनि श्रवणमात्र से मंगलार्थक मानी जाती है, वैसे ही 'अथ' शब्द के श्रवणमात्र का कार्य मंगल होता है। पद के वाच्य या लक्ष्यभूत अर्थ का ही वाक्यार्थ में अन्वय होता है, पद के कार्य या ज्ञाप्य अर्थ का नहीं यह शाब्दिक मर्यादा है। यदि कहा जाय कि इस प्रकार तो कहीं भी मङ्गल के लिए 'अथ' शब्द का प्रयोग ही न हो सकेगा, किन्तु स्मृतिकारों ने 'अथ' शब्द का मङ्गलार्थक प्रयोग माना है—

"ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

इस स्मृति वाक्य के विरोध का परिहार किया जाता है—"अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति" अर्थात् आनन्तर्यादि अर्थों का बोध कराने के लिए भी प्रयुक्त

श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्।

भामती

जनो भवति, अन्यार्थमानीयमानोदकुम्भदर्शनवत्। तेन न स्मृतिव्याकोपः। न चेहानन्तर्यार्थस्य सतो न श्रवणमात्रेण मङ्गलार्थतेत्यर्थः। स्यादेतत्—पूर्वप्रकृतापेक्षोऽथशब्दो भविष्यति विनैवानन्तर्यार्थत्वम्। तद्यथेममेवाथशब्दं प्रकृत्य विमृश्यते, किमयमथशब्द आनन्तर्येऽथाधिकारे इति? अत्र विमर्शवाक्येऽथशब्दः पूर्वप्रकृतमथशब्दमपेक्ष्य प्रथमपक्षोपन्यासपूर्वकं पक्षान्तरोपन्यासे। न चास्यानन्तर्यमर्थः, पूर्वप्रकृतस्य प्रथमपक्षोपन्यासेन व्यवायात्। न च पूर्वप्रकृतानपेक्षा, तदनपेक्षस्य तद्विषयत्वाभावेनासमानविषयतया विकल्पानुपपत्तेः, न हि जातु भवति किं नित्य आत्मा, अथानित्या बुद्धिरिति? तस्मादानन्तर्यं विना पूर्वप्रकृतापेक्ष इहाथशब्दः कस्मान्न भवतीत्यत आह ॐपूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्ॐ। अस्यायमर्थः—न वयमानन्तर्यार्थतां व्यसनितया रोचयामहे, किन्तु ब्रह्मजिज्ञासाहेतुभूतपूर्वप्रकृतसिद्धये। सा च पूर्वप्रकृतार्थापेक्षत्वेऽप्यथशब्दस्य सिध्यतीति व्यर्थ आनन्तर्यार्थत्वावधारणाग्रहोऽस्माकमिति। तदिदमुक्तं,

भामती–व्याख्या

'अथ' शब्द श्रवणमात्र से वीणादि की ध्वनि के समान ही मङ्गलरूप प्रयोजन का वैसे ही साधक हो जाता है, जैसे कि कोई कन्या अपने माता-पिता की प्यास बुझाने के लिए जल से भरा घट ला रही है, यद्यपि वह घट मङ्गलरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं लाया गया, तथापि उसके दर्शन मात्र से द्रष्टा पुरुष का मंगल सिद्ध हो जाता है, अतः 'अथ' शब्द का आनन्तर्य अर्थ मानने पर भी किसी प्रकार का उक्त स्मृति-वाक्य से विरोध नहीं होता, क्योंकि आनन्तर्य अर्थ में प्रयुक्त 'अथ' शब्द के श्रवणमात्र से मङ्गल नहीं होता—ऐसा नहीं, अपितु मङ्गल होता ही है।

शङ्का होती है कि आनन्तर्य और मङ्गल—इन दो अर्थों को छोड़ कर पूर्व प्रकृत पदार्थ के परामर्श (उपस्थापकत्व) में भी 'अथ' शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जैसे कि इसी 'अथ' शब्द को लेकर यह सन्देह होता है कि 'किमयमथशब्द आनन्तर्ये, अथ अधिकारे?' इस सन्देह-वाक्य में 'अथ' शब्द के लिए एक कोटि का उपन्यास करने के पश्चात् कोटयन्तर की उपस्थिति कराने के लिए पूर्व प्रकृत 'अथ' शब्द का उपस्थापन 'अथ' पद के प्रयोग से किया गया है। यह 'अथ' पद आनन्तर्यार्थक नहीं, क्योंकि पूर्व प्रकृत 'अथ' शब्द और इस 'अथ' पद का आनन्तर्य (अव्यवहितोच्चारण) नहीं, अपितु 'आनन्तर्ये'—इस प्रकार प्रथम कोटि का उपन्यास कर देने से पूर्व प्रकृत 'अथ' शब्द अनन्तर (अव्यवहित) न रह कर व्यवहित हो जाता है। फलतः पूर्वप्रकृतापेक्षी 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक नहीं माना जा सकता। यह 'अथ' पद पूर्वप्रकृतापक्षी भी नहीं—ऐसा कहना सम्भव नहीं, अन्यथा उक्त वाक्य से संशय का लाभ न हो सकेगा, क्योंकि एक ही धर्मी में विरुद्ध दो कोटियों के आरोपण का नाम संशय होता है। यदि उक्त 'अथ' पद पूर्वप्रकृत का उपस्थापक न होकर अर्थान्तर का बोधक है, तब उक्त वाक्य का 'किमथशब्द आनन्तर्ये, अथवा अन्यशब्दः अधिकारे'? यह वाक्य संशय का वैसे ही बोधक नहीं माना जाता, जैसे कि 'किं नित्य आत्मा, अथ अनित्या बुद्धिः'। फलतः सूत्र में भी 'अथ' शब्द का प्रयोग आनन्तर्यार्थ में न मान कर पूर्व प्रकृत-परामर्शी क्यों न मान लिया जाय? इस शङ्का का समाधान है—"पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलतः आनन्तर्याव्यतिरेकात्।" इस भाष्य का तात्पर्य यह है कि हम यहाँ 'अथ' शब्द का प्रयोग जिस-किसी भी पदार्थ के आनन्तर्य अर्थ में नहीं करते, अपितु पूर्वप्रकृत की अपेक्षा से ही ब्रह्म-जिज्ञासा के लिए नियमतः पूर्व अपेक्षित कारण पदार्थ की सिद्धि करने के लिए 'अथ' शब्द का प्रयोग मानते हैं। यह प्रयोजन तो 'अथ' पद के पूर्वप्रकृतापेक्षी मानने पर

सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्।

भामती

फलत इति। परमार्थतस्तु कल्पान्तरोपन्यासे पूर्वप्रकृतापेक्षा, न चेह कल्पान्तरोपन्यास इति पारिशेष्यादानन्तर्यार्थ एवेति युक्तम्। भवत्वानन्तर्यार्थः किमेवं सतीत्यत आह ॐ सति चानन्तर्यार्थत्वे इति ॐ। न तावद्यस्य कस्यचिदत्रानन्तर्यमिति वक्तव्यं, तस्याभिधानमन्तरेणापि प्राप्तत्वाद्, अवश्यं हि पुरुषः किञ्चित् कृत्वा किञ्चित् करोति। न चानन्तर्यमात्रस्य दृष्टमदृष्टं वा प्रयोजनं पश्यामः। तस्मात्तस्यात्रानन्तर्यं वक्तव्यं यद्विना ब्रह्मजिज्ञासा न भवति, यस्मिन् सति तु भवन्ती भवत्येव। तदिदमुक्तम् ॐ यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते इति ॐ।

स्यादेतद्—धर्मजिज्ञासाया इव ब्रह्मजिज्ञासाया अपि योग्यत्वात् स्वाध्यायानन्तर्यं, धर्मवद् ब्रह्मणोऽप्याम्नायैकप्रमाणगम्यत्वात्। तस्य चागृहीतस्य स्वविषये जिज्ञासाजननात्, ग्रहणस्य च स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यध्ययनेनैव नियतत्वात्। तस्माद् वेदाध्ययनानन्तर्यमेव ब्रह्मजिज्ञासाया अथशब्दार्थ इत्यत आह ॐ स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानं धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः ॐ। अत्र च स्वाध्यायेन विषयेण तद्विषय-

---

भामती-व्याख्या

भी सिद्ध हो जाता है, अतः आनन्तर्यार्थकत्व का आग्रह हमारा नहीं, क्योंकि फलतः इन दोनों पक्षों में कोई अन्तर नहीं, विशेषता यहाँ इतनी अवश्य है कि पूर्वप्रकृतापेक्षी 'अथ' शब्द का प्रयोग पक्षान्तर (कोटयन्तर) के उपन्यास में होता है, यहाँ पर तो कोई कोटयन्तर का उपस्थापन नहीं किया जा रहा, अतः पारिशेष्यात् आनन्तर्यार्थ में 'अथ' शब्द का प्रयोग मानना चाहिए। 'अथ' शब्द का आनन्तर्य में प्रयोग मानने पर क्या लाभ ? इस प्रश्न का उत्तर है—"सति चानन्तर्यार्थत्वे"। आशय यह है कि जैसे "अथातो धर्मजिज्ञासा"—यहाँ 'अथ' शब्द पूर्वप्रकृतापेक्षा-सहगत आनन्तर्यार्थिक माना गया है, जैसा कि भाष्यकार शबरस्वामी कहते हैं—"तत्र लोकेऽयमथशब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः, तच्च वेदाध्ययनम्, तस्मिन् हि सति साऽवकल्पते" (जै. सू. १।१।१)। अर्थात् 'धर्म-जिज्ञासा' सूत्र का घटकीभूत 'अथ' शब्द आनन्तर्यार्थक होने पर भी जिस-किसी क्रिया के आनन्तर्य को स्वीकार नहीं करता, अपितु पूर्व-प्रकृत वेदाध्ययन के आनन्तर्य का अभिधान करता है, वैसे ही "अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा"—यहाँ पर भी 'अथ' शब्द के द्वारा उसी पदार्थ के आनन्तर्य की विवक्षा होती है, जिस पदार्थ के बिना ब्रह्म-जिज्ञासा सम्भव न होकर उस पदार्थ के अनुष्ठानान्तर ही उक्त जिज्ञासा पनप सके—इस आशय का स्पष्टीकरण किया जाता है—"यत् पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते"।

शङ्का होती है कि स्वाध्याय (वेद-शाखा) का अध्ययन कर लेने पर अध्येता पुरुष में जैसे यह योग्यता आ जाती है कि वह धर्म-जिज्ञासा (धर्म-विचार) कर सके, वैसे ही ब्रह्म-जिज्ञासा (ब्रह्म-विचार) की क्षमता भी उसमें आ जाती है, क्योंकि धर्म और ब्रह्म के प्रतिपादक वे ही वैदिक वाक्य होते हैं, जिनका वह अध्ययन (ग्रहण) "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस विधि के बल पर ही कर चुका है, अतः "अथातो धर्मजिज्ञासा" (जै. सू. १।१।१) इस सूत्र में 'अथ' शब्द का स्वाध्यायानन्तर्य अर्थ होता है, वैसे ही "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र. सू. १।१।१) इस सूत्र में भी 'अथ' शब्द का स्वाध्यायानन्तर्य ही अर्थ क्यों न मान लिया जाय ? इस शङ्का का समाधान किया गया है—"स्वाध्यायानन्तर्यं समानम्"। इस भाष्य में 'स्वाध्याय' पद स्वाध्यायविषयक अध्ययन का लक्षक है, क्योंकि स्वाध्याय (वेद) विषय और अध्ययन विषयी है, विषय-वाचक पद की विषयी में लक्षणा

नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः। न, धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्म-

भामती

मध्ययनं लक्षयति। तथा चाथातो धर्मजिज्ञासेत्यनेनैव गतमिति नेदं सूत्रमारब्धव्यम्। धर्मशब्दस्य वेदार्थमात्रोपलक्षणतया धर्मवद् ब्रह्मणोऽपि वेदार्थत्वाविशेषेण वेदाध्ययनानन्तर्योपदेशसाम्यादित्यर्थः।

चोदयति ❀ नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषो धर्मजिज्ञासातो ब्रह्मजिज्ञासायाः ❀। अस्यार्थः—'विविदिषन्ति यज्ञेन' इति तृतीयाश्रुत्या यज्ञादीनामङ्गत्वेन ब्रह्मज्ञाने विनियोगात्, ज्ञानस्यैव कर्मतयेच्छां प्रति प्राधान्यात्, प्रधानसम्बन्धाच्चाप्रधानानां पदार्थान्तराणाम्। तत्रापि च न वाक्यार्थज्ञानोत्पत्तावङ्गभावो यज्ञादीनां, वाक्यार्थज्ञानस्य वाक्यादेवोत्पत्तेः। न च वाक्यं सहकारितया कर्माण्यपेक्षत इति युक्तम्, अकृतकर्मणामपि विदितपदतदर्थसङ्गतीनां समधिगतशाब्दन्यायतत्त्वानां गुणप्रधानभूतपूर्वापरपदार्थाकाङ्क्षा-सन्निधियोग्यतानुसन्धानवतामप्रत्यूहं वाक्यार्थप्रत्ययोत्पत्तेः। अनुत्पत्तौ वा विधिनिषेधवाक्यार्थप्रत्ययाभावेन तदर्थानुष्ठानपरिवर्जनाभावप्रसङ्गः। तद्बोधतस्तु तदर्थानुष्ठानपरिवर्जने परस्पराश्रयः—तस्मिन् सति

भामती-व्याख्या

प्रायः हुआ ही करती है, जैसे 'धूमेन वह्निरनुमीयते' का अर्थ होता है—'धूमविषयकज्ञानेन वह्निरनुमीयते'। फलतः ब्रह्म-जिज्ञासा में स्वाध्यायाध्ययन का आनन्तर्य तो "अथातो धर्म-जिज्ञासा" (जै. सू. १।१।१) इस सूत्र से ही अवगत हो जाता है, उसके लिए "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र. सू. १।१।१) इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। "अथातो धर्म-जिज्ञासा"—इस सूत्र में 'धर्म' शब्द समस्त वेदार्थ का बोधक है, जैसा कि शालिकनाथ-मिश्र कहते हैं—"धर्मशब्दश्च वेदार्थमात्रपरः" (बृहतीपञ्चिका पृ. २०)। 'धर्म' और 'ब्रह्म'—दोनों समानरूप से वेदार्थ हैं, अतः इन दोनों में वेदाध्ययनानन्तर्य 'अथातो धर्म-जिज्ञासा'—इसी से प्राप्त है।

पूर्वपक्ष—यद्यपि वेदाध्ययन का आनन्तर्य धर्म और ब्रह्म—इन दोनों में समान है, तथापि धर्मजिज्ञासा की अपेक्षा ब्रह्म-जिज्ञासा में अपेक्षित कर्म-ज्ञान का आनन्तर्य अधिक है। आशय यह है कि "विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" (बृह. उ. ४।४।२२) इस वेद-वाक्य के 'यज्ञेन' इत्यादि पदों में प्रयुक्त तृतीया विभक्तिरूप श्रुति ब्रह्मज्ञान में ही यज्ञादि कर्मों का अङ्गत्वेन विनियोग करती है, इच्छा में नहीं, क्योंकि यद्यपि विविदिषा पद वेदन (ज्ञान) और ज्ञानकर्मक इच्छा - इन दोनों का बोधक है, तथापि साध्यार्थ (कर्मार्थ) अभीप्सित होने के कारण इच्छा की अपेक्षा भी प्रधान ही माना जाता है, प्रधान पदार्थ के साथ ही करणादि रूप अङ्गपदार्थों का अन्वय होता है। ज्ञान भी परोक्ष और अपरोक्ष—दो प्रकार का होता है, यज्ञादि अङ्गों का विनियोग वाक्यार्थविषयक परोक्ष ज्ञान में नहीं होता, क्योंकि वह ज्ञान तो यज्ञादि कर्मों की अपेक्षा नहीं करता, केवल वाक्य के श्रवणमात्र से उत्पन्न हो जाता है। 'वाक्य अपनी सहायता के लिए कर्म की अपेक्षा करता है'—ऐसा कहना भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जिन व्यक्तियों ने किसी प्रकार के यज्ञादि कर्म का अनुष्ठान नहीं किया, जिन्हें केवल पदों और पदार्थों की संगति का ज्ञान है, शाब्दबोधो-पयोगी युक्तियों का तात्त्विक ज्ञान है, गुणप्रधानभूत पूर्वापर-प्रयुक्त पदों में आकांक्षा, योग्यता और सन्निधिरूप शाब्द सामग्री का भली-भाँति स्मरण है, ऐसे व्यक्तियों को वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न हो जाता है। कर्मानुष्ठान के बिना यदि वाक्य-श्रवण से वाक्यार्थ-बोध नहीं होता, तब विहित कर्मों के प्रवर्तक और निषिद्ध कर्मों के निवर्तक वाक्यों से बोध न होने के कारण विहित कर्मों का अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों का परित्याग कैसे होगा? यदि कर्मानुष्ठान से वाक्यार्थ-बोध और वाक्यार्थ-बोध से कर्मानुष्ठान माना जाता है, तब विस्पष्ट

भामती

तदर्थानुष्ठानपरिवर्जनं ततश्च तद्‌बोध इति। न च वेदान्तवाक्यानामेव स्वार्थप्रत्यायने कर्मापेक्षा, न वाक्यान्तराणामिति साम्प्रतम्, विशेषहेतोरभावात्। ननु तत्त्वमसीतिवाक्यात् त्वंपदार्थस्य कर्तृभोक्तृरूपस्य जीवात्मनो नित्यशुद्धबुद्धोदासीनस्वभावेन तत्पदार्थेन परमात्मनैक्यमशक्यं द्रागित्येव प्रतिपत्तुम्, आपाततोऽशुद्धसत्त्वैर्योग्यताविरहनिश्चयात्। यज्ञतपोदानतनूकृतान्तर्मलास्तु विशुद्धसत्त्वाः श्रद्दधाना योग्यतावगमपुरःसरं तादात्म्यमवगमिष्यन्तीति चेत्, तत्किमिदानीं प्रमाणकारणं योग्यतावधारणमप्रमाणात्कर्मणो वक्तुमध्यवसितोऽसि? प्रत्यक्षाद्यतिरिक्तं वा कर्मापि प्रमाणम्? वेदान्ताविरुद्धतन्मूलन्यायबलेन तु योग्यतावधारणे कृतं कर्मभिः? तस्मात् तत्त्वमसीत्यादेः श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा तन्मूलया चोपपत्त्या व्यवस्थाप्य तदुपासनायां भावनापराभिधानायां दीर्घकालनैरन्तर्यवत्यां ब्रह्मसाक्षात्कारफलायां यज्ञादीनामुपयोगः। यथाहुः—"स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः"

भामती–व्याख्या

रूप में अन्योऽन्याश्रयता दोष प्रसक्त होता है। 'केवल वेदान्त-वाक्यों को ही कर्मानुष्ठान की अपेक्षा है, अन्य (कर्मादिपरक) वाक्यों को नहीं'—ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि जब सभी वैदिक वाक्यों में स्वार्थ-समर्पण की प्रणाली में कोई अन्तर नहीं, तब कतिपय वाक्यों को ही कर्मानुष्ठान की अपेक्षा क्यों?

इसका उत्तर यह है कि "तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) इत्यादि वाक्यों के द्वारा त्वं-पदार्थरूप कर्तृत्वभोक्तृत्वादि धर्मों से युक्त जीवात्मा का नित्य, शुद्ध, बुद्ध, उदासीनस्वरूप तत्पदार्थभूत परमात्मा के साथ अभेद-बोध सहसा किसी भी श्रोता पुरुष को नहीं होता, क्योंकि 'जीव में परमात्मरूपता की योग्यता ही नहीं'—इस प्रकार के योग्यताभाव का निश्चय सहजतः सभी पुरुषों को होता है। किन्तु यज्ञ, तप और दानादि शुभ कर्मों के अनुष्ठान से जिनके अन्तःकरण का मल-विक्षेपादि दोष क्षीण हो जाता है, ऐसे विशुद्ध अन्तःकरणवाले श्रद्धालु पुरुषों को जीव में ब्रह्मभाव की योग्यता का निश्चय एवं उसके अनन्तर अभेद-बोध हो जाता है, इस प्रकार वेदान्त-वाक्यों को अपने अर्थ का बोध कराने में यज्ञादि कर्मों की अपेक्षा स्पष्ट हो जाती है। [श्री मण्डन मिश्र भी कहते हैं—"एवं च रागादिनिबन्धननैसर्गिकप्रवृत्तिभेदजिलयद्वारेण दृष्टेनैव कर्मविधय आत्मज्ञानाधिकारोपयोगिनः। तथा हि शान्तस्य दान्तस्य समाहितस्य चात्मनि दर्शनमुद्दिश्यते शक्यं च", (ब्र. सि. पृ. २७)]।

सिद्धान्त—जीव और ब्रह्म के अभेद में योग्यतावधारण की कारणता जो यज्ञादि में बताई गई, वहाँ जिज्ञासा होती है कि कर्मों को अप्रमाणभूत मानकर कारण माना गया है? अथवा प्रमाणरूप मानकर? प्रथम कल्प संगत नहीं, क्योंकि उक्त योग्यता का अवधारण (निश्चय या प्रमा ज्ञान) किसी प्रमा के करणीभूत प्रमाण का काम है, अप्रमाणभूत कर्मों का नहीं। "प्रमाणकारणं योग्यतावधारणम्" का अर्थ है—प्रमाणकारणकं (प्रमाणं कारणं यस्य, तत्) योग्यतावधारणम्। द्वितीय कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षादि परिगणित प्रमाणों में यज्ञादि कर्म की गणना किसी ने नहीं की, अतः कर्म को एक पृथक् प्रमाण मानना होगा। यदि वेदान्त के अविरुद्ध (उपक्रमादि) युक्तियों के बल पर उक्त योग्यता का अवधारण किया जाता है, तब कर्मों की क्या आवश्यकता? अतः 'तत्त्वमसि' इत्यादि शब्दों को सुनकर प्राप्त श्रुतमय (शाब्दबोधात्मक परोक्ष) ज्ञान के द्वारा जीव में ब्रह्मभाव की परोक्ष प्रतीति होती है। वेदान्तानुकूल उपक्रमादि युक्तियों के द्वारा उक्त अभेद व्यवस्थापित होता है। इस प्रकार श्रवण और मनन के पश्चात् अभेदविषयिणी निदिध्यासनरूप भावना की लोकोत्तर लता में ब्रह्म साक्षात्कारात्मक फल की निष्पत्ति करने के लिए यज्ञादि कर्मानुष्ठान के माध्यम से

भामती

इति । ब्रह्मचर्यतपःश्रद्धायज्ञादयश्च सत्कारः । अत एव श्रुतिः "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति । विज्ञाय तर्कोपकरणेन शब्देन प्रज्ञां भावनां कुर्वीतेत्यर्थः । अत्र च यज्ञादीनां श्रेयःपरिपन्थिकल्मषनिबर्हणद्वारेणोपयोग इति केचित् । पुरुषसंस्कारद्वारेणेत्यन्ये । यज्ञादिसंस्कृतो हि पुरुष आदरनैरन्तर्यदीर्घकालैरासेवमानो ब्रह्मभावनामनाद्यविद्यावासनां समूलकाषं कषति । ततोऽस्य प्रत्यगात्मा सुप्रसन्नः केवलो विशदीभवति । अत एव स्मृतिः—'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' । 'यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः' इति च ॥

अपरे तु ऋणत्रयापाकरणेन ब्रह्मज्ञानोपयोगं कर्मणामाहुः । अस्ति हि स्मृतिः 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' इति ।

अन्ये तु 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुतिभ्यस्तत्तत्फलाय चोदि-

भामती–व्याख्या

दीर्घकालीन अभ्यास अपेक्षित है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" (यो० सू० १।१४) । ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा और यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना ही अभेद-भावना का सत्कार है । इस बोधक्रम की व्यवस्था स्वयं श्रुति कर रही है—"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" (बृह० उ० ४।४।२१) । अर्थात् युक्ति-सहकृत श्रुतिरूप शब्द के द्वारा विज्ञाय [उक्त अभेद का (परोक्ष) ज्ञान प्राप्त कर] भावनारूप प्रज्ञा में संलग्न हो जाय । इस भावना में यज्ञादि का उपयोग कुछ लोग कल्याण के विरोधी कल्मष (अन्तःकरणगत कालुष्य) के निबर्हण (नाश) में मानते हैं [श्री मण्डनमिश्र ने भी कहा है—"अन्ये तु मन्यन्ते अनवाप्तकामः कामोपहतमना न परमाद्वैतदर्शनयोग्यः । कर्मभिस्तु कृतकर्मनिबर्हणः सहस्रसंवत्सरपर्यन्तैः प्राजापत्यात् पदात् परमाद्वैतमात्मानं प्रतिपद्यते" (ब्र० सि० पृ० २७)] ।

कुछ लोग यज्ञादि कर्मों का उपयोग अधिकारी पुरुष को संस्कृत करने में मानते हैं, क्योंकि यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान से संस्कृत होकर अधिकारी व्यक्ति ब्रह्मभावना का श्रद्धापूर्वक निरन्तर दीर्घ समय तक अभ्यास करके अनादि अविद्या के भेदविषयक सुदृढ़ संस्कारों को समूल नष्ट कर डालता है, उसके अनन्तर ही उसका प्रत्यगात्मा सुप्रसन्न केवलीभूत ज्योति के रूप में जगमगा उठता है [श्री मण्डनमिश्र ने (ब्र० सि० पृ० २८ में) कहा है—"अन्ये तु पुरुषसंस्कारतयात्मज्ञानाधिकारसंस्पर्शं कर्मणां वर्णयन्ति—'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (मनु० २।२८), 'यस्यैते चत्वारिंशत् संस्कारा अष्टावात्मगुणाः' (गौ० ध० सू० ८।२२)] ।

अन्य आचार्य (देव-ऋण, पितृऋण और ऋषि-ऋण—इन) तीन ऋणों के उद्धार में कर्मानुष्ठान का उपयोग मानते हैं, जैसा कि स्मृतिकारों ने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ (मनु० ६।३५)

["जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" (तै० सं० ६।३।१०।५) यह श्रुति कहती है कि ब्राह्मण जन्म ही से तीन ऋणों का भाजन होता है, उनमें यज्ञादि ब्रह्मचर्य से ऋषि-ऋण, यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान से देव-ऋण तथा सन्तानोत्पत्ति से पितृऋण का उद्धार होता है । अतः उक्त तीन ऋणों को चुका कर ही ब्राह्मण को मोक्ष-मार्ग पर आरूढ होना चाहिए । [श्री मण्डनमिश्र कहते हैं कि "अन्येषां दर्शनम्—पृथक्कार्या एव सन्तः कर्मविधय आत्मज्ञानाधिकारमवतारयन्ति पुरुषम्, अनपाकृतर्णत्रयस्य तत्रानधिकाराद्—"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेदिति"] ।

भामती

तानामपि कर्मणां संयोगपृथक्त्वेन ब्रह्मभावनां प्रत्यङ्गभावमाचक्षते, क्रत्वर्थस्यैव खादिरत्वस्य वीर्य्यार्थताम्, एकस्य तूभयार्थत्वे संयोगपृथक्त्वमिति न्यायात् । अत एव पारमार्षं सूत्रम्—'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इति । यज्ञतपोदानादि सर्वं तदपेक्षा ब्रह्मभावनेत्यर्थः । तस्माच्छ्रुति श्रुत्यादयः प्रमाणं यदि वा पारमार्षं सूत्रं सर्वथा यज्ञादिकर्मसमुच्चिता ब्रह्मोपासना विशेषणत्रयवत्यनाद्यविद्यातद्वासनासमुच्छेदक्रमेण ब्रह्मसाक्षात्काराय मोक्षापरनाम्ने कल्पत इति तदर्थं कर्माण्यनुष्ठेयानि । न चैतानि दृष्टादृष्टसामवायिकारादुपकारहेतूभूतौपदेशिकातिदेशिकक्रमपर्य्यन्ताङ्गग्रामसहितपरस्परविभिन्नकर्मस्वरूपतदधिकारिभे-

भामती–व्याख्या

दूसरे आचार्यगण "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" (बृह० उ० ४।४।२२) इस श्रुति के बल पर संयोगपृथक्त्वन्याय के अनुसार यज्ञादि कर्मों का विधान ब्रह्मजिज्ञासा में वैसे ही मानते हैं, जैसे कर्म के अङ्गभूत खादिरत्व का "खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत"—इस श्रुति के द्वारा वीर्य-कामना में विनियोग माना जाता है। [श्रीमण्डन मिश्र भी कहते हैं—"अन्ये तु संयोगपृथक्त्वेन सर्वकर्मणामेवात्मज्ञानाधिकारानुप्रवेशमाहुः "विविदिषन्ति यज्ञेन" इति श्रुतेः" (ब्र० सि० पृ० २७)] । संयोग-पृथक्त्व का स्वरूप बताते हुए महर्षि जैमिनि कहते हैं—"एकस्य तूभयत्वे संयोग-पृथक्त्वम्" (जै० सू० ४।३।५) [भाष्यकार ने उसका स्पष्टीकरण उदाहरणों के द्वारा किया है कि "अग्निहोत्रं श्रूयते—"दध्ना जुहोति" (आप० श्रौ० सू० ६।१५) इति । पुनश्च "दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्" (तै० ब्रा० २।१।५।६) इति । तथाऽग्नीषोमीये पशावाम्नायते—"खादिरे बध्नाति" इति । पुनश्च खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्' इति । तत्र एकस्योभयत्वे नित्यत्वे नैमित्तिकत्वे च संयोगपृथक्त्वं कारणम्—एकः संयोगो दध्ना जुहोतीति, एको दध्नेन्द्रियकामस्येति" (शाबर० पृ० १२५०) । यहाँ संयोग का अर्थ 'वाक्य' है। एक ही क्रिया का दो प्रधान फलों के साथ भी अन्वय (साध्य-साधनभाव) माना जा सकता है, यदि उनके बोधक वाक्य पृथक्-पृथक् हैं] । प्रकृत में भी "यजेत स्वर्गकामः"—ऐसे वाक्यों के द्वारा यागादि में स्वर्गादि की साधनता और "विविदिषन्ति यज्ञेन" इस वाक्य के द्वारा यागादि कर्मों में आत्मज्ञान की साधनता अवबोधित होती है। अत एव हमारे ब्रह्मसूत्रकार ने भी कहा है—"सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" (ब्र० सू० ३।४।२६) । यहाँ यज्ञ, तप और दानादि क्रियाओं का 'सर्व' पद से ग्रहण किया गया है, उनकी अपेक्षा है जिस ब्रह्मभावना में, वह ब्रह्मभावना सर्वापेक्षा है। इस प्रकार चाहे 'यज्ञेन'—यहां तृतीया विभक्त्यादि श्रुतियों को विनियोजक प्रमाण माना जाय, चाहे परम ऋषि के "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः'—इस सूत्र को अङ्गाङ्गिभाव के प्रतिपादन में प्रमाण माना जाय, सर्वथा यह सिद्ध होकर रह जाता है कि यज्ञादि कर्मों से समुच्चित, (आदर नैरन्तर्य और दीर्घकाल—इन) तीन विशेषणों से युक्त ब्रह्मभावना अनादि अविद्या तथा तज्जन्य संस्कारों का समुच्छेद करती हुई मोक्षसंज्ञक ब्रह्मसाक्षात्कार को प्राप्त कराने में पूर्णतया सक्षम होती है, अतः उस (ब्रह्मज्ञान) के लिए कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। कर्मों का अनुष्ठान तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि दृष्ट (धान की भूसी उतारना आदि), अदृष्ट (प्रोक्षण और प्रयाजादि कर्मों से जनित पुण्यादि), सामवायिक (अवघातादि सन्निपत्योपकारक अङ्गभूत कर्म), आरादुपकार के हेतुभूत (द्रव्यादि से दूरस्थ परमापूर्व के उपकारक प्रयाजादि अङ्ग कर्म), औपदेशिक (विकृतिभूत कर्मों में प्रत्यक्षतः पठित शरमय बर्हिरादि). आतिदेशिक ('प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश वाक्य के द्वारा अवगमित अङ्ग), क्रमपर्यन्त (क्रम-प्राप्त) अङ्गों से युक्त परस्पर

भामती

वपरिज्ञानं विना शक्यान्यनुष्ठातुम् । न च धर्ममीमांसापरिशीलनं विना तत्परिज्ञानम् । तस्मात् साधूक्तं 'कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः' इति । कर्मावबोधेन हि कर्मानुष्ठानसाहित्यं भवति ब्रह्मोपासनाया इत्यर्थः ।

तदेतन्निराकरोति ❀ न ❀ । कुतः ? ❀कर्मावबोधात् प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः❀ । इदमत्राकूतम्—ब्रह्मोपासनया भावनापराभिधानया कर्माण्यपेक्ष्यन्त इत्युक्तं, तत्र ब्रूमः—क्व पुनरस्याः कर्मापेक्षा ? किं कार्य्ये, यथाऽऽग्नेयादीनां परमापूर्वे चरमभाविफलानुकूले जनयितव्ये समिदाद्यपेक्षा ? स्वरूपे वा, यथा तेषामेव द्विरवत्तपुरोडाशादिद्रव्याग्निदेवताद्यपेक्षा ? न तावत् कार्य्ये, तस्य विकल्पासहत्वात् । तथा हि—ब्रह्मोपासनाया ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारः कार्य्यमभ्युपेयः, स चोत्पाद्यो वा स्यात्, यथा संयवनस्य पिण्डः । विकार्य्यो वा, यथाऽवघातस्य व्रीहयः । संस्कार्य्यो वा, यथा प्रोक्षणस्योलूखलादयः । प्राप्यो वा, यथा दोहनस्य पयः । न तावदुत्पाद्यः, न खलु घटादिसाक्षात्कार इव जडस्वभावेभ्यो घटादिभ्यो भिन्न इन्द्रियाद्याधेयो ब्रह्मसाक्षात्कारो भावनाधेयः सम्भवति ब्रह्मणोऽपराधीनप्रकाशतया

भामती-व्याख्या

भिन्नस्वरूपवाले कर्म एवं उनके अधिकारी (फल-भोक्ता) पुरुषों के भेद का यथावत् ज्ञान नहीं होता, और धर्म-मीमांसा शास्त्र का परिशीलन किए बिना कथित कर्म-भेद का ज्ञान नहीं हो सकता । फलतः जो यह कहा गया कि "कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः", वह अत्यन्त उचित है अर्थात् कर्म-ज्ञान का आनन्तर्य ब्रह्म-जिज्ञासा में अत्यावश्यक है । पहले जो कहा गया कि कर्मानुष्ठान-साहित्य ब्रह्मभावना में विवक्षित है, वह कर्म-ज्ञान के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है ।

उत्तर-पक्ष—कथित पूर्व-पक्ष का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"न, कर्मावबोधात् प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः ।" सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि जो यह कहा गया है कि ब्रह्म की उपासना (भावना) कर्मानुष्ठान की अपेक्षा करती है, वहाँ जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मोपासना को कर्मानुष्ठान की अपेक्षा किस अंश में है ? (१) क्या ब्रह्मोपासना को अपने कार्यभूत ब्रह्मज्ञान की सिद्धि करने के लिए कर्मानुष्ठान की वैसे ही अपेक्षा है, जैसे कि दर्शपूर्णमास-घटक आग्नेयादि छः प्रधान कर्मों को अपने कार्यभूत परमापूर्व से अन्तिम (स्वर्गादिरूप) फल की निष्पत्ति करने के लिए 'समिध्, तनूनपात, इडा, बर्हिः और स्वाहाकार'—इन नामों से प्रख्यात पाँच प्रयाज कर्मों की अपेक्षा होती है ? (२) अथवा जैसे आग्नेयादि कर्मों को ही अपने स्वरूप का लाभ करने के लिए द्विरवत्त (दो बार काटे गये) पुरोडाश के दो टुकड़ों और अग्न्यादिरूप देवता की अपेक्षा होती है, वैसे ही ब्रह्मभावना को अपने स्वरूप की सम्पत्ति करने के लिए कर्मानुष्ठान की अपेक्षा होती है ?

प्रथम कल्प के अनुसार ब्रह्मोपासना को अपने कार्य का लाभ करने के लिए कर्मानुष्ठान की अपेक्षा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि तब तो ब्रह्म-साक्षात्कार को ब्रह्म-भावना का कार्य मानना होगा । सभी कार्य चार प्रकार के होते हैं—(१) उत्पाद्य, (२) विकार्य, (३) संस्कार्य और (४) प्राप्य । आटा सानने से जो पिण्ड (बाटी) बनता है, वह उत्पाद्य कार्य है । धानों के छिलके उतार देने से जो चावल बनाए जाते हैं, वे विकार्य-भूत कार्य हैं । "व्रीहीन् प्रोक्षति"—इत्यादि विधि के द्वारा विहित प्रोक्षण कर्म से संस्कृत व्रीह्यादि को संस्कार्य तथा गौ को दुहने से प्राप्त दूध को प्राप्य कार्य कहा जाता है । इनमें ब्रह्म-साक्षात्कार को उत्पाद्यरूप कार्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि जैसे जडस्वरूप घटादि पदार्थों का साक्षात्कार घटादि से भिन्न इन्द्रिय-साध्य माना जाता है, वैसे ब्रह्म-साक्षात्कार को भावना-साध्य नहीं माना जा सकता, अपितु स्वयंप्रकाशात्मक ब्रह्म का साक्षात्कार ब्रह्मरूप

भामती

तत्साक्षात्कारस्य तत्स्वाभाव्येन नित्यत्वयोत्पाद्यत्वानुपपत्तेः। ततो भिन्नस्य वा भावनाधेयस्य साक्षात्कारस्य प्रतिभासप्रत्ययवत्संशयाक्रान्ततया प्रामाण्यायोगात्। तद्विषयस्य तत्सामग्रीकस्यैव बहुलं व्यभिचारोपलब्धेः। न खल्वनुमानविबुद्धं वह्निं भावयतः शीतातुरस्य शिशिरभरमन्थरतरकायकाण्डस्य स्फुरज्ज्वालाजटिलानलसाक्षात्कारः प्रमाणान्तरेण संवाद्यते, विसंवादस्य बहुलमुपलम्भात्। तस्मात् प्रामाणिकसाक्षात्कारलक्षणकार्यभावात्रोपासनाया उत्पाद्ये कर्मापेक्षा। न च कूटस्थनित्यस्य सर्वव्यापिनो ब्रह्मण उपासनातो विकारसंस्कारप्राप्तयः सम्भवन्ति। स्यादेतत्—मा भूद् ब्रह्मसाक्षात्कार उत्पाद्यादिरूप उपासनायाः, संस्कार्यस्त्वनिर्वचनीयानाद्यविद्याद्वयापिधानापनयनेन भविष्यति, प्रतिसीरापिहिता नर्तकीव प्रतिसीरापनयद्वारा रङ्गव्यापृतेन। तत्र च कर्मणामुपयोगः। ।एतावांस्तु विशेषः—प्रतिसीरापनये पारिषदानां नर्तकीविषयसाक्षात्कारो भवति। इह तु अविद्यापिधानापनयमात्रमेव नापरमुत्पाद्यमस्ति। ब्रह्मसाक्षात्कारस्य ब्रह्मस्वभावस्य नित्यत्वेनानुत्पाद्यत्वात्।

अत्रोच्यते—का पुनरियं ब्रह्मोपासना? किं शाब्दज्ञानमात्रसन्ततिराहो निर्विचिकित्सशाब्दज्ञान-

भामती-व्याख्या

होने से नित्य है। नित्य पदार्थ की कभी भी उत्पत्ति नहीं होती, अतः उसे उत्पाद्य क्योंकर कहा जा सकेगा? ब्रह्मात्मक साक्षात्कार से भिन्न भावना-साध्य साक्षात्कार तो वैसा ही संशयाक्रान्त होता है, जैसा कि प्रतिभास (अनवधारणात्मक) ज्ञान, अतः उसे प्रमाण ही नहीं माना जा सकता, क्योंकि भावनाविषयविषयक और भावनारूप सामग्री से जनित ज्ञान प्रायः अपने विषय से व्यभिचरित ही पाए जाते हैं, जैसे कि हिमाच्छादित पर्वत-कन्दरा में भयङ्कर शीत से काँपता हुआ कोई व्यक्ति कभी अपनी अनुमित अग्नि की भावना (निरन्तर चिन्तना) करता-करता मूर्छित-सी अवस्था में जो अग्नि की विकराल ज्वाला का साक्षात्कार कर लेता है, वह प्रमाणभूत कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि वह अन्य किसी भी प्रमाण से संवादित नहीं, प्रत्युत उसका प्रायः विसंवादन (बाध) ही उपलब्ध होता है। फलतः भावना के द्वारा कोई प्रमाणरूप साक्षात्कारात्मक कार्य उत्पन्न नहीं किया जा सकता कि भावना को अपने कार्य में कर्मानुष्ठान की अपेक्षा मानी जा सके।

इसी प्रकार कूटस्थ, नित्य, सर्वत्र सर्वदा प्राप्त ब्रह्मतत्त्व का भावना (उपासना) के द्वारा कोई विकार, संस्कार या अप्राप्त-प्रापण भी नहीं किया जा सकता कि ब्रह्मरूप साक्षात्कार को विकार्य, संस्कार्य या प्राप्य कहा जा सकता।

शङ्का—ब्रह्मात्मक साक्षात्कार भले ही उत्पाद्य या विकार्य न हो, किन्तु संस्कार्य हो सकता है। जैसे रङ्ग-मञ्च पर किसी परदे के पीछे बैठी नर्तकी रङ्ग-व्यापृत नट के द्वारा परदा हटाए जाने पर दर्शकों को दिखने लग जाती है, वैसे ही अनादि अनिर्वचनीय द्विविध अविद्या का आवरण हटते ही चिति शक्ति जाज्वल्यमान हो जाती है, फलतः आवरण-निवर्तन-रूप संस्कार से संस्कृत ब्रह्मतत्त्व को संस्कार्य मानना सर्वथा न्याय-संगत है। आवरण की निवृत्ति में कर्मानुष्ठान की अपेक्षा होती है। दृष्टान्त से दार्ष्टान्त में इतना अन्तर है कि रङ्गस्थल पर पहले प्रतिसीर (परदे) के उठने पर रङ्गस्थ पुरुषों के द्वारा नर्तकी का साक्षात्कार होता है, किन्तु प्रकृत में ब्रह्म के अविद्यारूप आवरण की निवृत्ति मात्र होती है, अतः आवरण का नाश ही उत्पाद्य होता है, ब्रह्म-साक्षात्कार नित्य ब्रह्मरूप होने से उत्पाद्य नहीं होता।

समाधान—यह ब्रह्मोपासना क्या वस्तु है? क्या सामान्य शाब्द ज्ञान की अविरल धारा है? अथवा असंशयात्मक शाब्द-बोध की धारा? यदि सामान्य शाब्द ज्ञान की सन्तति

भामती

सन्ततिः ? यदि शाब्दज्ञानमात्रसन्ततिः, किमियमभ्यस्यमानाप्यविद्यां समुच्छेत्तुमर्हति ? तत्त्वविनिश्चयस्तदभ्यासो वा सवासनं विपर्य्यासमुन्मूलयेत्, न संशयाभ्यासः, सामान्यमात्रदर्शनाभ्यासो वा। नहि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति वाऽऽरोहपरिणाहवद्द्रव्यमिति वा शतशोऽपि ज्ञानमभ्यस्यमानं पुरुष एवेति निश्चयाय पर्य्याप्नुते विशेषदर्शनात्। ननूक्तं श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यत इति। तस्मान्निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसन्ततिरूपोपासना कर्मसहकारिण्यविद्याद्वयोच्छेदहेतुः। न चासावनुत्पादितब्रह्मानुभवा तदुच्छेदाय पर्य्याप्ता। साक्षात्काररूपो हि विपर्य्यासः साक्षात्काररूपेणैव तत्त्वज्ञानेनोच्छिद्यते, न तु परोक्षावभासेन। दिङ्मोहालातचक्रचलवृक्षमरुमरीचिसलिलादिविभ्रमेष्वपरोक्षावभासिषु अपरोक्षावभासिभिरेव दिगादितत्त्वप्रत्ययैर्निवृत्तिदर्शनात्। नो खल्वाप्तवचनलिङ्गादिविनिश्चितदिगादितत्त्वानां दिङ्मोहादयो निवर्त्तन्ते। तस्मात् त्वम्पदार्थस्य तत्पदार्थत्वेन साक्षात्कार एषितव्यः। एतावता हि त्वंपदार्थस्य दुःखिशोकित्वादिसाक्षात्कारनिवृत्तिर्नान्यथा।

न चैष साक्षात्कारो मीमांसासहितस्यापि शब्दस्य प्रमाणस्य फलम् अपि तु प्रत्यक्षस्य, तस्यैव तत्फलत्वनियमात्। अन्यथा कुटजबीजादपि वटाङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्मान्निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तःकरणं त्वंपदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकारनिषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयतीति युक्तम्। न चायमनुभवो ब्रह्मस्वभावो येन न जन्येत, अपि त्वन्तःकरणस्यैव वृत्तिभेदो ब्रह्मविषयः। न

भामती-व्याख्या

है, तब यह बार-बार अभ्यस्यमान होकर भी अविद्या की समुच्छेदिका क्योंकर होगी ? तत्त्वज्ञान का निश्चय अथवा उसका अभ्यास ही संस्कार-सहित विपर्यय (अविद्या) का उच्छेद कर सकता है। संशयात्मक ज्ञान का अभ्यास या वस्तुगत सामान्यांशमात्र के दर्शन का अभ्यास अध्यास का विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा ?' इस प्रकार का संशय अथवा 'कोई लम्बी-चौड़ी यह वस्तु है'— इस प्रकार का सामान्य-ज्ञान शतशः अभ्यस्यमान होकर भी 'पुरुष एव'—इस प्रकार के निश्चय का जनक नहीं होता, हाँ पुरुषत्व-व्याप्य कर-चरणादिरूप विशेष का दर्शन ही 'पुरुषोऽयम्'—ऐसा निश्चय करा सकता है।

शङ्का—यह कहा जा चुका है कि "तत्त्वमसि"—इत्यादि वाक्यों से जनित शाब्द के द्वारा जीव में ब्रह्मरूपता का ग्रहण होता है और मननरूप यौक्तिक ज्ञान के द्वारा कथित ब्रह्मभाव का दृढीकरण, उसके पश्चात् निदिध्यासनात्मक संशय-रहित शाब्द ज्ञान की सन्तति ही कर्मानुष्ठान से सहकृत होकर द्विविध अविद्या के उच्छेद का कारण मानी जाती है। कथित सन्ततिरूप ब्रह्म-भावना तब तक अविद्या का उच्छेद नहीं कर सकती, जब तक ब्रह्म-साक्षात्कार को उत्पन्न न करे, क्योंकि साक्षात्काररूप विपर्यय साक्षात्काररूप तत्त्व-निश्चय के द्वारा ही उच्छेदनीय होता है, परोक्ष ज्ञान के द्वारा नहीं। दिग्भ्रम, आलात-चक्र, वृक्षों की गतिशीलता, मरुमरीचिगत जलरूपतादि अपरोक्ष भ्रमों की अपरोक्षात्मक दिगादि तत्त्व-निश्चय के द्वारा ही निवृत्ति देखी जाती है, आप्त-वचन और लिङ्गादि से उत्पादित दिगादि के तत्त्व-ज्ञान के द्वारा नहीं।

यहाँ त्वम्पदार्थ (जीव) का ब्रह्मरूपेण साक्षात्कार विवक्षित है। उस साक्षात्कार के द्वारा ही त्वम्पदार्थरूप जीवगत दुःखशोकादिमत्त्व का साक्षात्कार निवृत्त होगा, अन्यथा नहीं। यह जीव की ब्रह्मरूपता का साक्षात्कार मीमांसा-सहित शब्द प्रमाण का फल नहीं, अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण का ही साक्षात्कार फल होता है, अन्यथा कुटज के बीज से भी वटाङ्कुर की उत्पत्ति होने लग जायगी। फलतः संशय-रहित शब्द-भावना से युक्त अन्तःकरणरूप प्रत्यक्ष प्रमाण अपरोक्षात्मक जीव में अब्रह्मरूपता का निषेध करके

भामती

चैतावता ब्रह्मणो नापराधीनप्रकाशता। नहि शाब्दज्ञानप्रकाश्यं ब्रह्म स्वयंप्रकाशं न भवति। सर्वोपाधिरहितं हि स्वयंज्योतिरिति गीयते, न तूपहितमपि। यथाह स्म भगवान् भाष्यकारः ❀ नायमेकान्तेनाविषयः इति ❀। न चान्तःकरणवृत्तावप्यस्य साक्षात्कारे सर्वोपाधिविनिर्मोकः। तस्यैव तदुपाधेरविनष्टस्वस्य स्वपरोपाधिविरोधिनो विद्यमानत्वात्। अन्यथा चैतन्यच्छायापत्तिं विनाऽन्तःकरणवृत्तेः स्वयमचेतनायाः स्वप्रकाशत्वानुपपत्तौ साक्षात्कारत्वायोगात्। न चानुमितभावितवह्निसाक्षात्कारवत्प्रतिभासत्वेनास्याप्रामाण्यं, तत्र वह्निस्वलक्षणस्य परोक्षत्वात्, इह तु ब्रह्मरूपस्योपाधिकलुषितस्य जीवस्य प्रागप्यपरोक्षत्वात्। नहि शुद्धबुद्धत्वादयो वस्तुतस्ततोऽतिरिच्यन्ते। जीव एव तु तत्तदुपाधिरहितः शुद्धबुद्धादिस्वभावो ब्रह्मेति गीयते। न च तत्तदुपाधिविरहोऽपि ततोऽतिरिच्यते। तस्माद्यथा गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारसचिवश्रोत्रेन्द्रियेण षड्जादिस्वरग्राममूर्च्छनाभेदमध्यक्षमनुभवति, एवं वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारो जीवस्य ब्रह्मभावमन्तःकरणेनेति।

अन्तःकरणवृत्तौ ब्रह्मसाक्षात्कारे जनयितव्येऽस्ति तदुपासनायाः कर्मापेक्षेति चेत्, न, तस्याः कर्मानुष्ठानेन सहभावाभावेन तत्सहकारित्वानुपपत्तेः। न खलु तत्त्वमसीत्यादेर्वाक्यार्थविचिकित्सं शुद्ध-

भामती—व्याख्या

ब्रह्मरूपता का आविर्भाव करा सकता है। यह जीव में ब्रह्मरूपता का अनुभव ब्रह्मस्वभाव नहीं कि उत्पन्न न किया जा सके। उक्त अनुभव अन्तःकरण की एक विशेष ब्रह्मविषयिणी वृत्ति है। इतने मात्र से ब्रह्म में अस्वप्रकाशता प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि शाब्द ज्ञान से प्रकाशित ब्रह्म स्वयंप्रकाश नहीं रहता—ऐसी बात नहीं। समस्त उपाधियों से रहित ब्रह्म ही स्वयंप्रकाश माना जाता है, उपाधि-युक्त नहीं, जैसा भगवान् भाष्यकार ने कहा है—"नायमेकान्तेनाविषयः"। अर्थात् यह ब्रह्माभिन्न जीव सर्वथा अविषय ही होता है—ऐसा नहीं, अपितु अहमाकार वृत्ति का विषय माना जाता है। अन्तःकरण की अखण्डाकार वृत्ति में ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर ब्रह्म समस्त उपाधियों से निर्मुक्त नहीं होता, क्योंकि अन्ततोगत्वा वह अखण्डाकार वृत्ति ही एक उपाधि होती है, भले ही वह वृत्ति नाशोन्मुख एवं स्वात्मक और परात्मक उपाधियों की विरोधिनी होती है। यदि उक्त वृत्ति को चिदात्मा की उपाधि न माना जाय, तब चैतन्य-तादात्म्यापत्ति के बिना अन्तःकरण की जड़रूप वृत्ति में प्रकाशकत्व ही न बनेगा। यह जो कहा गया कि अनुमित और भावित अग्नि के साक्षात्कार के समान ही उक्त ब्रह्म-साक्षात्कार भी एक अप्रमाणात्मक प्रतिभास ज्ञानमात्र है, वह उचित नहीं, क्योंकि अनुमिति-स्थल पर अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, अपितु परोक्ष ही होता है, किन्तु जीव कर्तृत्वादि उपाधियों से कलुषित होने पर भी वस्तुतः ब्रह्मरूपेण अपरोक्ष होता है। शुद्धत्व, बुद्धत्वादि धर्म चैतन्य तत्त्व से वस्तुतः भिन्न नहीं होते, जीव ही सभी उपाधियों से रहित होकर शुद्ध-बुद्धादिरूप ब्रह्म होता है। उपाधियों का अभाव भी चैतन्य से भिन्न नहीं होता, अतः जैसे गन्धर्व-शास्त्र से जनित ज्ञान के अभ्यास द्वारा आहित संस्कारों से युक्त श्रोत्र इन्द्रिय (१) निषाद, (२) ऋषभ, (३) गान्धार, (४) षड्ज, (५) मध्यम, (६) धैवत और (७) पञ्चम—इन सात स्वरों के भेद-प्रभेद-समूह और उसकी मूर्च्छना (उतार-चढ़ाव) का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है। वैसे ही वेदान्त-वाक्यार्थ ज्ञान के अभ्यास से जनित संस्कार वाला अन्तःकरण जीव में ब्रह्मभाव का साक्षात्कार कर लेता है। उक्त अन्तःकरण की वृत्तिरूप साक्षात्कार के उत्पादन में कर्मानुष्ठान की अपेक्षा होती है।

समाधान—उक्त ब्रह्म भावना में कर्मानुष्ठान का सहभाव सम्भव न होने के कारण कर्म-सहकारित्व उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि "तत्त्वमसि"—इत्यादि वाक्यों को

भामती

बुद्धोदासीनस्वभावमकर्त्तृत्वाद्युपेतमपेतब्राह्मणत्वादिजाति देहाद्यतिरिक्तमेकमात्मानं प्रतिपद्यमानः कर्मस्व-धिकारमवबोद्धुमर्हति । अनर्हश्च कथं कर्त्ता वाऽधिकृतो वा ? यद्युच्येत निश्चितेऽपि तत्त्वे विपर्य्यास-निबन्धनो व्यवहारोऽनुवर्त्तमानो दृश्यते, यथा गुडस्य माधुर्य्यविनिश्चयेऽपि पित्तोपहतेन्द्रियाणां तिक्तावभा-सानुवृत्तिः, आस्वाद्य थूत्कृत्य त्यागात् । तस्मादविद्यासंस्कारानुवृत्त्या कर्मानुष्ठानं, तेन च विद्यासह-कारिणा तत्समुच्छेद उपपत्स्यते । न च कर्माविद्यात्मकं कथमविद्यामुच्छिनत्ति, कर्मणो वा तदुच्छेदकस्य कुत उच्छेद इति वाच्यम्, सजातीयस्वपरविरोधिनां भावानां बहुलमुपलब्धेः । यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति, स्वयं च जीर्य्यति । यथा विषं विषान्तरं शमयति, स्वयं च शाम्यति । यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पायसि प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति । एवं कर्माविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराणि अपगमयत् स्वयमप्यपगच्छतीति ॥

अत्रोच्यते—सत्यं सदेव सोम्येदमित्युपक्रमात्तत्त्वमसीत्यन्तात् शब्दाद् ब्रह्ममीमांसोपकरणादसकृद-भ्यस्तात् निर्विचिकित्सेऽनाद्यविद्योपादानदेहाद्यतिरिक्तप्रत्यगात्मतत्त्वावबोधे जातेऽपि अविद्यासंस्कारानु-वृत्तावनुवर्त्तन्ते सांसारिकाः प्रत्ययास्तद्व्यवहाराश्च, तथापि तानयं व्यवहारप्रत्ययान् मिथ्येति मन्य-

भामती-व्याख्या

सुन कर जो पुरुष अपने को असन्दिग्धरूप से शुद्ध, बुद्ध और उदासीन, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्मों से रहित, देहादि से भिन्न जान लेता है, वह पुरुष कर्मानुष्ठान का अधिकारी अपने को कभी नहीं मान सकता । जिसका कर्म में अधिकार नहीं, वह कभी कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो सकता ।

शङ्का—यदि कहा जाय कि जीव में ब्रह्मरूपता का निश्चय हो जाने पर भी अध्यास-प्रयुक्त व्यवहार की अनुवृत्ति वैसे ही देखी जाती है, जैसे गुड़ में माधुर्य का निश्चय हो जाने पर भी पित्तरोग से दूषित इन्द्रियवाले व्यक्ति को गुड़गत तिक्तता की अनुवृत्ति होती है, क्योंकि वह गुड़ का स्वाद लेता हुआ उसका थूक देता है । अतः अविद्या-संस्कारों की अनुवृत्ति से कर्मानुष्ठान सम्भव हो जाता है, इस प्रकार कर्म-सहकृत विद्या के द्वारा अविद्या का उच्छेद हो जाता है । कर्म स्वयं अविद्यात्मक है, वह अविद्या का उच्छेद क्योंकर कर सकेगा ? अविद्या का जो कर्म उच्छेदक है, उस कर्म का उच्छेद किससे होगा ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसे बहुत-से पदार्थ देखे जाते हैं, जो स्व और पर—दोनों के निवर्तक होते हैं, जैसे दुग्धपान प्रथमतः पीत दूध को पचाता हुआ स्वयं पच जाता है । या एक विष को उतारने के लिए दिया गया अन्य विष पहले के विष को शान्त करता हुआ स्वयं भी शान्त हो जाता है । अथवा कतक नामक फल का चूर्ण पानी में डालने पर अन्य धूलि-कणों को नीचे बिठाता हुआ स्वयं भी बैठ जाता है । इसी प्रकार कर्म स्वयं अविद्यारूप होने पर भी अविद्या का नाश करता हुआ स्वयं अपना भी नाश कर डालता है [आचार्य मण्डन मिश्र भी कहते हैं—"यथा रजःसम्पर्ककलुषितमुदकं द्रव्यविशेषचूर्णरजः प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि संहरत् स्वयमपि संह्रिय-माणं स्वच्छां स्वरूपावस्थापुपनयति, एवमेव श्रवणादिभिर्भेददर्शने प्रविलीयमाने विशेषाभावात् तद्गते च भेद, स्वच्छे परिशुद्धे स्वरूपे जीवोऽवतिष्ठते । यथा पयः पयो जरयति स्वयं च जीर्यति । यथा च विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति" (ब्र. सि. पृ. १२-१३)] ।

समाधान—यह सत्य है कि "सदेव सोम्येदम्" (छां. उ. ६।२।१) यहाँ से लेकर "तत्त्वमसि" (छां. उ. ६।२।१) यहाँ तक का वेदान्त-प्रकरण जब ब्रह्ममीमांसारूप तर्क से उपोद्बलित होकर असंशयात्मक, अनादि अविद्यारूप उपादान के उपादेयभूत देहादि से भिन्न प्रत्यगात्मा का तत्त्वाववोध उत्पन्न कर देता है । तब भी अविद्या-जनित संस्कारों की अनुवृत्ति

भामती

मानी विद्वान्न श्रद्धत्ते पित्तोपहतेन्द्रिय इव गुडं थूत्कृत्य त्यजन्नपि तस्य तिक्तताम् । तथा चायं क्रियाकर्तृकरणेतिकर्त्तव्यताफलप्रपञ्चमतात्त्विकं विनिश्चिन्वन् कथमधिकृतो नाम ? विदुषो ह्यधिकारोऽन्यथा पशुशूद्रादीनामप्यधिकारो दुर्वारः स्यात् । क्रियाकर्त्रादिस्वरूपविभागं च विद्वस्यमान इह विद्वानभिमतः कर्मकाण्डे । अत एव भगवानविद्वद्विषयत्वं शास्त्रस्य वर्णयाम्बभूव भाष्यकारः । तस्माद्यथा राजजातीयाभिमानकर्तृके राजसूये न विप्रवैश्यजातीयाभिमानिनोरधिकारः, एवं द्विजातिकर्तृक्रियाकरणादिविभागाभिमानिकर्तृके कर्मणि न तदनभिमानिनोऽधिकारः । न चानधिकृतेन समर्थेनापि कृतं वैदिकं कर्म फलाय कल्पते वैश्यस्तोम इव ब्राह्मणराजन्याभ्याम् । तेन दृष्टार्थेषु कर्मसु शक्तः प्रवर्त्तमानः प्राप्नोतु फलं दृष्टत्वात् । अदृष्टार्थेषु तु शास्त्रैकसमधिगम्यं फलमनधिकारिणि न युज्यत इति नोपासनायाः कार्य्यं कर्मापेक्षा ।

स्यादेतत्—मनुष्याभिमानवदधिकारिके कर्मणि विहिते यथा तदभिमानरहितस्यानधिकारः । एवं निषेधविधयोऽपि मनुष्याधिकारा इति तदभिमानरहितस्तेष्वपि नाधिक्रियेत पश्वादिवत् । तथा चायं

भामती–व्याख्या

से संस्कारिक प्रतीतियों और व्यवहारों की अनुवृत्ति देखी जाती है । तथापि उन प्रतीतियों और व्यवहारों को अपने आचरण में लाता हुआ भी विद्वान् पुरुष उन्हें मिथ्या मानता है, उन पर वैसे ही श्रद्धा नहीं रखता, जैसे कि पित्तरोग से आक्रान्त व्यक्ति गुड़ का स्वाद लेकर थूकता हुआ भी उसकी तिक्तता पर विश्वास नहीं करता । अतः क्रिया, कर्त्ता, करण, इतिकर्तव्यता और फलादि प्रपञ्च अतात्त्विक है—ऐसा निश्चय कर लेनेवाला व्यक्ति कर्म-काण्ड का अधिकारी क्योंकर माना जा सकेगा ? क्योंकि क्रिया, कर्त्ता आदि प्रपञ्च सत्य है—इस प्रकार का निश्चय रखनेवाले (विद्वान्) पुरुष का ही कर्म में अधिकार माना जाता है । अन्यथा (वैसे ज्ञान की अपेक्षा न होने पर) पशु और शूद्रादि अज्ञानी प्राणियों का भी कर्म में अधिकार प्राप्त हो जायगा । यह एक वास्तविकता है कि क्रिया और कर्त्ता आदि विभाग का जानकार व्यक्ति ही कर्मकाण्ड का अधिकारी होता है । अत एव भगवान् भाष्यकार ने क्रिया, कर्त्ता आदि को वास्तविक समझनेवाले अविद्वान् (वस्तुतत्त्वानभिज्ञ) व्यक्ति को ही शास्त्र का अधिकारी कहा है । अतः जैसे क्षत्रियत्व-जाति का अभिमान रखनेवाले व्यक्ति के द्वारा सम्पादनीय 'राजसूय' कर्म में ब्राह्मणत्व या वैश्यत्व जाति के अभिमानवाले पुरुष का अधिकार नहीं माना जाता, वैसे ही द्विजाति क्रिया, कर्त्ता आदि विभाग के अभिमानी द्विजाति (केवल ब्रह्म, क्षत्रिय और वैश्य) के द्वारा सम्पादनीय वैदिक कर्मों में पशु और शूद्रादि का अधिकार नहीं माना जा सकता । अनधिकारी व्यक्ति के द्वारा किए जानेवाले वैदिक कर्म वैसे ही निष्फल माने जाते हैं, जैसे केवल वैश्य-द्वारा कर्त्तव्य वैश्यस्तोम कर्म यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय के द्वारा किया जाता है, तब वह निष्फल ही होता है । दृष्टफलक कृषि आदि कर्मों में कोई भी समर्थ व्यक्ति प्रवृत्त होकर फल प्राप्त कर सकता है, किन्तु शास्त्रैकसमधिगम्य स्वर्गादि अदृष्ट फल के जनकीभूत कर्मों का फल किसी अनधिकारी व्यक्ति को कभी नहीं प्राप्त हो सकता । फलतः उपासना-साध्य साक्षात्काररूप फल के सम्पादन में कर्मानुष्ठान की अपेक्षा नहीं ।

शङ्का—जैसे मनुष्याधिकारिक विहित कर्मों में मनुष्यत्वाभिमान-रहित प्राणियों का अधिकार नहीं, वैसे ही "न हिंस्यात्"—इत्यादि निषेध वाक्यों में भी मनुष्य ही अधिकारी माना जाता है, अतः मनुष्यत्वाभिमान-रहित व्यक्ति का वैसे ही अधिकार नहीं होना चाहिए, जैसे पशु-पक्षी आदि का । तब तो मनुष्यत्वाभिमान-रहित तत्त्ववेत्ता पुरुष को हिंसादि निषिद्ध

भामती

निषिद्धमनुतिष्ठन् न प्रत्यवेयात् तिर्य्यगादिवदिति भिन्नकर्मतापातः। नैवम्, न खल्वयं सर्वथा मनुष्याभिमानरहितः, किं त्वविद्यासंस्कारानुवृत्त्याऽस्य मात्रया तदभिमानोऽनुवर्त्तते। अनुवर्त्तमानं च मिथ्येति मन्यमानो न श्रद्धत्त इत्युक्तम्। किमतो यद्येवम्? एतदतो भवति—विधिषु श्राद्धोऽधिकारी नाश्राद्धः। ततश्च मनुष्याद्यभिमाने नश्रद्दधानो न विधिशास्त्रेणाधिक्रियते। तथा च स्मृतिरश्रद्धया हुतं दत्तमित्यादिका। निषेधशास्त्रं तु न श्रद्धामपेक्षते, अपि तु निषिध्यमानक्रियोन्मुखो नर इत्येव प्रवर्त्तते। तथा च सासांरिक इव श्रद्धावगतब्रह्मतत्त्वोऽपि निषेधमतिक्रम्य प्रवर्त्तमानः प्रत्यवैतीति न भिन्नकर्मदर्शनाभ्युपगमः। तस्मान्नोपासनायाः कार्य्ये कर्मापेक्षा। अत एव नोपासनोत्पत्तावपि निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानोत्पत्त्युत्तरकालमनधिकारः कर्मणीत्युक्तम्। तथा च श्रुतिः—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"।

तत्किमिदानीमनुपयोग एव सर्वथेह कर्मणाम्? तथा च "विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्याद्याः श्रुतयो विरुध्येरन्। न, आरादुपकारकत्वात् कर्मणां यज्ञादीनाम्। तथाहि—'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन' नित्यस्वाध्यायेन 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति' वेदितुमिच्छन्ति, न तु विदन्ति, वस्तुतः प्रधानस्यापि वेदनस्य प्रकृत्य-

भामती-व्याख्या

कर्मों का अनुष्ठान करने पर वैसे ही प्रत्यवाय (पापादि) नहीं होना चाहिए, जैसे पशु-पक्षी आदि तिर्यक् (मेरुदण्ड को धरातल के समानान्तर रखनेवाले) प्राणियों को। इस प्रकार एक ही कर्म किसी के लिए फलप्रद होता है और किसी के लिए नहीं। एवं किसी के लिए न्यून और किसी के लिए अधिक फल का वैसे ही समर्पक माना जायेगा जैसे ही एक ही स्वर्ग के लिए विहित अग्निहोत्र एवं ज्योतिष्टोम हैं तथापि इन दोनों कर्मों की गुरुता और लघुता को देखकर फल में भी वैसे ही मान-दण्ड की कल्पना की जाती है। इस प्रकार भिन्नकर्मता का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

समाधान—तत्त्ववेत्ता पुरुष सर्वथा मनुष्यत्वाभिमान से निर्लिप्त नहीं माना जाता, अपितु लेशाविद्या या अविद्या के अनुवर्तमान संस्कारों के आधार पर वैसा ही व्यावहारिक अभिमान भी रखता है भले ही उसे यह मिथ्या समझता हो (उस पर इसकी श्रद्धा न हो)। श्रद्धारहित होने के कारण विहितकर्मों में इसका अधिकार नहीं माना जाता। बिना श्रद्धा के किया हुआ कर्म फलप्रद नहीं होता जैसा कि कहा गया है—

"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥" (गी० १७।२८)

किन्तु निषेध-शास्त्रों की गति उसके विपरीत है। श्रद्धा या अश्रद्धा की वहाँ अपेक्षा नहीं होती, अपितु निषिद्धाचरणोन्मुख व्यक्ति ही उनका अधिकारी होता है। अतः तत्त्ववेत्ता पुरुष यदि निषिद्धाचरण करता है, तब उसे अवश्य प्रत्यवाय वैसे ही होगा जैसे कि एक सांसारिक व्यक्ति को। अतः विधिनिषेधशास्त्रों में किसी प्रकार का पक्षपात या भिन्नकर्मता प्रसक्त नहीं होती। फलतः उपासना के कार्य में कर्म की अपेक्षा किसी प्रकार नहीं। उपासना की उत्पत्ति में भी कर्म का उपयोग नहीं क्योंकि असंशयात्मक तत्त्वविषयक शाब्दज्ञानमात्र हो जाने के अनन्तर कर्मानुष्ठान का अधिकार समाप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" (महाना० उ० ८।१४)। तब क्या वेद-विहित कर्म सर्वथा अनुपयुक्त हैं? यदि हाँ, "तब विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादि श्रुतियों का विरोध उपस्थित होता है। इस प्रश्न का समाधान आचार्यों ने ऐसा किया है कि कर्मानुष्ठान का साक्षात् तत्त्वज्ञान में उपयोग नहीं किन्तु परम्परया उपयोग का प्रतिपादन किया गया है। "विविदिषन्ति

भामती

र्थतया शब्दतो गुणत्वाविच्छायाश्च प्रत्ययार्थतया प्राधान्यात् । प्रधानेन च कार्य्यसम्प्रत्ययात् । नहि राजपुरुषमानयेत्युक्ते वस्तुतः प्रधानमपि राजा पुरुषविशेषणतया शब्दत उपसर्जनमानीयतेऽपि तु पुरुष एव । शब्दतस्तस्य प्राधान्यात् । एवं वेदानुवचनस्येव यज्ञस्यापीच्छासाधनतया विधानम् । एवं तपसोऽनाशकस्य, कामानशनमेव तपः, हितमितमेध्याशिनो हि ब्रह्मणि विविदिषा भवति, न तु सर्वथाऽनश्नतो, मरणात् । नापि चान्द्रायणादितपःशीलस्य, धातुवैषम्यापत्तेः । एतानि च नित्यान्युपात्तदुरितनिबर्हणेन पुरुषं संस्कुर्वन्ति । तथा च श्रुतिः—"स ह वा आत्मयाजी यो वेद इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपचीयते" इति । अनेनेति प्रकृतं यज्ञादि परामृशति । स्मृतिश्च "यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः" इति । नित्यनैमित्तिकानुष्ठानप्रक्षीणकल्मषस्य च विशुद्धसत्त्वस्याविदुष एव उत्पन्नविविदिषस्य ज्ञानोत्पत्तिं दर्शयत्याथर्वणी श्रुतिः—'विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इति । स्मृतिश्च—"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः" इत्यादिका ।

क्लृप्तेनैव च नित्यानां कर्मणां नित्ये हि तेनोपात्तदुरितनिबर्हणेन पुरुषसंस्कारेण ज्ञानोत्पत्तावङ्गभावोपपत्तौ न संयोगपृथक्त्वेन साक्षादङ्गभावो युक्तः, कल्पनागौरवापत्तेः । तथाहि—नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पादः, ततः पाप्मा निवर्त्तते, स ह्यनित्याशुचिदुःखरूपे संसारे नित्यशुचिसुखख्यातिलक्षणेन विपर्य्यासेन

भामती–व्याख्या

यज्ञेन"—इस श्रुति में भी नित्यस्वाध्यायात्मक वेदानुवचन के द्वारा अवगत आत्मा के विशेष स्वरूप की विविदिषा कर्मानुष्ठान का फल माना जाता है, वेदन या तत्त्वज्ञान नहीं । यद्यपि वेदन तात्त्विकदृष्टि से प्रधान है तथापि 'सन्' प्रत्यय की प्रकृति का अर्थ होने के कारण अप्रधान माना जाता है और प्रधान का ही अन्वय अन्य पदार्थों के साथ होता है जैसे कि 'राजपुरुषमानय'—यहाँ पर पुरुष की अपेक्षा राजा प्रधान है तथापि आनयन आदि के साथ उसका अन्वय वाँछनीय नहीं, क्योंकि शब्दतः राजा की पुरुषविशेषणत्वेन उपस्थिति है स्वतन्त्रतया नहीं । पुरुषपदार्थ प्रधान होने के कारण आनयनादि के साथ अन्वित होता है । अतः वेदानुवचन के समान यज्ञादि कर्मों का भी वेदनविषयक इच्छा की साधनता के रूप में विधान माना जाता है । इसी प्रकार तप का भी इच्छा में विनियोग होता है । यथाकाम अनशन (यथेच्छ भोजनादि का ग्रहण न कर हित, मित और मेध्य पदार्थों का स्वल्पमात्रा में ग्रहण) तप कहलाता है । उसके द्वारा ही विविदिषा उत्पन्न होती है, सर्वथा अनशन से नहीं क्योंकि सर्वथा आहार-त्याग से प्राणियों का मरण हो जाता है । चान्द्रायण आदि क्लिष्ट तपों का भी विविदिषा में उपयोग नहीं, क्योंकि उनसे शरीरगत धातुवैषम्य हो जाने से मानसचिन्तन भी अस्त-व्यस्त हो जाता है । नित्यकर्म प्रस्तुत-दुरित की निवृत्ति के द्वारा पुरुष को संस्कृत करते हैं, जैसा कि श्रुति कहती है—"स ह वा आत्मयाजी यो वेद इदं मेऽनेनाऽङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपचीयते" (शत०ब्रा० ११।२।६।१३) । इस श्रुति में 'अनेन' पद के द्वारा प्रकृत यज्ञादि कर्मों का ग्रहण किया गया है । स्मृतिकार भी कहते हैं—यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः" (गौतमस्मृ० ८) । नित्य-नैमित्तिक-कर्मानुष्ठान के द्वारा जिसका पाप निवृत्त हो गया है किन्तु तत्त्वसाक्षात्कार नहीं हुआ ऐसे अधिकारी पुरुष को विविदिषा और उसके पश्चात् ज्ञान का लाभ श्रुति कहती है—"विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" (मुण्डक० ३।१।८)। नित्यकर्मों का पुरुषगत-दुरित-निवृत्तिरूप संस्कार के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति में जब उपयोग बन जाता है, तब संयोगपृथक्त्व-न्याय के द्वारा साक्षात् ज्ञान में नित्यकर्म का उपयोग मानना उचित नहीं । अतः यही क्रम सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि नित्यकर्मानुष्ठान से धर्म की उत्पत्ति और उससे उस पाप की निवृत्ति होती है

भामती

चित्तसत्त्वं मलिनयति, अतः पापनिवृत्तौ प्रत्यक्षोपपत्तिद्वारापावरणे सति प्रत्यक्षोपपत्तिभ्यां संसारस्यानित्याशुचिदुःखरूपतामप्रत्यूहमवबुध्यते, ततोऽस्यास्मिन्ननभिरतिसंज्ञं वैराग्यमुपजायते, ततस्तज्जिहासोपावर्त्तते, ततो हानोपायं पर्य्येषते, पर्य्येषमाणश्चात्मतत्त्वज्ञानमस्योपाय इत्युपश्रुत्य तज्जिज्ञासते, ततः श्रवणादिक्रमेण तज्जानातीत्यारादुपकारकत्वं तत्त्वज्ञानोत्पादं प्रति चित्तसत्त्वशुद्धया कर्मणां युक्तम् । इममेवार्थमनुवदति भगवद्गीता—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥"

एवं चाननुष्ठितकर्मापि प्राग्भवीयकर्मवशाद्यो विशुद्धसत्त्वः संसारासारतादर्शनेन निष्पन्नवैराग्यः कृतं तस्य कर्मानुष्ठानेन वैराग्योत्पादोपयोगिना, प्राग्भवीयकर्मानुष्ठानादेव तत्सिद्धेः । इममेव च पुरुषधौरेयभेदमधिकृत्य प्रववृते श्रुतिः—'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत्' इति । तदिदमुक्तम् ❀ कर्मावबोधात् प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः इति ❀ । अत एव न ब्रह्मचारिण ऋणानि सन्ति येन

भामती-व्याख्या

जिससे चित्तगत सत्त्व मलिन होकर अनित्य, अशुचि और दुःखरूप प्रपञ्च में नित्य, शुचि और सुखरूपता का भान करा देता है। कथित पाप की निवृत्ति हो जाने पर प्रत्यक्ष और उपपत्ति का द्वार उद्घाटित हो जाता है। और दृश्यमान प्रपञ्च में अनित्यत्वादि का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा एवं अदृष्ट जगत् में अनित्यत्वादि का बोध (उपपत्ति या युक्ति के द्वारा उपपन्न) हो जाता है। उसके पश्चात् संसार से अनभिरतिसंज्ञक वैराग्य हो जाता है। उस वैराग्य के आधार पर संसार की जिहासा (त्याग करने की इच्छा) समुद्भूत हो जाती है और संसार के सर्वथा परिहार का मार्ग पुरुष खोजने लगता है। आत्मतत्त्वसाक्षात्कार ही कर्तृत्वादि प्रपञ्च के परिहाण का उपाय है—ऐसा सुनकर उसकी जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है और आत्मा के श्रवण-मननादि में प्रवृत्त होकर आत्मज्ञान का लाभ कर लेता है। इस प्रकार चित्तशुद्धि के द्वारा कर्मों का परम्परया उपयोग भगवान् भी बताते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ (गी० ६।३)

[अन्तःकरणशुद्धिरूप वैराग्य के पद पर आरुरुक्षु (आरूढ़ होने के अभिलाषी) पुरुष के लिए कर्मानुष्ठान की उपयोगिता होती है अन्तःकरण-शुद्धिरूप योग पर आरूढ़ पुरुष का कर्त्तव्य केवल शम (संन्यास) रह जाता है]। जिस व्यक्ति ने इस जन्म में कर्मानुष्ठान नहीं किया, पूर्वजन्मोपार्जित धर्म के द्वारा ही जिस का बुद्धि-सत्त्व शुद्ध हो गया है, संसार की असारता का भान एवं वैराग्य उत्पन्न हो गया है, उस व्यक्ति के लिए कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिस वैराग्य की उत्पत्ति में कर्मानुष्ठान का उपयोग होता है, उसका लाभ तो उसे पहले ही हो चुका है। ऐसे ही विरक्त-शिरोमणि को उद्देश्य करके श्रुति कहती है—"यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् [नारदपरिव्राजकोपनिषत् (तृतीयोपदेश) में कहा है—"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् , गृहाद् वनीभूत्वा प्रव्रजेद् , यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा, यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ।" सारांश यह है कि वैराग्य पर ही संन्यास निर्भर है, जब भी वैराग्य उत्पन्न हो जाय तब ही परिव्रज्या ग्रहण की जा सकती है]। इसी भाव की अभिव्यक्ति भाष्यकार ने की है—"कर्मावबोधात् प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः"। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मचारी पर कथित जन्म-सिद्ध तीन ऋण नहीं होते, अतः उन ऋणों का उद्धार करने के लिए कर्मानुष्ठान अपेक्षित नहीं। यदि ब्रह्मचारी तीन ऋणों का ऋणी नहीं, तब "जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिर्ऋणवाजायते"

भामती

तदपाकरणार्थं कर्मानुतिष्ठेत् । एतदनुरोधाच्च 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' इति गृहस्थः सम्पद्यमान इति व्याख्येयम् । अन्यथा 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव' इति श्रुतिर्विरुध्येत । गृहस्थस्यापि च ऋणापाकरणं सत्त्वशुद्ध्यर्थमेव । जरामर्य्यवादो भस्मान्ततावादोऽन्त्येष्टयश्च कर्मजडानविदुषः प्रति, न त्वात्मतत्त्वपण्डितान् । तस्मात्तस्यानन्तर्य्यमथशब्दार्थो यद्विना ब्रह्मजिज्ञासा न भवति यस्मिंस्तु सति भवन्ती भवत्येव । न चेत्थं कर्मावबोधः । तस्मान्न कर्मावबोधानन्तर्य्यमथशब्दार्थ इति सर्वमवदातम् ।

स्यादेतत्—मा भूदग्निहोत्रयवागूपाकवदार्थः क्रमः, श्रौतस्तु भविष्यति, 'गृही भूत्वा वनी भवेत्'

भामती-व्याख्या

(तैं० सं० ३।१०) इस श्रुति की क्या व्यवस्था होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उक्त श्रुति का 'गृहस्थः सम्पद्यमानः'—ऐसा वाक्यशेष लगाकर यह अर्थ करना होगा कि 'जो ब्राह्मण गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाला है, उस पर ही वे तीन ऋण होते हैं, सब पर नहीं'। अन्यथा (ब्राह्मणमात्र को ऋणी मानने पर) "यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्"—इस श्रुति का विरोध उपस्थित होता है। गृहस्थ पुरुष के लिए भी जो कथित ऋणों की निवृत्ति के लिए कर्मानुष्ठान विहित है, उसका भी फल चित्तगत सत्त्व गुण की शुद्धि ही है। जरामर्यवाद [जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च । जरया ह वा एष एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च" (तैं० आ० १०।६४।१)। यहाँ पर श्री सायणाचार्य ने "जरामर्यम्' का अर्थ 'जरामरणावधिम्' किया है, अर्थात् अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास नाम के दोनों कर्म आहिताग्नि पुरुष को जीवनपर्यन्त करना है, अतः यह वह सत्र कर्म है, जो कि जरा-मरण-पर्यन्त किया जाता है], भस्मान्ततावाद [जिस व्यक्ति ने अग्न्याधान नहीं किया, वह यावज्जीवन सन्ध्या-वन्दनादि नित्य कर्मों का सम्पादन करता है और प्राणान्त हो जाने पर उसके शरीर का दाहसंस्कार (भस्मान्त) सम्पन्न किया जाता है] और अन्त्येष्टि संस्कार [किसी अग्निहोत्री पुरुष के मर जाने पर उसकी अन्तिम इष्टि इस प्रकार सम्पन्न की जाती है कि चिता में उसके शव को सीधा लिटाकर उसके मुख में घृत-पूर्ण स्रुक् (जुहू आदि), नासिका में स्रुवा, अधर अरणी को पैरों पर उत्तराणि को छाती पर, शूर्प (सूप) को वाम पार्श्व में चमस को दक्षिण पार्श्व में, मूसल और उलूखल को दोनों जाँघों के बीच में रखकर उसकी अग्नि से दाहसंस्कार किया जाता है—

तत्रोत्तानं निपात्यैनं दक्षिणशिरस्कं मुखे।
आज्यपूर्णां स्रुचं दद्याद् दक्षिणाग्रां नासि स्रुवम् ॥
पादयोरधरां प्राचीमरणीमुरसीतराम् ।
पार्श्वयोः शूर्पचमसे सव्यदक्षिणयोः क्रमात् ॥
मुसलेन सह न्युब्जमन्तरूर्वोरुलूखलम् ।
चात्रे विलीकमत्रैवमनश्रुनयनो विभीः ॥ (कात्या० स्मृ० ९)]

इत्यादि कर्मों का विधान कर्मकाण्ड के अन्धश्रद्धालु अज्ञानी व्यक्तियों के लिए ही है, आत्मतत्त्व के पण्डित पुरुषों के लिए नहीं, इस प्रकार कर्मावबोधानन्तर्य 'अथ' शब्द का अर्थ नहीं हो सकता, अतः ब्रह्म-जिज्ञासा में उस पदार्थ का आनन्तर्य प्रतिपादित करना होगा कि जिसके बिना ब्रह्म-जिज्ञासा सम्भव न होकर जिसके सम्पन्न होने पर ही हो सके। कर्मावबोध ऐसा नहीं कि जिसके बिना ब्रह्म-जिज्ञासा न हो सके, अतः कर्मावबोध का आनन्तर्य कभी भी 'अथ' शब्द का अर्थ नहीं हो सकता।

शङ्का—["अर्थाच्च" (जै० सू० ५।१।१) इस सूत्र में भाष्यकार श्री शबरस्वामी ने

जिज्ञासोपपत्तेः। यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः, क्रमस्य विवक्षितत्वात्

भामती

'वनी भूत्वा प्रव्रजेद्' इति जाबालश्रुतिर्गार्हस्थ्येन हि यज्ञाद्यनुष्ठानं सूचयति। स्मरन्ति च—

"अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥"

निन्दन्ति च—

"अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥" इति।

इत्यत आह ❀ यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः ❀। कुतः 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः' इत्यथाग्रशब्दाभ्यां क्रमस्य विवक्षितत्वात्, न तथेह क्रमो विवक्षितः, श्रुत्या

भामती–व्याख्या

कहा है—"अग्निहोत्रं जुहोतीति पूर्वमाम्नातम्, ओदनं पचतीति पश्चात्। अर्थाद् विपरीतः कार्यः"। पकी हुई यवागू (दलिया) अथवा पके चावल अग्निहोत्र कर्म की हवि होते हैं, अतः] कर्मानुष्ठान से पश्चात्पठित यवागू-पाक प्रयोजन (साध्य-साधनभाव) क्रम को लेकर पहले किया जाता है और उसके अनन्तर अग्निहोत्र कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। ऐसे ही वैदिक वाक्यों से अर्थावबोध न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव नहीं. अतः कर्मावबोध या वेदार्थावबोध के अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा का जो आर्थक्रम रखा जाता है, वह यदि अर्थ (प्रयोजन या साध्य-साधनभाव) के आधार पर नहीं माना जा सकता, तब श्रुति (आनन्तर्यार्थक 'क्त्वा' आदि शब्दों) के आधार पर वह क्रम वैसे ही मानना होगा, जैसा कि "वेदं कृत्वा वेदीं करोति" इत्यादि स्थलों पर माना जाता है, क्योंकि यहाँ भी "गृही भूत्वा वनी भवेद् , वनीभूत्वा प्रव्रजेत्" (जाबालो० ४) इस प्रकार जाबालोपनिषत् में 'गृहीभूत्वा'—इस 'क्त्वा' प्रत्ययरूप श्रुति के द्वारा गृहस्थ आश्रम का पालन करने के पश्चात् परिव्रज्या का क्रम प्रतिपादित है। 'गृही' पद के द्वारा कर्मानुष्ठान और 'परिव्रजति' पद से ब्रह्म-जिज्ञासा की सूचना की गई है। मनु जी भी कहते हैं—

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ (मनु० ६।३६)

[विधिवत् वेदाध्ययन, पुत्रोत्पत्ति और वनस्थ यज्ञादि-अनुष्ठान के द्वारा क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम सूचित किये गये हैं] केवल इतना ही नहीं, वेदाध्ययनादि के बिना मुमुक्षा सरणि का अनुसरण अधःपतन का कारण माना गया है—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ (मनु० ६।३७)

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः, क्रमस्य विवक्षितत्वात्, न तथेह क्रमो विवक्षितः"। पशु-याग के लिए हवि के निष्पादन का क्रम बताते हुए कहा गया है—"हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वाया, अथ वक्षसो यथाकामीतरेषाम्" (आप. श्रौ. सू. २४।२)। [स्वधिति नाम की छूरी के द्वारा छाग के हृदय का भाग सबसे अग्रे (पहले) उसके पश्चात् जिह्वा और जिह्वावदान के अनन्तर वक्षःस्थल का अवदान (टुकड़ा काटना) करना चाहिए]।

यहाँ पर 'अग्रे' और 'अथ' शब्दों के बल पर जैसे अवदान-क्रम की विवक्षा की जाती है, वैसे प्रकृत (गृहीभूत्वा प्रव्रजेत्—इस वाक्य) में कर्मावबोध और ब्रह्म-जिज्ञासा का पौर्वापर्य-

भामती

तथैवानियमप्रदर्शनात्—"यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद् वा" इति। एतावता हि वैराग्यमुपलक्षयति। अत एव "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" इति श्रुतिः। निन्दावचनं चाविशुद्धसत्त्वपुरुषाभिप्रायम्। अविशुद्धसत्त्वो हि मोक्षमिच्छन्नालस्यात्तदुपायेऽप्रवर्त्तमानो गृहस्थधर्ममपि नित्यनैमित्तिकमनाचरन् प्रतिक्षणमुपचीयमानपाप्माऽधोगतिं गच्छतीत्यर्थः।

स्यादेतत्—मा भूच्छ्रौत आर्थो वा क्रमः, पाठस्थानमुख्यप्रवृत्तिप्रमाणकस्तु कस्मान्न भवतीत्यत

भामती–व्याख्या

भाव विवक्षित नहीं, अन्यथा "यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा" (जाबालो. ४) इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित अनियम का सामञ्जस्य नहीं रहता। इस अनियम के द्वारा एकमात्र वैराग्य को परिव्रज्या में कारण ध्वनित किया गया है, श्रुति स्पष्ट कहती है— "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जाबालो. ४)। "अनधीत्य द्विजो वेदान्" इत्यादि निन्दा-वचन उस व्यक्ति के लिए लागू होते हैं, जिसका अन्तःसत्त्व अविशुद्ध है, क्योंकि अविशुद्धसत्त्ववाला व्यक्ति यदि मोक्ष की इच्छा करता है, तब वह आलस्य के कारण नित्यादि कर्मों का भी परित्याग कर बैठता है और शमादि का पालन भी नहीं करता, अतः प्रतिक्षण उपचीयमान पाप-राशि से दब कर अधोगति को प्राप्त होता है।

शङ्का–क्रम या पौर्वापर्यभाव के नियामक (१) श्रुति, (२) अर्थ, (३) पाठ, (४) स्थान, (५) मुख्य और (६) प्रवृत्ति नाम के छः प्रमाण मीमांसा दर्शन के पञ्चम अध्याय में वर्णित हैं [(१) क्रम या पूर्वापर काल के वाचक शब्द को यहाँ श्रुति पद से अभिहित किया गया है, जैसे "वेदं कृत्वा वेदीं करोति" इत्यादि स्थलों पर 'क्त्वा' प्रत्यय पूर्वकाल का वाचक होने के कारण 'श्रुति' कहलाता है, अतः एक मुट्ठी कुशा को बीच से मोड़-तोड़ कर एक गाँठ लगा दी जाती है, उसे वेद कहते हैं, वेद का निर्माण कर लेने के पश्चात् ही वेदी का निर्माण किया जाता है।

(२) 'अर्थ' शब्द प्रयोजन का वाचक है, प्रयोजन या साध्य-साधनभाव के आधार पर ओदनादि का पाक पहले और अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान पश्चात् किया जाता है।

(३) "समिधो यजति वसन्तमेवर्तूनामवरुन्धे, तनूनपातं यजति ग्रीष्ममेवावरुन्धे, इडो यजति वर्षा एवावरुन्धे, बर्हिर्यजति शरदमेवावरुन्धे, स्वाहाकारं यजति हेमन्तमेवावरुन्धे" (तै. सं. २।६।१।१) यहाँ पर समिधादिसंज्ञक पाँच प्रयाज कर्मों के विधायक पाँचों वाक्यों का पाठ जिस क्रम से है, उसी क्रम से उन कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, इस क्रम को पाठ-क्रम कहते हैं।

(४) ज्योतिष्टोम नाम के प्रकृतिभूत कर्म का अनुष्ठान पाँच दिनों में सम्पन्न होता है, अत एव उसके अङ्गभूत 'अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य'—इन तीन पशु-यागों का अनुष्ठान भिन्न-भिन्न दिनों में होता है—सर्वप्रथम अग्नीषोमीय पशु-याग का अनुष्ठान चतुर्थ दिन में, सवनीय पशु-याग का अनुष्ठान पञ्चम दिन प्रातःसवन के पश्चात् और आनुबन्ध्य-याग का अनुष्ठान पञ्चम दिन में ही अवभृथ कर्म के अनन्तर किया जाता है।

प्रकृति याग के सभी अङ्ग विकृति याग में लिए जाते हैं, किन्तु साद्यस्क्रसंज्ञक विकृति याग एक ही दिन में सम्पन्न किया जाता है। दीक्षादि सभी कृत्यों का सद्यः अनुष्ठान होने के कारण इस विकृति कर्म का नाम साद्यस्क्र है—"दीक्षादि सद्यः सर्वं क्रियते" (कात्या. श्रौ. सू. २२।३।२७)। कथित तीनों पशु-यागों का अनुष्ठान यहाँ एक ही सवन-काल में किया जाता है—"सह पशूनालभते" (कात्या. श्रौ. सू. २२।३।२८)। प्रकृति कर्म में सवन-काल सवनीय

तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्म-

भामती

आह ❀ शेषशेषित्वे प्रमाणाभावात् ❀। शेषाणां समिदादीनां शेषिणाञ्चाग्नेयादीनामेकफलवदुपकारोप-निबद्धानामेकफलावच्छिन्नानामेकप्रयोगवचनोपगृहीतानामेकाधिकारिकर्तृकाणामेकपौर्णमास्यमावस्याकालस-

भामती—व्याख्या

पशु-याग का स्थान माना जाता है, अतः 'स्थान' प्रमाण के आधार पर सवनीय पशु, उसके पश्चात् अग्नीषोमीय और अन्त में आनुबन्ध्य पशु का अनुष्ठान किया जाता है—"सौत्येऽहनि अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्यान् पशून् क्रमेण सहैव (तन्त्रेण) सवनीयकाले आलभेत। तत्र स्थानित्वात् सवनीयः स्वस्थान न जहाति, अग्नीषोमीयस्तु स्वस्थानात् प्रच्यावितः सवनीयात्पश्चाद् भवति" (कात्या. श्रौ. सू. व्या. २२।३।२८)।

(५) 'मुख्य' का अर्थ प्रधान है, प्रधान कर्म के क्रम से अङ्ग कर्मों का अनुष्ठान करना मुख्य-क्रम कहलाता है। जैसे कि दर्शयाग में तीन प्रधान कर्मों के तीन हवि द्रव्य होते हैं—(१) आग्नेय पुरोडाश, ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पयः। "प्रयाजशेषेण हवींषि अभिघारयति"—इस वाक्य के द्वारा प्रयाज-शेष (प्रयाज कर्मों के अनुष्ठान से बचे हुए घृत) से उक्त तीनों हवियों का अभिधारण विहित है। पहले किस हवि का अभिधारण होगा और पश्चात् किसका ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि प्रधान कर्मों का अनुष्ठान जिस क्रम से होता है, उसी क्रम से उनके हवियों का अभिधारण भी करना चाहिए। आग्नेय याग का अनुष्ठान पहले होता है, उसके पश्चात् ऐन्द्र याग का, अतः आग्नेय हवि (पुरोडाश) का अभिधारण पहले और उसके पश्चात् क्रमशः ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पयः का अभिधारण किया जाता है—इसी का नाम मुख्य-क्रम है।

(६) "सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते" (तै. ब्रा. ३।४।२) इस वाक्य के द्वारा प्रजापति देवता के उद्देश्य से सत्तरह पशुओं (छागों) का अनुष्ठान विहित है। पशुओं के उपाकरण (मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्पर्श और सम्प्रदानभूत देवता का निर्देश), नियोजन (यूप में पशु को बाँधना) और पर्यग्निकरण आदि जो संस्कार विहित हैं, उनका किस क्रम से अनुष्ठान किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर है—प्रवृत्तिक्रम से [उपाकरण जिस पशु से आरम्भ कर जिस पशु में समाप्त किया, उसी क्रम से नियोजनादि अङ्गों का अनुष्ठान प्रवृत्ति-क्रम कहलाता है]। उनमें से कर्मावबोध और ब्रह्म-जिज्ञासा का क्रम (पौर्वापर्यभाव) यदि श्रुति और अर्थ (प्रयोजन) के आधार पर नहीं हो सकता, तब पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति के द्वारा सम्भव हो जायगा।

समाधान – उक्त शंका का परिहार करते हुए भाष्यकार ने कहा है—शेषशेषित्वे प्रमाणाभावात्"। "शेषः परार्थत्वात्" (जै. सू. ३।१।१) इस सूत्र में 'शेष' शब्द का अर्थ अङ्ग और उसका लक्षण किया गया है – पारार्थ्य। जो पदार्थ किसी पर (प्रधान) को अपने सहयोग से सम्पन्नता या पूर्णता प्रदान करता है, उसे शेष कहते हैं। शेष का लक्षण कर देने से शेषी (अङ्गी) का लक्षण अपने-आप सिद्ध हो जाता है—

शेषलक्षणमात्रोक्तावर्थात्स्याच्छेषिलक्षणम्।
अतः शेषः परार्थत्वादित्युक्तं शेषलक्षणम्॥ (तं० वा० पृ० ६५३)

समिध्, तनूनपातादि प्रयाज कर्म शेष हैं उनके शेषी (अङ्गी) हैं—आग्नेयादि याग। शेष और शेषी—दोनों एक स्वर्गरूप फल के उद्देश्य से विहित हैं। दोनों एक ही प्रयोग-विधि के द्वारा गृहीत हैं, दोनों एक ही अधिकारी (स्वर्गकामनावान्) व्यक्ति के द्वारा सम्पादनीय हैं

भामती

बद्धानां युगपदनुष्ठानाशक्तेः सामर्थ्यात् क्रमप्राप्तौ तद्विशेषापेक्षायां पाठादयस्तद्विशेषनियमाय प्रभवन्ति, यत्र तु न शेषशेषिभावो नाप्येकाधिकारावच्छेदो यथा सौर्य्यार्य्यमणप्राजापत्यादीनां तत्र क्रममेवापेक्षाभावाच्च पाठादिः क्रमविशेषनियमे प्रमाणम्, अवर्जनीयतया तस्य तत्रागतत्वात् । न चेह धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः शेषशेषिभावे श्रुत्यादीनामन्यतमं प्रमाणमस्तीति ॥

ननु शेषशेषिभावाभावेऽपि क्रमनियमो दृष्टः, यथा गोदोहनस्य पुरुषार्थस्य दर्शपौर्णमासिकैरङ्गैः सह, यथा वा दर्शपौर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेतेति दर्शपौर्णमाससोमयोरशेषशेषिणोरित्यत आह

भामती–व्याख्या

और एक ही अमावास्या और पौर्णमासी तिथि में किए जाते हैं। अतः उक्त द्विविध कर्मों का सहानुष्ठान करना है, किन्तु युगपत् सभी कर्मों का अनुष्ठान सम्भव नहीं, फलतः किसी क्रम का अवलम्बन कर साङ्ग प्रधान कर्म का सम्पादन करना होगा, क्रम विशेष का निर्णय करने के लिए पाठ, स्थानादि प्रमाणों की अपेक्षा होती है। जिन कर्मों में न तो शेष-शेषिभाव होता है और न एक ही अधिकारी व्यक्ति के द्वारा सम्पादनीयत्व, जैसे—सौर्य, आर्यमण और प्राजापत्यादि [सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः" (तै० सं० २।३।२।३), अर्यम्णे चरुं निर्वपेत् सुवर्गकामः" (तै० सं० २।३।४।१) "प्राजापत्यं चरुं निर्वपेच्छतकृष्णलमायुष्कामः" (तै० सं० २।३।२।१)] कर्मों में क्रम की अपेक्षा ही नहीं, अतः क्रम-विशेष-बोधक पाठादि प्रमाणों का उपयोग नहीं होता। फिर भी उन कर्मों का युगपत् (एक काल में) अनुष्ठान न होकर किसी-न किसी क्रम से होता है. वह क्रम वहाँ अवर्जनीय होने के कारण स्वभाव-सिद्ध है, किसी प्रमाण से प्रयुक्त नहीं। प्रकृत (कर्मावबोध और ब्रह्म-जिज्ञासा) में शेषशेषिभाव (अङ्गाङ्गिभाव) किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं, अतः ब्रह्म-जिज्ञासा में कर्मावबोधानन्तर्य आवश्यक नहीं।

शङ्का—शेषशेषिभाव न होने पर भी क्रम का नियम देखा जाता है, जैसे गोदोहन पात्र में जल-प्रणयन और दर्शपूर्णमास कर्म के अङ्गों में क्रम माना जाता है [दर्शपूर्णमास कर्म के अङ्ग कलाप का आरम्भ जल-प्रणयन से होता है। आचमन के लिए किसी पात्र में जल भर कर रखना जल-प्रणयन कहलाता है। सामान्यतया "चमसेनापः प्रणयेत्" (आप० श्रौ० सू० १।१५।३) इस विधि के द्वारा चमस नाम के काष्ठमय पात्र में जल-प्रणयन किया जाता है, पशुरूप अवान्तर फल के उद्देश्य से उस मृण्मय पात्र में जल-प्रणयन विहित है, जिसमें गो दुही जाती है—"गोदोहनेन पशुकामस्य" (आप० श्रौ० सू० १।१६।२)। यद्यपि दर्शपूर्णमास का अङ्गभूत जल-प्रणयन गोदोहन में किया जाता है. अतः गोदोहन पात्र में कर्माङ्गत्व और उसका पशु-कामनारूप स्वतन्त्र फल कीर्तित है, अतः गोदोहन में पुरुषार्थत्व (पुरुषाङ्गत्व) भी प्रतीत होता है, तथापि गोदोहन में पुरुषार्थत्व माना गया है—"यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य लिप्सार्थलक्षणाऽविभक्तत्वात्" (जै० सू० ४।१।२)। यद्यपि गोदोहन दर्शपूर्णमासरूप क्रतु (यज्ञ) का उपकारक है, तथापि इतने मात्र से गोदोहन मात्र में क्रत्वङ्गत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि पुरुषार्थभूत गोदोहन से भी क्रतु का उपकार सिद्ध हो जाता है। फलतः गोदोहन और दर्शपूर्णमास का अङ्गाङ्गिभाव न होने पर भी यह क्रम माना जाता है कि गोदोहन पात्र में जल-प्रणयन कर लेने के पश्चात् ही दर्शपूर्णमास के पूर्वाङ्गों का अनुष्ठान किया जाता है] वैसे ही प्रकृत में कर्मावबोध और ब्रह्म-जिज्ञासा का क्रम (पूर्वापरभाव) क्यों नहीं माना जा सकता ?

अथवा "दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत" इस वाक्य में 'क्त्वा' प्रत्यय के द्वारा दर्शपूर्णमास और सोमयाग का क्रम माना जाता है, वैसे ही धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासा

भामती

*** अधिकृताधिकारे च प्रमाणाभावाद् *—इति योजना। स्वर्गकामस्य हि दर्शपौर्णमासाधिकृतस्य पशुकामस्य सतो दर्शपौर्णमासक्रत्वर्थाप्प्रणयनाश्रिते गोदोहनेऽधिकारः। नो खलु गोदोहनद्रव्यमव्याप्रियमाणं साक्षात् पशून् भावयितुमर्हति। न च व्यापारान्तराविष्टं श्रूयते यतस्तदङ्गक्रममतिपतेत्। अप्प्रणयनाश्रितं तु प्रतीयते "चमसेनापः प्रणयेद् गोदोहनेन पशुकामस्य" इति समभिव्याहारात्, योग्यत्वाच्चास्यापां प्रणयनं प्रति। तस्मात् क्रत्वर्थाप्प्रणयनाश्रितत्वाद् गोदोहनस्य तत्क्रमेण पुरुषार्थमपि गोदोहनं क्रमवदिति सिद्धम्। श्रुतिनिराकरणेनैवेष्टिसोमक्रमवदपि क्रमोऽप्यपास्तो वेदितव्यः।**

शेषशेषित्वाधिकृताधिकाराभावेऽपि क्रमो विवक्ष्येत, यद्येकफलावच्छेदो भवेत्, यथाग्नेयादीनां षण्णामेकस्वर्गफलावच्छिन्नानां, यदि वा जिज्ञास्यब्रह्मणोंऽशो धर्मः स्यात्, यथा चतुर्लक्षणीव्युत्पाद्यं ब्रह्म केनचित्केनचिदंशेनैकेन लक्षणेन व्युत्पाद्यते तत्र चतुर्णां लक्षणानां जिज्ञास्याभेदेन परस्परसम्बन्धे सति

भामती–व्याख्या

का क्रम स्थिर हो सकता है [सोमयाग का अनुष्ठान दो प्रकार से होता है—(१) अग्न्याधान करने के अनन्तर अथवा (२)अग्न्याधान करके दर्शपूर्णमास याग का अनुष्ठान कर लेने के पश्चात्। द्वितीय कल्प में दर्शपूर्णमास और सोमयाग का क्रम विवक्षित है। सोमयाग और दर्शपूर्णमास—दोनों स्वतन्त्र कर्म हैं, उनमें किसी प्रकार का अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता, फिर भी आनन्तर्य काल का विधान माना गया है—"उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद्, वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्" (जै० सू० ४।३।३७)]।

समाधान—उक्त आशङ्का का परिहार करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"अधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्"। स्वर्गफलक दर्शपूर्णमास कर्म का जो अधिकारी पुरुष है, उसी का गोदोहन में जल-प्रणयन का अधिकार है, अन्य का नहीं। अर्थात् "गोदोहनेन पशुकामस्य"—यहाँ पर तृतीया विभक्तिरूप श्रुति के द्वारा जो गोदोहन पात्र में पशुरूप फल की करणता प्रतिपादित है, वह तब तक उपपन्न नहीं हो सकती, जब तक कि गोदोहन पात्ररूप द्रव्य किसी व्यापार से युक्त नहीं हो जाता, उद्यमन-निपातनादि व्यापार से युक्त कुठारादि में ही करणता मानी जाती है, अतः प्रकृत में जल-प्रणयनरूप व्यापार से युक्त गोदोहन में फलसाधनता बन सकेगी। "चमसेनापः प्रणयेद् गोदोहनेन पशुकामस्य"—ऐसा समभिव्याहार जलप्रणयनरूप व्यापार का ही समर्पण करता है और गोदोहन-व्यापार में उस जलप्रणयन की योग्यता निहित होती है। अतः क्रत्वङ्गभूत जलप्रणयन का आश्रयी होने के कारण गोदोहन पात्र का भी वही क्रम माना जाता है जो दर्शपूर्णमासगत जल-प्रणयन का है। इसी प्रकार सोम का अधिकारी व्यक्ति ही दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान करता है। इस प्रकार कथित दोनों उदाहरणों में अधिकृताधिकार समानरूप से होने के कारण उनमें आनन्तर्य का नियम सम्भव हो जाता है। किन्तु प्रकृत में कर्मावबोध और ब्रह्मजिज्ञासा में किसी प्रकार का अधिकृताधिकार नहीं, प्रत्युत दोनों जिज्ञासाओं के अधिकारी पुरुष अत्यन्त भिन्न होते हैं। अधिकृताधिकारभाव न होने के कारण धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा का पौर्वापर्यभाव सम्भव नहीं। 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा'—यहाँ 'क्त्वा' प्रत्यय के द्वारा पौर्वापर्यभाव जैसा प्रतीत होता है वैसा धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा का कोई श्रौतक्रम सम्भव नहीं है।

शेषशेषिभाव या अधिकृताधिकारभाव न होने पर भी क्रम माना जाता है जैसे दर्शपूर्णमासगत आग्नेय आदि छः कर्मों का, क्योंकि वे सभी एक स्वर्गरूप फल के उद्देश्य से विहित हैं। अथवा धर्म जिज्ञास्यभूत ब्रह्म का यदि अंश होता तब भी धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा का वैसे ही क्रम विवक्षित हो सकता था, जैसे कि ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायों का

जिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं, तच्चानुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं, न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्। भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये

भामती

क्रमो विवक्षितस्तथेहाप्येकजिज्ञास्यतया धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः क्रमो विवक्षेत, न चैतदुभयमप्यस्तीत्याह ॐ फलजिज्ञास्यभेदाच्च ॐ। फलभेदं विभजते ॐ अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम् इति ॐ। जिज्ञासाया वस्तुतो ज्ञानतन्त्रत्वाज्ज्ञानफलं जिज्ञासाफलमिति भावः। न केवलं स्वरूपतः फलभेदः, तदुत्पादनप्रकारभेदादपि तद्भेद इत्याह ॐ तच्चानुष्ठानापेक्षं ब्रह्मज्ञानं च नानुष्ठानान्तरापेक्षम् ॐ। शाब्दज्ञानाभ्यासान्नानुष्ठानान्तरमपेक्षते, नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानसहभावस्यापास्तत्वादिति भावः।

जिज्ञास्यभेदमात्यन्तिकमाह ॐ भव्यश्च धर्म इति ॐ। भविता भव्यः, कर्तरि कृत्यः। भविता च भावकव्यापारनिर्वर्त्यतया तत्तन्त्र इति ततः प्राग् ज्ञानकाले नास्तीत्यर्थः। भूतं सत्यं, सदैकान्ततो न कदा चिदसदित्यर्थः। न केवलं स्वरूपतो जिज्ञास्ययोर्भेदो ज्ञापकप्रमाणप्रवृत्तिभेदादपि भेद इत्याह ॐ चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च ॐ। चोदनेति वैदिकं शब्दमाह, विशेषेण सामान्यस्य लक्षणात्। प्रवृत्तिभेदं

भामती–व्याख्या

विचारणीय एक ब्रह्मतत्त्व को लेकर चारों अध्यायों का क्रम माना जाता है, वैसे ही प्रकृत में धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा का क्रम माना जा सकता था। इन (एकफलोद्देश्यत्व और जिज्ञास्याभेद) दोनों का अभाव दिखाते हुए भाष्यकार कहते हैं—"फलजिज्ञास्यभेदाच्च।" फलभेद का स्पष्टीकरण किया जाता है—अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं, निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मज्ञानम्। जिज्ञासा ज्ञान का अङ्ग होने के कारण ज्ञान के फल को ही जिज्ञासा का फल कह दिया गया है। स्वर्ग आदि अभ्युदय और मोक्षरूप फल का स्वरूपतः ही भेद नहीं अपितु उनके उत्पादन क्रम में भी स्पष्ट भेद होता है—तच्चानुष्ठानापेक्षम्। अर्थात् केवल धर्मज्ञान से स्वर्ग आदि फल की निष्पत्ति नहीं होती अपितु वेदार्थज्ञान के पश्चात् कर्मानुष्ठान अपेक्षित होता है, किन्तु ब्रह्मज्ञान के अनन्तर किसी प्रकार के कर्मानुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती। शाब्दज्ञानाभ्यास को छोड़कर नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मानुष्ठान का सहभाव निराकृत हो चुका है। जिज्ञास्य-भेद प्रकट किया जाता है—भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति। 'भव्यः' इस पद में 'कृत्य' प्रत्यय का अर्थ कर्त्ता है। भावक के व्यापार से जनित होने के कारण ज्ञानकाल में उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। प्रकृत में जिज्ञास्य है—"इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्।" 'भूतम्' पद का अर्थ है—सत्यम्। सत्य कभी असत् नहीं हो सकता कि उसे सत् बनाने में कर्मानुष्ठान की अपेक्षा होती। दोनों जिज्ञास्य पदार्थों का स्वरूपतः ही भेद नहीं, अपितु ज्ञापक (प्रमाणादि) का भेद भी है—चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। 'चोदना' पद के द्वारा सामान्य वैदिकशब्दों का ग्रहण किया गया है। चोदना, विधि या प्रवर्तक शब्द वैदिक शब्दों के एकदेशभूत हैं। अतः चोदना पद की लक्षणा समस्त वैदिकशब्दराशि में की गई है। ["चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यव गमयितुम्" (शा॰ भा॰ पृ॰ १३) इस भाष्य की व्याख्या करते हुए श्री कुमारिलभट्ट ने कहा है—

"चोदनेत्यब्रवीच्चात्र　शब्दमात्रविवक्षया।
न हि भूतादिविषयः कश्चिदस्ति विधायकः॥" (श्लो॰ वा॰ पृ॰ ४७)]

प्रवृत्ति-भेद दिखाया जाता है—"या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव

नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति । ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबो-

भामती

विभजते ॐ या हि चोदना धर्मस्य इति ॐ । आज्ञादीनां पुरुषाभिप्रायभेदानामसम्भवादपौरुषेये वेदे चोदनोपदेशः । अत एवोक्तं "तस्य ज्ञानमुपदेशः" इति । सा च साध्ये च पुरुषव्यापारे भावनायां, तद्विषये च यागादौ, स हि भावनाविषयः, तदधीननिरूपणत्वात् प्रयत्नस्य भावनायाः । षिञ् बन्धन इत्यस्य धातोर्विषयपदव्युत्पत्तेः । भावनायास्तद्द्वारेण च यागादेरपेक्षितोपायतामवगमयन्तो तत्रेच्छोपहारमुखेन पुरुषं नियुञ्जानैव यागादिधर्ममवबोधयति नान्यथा । ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलं न तु प्रवर्त्तयन्त्यवबोधयति । कुतः, अवबोधस्य प्रवृत्तिरहितस्य चोदनाजन्यत्वात् ।

भामती-व्याख्या

पुरुषमवबोधयति, ब्रह्मचोदना पुरुषमवबोधयत्येव केवलम् ।" प्रवर्तक वाक्य को चोदना कहते हैं, जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं-"चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः" (शाबर. पृ. १२)। लोक में वैसे वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) आज्ञा, (२) प्रार्थना और (३) अनुज्ञा [जैसे—'गां नय' यह वाक्य जब बड़े पद का कोई व्यक्ति अपने से छोटे पदवाले को कहता है, तब इस वाक्य को आज्ञा वाक्य कहा जाता है, जब उसके विपरीत छोटी पदवी का व्यक्ति अपने से बड़ी पदवीवाले को कहता है, तब उस वाक्य को प्रार्थना वाक्य कहते हैं और उक्त दोनों विधाओं से भिन्न जब किसी कार्य का अनुमोदन या समर्थन मात्र किया जाता है, तब वह वाक्य अनुज्ञा वाक्य माना जाता है]। पौरुषेय वाक्यों में ही आज्ञादि सम्भावित हैं, वेद में नहीं, अतः वेद में 'चोदना' शब्द का 'उपदेश' अर्थ माना जाता है। इष्ट-साधनता के प्रदर्शक वाक्य को उपदेश कहते हैं, जैसे श्री शबरस्वामी ने "श्येनेन अभिचरन् यजेत"—इस वाक्य के विषय में कहा है—"नैव श्येनादयः कर्त्तव्या विज्ञायन्ते, यो हि हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपाय इति हि तेषामुपदेशः" (शाबर पृ. १९)। महर्षि जैमिनि भी कहते हैं—"तस्य ज्ञानमुपदेशः" (जै. सू. १।१।५)। यहाँ 'तस्य ज्ञानमुपदेशः' का अर्थ है—धर्मस्य (ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञापकं) प्रमाणमुपदेशः।

वह धर्म-चोदना ["अग्निहोत्रं जुहुयात्"—इत्यादि वाक्यावली] अपने साध्यभूत पुरुष-व्यापारात्मक आर्थीभावना और आर्थीभावना के विषयीभूत यागादि में पुरुष को नियुक्त करती हुई यागादि कर्म का ज्ञान कराती है, क्योंकि वह (यागादि कर्म) आर्थी भावना का विषय होता है। आर्थी भावना को नैयायिकों की भाषा में आत्मा का प्रयत्न (कृतिसंज्ञक गुण) कहा जाता है। जैसे ज्ञान का निरूपण विषय के बिना नहीं हो सकता, वैसे ही प्रयत्न-रूप भावना का विषय के बिना निरूपण नहीं हो सकता, अत एव यागादि को भावना का विषय (नियत सम्बन्धी) माना जाता है, जो बन्धनार्थक 'षिञ्' धातु से निष्पन्न हुआ है, यह विगत पृ. ७ पर कहा जा चुका है। "यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि चोदना (विधि) वाक्यों का प्रतिपाद्य है—आर्थी भावना, भावना का विषय है–याग, अतः याग में स्वर्गादिरूप इष्ट पदार्थ की साधनता का बोध कराता हुआ उक्त चोदना वाक्य यागानुष्ठान की इच्छा उत्पन्न कर देता है, उस इच्छा से यागादि के सम्पादन में पुरुष की प्रवृत्ति स्वतः हो जाती है [चोदना वाक्य केवल विषय वस्तु का अवबोध ही नहीं कराता, अपितु बोध्यमान पदार्थ में इष्ट-साधनता बताकर प्रवृत्त कर देता है, अत एव चोदना वाक्य को प्रवर्तक वाक्य भी कहा जाता है]। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इत्यादि ब्रह्म-प्रतिपादक वाक्य केवल अज्ञात ब्रह्म का ज्ञानमात्र कराते हैं, विषय वस्तु के सम्पादन में प्रवृत्त नहीं करते, क्योंकि जो किसी प्रकार की प्रवृत्ति का जनक नहीं होता, ऐसा ही ब्रह्मावबोध केवल वेदान्त वाक्यों से उत्पन्न होता है।

धस्य चोदनाजन्यत्वाच्च पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते । यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे,

भामती

नन्वात्मा ज्ञातव्य इत्येतद्विधिपरैर्वेदान्तैस्तदेकवाक्यतयाऽवबोधे प्रवर्त्तनीयाङ्गैरेव पुरुषो ब्रह्मात्मबोध्यत इति समानत्वं धर्मचोदनाभिर्ब्रह्मचोदनानामित्यत आह ॐ न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते ॐ । अयमभिसन्धिः—न तावद् ब्रह्मसाक्षात्कारे पुरुषो नियोक्तव्यः, तस्य ब्रह्मस्वाभाव्येन नित्यत्वादकार्य्यत्वात् । नाप्युपासनायां, तस्या अपि ज्ञानप्रकर्षे हेतुभावस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धतया प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् । नापि शाब्दबोधे, तस्याप्यधीतवेदस्य पुरुषस्य विदितपदतदर्थस्य समधिगतशाब्दन्यायतत्त्वस्याप्रत्यूहमुत्पत्तेः । अत्रैव दृष्टान्तमाह ॐ यथाक्षार्था इति ॐ । दार्ष्टान्तिके योजयति ॐ तद्वद् इति ॐ । अपि चात्मज्ञानविधिपरेषु वेदान्तेषु नात्मतत्त्वविनिश्चयः शाब्दः स्याद्, नहि तदात्मतत्त्वपरास्ते, किन्तु तज्ज्ञानविधिपराः, यत्पराश्च ते त एव तेषामर्थाः । न च बोधस्य बोध्यनिष्ठत्वादपेक्षितत्वादन्यपरेभ्योऽपि बोध्यतत्त्वविनिश्चयः, समारोपेणापि तदुपपत्तेः । तस्माद् बोधविधिपरा वेदान्ता इति सिद्धम् ।

भामती-व्याख्या

शङ्का—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृह. उ. २।४।५) इत्यादि विधि परक वेदान्त-वाक्य केवल ब्रह्मावबोध के जनक नहीं, अपितु उसमें प्रवर्तक भी होते हैं, क्योंकि 'तव्य' प्रत्ययरूप विधि से एकवाक्यतापन्न हैं, अतः उन वेदान्त-वाक्यों में प्रवर्तकता का रहना अनिवार्य है । इस प्रकार धर्म-चोदना की समानता ही ब्रह्म-चोदना में पर्यवसित होती है ।

समाधान—उक्त आशङ्का का प्रतीकार करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते" । आशय यह है कि यदि वेदान्त-वाक्यों को ब्रह्मावबोध में प्रवर्तक माना जाता है, तब क्या (१) ब्रह्मविषयक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में ? या (२) ब्रह्मोपासना में ? अथवा (३) परोक्षात्मक शाब्दबोध में ? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कार ब्रह्मरूप होने के कारण नित्य है, किसी प्रकार की कृति के द्वारा निष्पादनीय नहीं होता । द्वितीय कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि किसी वस्तु का निरन्तर दीर्घ समय तक अनुचिन्तन (उपासन) करने से उस विषय का साक्षात्कार सहजतः (अन्वय-व्यतिरेक से) सिद्ध है, अतः 'ब्रह्मोपासनया ब्रह्मसात्कारं भावयेत्'—ऐसा विधान निरर्थक है । तृतीय कल्प भी सम्भव नहीं, क्योंकि जिस व्यक्ति को पद पदार्थ का संगति-ग्रहणादि हो गया है, उसे वेदान्त-वाक्यों का श्रवण करते ही ब्रह्म का शाब्द-बोधात्मक ज्ञान विधि के विना वैसे ही सम्पन्न हो जाता है, जैसे इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के अनन्तर नियमतः अर्थ-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

दूसरी बात यह भी है कि यदि वेदान्त-वाक्य ज्ञान-विधिपरक माने जाते हैं, तब वेदान्त-वाक्यों के द्वारा आत्मतत्त्व का शाब्दबोधात्मक निश्चय नहीं हो सकेगा, क्योंकि वेदान्त-वाक्य आत्मतत्त्वपरक न होकर ज्ञानविधिपरक माने जाते हैं । उस शब्द का वही मुख्य अर्थ माना जाता है, जो शब्द यत्परक होता है, फलतः इस पक्ष में वेदान्त-वाक्यों से जन्य आत्मज्ञानविषयक बोध ही उत्पन्न होगा, आत्मतत्त्वविषयक बोध नहीं । यदि कहा जाय कि आत्मविषयक बोध की विधि में भी विधेयभूत बोध अपेक्षित है और उक्त बोध अपने विषयीभूत आत्मतत्त्व के बिना सम्भव नहीं, अतः बोधविधिपरक वेदान्तवाक्यों से भी आत्मतत्त्व का निश्चय क्यों न होगा ? तो वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विधेयभूत ज्ञान वास्तविक विषय की अपेक्षा वैसे ही नहीं करता, जैसे "वाचं धेनुमुपासीत" (बृह. उ. ५।८।१) यहाँ पर धेनु-भावना वास्तविक धेनु की अपेक्षा नहीं करती [**जैसा कि आगे चल कर कहा** जायगा—"कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः" (ब्र. सू. १।४।१०) । श्रुति भी विस्पष्ट

तद्वत्। तस्मात्किमपि वक्तव्यम्—यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति। उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं

भामती

प्रकृतमुपसंहरति ❀ तस्मात्किमपि वक्तव्यम् इति ❀। यस्मिन्नसति ब्रह्मजिज्ञासा न भवति सति तु भवन्ती भवत्येवेत्यर्थस्तवाह ❀ उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः इत्यादि ❀। नित्यः प्रत्यगात्मा, अनित्या देहेन्द्रियविषयादयः, तद्विषयश्चेद्विवेको निश्चयः, कृतमस्य ब्रह्मजिज्ञासया, ज्ञातत्वाद् ब्रह्मणः। अथ विवेको ज्ञानमात्रं न निश्चयः, तथा सत्येष विपर्यासादन्यः संशयः स्यात्, तथा च न वैराग्यं भावयेत्, अभावयन् कथं ब्रह्मजिज्ञासाहेतुः? तस्मादेवं व्याख्येयम्। नित्यानित्ययोर्धर्मिणोस्तद्धर्माणां च विवेको नित्यानित्यवस्तुविवेकः। एतदुक्तं भवति—मा भूदिदं तदृतं नित्यमिदं तदनृतमनित्यमिति धर्मिविशेषयोर्विवेकः धर्मिमात्रयोर्नित्यानित्ययोस्तद्धर्मयोश्च विवेकं निश्चिनोत्येव। नित्यत्वं सत्यत्वं तद्यस्यास्ति तन्नित्यं सत्यं तथा चाऽऽस्थागोचरः। अनित्यत्वमसत्यत्वं तद्यस्यास्ति तदनित्यमनृतं, तथा चानास्थागोचरः। तदेतेष्वनुभूयमानेषु युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरेषु विषयविषयिषु यदृतं नित्यं सुखं व्यवस्थास्यते तदास्थागोचरो भविष्यति, यत्त्वनित्यमनृतं भविष्यति तापत्रयपरीतं तत् त्यक्ष्यत इति। सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः प्राग्भवीयादैहिकाद्वा कर्मणो विशुद्धसत्त्वस्य भवत्यनुभवोपपत्तिभ्याम्। न खलु सत्यं नाम न किञ्चि-

---

भामती—व्याख्या

कहती है—"वाचश्चाधेनोर्धेनुत्वम्" (बृह. उ. ५।८)]। फलतः अब्रह्म में ब्रह्मत्व-ज्ञान की जहाँ विधि है, वहाँ विधेय ज्ञान ब्रह्मतत्त्वनिश्चयात्मक नहीं हो सकता। फलतः वेदान्त-वाक्यों को बोधविधिपरक नहीं माना जा सकता, धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासा का साम्य कथमपि स्थापित नहीं किया जा सकता, अतः कर्मावबोध को छोड़ कर "तस्मात् किमपि वक्तव्यम्, यस्मिन्नसति ब्रह्मजिज्ञासा न भवति"। ब्रह्म-जिज्ञासा का असाधारण कारण प्रस्तुत करना होगा, वह है—"नित्यानित्यवस्तु-विवेकादि"। यहाँ नित्य (प्रत्यगात्मा) और अनित्य (देह, इन्द्रिय और विषयादि) का विवेक (भेद-निश्चय)—ऐसी व्याख्या नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यदि वैसा विवेक-निश्चय है, तब ब्रह्म-जिज्ञासा की क्या आवश्यकता? उसका फलीभूत ब्रह्मावबोध पहले ही सुलभ है। यदि विवेक का अर्थ किया जाता है—ज्ञानमात्र। तब तो वह विपरीत ज्ञान से भिन्न संशयात्मक ज्ञान ही मानना होगा। संशयात्मक ज्ञान से उसका कार्य वैराग्य उत्पन्न नहीं हो सकता, वैराग्य की उत्पत्ति न करके विवेक-ज्ञान ब्रह्म-जिज्ञासा का हेतु क्योंकर हो सकेगा? अतः उक्त भाष्य की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए—नित्य और अनित्य पदार्थों में वास करनेवाले पदार्थ को नित्यानित्यवस्तु कहा गया है, वह है—नित्यादि का धर्म। नित्य और अनित्यरूप धर्मी एवं उनके धर्मों का विवेक नित्यानित्यवस्तुविवेक है। आशय यह है कि 'यह आत्मा नित्य और ये देहादि अनित्य हैं'—इस प्रकार धर्मि विशेष का उल्लेख करते हुए नित्यानित्य पदार्थों का विवेक भले ही न हो, सामान्यतः नित्य, अनित्य पदार्थ एवं उनके धर्मों का विवेक निश्चित ही है। नित्यत्व नाम है—सत्यत्व का, वह सत्यत्व जिसमें रहता है, वह सत्य पदार्थ सर्वथा श्रद्धेय और उपादेय है। इसी प्रकार अनित्यत्व का अर्थ असत्यत्व है, वह जिसमें रहता है, वह अनित्य या असत्य है, जो कि अनुपादेय है। समस्त अनुभूयमान युष्मद् और अस्मत्प्रत्यय के विषयीभूत विषय और विषयी पदार्थों में जो ऋत, नित्य और सुखरूप सिद्ध होगा, वह उपादेय और जो अनित्य, अनृत और तापत्रय से युक्त (दुःखरूप) सिद्ध होगा, वह हेय होगा। यह है—नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक जो कि पूर्वजन्म अथवा इसी जन्म में उपार्जित पुण्य-राशि के द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण में समुत्पादित होता है। यह विवेक दृष्ट पदार्थों में अनुभव और अदृष्ट पदार्थों में युक्ति के द्वारा व्यवस्थापित

भामती

स्तीति वाच्यम् , तदभावे तदधिष्ठानस्यानृतस्याप्यनुपपत्तेः। शून्यवादिनामपि शून्यताया एव सत्यत्वात्। अथास्य पुरुषधौरेयस्यानुभवोपपत्तिभ्यामेवं सुनिपुणं निरूपयत आ च सत्यलोकाद् आ चावीचेर्जायस्व म्रियस्वेति विपरिवर्त्तमानं क्षणमुहूर्त्तयामाहोरात्रार्धमासमासर्त्वयनवत्सरयुगचतुर्युगमन्वन्तरप्रलयमहाप्रलय-महासर्गावान्तरसर्गसंसारसागरोर्मिभिरनिशमुह्यमानं तापत्रयपरीतमात्मानं च जीवलोकं चावलोक्यास्मिन् संसारमण्डलेऽनित्याशुचिदुःखात्मकं प्रसंख्यानमुपावर्त्तते ततोऽस्यैतादृशान्नित्यानित्यवस्तुविवेकलक्षणात् प्रसंख्यानात् ॐ इहामुत्रार्थभोगविरागो भवति ॐ। अर्थ्यते प्रार्थ्यत इत्यर्थः फलमिति यावत्, तस्मिन् विरागोऽनाभोगात्मिकोपेक्षाबुद्धिः।

ॐ ततः शमदमादिसाधनसम्पत् ॐ। रागादिकषायमदिरामत्तं हि मनस्तेषु तेषु विषयेषूच्चावच-मिन्द्रियाणि प्रवर्त्तयद्विविधाश्च प्रवृत्तीः पुण्यापुण्यफला भावयत् पुरुषमतिघोरे विविधदुःखज्वालाजटिले संसारहुतभुजि जुहोति। प्रसंख्यानाभ्यासलब्धवैराग्यपरिपाकभग्नरागादिकषायमदिरामदं तु मनः पुरुषेणा-वजीयते वशीक्रियते। सोऽयमस्य वैराग्यहेतुको मनोविजयः शम इति वशीकारसंज्ञ इति चाख्यायते। विजितं च मनस्तत्त्वविषयविनियोगयोग्यतां नीयते, सेयमस्य योग्यता दमः। यथा दान्तोऽयं वृषभयुवा,

भामती-व्याख्या

होता है। 'इस असत्यात्मक प्रपञ्च में सत्य नाम की कोई वस्तु ही नहीं, तब सत्यासत्य-विवेक क्योंकर होगा ?'—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि यदि कोई सत्य वस्तु नहीं, तब असत्य पदार्थ भी निराधार क्योंकर उपपन्न होगा ? शून्यवादी भी शून्यता को सत्य मानता है [श्री नागार्जुन शून्यता का स्वरूप बताते हैं—

कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशाः विकल्पतः।
ते प्रपञ्चात् प्रपञ्चस्तु शून्यतायां निरुध्यते॥" (म. शा. १८।५)]।

यह विवेकशील पुरुष-पुङ्गव अपने अनुभव और उपपत्ति के द्वारा जब गम्भीरतापूर्वक संसार चक्र का सिंहावलोकन करता है, तब ऊपर सत्यलोक से लेकर नीचे अवीचिसंज्ञक नरक लोक तक के विशाल सागर की जन्म-मरण रूपी विकराल प्रोत्तुङ्ग तरङ्गों पर अपने-सहित सभी जीवों को डूबते-उतराते देखता है, जैसा कि श्रुति कहती है—"जायस्व म्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ लोकेन पूर्यते" (छां. ५।१०।८)। जन्मते-मरते सभी हैं, केवल उनकी आयु क्षण, मुहूर्त्त, मास, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु, अयन, वत्सर, युग, चतुर्युग, मन्वन्तर, प्रलय, महाप्रलय, महासर्ग और अवान्तर सर्गादि के भेद से भिन्न होता है। यह सब कुछ देख-देख कर एक सच्चे विरक्त महापुरुष में विवेक-जनित उद्वेग की आँधी चलने लगती है, वह आँधी ही ऐसे वैराग्य का रूप धारण कर लेती है—"इहामुत्रार्थभोगविरागो भवति।" 'अर्थ' पद 'अर्थ्यते प्रार्थ्यते'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर फल का वाचक है, उस फल के उपभोग से वैराग्य (अनाभोगात्मिका उपेक्षा बुद्धि) उत्पन्न हो जाता है। उससे शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान नाम की षड्विध सम्पत्ति का लाभ होता है, क्योंकि राग-द्वेषादि दोषों की मदिरा के मद में चूर मानव-मन विविध उच्चावच विषयों में इन्द्रियों को प्रवृत्त कर प्रवृत्ति-जनित पुण्यापुण्य फलों का सञ्चयन करता हुआ मानव को अनन्त दुःखरूपी ज्वालाओं से व्याप्त संसाररूपी अग्नि में आहुति डालता है। विवेक के अभ्यास से प्राप्त वैराग्य का परिपाक रागादिरूपी मदिरा का मद उतार देता है, मद-विहीन मन को पुरुष जीत कर अपने वश में कर लेता है, वैराग्य से जनित इसी मानस-वशीकार की 'शम' संज्ञा होती है। वशीकृत मन में तत्त्वरूपी विषय की ओर अग्रसर होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसी योग्यता का नाम दम है, जैसे नये बैल को लिए 'दान्तोऽयं वृषभयुवा'—ऐसा लोक-

च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते। अतःशब्दो हेत्वर्थः। यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति—'तद्यथेह

भामती

हलशकटादिविहनयोग्यः कृत इति गम्यते। आदिग्रहणेन च विषयतितिक्षातदुपरमतत्त्वश्रद्धाः संगृह्यन्ते। अत एव श्रुतिः—"तस्मात् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत् सर्वमात्मनि पश्यति" इति। तदेतस्य शमदमादिरूपस्य साधनस्य सम्पत्प्रकर्षः शमदमादिसाधनसम्पत्। ततोऽस्य संसारबन्धनान्मुमुक्षा भवतीत्याह ❀ मुमुक्षुत्वं च ❀। तस्य च नित्यशुद्धमुक्तसत्यस्वभावब्रह्मज्ञानं मोक्षस्य कारणमित्युपश्रुत्य तज्जिज्ञासा भवति धर्मजिज्ञासायाः प्रागूर्ध्वं च, तस्मात्तेषामेवानन्तर्यं न धर्मजिज्ञासाया इत्याह ❀ तेषु हि इति ❀। न केवलं जिज्ञासामात्रमपि तु ज्ञानमपीत्याह ❀ ज्ञातुं च ❀। उपसंहरति। ❀ तस्माद् इति ❀। क्रमप्राप्तमतःशब्दं व्याचष्टे। ❀ अतःशब्दो हेत्वर्थः ❀। तमेवातः-शब्दस्य हेतुरूपमर्थमाह ❀ यस्माद्वेद एव इति ❀। अत्रैवं परिचोद्यते—सत्यं यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा भवति, सैव त्वनुपपन्ना, इहामुत्र फलोपभोगविरागस्यानुपपत्तेः। अनुकूलवेदनीयं हि फलम्, इष्टलक्षणत्वात् फलस्य। न चानुरागहेतावस्य वैराग्यं भवितुमर्हति। दुःखानुषङ्गदर्शनात् सुखेऽपि वैराग्यमिति चेत्, हन्त भोः सुखानुषङ्गाद् दुःखेऽप्यनुरागो न कस्माद्भवति? तस्मात्सुखे उपादीयमाने दुःखपरि-

---

भामती—व्याख्या

व्यवहार होता है, जो हल और शकटादि के खींचने योग्य हो जाता है। भाष्य में प्रयुक्त "शमदमादि" यहाँ आदि शब्द के द्वारा बाह्य विषयों की तितिक्षा, उनसे विरति और आत्मतत्त्व पर श्रद्धा का संग्रह किया जाता है। अत एव श्रुति कहती है—"तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः, श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत् सर्वमात्मनि पश्यति"। यह शम-दमादिरूप साधनों की सम्पत् (प्रकर्ष) है। शम-दमादि से सम्पन्न पुरुष में संसाररूपी बन्धन से मुमुक्षा उत्पन्न होती है—"मुमुक्षुत्वं च"। मुमुक्षु पुरुष को 'नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वरूप ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का साधन है'—ऐसा सुन कर ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यह ब्रह्म-जिज्ञासा धर्म-जिज्ञासा के पहले भी हो सकती है और पश्चात् भी, अतः विवेक-वैराग्यादि का ही आनन्तर्य ब्रह्म-जिज्ञासा में होता है, धर्म-जिज्ञासा या कर्मावबोध का आनन्तर्य नहीं ऐसा भाष्यकार कहते हैं—"तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्म-जिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुम्"। केवल ब्रह्म की जिज्ञासा ही नहीं होती, अपितु ब्रह्म का ज्ञान भी होता है—"ज्ञातुं च"। अथशब्दार्थ के निरूपण का उपसंहार किया जाता है—"तस्मादथ-शब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते"।

क्रम-प्राप्त सूत्रस्थ 'अतः' शब्द की व्याख्या की जाती है—"अतः शब्दो हेत्वर्थः"। उसी हेतुता का सामञ्जस्य किया जाता है—"यस्माद्वेद एव"।

शङ्का—यह जो कहा है कि विवेक-वैराग्यादि साधनों की सम्पत्ति के अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा होती है, वह सम्भव नहीं, क्योंकि इस लोक के भोगों से लेकर परलोक तक के उपभोगों से वैराग्य नहीं हो सकता। उपभोग या फल सदैव अनुकूल ही प्रतीत होता है, अभीष्ट पदार्थ को ही फल कहा जाता है, वह सभी के अनुराग का कारण होता है, उससे वैराग्य क्योंकर होगा? 'यद्यपि सुखात्मक वस्तु से स्वरूपतः वैराग्य सम्भव नहीं, तथापि लौकिक सुख दुःख-मिश्रित है, अतः उससे वैराग्य हो सकता है'—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब लोक में सुख और दुःख मिश्रित हैं, तब मिश्रित तत्त्व से वैराग्य ही क्यों? दुःख में सुख के सम्बन्ध से अनुराग क्यों नहीं? अतः न्यायोचित मार्ग यह है कि सुख के ग्रहण और

भामती

हारे प्रयतितव्यम् अवर्जनीयतया दुःखमागतमपि परिहृत्य सुखमात्रं भोक्तव्यम् । तद्यथा—मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते, स यावदादेयं तावदादाय विनिवर्तते । यथा वा—धान्यार्थी सपलालानि धान्यान्याहरति, स यावदादेयं तावदुपादाय निवर्तते । तस्माद् दुःखभयान्नानुकूलवेदनीयमैहिकं वाऽऽमुष्मिकं वा सुखं परित्यक्तुमुचितम् । नहि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते, भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते । अपि च दृष्टं सुखं चन्दनवनितादिसङ्गजन्म क्षयितालक्षणेन दुःखेनाघ्रातत्वादतिभीरुणा त्यज्येतापि, न त्वामुष्मिकं स्वर्गादि, तस्याविनाशित्वात् । श्रूयते हि "अपाम सोमममृता अभूमा" इति । तथा च "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" । न च कृतकत्वहेतुकं विनाशित्वानुमानमत्र सम्भवति । नरशिरःकपालशौचानुमानवदागमबाधितविषयत्वात् । तस्माद्यथोक्तसाधनसम्पत्त्यभावान्न ब्रह्मजिज्ञासेति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते आह भगवान् सूत्रकारः ❀ अतः इति ❀ । तस्यार्थं व्याचष्टे भाष्यकारः ❀ यस्माद् वेद एव इति ❀ । अयमभिसन्धिः—सत्यं मृगभिक्षुकादयः शक्याः परिहर्तुं पाचककृषीवलादिभिः, दुःखं त्वनेकविधानेककारणसम्पातजमशक्यपरिहारम् अन्ततः साधनपारतन्त्र्यक्षयितालक्षणयोर्दुःखयोः समस्तकृतकसुखाविनाभावनियमात् । नहि मधुविषसंपृक्तमन्नं विषं परित्यज्य समधु शक्यं शिल्पिवरेणापि भोक्तुम् । क्षयितानुमानोपोद्बलितं च "तद्यथेह कर्मचितः" इत्यादि वचनं क्षयिताप्रतिपादकम् "अपाम सोमम्"

भामती-व्याख्या

दुःख के परिहार में यत्नशील होना चाहिए । अवर्जनीयतया दुःख यदि प्राप्त भी हो जाता है, तब उसको छोड़ कर सुख का उपभोग वैसे ही करना चाहिए, जैसे मछली खानेवाला व्यक्ति काँटे-कूँटे के साथ ही मछली लाता है, किन्तु उसमें जितना उपादेय भाग होता है, उतना लेकर शेष छोड़ देता है । अथवा जैसे छिलकों (भूसी) के साथ धान लेकर उसमें से चावल निकाल कर भूसी का त्याग कर दिया जाता है। उसी प्रकार दुःख के भय से अनुकूल वेदनीय सुख का परित्याग करना उचित नहीं । लोक में खेती को हानि पहुँचानेवाले मृग (जानवर) हैं, तो क्या खेती बोजी नहीं जाती ? भिक्षुकों के डर के मारे क्या भोजन नहीं पकाया जाता ?

दूसरी बात यह भी है कि लोक-प्रसिद्ध चन्दन, वनिता, आदि के सम्पर्क से जनित सुख की क्षयिता और दुःखमिश्रितता को देखकर उसका परित्याग किया भी जा सकता है किन्तु पारलौकिक स्वर्गादि सुखों का त्याग सम्भव नहीं, क्योंकि वे नित्य माने गये हैं । "अपां सोममृता अभूम" (शत. ब्रा. २।६।२।१), "अक्षय्यं हवै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" (अथर्वशि० ३) "स्वर्गादिसुखं विनाशि, कृतकत्वाद् घटादिवत्"—इस प्रकार का अनुमान वैसे ही आगम प्रमाण से बाधित है, जैसे कि "नरशिरःकपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात्"—यह अनुमान "नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्" इत्यादि आगमों के द्वारा बाधित है। इसलिए कथित वैराग्यादि-घटित साधनों का सम्पादन सम्भव न हो सकने के कारण ब्रह्मजिज्ञासा क्योंकर उपपन्न होगी ?

समाधान—उक्त आशंका का निराकरण भाष्यकार कर रहे हैं—'यस्माद् वेद एव' इत्यादि । आशय यह है कि लोक-विश्रुत मृग और भिक्षुक आदि का निवारण कृषिवल आदि कर सकते हैं किन्तु लौकिक सुख में मिश्रित दुःख का परित्याग सम्भव नहीं । एवं लौकिक सुख की क्षयिता के कारण भी परित्याग ही न्यायोचित है । "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" (छां. उ. ८।१।६) इत्यादि वचन मुख्यरूप से जन्य सुख की क्षयिता के प्रतिपादक हैं किन्तु "अपां सोमम्' इत्यादि वाक्य अर्थवाद होने के कारण मुख्यार्थ के प्रतिपादक नहीं माने जाते, जैसा कि पौराणिकों ने माना है—"आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते"

कर्मचितो लोकः क्षीयते; एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छान्दो० ८।१।६) इत्यादिः। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैत्ति० २।१) इत्यादिः। तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' इति। अत एव न 'ब्रह्म' शब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम्। ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे;

भामती

इत्यादिकं वचनं मुख्यासम्भवे जघन्यवृत्तितामापादयति। यथाहुः पौराणिकाः—'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति।

अत्र च ब्रह्मपदेन तत्प्रमाणं वेद उपस्थापितः। स च योग्यत्वात्तद्यथेह कर्मचितः' इत्यादिरत इति सर्वनाम्ना परामृश्य हेतुपञ्चम्या निर्दिश्यते। स्यादेतद्—यथा स्वर्गादेः कृतकस्य सुखस्य दुःखानुषङ्गस्तथा ब्रह्मणोऽपीत्यत आह ❀ तथा ब्रह्मविज्ञानादपि इति ❀। तेनायमर्थः—अतः स्वर्गादीनां क्षयिताप्रतिपादकाद ब्रह्मज्ञानस्य च परमपुरुषार्थताप्रतिपादकादागमाद् यथोक्तसाधनसम्पत् ततश्च जिज्ञासेति सिद्धम्।

ब्रह्मजिज्ञासापदव्याख्यानमाह ❀ ब्रह्मणः इति ❀। षष्ठीसमासप्रदर्शनेन प्राचां वृत्तिकृतां ब्रह्मणे जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासेति चतुर्थीसमासः परास्तो वेदितव्यः। तादर्थ्यसमासे प्रकृतिविकृतिग्रहणं कर्तव्यमिति कात्यायनीयवचनेन यूपदार्वादिष्वेव प्रकृतिविकारभूतेषु चतुर्थीसमासनियमाद्, अप्रकृतिविकारभूत इत्येवमादौ तन्निषेधात्। अश्वघासादयः षष्ठीसमासा भविष्यन्तीत्यश्वघासादिषु षष्ठीसमासप्रतिविधानात्। षष्ठीसमासेऽपि च ब्रह्मणो वास्तवप्राधान्योपपत्तेरिति। स्यादेतद्—ब्रह्मणो जिज्ञासेत्युक्ते तत्रानेकार्थत्वाद् ब्रह्मशब्दस्य संशयः, कस्य ब्रह्मणो जिज्ञासेति ? अस्ति ब्रह्मशब्दो विप्रत्वजातौ, यथा—ब्रह्महत्येति। अस्ति

भामती—व्याख्या

(वि. पु. २।८।९६)। अर्थात् भूतसंप्लव या महाप्रलय-पर्यन्त जो स्थायी होता है, उसे अमृत (या अनश्वर) कह दिया जाता है। 'ब्रह्मविज्ञानादपि' इस भाष्य में प्रयुक्त ब्रह्म पद के द्वारा ब्रह्मविषयक प्रमाणभूत वेद और उसमें भी योग्यता के आधार पर 'तद्यथेह कर्मचितः' इत्यादि वैदिक वाक्य गृहीत होते हैं। हेत्वर्थक पञ्चमी के द्वारा उक्त वाक्य का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। अतः श्रीभास्कराचार्य ने जो भाष्यकार पर अनुपस्थित विवेकादि के आनन्तर्य के प्रतिपादन का आरोप लगाया है, वह निराधार होकर रह जाता है। जैसे स्वर्गादिरूप सुख में दुःख का सम्बन्ध होता है, वैसा ब्रह्मरूप सुख में नहीं है। अतः स्वर्गादि में क्षयित्वप्रतिपादन के माध्यम से ब्रह्मज्ञान की परम पुरुषार्थ-हेतुता स्पष्ट हो जाती है, जैसा कि श्रुति कहती है—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै. उ. २।१)। भाष्यकार ने 'ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा'—ऐसा षष्ठीसमास दिखाकर अपने से पूर्ववर्ती वृत्तिकार के द्वारा प्रदर्शित 'ब्रह्मणे जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा'—इस प्रकार के चतुर्थीसमास का निराकरण ध्वनित कर दिया है, क्योंकि 'तादर्थ्यसमासे 'प्रकृतिविकृतिग्रहणं कर्त्तव्यम्'—इस प्रकार कात्यायन-वचन के द्वारा यूप-दारु आदि परिगणित स्थानों पर ही चतुर्थीसमास मानते हैं, सर्वत्र नहीं। ब्रह्मजिज्ञासा के समान प्रकृति-विकारभाव-रहित स्थल पर निषेध एवं 'अश्वघासादयः षष्ठीसमासा भविष्यन्ति' इत्यादि वचनों के द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा आदि पदों में षष्ठीसमास का विधान माना गया है। षष्ठीसमास में भी ब्रह्म की प्रधानता अक्षुण्ण रह जाती है।

शङ्का—'ब्रह्मणो जिज्ञासा'—ऐसा कहने पर भी ब्रह्मशब्द के अनेक अर्थों को ध्यान में रखकर सन्देह उपस्थित हो जाता है कि किस ब्रह्म की जिज्ञासा प्रस्तुत की जा रही है ? ब्रह्म शब्द विप्रत्व जाति में प्रयुक्त होता है, जैसे कि 'ब्रह्महत्या'। ब्रह्म शब्द वेद में भी प्रयुक्त है, जैसे कि 'ब्रह्मोज्झम्' एवं परमात्मा का भी वाचक ब्रह्म शब्द होता है जैसे कि 'ब्रह्मवेद

जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च । ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि

भामती

च वेदे, यथा—ब्रह्मोज्झमिति अस्ति च परमात्मनि, यथा—ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति तमिमं संशयमपाकरोति ❀ ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणम् इति ❀। यतो ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय तज्ज्ञापनाय परमात्मलक्षणं प्रणयति ततोऽवगच्छामः परमात्मजिज्ञासैवेयं न विप्रत्वजात्यादिजिज्ञासेत्यर्थः ।

षष्ठीसमासपरिग्रहेऽपि नेयं कर्मषष्ठी, किन्तु शेषलक्षणा, सम्बन्धमात्रं च शेष इति ब्रह्मणो जिज्ञासेत्युक्ते ब्रह्मसम्बन्धिनी जिज्ञासेत्युक्तं भवति । तथा च ब्रह्मस्वरूपप्रमाणयुक्तिसाधनप्रयोजनजिज्ञासाः सर्वा ब्रह्मजिज्ञासार्था ब्रह्मजिज्ञासयाऽवरुद्धा भवन्ति। साक्षात्पारम्पर्येण च ब्रह्मसम्बन्धात् । कर्मषष्ठ्यां तु ब्रह्मशब्दार्थः कर्म, स च स्वरूपमेवेति तत्प्रमाणादयो नावरुध्येरन्, तथा चाप्रतिज्ञातार्थचिन्ता प्रमाणादिषु भवेदिति ये मन्यन्ते तान् प्रत्याह ❀ ब्रह्मणः इति । ❀ कर्मणि इति ❀ । अत्र हेतुमाह ❀ जिज्ञास्येति ❀ । इच्छायाः प्रतिपत्त्यनुबन्धो ज्ञानं, ज्ञानस्य च ज्ञेयं ब्रह्म, न खलु ज्ञानं ज्ञेयं विना निरूप्यते, न च जिज्ञासा ज्ञानं विनेति प्रतिपत्त्यनुबन्धत्वात् प्रथम जिज्ञासा कर्मैवापेक्षते, न तु सम्बन्धिमात्रम् । तदन्तरेणापि सति कर्मणि तन्निरूपणात् । नहि चन्द्रमसमादित्यं चोपलभ्य कस्यायमिति सम्बन्ध्यन्वेषणा भवति । भवति तु

भामती–व्याख्या

ब्रह्मैव भवति' ।

समाधान—उक्त शंका का परिहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं—'ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणम्' । ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा करने के अनन्तर द्वितीय सूत्र में सूत्रकार परमात्मा का लक्षण कर रहे हैं, उससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म-जिज्ञासा पद में 'ब्रह्म' पद परमात्मा का ही वाचक है, विप्रत्वादि जाति का नहीं। षष्ठी-समास में भी कर्मषष्ठी नहीं अपितु शेषषष्ठी का ही परिग्रह किया जाता है। सम्बन्धमात्र का शेष पद से विधान किया गया है। ब्रह्मणो जिज्ञासा ऐसा कहने से ब्रह्मसम्बन्धी जिज्ञासा प्रतीत होती है। इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप, प्रमाण, युक्ति, साधन और प्रयोजन आदि की जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा में समाविष्ट हो जाती है। फलतः चतुर्लक्षणी वेदान्तमीमांसा का ग्रहण ब्रह्मजिज्ञासा पद से हो जाता है, क्योंकि साक्षात् या परम्परया ब्रह्म का सम्बन्ध सर्वत्र है। कर्मषष्ठी का ग्रहण करने पर केवल ब्रह्मशब्दार्थ कर्म होता है वह केवल स्वरूप का ही उपस्थापक होता है, प्रमाणादि का संग्राहक नहीं। जो लोग प्रमाणादि के ग्रहण में अप्रतिज्ञात चर्चा का प्रसङ्ग उद्भावित करते हैं, उनके लिए कहा गया है—"ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी न शेषे"। उसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा गया है—जिज्ञास्यापेक्षत्वात् जिज्ञासायाः। इच्छा का विषय है ज्ञान और ज्ञान का ज्ञेय है ब्रह्म। ज्ञेय के बिना ज्ञान का निरूपण सम्भव नहीं और ज्ञान के बिना जिज्ञासा का निरूपण नहीं हो सकता। ज्ञानकर्मक इच्छारूप जिज्ञासा सर्वप्रथम ज्ञान की ही अपेक्षा करती है, सम्बन्धि-मात्र की नहीं। सम्बन्धिसामान्य के बिना भी कर्म का निरूपण किया जा सकता है. जैसे कि चन्द्रमा और आदित्य को देखकर 'कस्यायम्' इस प्रकार की सम्बन्धिसामान्य की अपेक्षा नहीं देखी जाती, किन्तु 'ज्ञानम्' ऐसा सुनने पर 'किंविषयकं ज्ञानम् ?' इस प्रकार कर्म की ही अपेक्षा होती है। अतः प्रथम अपेक्षा के बल पर ब्रह्म का जिज्ञासा के साथ कर्मत्वेन ही सम्बन्ध होता है, सामान्य सम्बन्धितया नहीं, क्योंकि सामान्य सम्बन्धिता मुख्य नहीं, गौण मानी जाती है। इस प्रकार 'ब्रह्मणः' में कर्मार्थक षष्ठी विभक्ति मानी गई है। यदि कहा जाय कि जिज्ञास्य पदार्थ के बिना जिज्ञासा का निरूपण नहीं हो सकता—यह ठीक है किन्तु ब्रह्म को छोड़कर जिज्ञास्य कोई अन्य भी हो सकता है। तो वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च"।

ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, संबन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् । एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य, सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात् । न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेन्न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात् । ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम् । तस्मिन्प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि । यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत् । श्रुत्यनुगमाच्च—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म (तैत्ति० ३।१) इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति । तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति ।

भामती

ज्ञानमित्युक्ते विषयान्वेषणा किंविषयमिति ? तस्मात्प्रथममपेक्षितत्वात् कर्मतयैव ब्रह्म सम्बध्यते, न सम्बन्धितामात्रेण, तस्य जघन्यत्वात् । तथा च कर्मणि षष्ठीत्यर्थः । ननु सत्यं न जिज्ञास्यमन्तरेण जिज्ञासा निरूप्यते, जिज्ञास्यान्तरं त्वस्या भविष्यति, ब्रह्म तु शेषतया सम्भन्त्स्यते इत्यत आह ❀ जिज्ञास्यान्तरेति ❀ । निगूढाभिप्रायश्चोदयति ❀ ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि इति ❀ । सामान्यसम्बन्धस्य विशेषसम्बन्धाविरोधेन कर्मताया अविघातेन जिज्ञासानिरूपणोपपत्तेरित्यर्थः ।

निगूढाभिप्राय एव दूषयति ❀ एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः इति ❀ । वाच्यस्य कर्मत्वस्य जिज्ञासया प्रथममपेक्षितस्य प्रथमसम्बन्धार्हस्य चान्वयपरित्यागेन पश्चात् कथञ्चिदपेक्षितस्य सम्बन्धिमात्रस्य सम्बन्धो जघन्यः प्रथमः प्रथमश्च जघन्य इति सुव्याहृतं न्यायतत्त्वम् । प्रत्यक्षपरोक्षाभिधानं च प्राथम्याप्राथम्यस्फुटत्वास्फुटत्वाभिप्रायम् । चोदकः स्वाभिप्रायमुद्घाटयति ❀ न व्यर्थो ब्रह्माश्रिताशेषेति❀ । व्याख्यातमेतदधस्तात् । समाधाता स्वाभिसन्धिमुद्घाटयति ❀ न, प्रधानपरिग्रहे इति ❀ । वास्तवं प्राधान्यं ब्रह्मणः । शेषं सनिदर्शनमतिरोहितार्थं, श्रुत्यनुगमश्चातिरोहितः ।

भामती-व्याख्या

शेषार्थक षष्ठी मानकर भी ब्रह्मगत कर्मता का उपपादन किया जा सकता है—इस आशय को मन में रखकर शेष-षष्ठीवादी शङ्का करता है—"ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि"। 'निर्विशेषं न सामान्यम्'—इस न्याय के अनुसार सामान्य सम्बन्ध का किसी-न-किसी विशेष अर्थ में पर्यवसान मानना होगा, अतः कर्मता में ही उसका तात्पर्य मानकर ब्रह्मकर्मक जिज्ञासा का उपपादन किया जा सकता है। द्राविड़ प्राणायाम का प्रसङ्ग स्मरण कर सिद्धान्ती (कर्मषष्ठीवादी) उक्त शङ्का का निरास करता है—"एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य।" उक्त षष्ठी किस अर्थ में प्रयुक्त है ? इस आकांक्षा में प्रथमतः कर्मता का प्रस्ताव ठुकराकर शेष-षष्ठी मान कर पुनः शेषता का कर्मता में उपसंहार करना कर्मतारूप मुख्य अर्थ को गौणता और गौणभूत शेष-षष्ठी को मुख्यता प्रदान करना अत्यन्त अनुचित है और निरर्थक श्रममात्र है। शेष-षष्ठीवादी अपने श्रम की निरर्थकता का परिहार करता है—"न व्यर्थः"। शेष-षष्ठी मानने पर ब्रह्म-सम्बन्धी प्रमाणादि के विचार को प्रतिज्ञा-वाक्य में समाहित करने के लिए शेष-षष्ठी मानना सार्थक है, निरर्थक नहीं। कर्मता-षष्ठीवादी अपना मन्तव्य उद्घाटित कर रहा है—"न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्"। संक्षिप्त समाधान का ही विस्तार किया जाता है—"ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टम्"। आशय यह है कि कर्म-षष्ठी मानकर ब्रह्म की प्रधानता का लाभ होता है, प्रधानभूत अर्थ की जिज्ञासा प्रतिज्ञात होने पर अङ्गभूत सभी पदार्थों की जिज्ञासा वैसे ही प्रतिज्ञात हो जाती है, जैसे 'राजासौ गच्छति'—ऐसा कहने पर राजा का समस्त परिजन-वर्ग गृहीत हो जाता है।

तस्माद् ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी। ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म, फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म

भामती

तदेवमभिमतं समासं व्यवस्थाप्य जिज्ञासापदार्थमाह ※ ज्ञातुम् इति ※। स्यादेतत्—न ज्ञानमिच्छाविषयः। सुखदुःखावाप्तिपरिहारौ वा तदुपायौ वा तद्द्वारेणेच्छागोचरः। न चैवं ब्रह्मविज्ञानम्। न खल्वेतदनुकूलमिति वा प्रतिकूलनिवृत्तिरिति वाऽनुभूयते। नापि तयोरुपायः, तस्मिन् सत्यपि सुखभेदस्यादर्शनात्। अनुवर्तमानस्य च दुःखस्यानिवृत्तेः। तस्मान्न सूत्रकारवचनमात्राद्विविक्षितता ज्ञानस्येत्यत आह ※ अवगतिपर्य्यन्तम् इति ※। न केवलं ज्ञानमिष्यते किन्त्ववगतिं साक्षात्कारं कुर्वदवगतिपर्य्यन्तं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म। कस्मात्? फलविषयत्वादिच्छायाः तदुपायं फलपर्य्यन्तं गोचरयतीच्छेति शेषः। ननु भवत्ववगतिपर्य्यन्तं ज्ञानं, किमेतावतापीष्टं भवति। न ह्युपेक्षणीयविषयमवगतिपर्य्यन्तमपि ज्ञानमिष्यत इत्यत आह ※ ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म ※। भवतु ब्रह्मविषयावगतिः, एवमपि कथमिष्टेत्यत आह ※ ब्रह्मावगतिर्हिपुरुषार्थः ※। किमभ्युदयः? न, किन्तु निःश्रेयसं विगलितनिखिलदुःखानुषङ्गपरमानन्दघनब्रह्मावगतिर्ब्रह्मणः स्वभाव इति सैव निःश्रेयसं पुरुषार्थ इति। स्यादेतत्—न ब्रह्मावगतिः पुरुषार्थः। पुरुषव्यापारव्याप्यो हि पुरुषार्थः। न चास्या ब्रह्मस्वभावभूताया उत्पत्तिविकारसंस्कारप्राप्तयः सम्भवन्ति। तथा सत्यनित्यत्वेन तत्स्वाभाव्यानुपपत्तेः। न चोत्पत्त्याद्यभावे व्यापारव्याप्यता। तस्मान्न ब्रह्मावगतिः पुरुषार्थ इत्यत आह ※ निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात् ※। सत्यं ब्रह्मावगतौ ब्रह्मस्वभावे नोत्पत्त्यादयः सम्भवन्ति। तथाप्यनिर्वचनीयानाद्यविद्यावशाद् ब्रह्मस्वभावोऽ-

भामती-व्याख्या

'जिज्ञासा' पद का अर्थ किया जाता है—"ज्ञातुमिच्छा"।

शङ्का—ऊपर ज्ञान को जो इच्छा का विषय माना गया, वह उचित नहीं, क्योंकि स्वभावतः सुख की प्राप्ति, दुःख का परिहार एवं उनके उपायभूत पदार्थ ही इच्छा के विषय माने जाते हैं, ब्रह्म-ज्ञान न तो सुखरूप है, क्योंकि अनुकूल वेदनीय नहीं। न दुःख की निवृत्तिरूप है और न उनका उपायरूप ही है, क्योंकि उसके होने पर भी न तो सुखादि की प्राप्ति देखी जाती है और न वर्तमान दुःख की निवृत्ति। केवल सूत्रकार के वैसा कह देने मात्र से ज्ञान को इच्छा का विषय नहीं माना जा सकता।

समाधान—भाष्यकार ने उक्त शङ्का का निराकरण करने के लिए ज्ञान का परिष्कार किया है—"अवगतिपर्यन्तं ज्ञानम्"। केवल ज्ञान को इच्छा का कर्म नहीं माना जाता, अपितु आत्मा का साक्षात्कारात्मक ज्ञान विवक्षित है, क्योंकि इच्छा सदैव फलविषयिणी होती है, फल है—मोक्षरूप सुख, अतः इच्छा उसके उपायभूत विचार-जन्य ब्रह्म-साक्षात्कार को विषय करती है। अवगति-पर्यन्त ज्ञान की विवक्षा होने पर अभीष्ट-सिद्धि का प्रकार बताया जाता है—"ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म, ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः"। 'पुरुषार्थ' पद से यहाँ अभ्युदयरूप पुरुषार्थ विवक्षित नहीं, अपितु मोक्ष अभिप्रेत है, जो कि सभी प्रकार के दुःखों के सम्बन्ध से रहित परमानन्द-घन ब्रह्म की अवगति ब्रह्म का ही स्वरूप है, उसको ही निःश्रेयस् या मोक्ष कहते हैं। ब्रह्मस्वरूपभूत मोक्ष की उत्पत्ति, विकृति या संस्कार सम्भव नहीं, अन्यथा (उत्पत्त्यादि मानने पर) मोक्ष अनित्य होकर नित्य कूटस्थ ब्रह्म का स्वरूप न हो सकेगा। मोक्ष की जब उत्पत्त्यादि सम्भव नहीं, तब वह पुरुष के किसी व्यापार से साध्य न होने के कारण पुरुषार्थ क्योंकर बन सकेगा? इस प्रश्न का उत्तर है—"निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्"। यद्यपि ब्रह्मस्वरूपभूत ब्रह्म की अवगति के उत्पत्त्यादि सम्भव नहीं, तथापि

विजिज्ञासितव्यम् । तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् । यदि प्रसिद्धं, न जिज्ञासि-

भामती

पराधीनप्रकाशोऽपि प्रतिभासमानोऽपि न प्रतिभातीव पराधीनप्रकाश इव देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नोऽप्यभिन्न इव भासत इति संसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात् प्रागप्राप्त इव तस्मिन् सति प्राप्त इव भवतीति पुरुषेणा-र्थ्यमानत्वात् पुरुषार्थं इति युक्तम् । अविद्यादीत्यादिग्रहणेन तत्संस्कारोऽवरुध्यते । अविद्याविनिवृत्तिस्तू-पासनाकार्याद्विन्तःकरणवृत्तिभेदात् साक्षात्कारादिति द्रष्टव्यम् ।

उपसंहरति ॐ तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यमुक्तलक्षणेन मुमुक्षुणा ॐ । न खलु तज्ज्ञानं विना सवासनविविधदुःखनिदानमविद्योच्छिद्यते । न च तदुच्छेदमन्तरेण विगलितनिखिलदुःखानुषङ्गानन्दघन-ब्रह्मात्मतासाक्षात्काराविर्भावो जीवस्य । तस्मादानन्दघनब्रह्मात्मतामिच्छता तदुपायो ज्ञानमेषितव्यम् । तच्च न केवलेभ्यो वेदान्तेभ्योऽपि तु ब्रह्ममीमांसोपकरणेभ्य इति इच्छामुखे ब्रह्ममीमांसायां प्रवर्तयते, न तु वेदान्तेषु तदर्थविवक्षायां वा । तत्र फलवदर्थावबोधपरतां स्वाध्यायाध्ययनविधेः सूत्रयताऽथातो धर्मजिज्ञासेत्यनेनैव प्रवर्तितत्वाद्, धर्मग्रहणस्य वेदार्थोपलक्षणत्वेनाधर्मवद् ब्रह्मणोऽप्युपलक्षणाच्च । यद्यपि च धर्ममीमांसावद् वेदार्थमीमांसया ब्रह्ममीमांसाप्याक्षेप्तुं शक्यते, तथापि प्राच्या मीमांसया न तद् व्युत्पाद्यते, नापि ब्रह्ममीमांसाया अध्ययनमात्रानन्तर्यमिति ब्रह्ममीमांसारम्भाय नित्यानित्यविवेकाद्यानन्तर्यप्रदर्शनाय

भामती-व्याख्या

ब्रह्म का वह स्वरूप अनिर्वचनीय अनादि अविद्यारूप आवरण से आवृत होने के कारण अप्रतिभात, पर प्रकाश और देहेन्द्रियादि से भिन्न होने पर भी अभिन्न-जैसा प्रतीत होता है। संसाररूप अनर्थ पदार्थों के कारणीभूत अनिर्वचनीय अज्ञान की निवृत्ति से पहले अप्राप्त और अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर प्राप्त-जैसा होकर पुरुषार्थ बन जाता है। यहाँ "अविद्यादि"-इस आदि पद के द्वारा अविद्या-जनित संस्कार विवक्षित हैं। अविद्या की निवृत्ति ब्रह्मोपासना के कार्यभूत मानस वृत्ति विशेषरूप साक्षात्कार से होती है—यह कहा जा चुका है। जिज्ञासा-प्रसङ्ग का उपसंहार किया जाता है—"तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्"। अर्थात् विवेक-वैराग्यादि साधनों से सम्पन्न मुमुक्षु के द्वारा उक्त ब्रह्म अवश्य जिज्ञासितव्य है, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान के विना विविध दुःखों की कारणीभूत अविद्या का समूल उच्छेद नहीं हो सकता, उस उच्छेद के विना जीव को निखिल दुःख-सम्बन्ध से रहित ब्रह्म का अभेद-साक्षात्कार नहीं हो सकता, अतः आनन्द-घन ब्रह्म के अभेद-साक्षात्कार की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षु को उक्त साक्षात्कार के उपाय की गवेषणा करनी चाहिए। वह साक्षात्कार केवल वेदान्त-वाक्यों से नहीं, अपितु ब्रह्म-मीमांसारूप सहायक तर्क से संवलित वेदान्त-वाक्यों के द्वारा सम्पन्न होता है। सामान्यतः ज्ञात और विशेषतः सन्दिग्ध ब्रह्म के जानने की इच्छा सहजतः मुमुक्षु पुरुष को होती है, जिससे अनुप्राणित हो कर वह ब्रह्म-विचार में प्रवृत्त होता है, केवल वेदान्तार्थ-ज्ञान की इच्छा से नहीं, क्योंकि केवल अर्थ-ज्ञान की इच्छा रखनेवाले पुरुष की प्रवृत्ति तो महर्षि जैमिनि के अध्ययन-विधि-सूचक "अथातो धर्मजिज्ञासा" (जै. सू. १।१।१) इस सूत्र से ही सिद्ध हो जाती है। उस सूत्र में 'धर्म' पद सकल वेदार्थ का लक्षक है, अतः ब्रह्म का भी वैसे ही संग्राहक हो जाता है, जैसे—अधर्म का, अत एव पार्थसारथि मिश्र कहते हैं—"धर्मग्रहणं चोपलक्षणार्थम्, अधर्मस्यापि हानाय जिज्ञास्यात्" (शास्त्रदी. पृ. १५)। यद्यपि वेदार्थ-मीमांसा के द्वारा धर्म-मीमांसा के समान ब्रह्म-मीमांसा का भी ग्रहण हो सकता है, तथापि पूर्व मीमांसा में न तो ब्रह्म का व्युत्पादन किया गया है और न ब्रह्म-मीमांसा में वेदाध्ययनमात्र का अनन्तर्य विवक्षित है, अतः नित्यानित्य वस्तु के विवेकादि का आनन्तर्य दिखाने के लिए "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र. सू. १।१।१) इस सूत्र का आरम्भ आवश्यक है, इसमें किसी प्रकार की

तव्यम् । अथाऽप्रसिद्धं, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति । उच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्य-

भामती

नेदं सूत्रमारम्भणीयमित्यपौनरुक्त्यम् । स्यादेतत्—एतेन सूत्रेण ब्रह्मज्ञानं प्रत्युपायता मीमांसायाः प्रतिपन्ना इत्युक्तं, तदयुक्तं, विकल्पासहत्वादिति चोदयति ❀ तत् पुनर्ब्रह्म इति ❀ । वेदान्तेभ्योऽपौरुषेयत्वेन स्वतःसिद्धप्रामाण्येभ्यः प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् । यदि प्रसिद्धं वेदान्तवाक्यसमुत्थेन निश्चयज्ञानेन विषयीकृतं ततो न जिज्ञासितव्यम्, निष्पादितक्रिये कर्मणि अविशेषाधायिनः साधनस्य साधनन्यायातिपातात् । अथाप्रसिद्धं वेदान्तेभ्यस्तर्हि न तद् वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीति सर्वथाऽप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुम् । अनुभूते हि प्रिये भवतीच्छा न तु सर्वथाऽननुभूतपूर्वे । न चेष्यमाणमपि शक्यं ज्ञातुं, प्रमाणाभावात् । शब्दो हि तस्य प्रमाणं वक्तव्यम् । यथा वक्ष्यति "शास्त्रयोनित्वात्"—इति । स चेन्नावबोधयति, कुतस्तस्य तत्र प्रामाण्यम् । न च प्रमाणान्तरं ब्रह्मणि प्रक्रमते । तस्मात्प्रसिद्धस्य ज्ञातुं शक्यस्याप्यजिज्ञासनाद् अप्रसिद्धस्येच्छाया अविषयत्वाद् अशक्यज्ञानत्वाच्च न ब्रह्म जिज्ञास्यमित्याक्षेपः ।

परिहरति ❀उच्यते अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम्❀ । अयमर्थः—प्रागपि ब्रह्ममीमांसाया अधीतवेदस्य निगमनिरुक्तव्याकरणादिपरिशीलनविदितपदतदर्थसम्बन्धस्य सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्युपक्रमात् तत्त्वमसीत्यन्तात् सन्दर्भान्नित्यत्वाद्युपेतब्रह्मस्वरूपावगमस्तावदापाततो

भामती-व्याख्या

पुनरुक्ति नहीं ।

शङ्का - ब्रह्म-ज्ञान की साधनता जो ब्रह्म-जिज्ञासा में कही गई, वह सम्भव नहीं—ऐसा आक्षेप किया जाता है—"तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्?" अपौरुषेय वेद में प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, अतः उसके एकदेशभूत वेदान्त-वाक्यों के द्वारा जीवाभिन्न ब्रह्म का निश्चय है? अथवा नहीं? यदि वेदान्त-वाक्य-जन्य निश्चय की विषयता ब्रह्म में पहले से है, तब ब्रह्म-जिज्ञासा की आवश्यकता नहीं, क्योंकि [जैसे पर्वत में अग्न्यादिरूप कर्मकारक की सिद्धिरूप क्रिया-सम्पन्न हो जाने पर अग्नि में सन्दिग्धता न रहने के कारण अग्नि का साधनीभूत न्याय साधन ही नहीं रहता, वैसे ही] जिज्ञासा के कर्मभूत ब्रह्म की अवगति हो जाने पर उसकी जिज्ञासा सम्भव नहीं रह जाती । यदि वेदान्त-वाक्यों से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, तब यह जो कहा जाता है कि "वेदान्ताः ब्रह्म प्रतिपादयन्ति" । वह सर्वथा अप्रसिद्ध हो जाता है, तब ब्रह्म की जिज्ञासा क्योंकर होगी? क्योंकि जो प्रिय पदार्थ अनुभूत होता है, उसी की ही जिज्ञासा होती है, सर्वथा अननुभूत पदार्थ की नहीं । अननुभूत पदार्थ की जिज्ञासा होने पर भी प्रमाण के अभाव में उसका ज्ञान सम्भव नहीं, शब्द को ही ब्रह्म में प्रमाण कहा जाता है—"शास्त्रयोनित्वात्" । वह आगम यदि ब्रह्म का बोध नहीं कराता, तब वह ब्रह्म में प्रमाण क्योंकर होगा? ब्रह्म में कोई अन्य प्रमाण सम्भव नहीं । फलतः प्रसिद्ध पदार्थ का ज्ञान सम्भव होने पर भी उसमें जिज्ञास्यता नहीं बनती और अप्रसिद्ध पदार्थ तो इच्छा का विषय ही नहीं होता. उसका ज्ञान भी सम्भव नहीं, अतः ब्रह्म कथमपि जिज्ञस्य नहीं—यह आक्षेपवादी का संक्षिप्त वक्तव्य है ।

समाधान—उक्त आक्षेप का परिहार किया जाता है "उच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धस्वभावम्" । भाव यह है कि जिस व्यक्ति ने वेद का अध्ययन कर लिया है, जिसे निघण्टु, निरुक्त और व्याकरणादि के परिशीलन से पद-पदार्थ का संगति-ग्रह हो चुका है, उस व्यक्ति को ब्रह्म-जिज्ञासा से पहले भी आपाततः ब्रह्म-ज्ञान हो जाता है, क्योंकि जो व्यक्ति वेदान्त-प्रकरण के उपक्रम में "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां. ६।२।१) इस प्रकार सद्ब्रह्म का उल्लेख, मध्य में "तत्त्वमसि" (छां. ६।२।१) इस प्रकार पुनः-पुनः चर्चा और अन्त में "एकमेवाद्वितीयम्" (छां. ६।२।१) ऐसा ब्रह्म का स्वरूप देखता है, उसको विचार के विना

शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम् ; ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते; बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्ति-

---

भामती

विचाराद्विनाऽप्यस्ति । अत्र च ब्रह्मत्वाविनाभाव्येन तद्विषयमवगमं लक्षयति । तदस्तित्वस्य सति विमर्शे विचारात्प्रागनिर्णयात् । नित्येति क्षयितालक्षणं दुःखमुपक्षिपति । शुद्धेति देहाद्युपाधिकमपि दुःखमपाकरोति । बुद्धेत्यपराधीनप्रकाशमानन्दात्मानं दर्शयति, आनन्दप्रकाशयोरभेदात् । स्यादेतत्—मुक्तौ सत्यामस्यैते शुद्धत्वादयः प्रथन्ते, ततस्तु प्राग् देहाद्यभेदेन तद्धर्मजन्मजरामरणादिदुःखयोगादित्यत उक्तं ※ मुक्तेति ※ । सदैव मुक्तः सदैव केवलोऽनाद्यविद्यावशात् तु भ्रान्त्या तथाऽवभासत इत्यर्थः ।

तदेवमनौपाधिकं ब्रह्मणो रूपं दर्शयित्वाऽविद्योपाधिकं रूपमाह ※ सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम् ※ । तदनेन जगत्कारणत्वमस्य दर्शितं, शक्तिज्ञानभावाभावानुविधानात् कारणत्वभावाभावयोः । कुतः पुनरेवंभूतब्रह्मस्वरूपावगतिरित्यत आह ※ ब्रह्मशब्दस्य हि इति ※ । न केवलं सदेव सोम्येदमित्यादीनां वाक्यानां पर्यालोचनया इत्थम्भूतब्रह्मावगतिः अपि तु ब्रह्मपदमपि निर्वचनसामर्थ्यादिममेवार्थं स्वहस्तयति । निर्वचनमाह ※ बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् ※ । वृद्धिकर्मा हि बृहतिरतिशायने वर्तते । तच्चेदमतिशायनमनवच्छिन्नं पदान्तरावगमितं नित्यशुद्धबुद्धत्वाद्यस्याभ्यनुजानातीत्यर्थः । तदेवं तत्पदार्थस्य शुद्धत्वादेः प्रसिद्धिमभिधाय त्वम्पदार्थस्याप्याह ※ सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः ※ । सर्वस्य पांसुलपादकस्य

भामती–व्याख्या

भी ब्रह्म का ज्ञान क्यों न होगा ? भाष्यकार ने जो कहा है—"अस्ति तावद् ब्रह्म", वहाँ विषयवाचक 'ब्रह्म' पद की लक्षणा ब्रह्म-ज्ञान में विवक्षित है, अतः 'अस्ति ब्रह्म' का अर्थ है—'अस्ति ब्रह्मज्ञानम्'। ब्रह्म का अस्तित्व तब तक स्थिर नहीं हो सकता, जब तक वह सन्दिग्ध है। 'नित्य' विशेषण के द्वारा क्षयितात्मक दुःख की निवृत्ति की गई है, 'शुद्ध' पद के द्वारा आत्मा में औपाधिक दुःख का अपनयन और 'बुद्ध' पद के द्वारा स्वप्रकाशरूप आनन्द का प्रदर्शन किया गया है, क्योंकि आनन्द और प्रकाश तत्त्व परस्पर अभिन्न होते हैं। 'मुक्त होने पर ही आत्मा में शुद्धत्वादि धर्म प्रकट होंगे, उससे पहले आत्मा देहादि से तादात्म्यापन्न होने के कारण जरा-मरणादि दुःखों से दुःखी ही है'—ऐसी धारणा का प्रतीकार करने के लिए 'मुक्त' कहा है, अर्थात् वह सदैव मुक्त और सदैव शुद्ध है, अनादि, अविद्या के द्वारा केवल वैसी भ्रान्ति हो जाती है। इस प्रकार ब्रह्म का अनौपाधिक रूप दिखाकर अविद्यारूप उपाधि से युक्त स्वरूप दिखाते हैं—"सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्"। सर्वज्ञत्वादि के द्वारा जगत्कारणत्व प्रदर्शित किया गया, क्योंकि किसी कार्य की कारणता उसी पदार्थ में रहती है, जिसमें कार्य-कारण-कलाप का ज्ञान एवं कार्योत्पादन की क्षमता विद्यमान हो, वही कर्त्ता माना जाता है। नित्य, शुद्ध, बुद्धादिरूप ब्रह्म का लाभ किस शब्द से होता है ? इस प्रश्न का उत्तर है—"ब्रह्मशब्दस्य व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते"। केवल उपक्रमादि युक्तियों के द्वारा ही वैसा अर्थ प्रतीत नहीं होता, अपितु "बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्"। 'बृहि वृद्धौ' धातु से "बृंहेर्नोऽच्च" (पा. सू. उण. ४।१४६) इस सूत्र के द्वारा 'मनिन्' प्रत्यय और धातु के नकार को 'अकार का आदेश होकर 'ब्रह्म' शब्द बना है। धातु की शक्ति अतिशय (सर्वविध परिच्छेदों) से रहित अर्थ में है, अतः नित्यादि पदान्तरों से समर्पित नित्यत्वादिरूप अपरिच्छिन्नत्वादि का बोध हो जाता है।

"तत्त्वमसि" (छां. ६।२।१) इस महावाक्य के घटकीभूत 'तत्' पद के शुद्धत्वादि अर्थों का अभिधान कर त्वम्पदार्थ सूचित किया जाता है—"सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्व-

त्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न; तद्विशेषं प्रति

भामती

हालिकस्यापि ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। कुतः? आत्मत्वात्। एतदेव स्फुटयति ❀ सर्वो हि इति ❀। प्रतीतिमेवाप्रतीतिनिराकरणेन द्रढयति ❀ न न इति ❀। न न प्रत्येत्यहमस्मीति, किन्तु प्रत्येत्येवेति योजना। नन्वहमस्मीति च ज्ञास्यति मा च ज्ञासीदात्मानमित्यत आह ❀ यदि इति ❀। ❀ अहमस्मीति न प्रतीयात् ❀। अहङ्कारास्पदं हि जीवात्मानं चेन्न प्रतीयादहमिति न प्रतीयादित्यर्थः। ननु प्रत्येतु सर्वो जन आत्मानमहङ्कारास्पदं ब्रह्मणि तु किमायातमित्यत आह ❀ आत्मा च ब्रह्म ❀। तदस्त्वमा सामानाधिकरण्यात् तस्मात्तत्पदार्थस्य शुद्धबुद्धत्वादेः शब्दतस्त्वम्पदार्थस्य च जीवात्मनः प्रत्यक्षतः प्रसिद्धेः पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाच्च वाक्यार्थज्ञानस्य त्वम्पदार्थस्य ब्रह्मभावावगमस्तत्त्वमसीतिवाक्याद् उपपद्यत इति भावः। आक्षेप्ता प्रथमकल्पाश्रयं दोषमाह ❀ यदि तर्हि लोकः इति ❀। अध्यापकाध्येतृपरम्परा लोकः, तत्र तत्त्वमसीतिवाक्याद् यदि ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, आत्मा ब्रह्मत्वेनेति वक्तव्ये ब्रह्मात्मत्वेनेत्यभेदविवक्षया गमयितव्यम्। परिहरति ❀ न ❀। कुतः? ❀ तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः ❀। तदनेन विप्रतिपत्तिः साधकबाधकप्रमाणाभावे सति संशयबीजमुक्तं, ततश्च संशयाज्जिज्ञासोपपद्यत इति भावः।

विवादाधिकरणं धर्मी सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धोऽभ्युपेयः। अन्यथाऽनाश्रयाभिन्नाश्रया वा विप्रतिपत्त्यो

भामती-व्याख्या

प्रसिद्धिः"। एक हालिक से लेकर ऋषियों तक समस्त मनुष्यों की दृष्टि में ब्रह्मास्तित्व की प्रसिद्धि है, क्योंकि वह सभी का अपना आत्मा ही है। उसी का स्पष्टीकरण किया जाता है—"सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति"। प्रतीति का अभिनय किया जा रहा है—"न नाहमस्मीति"। 'अहमस्मि'—ऐसी प्रतीति नहीं होती, यह बात नहीं, अपितु सभी को अपने अस्तित्व की प्रतीति होती ही है। यदि सबको आत्मास्तित्व की प्रतीति नहीं होती, तब सभी को 'नाहमस्मि'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए अर्थात् अहंकारास्पदीभूत जीवात्मा की प्रतीति यदि नहीं होती, तब 'अहम्'—ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिए। जीवात्मा की प्रतीति से ब्रह्म की क्योंकर प्रसिद्धि होगी? इस प्रश्न का उत्तर है—"आत्मा च ब्रह्म"। तत् त्वमसि'—यहाँ पर 'तत्' पद का 'त्वम्' पद के साथ सामानाधिकरण्य (एकार्थपरकत्व) है, तत्पदार्थभूत जीवात्मा को प्रत्यक्षतः प्रसिद्धि है। वाक्य-घटकीभूत पदों के अर्थों का ज्ञान वाक्यार्थ-ज्ञान का हेतु होता है, अतः "तत्त्वमसि" – इस वाक्य से त्वम्पदार्थ में ब्रह्मरूपता का अवगम हो जाता है।

'तत्त्वमसि'—इस वाक्य के द्वारा जीवात्मा में ब्रह्मरूपता की अवगति को सुनकर आक्षेपवादी कहता है—"यदि तर्हि लोके"। अध्यापक और अध्येतृवर्ग की परम्परा ही यहाँ 'लोक' पद से गृहीत है। वाक्य के आधार पर आत्मा की ब्रह्मत्वेन प्रसिद्धि का अनुवाद 'ब्रह्म आत्मत्वेन यदि प्रसिद्धम्'—ऐसा करना यद्यपि उचित नहीं, तथापि जीव और ब्रह्म की अभेद-विवक्षा से वैसा कथन सम्भव है। सिद्धान्ती आक्षेप का परिहार करता है—"न तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः"। कोई देह को कोई इन्द्रिय और कोई प्राणादि को आत्मा कहता है—ऐसी विप्रतिपत्तिः उस समय संशय को जन्म दे डालती है, जब किसी पक्ष का साधक या बाधक प्रमाण उपलब्ध न हो, जैसा कि न्यायसूत्रकार कहते हैं—"समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" (न्या. सू. १।१।२३)। सन्देह हो जाने के कारण जिज्ञासा उपपन्न हो जाती है। विप्रतिपत्ति या मत-भेद का धर्मी (विशेष्य) पदार्थ सर्वतन्त्र-सिद्धान्त के रूप में प्रसिद्ध होना चाहिए, अन्यथा बिना आश्रय के

विप्रतिपत्तेः । देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः । इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे । मन इत्यन्ये । विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके । शून्यमित्यपरे । अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्त्ता भोक्तेत्यपरे । भोक्तैव केवलं न

भामती

न स्युः । विरुद्धा हि प्रतिपत्तयो विप्रतिपत्तयः । न चानाश्रयाः प्रतिपत्तयो भवन्ति, अनालम्बनत्वापत्तेः । न च भिन्नाश्रया विरुद्धा । न ह्यनित्या बुद्धिर्नित्य आत्मेति प्रतिपत्तिविप्रतिपत्ती । तस्मात्तत्पदार्थस्य शुद्धत्वादेर्वेदान्तेभ्यः प्रतीतिस्त्वम्पदार्थस्य च जीवात्मनो लोकतः सिद्धिः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । तदाभासत्वानाभासत्वेन तद्विशेषेषु परमत्र विप्रतिपत्तयः । तस्मात्सामान्यतः प्रसिद्धे धर्मिणि विशेषतो विप्रतिपत्तौ युक्तस्तद्विशेषेषु संशयः । तत्र त्वम्पदार्थे तावद्विप्रतिपत्तीर्दर्शयति ❀ देहमात्रम् ❀ इत्यादिना ❀ भोक्तैव केवलं न कर्त्ता ❀ इत्यन्तेन । अत्र देहेन्द्रियमनःक्षणिकविज्ञानचैतन्यपक्षे न तत्पदार्थनित्यत्वादयस्त्वम्पदार्थेन सम्बध्यन्ते, योग्यताविरहात् । शून्यपक्षेऽपि सर्वोपाख्यारहितमपदार्थः कथं तत्त्वमोर्गोचरः ? कर्तृभोक्तृस्वभावस्यापि परिणामितया तत्पदार्थनित्यत्वाद्यसङ्गतिरेव । अकर्तृत्वेऽपि भोक्तृत्वपक्षे परिणामितया नित्यत्वाद्यसङ्गतिः । अभोक्तृत्वेऽपि नानात्वेनावच्छिन्नत्वाद् अनित्यत्वादिप्रसक्त्वादद्वैतहानाच्च तत्पदार्थासङ्गतिस्तदवस्थैव । त्वम्पदार्थविप्रतिपत्त्या च तत्पदार्थेऽपि विप्रतिपत्तिर्दर्शिता । वेदाप्रामाण्यवादिनो हि लोकायतिकादयस्तत्पदार्थप्रत्ययं मिथ्येति मन्यन्ते । वेदप्रामाण्यवादिनोऽप्यौपचारिकं तत्पदार्थमविवक्षितं वा मन्यन्त इति ।

भामती–व्याख्या

या भिन्न-भिन्न आश्रयों में विरुद्ध धर्म-प्रदर्शन को विप्रतिपत्ति नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि एक धर्मी में विरुद्ध प्रतिपत्तियों को विप्रतिपत्ति कहा जाता है । विप्रतिपत्ति को आश्रय-हीन मानने पर निरालम्बवाद प्रसक्त होता है और भिन्न-भिन्न आश्रय में प्रदर्शित धर्मों का विरोध नहीं माना जाता, जैसे 'अनित्या बुद्धिः' और 'नित्य आत्मा'—इनका कोई विरोध नहीं होता । अतः तत्पदार्थ के शुद्धत्वादि की प्रतीति वेदान्त-वाक्यों के द्वारा और त्वम्पदार्थभूत जीवात्मा की प्रसिद्धि लोकतः—ऐसा सर्वतन्त्र (सर्वाभ्युपगत) सिद्धान्त है । विविध मत-सिद्ध प्रतीतियों में आभासत्व और अनाभासत्वादि विवादास्पद हैं । अतः सामान्यतः प्रसिद्ध धर्मी में विशेषतः विवाद होने के कारण विशेषार्थविषयक संशय उपपन्न हो जाता है । त्वम्पदार्थ में विप्रतिपत्ति दिखाते हैं—"देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मा"—यहाँ से लेकर "भोक्तैव केवलं न कर्त्ता"—यहाँ तक । यहाँ देह, इन्द्रिय, मन, क्षणिक विज्ञान के आत्मत्व-पक्ष में तत्पदार्थभूत नित्यत्वादि का त्वम्पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें नित्यत्वादि के साथ सम्बन्ध की योग्यता ही नहीं । शून्य के आत्मत्व-पक्ष में शून्य पदार्थ सर्वथा निरुपाख्य और अलीक माना जाता है, वह न तो त्वम्पदार्थ का विषय हो सकता है और न तत्पदार्थ का । कर्त्ता-भोक्ता आत्मा परिणामी होने के कारण उसमें नित्यत्वादि धर्मों की संगति ही नहीं हो सकती । आत्मा को कर्तृत्व-रहित केवल भोक्ता मानने पर भी परिणामी होने से नित्यत्वादि का आश्रय नहीं हो सकता । कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रहित आत्मा जो सांख्य मानते हैं, वह भी नानात्व से अवच्छिन्न होने के कारण अनित्य ही हो जाता है, अतः वह नित्य क्योंकर होगा ? अद्वैतत्व की भी हानि है, अतः उसमें तत्पदार्थ का संगमन नहीं होता । त्वम्पदार्थ में विप्रतिपत्ति दिखाने मात्र से तत्पदार्थ में भी विप्रतिपत्तियाँ प्रदर्शित ही हो जाती हैं । वेदाप्रामाण्यवादी चार्वाकादि तत्पदार्थ की प्रतीति को मिथ्या ही मानते हैं । वेदप्रामाण्यवादियों में भी प्राभाकरादि तत्पदार्थ को औपचारिक अथवा अविवक्षित मानते हैं, जैसा कि शालिकनाथ मिश्र कहते हैं—'सर्वात्मश्रुतयश्च सर्वस्यात्मार्थत्वात् तादर्थ्यनिमित्तो-

कर्तेत्येके । अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित् । आत्मा स भोक्तुरित्यपरे । एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः । तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात् । तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ॥१॥

भामती

तदेवं त्वम्पदार्थविप्रतिपत्तिद्वारा तत्पदार्थे विप्रतिपत्तिं सूचयित्वा साक्षात्तत्पदार्थे विप्रतिपत्तिमाह ❀ अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित् ❀ । तदिति जीवात्मानं परामृशति । न केवलं शरीरादिभ्यो जीवात्मभ्योऽपि व्यतिरिक्तः । स च सर्वस्यैव जगत ईष्टे । ऐश्वर्यसिद्ध्यर्थं स्वाभाविकमस्य रूपद्वयमुक्तं ❀सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति❀ । तस्यापि जीवात्मभ्योऽपि व्यतिरेकान्न त्वम्पदार्थेन सामानाधिकरण्यमिति स्वमतमाह ❀ आत्मा स भोक्तुरित्यपरे ❀ । भोक्तुर्जीवात्मनोऽविद्योपाधिकस्य स ईश्वरस्तत्पदार्थं आत्मा तत ईश्वरादभिन्नो जीवात्मा परमाकाशादिव घटाकाशादय इत्यर्थः । विप्रतिपत्तीरुपसंहरन् विप्रतिपत्तिबीजमाह ❀ एवं बहवः इति ❀ । ❀ युक्तियुक्त्याभासवाक्यवाक्याभाससमाश्रयाः सन्त ❀ इति योजना । ननु सन्तु विप्रतिपत्तयस्तन्निमित्तश्च संशयस्तथापि किमर्थं ब्रह्ममीमांसारभ्यत इत्यत आह ❀ तत्राविचार्य्य इति ❀ । तत्त्वज्ञानाच्च निःश्रेयसाधिगमो नातत्त्वज्ञानाद्भवितुमर्हति । अपि च अतत्त्वज्ञानान्नास्तिक्ये सत्यनर्थप्राप्तिरित्यर्थः । सूत्रतात्पर्य्यमुपसंहरति ❀तस्माद् इति❀ । वेदान्तमीमांसा तावत्तर्क एव, तदविरोधिनश्च येऽन्येऽपि तर्का अध्वरमीमांसायां न्याये च वेदप्रत्यक्षादिप्रामाण्यपरिशोधनाविषूक्तास्त उपकरणं यस्याः सा तथोक्ता । तस्मात् परमनिःश्रेयससाधनब्रह्मज्ञानप्रयोजना ब्रह्ममीमांसाऽऽरब्धव्येति सिद्धम् ।

भामती—व्याख्या

पचाराः" (प्र. पं. पृ. ३२९) । अब तत्पदार्थ में साक्षाद् विप्रतिपत्ति दिखाते हैं—"अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्" । 'तद्व्यतिरिक्तः'—इस वाक्य में 'तत्' पद से जीव का ग्रहण किया गया है, अर्थात् ईश्वर केवल शरीरादि जड़वर्ग से ही भिन्न नहीं, अपितु जीव से भी भिन्न है । वह समस्त जगत् का सञ्चालक है, उस (ईश्वर) में स्वाभाविक ऐश्वर्य सिद्ध करने के लिए दो विशेषण दिए गए हैं—'सर्वज्ञः, सर्वशक्तिः' ऐसा ईश्वर भी जीवों से भिन्न माना जाता है, अतः उसका त्वम्पदार्थ के साथ सामानाधिकरण्य (अभेद) नहीं बन सकता । वेदान्ती अपना मत प्रस्तुत करता है—"आत्मा स भोक्तुरित्यपरे" । जीवरूप भोक्ता पुरुष का वह तत्पदार्थभूत ईश्वर आत्मा (स्वरूप) है, अतः जीवात्मा ईश्वर से वैसे ही अभिन्न है, जैसे महाकाश से घटाकाशादि । विप्रतिपत्तियों का उपसंहार करते हुए विप्रतिपत्ति का कारण बताया जाता है—"एवं बहव विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः" । युक्ति-युक्त्याभास, वाक्य-वाक्याभास का समाश्रयण कर अपना-अपना मत प्रस्तुत कर रहे हैं । विप्रतिपत्तियों के द्वारा आत्मविषयक सन्देह मान लेने पर भी ब्रह्म-मीमांसा का आरम्भ किसलिए ? इस प्रश्न का उत्तर है—"तत्राविचार्य यत्किञ्चित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येत" (तत्त्व-ज्ञान से साध्य मोक्षाधिगम कभी संशयादिरूप अतत्त्व-ज्ञान से नहीं हो सकता, प्रत्युत अतत्त्व-ज्ञान के द्वारा नास्तिकता-मूलक अनर्थ-प्राप्ति भी हो सकती है । सूत्र के तात्पर्य का उपसंहार किया जाता है—"तस्मात्" । वेदान्त-मीमांसा भी एक तर्क ही है, इससे अविरुद्ध अन्य जितने भी तर्क धर्म-मीमांसा या न्यायों (अधिकरणों) में चर्चित या प्रत्यक्षादि प्रमाणों के परिशोधन में प्रयुक्त हैं, वे सभी तर्क-

(२–जन्माद्यधिकरणम् । सू० २)

ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्मेत्यत आह भगवान् सूत्रकारः—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्मस्थितिभङ्गं समा-

---

भामती

तदेवं तावत् प्रथमेन सूत्रेण मीमांसारम्भमुपपाद्य ब्रह्ममीमांसामारभते ❀ जन्माद्यस्य यतः ❀ ।

एतस्य सूत्रस्य पातनिकामाह भाष्यकारः ❀ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तं किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्म❀ । अत्र यद्यपि ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्य प्रधानस्य प्रतिज्ञया तदङ्गान्यपि प्रमाणादीनि प्रतिज्ञातानि, तथापि स्वरूपस्य प्राधान्यात् तदेवाक्षिप्य प्रथमं समर्थ्यते । तत्र यद्यावदनुभूयते तत्सर्वं परिमितम् अविशुद्धमबुद्धं विध्वंसि न तेनोपलब्धेन तद्विरुद्धस्य नित्यशुद्धबुद्धस्वभावस्य ब्रह्मणः स्वरूपं शक्यं लक्षयितुम् । नहि जातु कश्चित् कृतकत्वेन नित्यं लक्षयति । न च तद्धर्मेण नित्यत्वादिना तल्लक्ष्यते, तस्यानुपलब्धचरत्वात् । प्रसिद्धं हि लक्षणं भवति, नात्यन्ताप्रसिद्धम् । एवं च न शब्दोऽप्यत्र क्रमते । अत्यन्ताप्रसिद्धतया ब्रह्मणोऽपदार्थस्यावाक्यार्थत्वात् । तस्माल्लक्षणाभावात् न ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्याक्षेपाभिप्रायः । तमिममाक्षेपं भगवान् सूत्रकारः परिहरति ❀ जन्माद्यस्य यतः इति ❀ । मा भूदनुभूयमानं जगत् तद्धर्मतया तादात्म्येन वा

भामती–व्याख्या

प्रकार जिसके उपकरण (सहायक) हैं, ऐसी वेदान्त-वाक्य-मीमांसा प्रस्तुत की जा रही है। इसका प्रयोजन एकमात्र मोक्ष-साधनीभूत ब्रह्म-ज्ञान है, अतः सप्रयोजन होने के कारण ब्रह्म-जिज्ञासा का आरम्भ न्यायोचित सिद्ध हो जाता है।

प्रथम सूत्र के द्वारा ब्रह्म-मीमांसा के आरम्भ का समर्थन करके द्वितीय सूत्र से ब्रह्म-मीमांसा का आरम्भ किया जाता है—"जन्माद्यस्य यतः"। भाष्यकार इस सूत्र की अवतरणिका प्रस्तुत कर रहे हैं—"ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्, किं लक्षणं पुनस्तद् ब्रह्म"। यहाँ जब प्रधानभूत ब्रह्मस्वरूप की जिज्ञासा के द्वारा उसके अङ्गभूत प्रमाणादि की जिज्ञासा भी प्रतिज्ञात हो गई, तब द्वितीय सूत्र की अवतरणिका में प्रमाणादि का आक्षेप न उठाकर केवल ब्रह्म के स्वरूप पर आक्षेप क्यों किया गया ? इस प्रश्न के उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि प्रधान होने के कारण ब्रह्म के स्वरूप पर आक्षेप करके उसका ही समाधान द्वितीय सूत्र के माध्यम से किया जाता है। 'किंलक्षणम्'—यहाँ 'किं' शब्द आक्षेपार्थक है, आक्षेपवादी का आशय यह है कि विश्व में जो भी वस्तु अनुभूत होती है, वह परिमित (परिच्छिन्न), अविशुद्ध, अबुद्ध और नश्वर है। उसकी उपलब्धि से उसके विरुद्ध नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव ब्रह्म का स्वरूप नहीं जाना जा सकता, क्योंकि लोक में कृतक (जन्य) पदार्थ के द्वारा नित्य पदार्थ कभी भी अभिलक्षित नहीं होता। हाँ, नित्यत्वादि धर्मों के द्वारा नित्य ब्रह्म का लक्षण किया जा सकता है, किन्तु नित्यत्वादि धर्म कहीं उपलब्ध नहीं। लोक-प्रसिद्ध धर्म ही लक्षण माना जाता है, अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं। जब नित्य, शुद्ध, बुद्धस्वरूप ब्रह्म प्रसिद्ध ही नहीं, तब कोई पद भी उसका अभिधान कैसे करेगा ? पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है, अतः किसी वाक्य के द्वारा ब्रह्म का बोध नहीं कराया जा सकता। फलतः ब्रह्म का कोई लक्षण न हो सकने के कारण ब्रह्म जिज्ञासितव्य (वेदान्त-वाक्यों के द्वारा विचारणीय) नहीं।

उक्त आक्षेप का परिहार भगवान् सूत्रकार ने किया है—"जन्माद्यस्य यतः"। अनुभूयमान जगत् तादात्म्येन या तद्धर्मत्वेन ब्रह्म का लक्षण यदि नहीं होता तो न सही,

सार्थः। जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावद्—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्यस्मिन् वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात्। अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसंबन्धार्था। यत इति कारणनिर्देशः। अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृ-

भामती

ब्रह्मणो लक्षणं तदुत्पत्त्या तु भविष्यति। देशान्तरप्राप्तिरिव सवितुर्व्रज्याया इति तात्पर्य्यार्थः। सूत्रावयवान् विभजते ※ जन्मोत्पत्तिरादिरस्य इति ※। लाघवाय सूत्रकृता जन्मादीति नपुंसकप्रयोगः कृतस्तदुपपादनाय समाहारमाह ※जन्मस्थितिभङ्गमिति ※। ※ जन्मनश्च ※ इत्यादिः ※ कारणनिर्देशः ※ इत्यन्तः सन्दर्भो निगदव्याख्यातः। स्यादेतत्—प्रधानकालग्रहलोकपालक्रियायदृच्छास्वभावाभावेषूपप्लवमानेषु

भामती–व्याख्या

तज्जन्यत्वेन अवश्य ब्रह्म का लक्षण वैसे ही बन जायगा, जैसे सूर्य की देशान्तर-प्राप्ति सूर्य की व्रज्या (गमन क्रिया) का लक्षण होती है [कोई लक्षण लक्ष्य से तादात्म्यापन्न होता है, जैसे शिंशपा वृक्ष का, कोई लक्षण लक्ष्य का धर्म होता है, जैसे सास्नादिमत्त्व गौ का और कोई लक्षण लक्ष्य से उत्पन्न होकर लक्ष्य का लक्षण माना जाता है, जैसे धूम अग्नि का अथवा देशान्तर-प्राप्ति सूर्य की गति का। प्रकृत में आकाशादि प्रपञ्च ब्रह्म से जनित होने के कारण ब्रह्म का लक्षण माना जाता है]। सूत्र-घटक जन्मादि की व्याख्या की जाती है—"जन्मोत्पत्तिः"। प्रयोग-लाघव को ध्यान में रख कर सूत्रकार ने 'जन्मादि'—ऐसा नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग किया है, उसकी उपपत्ति करने के लिए भाष्यकार समाहार द्वन्द्व को प्रकट कर रहे हैं—"जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः" [समाहार द्वन्द्व में समुदायी पदार्थों की प्रधानता न होकर समुदाय का प्राधान्य माना जाता है, समुदायगत एकत्व की विवक्षा में एकवचन और वह भी सामान्यतः नपुंसक लिङ्ग होता है]। जन्म, स्थिति और भङ्ग में सर्व-प्रथम जन्म के साथ जगत् का सम्बन्ध होने के कारण जन्मादिरस्य—ऐसा कहा गया है। पाठक्रम के आधार पर जन्म का आदि में उल्लेख किया गया है, क्योंकि श्रुति कहती है—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति च' (तै. उ. ३।१)। यहाँ क्रमशः जन्म, स्थिति और प्रलय का निर्देश किया गया है। वस्तु-स्थिति के आधार पर भी जन्म का प्रथम स्थान निश्चित होता है, क्योंकि जन्म हो जाने पर ही कोई वस्तु सत्ता में आती है, कुछ समय स्थित रहती और अन्त में प्रलीन हो जाती है। सूत्रस्थ 'अस्य' पद के द्वारा प्रत्यक्षादि से सन्निकृष्ट जगद् रूप धर्मी का ग्रहण किया गया है, क्योंकि 'इदम्' शब्द सन्निहित पदार्थ का वाचक होता है। 'अस्य' पद में षष्ठी विभक्ति जगत् के साथ जन्मादि धर्मों का सम्बन्ध प्रतिपादित करती है। 'यतः' पद के द्वारा उस कारण तत्त्व का निर्देश किया गया है, जिससे जगद्रूप कार्य उत्पन्न होता है।

शङ्का—जगत्कारणता को ईश्वर का तब लक्षण माना जा सकता था, जब ईश्वर को छोड़ कर अन्यत्र कहीं भी कारणता श्रुत न होती, किन्तु "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाम्" (श्वेता. ४।५), "कालः स्वभावो, नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः" (श्वेता. १।२) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रधान (त्रिगुणा प्रकृति), काल, ग्रह (सूर्यादि), लोकपाल, क्रिया, यदृच्छा (अनियमित) स्वभाव, अभाव (शून्य) आदि अन्य पदार्थों में भी जगत् की कारणता प्रतिपादित है, अतः यह कैसे माना जा सकता है कि सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-सम्पन्न ब्रह्म ही जगत् का कारण है?

संयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य

भामती

सन्तु सर्वत्रं सर्वशक्तिस्वभावं ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणमिति कुतः सम्भावनेत्यत आह ॐ अस्य जगतः इति ॐ। अत्र ॐ नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य ॐ इति चेतनभावकर्तृकत्वसम्भावनया प्रधानाद्यचेतनकर्तृकत्वं निरुपाख्यकर्तृकत्वं च व्यासेधति। यत् खलु नाम्ना रूपेण च व्याक्रियते तच्चेतनकर्तृकं दृष्टं, यथा घटादि, विवादाध्यासितं च जगन्नामरूपव्याकृतं तस्माच्चेतनकर्तृकं सम्भाव्यते। चेतनो हि बुद्धावालिख्य नामरूपे घट इति नाम्ना रूपेण च कम्बुग्रीवादिना बाह्यं घटं निष्पादयति। अत एव घटस्य निर्वर्त्यस्याप्यन्तःसङ्कल्पात्मना सिद्धस्य कर्मकारकभावो घटं करोतीति। यथाहुः 'बुद्धिसिद्धं तु न तदसद्' इति। तथा चाचेतनो बुद्धावनालिखितं करोतीति न शक्यं सम्भावयितुमिति भावः।

स्यादेतत्—चेतना ग्रहा लोकपाला वा नामरूपे बुद्धावालिख्य जगज्जनयिष्यन्ति, कृतमुक्तस्वभावेन ब्रह्मणेत्यत आह ॐ अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य इति ॐ। केचित् कर्त्तारो भवन्ति, यथा सूदर्त्विगादयः, न भोक्तारः। केचित्तु भोक्तारः, यथा श्राद्धवैश्वानरीयेष्ट्यादिषु पितापुत्रादयः, न कर्त्तारः। तस्मादुभयग्रहणम्। ॐ देशकालनिमित्तक्रियाफलानि ॐ इतीतरेतरद्वन्द्वः। देशादीनि च प्रतिनियतानि चेति

भामती—व्याख्या

समाधान—उक्त शङ्का का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य"। व्याकृतत्वादि विशेषणों के द्वारा जगत् में चेतनकर्तृकत्व और भावकर्तृकत्व ध्वनित होता है, अतः प्रधानादि अचेतनकर्तृकत्व एवं अभावकर्तृकत्व का निराकरण हो जाता है, क्योंकि जिस पदार्थ को नाम और रूप दिया जाता है, वह चेतनकर्तृक ही होता है, जैसे—घटादि। विवादास्पद जगत् नाम-रूपात्मक है, अतः चेतनकर्तृक ही है। चेतन पुरुष ही अपने मन में वस्तु की रूप-रेखा बनाकर उसे मूर्तरूप देकर कहता है कि इसका नाम है—घट और उसका रूप है—कम्बुग्रीवादिमान्। अत एव 'घटं करोति'—इत्यादि व्यवहारों में किस घट को कर्म कारक बनाया जाता है? इस प्रश्न का भी सटीक उत्तर मिल जाता है कि कर्त्ता पुरुष के मन में कल्पित घट का कर्म माना जाता है, जैसा कि सत्कार्यवादियों ने कहा है—"बुद्धिसिद्धं तु न तदसत्" [शान्तरक्षित ने भी 'घटादि' शब्दों के द्वारा बुद्धिस्थ आकार का ही अभिधान माना है—"बुद्धौ ये वा विवर्तन्ते तानाहाभ्यन्तरानयम्" (तत्त्वसं. श्लो. १०७०)]। अतः चेतन पुरुष अपने मन में रूप-रेखा तैयार किए बिना किसी कार्य को करता है—ऐसी सम्भावना नहीं कर सकते। 'ग्रह और लोकपालादि देवगण चेतन हैं, वे ही अपनी बुद्धि में निर्देश करके जगत् की रचना कर देंगे, उसके लिए ब्रह्म की क्या आवश्यकता?' इस शङ्का का निरास करने के लिए कहा है—"अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य।" ग्रह लोकपालादि भी उसी जगत् में समाविष्ट है, जिसका कर्त्ता ब्रह्म माना जाता है, लोकपालादि अपने रचना स्वयं नहीं कर सकते। कतिपय पुरुष किसी कार्य के कर्त्ता ही होते हैं, भोक्ता नहीं, जैसे रसोइया मालिक को भोजन बनाकर खिला देता है, स्वयं नहीं खाता, अथवा जैसे ऋत्विग्गण, यजमान से दक्षिणा लेकर यजमान के लिए कर्म करते हैं, कर्म-जन्य फल का भोक्ता यजमान ही होता है, ऋत्विक् नहीं। इसी प्रकार कुछ पुरुष कर्म-जन्य फल के भोक्ता ही होते हैं, कर्त्ता नहीं, जैसे श्राद्ध कर्म से जन्य फल के भोक्ता ही पितृगण होते हैं, कर्त्ता नहीं। अथवा वैश्वानरीय इष्टि-जन्य फल का भोक्ता ही पुत्र होता है, कर्त्ता नहीं [पुत्र के उत्पन्न होने पर पिता जो वैश्वानर इष्टि करता है, उसका फल पुत्र को ही मिलता है—"वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते। यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति, पूतः एव तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी, पशुमान् भवति" (तै. सं. २।२।५)]। ब्रह्म के द्वारा रचित जगत् में कर्त्ता और भोक्ता—दोनों का समावेश है, केवल कर्त्ता या केवल भोक्ता का नहीं—यह दिखाने के लिए भाष्यकार

जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः। अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्। यास्क-

भामती

विग्रहः। तदाश्रयो जगत् तस्य। केचित् खलु प्रतिनियतदेशोत्पादाः, यथा कृष्णमृगादयः। केचित् प्रतिनियतकालोत्पादाः, यथा कोकिलारवादयः। केचित्प्रतिनियतनिमित्ताः, यथा नवाम्बुदध्वानादिनिमित्ता बलाकागर्भादयः। केचित्प्रतिनियतक्रियाः, यथा ब्राह्मणानां याजनादयो नेतरेषाम्। एवं प्रतिनियतफलाः यथा केचित् सुखिनः, केचिद् दुःखिनः, एवं य एव सुखिनस्त एव कदाचिद् दुःखिनः। सर्वमेतदाकस्मिकापरनाम्नि यादृच्छिकत्वे च स्वाभाविकत्वे चासर्वज्ञकर्तृकत्वे च न घटते। परिमितज्ञानशक्तिभिर्ग्रह-लोकपालादिभिर्ज्ञातुं कर्तुं चाशक्यत्वात्। तदिदमुक्तं ❀ मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य इति ❀। एकस्या अपि हि शरीररचनायां रूपं मनसा न शक्यं चिन्तयितुं कदाचित्, प्रागेव जगद्रचनायाः, किमङ्ग पुनः कर्तुमित्यर्थः। सूत्रवाक्यं पूरयति ❀ तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः ❀। स्यादेतत्—कस्मात् पुनर्जन्मस्थिति-भङ्गमात्रमिहाविग्रहणेन गृह्यते, न तु वृद्धिपरिणामापक्षया अपीत्यत आह ❀ अन्येषामपि भावविकाराणां वृद्ध्यादीनां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति ❀। वृद्धिस्तावदवयवोपचयः। तेनाल्पावयवादवयविनो द्वितन्तुकादेरन्य

भामती–व्याख्या

ने "अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य"—ऐसा कहा है। ''देशकालनिमित्तक्रियाफलानि"—यहाँ पर देशश्च, कालश्च, निमित्तं च, क्रिया च, फलं च—एतेषामितरेतरयोगद्वन्द्वः देशकालनिमित्त-क्रियाफलानि। प्रतिनियतानि च देशकालनिमित्तक्रियाफलानि च, तेषामाश्रयो, जगत्, तस्य—ऐसा समास यहाँ विवक्षित है। कुछ पदार्थ प्रतिनियतदेशोत्पत्तिक होते हैं, जैसे काले हरिण स्वभावतः यज्ञ करने के योग्य देश में ही रहते हैं—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परम्॥ (मनु॰ २।२३)

कतिपय पदार्थ किसी काल विशेष में ही होते हैं, जैसे कोयल का मधुर स्वर वसन्त काल में ही सुना जाता है। कुछ वस्तुएँ नियत-निमित्तक होती हैं, जैसे नवल मेघमाला का गर्जन सुनकर बलाका (बगुलियाँ) गर्भ धारण करती हैं। कुछ लोगों की क्रिया नियत (निश्चित) होती है, जैसे ब्राह्मणों का ही यागादि कर्म कराना काम होता है, क्षत्रियादि का नहीं। इसी प्रकार कुछ प्राणियों का सुखादि रूप फल नियत होता है, जैसे ब्रह्मलोकस्थ जीवों को सुख और नरकवासी प्राणियों को दुःख ही होता है। इस प्रकार का प्रपञ्च न तो स्वाभाविक हो सकता है और न यादृच्छिक (बिना किसी निमित्त के) किन्तु किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-समन्वित ईश्वर के द्वारा ही रचित हो सकता है। परिमित शक्तिवाले ग्रह, लोकपालादि की सूझ-बूझ से बहुत परे यह संसार-रचना है, इसलिए भाष्यकार कहते हैं—"मनसाप्यचिन्त्य-रचनारूपस्य।" आशय यह है कि किसी एक शरीर की रचना भी साधारण जीव की समझ में नहीं आती, उसका करना तो दूर रहा, फिर इतनी विकट जटिलताओं से पूर्ण जगत् की रचना ईश्वर के सिवा और कोई नहीं कर सकता। सूत्रस्थ अधूरे वाक्य की पूर्ति की जाती है—"तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः"। 'जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय—इन तीन विकारों का ही ग्रहण क्यों किया गया वृद्धि, परिणाम और अपक्षय नाम की तीन अवस्थाओं को क्यों छोड़ दिया गया?' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—"अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वे-वान्तर्भावः"। यास्काचार्य ने जो कहा है—"षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः (१) जायते, (२) अस्ति, (३) विपरिणमते, (४) वर्धते, (५) अपक्षीयते, (६) नश्यति" (निरुक्त॰ १)। इनमें से वृद्धि नाम है—अवयवों का उपचय (बढ़ना या जुड़ना)। उसके

परिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते। न यथोक्तविशेषणस्य

भामती

एव महान् पटो जायत इति जन्मैव वृद्धिः। परिणामोऽपि त्रिविधो धर्मलक्षणावस्थालक्षण उत्पत्तिरेव। धर्मिणो हि हाटकादेर्धर्मलक्षणः परिणामः कटकमुकुटादिस्तस्योत्पत्तिः। एवं कटकादेरपि प्रत्युत्पन्नत्वादिलक्षणो लक्षणपरिणाम उत्पत्तिः। एवमवस्थापरिणामो नवपुराणत्वाद्युत्पत्तिः। अपक्षयस्त्ववयवह्रासो नाश एव। तस्माज्जन्मादिषु यथास्वमन्तर्भावाद् वृद्ध्यादयः पृथङ्नोक्ता इत्यर्थः। अथैते वृद्ध्यादयो न जन्मादिष्वन्तर्भवन्ति तथाप्युत्पत्तिस्थितिभङ्गमेवोपादातव्यम्। तथा सति हि तत्प्रतिपादके 'यतो वा इमानि भूतानि' इति वेदवाक्यं बुद्धिस्थीकृते जगन्मूलकारणं ब्रह्म लक्षितं भवति। अन्यथा तु जायतेऽस्ति वर्द्धत इत्यादीनां ग्रहणे तत्प्रतिपादकं नैरुक्तवाक्यं बुद्धौ भवेत्, तच्च न मूलकारणप्रतिपादनपरम्, महासर्गादूर्ध्वं स्थितिकालेऽपि तद्वाक्योदितानां जन्मादीनां भावविकाराणामुपपत्तेः, इति शङ्कानिराकरणार्थं वेदोक्तोत्पत्तिस्थितिभङ्गग्रहणमित्याह ※ यास्कपरिपठितानां तु इति ※। नन्वेवमुत्पत्तिमात्रं सूच्यतां, तन्नान्तरीयकतया तु स्थितिभङ्गं गम्यत इत्यत आह ※ या उत्पत्तिर्ब्रह्मणः कारणाद् इति ※। त्रिभिरस्योपादानत्वं सूच्यते। उत्पत्तिमात्रं तु निमित्तकारणसाधारणमिति नोपादानं सूचयेत्। तदिदमुक्तं ※ तत्रैव इति ※। पूर्वोक्तानां कार्यकारणविशेषणानां प्रयोजनमाह ※ न यथोक्त इति ※। तदनेन

भामती-व्याख्या

द्वारा तन्तुओं के जुड़ते जाने पर एक सहस्रतन्तुक महान् पट बन जाता है, आचार्य यास्क भी कहते हैं—"वर्धते इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयौगिकानां वार्थानाम्, वर्द्धते विजयेन वा वर्द्धते शरीरेणेति वा"। इस प्रकार की वृद्धि का जन्म में समावेश हो जाता है। परिणाम भी तीन प्रकार का होता है—(१) धर्म-परिणाम, जैसे सुवर्ण-पिण्डादि धर्मी पदार्थों का कटक, मुकुटादि धर्मों के रूप में उत्पन्न होना। (२) लक्षण-परिणाम, जैसे कटकादि धर्मों के वर्तमानत्व-अतीतत्वादि रूप लक्षणों की उत्पत्ति। (३) अवस्था-परिणाम, जैसे कटक-मुकटादि की नवत्व-पुराणत्वादि अवस्थाओं की उत्पत्ति। इस प्रकार परिणाम रूप विकार भी जन्म ही है। अपक्षय का अन्तर्भाव नाश में होता है, अतः वृद्धि आदि विकारों को पृथक् नहीं गिनाया गया है। यदि वृद्धि आदि विकारों का जन्मादि में अन्तर्भाव नहीं भी होता, तब भी जन्म, स्थिति और भङ्ग का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वैसा करने से ही "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिविशन्ति च" (तै० उ० ३।१) इस बुद्धिस्थ श्रुति-वाक्य के द्वारा ब्रह्म-लक्षण के प्रतिपादन की संगति बैठती है, अन्यथा (षड् भाव विकारों का ग्रहण करने पर) उसका प्रतिपादक उक्त निरुक्त-वाक्य उपस्थित होगा, वह जगत् के मूलभूत ब्रह्म का लक्षण प्रस्तुत नहीं करता, अपितु महासृष्टि के पश्चात् जगत् की स्थिति-काल में षड् भाव विकारों की उपपत्ति हो जाती है। उससे मूलकारणभूत ब्रह्म का लक्षण क्योंकर होगा? इस शङ्का की निवृत्ति करने के लिए वेदोक्त उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का ग्रहण ही न्यायोचित है, यह भाष्यकार कह रहे हैं—"यास्कपरिपठितानां तु"। केवल 'जगज्जन्महेतुत्वम्'—इतना ही लक्षण पर्याप्त है, सूत्र में 'आदि' पद की क्या आवश्यकता? एवं भाष्यकार के द्वारा 'आदि' पद की व्याख्या के रूप में स्थिति और भङ्ग का उल्लेख क्यों?' इस शङ्का का निराकरण किया जा रहा है—"योत्पत्तिर्ब्रह्मणः कारणात्"। जन्म, स्थिति और भङ्ग—इन तीनों की हेतुता ही ब्रह्मगत उपादानता है, केवल जन्म-हेतुता तो निमित्तकारण में भी रह जाती है, अतः सूत्र में आदि पद रखना एवं भाष्यकार का जन्म, स्थिति और

जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः प्रधानादचेतनाद्, अणुभ्योऽभावात्, संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम् - वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्या-

भामती

प्रबन्धेन प्रतिज्ञाविषयस्य ब्रह्मस्वरूपस्य लक्षणद्वारेण सम्भावनोक्ता। तत्र प्रमाणं वक्तव्यम्। यथाहुर्नैयायिकाः—

"सम्भावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना।
न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः॥"

यथा च बन्ध्या जननीत्यादिः' इति। इत्थं नाम जन्मादिसम्भावनाहेतुः, यदन्ये वैशेषिकादय इत एवानुमानादीश्वरविनिश्चयमिच्छन्तीति, सम्भावनाहेतुतां दर्शयितुमाह ॐ एतदेव इति ॐ। चोदयति ॐ नन्विहापि इति ॐ। एतावतैवाधिकरणार्थे समाप्ते वक्ष्यमाणाधिकरणार्थं बदन् सुहृद्भावेन परिहरति ॐ न इति ॐ। वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थतामेव दर्शयति ॐ वेदान्तेति ॐ। विचारस्याध्यवसानं सवा-

भामती–व्याख्या

भङ्ग—तीनों का निर्देश करना सार्थक है। जगद्रूप कार्य के जो विशेषण दिए गए हैं—अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तत्वादि और कारणभूत ब्रह्म के जो सर्वज्ञत्वादि विशेषण दिए गए हैं, उनका प्रयोजन स्पष्ट किया जाता है—"न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वा अन्यतः उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यम्"। सांख्य-सम्मत प्रधान (प्रकृति), वैशेषिक-कल्पित परमाणु जड और माध्यमिक-सिद्धान्त-सिद्ध शून्य (अभाव) तत्त्व निरुपाख्य (अलीक) है एवं संसारी जीव अल्पज्ञ हैं, अतः वे जगत् की रचना नहीं कर सकते।

शङ्का—यहां तक की चर्चा का निष्कर्ष यह है कि प्रथम सूत्र में प्रतिज्ञात ब्रह्म का द्वितीय सूत्र में जो लक्षण (जगज्जन्मादिकर्तृत्व) प्रस्तुत किया गया, उसके द्वारा ब्रह्मस्वरूप की सम्भावना प्रकट की गई, अब ब्रह्म में प्रमाण प्रदर्शित करना चाहिए, जैसा कि नैयायिक गण मानते हैं -

"सम्भावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना।
न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः॥"

अर्थात् पर्वतरूप पक्ष पर्वतत्वेन सिद्ध और वह्निमत्त्वेन साध्य माना जाता है, लक्षण के द्वारा सम्भावित वह्निमत्त्वेन पर्वत रूप पक्ष ही धूमादि हेतु के द्वारा सिद्ध किया जाता है, लक्षण-रहित अत एव असम्भावित उस पक्षकी हेतुओं के द्वारा सिद्धि नहीं की जा सकती, जो कि प्रतीति में आते ही व्याहत हो जाता है, जैसे 'वन्ध्या में माता'। फलतः जन्मादिकर्तृत्वरूप लक्षण के द्वारा सम्भावित ब्रह्म में प्रमाण-प्रदर्शन की अपेक्षा से वैशेषिकादि "जन्माद्यस्य यतः"—इस सूत्र को लक्षण के साथ-साथ अनुमान प्रमाण का भी सूचक मानते हैं—'क्षित्यादिकं जगत, सकर्तृकम्, जन्मादियुक्तत्वात्, घटादिवत्'।

समाधान—यह विचार-शास्त्र है, प्रमाण-शास्त्र नहीं कि प्रमाण-प्रदर्शन मात्र से अधिकरण का उद्देश्य पूरा हो जाय। यहाँ सभी वक्ष्यमाण अधिकरणों में विवादास्पद वेदान्त वाक्यों पर संशयादि-प्रदर्शन पूर्वक यह विचार किया जाता है कि इन वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय किस प्रकार है? वेदान्त-वाक्यरूपी पुष्पों को पिरोने के लिए यह सूत्र-ग्रन्थ रचा गया है। इस विचार-माला का पर्यवसान ब्रह्मावगतिरूप सुमेरु में ही होता है, अनुमानादि

र्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता। सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। तथा हि – 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृह० २।४।५) इति श्रुतिः 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद' (छान्दो० ६।१४।२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति। न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं

भामती

सनाविद्याद्वयोच्छेदः। ततो हि ब्रह्मावगतेर्निर्वृत्तिराविर्भावः। तत्किं ब्रह्मणि शब्दादृते न मानान्तरमनुसरणीयम्। तथा च कुतो मननं, कुतश्च तदनुभवः साक्षात्कार इत्यत आह ⊛ सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु इति ⊛। अनुमानं वेदान्ताविरोधि तदुपजीवि चेत्यपि द्रष्टव्यम्। शब्दाविरोधिन्या तदुपजीविन्या च युक्त्या विवेचनं मननम्। युक्तिश्चार्थापत्तिरनुमानं वा। स्यादेतद्—यथा धर्मे न पुरुषबुद्धिसाहाय्यम्, एवं ब्रह्मण्यपि कस्मान्न भवतीत्यत आह ⊛ न धर्मजिज्ञासायामिव इति ⊛। ⊛ श्रुत्यादयः इति ⊛।

भामती-व्याख्या

प्रमाणों के द्वारा वह अवगति सम्भव नहीं, जैसा कि श्रुति कहती है–"नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठो० १।२।९)। वेदान्त-वाक्य-प्रसूत ब्रह्मावगति से ही कथित द्विविध अविद्या का उच्छेद एवं जीव में ब्रह्मरूपता का आविर्भाव होता है। 'तब क्या ब्रह्म के बोधन में प्रवृत्त अनुमानादि (वेदान्त-भिन्न) प्रमाणों का आदर नहीं करना चाहिए ? उनकी उपेक्षा कर देने से मनन (अनुमानादिपूर्वक अनुचिन्तन) और साक्षात्कार क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है— "सत्सु वेदान्तवाक्येषु"। अर्थात् जगज्जन्मादि-कारण-वेदी वेदान्त वाक्यों के द्वारा ही प्रथमतः ब्रह्म का बोध उत्पन्न होता है, उसको दृढ़ता प्रदान करने के लिए यदि अनुमानादि प्रवृत्त होते हैं, तब उनको उचित समादर ही दिया जायगा, उनकी उपेक्षा नहीं की जायगी, क्योंकि श्रुति ही अपने सहायक के रूप में तर्कादि को मान्यता प्रदान करती है—"श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृह० उ० २।४।५)। "पण्डितो मेधावी गन्धरानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद" (छां० ६।१४।२) यह श्रुति स्पष्टरूप से पुरुष-बुद्धि की सहायता को स्वीकार करती हुई कहती है कि जैसे कोई मेधावी पण्डित पुरुष अन्य व्यक्तियों से मार्ग-दर्शन लेकर सुदूर गन्धार देश तक पहुँच जाता है, वैसे ही अधिकारी पुरुष आचार्य के निर्देशन में वेदान्त वाक्यों के द्वारा ब्रह्म का वेदन (अवगम) कर लेता है।

शङ्का—जैसे धर्म के बोधन में वेद पुरुष-बुद्धि की सहायता को स्वीकार नहीं करता [कुमारिल भट्ट ने कहा है—

"द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यति।
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता।।
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः।।" (श्लो. वा. पृ. ४९)

व्रीहि आदि द्रव्य, यागादि क्रिया, आरुण्यादि गुण ही धर्मरूप माने गए हैं। यद्यपि वे ऐन्द्रियक हैं, तथापि उनमें धर्मता ऐन्द्रियक नहीं मानी जाती, क्योंकि उनमें श्रेयःसाधनत्वेन रूपेण धर्मता मानी जाती है, श्रेयःसाधनता का ज्ञान नियमतः "व्रीहिभिर्यजेत" इत्यादि वैदिक वाक्यों से ही होती है, अतः धर्म वेदैकसमधिगम्य है, धर्म के बोधन में अन्य किसी प्रमाण की सहायता अपेक्षित नहीं]। वैसे ही औपनिषद पुरुष (ब्रह्म) के बोधन में भी वेदान्त-वाक्य अन्य किसी भी प्रमाण या युक्ति की अपेक्षा क्यों करेंगे ?

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—'न धर्मजिज्ञा-

ब्रह्मजिज्ञासायाम् , किंतु श्रुत्यादयोऽनुभावादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम् , अनुभावावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य । कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात् , पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य । कर्तुमकर्तुम-

भामती

श्रुतीतिहासपुराणस्मृतयः, प्रमाणम् । अनुभवोऽन्तःकरणवृत्तिभेदो ब्रह्मसाक्षात्कारस्तस्याविद्यानिवृत्तिद्वारेण ब्रह्मस्वरूपाविर्भावः प्रमाणफलम् । तच्च फलमिव फलमिति गमयितव्यम् । यद्यपि धर्मजिज्ञासायामपि सामग्र्यां प्रत्यक्षादीनां व्यापारस्तथापि साक्षान्नास्ति । ब्रह्मजिज्ञासायां तु साक्षादनुभवादीनां सम्भवोऽनुभवार्था च ब्रह्मजिज्ञासेत्याह ॥ अनुभवावसानत्वात् ॥ । ब्रह्मानुभवो ब्रह्मसाक्षात्कारः परमपुरुषार्थः निर्मृष्टनिखिलदुःखपरमानन्दरूपत्वादिति । ननु भवतु ब्रह्मानुभवार्था जिज्ञासा, तदनुभव एव त्वशक्यः, ब्रह्मणस्तद्विषयत्वायोग्यत्वादित्यत आह ॥ भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मविज्ञानस्य ॥ । व्यतिरेकसाक्षात्कारस्य विकल्परूपो विषयविषयिभावः ।

नत्वेवं धर्मज्ञानमनुभवावसानं, तदनुभवस्य स्वयमपुरुषार्थत्वात् , तदनुष्ठानसाध्यत्वात् पुरुषार्थस्य, अनुष्ठानस्य च विनाप्यनुभवं शाब्दज्ञानमात्रादेव सिद्धेरित्याह ॥ कर्त्तव्ये हीत्यादिना ॥ । न चायं साक्षात्कारविषयतायोग्योऽप्यवर्त्तमानत्वाद् , अवर्त्तमानश्चानवस्थितत्वादित्याह ॥ पुरुषाधीन इति ॥ । पुरुषाधीनत्वमेव लौकिकवैदिककार्य्याणामाह ॥ कर्त्तुमकर्त्तुम् इति ॥ । लौकिकं कार्य्यमनवस्थितमुदा-

भामती–व्याख्या

सायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्" । केवल श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और सूत्र ग्रन्थ ही ब्रह्म में प्रमाण नहीं, अपितु अन्तःकरण की वृत्ति विशेषरूप अनुभव (ब्रह्मसाक्षात्कार) भी प्रमाण है और अविद्या-निवृत्ति के द्वारा ब्रह्मस्वरूप का आविर्भाव उस प्रमाण का फल माना जाता है । वह वस्तुतः फल (प्रमाण-जन्य) नहीं, अपितु फल के समान होता है । यद्यपि धर्म-जिज्ञासा में भी वैदिक शब्दों की ग्रहणादि सामग्री श्रावण प्रत्यक्षादि की अपेक्षा करती है, तथापि धर्म में प्रत्यक्षादि का साक्षात् उपयोग नहीं, किन्तु ब्रह्म-जिज्ञासा में अनुभव का साक्षात् उपयोग है, क्योंकि ब्रह्म-जिज्ञासा का ब्रह्म-साक्षात्कार ही प्रयोजन माना जाता है—अनुभवावसानत्वाद् ब्रह्मज्ञानस्य" । ब्रह्म का अनुभव या साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि वह निखिल दुःख-रहित परमानन्द-स्वरूप होता है । 'यह जो कहा जाता है कि अनुभवार्था जिज्ञासा, वह उचित नहीं, क्योंकि ब्रह्म में प्रत्यक्ष की योग्यता ही नहीं मानी जाती'—इस आक्षेप का निराकरण किया जाता है—"भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मविज्ञानस्य" । यद्यपि ब्रह्मरूप साक्षात्कार का ब्रह्म के साथ विषय-विषयिभाव नहीं, तथापि ब्रह्म से व्यतिरिक्त वृत्तिरूप साक्षात्कार की विषयता ब्रह्म में बन जाती है, वृत्ति अनिर्वचनीय और काल्पनिक है, अतः उसकी विषयता भी विकल्पात्मक (काल्पनिक) ही होती है । अथवा अविद्या का व्यतिरेक (अभाव) जब ब्रह्मरूप और ब्रह्मरूप साक्षात्कार ही अविद्या के व्यतिरेक का साक्षात्कार होता है, तब एक ही ब्रह्म में ब्रह्मत्वेन विषयिता और अविद्याव्यतिरेकत्वेन विषयता—इस प्रकार काल्पनिक विषय-विषयिभाव माना जा सकता है । जैसे ब्रह्म का अनुभव परम पुरुषार्थ है, वैसे धर्म का अनुभव परम पुरुषार्थ नहीं, अपितु धर्म के अनुष्ठान से स्वर्गादिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, धर्म का अनुष्ठान धर्म के शब्द-ज्ञानरूप परोक्ष ज्ञान से भी सम्पन्न हो जाता है, भाष्यकार कहते हैं—"कर्त्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षाऽस्ति" । धर्म साक्षात्कार की विषयता के योग्य भी नहीं होता, क्योंकि ज्ञान-काल में धर्म वर्तमान नहीं होता, अपितु "पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य" । केवल ज्ञायमान अननुष्ठित यागादि को धर्म नहीं, सम्पादित यागादि को धर्म कहा जाता है, वह पहले सम्भव नहीं । सभी लौकिक

न्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाऽश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति । तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च । न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते । विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्य-

भामती

हरति ॐ यथाऽश्वेन इति ॐ । लौकिकेनोदाहरणेन सह वैदिकमुदाहरणं समुच्चिनोति ॐ तथाऽतिरात्र इति ॐ । कर्तुमकर्तुमित्यस्येदमुदाहरणमुक्तम् । कर्तुमन्यथा वा कर्तुमित्यस्योदाहरणमाह ॐ उदित इति ॐ । स्यादेतत्—पुरुषस्वातन्त्र्यात् कर्तव्ये विधिप्रतिषेधानामानर्थक्यम् , अतदधीनत्वात् पुरुषप्रवृत्ति-निवृत्त्योरित्यत आह ॐविधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युःॐ । गृह्णातीति विधिः । न गृह्णातीति प्रतिषेधः । उदितानुदितहोमयोर्विधी । एवं नारास्थिस्पर्शननिषेधो ब्रह्मघ्नस्य तद्धारणविधिरित्येवं जातीयका विधि-प्रतिषेधा अर्थवन्तः । कुत इत्यत आह ॐ विकल्पोत्सर्गापवादाश्च ॐ । चो हेतौ । यस्माद् ग्रहणाग्रहण-योरुदितानुदितहोमयोश्च विरोधात्समुच्चयासम्भवे तुल्यबलतया च बाध्यबाधकभावाभावे सत्यगत्या विकल्पः । नारास्थिस्पर्शननिषेधतद्धारणयोश्च विरुद्धयोरतुल्यबलतया न विकल्पः । किन्तु सामान्यशास्त्रस्य स्पर्शननिषेधस्य धारणविधिविषयेण विशेषशास्त्रेण बाधः ।

एतदुक्तं भवति—विधिप्रतिषेधैरेव स तादृशो विषयोऽनागतोत्पाद्यरूप उपनीतो येन पुरुषस्य

भामती-व्याख्या

और वैदिक कर्म (क्रिया) "कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्" । जैसे लौकिक गमनादि कर्मों में पुरुष सर्वथा स्वतन्त्र है, चाहे वह अश्व के द्वारा गमन करे या पैदल, अथवा गमन ही न करे । वैसा ही "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" (मै. सं. ४।७।६), 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इत्यादि वाक्यों के आधार पर अतिरात्रसंस्थाक ज्योतिष्टोम याग में षोडशिसंज्ञक ग्रह (दारुमय पात्र) में सोमरस ग्रहण करे या न करे । इसी प्रकार "उदिते जुहोति" और "अनुदिते जुहोति"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा सूर्य के उदय हो जाने पर अग्निहोत्रसंज्ञक कर्म करे या सूर्य के उदय होने से पहले । 'यदि कर्म करने में पुरुष स्वतन्त्र है, तब विधि-निषेध शास्त्र व्यर्थ हैं, क्योंकि उनके अधीन होकर पुरुष प्रवृत्त या निवृत्त नहीं होता, अपितु वह अपनी स्वतन्त्रता के कारण प्रवृत्त-निवृत्त होता है'—इस आक्षेप का समाधान है—"विधि-प्रतिषेधाश्चार्थवन्तः स्युः" । "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"—यह विधि और "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"—यह निषेध है । उदित और अनुदितपद-घटित उक्त दोनों वाक्य विधिरूप हैं । इसी प्रकार "नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्"—यह निषेध एवं "शिरःकपाल ध्वजवान् भिक्षाशी कर्म वेदयन् । ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक् शुद्धिमाप्नुयात् ॥" (याज्ञ० ३।२४२) इत्यादि वाक्य ब्रह्मघाती के लिए शव की शिरोऽस्थि का ध्वजरूपेण धारण विहित है । कथित सभी विधि-निषेध शास्त्रों की तभी सार्थकता होती है, जब कि कर्म में पुरुष स्वतन्त्र है, क्योंकि षोडशिसंज्ञक पात्र के ग्रहण और अग्रहण, उदित होम और [अनुदित होम परस्पर विरुद्ध हैं, उनका समुच्चय सम्भव नहीं, अतः समान बलवाले ग्रहणाग्रहणादि कर्मों का अगत्या विकल्प होता है, किन्तु मनुष्य की गीली हड्डी के स्पर्श का निषेध एवं ब्रह्मघाती के लिए उसके धारण की विधि का विकल्प नहीं माना जाता, क्योंकि निषेध सामान्यविषयक और विधि विशेषविषयक है, अतः समानबलता न होने से विधि शास्त्र के द्वारा निषेध शास्त्र का बाध हो जाता है । सारांश यह है कि विधि और प्रतिषेध शास्त्रों के द्वारा वैसा ही भविष्य में उत्पन्न होने वाला (कार्यरूप) विषय उपस्थापित किया जाता है, जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के सम्पादन में पुरुष का

पेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि ? वस्तुतन्त्रमेव तत्। न हि स्थाणावेकस्मिन्स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्, स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्। ननु भूत-

भामती

विधिनिषेधाधीनप्रवृत्तिनिवृत्त्योरपि स्वातन्त्र्यं भवतीति। भूते वस्तुनि तु नैवमस्ति विधेत्याह ❀ न तु वस्त्वेवं नैवम् इति ❀। तदनेन प्रकारविकल्पो निरस्तः। प्रकारिविकल्पं निषेधति ❀ अस्ति नास्ति इति ❀। स्यादेतद्—भूतेऽपि वस्तुनि विकल्पो दृष्टः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति, तत् कथं न वस्तु विकल्प्यत इत्यत आह ❀ विकल्पनास्तु इति ❀। ❀ पुरुषबुद्धि ❀ अन्तःकरणं, तदपेक्षा विकल्पनाः संशयविपर्य्यासाः, सवासनमनोमात्रयोनयो वा, यथा स्वप्ने, सवासनेन्द्रियमनोयोनयो वा, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति स्थाणौ संशयः, पुरुष एवेति वा विपर्य्यासः, अन्यशब्देन वस्तुतः स्थाणोरन्यस्य पुरुषस्याभिधानात्, न तु पुरुषतत्त्वं वा स्थाणुतत्त्वं वापेक्षन्ते। समानधर्मधर्मिदर्शनमात्राधीनजन्मत्वात्। तस्मादयथावस्तवो विकल्पना न वस्तु विकल्पयन्ति वाऽन्यथयन्ति वेत्यर्थः। तत्त्वज्ञानं तु न बुद्धितन्त्रं, किन्तु वस्तुतन्त्रम्, अतस्ततो वस्तुविनिश्चयो युक्तः, न तु विकल्पनाभ्य इत्याह ❀ न वस्तुयाथात्म्येति ❀। एवमुक्तेन प्रकारेण भूतवस्तुविषयाणां ज्ञानानां प्रामाण्यस्य वस्तुतन्त्रतां प्रसाध्य ब्रह्मज्ञानस्य वस्तुतन्त्रतामाह ❀ तत्रैवं सति इति ❀।

भामती-व्याख्या

स्वातन्त्र्य अव्याहत रहता है, किन्तु अकार्यभूत (सिद्ध पदार्थ) के विषय में वैसी बात नहीं होती, अत एव भाष्यकार कहते हैं—"न तु वस्तु एवं नैवम्, अस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते"। 'एवं नैवम्'—इस वाक्य के द्वारा प्रकार-विकल्प (करण और अन्यथाकरणरूप) और 'अस्ति नास्ति'—इस वाक्य के द्वारा करणाकारणरूप प्रकारि-विकल्प का निराकरण किया गया है।

यदि कहा जाय कि भूत (सिद्ध) पदार्थ में भी विकल्प देखा जाता है, जैसे—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'। तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि "विकल्पनास्तु पुरुष-बुद्ध्यपेक्षाः"। 'पुरुष-बुद्धि' पद से अन्तःकरण का ग्रहण किया गया है, उसकी अपेक्षा से संशय और विपर्ययरूप कल्पना ज्ञान उत्पन्न होते हैं। उनमें कुछ ज्ञान वासना (संस्कारों) से युक्त केवल मन के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं, जैसे—स्वप्न में संशय और विपर्यय होते हैं। कतिपय ज्ञान वासना-युक्त मन और बाह्य इन्द्रिय—इन दोनों के द्वारा उत्पादित होते हैं, जैसे—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा ? इस प्रकार का स्थाणु में संशय अथवा स्थाणु में 'पुरुष एव'—इस प्रकार का विपर्यय। भाष्यकार ने जो कहा है—"पुरुषो वाऽन्यो वा"। वहाँ 'अन्य' शब्द के द्वारा पुरुष का भी स्थाणु-भिन्नत्वेन अभिधान किया गया है, अतः संशय अथवा विपर्ययरूप कल्पना ज्ञान स्थाणु-तत्त्व या पुरुषतत्त्व को विषय नहीं करते, संशय केवल उच्चैस्तत्त्वरूप समान धर्मवाले धर्मी के ज्ञान से और विपर्यय केवल सादृश्य ज्ञान से जनित होता है। फलतः संशयादि विकल्प ज्ञान यथावस्तु (वस्त्वनुसारी) न होकर बुद्धि-कल्पित आकार का ही ग्रहण करते हैं, स्थाण्वादिरूप वस्तु को न तो संशय विकल्पित करता है और न विपर्यय अन्यथा-करण कर सकता है। तत्त्व-ज्ञान बुद्धि-तन्त्र न होकर वस्तु-तन्त्र होता है, अतः उससे वस्तु-तत्त्व का निश्चय होना युक्त ही है, विकल्प ज्ञानों से वस्तु का निश्चय नहीं होता, भाष्यकार कहते हैं—न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्।" इस प्रकार सामान्यतः सिद्धवस्तुविषयक ज्ञानों में प्रामाण्य और वस्तुतन्त्रता सिद्ध कर लेने के अनन्तर ब्रह्म-ज्ञान में वस्तु-तन्त्रता का प्रतिपादन करते हैं - तत्रैवं ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्"।

वस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणानर्थिकैव प्राप्ता। न; इन्द्रियाविषयत्वेन संबन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि; न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्येत। कार्यं-

भामती

अत्र चोदयति ॥ ननु भूतेति ॥। यत् किल भूतार्थं वाक्यं तत्प्रमाणान्तरगोचरार्थतयाऽनुवादकं दृष्टम्, यथा नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति, तथा च वेदान्ताः, तस्माद् भूतार्थतया प्रमाणान्तरदृष्टमेवार्थमनुवदेयुः। उक्तं च ब्रह्मणि जगज्जन्मादिहेतुकमनुमानं प्रमाणान्तरम्। एवं च मौलिकं तदेव परीक्षणीयं, न तु वेदान्तवाक्यानि तदधीनसत्यत्वादीनीति कथं वेदान्तवाक्यग्रथनार्थता सूत्राणामित्यर्थः। परिहरति ॥ नेन्द्रियाविषयत्वेति ॥। कस्मात् पुनर्नेन्द्रियविषयत्वं प्रतीच इत्यत आह ॥ स्वभावतः इति ॥। अत एव श्रुतिः।

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः
तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' इति।

॥ सति हीन्द्रियेति ॥। प्रत्यगात्मनस्त्वविषयत्वमुपपादितम्। यथा च सामान्यतो दृष्टमप्यनुमानं ब्रह्मणि न प्रवर्त्तते तथोपरिष्टान्निपुणतरमुपपादयिष्यामः। उपपादितं चैतदस्माभिर्विस्तरेण न्यायकणि-

भामती—व्याख्या

शङ्का—ब्रह्म यदि सिद्ध पदार्थ होने के कारण वेद से अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय है, तब ब्रह्म-ज्ञान के लिए वेदान्त-वाक्यों का विचार निरर्थक है, क्योंकि 'वेदान्तवाक्यम्, अनुवादकम्, प्रमाणान्तरविषयीभूतभूतार्थविषयकत्वात्, लौकिकवाक्यवत्'—इस अनुमान के द्वारा वेदान्त-वाक्यों में अनुवादकता सिद्ध होने के कारण अनधिगतार्थ-बोधकत्वरूप प्रामाण्य ही सिद्ध नहीं होता। न्यायकणिका में भी कहा है—''मानान्तरविषयतया तदपेक्षत्वाद् वेदस्य प्रामाण्यं विहन्येत'' (न्या. कणि. पृ. २)। अप्रमाणभूत विकल्पात्मक ज्ञानों से वस्तुतत्त्व का निश्चय नहीं होता—यह कहा जा चुका है। ब्रह्म में जगज्जन्मादिहेतुक अनुमानरूप प्रमाणान्तर की विषयता दिखाई जा चुकी है। अतः मूलभूत अनुमान प्रमाण का ही परीक्षणात्मक विचार करना चाहिए, वेदान्त का नहीं। इस प्रकार यह जो कहा गया कि 'वेदान्तवाक्यग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्'', वह कहना संगत नहीं।

समाधान—उक्त आशङ्का का निरास करते हुए भाष्यकार ने कहा है—''न, इन्द्रियादिविषयत्वे सम्बन्धाग्रहणात्''। प्रत्यगात्मा में इन्द्रियों की विषयता क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर है—''स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि''। अत एव श्रुति कहती है—''पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'' (कठो. २।१।१) [अर्थात् स्वयम्भू (परमेश्वर) ने श्रोत्रादि इन्द्रियों की अन्तर्मुखता का हनन (अवरोध) कर बाह्यमुखता बनाई, जिससे इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों का ही स्वाभाविक ग्रहण होता है, आत्मादि आन्तरिक विषयों का ग्रहण नहीं]। ब्रह्म यदि इन्द्रियों का विषय होता, तब कार्य प्रपञ्च में ब्रह्म-जन्यत्वादिरूप सम्बन्ध का ग्रहण हो जाता और उस कार्य के द्वारा ब्रह्मरूप कर्त्ता का ग्रहण सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा हो जाता [सामान्यतोदृष्ट अनुमान का स्वरूप बताते हुए न्यायभाष्यकार कहते हैं—''सामान्यतो दृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे, केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते, यथेच्छादिभिरात्मा, इच्छादयो गुणाः, गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः, तद्येषां स्थानं स आत्मेति'' (न्या. भा. १।१।५)। प्रकृत में यद्यपि आकाशादि कार्य और ब्रह्म का जन्य-जनकभाव सम्बन्ध गृहीत नहीं, तथापि घटादि कार्य का कुलालादि के साथ कार्य-कारणभाव देख कर क्षित्यादि कार्य के

मात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा संबद्धं किमन्येन केनचिद्वा संबद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्, किं तर्हि? वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्। किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम्? 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युपक्रम्याह—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति' (तैत्ति० ३।१)। तस्य च निर्णयवाक्यम्—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' (तैत्ति० ३।६)। अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि ॥ २ ॥

भामती

कायाम्। न च भूतार्थतामात्रेणानुवादतेत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः। तस्मात् सर्वमवदातम्। श्रुतिश्च 'यतो वा' इति जन्म दर्शयति, 'येन जातानि जीवन्ति' इति जीवनं स्थितिं, 'यत्प्रयन्ति' इति तत्रैव लयम्। "तस्य च निर्णयवाक्यम्"। अत्र च प्रधानादिसंशये निर्णयवाक्यम् 'आनन्दाद्ध्येव' इति। एतदुक्तं भवति—यथा रज्ज्वज्ञानसहितरज्जूपादाना धारा रज्ज्वां सत्यामस्ति रज्ज्वामेव च लीयते, एवमविद्यासहितब्रह्मोपादानं जगद् ब्रह्मण्येवास्ति तत्रैव च लीयत इति सिद्धम् ॥ २ ॥

भामती-व्याख्या

द्वारा ब्रह्मरूप कर्त्ता का अनुमान किया जा सकता था, यदि ब्रह्म किसी इन्द्रिय का विषय होता]। सामान्यतो दृष्ट अनुमान का आगे चल कर तर्कपाद में निराकरण किया जायगा। न्यायकणिका में विस्तारपूर्वक इसका उपपादन किया गया है [श्री मण्डनमिश्र ने शङ्का उठाकर उसका निराकरण किया है—"ननु सिद्धमेव सन्निवेशादिमतां बुद्धिमत्पूर्वकत्वात्। वार्तमेत्" (विधि. पृ. २१२)। इसकी व्याख्या में विस्तारपूर्वक ईश्वर की सिद्धि और उसका निराकरण किया गया है]। वेदान्त-वाक्य सिद्धार्थक मात्र होने से अनुवादक नहीं कहे जा सकते—यह समन्वय सूत्र में कहा जायगा। अतः "जन्माद्यस्य यतः"—यह सूत्र ईश्वरानुमान का उपन्यास नहीं करता, अपितु वेदान्त-वाक्य का उपस्थापक है।

वह वेदान्त-वाक्य कौन है? इस प्रश्न का उत्तर है—"भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार—अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति (तै. उ. ३।१)। [प्रसिद्ध आख्यायिका है कि वरुण का भृगुनामक पुत्र अपने पिता की शरण में जाकर ब्रह्म की जिज्ञासा प्रकट करता है। वरुण ब्रह्म-लक्षण के माध्यम से उपदेश देता है—'यह समस्त जगत् जिससे उत्पन्न एवं जिससे अनुप्राणित होकर जीवित रहता और अन्तिम समय जिसमें प्रलीन हो जाता है, वह ब्रह्म है, उसको जानने का प्रयत्न करो']। पिता से मार्ग-निर्देशन लेकर भृगु अपने चित्त को समाहित कर उक्त लक्षण का लक्ष्य खोजने में लग जाता है। अन्न, प्राण, मन और विज्ञान में क्रमशः लक्षण घटाने का प्रयत्न करता है, किन्तु उससे उसे सन्तोष नहीं होता, अन्ततो गत्वा वह स्वयं इस निर्णय पर पहुँच जाता है—"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (तै. उ. ३।६)। आशय यह है कि उसे रज्जुविषयक अज्ञान से विशिष्ट रज्जुरूप उपादानकारण का कार्यभूत सर्पादि उसी रज्जु में स्थित रह कर उसी में विलीन हो जाता

(३—शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् । सू० ३)

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं, तदेव द्रढयन्नाह—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः

भामती

सूत्रान्तरमवतारयितुं पूर्वसूत्रसङ्गतिमाह ❀ जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन इति ❀।

न केवलं जगद्योनित्वादस्य भगवतः सर्वज्ञता, शास्त्रयोनित्वादपि बोद्धव्या। शास्त्रयोनित्वस्य सर्वज्ञतासाधनत्वं समर्थ्यते। ❀ महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य इति ❀। चातुर्वर्ण्यस्य चातुराश्रम्यस्य च यथायथं निषेकादिश्मशानान्तासु ब्राह्ममुहूर्तोपक्रमप्रदोषपरिसमापनीयासु नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मपद्धतिषु च ब्रह्मतत्त्वे च शिष्याणां शासनात् शास्त्रमृग्वेदादि, अत एव महाविषयत्वात् महत्। न केवलं महाविषयत्वेनास्य महत्त्वम्, अपि त्वनेकाङ्गोपाङ्गोपकरणतयापीत्याह ❀ अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य ❀। पुराण-

भामती-व्याख्या

है, वैसे ही अविद्या-विशिष्ट ब्रह्म से उत्पन्न जगद्रूप कार्य उसी ब्रह्म में स्थित और उसी में विलीन हो जाता है। जगज्जन्मादिकारणत्व विशिष्ट ब्रह्म का स्वरूप और शुद्ध ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, क्योंकि जो लक्षण लक्ष्य से तटस्थ (लक्ष्यावृत्ति) होकर लक्ष्य का उपलक्षक होता है, उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं, तटस्थ लक्षण के द्वारा भी लक्षण का प्रयोजन सिद्ध होता है। न्यायभाष्यकार ने लक्षण का प्रयोजन बताया है—"उद्दिष्टस्यातत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्" (न्या. सू. १।१।२)। इसकी व्याख्या करते हुए वार्तिककार ने कहा है—"लक्षणं खलु लक्ष्यं पदार्थं समानासमानजातीयेभ्यो व्यवच्छिनत्ति"। 'काकवद् गृहं देवदत्तस्य'—इत्यादि व्यवहारों में काकादि उपलक्षक पदार्थों को भी देवदत्त के गृह का व्यावर्तक माना जाता है। श्री कुमारिल भट्ट भी यही कहते हैं—"सर्वथा लक्षणं नाम यद् व्यवच्छेदकारणम्" (तं. वा. पृ. ७४६)। श्री शबरस्वामी भी कहते हैं—"न शक्यं पृष्ठाकोटेन तत्र तत्रोपदेष्टुमिति लक्षणमुक्तम्।

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥"

अर्थात् धरातल पर बिखरे हुए अनन्त अलक्ष्यों की व्यावृत्ति और लक्ष्यों का सञ्चयन लक्षण के माध्यम से ही हो सकता है, प्रत्येक व्यक्ति को झुक-झुक कर देखना और पहचानना सम्भव नहीं]॥ २॥

तृतीय सूत्र की अवतरणिका के रूप में पूर्व (द्वितीय) सूत्र से इसकी संगति भाष्यकार बताते हैं—"जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तम्, तदेव द्रढयति"।

विशाल विश्व की कारणता होने मात्र से भगवान् में सर्वज्ञता नहीं, अपितु ऋग्वेदादि महान् शास्त्रों का प्रणेतृत्व भी भगवान् में सर्वज्ञता का प्रयोजक है। शास्त्रप्रणेतृत्व में सर्वज्ञत्व की साधनता का समर्थन किया जाता है—'महतः ऋग्वेदादि शास्त्रस्य। ब्राह्मणादि चारों वर्णों एवं ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के लिए समस्त संस्कारों [निषेक (गर्भाधान) आदि अन्त्येष्टि-पर्यन्त संस्कार द्विजत्व का सम्पादन करते हैं—वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ (मनु० २।२६)]। प्रातः काल से लेकर सायं तक सम्पादनीय नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों तथा ब्रह्मतत्त्व का शासन (विधान) करने के कारण ऋग्वेदादि को शास्त्र कहा जाता है। केवल प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से ही

सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्सं-

भामती

न्यायमीमांसादयो दश विद्यास्थानानि तैस्तया तया द्वारोपकृतस्य । तदनेन समस्तशिष्टजनपरिग्रहेणाप्रामाण्यशङ्काऽप्यपाकृता । पुराणादिप्रणेतारो हि महर्षयः शिष्टास्तैस्तया तया द्वारा वेदान् व्याचक्षाणैस्तदर्थं चादरेणानुतिष्ठद्भिः परिगृहीतो वेद इति । न चायमनवबोधको नाप्यस्पष्टबोधको येनाप्रमाणं स्यादित्याह ॐ प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः ॐ । सर्वमर्थजातं सर्वथाऽवबोधयन् नानवबोधको नाप्यस्पष्टबोधक इत्यर्थः । अत एव ॐ सर्वज्ञकल्पस्य ॐ सर्वज्ञसदृशस्य । सर्वज्ञस्य हि ज्ञानं सर्वविषयं शास्त्रस्याप्यभिधानं सर्वविषयमिति सादृश्यम् । तदेवमन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह ॐ न हीदृशस्य इति ॐ । सर्वज्ञस्य गुणः सर्वविषयता तदन्वितं शास्त्रम् । अस्यापि सर्वविषयत्वात् । उक्तमर्थं प्रमाणयति ॐ यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् सम्भवति स पुरुषविशेषस्ततोऽपि शास्त्रादधिकतरविज्ञानः ॐ इति योजना । अद्यत्वेऽप्यस्मदादिभिर्यत्समीचीनार्थविषयं शास्त्रं विरच्यते तत्रास्माकं वक्तॄणां वाक्याज्ज्ञानमधिकविषयम् । न हि ते तेऽसाधारणधर्मा अनुभूयमाना अपि शक्या वक्तुम् । न खल्विक्षुक्षीरगुडादीनां मधुररसभेदाः शक्याः सरस्वत्याप्याख्यातुम् । विस्तरार्थमपि वाक्यं न वक्तृज्ञानेन तुल्यविषयमिति कथयितुं

भामती—व्याख्या

उन्हें महान् नहीं कहा जाता, अपितु सभी अङ्गों और उपाङ्गों को मिला देने से उनका कलेवर भी महान् (विपुल) हो जाता है—"अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य"। वेदों के छः अङ्ग होते हैं—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्" (मु. उ. १।१।५), इनमें पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र—इन चारों को मिला देने से सब दस विद्यास्थान कहे जाते हैं।

पुराणकारादि शिष्ट पुरुषों के द्वारा वेद परिगृहीत है, अतः इसमें अप्रामाण्य की आशङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि पुराणादि ग्रन्थों के प्रणेता ऋषिगण शिष्ट कहे जाते हैं ["के शास्त्रस्थाः ? शिष्टाः, तेषामविच्छिन्ना स्मृतिः शब्देषु वेदेषु च" (शाबर. १।३।९)]। उनके द्वारा वेदों का समुचित व्याख्यान और वैदिक कर्मों का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान यह सिद्ध करता है कि वेदों के उपदेशों को महर्षियों ने अपने आचरणों में पूर्णतया उतारा था, वेदों का प्रामाण्य उन्हें सर्वथा अभ्युपगत था। वेद न तो अबोधक हैं और न संशयादि के उत्पादक, अतः उनमें मिथ्यात्व, अज्ञान और संशय नाम का त्रिविध अप्रामाण्य सम्भव नहीं—"प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः।" समस्त अर्थों का जो विस्पष्ट अवबोधक होता है, उसे न तो अबोधक कह सकते हैं और न अस्पष्ट बोधक। अत एव वेदों को "सर्वज्ञकल्प" कहा जाता है। सर्वज्ञकल्प का यहाँ अर्थ सर्वज्ञ-सदृश है। सर्वज्ञ पुरुष का ज्ञान जैसे सर्वविषयक होता है, वैसे शास्त्रों का अभिधान भी सर्वविषयक है—यही दोनों में सादृश्य है। अन्वयमुखेन प्रतिपादित विषय का व्यतिरेकतः प्रतिपादन किया जाता है—"न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति"। सर्वज्ञ का गुण है—सर्वविषयत्व, उससे युक्त होने के कारण शास्त्र भी सर्वविषयक होता है। उक्त अर्थ का सर्वज्ञता में पर्यवसान किया जाता है—"यद् यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् सम्भवति, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञानः"। लोक में यह प्रसिद्ध व्याप्ति है कि शास्त्र की अपेक्षा शास्त्रप्रणेता पुरुष अधिक विषय का ज्ञान रखता है। आज-कल भी हम लोगों के द्वारा जो शास्त्र रचा जाता है, उसकी अपेक्षा शास्त्रकार में अधिक विषय का ज्ञान होता है, क्योंकि पुरुष के द्वारा वस्तु के जिन असाधारण धर्मों का अनुभव किया जाता है, उन सभी का शब्दों के द्वारा कथन करना सम्भव नहीं होता, जैसे इक्षु (ईख या गन्ना) दूध और गुडादि के

भवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके। किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मानुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोर्ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो 'भूताद्योनेः संभवः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः'

भामती

विस्तरग्रहणम्। सोपनयं निगमनमाह ॐ किमु वक्तव्यम् इति ॐ। वेदस्य यस्मात् महतो भूताद् योनेः सम्भवः तस्य महतो भूतस्य ब्रह्मणो निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च किमु वक्तव्यमिति योजना ॐ अनेकशाखा इति ॐ। अत्र चानेकशाखाभेदभिन्नस्येत्यादिः सम्भव इत्यन्त उपनयः। तस्येत्यादि सर्वशक्तिमत्त्वं चेत्यन्तं निगमनम्। ॐ अप्रयत्नेनैव इति ॐ ईषत्प्रयत्नेन, यथाऽलवणा यवागूरिति। देवर्षयो हि महापरिश्रमेणापि यत्राशक्तास्तदयमीषत्प्रयत्नेन लीलयैव करोतीति निरतिशयमस्य सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चोक्तं भवति। अप्रयत्नेनास्य वेदकर्तृत्वे श्रुतिरुक्ता 'अस्य महतो भूतस्य' इति।

येऽपि तावद् वर्णानां नित्यत्वमास्थिषत तैरपि पदवाक्यादीनामनित्यत्वमभ्युपेयम्। आनुपूर्वीभेदवन्तो हि वर्णा पदम्। पदानि चानुपूर्वीभेदवन्ति वाक्यम्। व्यक्तिधर्मश्चानुपूर्वी न वर्णधर्मः। वर्णानां नित्यानां विभूनां च कालतो देशतो वा पौर्वापर्यायोगात्। व्यक्तिश्चानित्येति कथं तदुपगृहीतानां वर्णानां नित्यानामपि पदता नित्या। पदानित्यतया च वाक्यादीनामप्यनित्यता व्याख्याता। तस्मान्नृत्यानुकरणवत् पदाद्य-

भामती-व्याख्या

माधुर्य का जो अन्तर अनुभूत होता है, वह सरस्वती के द्वारा भी नहीं कहा जा सकता। शास्त्र कितना भी विस्तरार्थक हो वक्तृज्ञान की बराबरी नहीं कर सकता—इस तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए 'विस्तर' पद का ग्रहण किया गया है। न्याय-प्रयोग का उपनय-सहित निगमन किया जाता है—"किमु वक्तव्यमित्यादि"। ऐसे वेद का जिस महान् कारण से सम्भव (उत्पाद) होता है, उसकी सर्वज्ञता के विषय में कहना ही क्या है ? [भाष्य-प्रदर्शित अनुमान का पूरा आकार कल्पतरुकार ने दिखाया है—'ब्रह्म वेदविषयादधिकविषयकज्ञानवत् तत्कर्तृत्वाद्, यो यद्वाक्यप्रणयनकर्त्ता, स तद्विषयादधिकविषयज्ञः, यथा पाणिनीयव्याकरणात् पाणिनिः। भाष्यप्रयुक्त अवयवों में "अनेकशाखाभेदभिन्नस्य"—यहाँ से लेकर "सम्भवः"—यहाँ तक उपनय और "तस्य"—यहाँ से लेकर "सर्वशक्तिमत्त्वं च"—यहाँ तक निगमन वाक्य प्रदर्शित किया गया है। "अप्रयत्नेनैव" का अर्थ है—"ईषत्प्रयत्नेन'। जैसे 'अलवणा यवागू' का 'ईषल्लवणा' अर्थ होता है। अर्थात् देव और ऋषिगण अपने महान् श्रम के द्वारा भी जिस कार्य का सम्पादन नहीं कर सकते, उस कार्य को परमात्मा अपने थोड़े प्रयत्न के द्वारा लीलामात्र से ही सम्पन्न कर देता है, इससे ही परमेश्वर में निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व पर्यवसित हो जाता है। वह (ईश्वर) अपने स्वल्प प्रयत्न से ही वेदों की रचना कर डालता है—यह श्रुति ही कहती है—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदः" (बृह. उ. २।४।१०)। जो (मीमांसकगण) वर्णों को नित्य मानते हैं, उन्हें भी 'पद' और 'वाक्यादि' को अनित्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि क्रम विशेष से युक्त वर्ण पद और आनुपूर्वी विशेष से युक्त पद ही वाक्य कहे जाते हैं। आनुपूर्वी (क्रम विशेष) वर्णों की अभिव्यक्ति का धर्म है, वर्णों का नहीं, क्योंकि वर्ण नित्य हैं, अतः कालिक पौर्वापर्यभाव जैसे उनमें सम्भव नहीं, वैसे ही वर्ण विभु हैं, अतः दैशिक पूर्वोत्तरभाव उनमें नहीं बन सकता। वर्णों की अभिव्यक्ति अनित्य होती है, अतः आनुपूर्वी विशेष से युक्त वर्णगत पदत्व नित्य क्योंकर होगा ? विवश होकर ऐसे पदों को अनित्य ही मानना होगा, पदों के अनित्य होने से वाक्यों को अनित्य मानना अनिवार्य है। अतः नृत्य का अनुकरण जैसे भिन्न होता है, वैसे ही गुरु-द्वारा उच्चरित

(बृह० २।४।१०) इत्यादिश्रुतेः । तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति । इति प्रथमवर्णकम् ॥

भामती

नुकरणम् । यथा हि यादृशं गात्रचलनादि नर्त्तकः करोति तादृशमेव शिक्ष्यमाणाऽनुकरोति नर्त्तकी, न तु तदेव व्यनक्ति । एवं यादृशीमानुपूर्वीं वैदिकानां वर्णपदादीनां करोत्यध्यापयिता तादृशीमेवानुकरोति माणवकः, न तु तामेवोच्चारयति । आचार्य्यव्यक्तिभ्यो माणवकव्यक्तीनामन्यत्वात् । तस्मान्नित्यानित्यवर्णवादिनां न लौकिकवैदिकपदवाक्यादिपौरुषेयत्वे विवादः, केवलं वेदवाक्येषु पुरुषस्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्ये विप्रतिपत्तिः । यथाहुः—'यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता' ।

तत्र सृष्टिप्रलयमनिच्छन्तो जैमिनीया वेदाध्ययनं प्रत्यस्मादृशगुरुशिष्यपरम्परामविच्छिन्नामनादिमाचक्षते । वैयासिकं तु मतमनुवर्त्तमानाः श्रुतिस्मृतीतिहासादिसिद्धसृष्टिप्रलयानुसारेणानाद्यविद्योपधानलब्धसर्वज्ञशक्तिज्ञानस्यापि परमात्मनो नित्यस्य वेदानां योनेरपि न तेषु स्वातन्त्र्यं, पूर्वपूर्वसर्गानुसारेण तादृशतादृशानुपूर्वीविरचनात् । तथा हि यागादिब्रह्महत्यादयोऽर्थानर्थहेतवो ब्रह्मविवर्त्ता अपि न सर्गान्तरे विपरीयन्ते, न हि जातु क्वचित् सर्गे ब्रह्महत्याऽर्थहेतुरनर्थहेतुश्चाश्वमेधो भवति, अग्निर्वा क्लेदयति, आपो वा दहन्ति, तद्वत् । यथाऽत्र सर्गे नियतानुपूर्व्यं वेदाध्ययनमभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरन्यथा तदेव वाग्वज्रतयाऽ-

भामती—व्याख्या

पदादि का अनुकरण भी भिन्न होता है, क्योंकि जैसा शरीर को नर्तक मटकाता है, वैसा ही सीखनेवाली नर्तकी भी मटकाती है, नर्तक के नृत्य की ही अभिव्यक्ति नर्तकी में नहीं मानी जाती । उसी प्रकार अध्यापक वैदिक वर्णो और पदों की जैसी आनुपूर्वी का उच्चारण करता है, वैसी ही आनुपूर्वी का अनुकरण माणवक करता है, अध्यापकोच्चारित आनुपूर्वी का ही उच्चारण नहीं करता, क्योंकि आचार्य की आनुपूर्वी व्यक्ति से मणिवक की आनुपूर्वी व्यक्ति भिन्न होती है । अतः नित्यवर्णवादी और अनित्य वर्णवादियों का वैदिक पदों और वाक्यों की पौरुषेयता में विवाद नहीं, केवल वैदिक वाक्यों में पुरुष के स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्य में वैमत्य है, जैसा कि श्री कुमारिलभट्ट कहते हैं—"यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता" (श्लो. वा. पृ. ८०२) । [लौकिक पदों के उच्चारण में पुरुष स्वतन्त्र है, अतः पुरुष के दोष उसके शब्द में संक्रान्त हो जाते हैं, किन्तु वैदिक शब्दों में पुरुष का स्वातन्त्र्य न होने के कारण पुरुष के दोष उनमें संक्रान्त नहीं होते] । महासृष्टि और महाप्रलय न माननेवाले जैमिनिमतावलम्बी आचार्यगण वेदाध्ययन की गुरु-शिष्य-परम्परा को अनन्त और अनादि मानते हैं, किन्तु व्यासमतावलम्बी वेदान्तिगणों के मत में श्रुति, स्मृति, इतिहासादि-प्रसिद्ध सृष्टि और प्रलय के अनुसार अनादि अविद्यारूप उपाधि के द्वारा सर्वज्ञत्व पाकर भी नित्य परमात्मा वेदों की रचना करके भी उसमें स्वतन्त्र नहीं माना जाता, क्योंकि पूर्व-पूर्व सृष्टि में प्रचलित आनुपूर्वी की ही वह रचना कर देता है, नूतन आनुपूर्वी का निर्माण नहीं करता । यह ध्रुव सत्य है कि इष्ट-साधनीभूत यागादि और अनिष्ट-साधनीभूत ब्रह्म-हत्यादि कर्म ब्रह्म के विवर्त होकर भी अन्य सृष्टि में विपरीत स्वभाव के नहीं होते, क्योंकि किसी भी सृष्टि में ब्रह्महत्या कर्म स्वर्गादिरूप इष्ट का और अश्वमेध नरकादिरूप अनिष्ट का, या अग्नि क्लेदन (आर्द्रीकरण) का अथवा जल दहन का करण नहीं होता । वैसे ही वेदों में पुरुष का स्वातन्त्र्य कभी नहीं रहता । जैसे इस समय आनुपूर्वी विशेष से युक्त वेदों का अध्ययन अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) का साधन होता है, अन्यथा (स्वर और वर्णादि-क्रम का व्युत्क्रम हो जाने पर) वेद-मन्त्र वज्र बन कर यजमान का ही हिंसक हो जाता है, जैसा कि शिक्षाकार कहते हैं—

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥" (पाणि. शिक्षा)

भामती

नर्थहेतु', एवं सर्गान्तरेष्वपीति, तदनुरोधात् सर्वज्ञोऽपि सर्वशक्तिरपि पूर्वपूर्वसर्गानुसारेण वेदान् विरचयन्न स्वतन्त्रः । पुरुषास्वातन्त्र्यमात्रं चापौरुषेयत्वं रोचयन्ते जैमिनीया अपि, तच्चास्माकमपि समानमन्यत्राभिनिवेशात् । न चैकस्य प्रतिभानेऽनाश्वास इति युक्तम् , न हि बहूनामप्यज्ञानां विज्ञानां वाऽऽशयदोषवतां प्रतिभाने युक्त आश्वासः । तत्त्वज्ञानवतश्चापास्तसमस्तदोषस्यैकस्यापि प्रतिभाने युक्त एवाश्वासः । सर्गादिभुवां प्रजापतिदेवर्षीणां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नानामुपपद्यते तत् स्वरूपावधारणं, तत्प्रत्ययेन चार्वाचीनानामपि तत्र सम्प्रत्यय इत्युपपन्नं ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वं शास्त्रस्य चापौरुषेयत्वं प्रामाण्यं चेति ।

भामती–व्याख्या

[तैत्तिरीयसंहिता (२।५) में आख्यायिका आती है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की इन्द्र ने हत्या कर दी । त्वष्टा ने इन्द्र को मार डालनेवाले पुत्र की लिप्सा से सोमयाग का अनुष्ठान किया । उसमें इन्द्र का भाग नहीं रखा । इन्द्र ने स्वयं यज्ञ में आ कर बलपूर्वक सोमरस का पान किया । त्वष्टा ने सोमपात्र में बचे सोम-रस की आहुति डालते हुए मन्त्र पढ़ा—"स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" । वहाँ 'इन्द्रस्य शत्रुः'—ऐसे षष्ठी तत्पुरुष का स्वर न बोल कर 'इन्द्रः शत्रुर्यस्य'—इस प्रकार बहुव्रीहि समास के स्वर का प्रयोग कर डाला । उसका फल यह हुआ कि उस याग से उत्पन्न वृत्रासुर नाम के पुत्र का हन्ता इन्द्र ही हो गया] । अतः अन्य सृष्टि के आरम्भ में सर्वज्ञ परमेश्वर भी पूर्व-प्रचलित आनुपूर्वी के अनुसार ही वेदों का प्रचार कर देता है, उनकी नूतन रचना न करने के कारण परमात्मा को स्वतन्त्र नहीं माना जाता । वेदों में पुरुष की स्वतन्त्रता का न होना ही वेदों की अपौरुषेयता है—ऐसा जैमिनीय मत के आचार्य भी मानते हैं । वैसा ही हमारे वेदान्त में भी समानरूप से माना जाता है, किसी प्रकार के आग्रह की बात और है ।

शङ्का—एक ईश्वर ही यदि वेद-प्रवर्तक माना जाता है, तब यह भी सन्देह हो सकता है कि वह पूर्वप्रचलित वेदों का उपदेश करता है ? अथवा अपने नूतन रचित वेदों का प्रचार करता है ? अतः एक ईश्वर पर निर्भर न रह कर बहुत पुरुषों पर ही अध्ययनाध्यापन की परम्परा निर्भर रखनी चाहिए [जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

> अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम् ।
> एकस्य प्रतिभानं तु कृतकान्न विशिष्यते ॥
> अतश्च सम्प्रदाये च नैकः पुरुष इष्यते ।
> बह्वः परतन्त्राः स्युः सर्वे ह्यद्यत्ववन्नराः ॥ (श्लो. वा. पृ. ९०–९१)

अर्थात् पूर्व-काल में जैसे वेदों का कोई एक पुरुष कर्त्ता नहीं रहा, वैसे ही सम्प्रदाय-प्रवर्तक भी कोई एक ईश्वर नहीं रहा, किन्तु आज-कल के समान ही अनेक परतन्त्र व्यक्तियों की परम्परा में वेद की अध्ययन-धारा प्रवाहित होती आ रही है] ।

समाधान—यदि एक पुरुष पर विश्वास नहीं किया जा सकता, तब अनेक पुरुषों पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि अज्ञानी पुरुषों की एक लम्बी परम्परा अथवा अनेक ज्ञानवान् किन्तु वञ्चक पुरुषों की परम्परा में जो बात आ रही है, वह कभी भी विश्वसनीय नहीं होती । यदि एक व्यक्ति भी तत्त्वज्ञ, विवेकी और आप्त पुरुष है, तब उसके प्रतिभान पर विश्वास किया जा सकता है । यदि हम लोग ईश्वर के स्वरूप का अवधारण नहीं कर सकते, तब भी सृष्टि के आरम्भ में होनेवाले प्रजापति, देव और ऋषिगण धर्म, ज्ञान, वैराग्य और पूर्ण ऐश्वर्य से सम्पन्न होते हैं, वे उस (ईश्वर) के स्वरूप का अवधारण भली प्रकार कर सकते हैं । उन पर पूर्ण विश्वास रखनेवाले अर्वाचीन व्यक्तियों को भी ईश्वर का स्वरूपावधारण सुलभ हो जाता है । फलतः वेदरूप शास्त्रों की कारणता ब्रह्म में, शास्त्रों

अथवा,—यथोक्तमृग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रं? यावता पूर्वसूत्र एवैवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। उच्यते,—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तमाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते—शास्त्रयोनित्वादिति ॥ ३ ॥

भामती

वर्णकान्तरमारभते ❀ अथवा इति ❀। पूर्वेणाधिकरणेन ब्रह्मस्वरूपलक्षणासम्भवशङ्कां व्युदस्य लक्षणसम्भव उक्तः, तस्यैव तु लक्षणस्यानेनानुमानत्वाशङ्कामपाकृत्यागमोपदर्शनेन ब्रह्मणि शास्त्रं प्रमाणमुक्तम्। अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः ॥ ३ ॥

भामती-व्याख्या

में अपौरुषेयत्व और प्रामाण्य उपपन्न हो जाता है। इस सूत्र में 'शास्त्रस्य योनिः' और 'शास्त्रं योनिरस्य'—इस प्रकार द्विविध समास का अवलम्बन कर इस एक ही अधिकरण के दो वर्णक (अधिकरण-प्रकार भेद) हो जाते हैं, उनमें यहाँ तक प्रथम वर्णक समाप्त हो जाता है। [इस वर्णक का विषय वाक्य होता है—तस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदः" (बृह. उ. २।४।१०)। यहाँ संशय होता है कि यह वाक्य ब्रह्म में शास्त्रप्रणेतृत्व का प्रतिपादक नहीं है? अथवा है? पूर्व पक्ष इस प्रकार किया गया कि वेद अपौरुषेय है, अतः वेदकर्तृत्व ब्रह्म में सम्भव नहीं और सिद्धान्त हो जाता है—"शास्त्रयोनित्वात्"। पुरुष-स्वातन्त्र्याभावरूप अपौरुषेयता का निर्वाह इस प्रकार भी हो जाता है कि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर विगत सृष्टि में प्रचलित वेद का ही उपदेश करता है, नूतन रचना नहीं करता। अतः ब्रह्म में वेदकर्तृत्वरूप शास्त्रयोनित्व सम्भव हो जाता है, यह सब कुछ ब्रह्म में सर्वज्ञत्व के विना समञ्जस नहीं होता, अतः ब्रह्म में सर्वज्ञत्व पर्यवसित हो जाता है]।

द्वितीय वर्णक का आरम्भ किया जाता है—"अथवा"। पूर्व ('जन्माद्यस्य यतः'—इस) अधिकरण के द्वारा 'ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणासम्भव'—इस प्रकार की शङ्का का निराकरण करके स्वरूपलक्षण को सम्भावित किया, 'जगज्जन्मादिकर्तृत्वरूप लक्षण' में अनुमानत्व की आशङ्का को इस अधिकरण के प्रथम वर्णक से निरस्त किया गया। इस अधिकरण के द्वितीय वर्णक के द्वारा ब्रह्म में शास्त्रप्रमाणकत्व प्रतिपादित किया गया, इससे ब्रह्म में अनुमान प्रमाण का निरास करके शास्त्र प्रमाण प्रदर्शित हो जाता है। इस वर्णक में सूत्र और भाष्य नितान्त सुस्पष्ट और सुगम है। [जैसे धर्म के लक्षण और प्रमाण की जिज्ञासा "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै. सू. १।१।२) इस एक ही सूत्र के द्वारा शान्त की गई है, वार्तिककार कहते हैं—

द्वयमेकेन सूत्रेण श्रुत्यर्थाभ्यां निरूप्यते।
स्वरूपेऽपि हि तस्योक्तं प्रमाणं कथ्यतेऽर्थतः ॥ (श्लो. वा. पृ. ४५)

वैसे ही ब्रह्मणः किं स्वरूपम्? इस प्रश्न का उत्तर "जन्माद्यस्य यतः" और ब्रह्मणि किं प्रमाणम्? इसका उत्तर है—यह द्वितीय वर्णक 'शास्त्रयोनि' या 'शास्त्रलक्षणं ब्रह्म'। जगज्जन्मादिकारणत्व का अर्थ श्री सुरेश्वराचार्य ने जगदुपादानाश्रयत्व किया है—

अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥ (बृह. वा. पृ. ५०५)

(४—समन्वयाधिकरणम् । सू० ४)

कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थ-क्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम् । अतो

भामती

शास्त्रप्रमाणकत्वमुक्तं ब्रह्मणः प्रतिज्ञामात्रेण, तदनेन सूत्रेण प्रतिपादनीयमित्युत्सूत्रं पूर्वपक्षमार-चयति भाष्यकारः ❀ कथं पुनः इति ❀। किमाक्षेपे । शुद्धबुद्धोदासीनस्वभावतयोपेक्षणीयं ब्रह्म भूतमभिदधतां वेदान्तानामपुरुषार्थोपदेशिनामप्रयोजनत्वापत्तेः, भूतार्थत्वेन च प्रत्यक्षादिभिः समानविषयतया लौकिकवाक्यवत् तदर्थानुवादकत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गात् । न खलु लौकिकानि वाक्यानि प्रमाणान्तरविषय-मर्थमवबोधयन्ति स्वतः प्रमाणम्, एवं वेदान्ता अपौरुषेयनपेक्षत्वलक्षणं प्रामाण्यमेषां व्याहन्येत । न च तैरप्रमाणैर्भवितुं युक्तम् । न चाप्रयोजनैः, स्वाध्यायाध्ययनविध्यापादितप्रयोजनवत्त्वनियमात् । तस्मात्त-

भामती—व्याख्या

इसी प्रकार अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य शास्त्रों में ही माना गया है—

प्रमाणानि च शास्त्राणि तत्प्रामाण्यं न चान्यतः ।
अज्ञातात्मावबोधित्वात् तथा पूर्वमवादिषम् ।। (बृह. वा. पृ. ५१५)

फलतः ब्रह्मणि प्रमाणं नास्ति ? अस्ति वा ? इस सन्देह का निराकरण इस द्वितीय वर्णक में किया गया है] ।

पूर्व अधिकरण के द्वितीय वर्णक में जो कहा गया कि ब्रह्म में शास्त्र (वेद) प्रमाण है, वह केवल एक प्रतिज्ञामात्र है, उसका उपपादन इस समन्वयाधिकरण में करना है । उपपादन का अर्थ होता है—आक्षेपपूर्वक समाधान । इस सूत्र में केवल समाधान है, आक्षेप नहीं, अतः भाष्यकार सूत्र की परिधि से बाहर रह कर आक्षेप या पूर्व पक्ष की रचना कर रहे हैं—"कथं पुनः" । यहाँ जिस 'किम्' पद से 'थमु' प्रत्यय करके 'कथम्' शब्द बनाया गया है, वह 'किम्' पद आक्षेपार्थक है, प्रश्नादि का वाचक नहीं । इस प्रकार "कथं पुनः ब्रह्मणः शास्त्र-प्रमाणकत्वमुच्यत ?" इस वाक्य का अर्थ होता है—"यदुक्तं शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्मेति, तन्न' । अतः पूर्व अधिकरण से इस अधिकरण की आक्षेपीकी संगति फलित होती है । आक्षेपवादी प्रमेय (ब्रह्म) और प्रमाण (वेदान्त) दोनों में अनौचित्य का प्रदर्शन करता है—ब्रह्म शुद्ध, बुद्ध और उदासीनस्वभाव का होने से न हेय और न उपादेय, किन्तु उपेक्षणीयमात्र है । इस प्रकार के निष्प्रयोजन और सिद्ध ब्रह्म के उपदेशक वेदान्त-वाक्य भी निरर्थक हैं । केवल निरर्थक ही नहीं, अपितु प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषयीभूत सिद्ध ब्रह्म का बोधन करना अनुवाद मात्र है, अनुवादक वाक्य गृहीतग्राही होने के कारण प्रमाण भी नहीं माने जाते । जो कहा जाता है कि वेद स्वतःप्रमाण है, वह भी संगत नहीं क्योंकि जैसे प्रमाणान्तरविषय-विषयक लौकिक वाक्य स्वतः प्रमाण नहीं माने जाते, वैसे ही उसी प्रकार के वैदिक वाक्य भी स्वतःप्रमाण क्योंकर होंगे ? महर्षि जैमिनि ने शब्द में प्रमाणता के लिए इतरप्रमाणानपेक्षत्व आवश्यक माना है—"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" (जै. सू. १।१।५) । वेदान्त-वाक्यों को जब अपने अर्थ के बोधन में प्रत्यक्षादि की अपेक्षा हो जाती है, तब उनमें अनपेक्षत्व नहीं रहता । वेदान्त-वाक्यों को अप्रमाण या निष्प्रयोजन भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शत. ब्रा. ११।५।६) इस विधि वाक्य के द्वारा वेदों में प्रयोजनवत्ता का आपादन किया जाता है, क्योंकि निष्प्रयोजनभूत वाक्यों के अध्ययन का विधान सम्भव नहीं । फलतः

वेदान्तानामानर्थक्यम् ; अक्रियार्थत्वात् । कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वम् ; उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा । न हि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति; प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः; तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात् । अत एव 'सोऽरोदीद्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० सू० १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थव-

भामती

हिहितकर्मापेक्षितकर्तृदेवतादिप्रतिपादनपरत्वेनैव क्रियार्थत्वम् । यदि त्वसन्निधानात्तत्परत्वं न रोचयन्ते, ततः सन्निहितोपासनादिक्रियापरत्वं वेदान्तानाम् । एवं हि प्रत्यक्षाद्यनधिगतगोचरत्वेनानपेक्षतया प्रामाण्यं च प्रयोजनवत्त्वं च सिध्यतीति तात्पर्य्यार्थः । पारमर्षसूत्रोपन्यासस्तु पूर्वपक्षदार्ढ्याय । आनर्थक्यं चाप्रयोजनत्वम्, सापेक्षतया प्रमानुत्पादकत्वं चानुवादकत्वादिति । * अतः * इत्यादि * वा * इत्यन्तं ग्रहणक-

भामती-व्याख्या

विहित कर्मों में अपेक्षित कर्त्ता और देवतादि का प्रतिपादन कर वेदान्त-वाक्य कर्म (धर्म) के अङ्ग हो सकते हैं । यदि कर्म-काण्ड से दूर पठित होने के कारण वेदान्त कर्मार्थक नहीं हो सकते, तब उपनिषत्काण्ड में प्रतिपादित प्राणादि की उपासना में वेदान्त-वाक्यों का उपयोग माना जा सकता है । इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनधिगत पदार्थों के प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यों में अनपेक्षत्व, प्रामाण्य और प्रयोजनवत्त्व सिद्ध हो जाता है ।

भाष्यकार ने महर्षि जैमिनि के सूत्र का उपन्यास पूर्व पक्ष को दृढ़ बनाने के लिए किया है [आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानार्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते" (जै. सू. १।२।१) यह सूत्र यद्यपि अर्थवादाधिकरण का पूर्वपक्ष-सूत्र है, सिद्धान्त-सूत्र नहीं, तथापि यहाँ भी पूर्वपक्ष की दृढ़ता के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । उसका अर्थ यह है कि आम्नाय (समस्त वेद) क्रिया (अग्निहोत्रादि कर्मों) के विधान में ही पर्यवसित होता है । वेदान्त-वाक्यों के समान जो वाक्य क्रियापरक नहीं, वे अनर्थक हैं, अतः अनित्य (अप्रमाण) माने जाते हैं] । वेदान्त-वाक्यों में जो आनर्थक्य कहा गया है, उसका अर्थ अप्रयोजनवत्त्व अथवा प्रत्यक्षादि-सापेक्ष एवं अनुवादकमात्र होने के कारण प्रमानुत्पादकत्व ही आनर्थक्य कहा गया है—'अतः' से लेकर 'वा' तक ["अतो वेदान्तानामानर्थक्यमक्रियार्थत्वात्, कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वम्, उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा"—यह] वाक्य ग्रहणक वाक्य (संग्रह, संक्षिप्त या व्याख्येय भाष्य) है और उसका व्याख्यान भाष्य है—"न हि" से लेकर "उपपन्नो वा" यहाँ तक । [उसका तात्पर्य यह कहा जा चुका है कि परिनिष्ठित (सिद्ध) पदार्थ का प्रतिपादन सम्भव नहीं, क्योंकि सिद्ध पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता है, सिद्ध पदार्थ न तो हेय होता है और न उपादेय, अतः उसके प्रतिपादन से कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता, अत एव वेद में परिगृहीत सिद्धार्थक आख्यानों का कर्म की स्तुति या निन्दा में तात्पर्य मान कर विधि वाक्यों से एक-वाक्यत्व स्थापित किया जाता है, जैसे—सोऽरोदीद् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" (तै. सं. १।५।१) । अर्थात् 'देवता और असुर परस्पर युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हैं, देवतागण अपना चाँदी-सोना अग्निदेव के पास धरोहर रख देते हैं । युद्ध जीत कर आते हैं, अपनी धरोहर अग्निदेव से माँगते हैं, वह धन लेकर भागता है, पीछा करनेवाले देवगण उसे मारने लगते हैं । अग्नि एक स्थान पर बैठ कर रोने लगता है । उसके नेत्रों से जो आँसू निकलते हैं, वे पृथिवी पर पड़ते ही रजत बन जाते हैं, रजत ने अग्निदेव से रुदन कराया, अतः उसका नाम 'रुद्र' है, यज्ञ में रजत की दक्षिणा नहीं दी जाती ।' इस आख्यायिका की "बर्हिषि रजतं न देयम्"—इस निषेध वाक्य के साथ एकवाक्यता की जाती

त्वमुक्तम् । मन्त्राणां च 'इषे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम् । न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा ।

भामती

वाक्यम् । अस्य विभागभाष्यं ® न हि ® इत्यादि ® उपपन्ना वा ® इत्यन्तम् ।

स्यादेतद्—अक्रियार्थत्वेऽपि ब्रह्मस्वरूपविधिपरा वेदान्ता भविष्यन्ति, तथा च विधिना त्वेकवाक्यत्वादिति राद्धान्तसूत्रमनुग्रहीष्यते । न खल्वप्रवृत्तप्रवर्त्तनमेव विधिः । उत्पत्तिविधेरज्ञातज्ञापनार्थत्वात् । वेदान्तानां चाज्ञातं ब्रह्म ज्ञापयतां तथाभावादित्यत आह ® न च परिनिष्ठित इति ® । अनागतोत्पाद्यभावविषय एव हि सर्वो विधिरूपेयोऽधिकारविनियोगप्रयोगोत्पत्तिरूपाणां परस्पराविनाभावात्, सिद्धे च तेषामसम्भवात् । तद्वाक्यानां सर्वेषामपार्थ्यं भिद्यते । यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादिभ्योऽधिकारविनियोगप्रयोगाणां प्रतिलम्भादग्निहोत्रं जुहोतीत्युत्पत्तिमात्रपरं वाक्यम् । न त्वत्र विनियोगादयो न सन्ति, सन्तोऽप्यन्यतो लब्धत्वात् केवलमविवक्षिताः । तस्माद् भावनाविषयो विधिर्न सिद्धे

भामती-व्याख्या

है—'यस्माद्रजतं रोदितवान्, तस्माद् यागे दक्षिणारूपेण न देयम् ।'

इसी प्रकार "इषे त्वा ऊर्जे त्वा" (माध्यन्दिन. १।१) इत्यादि मन्त्रों का 'इषे त्वेति छिनत्ति"—इत्यादि पलाश-शाखा-छेदनादि कर्मों में उपयोग करने के लिए सभी अर्थवाद-वाक्यों की विधि वाक्यों से एकवाक्यता की जाती है—"विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (जै. सू. १।२।७) अर्थात् अर्थवाद वाक्य विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यतापन्न होकर विधेय पदार्थ की स्तुति और निषेध्य पदार्थ की निन्दा में उपयोगी होते हैं] ।

शङ्का—यद्यपि वेदान्त-वाक्य किसी क्रिया (कर्म) का प्रतिपादन नहीं करते, तथापि ब्रह्मस्वरूप के विधायक हो सकेंगे, ऐसा मानने पर "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्" (जै. सू. १।२।७) यह सिद्धान्त सूत्र भी अनुपालित हो जाता है । अप्रवृत्त पुरुष के प्रवर्तक वाक्य को ही विधि वाक्य नहीं कहते, क्योंकि 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः (तै. सं. २।६।३।३) इत्यादि उत्पत्ति विधि (कर्म के स्वरूपभूत द्रव्य और देवता के प्रकाशक) वाक्य किसी के प्रवर्तक न होकर केवल अज्ञात अर्थ के प्रकाशकमात्र होते हैं । वेदान्त-वाक्य भी अज्ञात ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, अतः ब्रह्म-स्वरूप के विधायक हो सकते हैं ।

समाधान—उक्त शङ्का का निरास करने के लिए भाष्यकार कहते हैं—"न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति" । सभी विधि वाक्यों का भविष्य में उत्पन्न होनेवाला भावनारूप कार्य ही विषय होता है, क्योंकि अधिकार, विनियोग, प्रयोग और उत्पत्ति विधियों का परस्पर अविनाभाव होता है, सिद्ध वस्तु में अधिकारादि (अप्रवृत्त-प्रवर्तनादि) सम्भावित नहीं । कर्मों के प्रकरण में प्रायः सभी वाक्य होते हैं, जहाँ सब नहीं होते, कोई एक ही वाक्य होता है, वहाँ भी सभी वाक्यों की कल्पना कर ली जाती है, क्योंकि सबका प्रयोजन भिन्न-भिन्न होता है । जैसे "अग्निहोत्रं जुहोति"—इत्यादि वाक्यों से अधिकार, विनियोग और प्रयोग विधियों का लाभ हो जाता है । "अग्निहोत्रं जुहोति"—यह वाक्य कर्म की उत्पत्ति-मात्र का प्रतिपादक है, किन्तु यहाँ विनियोगादि नहीं हैं अथवा अन्यतः प्राप्त हो जाने से अविवक्षितार्थक हैं—यह बात नहीं । [सभी चार प्रकार के विधि वाक्य होते हैं—(१) उत्पत्ति विधि, (२) विनियोग विधि, (३) अधिकार विधि और (४) प्रयोग विधि । कर्म के दो रूप होते हैं—द्रव्य और देवता, क्योंकि किसी देवता के उद्देश्य से किसी द्रव्य का त्याग ही यागादि कर्म कहलाता है । कर्म के रूपों का बोधक वाक्य उत्पत्ति विधि है, जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति" (तै. सं. १।५।९।१) । कर्म के अङ्गों का विधायक वाक्य विनियोग विधि है, जैसे—

न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः संभवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः। तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते,—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम्? समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु

भामती

वस्तुनि भवितुमर्हतीति। उपसंहरति ❀ तस्माद् इति ❀। अत्राप्यरुचिकारणमुक्त्वा पक्षान्तरमुपसंक्रामति। ❀ अथ इति ❀। एवं च सत्युपक्रमादिभिः ब्रह्मणि शब्दस्यातात्पर्य्यात् प्रमाणान्तरेण यादृशमस्य रूपं व्यवस्थाप्यते न तच्छब्देन विरुध्यते, तस्योपासनापरत्वात्, समारोपेण चोपासनाया उपपत्तेरिति। प्रकृतमुपसंहरति ❀तस्मान्न❀ इति। सूत्रेण सिद्धान्तयति ❀ एवं प्राप्त उच्यते ❀ तत्तु समन्वयात्।

तदेतद् व्याचष्टे ❀ तुशब्दः इति ❀। तदित्युत्तरपक्षप्रतिज्ञां विभजते ❀ तद् ब्रह्म इति ❀। पूर्वपक्षवादी कर्कशाशयः पृच्छति ❀ कथम् ❀। कुतः प्रकारादित्यर्थः। सिद्धान्ती स्वपक्षे हेतुं प्रकारभेदमाह ❀ समन्वयात् ❀। सम्यगन्वयः समन्वयस्तस्मात्। एतदेव विभजते ❀ सर्वेषु हि वेदान्तेषु

भामती—व्याख्या

"दध्ना जुहोति" इत्यादि। कर्म का उसके फल विशेष के साथ सम्बन्ध-बोधक वाक्य अधिकार विधि है, जैसे—"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"। इन सभी वाक्यों की एकवाक्यता करके जो महावाक्य सम्पन्न होता है, उसे प्रयोग विधि कहते हैं। विनियोग वाक्य के (१) श्रुति, (२) लिङ्ग, (३) वाक्य, (४) प्रकरण, (५) स्थान और (६) समाख्या—ये छः प्रमाण सहायक होते हैं और प्रयोग विधि के सहायक प्रमाण होते हैं—(१) श्रुति, (२) अर्थ, (३) पाठ, (४) स्थान, (३) मुख्य और (६) प्रवृत्ति। इनकी चर्चा आती ही रहती है]। फलतः विधि सदैव साध्यरूप भावनाविषयक होती है, ब्रह्मादिरूप सिद्ध पदार्थों की विधि नहीं हो सकती विधि वाक्यों की क्रियापरता का उपसंहार किया जाता है—"तस्मात् कर्मपिक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्"।

वेदान्त-वाक्यों की कर्मपरता में अरुचि के कारण उपासनापरत्वरूप पक्षान्तर का उपन्यास किया जाता है—"अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्"। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि कथित (शुद्ध, बुद्ध, सिद्धस्वभावक ब्रह्म में वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्य नहीं और उपक्रमादि प्रमाणों के आधार पर जो जीव-ब्रह्माभेदरूप अर्थ व्यवस्थापित होता है, वह वेदान्त-वाक्यों के उपासना परकत्व-पक्ष में विरुद्ध नहीं पड़ता, क्योंकि उपासना तो आरोप के द्वारा भी हो सकती है, जीव में ब्रह्मरूपता का आरोप कर "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों का सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। अतः सिद्ध ब्रह्म में शास्त्रप्रमाणकत्व सम्भव नहीं।

उक्त आक्षेप का निराकरण करने के लिए इस सूत्र को सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—"एवं प्राप्ते उच्यते तत्तु समन्वयात्"। इसकी व्याख्या की जाती है—"तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः"। उत्तर सूत्र में 'तत्' पद से जो प्रतिज्ञा की गई, उसका स्पष्टीकरण किया जाता है—"तद् ब्रह्म"। अर्थात् ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है। पूर्व पक्षी कर्कश आशय से पूछता है—"कथम्?" अर्थात् "केन प्रकारेण ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकमुच्यते?" सिद्धान्ती अपनी प्रतिज्ञा के उचित हेतु का प्रदर्शन करता है ब्रह्म में शास्त्रप्रमाणकत्व की सिद्धि का

वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' । एकमेवाद्वितीयम् (छान्दो० ६।२।१) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत० २।१।१।१) 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' । 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० २।५।१९) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) इत्यादीनि । न च तद्गतानां पदानां

भामती

इति ॐ : वेदान्तानामात्यन्तिकीं ब्रह्मपरतामाचिख्यासुर्बहूनि वाक्यान्युदाहरति ॐ सदेव इति ॐ । यतो वा इमानि भूतानीति तु वाक्यं पूर्वमुदाहृतं जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणमिति चेह स्मारितमिति न पठितम् । येन हि वाक्यमुपक्रम्यते येन चोपसंह्रियते, तदेव वाक्यार्थ इति शाब्दाः । यथोपांशुयाजवाक्येऽनूचोः पुरोडाशयोर्जामितादोषसङ्कीर्तनपूर्वकोपांशुयाजविधाने तत्प्रतिसमाधानोपसंहारे चापूर्वोपांशुयाजकर्मविधिपरतैकवाक्यताबलाद्बाधिता, एवमत्रापि सदेव सोम्येदमिति ब्रह्मोपक्रमात् तत्त्वमसीति च जीवस्य ब्रह्मात्मतोपसंहारात् तत्परतैव वाक्यस्य । एवं वाक्यान्तराणामपि पौर्वापर्य्यालोचनया ब्रह्मपरत्वमवगन्तव्यम् । न च तत्परत्वस्य दृष्टस्य सति सम्भवेऽन्यपरताऽदृष्टा युक्ता कल्पयितुम् , अतिप्रसङ्गात् । न केवलं

भामती–व्याख्या

प्रकार बता रहा है—"समन्वयात्" । 'शास्त्रं ब्रह्मणि प्रमाणम्, तात्पर्यतः ब्रह्मणि समनुगतत्वात्'—इस प्रकार के अनुमान में हेतुगत पक्षधर्मता का प्रतिपादन 'समन्वय' पद के द्वारा किया गया है, अतः 'सम्यग् अन्वयः, समन्वयः'—यहाँ सम्यक् शब्द का अर्थ होता है—तात्पर्यतः । वेदान्त-वाक्यों की नियमतः ब्रह्मपरता दिखाने के लिए वैसे बहुत-से वाक्यों का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—"सदेव सौम्य ! इदमग्र आसीत्" (छां. ६।२।१) । सूत्रकार ने 'तत्' पद के द्वारा द्वितीय सूत्रोपात्त जगज्जन्मादिकारणीभूतब्रह्म-बोधक वाक्य का स्मरण दिला दिया, अतः सूत्र में उस वाक्य के रखने की आवश्यकता नहीं । भाष्योदाहृत वेदान्दवाक्य में ब्रह्मपरकत्व का प्रकार यह है कि जिस पदार्थ का उपक्रम कर जिस अर्थ में प्रकरण का उपसंहार किया जाता है, वही पदार्थ उस प्रकरण का मुख्य अर्थ माना जाता है, जैसे ["जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ, उपांशुयाजमन्तरा यजति, विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वायाग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय" (तै. सं. २।६।६) । इस वाक्य को लेकर मीमांसा दर्शन (२।१।४) में संशय किया गया है कि "उपांशुयाजमन्तरा यजति"—इस वाक्य के द्वारा विष्ण्वादिवाक्यों में विहित तीनों यागों का अनुवाद किया गया है ? या उपांशुयाजसंज्ञक नूतन कर्म का विधान किया गया है ? अनुवादकत्व का पूर्व पक्ष करने के अनन्तर सिद्धांत किया गया है कि] उपांशुयाज के विधायक उक्त वाक्य में कहा गया है कि पौर्णमाससंज्ञक 'आग्नेय', 'अग्नीषोमीय' और 'उपांशु'—इन तीनों यागों में प्रथम दो याग पुरोडाश द्रव्य और उपांशुयाज घृत से किया जाता है । पुरोडाशद्रव्यक दोनों भागों को निरन्तर (अव्यवहित) करने पर एक ही द्रव्य को लेकर जामित्व (आलस्य) आ जाता है, अतः उस दोष से बचने के लिए उन दोनों भागों के मध्य में घृतद्रव्यवाला उपांशुयाज करना चाहिए । अतः उपक्रम में जामित्व दोष दिखाकर मध्य में उपांशु याज के विधान से उक्त दोष का समाधान (निस्तार) दिखाया गया, अतः उक्त वाक्य पूरा एक है और उसका तात्पर्य उपांशुयाज के विधान में माना जाता है । वैसे ही प्रकृत में भी ब्रह्म का उपक्रम कर 'तत्त्वमसि' पद के द्वारा जीव से ब्रह्म का अभेद प्रदर्शित कर ब्रह्म में ही उपसंहार किया गया, अतः छान्दोग्योपनिषत् के इस प्रकरण का तात्पर्य ब्रह्म में निश्चित होता है । इसी प्रकार भाष्योदाहृत अन्य वाक्यों के पौर्वापर्य का पर्यालोचन वाक्यों में ब्रह्मपरता का निश्चय कर

ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते, 'तत्केन कं पश्येत्' (बृह० २।४।१३) इत्यादिक्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः। न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः; 'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) इति ब्रह्मात्म-

भामती

कर्तृपरता तेषामदृष्टाऽनुपपन्ना चेत्याह ॐ न च तेषाम् इति ॐ। सापेक्षत्वेनाप्रामाण्यं पूर्वपक्षबीजं दूषयति ॐ न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि इति।

अयमभिसन्धिः—पुंवाक्यनिदर्शनेन हि भूतार्थतया वेदान्तानां सापेक्षत्वमाशङ्क्यते, तत्रैवं भवान् पृष्टो व्याचष्टाम्, किं पुंवाक्यानां सापेक्षता भूतार्थत्वेनाहो पौरुषेयत्वेन? यदि भूतार्थत्वेन ततः प्रत्यक्षादीनामपि परस्परापेक्षत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गः, तान्यपि हि भूतार्थान्येव। अथ पुरुषबुद्धिप्रभवतया पुंवाक्यं सापेक्षम्, एवं तर्हि तदपूर्वकाणां वेदान्तानां भूतार्थानामपि नाप्रामाण्यं प्रत्यक्षादीनामिव नियतेन्द्रियलिङ्गादिजन्मनाम्। यद्युच्येत सिद्धे किलापौरुषेयत्वे वेदान्तानामनपेक्षतया प्रामाण्यं सिद्ध्येत्, तदेव तु भूतार्थत्वेन न सिद्ध्यति, भूतार्थस्य शब्दानपेक्षेण पुरुषेण मानान्तरतः शक्यज्ञानत्वाद् बुद्धिपूर्वविरचनोपपत्तेः, वाक्यत्वादिलिङ्गकस्य वेदपौरुषेयत्वानुमानस्याप्रत्यूहमुत्पत्तेः। तस्मात् पौरुषेयत्वेन सापेक्षत्वं दुर्वारं, न तु भूतार्थत्वेन। कार्य्यार्थत्वे तु कार्य्यस्यापूर्वस्य मानान्तरागोचरतयाऽत्यन्ताननुभूतपूर्वस्य तत्त्वेन समारोपेण वा पुरुषबुद्धावनारोहात् तदर्थानां वेदान्तानामशक्यरचनतया पौरुषेयत्वाभावादनपेक्षं

भामती-व्याख्या

लेना चाहिए। वेदान्त-वाक्यों में जब ब्रह्मपरता दृष्ट और सम्भव है, तब अदृष्ट क्रियापरत्वादि की कल्पना युक्त नहीं, अन्यथा कर्मपरक वाक्यों को ब्रह्मपरक मानने का अतिप्रसङ्ग भी उपस्थित हो जायगा। वेदान्त-वाक्यों में कर्तृभोक्तृ-प्रतिपादकता केवल अदृष्ट ही नहीं, अनुपपन्न भी है—"न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरताऽवसीयते।

पूर्वपक्षी ने वेदान्त-वाक्यों में जो प्रत्यक्षादि-सापेक्षत्वेन अनपेक्षत्वात्मक प्रामाण्य का अभाव प्रसक्त किया था, उसकी निवृत्ति की जा रही है—"न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि"। आशय यह है कि पूर्वपक्षी ने सिद्धार्थ-प्रतिपादक पौरुषेय वाक्यों का उदाहरण देकर वेदान्त-वाक्यों में सापेक्षत्व की आशङ्का की थी, वहाँ यह प्रश्न उठता है कि पुरुष के वाक्यों में सापेक्षता भूतार्थत्वेन प्रसक्त की जाती है? अथवा पुरुष-कृतत्वेन? यदि सिद्धार्थविषयकत्वेन सापेक्षत्व और अप्रामाण्य माना जाता है, तब प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी परस्परसापेक्षता होने के कारण अप्रामाण्य होना चाहिए, क्योंकि वे भी सिद्धार्थविषयक होते हैं। यदि पौरुषेय वाक्य पुरुष-कृत होने के कारण पौरुषेय वाक्य सापेक्ष माने जाते हैं, तब वेदान्तवाक्यों में पुरुष-कृतत्व न होने के कारण सिद्धार्थकत्व मानने पर भी वैसे ही अप्रामाण्य प्रसक्त नहीं होता, जैसे कि नियत इन्द्रिय और लिङ्गादि से जनित प्रत्यक्षादि प्रमाणों में।

शङ्का—यदि कहा जाय कि वेदान्त-वाक्यों में अपौरुषेयत्व सिद्ध हो जाने पर ही अनपेक्षत्वात्मक प्रामाण्य सिद्ध होगा, वह अपौरुषेयत्व ही सिद्धार्थविषयकत्वेन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सिद्ध वस्तु का ज्ञान शब्द के विना ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा सम्पादित करके पुरुष तद्बोधक वाक्य की रचना स्वयं कर सकता है, वेद में भी वाक्यत्वरूप लिङ्ग के द्वारा पौरुषेयत्व का अनुमान हो जाता है—"वेदाः पौरुषेयाः वाक्यत्वाद् भारतादिवाक्यवत्"। अतः वेदान्त-वाक्यों में पौरुषेयत्वेन सापेक्षत्व प्रसक्त होता है, भूतार्थत्वेन नहीं। जब वेदान्त-वाक्यों को कार्यपरक माना जाता है, तब कार्यरूप पदार्थ अपूर्व होने के कारण प्रमाणान्तर का विषय नहीं होता, अत्यन्त अननुभूत वस्तु का बुद्धि में न तो तत्त्वेन आरोहण

भामती

प्रमाणत्वं सिध्यतीति प्रामाण्याय वेदान्तानां कार्य्यपरत्वमातिष्ठामहे ।

अत्र ब्रूमः—किं पुनरिदं कार्य्यमभिमतमायुष्मतः यदशक्यं पुरुषेण ज्ञातुम् ? अपूर्वमिति चेत्, हन्त कुतस्त्यमस्य लिङाद्यर्थत्वं, तेनालौकिकेन सङ्गतिसंवेदनविरहात् ? लोकानुसारतः क्रियाया एव लौकिक्याः कार्य्याया लिङादेरवगमात् । स्वर्गकामो यजेतेति साध्यस्वर्गविशिष्टो नियोज्योऽवगम्यते, स च तदेव कार्य्यमवगच्छति यत् स्वर्गानुकूलं, न च क्रिया क्षणभङ्गुराऽऽमुष्मिकाय स्वर्गाय कल्पत इति पारिशेष्याद्वेदत एवापूर्वे कार्य्ये लिङादीनां सम्बन्धग्रह इति चेत्, हन्त चैत्यवन्दनादिवाक्येष्वपि स्वर्गकामादिपदसम्बन्धादपूर्वकार्य्यत्वप्रसङ्गस्तथा च तेषामप्यशक्यरचनत्वेनापौरुषेयत्वापातः । स्वप्नदृष्टेन पौरुषेयत्वेन वा तेषामपूर्वार्थत्वप्रतिषेधे वाक्यत्वादिना लिङ्गेन वेदानामपि पौरुषेयत्वमनुमितमित्यपूर्वार्थता न स्यात् । अन्यतस्तु वाक्यत्वादीनामनुमानाभासत्वोपपादने कृतमपूर्वार्थत्वेनात्र तदुपपादकेन ? उपपादितं चापौरुषेयत्वमस्माभिर्न्यायकणिकायाम्, इह तु विस्तरभयान्नोक्तम् । तेनापौरुषेयत्वेऽसिद्धे भूतार्थानामपि

भामती-व्याख्या

होता है और न अतत्वेन (अन्यरूपारोपेण) । कार्यार्थक वेदान्त-वाक्यों की रचना पुरुष के द्वारा नहीं हो सकती, अपौरुषेयत्व होने के कारण अनपेक्षत्वात्मक प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है, अतः एव वेदान्त-वाक्यों को हम कार्यपरक मानते हैं ।

समाधान—वह कार्य पदार्थ क्या है, जिसे पुरुष जान नहीं सकता ? यदि प्रभाकर-सम्मत अपूर्व (अदृष्ट) को कार्य कहा जाता है, तब वह लिङादि विधि प्रत्ययों का वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि लोक में अप्रसिद्ध अर्थ के साथ किसी भी शब्द का शक्ति-ग्रह नहीं होता । लोक में तो लिङादि शब्दों के द्वारा लौकिक क्रिया का ही अभिधान होता है ।

शङ्का—"स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य से स्वर्गादिरूप साध्य की कामना से विशिष्ट नियोज्य (अधिकारी) प्रतीत होता है, वह उसी पदार्थ को अपना कार्य (कृति-साध्य) समझता है, जो स्वर्ग का उत्पादन कर सके । यागादि क्रिया तो क्षण-भङ्गुर है, जन्मान्तर में होनेवाले स्वर्गादि फलों का उत्पादन नहीं कर सकती, परिशेषतः स्वर्गकामपद-समभिव्याहार-संज्ञक तर्क से सहकृत वैदिक वाक्यों के द्वारा ही अलौकिक कार्य के साथ लिङादि का संगति-ग्रह हो जाता है, जैसा कि शालिकनाथ मिश्र कहते हैं—

> तस्मान्नियोज्यसम्बन्धसमर्थं विधिवाचिभिः ।
> कार्यं कालान्तरास्थायि क्रियातो भिन्नमुच्यते ॥
> तस्माल्लोकानुसारेण व्युत्पत्तिः कार्यमात्रके ।
> तस्य त्वपूर्वरूपत्वं वेदवाक्यानुसारतः ॥ (प्र. पं. पृ. ४२६,४८)

समाधान—यदि 'स्वर्गकाम' पद से समभिव्याहृत लिङादि अपूर्व कार्य का बोध करा देते हैं, तब "चैत्यमभिवन्देत स्वर्गकामः"—इत्यादि वाक्यों में भी स्वर्गकाम पद-समभिव्याहृत लिङादि से अपूर्व कार्य का बोध होना चाहिए । यदि वैसा वहाँ भी मान लिया जाता है, तब ऐसे बौद्ध वाक्यों की भी रचना किसी पुरुष के द्वारा सम्भव नहीं, अतः इन वाक्यों को भी वेदों के समान ही अपौरुषेय मानना होगा । यदि स्वप्नादि में अपूर्वार्थक वाक्यों की पौरुषेयता देखकर बौद्ध वाक्यों में पौरुषेयत्व सिद्ध किया जाता है, तब वैदिक वाक्यों में भी वाक्यत्वादि लिङ्गों के द्वारा पौरुषेयत्व का अनुमान हो जाने पर उनकी भी अपूर्वार्थकता समाप्त हो जाती है । यदि 'वेदः पौरुषेयः, वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवत्'—इस अनुमान में स्मर्यमाणकर्तृकत्वरूप उपाधि का उद्भावन कर अनुमानाभासता सिद्ध की जाती है, तब वेदान्त-वाक्यों में अस्मर्यमाणकर्तृकत्व होने के कारण ही अनपेक्षत्व और प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है, अतः

भावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात्। यत्तु—हेयोपादेयरहितत्वात्तदुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः; हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थ-

भामती

वेदान्तानां न सापेक्षतया प्रामाण्यविघातः, न चानधिगतगन्तृता नास्ति येन प्रामाण्यं न स्याज्जीवस्य ब्रह्मताया अन्यतोऽनधिगमात्, तदिदमुक्तं, ॐन च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपीति॰। द्वितीयं पूर्वपक्षबीजं स्मारयित्वा दूषयति ॐ"यत्तु हेयोपादेयरहितत्वात् इति॰। विध्यर्थावगमात् खलु पारम्पर्येण पुरुषार्थप्रतिलम्भः, इह तु तत्त्वमसीत्यवगतिपर्यन्तादाद्वाक्यार्थज्ञानाद् बाह्यानुष्ठानानपेक्षात्साक्षादेव पुरुषार्थप्रतिलम्भो नायं सर्पो रज्जुरियमिति ज्ञानादिवेति। सोऽयमस्य विध्यर्थज्ञानात् प्रकर्षः।

एतदुक्तं भवति—द्विविधं हीप्सितं पुरुषस्य किञ्चिदप्राप्तं ग्रामादि, किञ्चित् पुनः प्राप्तमपि भ्रमवशादप्राप्तमित्यवगतं, यथा स्वग्रीवावनद्धं ग्रैवेयकम्। एवं जिहासितमपि द्विविधं, किञ्चिदहीनं जिहासति, यथा वलयितचरणं फणिनं, किञ्चित् पुनर्हीनमेव जिहासति, यथा चरणाभरणे नूपुरे फणिनमारोपितम्।

भामती-व्याख्या

वेदान्त-वाक्यों में अनपेक्षत्व सिद्ध करने के लिए कार्यार्थकत्व मानने की क्या आवश्यकता? वेदों में अपौरुषेयत्व का विस्तारपूर्वक उपपादन न्यायकणिका में किया गया है, अतः यहाँ अनावश्यक विस्तार के भय से उसका विशेषतः उपपादन नहीं किया जाता। वेदों में पौरुषेयत्व सिद्ध न होने के कारण सिद्धार्थक वेदान्त-वाक्यों में भी न प्रत्यक्षादि-सापेक्षत्व प्रसक्त होता है और अनपेक्षत्वात्मक प्रामाण्य का विघात होता है, क्योंकि अज्ञातार्थज्ञापकत्व ही प्रामाण्य का प्रयोजक है, वह तो वेदान्त-वाक्यों में विद्यमान ही है, अतः प्रामाण्य क्यों न होगा? वेदान्त को छोड़ कर अन्य कोई ऐसा प्रमाण नहीं, जिसके द्वारा जीव में ब्रह्मरूपता का ज्ञान प्रथमतः उत्पन्न किया जा सके, अतः प्रमाणान्तर से अनधिगत जीव और ब्रह्म के अभेद का बोध कराने के कारण "तत्त्वमसि" आदि वेदान्त-वाक्य परमार्थतः प्रमाणभूत हैं। यही तथ्य भाष्यकार के शब्दों में व्यक्त किया गया है—"न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः, "तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात्।"

पूर्वपक्ष के द्वितीय तर्क का स्मरण दिला कर निराकरण किया जाता है—"यत्तु हेयोपादेयरहितत्वात्तदुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः, हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः"। अर्थात् कर्मरूप साध्यार्थ के विधि वाक्य से कर्म का ज्ञान और उस ज्ञान के पश्चात् कर्मानुष्ठान होता है, तब कहीं उससे स्वर्गादि के साधनीभूत अदृष्टरूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, किन्तु प्रकृत में "तत्त्वमसि"—इस वेदान्त-वाक्य के द्वारा जीव में ब्रह्मरूपता के साक्षात्कार मात्र से वैसे ही परम पुरुषार्थ की सिद्धि हो जाती है, जैसे "नायं सर्पः, रज्जुरियम्"—इस प्रकार के ज्ञान से सर्प-भ्रम सदैव के लिए दूर हो जाता है। जीव में ब्रह्मरूपता अथवा रज्जु में रज्जुरूपता का ज्ञान हो जाने के पश्चात् किसी प्रकार के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती। साध्यार्थ-ज्ञान की अपेक्षा सिद्धार्थ-ज्ञान का यह महान् प्रकर्ष (वैशिष्ट्य) है, जिसको भाष्यकार ने 'प्रहाण' पद में 'प्र' के प्रयोग से ध्वनित किया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे पुरुष (के ईप्सित उपादेय) पदार्थों में दो प्रकार के पदार्थ आते हैं—(१) अप्राप्त पदार्थ, जैसे ग्रामादि और (२) प्राप्त पदार्थ, जैसे गले में पहना हुआ हार, जो कि किसी भ्रम के कारण खोया हुआ समझ लिया गया था। वैसे ही जिहासित (त्याज्य या हेय) पदार्थ भी द्विविध ही होते हैं—(१) अहीन (अत्यक्त या प्राप्त) पदार्थ, जैसे पैर में लिपटा हुआ सर्प और (२) हीन (अप्राप्त) पदार्थ, जैसे पायजेब में

सिद्धेः । देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। न तु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं संभवति; एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकार-

भामती

तत्राप्राप्तप्राप्तौ चात्यक्तत्यागे च बाह्योपायानुष्ठानसाध्यत्वात् तदुपायतत्त्वज्ञानादस्ति पराचीनानुष्ठानापेक्षा। न जातु ज्ञानमात्रं वस्त्वपनयति। न हि सहस्रमपि रज्जुप्रत्यया वस्तुसन्तं फणिनमपनयितुमीशते। समारोपिते तु प्रेप्सितजिहासिते तत्त्वसाक्षात्कारमात्रेण बाह्यानुष्ठानानपेक्षेण शक्येते प्राप्तुमिव हातुमिव। समारोपमात्रजीविते हि ते, समारोपितं च तत्त्वसाक्षात्कारः समूलघातमुपहन्तीति। तथेहाप्यविद्यासमारोपितजीवभावे ब्रह्मण्यानन्दे वस्तुतः शोकदुःखादिरहिते समारोपितनिबन्धनस्तन्नुावस्तत्त्वमसीतिवाक्यार्थतत्त्वज्ञानावगतिपर्य्यन्तान्निवर्त्तते। तन्निवृत्तौ प्राप्तमप्यानन्दरूपमप्राप्तमिव प्राप्तं भवति, त्यक्तमपि शोकदुःखाद्यत्यक्तमिव त्यक्तं भवति, तदिदमुक्तं ॐ ब्रह्मात्मावगमादेव ॐ। जीवस्य सर्वक्लेशास्य सवासनस्य विपर्य्यासस्य, स हि क्लिश्नाति जन्तूनतः क्लेशः, तस्य प्रकर्षेण हानात् पुरुषार्थस्य दुःखनिवृत्तिसुखाप्तिलक्षणस्य सिद्धेरिति। यत्त्वात्मेत्येवोपासीतात्मानमेव लोकमुपासीतेत्युपासनावाक्यगत देवतादिप्रतिपादनेनोपासनापरत्वं वेदान्तानामुक्तं, तद् दूषयति ॐ देवतादिप्रतिपादनस्य तु ॐ आत्मेत्येतावन्मात्रस्य। ॐ स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः ॐ। यदि न विरोधः, सन्तु तर्हि वेदान्ता देवताप्रतिपादनद्वारेणोपासनाविधिपरा एवेत्यत आह ॐ न तु तथा ब्रह्मणः इति ॐ। उपास्योपासकोपासनादिभेदसिद्धयधीनो-

भामती-व्याख्या

आरोपित सर्प। इनमें अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति और अत्यक्त का त्याग बाह्य अनुष्ठान (व्यापार) की अपेक्षा करता है, केवल साधन तत्त्व के ज्ञान से साध्य नहीं होता, अपितु उपायभूत वस्तु का ज्ञान हो जाने के पश्चात् अनुष्ठान (क्रिया या व्यापार) की अपेक्षा होती है, क्योंकि प्राप्त अत्यक्त पदार्थ का ज्ञानमात्र से परिहाण लोक में नहीं देखा जाता, जैसे कि रज्जु तत्त्व के हजारों ज्ञानों के द्वारा भी पैर में लिपटे वास्तविक (अनारोपित) सर्प की निवृत्ति नहीं कर सकते, हाँ, जीव में नित्य प्राप्त किन्तु विस्मृत ब्रह्मरूपता की प्राप्ति और पायजेब में आरोपित सर्प की निवृत्ति वस्तु तत्त्व के साक्षात्कार मात्र से हो जाती है, उसके लिए किसी प्रकार के बाह्य व्यापार की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि जो पदार्थ केवल भ्रमतः आरोपित मात्र होते हैं, उनका तत्त्व-साक्षात्कार से समूल नाश हो जाता है। प्रकृत में वैसा ही है कि आनन्द ब्रह्म में अविद्या के द्वारा आरोपित जीवभाव एवं जन्म-मरणादि अनन्त दुःख केवल 'तत्त्वमसि'—इत्यादि वेदान्त-वाक्यों से जनित तत्त्व-साक्षात्कार से निवृत्त हो जाता है। उसकी निवृत्ति हो जाने पर प्राप्त आनन्दरूपता भी प्राप्त-जैसी और त्यक्त दुःख-राशि त्यक्त-जैसी हो जाती है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"ब्रह्मात्मावगमादेव"। जीव के वासना-सहित विपर्यय रूप क्लेश की निवृत्ति हो जाती है। वह विपर्यय (मिथ्या ज्ञान) ही क्लेश है, जो कि जीवों को क्लेशित (दुःखी) करता है। उस क्लेश की निवृत्ति से दुःख-निवृत्ति और परमानन्द-प्राप्तिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि हो जाती है।

यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि "आत्मेत्येवोपासीत" (बृह० उ० १।४।७), आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृह० उ० १।४।१५) इत्यादि उपासना-वाक्यगत देवतादि चेतन पदार्थों के प्रतिपादन में वेदान्त-वाक्यों का उपयोग है। उस पक्ष को दूषित किया जाता है—"देवतादि प्रतिपादनस्य तु न कश्चिद् विरोधः"। यदि किसी प्रकार का विरोध नहीं, तब वेदान्त-वाक्यों में देवतादि-प्रतिपादन के द्वारा उपासना-विधि-परत्व मान लेना चाहिए इस शङ्का का निराकरण किया गया है—"न तु तथा उपासनाविधिशेषत्वम्"। (फिर भी ब्रह्म उपासना-विधि का अङ्ग क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उपास्य, उपासक

कादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः। न ह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत। यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां न विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं दृष्टम्; तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य

भामती

पासना न निरस्तसमस्तभेदप्रपञ्चे वेदान्तवेद्ये ब्रह्मणि सम्भवतीति नोपासनाविधिशेषत्वम्, वेदान्तानां तद्विरोधित्वादित्यर्थः।

स्यादेतद्—यदि विधिविरहेऽपि वेदान्तानां प्रामाण्यं, हन्त तर्हि सोऽरोदीदित्यादीनामप्यस्तु स्वतन्त्राणामेवोपेक्षणीयार्थानां प्रामाण्यम्, न हि हानोपादानबुद्धी एव प्रमाणस्य फले, उपेक्षाबुद्धेरपि तत्फलत्वेन प्रामाणिकैरभ्युपेतत्वादिति कृतं बर्हिषि रजतं न देयमित्यादिनिषेधविधिपरत्वेनैतेषामित्यत आह ॐ यद्यपि इति ॐ। स्वाध्यायविध्यधीनग्रहणतया हि सर्वो वेदराशिः पुरुषार्थतन्त्र इत्यवगतं, तत्रैकेनापि वर्णेन नापुरुषार्थेन भवितुं युक्तं, किं पुनरियता सोऽरोदीत्यादिना पदप्रबन्धेन। न च वेदान्तेष्विव तदर्थाधिगममात्रादेव कश्चित् पुरुषार्थ उपलभ्यते, तेनैष पदसन्दर्भः साकाङ्क्ष एवास्ते पुरुषार्थमुद्वीक्षमाणः। बर्हिषि रजतं न देयमित्ययमपि निषेधविधिः स्वनिषेध्यस्य निन्दामपेक्षते, न ह्यन्यथा तततश्चेतनः शक्यो निवर्तयितुम्। तद्यदि दूरतोऽपि न निन्दामवाप्स्यत्ततो निषेधविधिरेव रजतनिषेधे च निन्दायां च दर्विहोमवत् सामर्थ्यद्वयमकल्पयिष्यत्। तदेवमुक्तयोः सोऽरोदीदिति च बर्हिषि रजतं न देयमिति च पदसन्दर्भयोर्लक्ष्यमाणनिन्दाद्वारेण नष्टाश्वदग्धरथवत् परस्परं समन्वयः। न त्वेवं वेदान्तेषु पुरुषार्थापेक्षा,

भामती-व्याख्या

और उपासना का भेद सिद्ध हो जाने पर ही उपासना सम्भव हो सकती है, किन्तु समस्त भेद-प्रपञ्च का निरास जिस अद्वैत ब्रह्म तत्त्व में किया जाता है, उसमें उपासना-विधि की शेषता (अङ्गता) सम्भावित नहीं, क्योंकि वेदान्त-वाक्य भेद के सर्वथा विरोधी हैं।

शङ्का—विधि-सम्पर्क के बिना यदि वेदान्त-वाक्यों को प्रमाण माना जाता है, तब तो 'सोऽरोदीत्'—इत्यादि उपेक्षणीयार्थक अर्थवाद वाक्यों में भी विधि वाक्य से एकवाक्यता के बिना स्वातन्त्र्येण प्रामाण्य मानना चाहिए, क्योंकि केवल हान और उपादान का ज्ञान ही प्रमाण का फल नहीं माना जाता, किन्तु उपेक्षा-ज्ञान को भी वेदान्तियों ने प्रमाण-फल के रूप में स्वीकार कर लिया है, अतः "बर्हिषि रजत न देयम्'—इत्यादि निषेध-विधि की शेषता (अङ्गता) उक्त अर्थवाद वाक्यों में माननी व्यर्थ है।

समाधान—भाष्यकार कहते हैं कि "यद्यपि अन्यत्र वेदवाक्यानां न विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं दृष्टम्"। आशय यह है कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस स्वाध्याय विधि के द्वारा गृहीत होने के कारण समस्त वेद-राशि पुरुषार्थ की साधन है—यह भली प्रकार अवगत हो चुका है, अतः वेद का एक वर्ण भी अपुरुषार्थ नहीं हो सकता, तब भला "सोऽरोदीद् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्"-इतना बड़ा पद-सन्दर्भ निरर्थक और अ..माण क्योंकर होगा? वेदान्त वाक्यों के समान अर्थवाद वाक्यों के द्वारा किसी पदार्थ के ज्ञानमात्र से किसी पुरुषार्थ की सिद्धि भी नहीं होती, अतः 'किमर्थोऽयं पदसन्दर्भः?' इस प्रकार की आकांक्षा एवं "बर्हिषि रजतं न देयम्—इस विधि की 'कस्मात्'—इस प्रकार की आकांक्षा है, नष्टाश्वदग्धरथ-न्याय का सहारा लेकर उक्त अर्थवाद वाक्य का रजत की निन्दा में तात्पर्य मानकर अर्थवाद और विधि—दोनों की एकवाक्यता पर्यवसित होती है। विधि वाक्य को अपने विधेय की प्रशंसा और निषेध वाक्य को अपने निषेध्य की निन्दा निसर्गतः अपेक्षित होती है। विधि वाक्यों को जहाँ समीप या दूर के किसी अर्थवाद की सहायता नहीं मिलती, वहाँ अगत्या विधि वाक्य से ही प्रशंसा और निन्दा की कल्पना वैसे ही हो जाती है, जैसे "दर्विहोमं कुर्यात्" (जै० सू० ८।४।१९) से।

शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम् । न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र-दृष्टं निदर्शनमपेक्ष्येत । तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम् ।

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि प्रतिपत्तिविधि-

भामती

तदर्थाधिगमादेवानपेक्षात् परमपुरुषार्थलाभादित्युक्तम् ।

ननु विध्यसंस्पर्शिनो वेदस्यान्यस्य न प्रामाण्यं दृष्टमिति कथं वेदान्तानां तदस्पृशां तद्भविष्यतीत्यत आह ⊛ न चानुमानगम्यम् इति ⊛ । अबाधितानधिगतासन्दिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानां, तच्च स्वत इत्युपपादितम् । यद्यपि चैषामीदृग्बोधजनकत्वं कार्यार्थापत्तिसमधिगम्यं तथापि तद्बोधोप-जनने मानान्तरं नापेक्षन्ते, नापीमामेवार्थापत्तिं, परस्पराश्रयप्रसङ्गादिति स्वत इत्युक्तम् । ईदृग्बोधजनकत्वं च कार्य इव विधीनां वेदान्तानां ब्रह्मण्यस्तीति दृष्टान्तानपेक्षं तेषां ब्रह्मणि प्रामाण्यं सिद्धं भवति । अन्यथा नेन्द्रियान्तराणां रूपप्रकाशनं दृष्टमिति चक्षुरपि न रूपं प्रकाशयेदिति । प्रकृतमुपसंहरति ⊛ तस्माद् इति ⊛ ।

आचार्यदेशीयानां मतमुत्थापयति—⊛ अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते इति ⊛ । तथाहि—अज्ञातसङ्गति-

भामती–व्याख्या

वेदान्त-वाक्यों में यह बात नहीं कि किसी विधि के साथ समन्वय की आवश्यकता हो, वे तो स्वयं अन्य प्रमाणों से निरपेक्ष होकर परम पुरुषार्थ के साधन होते हैं ।

यदि कहा जाय कि वेदान्त से भिन्न अन्य किसी वैदिक वाक्य में विधि-सम्पर्क के विना प्रामाण्य नहीं देखा जाता, अतः किस उदाहरण के द्वारा वेदान्त-वाक्यों में प्रामाण्य का अनुमान किया जायगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्ष्येत" । ज्ञानगत अबाधित, अनधिगत और असन्दिग्ध अर्थ की बोधकता ही प्रामाण्य पदार्थ है, जो कि वैदिक वाक्य-जनित ज्ञानों में स्वतः सिद्ध होता है—यह कहा जा चुका है, अतः किसी अनुमानादि प्रमाण के द्वारा प्रामाण्य की सिद्धि अपेक्षित ही नहीं, जिसके लिए किसी उदाहरण-घटित अनुमान की आवश्यकता हो । यद्यपि ज्ञान की अबाधितार्थकता रूप प्रमाणता सफलप्रवृत्तिरूप कार्य के द्वारा अवगत होती है, अतः वेदान्त-वाक्यों में सफल प्रवृत्ति-जनक बोध की जनकता कार्यलिङ्गक अनुमान के द्वारा ही सिद्ध होती है, अतः वेदान्त-वाक्यों को भी अनुमान की अपेक्षा अनिवार्य है—'वेदान्त-वाक्यं प्रमाज्ञानजनकम्, सफलप्रवृत्तिहेतुभूतज्ञानजनकत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत्' । तथापि प्रमा-त्मक बोध की उत्पत्ति में वेदान्त-वाक्य इतर प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते । कार्यलिङ्गक अनुमानरूप अर्थापत्ति की भी अपेक्षा नहीं, क्योंकि वह तो प्रमारूप कार्य हो जाने के पश्चात् प्रवृत्त होगा, पहले उसकी सत्ता ही सम्भव नहीं कि वेदान्त-वाक्य बोध की उत्पत्ति में उसकी अपेक्षा करते, अन्यथा अन्योऽन्याश्रयता प्रसक्त होती है । फलतः वेदान्त-वाक्यों में बोध-जनकत्व इतर प्रमाण-निरपेक्ष स्वतः ही होता है । जैसे विधि वाक्य कार्यरूप अर्थ का ज्ञान दृष्टान्त-निरपेक्ष स्वतः ही उत्पन्न करते हैं, वैसे ही वेदान्त-वाक्य भी ब्रह्म का ज्ञान किसी दृष्टान्त की अपेक्षा के विना ही उत्पन्न करते हैं, अतः ब्रह्म में वेदान्त-वाक्यों को प्रमाण माना जाता है । यदि इसमें भी दृष्टान्त की अपेक्षा आवश्यक है, तब चक्षुरादि में भी रूपादि-ज्ञान की जनकता सिद्ध न होगी, क्योंकि अन्य इन्द्रियों में वह नहीं देखी जाती कि जिसे दृष्टान्त बनाकर चक्षुरादि में रूपादि-ज्ञान की जनकता सिद्ध करते । प्रकरण का उपसंहार किया जाता है—"तस्मात् सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्" ।

एकदेशिमत—वेदान्त के ही कतिपय माननीय आचार्यों का कहना है कि—

भामती

त्वेन शास्त्रत्वेनार्थवत्तया। मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद् ब्रह्मनिश्चयः ॥ न खलु वेदान्ताः सिद्धब्रह्मरूपपरा भवितुमर्हन्ति, तत्राविदितसङ्गतित्वाद्, यत्र हि शब्दा लोकेन प्रयुज्यन्ते तत्र तेषां सङ्गतिग्रहः। न चाहेयमनुपादेयं रूपमात्रं कश्चिद्विवक्षति प्रेक्षावान्, तस्याबुभुत्सितत्वात्। अबुभुत्सितावबोधने च प्रेक्षावत्ताविघातात्। तस्मात् प्रतिपित्सितं प्रतिपिपादयिषन्नयं लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतमेवार्थं प्रतिपादयेत्, कार्यं चावगतं तद्धेतुरिति तदेव बोधयेत्। एवं च वृद्धव्यवहारप्रयोगात् पदानां कार्यपरतामवगच्छति। तत्र किञ्चित्साक्षात्कार्याभिधायकं, किञ्चित्कार्यार्थस्वार्थाभिधायकं, न तु भूतार्थपरता पदानाम्। अपि च नरान्तरस्य व्युत्पन्नस्यार्थप्रत्ययमनुमाय तस्य च शब्दभावाभावानुविधानमवगम्य शब्दस्य तद्विषयबोधकत्वं निश्चेतव्यं, न च भूतार्थरूपमात्रप्रत्यये परनरवर्त्तिनि किञ्चिल्लिङ्गमस्ति। कार्यप्रत्यये तु नरान्तरवर्त्तिनि प्रवृत्तिनिवृत्ती लिङ्गे हेतू इत्यज्ञातसङ्गतित्वान्न ब्रह्मरूपपरा वेदान्ताः। अपि च वेदान्तानां वेदत्वात् शास्त्रत्वप्रसिद्धिरस्ति, प्रवृत्तिनिवृत्तिपराणां च सन्दर्भाणां शास्त्रत्वम्। यथाहुः—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ इति।

भामती-व्याख्या

अज्ञातसंगतित्वेन शास्त्रत्वेनार्थवत्तया।
मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद् ब्रह्मनिश्चयः ॥

(१) अज्ञातसंगतित्व, (२) शास्त्रत्व, (३) अर्थवत्त्व और (४) मननादि-विधान—इन चार हेतुओं के द्वारा ब्रह्म में उपासना-विधि-शेषत्व निश्चित होता है—

(१) वेदान्त-वाक्यों का सिद्ध ब्रह्म में संगति-ग्रह (शक्ति-ज्ञान) सम्भव नहीं, क्योंकि जिस अर्थ में लोग शब्दों का प्रयोग नहीं करते, उस अर्थ में शब्दों का संगति-ग्रह नहीं हो सकता, लोकतः संगति-ग्रह के आधार पर ही वैदिक शब्दों से अर्थ-बोध होता है, जैसा कि मण्डन मिश्र कहते हैं—"लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः" (ब्र. सि. पृ. ८२)। लोक में कोई भी प्रेक्षावान् व्यक्ति हेय और उपादेय से रहित वस्तुमात्र की विवक्षा नहीं करता, क्योंकि ऐसी वस्तु बुभुत्सित (जिज्ञासित) ही नहीं होती। यदि अजिज्ञासित पदार्थ का कोई प्रतिपादन करता है, तब उसे प्रेक्षावान् (बुद्धिपूर्वकारी) नहीं कहा जायगा, अतः बुद्धिमान् मनुष्य प्रतिपित्सित (बुभुत्सित या जिज्ञासित) अर्थ की विवक्षा से प्रवृत्ति और निवृत्ति के हेतुभूत अर्थ का ही प्रतिपादन किया करता है। कार्य वस्तु ही वह पदार्थ है, जो अवगत होकर प्रवृत्ति का हेतु होता है, अतः कार्यरूप अर्थ का ही प्रतिपादन करना चाहिए। वृद्ध पुरुषों के व्यवहार की सहायता से पदों की शक्ति कार्यरूप अर्थ में ही निश्चित होती है। उनमें कुछ पद साक्षात् कार्य के अभिधायक होते हैं और कुछ पद कार्यार्थक स्वार्थ के अभिधायक होते हैं, सिद्धार्थपरता पदों में अवगत ही नहीं होती। दूसरी बात यह है कि मध्यम (प्रवृत्त होने वाले) वृद्ध के अन्दर अवस्थित प्रवर्तक ज्ञान का अनुमान करके शब्द विशेष के होने पर ही वह ज्ञान उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा शब्द में उस बोध की जनकता निश्चित की जाती है, किन्तु जिस ज्ञान से कोई प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होती, ऐसे अन्यपुरुषगत सिद्धार्थविषयक ज्ञान का अनुमान नहीं हो सकता। कार्यविषयक ज्ञान के अनुमापक तो प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप लिङ्ग सुलभ हो जाते हैं। अतः वेदान्त शब्दों का ब्रह्म में संगति-ग्रह न हो सकने के कारण उनमें ब्रह्मपरता सम्भव नहीं।

(२) वेदान्त-वाक्य वेद होने के कारण शास्त्र कहे जाते हैं और प्रवृत्ति निवृत्तिपरक पद-संन्दर्भ ही शास्त्र की परिभाषा में आता है, जैसा कि श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—

भामती

तस्माच्छास्त्रत्वप्रसिद्धया व्याहतमेषां स्वरूपपरत्वम् । अपि च न ब्रह्मरूपप्रतिपादनपराणामेषामर्थवत्त्वं पश्यामः । न च रज्जुरियं न भुजङ्ग इति यथाकथञ्चिल्लक्षणया वाक्यार्थतत्त्वनिश्चये यथा भयकम्पादिनिवृत्तिः, एवं तत्त्वमसीतिवाक्यार्थावगमान्निवृत्तिर्भवति सांसारिकाणां धर्माणाम् ; श्रुतवाक्यार्थस्यापि पुंसस्तेषां तादवस्थ्यात् । अपि च यदि श्रुतब्रह्मणो भवति सांसारिकधर्मनिवृत्तिः कस्मात् पुनः श्रवणस्योपरि मननादयः श्रूयन्ते ? तस्मात्तेषां वैयर्थ्यप्रसङ्गादपि न ब्रह्मस्वरूपपरा वेदान्ताः, किन्त्वात्मप्रतिपत्तिविषयकार्यपराः । तच्च कार्यं स्वात्मनि नियोज्यं नियुञ्जानं नियोग इति च मानान्तरापूर्वतयाऽपूर्वमिति चाख्यायते । न च विषयानुष्ठानं विना तत्सिद्धिरिति स्वसिद्धयर्थं तदेव कार्यं स्वविषयस्य करणस्यात्मज्ञानस्यानुष्ठानमाक्षिपति । यथा च कार्यं स्वविषयाधीननिरूपणमिति ज्ञानेन विषयेण निरूप्यते, एवं

भामती–व्याख्या

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ (श्लो. वा. पृ० ४०६)

[जिस नित्य (अपौरुषेय) अथवा कृतक (पौरुषेय) पद-सन्दर्भ के द्वारा पुरुषों की किसी विषय में प्रवृत्ति या किसी विषय से निवृत्ति होती है, उस पद-सन्दर्भ को शास्त्र कहा जाता है, इसकी चर्चा पहले आ चुकी है]। अतः वेदान्त-वाक्यों में शास्त्रत्व की प्रसिद्धि होने के कारण सिद्धार्थपरता सम्भव नहीं।

(३) वेदान्त-वाक्य यदि ब्रह्मस्वरूप के ही प्रतिपादक माने जाते हैं तब इनमें अर्थवत्ता (प्रयोजनवत्ता) नहीं रहती। यह जो कहा जाता है कि 'रज्जुरियं न सर्पः'—इत्यादि सिद्धार्थक शब्दों से यथाकथञ्चित् वाक्यार्थ का निश्चय हो जाने पर जैसे भय और कम्पादि की निवृत्ति देखी जाती है, वैसे ही "तत्त्वमसि"—इत्यादि शब्दों से वाक्यार्थ का निश्चय हो जाने पर कर्तृत्वादि सांसारिक धर्मों की निवृत्ति हो जाती है। वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि जिन वेदान्तियों ने "तत्त्वमसि"—इत्यादि वाक्यों से वाक्यार्थ का बोध प्राप्त कर लिया है, वे भी अपने को पहले की भाँति ही कर्त्ता-भोक्ता मानते हैं, अतः उक्त वाक्यार्थ बोध से कर्तृत्वादि सांसारिक धर्मों की निवृत्ति नहीं होती।

(४) यदि वेदान्त-वाक्यों के श्रवणमात्र से पुरुषार्थ की सिद्धि हो जाती है, तब "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृह. उ. २।४।५) इत्यादि श्रुति वाक्यों में श्रवण के पश्चात् मननादि का विधान किस प्रयोजन के लिए किया गया ? अतः श्रवणादि की व्यर्थतापत्ति का परिहार करने के लिए भी मानना पड़ता है कि वेदान्त-वाक्य ब्रह्म-स्वरूपमात्र के बोधक नहीं माने जा सकते, अपितु आत्मा की प्रतिपत्ति (ज्ञान) को विषय करनेवाले कार्य पदार्थ के बोधन में ही वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्य स्थिर होता है। वह कार्य पदार्थ अपनी उत्पत्ति में नियोज्य (अधिकारी) पुरुष का नियोजक होने के कारण नियोग एवं प्रमाणान्तर से अनधिगत होने के कारण अपूर्व भी कहलाता है, जैसा कि श्री शालिकनाथ मिश्र कहते हैं—

क्रियादिभिन्नं यत्कार्यं वेद्यं मानान्तरैर्न तत्।
अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमिति गीयते ॥
कार्यत्वेन नियोज्यं च स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ।
नियोग इति मीमांसानिष्णातैरभिधीयते ॥ (प्र. पं. पृ. ४४१)

उस नियोगरूप कार्य की सिद्धि उसकी विषयीभूत आत्मप्रतिपत्ति के अनुष्ठान से विना सम्भव नहीं, अतः वह कार्य अपनी सिद्धि के लिए अपनी विषयीभूत आत्मप्रतिपत्ति

विषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा—यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत्। कुत एतत्? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वा-

भामती

ज्ञानमपि स्वविषयमात्मानमन्तरेणाशक्यनिरूपणमिति तन्निरूपणाय तादृशमात्मानमाक्षिपति तदेव कार्यम्। यथाहुः—'यत्तु तत्सिद्धयर्थमुपादीयते आक्षिप्यते तदपि विधेयमिति तन्त्रे व्यवहारः' इति। विधेयता च नियोगविषयस्य ज्ञानस्य भावार्थतयाऽनुष्ठेयता, तद्विषयस्य स्वात्मनः स्वरूपसत्ताविनिश्चितिः। आरोपिततद्भावस्य त्वन्यस्य निरूपकत्वे तेन तन्निरूपितं न स्यात्। तस्मात्तादृगात्मप्रतिपत्तिविधिपरेभ्यो वेदान्तेभ्यस्तादृगात्मविनिश्चयः। तदेतत्सर्वमाह ❀ यद्यपि इति ❀। विधिपरेभ्योऽपि वस्तुतत्त्वविनिश्चय इत्यत्र निदर्शनमुक्तं ❀ यथा यूप इति ❀। यूपे पशुं बध्नातीति बन्धनाय विनियुक्ते यूपे तस्यालौकिकत्वात् कोऽसौ यूप इत्यपेक्षिते खादिरो यूपो भवति, यूपं तक्षति, यूपमष्टाश्रीकरोतीत्यादिभिर्वाक्यैस्तक्षणादिविधिपरैरपि संस्काराविष्टं विशिष्टसंस्थानं दारु यूप इति गम्यते। एवमाहवनीयादयोऽप्यवगन्तव्याः। प्रवृत्तिनिवृत्तिपरस्य शास्त्रत्वं न स्वरूपपरस्य, कार्य एव सम्बन्धो न स्वरूपे, इति हेतुद्वयं भाष्यवाक्येनोपपादितं

भामती–व्याख्या

(आत्मज्ञान) के अनुष्ठान का आक्षेपक (कल्पक) होता है। जैसे कार्य (नियोग) अपने विषयीभूत आत्मज्ञान के द्वारा निरूपित होता है—'आत्मज्ञानविषयो नियोगः'। वैसे ही ज्ञान भी अपने विषयीभूत आत्मा के विना निरूपित नहीं हो सकता, अतः ज्ञान का निरूपण करने के लिए वैसे ही आत्मा का आक्षेप वही कार्य (नियोग) करता है, जैसा कि श्री प्रभाकर मिश्र कहते हैं—"यस्मिन्नयं पुरुषो नियुज्यते, स तद्विषयः। तस्मान्नैव विधिः कर्त्तव्यतामाह, विषयतया तूपादत्ते। तस्माद् यद्यदुपादीयते तत्तद्विधेयमिति तन्त्रे व्यवहारः" (बृहती. पृ. ३९)। यहाँ उपादीयते' का अर्थ 'आक्षिप्यते' है। यद्यपि नियोग का विषयीभूत ज्ञान सिद्ध पदार्थ होने से विधेय नहीं, तथापि धात्वर्थत्वेन विधेयत्व बन जाता है अर्थात् यहाँ ज्ञान का अर्थ उपासना है, जो कि स्वरूपत अनुष्ठेय पदार्थ है। उस ज्ञान के विषयीभूत आत्मा की विधेयता है—आत्मस्वरूप की सत्ता का विनिश्चय, क्योंकि यहाँ विधेयता अज्ञातज्ञतिरूप मानी गई है, आत्मस्वरूप-सत्ता का निश्चय अज्ञातार्थ-ज्ञापक होता है। यहाँ अनात्मपदार्थों में आरोपित आत्मा ज्ञान का विषय नहीं, अतः आत्म-प्रतिपत्ति की विधि के बोधक वेदान्त-वाक्यों से वैसे (अनारोपित) आत्मा का निश्चय होता है। भाष्यकार इसी भाव की अभिव्यक्ति कर रहे हैं—"यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म"। विधिपरक वाक्यों से भी वस्तुतत्त्व का निश्चय होता है—इसमें दृष्टान्त देते हैं—"यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत्"। "यूपे पशुं बध्नाति"—इस प्रकार विहित बन्धन को सम्पन्न करने के लिए विनियुक्त यूप एक अलौकिक पदार्थ माना जाता है, क्योंकि तक्षणादि दृष्ट और प्रोक्षणादि अदृष्ट संस्कारों से युक्त यूप पदार्थ केवल लौकिक नहीं माना जा सकता, किन्तु लोक में अप्रसिद्ध होने के कारण अलौकिक माना जाता है। वहाँ 'कोऽसौ यूपः?' इस प्रकार की आकांक्षा में "खादिरो यूपो भवति", 'यूपं तक्षति', 'यूपमष्टाश्रीकरोति'—इत्यादि वाक्यों के द्वारा खैर की लकड़ी को छील एवं आठ पहलूवाले एक खम्भे को प्रस्तुत किया जाता है। इसी प्रकार "यदाहवनीये जुहोति"—इस विधि वाक्य में 'क आहवनीयः' ऐसे प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" इत्यादि श्रुतियों से विहित आधानादि संस्कारों से विशिष्ट लोकोत्तर अग्नि की अवगति आहवनीय' शब्द से होती है। यूप और आहवनीयादि के समान ही ब्रह्म वस्तु की अवगति विधिपरक वेदान्त-वाक्यों से हो सकती है।

च्छास्त्रस्य। तथा हि शास्त्रतात्पर्यविद आहुः—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' (जै० सू० १।१।१) इति। 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्'। 'तस्य ज्ञानमुपदेशः' (जै० सू० १।१।५)। 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' (जै० सू० १।१।२५)। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१) इति च। अतः पुरुषं कचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत् कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्। तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्। तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। सति

भामती

❀ प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वात् ❀ इत्यादिना ❀ तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात् ❀ इत्यन्तेन। न च स्वतन्त्रं कार्यं नियोज्यमधिकारिणमनुष्ठातारमन्तरेणेति नियोज्यमेवमाह ❀ सति च विधिपरत्वे इति ❀। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति सिद्धवदर्थवादावगतस्यापि ब्रह्मभवनस्य नियोज्यविशेषाकाङ्क्षायां ब्रह्मबुभूषोर्नियोज्यविशेषस्य रात्रिसत्त्रन्यायेन प्रतिलम्भः। पिण्डपितृयज्ञन्यायेन तु स्वर्गकामस्य नियोज्यस्य कल्पनायामर्थवादस्यासमवेतार्थतयात्यन्तपरोक्षा वृत्तिः स्यादिति। ब्रह्मभावश्चामृतत्वमिति

भामती-व्याख्या

प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप कार्य के प्रतिपादक पद-सन्दर्भ को शास्त्र कहा जाता है एवं कार्यरूप अर्थ में ही शब्दों का संगति-ग्रह होता है-ये दो हेतु भाष्यवाक्य के द्वारा उपपादित हुए हैं—"प्रवृत्तिनिवृत्ति-प्रयोजनत्वात्"—यहाँ से लेकर "तत्सामान्याद् वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्'—यहाँ तक। नियोगरूप कार्य अपने नियोज्य (अधिकारी या अनुष्ठाता) पुरुष के विना स्वतन्त्र नहीं हो सकता, अतः नियोज्य विशेष का कथन किया जाता है—"सति च विधिपरत्वे।" जैसे स्वर्ग-कामनावान् नियोज्य के लिए अग्निहोत्रादि साधन पदार्थों का विधान किया जाता है, वैसे ही अमृतत्व-कामनावान् नियोज्य के लिए ब्रह्म-ज्ञान का विधान अत्यन्त युक्ति-युक्त है। अर्थात् जैसे "प्रतितिष्ठन्ति ह वैता रात्रीरुपयन्ति"—इत्यादि अर्थवाद-वाक्य के द्वारा अवगत प्रतिष्ठाकामनावान् व्यक्ति रात्रिसत्र कर्म का नियोज्य माना जाता है, वैसे ही "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"—इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म-बुभूषु अथवा अमृतत्व-कामनावान् व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान का नियोज्य सिद्ध होता है।

यदि रात्रिसत्र-न्याय को छोड़ कर पिण्डपितृयज्ञन्याय का अवलम्बन किया जाता है, तब ब्रह्म-ज्ञान का स्वर्ग फल मानना होगा [अत्यन्त अश्रुत फल की कल्पना में पिण्डपितृयज्ञ-न्याय या विश्वजिन्न्याय को अपनाया जाता है, इन दोनों न्यायों का पर्यवसान लगभग समान अर्थ में माना जाता है। "अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति"—इस प्रकार के अनारभ्याधीत वाक्य के द्वारा विहित पिण्डपितृयज्ञ के विषय में सन्देह होता है कि पिण्ड-पितृयज्ञ कर्म क्या दर्शपूर्णमास कर्म का अङ्गभूत कर्म है? अथवा स्वतन्त्र कर्म है? पूर्वपक्षी ने कहा—"य एवं विद्वानमावास्यां यजते" इत्यादि वाक्यों के द्वारा निर्णय किया गया है कि 'अमावास्या' शब्द अमावास्या तिथि में विहित 'आग्नेयः', 'ऐन्द्रं दधि' और 'ऐन्द्रं पयः' इन तीन कर्मों की संज्ञा है, अतः पिण्डपितृयज्ञ कर्म 'अमावास्या' कर्म का अङ्ग है। वहाँ सिद्धान्त-सूत्र है—"पिण्डपितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्" (जै. सू. ४।४।१९)। अर्थात् "अमावास्यायामपराह्णे"—इस प्रकार 'अपराह्णे' शब्द कालविशेष का वाचक है, अतः इस पद के समभिव्याहार में श्रुत 'अमावास्या' शब्द भी तिथि विशेष का ही बोधक है, दर्शपूर्णमास-घटक 'अमावास्या' नाम के कर्म का नहीं, फलतः पिण्डपितृयज्ञ किसी कर्म का अङ्ग न होकर स्वतन्त्र कर्म है और विश्वजिन्न्याय के आधार पर इस कर्म का स्वर्गरूप फल माना जाता है। प्रकृत में ब्रह्म-ज्ञान के लिए भी यही कहा जा सकता है कि "सः स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्"

च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयत एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम्। नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम् कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः; इह तु भूतं नित्यनिर्वृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति; तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्; कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव'

भामती

❀ अमृतत्वकामस्य ❀। इत्युक्तम्। अमृतत्वं चामृतत्वादेव न कृतकत्वेन शक्यमनित्यमनुमातुम्, आगमविरोधादिति भावः।

उक्तेन धर्मब्रह्मज्ञानयोर्वैलक्षण्येन विध्यविषयत्वं चोदयति ❀ ननु इति ❀। परिहरति ❀ नार्हत्येवम् इति ❀। अत्र चात्मदर्शनं न विधेयम्। तद्धि दृशेरुपलब्धिवचनत्वात् श्रावणं वा स्यात् प्रत्यक्षं

भामती—व्याख्या

(जै. सू. ४।३।१३) अर्थात् ऐसे कर्मों का स्वर्ग फल मानना सर्वाभीष्ट है]। किन्तु ऐसा मानने पर "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"—इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा ब्रह्मभाव या अमृतत्वरूप फल एवं अमृतत्वकामनावान् नियोज्य का प्रतिपादन अत्यन्त असम्बद्ध हो जाता है, अतः रात्रिसत्रन्याय के द्वारा अमृतत्वरूप फल एवं अमृतत्वकामनावान् नियोज्य की कल्पना ही उचिततर है, अन्यथा "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"—यह अर्थवाद वाक्य नितान्त निराधार, गौणार्थक एवं अविवक्षितवृत्तिक हो जाता है। यहाँ ब्रह्मभाव ही अमृतत्व है, अत एव भाष्यकार ने कहा है—"अमृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयते।" यहाँ कोई व्यक्ति 'ब्रह्मभावोऽनित्यः, कृतकत्वात्'—इस प्रकार ब्रह्मभाव की अनित्यता का अनुमान न कर सके, इस लिए ब्रह्मभाव का 'अमृतत्व' पद के द्वारा अभिधान किया गया है। 'अमृत' पद के द्वारा उत्पाद और विनाश से रहित वस्तु का अभिधान होता है, ब्रह्मभाव कृतक या उत्पन्न नहीं होता, केवल अभिव्यक्त होता है—"ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति"। इसी प्रकार "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों में अनन्तता को ही ब्रह्मभाव कहा गया है।

शङ्का—पूर्व मीमांसा में जिज्ञास्य धर्म और उत्तर मीमांसा में जिज्ञास्य ब्रह्म के ज्ञान का वैलक्षण्य पहले (विगत पृ. ८० पर) कहा गया—अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम्, तच्चानुष्ठानापेक्षम्, निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मज्ञानं न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्।" अतः धर्म और धर्म-ज्ञान में विधि-विषयता होने पर भी ब्रह्म-ज्ञान में विधि-विषयता (विधेयता) नहीं हो सकती [यद्यपि विगत पृ. ८० पर भाष्यकार ने धर्म और ब्रह्मरूप जिज्ञास्य पदार्थों का वैलक्षण्य कहा है और उनके ज्ञानों का भी, तथापि यहाँ प्रकृत शङ्का की साधनता के रूप में भाष्यकार जिज्ञास्य-वैलक्षण्य का स्मरण करते हैं—"ननु इह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्" किन्तु वाचस्पति मिश्र धर्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान के वैलक्षण्य को प्रकृत शङ्का का उपोद्बलक मानते हैं—"धर्मब्रह्मज्ञानयोर्वैलक्षण्येन विध्यविषयत्वं चोदयति।" श्री वाचस्पति मिश्र भाष्याक्षर की परिधि के इधर-उधर वहाँ ही पैर रखते हैं, जहाँ कहीं पौर्वापर्यादि का सामञ्जस्य सहज गति से नहीं हो पाता। यहाँ वस्तु-स्थिति यह है कि भाष्यकार ने "तत्र धर्मज्ञानफलाद् विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति"—इस शङ्का-वाक्य के द्वारा यह प्रतिज्ञा सूचित की है कि 'ब्रह्मज्ञानं धर्मज्ञान-फलाद् विलक्षणफलकम्' ऐसी प्रतिज्ञा का साधन जिज्ञास्य-वैलक्षण्य नहीं हो सकता, क्योंकि पक्षधर्मतादि का सामञ्जस्य उसमें नहीं होता, अतः 'ब्रह्मज्ञानं धर्मज्ञानफलाद्विलक्षणफलकम्, धर्मज्ञानाद्विलक्षणत्वात्'—इस प्रकार के सुसंगत प्रयोग का आविष्कार करने के लिए वाचस्पति-मिश्र ने साक्षात् ज्ञान-वैलक्षण्य का निर्देश किया और भाष्यकार ने विषय-वैलक्षण्य के द्वारा ज्ञान-वैलक्षण्य ध्वनित किया है]।

ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृह० २।४।५) इति । 'य आत्माऽपहतपाप्मा', 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छान्दो० ८।७।१), 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७) 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ० १।४।१५) । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इत्यादिविधानेषु सत्सु 'कोऽसावात्मा, किं तद् ब्रह्म?'

भामती

वा । प्रत्यक्षमपि लौकिकमहंप्रत्ययो वा, भावनाप्रकर्षपर्य्यन्तजं वा ? तत्र श्रावणं न विधेयं, स्वाध्यायविधिनैवास्य प्रापितत्वात्, कर्मश्रावणवत् । नापि लौकिकं प्रत्यक्षं, तस्य नैसर्गिकत्वात् । न चौपनिषदात्मविषयं भावनाधेयवैशद्यं विधेयं, तस्योपासनविधानादेव वाजिनवदनुनिष्पादितत्वात् । तस्मादौपनिषदात्मोपासनाऽमृतत्वकामं नियोज्यं प्रति विधीयते । द्रष्टव्य इत्यादयस्तु विधिसरूपा न विधय इति । तद्वि-

भामती–व्याख्या

समाधान–एकदेशी आचार्य का कहना है कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै. उ. २।१।१) इत्यादि वाक्यों के द्वारा स्वतन्त्र ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं किया जाता, अपितु "आत्मेत्येवोपासीत" (बृह. उ. १।४।७) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों के द्वारा विहित उपासना की विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण किया गया है । यहाँ ज्ञानगत विधेयता के कथन का तात्पर्य उपासना की विधेयता में ही है, क्योंकि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृह. उ. २।४।५) यहाँ आत्मज्ञान दो प्रकार का अभिहित हुआ है–(१) प्रत्यक्षात्मक और (२) श्रावणादिरूप परोक्षज्ञान । इनमें श्रावण ज्ञान यहाँ विधेय नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी प्राप्ति "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि वाक्य से वैसे ही सम्पन्न हो जाती है, जैसे धर्म-ज्ञान की । प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है–(१) लौकिक और (२) अलौकिक (निरन्तरानुचिन्तन-जनित ।) लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान तो निसर्गतः अपनी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षादि-घटित सामग्री से ही उत्पन्न होने के कारण विधेय नहीं होता । औपनिषद आत्मा की निदिध्यासनात्मक भावना (उपासना) से जनित अलौकिक आत्म-प्रत्यक्ष भी विधेय नहीं होता, क्योंकि आत्मोपासना का विधान कर देने से वैसे ही उस (ब्रह्मात्मप्रत्यक्ष) की अनुनिष्पत्ति हो जाती है, जैसे आमिक्षा बनाने के लिए तप्त दूध में डाले गए दधि से वाजिन अपने-आप निष्पन्न हो जाता है ["तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा" । प्रतप्त दूध में दधि डालने से दूध फट कर दो भागों में विभक्त हो जाता है–(१) पनीर और (२) पानी । जमे हुए (घनीभूत) भाग को पनीर या आमिक्षा कहते हैं और पानी को वाजिन कहा जाता है । वहाँ यह संशय होता है कि दध्यानयन (दधि डालने) का उद्देश्य क्या आमिक्षा है ? अथवा वाजिन ? पूर्वपक्ष किया गया है—"एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्" (जै. सू. ४।१।२२) अर्थात् तपते दूध में दही डालने पर आमिक्षा और वाजिन—दोनों की एक साथ निष्पत्ति होती है, अतः समानरूप से दोनों पदार्थ ही दध्यानयन के प्रयोजक होते हैं, किन्तु सिद्धान्त किया गया है—"संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात्" (जै. सू. ४।१।२३) अर्थात् "तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा"—इस विधि वाक्य में दधि-संसर्ग से निष्पन्न आमिक्षा का ही निर्देश 'सा वैश्वदेवी आमिक्षा'—इस वाक्य के द्वारा किया गया है, अतः प्रधानभूत आमिक्षा तत्त्व का विधान किया जाता है, वाजिन का नहीं, वह तो स्वयं अनुनिष्पन्न हो जाता है । फलतः यहाँ अमृतत्त्व-कामनावान् नियोज्य पुरुष के प्रति औपनिषद आत्मा की उपासना का विधान किया जाता है । "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृह. उ. २।४।५) इस वाक्य के द्वारा ज्ञान का विधान नहीं किया जाता, क्योंकि यहाँ 'द्रष्टव्यः' पद में 'तव्य' प्रत्यय विध्यर्थक नहीं, केवल उसका अनुकरण विधि के समान प्रतीत होनेवाला विधि-सरूपमात्र है । पूर्व (पृ. १२६ पर)

इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः—'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्येवमादयः तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति। कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानासंभवात् 'सप्तद्वीपा वसुमती', 'राजासौ गच्छति' इत्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात्। ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टं, तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात्। स्यादेतदेवम्, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत, न तु निवर्तते; श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृह० २।४।५) इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात्। तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति।

भामती

वमुक्तम्' ❀ तदुपासनाच्च इति ❀। अर्थवत्तया मननविप्रतीत्या चेत्यस्य शेषः प्रपञ्चो निगदव्याख्यातः॥

तदेकदेशिमतं दूषयति ❀ अत्राभिधीयते ❀। ❀न❀ एकदेशिमतम्, कुतः? ❀ कर्मब्रह्मविद्याफल-

भामती-व्याख्या

कथित संग्रह श्लोक के 'अर्थवत्तया' और 'मननादि प्रतीत्या' इन पदों का विस्तार-भाष्य अत्यन्त सुगम है [अर्थात्—

अर्थवत्तया—पूर्वोक्त उपासना-वाक्यों के द्वारा विहित उपासना के विषयीभूत आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप-बोध कराने में "नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो निरञ्जनः" इत्यादि सभी वेदान्त-वाक्य उपयुक्त होते हैं। इन्हीं वेदान्त-वाक्यों के द्वारा अवबोधित आत्मतत्त्व की उपासना से शास्त्र-प्रतिपादित और लोक में अनधिगत मोक्षरूप फल प्राप्त होता है। कर्त्तव्य-विधि में अननुप्रविष्ट वेदान्त-वाक्यों के द्वारा ब्रह्मरूप सिद्ध वस्तुमात्र के प्रतिपादन से किसी प्रकार की हान या उपादानात्मक प्रवृत्ति नहीं होती, फलतः वेदान्त-वाक्य वैसे ही अनर्थक होकर रह जाते हैं, जैसे—"सप्तद्वीपा वसुमती, राजासौ गच्छति" इत्यादि वाक्य।

यह जो कहा जाता है कि वस्तुमात्र का कथन करने से भी "रज्जुरियं न सर्पः"—इत्यादि स्थल पर सर्प-भ्रान्ति-जनित भय-कम्पादि दुःख की निवृत्ति होती है, दुःख-निवृत्ति भी पुरुषार्थ है। उसी प्रकार प्रकृत में असंसारी आत्म-वस्तु के श्रवण से कर्तृत्व-भोक्तृत्व जन्म-मरणादिरूप संसारित्व-भ्रांति निवृत्त हो जाती है और वेदान्त-वाक्यों में अर्थवत्ता (सप्रयोजनता) आ जाती है।

वह कहना तब सत्य हो सकता था, जब कि 'रज्जुरियम्'—इस प्रकार रज्जु-स्वरूप-श्रवण से सर्प-भ्रान्ति-निवृत्ति के समान ब्रह्मस्वरूप श्रवण मात्र से संसारित्व-भ्रान्ति निवृत्त हो जाती, किन्तु ऐसा नहीं, अपितु ब्रह्म-स्वरूप का जिन्होंने श्रवण कर लिया है, उन्हें भी पूर्ववत् सुखित्व-दुःखित्वरूप संसारित्व की भ्रान्ति बनी रहती है।

मननादिप्रतीत्या—"श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृह. उ. २।४।५) इस श्रुति में श्रवण के पश्चात् मनन और निदिध्यासन का विधान देखा जाता है। यदि आत्मा के श्रवणमात्र से सर्वानर्थ की निवृत्ति हो जाती, तब श्रवण के पश्चात् मननादि का विधान व्यर्थ था, अतः उपासना-विधि के परिवेष में ही ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक सिद्ध होता है]।

एकदेशिमत दूषण—"अत्राभिधीयते" से भाष्यकार एकदेशी आचार्य के मत में

अत्राभिधयते—न; कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै० सू० १।१।१) इति सूत्रिता।

अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय। तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धेः। मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते। ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम्। प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम्। तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनं, केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं, तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् 'यावत्संपातमुषित्वा' (छान्दो० ५।१०।५) इत्यस्माद् गम्यते। तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः। तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदना-

भामती

योर्वैलक्षण्यात् ॐ। पुण्यापुण्यकर्मफले सुखदुःखे तत्र मनुष्यलोकमारभ्याब्रह्मलोकात् सुखस्य तारतम्यम् अधिकाधिकोत्कर्षः एवं मनुष्यलोकमारभ्य दुःखतारतम्यमावीचिलोकात्, तच्च सर्वं कार्यं च विनाशि च। आत्यन्तिकं त्वशरीरत्वमनतिशयं स्वभावसिद्धतया नित्यमकार्यमात्मज्ञानस्य फलम्। तद्धि फलमिव फलम्, अविद्यापनयमात्रेणाविर्भावात्। एतदुक्तं भवति—त्वयाप्युपासनाविधिपरत्वं वेदान्तानामभ्युपगच्छता नित्यशुद्धबुद्धत्वादिरूपब्रह्मात्मता जीवस्य स्वाभाविकी वेदान्तगम्याऽऽस्थीयते। सा चोपासनाविषयस्य विधेर्न

भामती—व्याख्या

दोषाभिधान कर रहे हैं कि एकदेशिमत युक्ति-युक्त इस लिए नहीं कि "कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्।" कर्म-विद्या और ब्रह्म-विद्या के फलों में यह विलक्षणता है कि कर्म या धर्माधर्म के ज्ञान से धर्म और अधर्म का अनुष्ठान होता है, धर्मानुष्ठान से पुण्य और अधर्माचरण से अपुण्य (पाप) उत्पन्न होता है, पुण्य का फल सुख और अपुण्य का फल दुःख है। यह सुख और दुःख सातिशय (तरतमभाव-युक्त) होता है अर्थात् इस मनुष्य लोक से लेकर ब्रह्म-लोक तक उत्तरोत्तर सुख उत्कृष्ट होता है एवं मनुष्य-लोक से लेकर अवीचि लोक तक दुःख अधिकाधिक होता जाता है। [आगे चल कर ब्र० सू० ३।१।१५ में नरक लोकों की संख्या सात बताई गई है—"अपि च सप्त"। विष्णुपुराण, मार्कण्डेयादि पुराणों एवं मन्वादि स्मृतियों में संख्या अधिक उपलब्ध होती है। योग-भाष्यकार (३।२६) की व्यवस्था प्रसङ्ग के अनुरूप है—"अवीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोकः, मेरुपृष्ठादारभ्या ध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः, तत्परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः, चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः, त्रिविधो ब्राह्मः—जनस्तपोलोकः सत्यलोकः। तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टा षण्महानरकभूमय महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः] वह (कर्म-ज्ञान का) सुखाद्यात्मक समस्त फल उत्पत्ति-विनाशशाली होता है किन्तु आत्म-ज्ञान का अशरीरत्वरूप मोक्षफल आत्यन्तिक (अविनाशी) निरतिशय (तरतमभाव या न्यूनाधिकभाव से रहित) स्वभाव-सिद्ध एवं अविद्या की निवृत्तिमात्र से आविर्भूत होता है। आशय है कि वेदान्त-वाक्यों को उपासना विधिपरक माननेवाले एकदेशी आचार्य को भी जीव में नित्यत्वात्मक ब्रह्मरूपता स्वाभाविकी एवं वेदान्त-गम्य अभीष्ट है। वह ब्रह्मरूपता उपासना-विधि का फल नहीं हो सकती, क्योंकि नित्य है। अविद्या-निवृत्ति को भी उपासना का फल नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्या की निवृत्ति तो अविद्या का उदयमात्र हो जाने से सम्पन्न हो जाती है। विद्योदय को भी उपासना-

लक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते । एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्य-

भामती

फलं, नित्यत्वादकार्य्यत्वात् । नाप्यनाद्यविद्यापिधानापनयः, तस्य स्वविरोधिविद्योदयादेव भावात् । नापि विद्योदयः, तस्यापि श्रवणमननपूर्वकोपासनाजनितसंस्कारसचिवादेव चेतसो भावात् । उपासनासंस्कारवदुपासनाऽपूर्वमपि चेतःसहकारीति चेत्, दृष्टं च खलु नैयोगिकं फलमैहिकमपि, यथा चित्राकारीर्य्यादिनियोगानामनियतनियतफलानाम् । न, गान्धर्वशास्त्रोपासनावासनाया इवापूर्वानपेक्षायाः षड्जादिसाक्षात्कारे वेदान्तार्थोपासनावासनाया जीवब्रह्मभावसाक्षात्कारेऽनपेक्षाया एव सामर्थ्यात् । तथा चामृतीभावं प्रत्यहेतुत्वादुपासनापूर्वस्य नामृतत्वकामस्तत्कार्य्यमवबोद्धुमर्हति, अन्यदिच्छत्यन्यत् करोतीति हि विप्रतिषिद्धम् । न च तत्कामः क्रियामेव कार्य्यमवगमिष्यति नापूर्वमिति साम्प्रतम्, तस्या मानान्तरादेव-

भामती—व्याख्या

विधि का फल नहीं कह सकते, क्योंकि श्रवण-मननपूर्वक उपासना-जनित संस्कारों से युक्त चित्त के द्वारा ही विद्या का उदय माना जाता है। [जैसे बाणादिगत बाह्य क्रिया से जनित वेगसंज्ञक संस्कारों में विधि-विषयता नहीं होती, अत एव उन्हें 'नियोग' या 'अपूर्व' पद के द्वारा अभिहित नहीं किया जाता, वैसे ही उपासनादि आन्तरिक (मानस क्रिया) से जनित संस्कार ऐहिक (तात्कालिक) फल के जनक होने के कारण न तो नियोगपदास्पद होते हैं और न विधि के विषय]।

शङ्का—उपासना-जनित ऐहिकफलक संस्कार जैसे चित्त के सहकारी होते हैं, वैसे ही उपासना-जनित पारलौकिकफलक नियोगरूप संस्कार भी उपासना-जनित ऐहिकफलक संस्कारों के सहकारी होते हैं, क्योंकि नियोग (अपूर्व) से केवल पारलौकिक फल नहीं, ऐहिक फल भी उत्पन्न होता देखा जाता है, जैसे कि "चित्रया यजेत पशुकामः", "कारीर्या यजेत वृष्टिकामः" इत्यादि वाक्यों के द्वारा विहित कर्मों का फल ऐहिक ही होता है। हाँ, चित्रा याग-साध्य अपूर्व का पशुरूप फल नियमतः ऐहिक नहीं, किन्तु कारीरी याग-साध्य अपूर्व का वृष्टिरूप फल नियमतः ऐहिक ही होता है, क्योंकि "यदि वर्षेत् तावत्येव होतव्यम्, यदि न वर्षेत् श्वोभूते हविर्निर्वपेत्"—इत्यादि प्राकरणिक वाक्यों का सामर्थ्य यह अत्यन्त स्पष्ट कर रहा है कि कारीरी याग केवल ऐहिक (तात्कालिक) वृष्टि के उद्देश्य से ही किया जाता है। फलतः उपासना-जनित संस्कारों के सहायक अपूर्व को लेकर विधि-विषयता का सामञ्जस्य किया जा सकता है।

समाधान—जीवगत ब्रह्मात्मता के साक्षात्कार को वेदान्तार्थ की उपासना से जनित केवल ऐहिकफलक संस्कार वैसे ही उत्पन्न कर देते हैं, जैसे गान्धर्व शास्त्राभिहित अर्थ की उपासना से जनित संस्कार षड्जादि स्वर-ग्राम के साक्षात्कार को उत्पन्न कर देते हैं। जीवगत ब्रह्मभाव के साक्षात्कार की उत्पत्ति में वेदान्तार्थोपासना-जनित संस्कारों को अपूर्व की अपेक्षा नहीं होती, अतः वेदान्त वाक्यार्थ विधि के विषय क्योंकर होंगे ? जब अमृतीभाव (ब्रह्मभाव) के प्रति उपासनापूर्व हेतु ही नहीं, तब अमृतत्व की कामना रखनेवाला व्यक्ति उसको अपना कर्त्तव्य नहीं मान सकता। अन्यथा 'अन्यदिच्छति अन्यत्करोति' चाहता कुछ और है और करता कुछ और] यह कहावत लागू होगी। चाहना स्वर्ग और नरक के मार्ग पर चलना अत्यन्त विरुद्धाचरण है।

अमृतत्व-कामनावान् व्यक्ति केवल "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"—इत्यादि वाक्यार्थ की अभ्यास रूप क्रिया को ही अपना कार्य (कर्तव्य) समझेगा—ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि केवल

निमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्याय-

भामती

तत्साधनत्वप्रतीतेर्विधेर्वैयर्थ्यात् । न चावघातादिविधितुल्यता, तत्रापि नियमापूर्वस्यान्यतोऽनवगतेः । न च ब्रह्मभूयादन्यदमृतत्वमार्थवादिकं किञ्चिदस्ति, येन तत्काम उपासनायामधिक्रियेत । विश्वजिन्न्यायेन तु स्वर्गकल्पनायां तस्य सातिशयत्वं क्षयित्वं चेति न नित्यफलत्वमुपासनायाः । तस्माद् ब्रह्मभूयस्याविद्यापिधानापनयमात्रेणाविर्भावाद्, अविद्यापनयस्य च वेदान्तार्थविज्ञानादवगतिपर्यन्तादेव सम्भवाद्, उपासनायाः संस्कारहेतुभावस्य संस्कारस्य च साक्षात्कारोपजनने मनःसाचिव्यस्य च मानान्तरसिद्धत्वात्, आत्मेत्येवोपासीतेति न विधिः, अपि तु विधिसरूपोऽयं, यथोपांशुयाजवाक्ये विष्णुरुपांशु यष्टव्य इत्यादयो विधि-

भामती-व्याख्या

वैसे अभ्यास में साक्षात्कार की साधनता लौकिक अन्वय-व्यतिरेकरूप न्याय से ही सम्पन्न हो जाती है, उसके लिए किसी प्रकार के विधि-वाक्य की आवश्यकता नहीं होती। "व्रीहीनवहन्ति"—इत्यादि विधि वाक्य जैसे तुष-विमोकरूप दृष्टफल के उद्देश्य से अवघातादि क्रिया का विधान करते हैं, वैसे ही "आत्मेत्येवोपासीत"—इत्यादि वेदान्त वाक्य ब्रह्मात्मता-साक्षात्कार के लिए केवल आत्मोपासनारूप क्रिया का विधान करते हैं—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'व्रीहीनवहन्ति'—इत्यादि वाक्य केवल अवघातरूप क्रिया का विधान नहीं करते, अपितु अवघातापूर्व का विधान करते हैं ['दर्शपूर्णमास' कर्म के प्रकरण में पठित "व्रीहीनवहन्ति"—यह वाक्य केवल तुष-विमोकरूप (धान की भूसी उतारने के लिए) अवघात ओखली में मूसल से कूटने) का विधान नहीं कर सकता, क्योंकि लोक-प्रसिद्ध अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही तुष-निवृत्ति के लिए नख-विदलन, पाषाण-घर्षणादि के समान अवघात भी निसर्गतः प्राप्त है, अतः अवघात-विधि को नियमार्थक माना गया है—"नियमार्था वा पुनः श्रुतिः" (जै. सू. ४।२।२४) अर्थात् अवघात को छोड़ कर नख-विदलनादि के द्वारा तुष-निवृत्ति करने पर तण्डुल-निष्पत्तिरूप दृष्ट फल का लाभ तो हो जायगा, किन्तु दर्शपूर्णमास-जन्य परमापूर्व या उसके जनकीभूत उत्पत्त्यपूर्व की सम्पत्ति नहीं होगी, उसकी सम्पत्ति तभी होगी, जब कि नियमतः अवघात का अनुष्ठान किया जाय, फलतः 'व्रीहीनवहन्ति'—इस वाक्य के द्वारा अवघातनियम-जन्य नियमापूर्व का अवबोधन किया जाता है]। "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड. ३।२।९) इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मभाव अमृतत्व से भिन्न नहीं, यदि अमृतत्व से ब्रह्मभाव भिन्न होता, तब अवश्य उसकी कामना रखनेवाला व्यक्ति ब्रह्मोपासना का अधिकारी बन जाता। 'विश्वजित्' न्याय (जै. सू. ४।३।७) के आधार पर ब्रह्मोपासना का यदि स्वर्ग फल मान कर स्वर्गकामानावान् व्यक्ति को अधिकारी माना जाता है, तब स्वर्गरूप फल के सातिशय और नश्वर होने के कारण ब्रह्मोपासना में अनित्य-फलकत्वापत्ति होती है और "न स पुनरावर्तते" (छां. ८।१५।१) इत्यादि श्रुतियों का विरोध उपस्थित होता है। अतः जीव में ब्रह्मभाव का अविद्या की निवृत्तिमात्र से आविर्भाव माना जाता है। अविद्या की निवृत्ति तो वेदान्ताभिहित अर्थ के साक्षात्कारात्मक ज्ञान से ही हो जाती है, उसके लिए उपासना की आवश्यकता ही नहीं। उपासना में संस्कार-जनकता और मन के द्वारा साक्षात्काररूप फल की उत्पत्ति के लिए संस्कार मन के सहायक होते हैं—यह ज्ञान लौकिक अन्वय-व्यतिरेक से ही हो जाता है, उसके लिए उपासना-विधि की आवश्यकता नहीं, फलतः "आत्मेत्येवोपासीत" (बृह. उ. १।४।७) यह वाक्य विधिरूप नहीं, केवल वैसे ही विधि का अनुकरणमात्र है, जैसे—उपांशुयाग के प्रकरण में "विष्णुरुपांशु यष्टव्यः" इत्यादि वाक्य। ["जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ, उपांशुयाजमन्तरा यजति,

रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः--'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (छान्दो० २१।१) इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियप्रिये स्पृशतः' (छान्दो० ८।१२।१) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षण-धर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेन्न; तस्य स्वाभाविकत्वात्। 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' (काठ० १।२।२१) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृह० ४।३।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्। तत्र किंचित्परिणामिनित्यं यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते, यथा पृथिव्यादिजगन्नित्यत्ववादिनाम्। यथा च सांख्यानां गुणाः, इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रि-

---

भामती

सरूपा न विषय इति तात्पर्यार्थः। श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धमित्युक्तं, तत्र श्रुतिं दर्शयति ॐ तथा च श्रुतिः इति ॐ। न्यायमाह ॐ अत एव इति ॐ। यत् किल स्वाभाविकं तन्नित्यं, यथा चैतन्यं, स्वाभाविकं चेदं, तस्मान्नित्यम्। परे हि द्वयीं नित्यतामाहुः—कूटस्थनित्यतां परिणामिनित्यतां च, तत्र नित्यमित्युक्ते मा भूदस्य परिणामिनित्यतेत्यत आह ॐ तत्र किञ्चिद् इति ॐ। परिणामिनित्यता हि न पारमार्थिकी। तथा हि— तत्सर्वात्मना वा परिणमेदेकदेशेन वा? सर्वात्मना परिणामे कथं न तत्त्वव्याहृतिः? एकदेश-

---

भामती–व्याख्या

विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्या-वजामित्वाय" (तै. सं. २।६।६) इस वाक्य को लेकर जै. सू. २।१।४ में पूर्वपक्ष किया गया है कि विष्ण्वादि तीन वाक्यों के द्वारा विहित तीन कर्मों का अनुवादक प्रथम वाक्य है। उसका निराकरण करते हुए सिद्धान्ती ने कहा है कि उपक्रम और उपसंहार को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि निरन्तर पुरोडाशद्रव्यक दो कर्मों का अनुष्ठान करने पर आलस्य या उकताहट होती है, अतः उन कर्मों के मध्य में घृतादि विजातीय द्रव्यवाले कर्म का विधान अपेक्षित है, अतः 'उपांशुयाजमन्तरा यजति"—यह वाक्य उपांशुयाज का विधायक है और विष्ण्वादि वाक्य विधायक नहीं, अपितु अर्थवादमात्र हैं, केवल विधि के सरूप हैं, विधि नहीं]।

भाष्यकार ने जो धर्माधर्म के फलभूत सुख-दुःख में तारतम्य (न्यूनाधिकभाव) दिखाते हुए कहा है—"एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धम्।" वहाँ प्रक्रान्त श्रुति का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है—"तथा च श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (छां. ८।१२।१)। अर्थात् धर्म और अधर्म के फलोपभोग में आत्मा को शरीराभिमान बना रहता है और जब तक शरीराभिमान है, तब तक प्रिय (सुख) एवं अप्रिय (दुःख) की अपहृति (निवृत्ति) नहीं हो सकती। कथित न्याय-सिद्धता दिखाने के लिए न्याय दिखाया गया है—"अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्।" उक्त 'न्याय' पद से अनुमान विवक्षित है, अनुमान के वेदान्त-सिद्धान्त में उदाहरण, उपनय और निगमन अथवा प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण नाम के तीन अवयव माने जाते हैं, उसके अनुरूप न्याय का पूर्ण कलेवर इस प्रकार कहा जाता है—'यत् स्वाभाविकं, तन्नित्यं, यथा चैतन्यम्। स्वाभाविकं चेदम्। तस्मान्नितम्।' इसी तथ्य को प्रतिज्ञादिरूप में इस प्रकार कह सकते हैं—'अशरीरत्वात्मकं मोक्षफलं नित्यम्, स्वाभाविकत्वाद्, यत्स्वाभाविकं तन्नित्यं यथा जीवस्य

भामती

परिणामे वा स एकदेशस्ततो भिन्नो वाऽभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत् कथं तस्य परिणामः ? न ह्यन्यस्मिन् परिणममानेऽन्यः परिणमतेऽतिप्रसङ्गात् । अभेदे वा कथं न सर्वात्मना परिणामः ? भिन्नाभिन्नं तदिति चेत्, तथा हि तदेव कारणात्मनाऽभिन्नं भिन्नं च कार्य्यात्मना कटकादय इवाभिन्ना हाटकात्मना भिन्नाश्च कटकाद्यात्मना । न च भेदाभेदयोर्विरोधान्नैकत्र समवाय इति युक्तम्, विरुद्धमिति नः क्व संप्रत्ययः ? यत्प्रमाणविपर्य्ययेण वर्त्तते । यत्तु यथा प्रमाणेनावगम्यते तस्य तथा भाव एव । कुण्डलमिदं सुवर्णमिति सामानाधिकरण्यप्रत्यये व्यक्तं भेदाभेदौ चकास्तः । तथा ह्यात्यन्तिकेऽभेदेऽन्यतरस्य द्विरवभासप्रसङ्गः । भेदे चात्यन्तिके न सामानाधिकरण्यं, गवाश्ववत् । आधाराधेयभावे एकाश्रयत्वे वा न सामानाधिकरण्यं

भामती–व्याख्या

चैतन्यम् ।' 'सांख्यादिमतवाद के अनुसार दो प्रकार की नित्यता मानी जाती है—(१) कूटस्थ-नित्यता और (२) परिणामिनित्यता । ब्रह्मभावरूप मोक्ष में परिणामिनित्यता की भ्रांति हटाने के लिए नित्यता के दो भेद प्रदर्शित किए गए हैं—"तत्र किंचित्परिणामिनित्यमित्यादि ।" जो वस्तु परिणत (विकृत) होने पर भी अपने मौलिक रूप में प्रत्यभिज्ञात होती रहती है, उसे परिणामिनित्य कहते हैं, जैसे स्वर्ण-मृदादि पदार्थ कटक-घटादिरूप में परिणत होकर भी अपनी तात्त्विक स्वर्णरूपता मृद्रूपता को कभी नहीं गँवाते, अतः परिणामिनित्य कहे जाते हैं। परिणामिनित्यता कभी पारमार्थिकी नहीं होती, क्योंकि परिणमनशील वस्तु क्या पूर्णरूपेण परिणत होती है ? अथवा एकदेशेन ? पूर्णरूपेण परिणत होने पर तात्त्विक व्याहति (विनाश) क्यों नहीं होता ? एकदेशेन परिणत होने पर वह एकदेश उस वस्तु से भिन्न माना जाता है ? अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न है, तब उस अपने से भिन्न एक देश के परिणत होने पर वह वस्तु क्योंकर परिणत मानी जायगी ? क्योंकि अन्य (भिन्न) वस्तु के परिणत होने पर अन्य वस्तु में 'परिणमते'—ऐसा व्यवहार कभी नहीं होता । अन्यथा एक स्वर्ण-पिण्ड के परिणत होने पर 'विश्वं परिणमते'—ऐसा व्यवहार अतिप्रसक्त होगा । यदि वह (परिणममान) एकदेश उस वस्तु से अभिन्न है, तब उस एकदेश के परिणत होने पर उससे अभिन्न वस्तु का सर्वात्मना परिणाम क्यों नहीं माना जाता ?

शङ्का—वस्तु का परिणममान अवयव वस्तु से भिन्न भी है और अभिन्न भी, क्योंकि एक ही सुवर्णरूप कारण के कटक-कुण्डलादि कार्य परस्पर कार्यरूपेण (कटकत्वादिरूपेण) भिन्न और कारणगत सुवर्णत्वरूपेण अभिन्न । 'कटकं कुण्डलाद् भिन्नमभिन्नं च'—ऐसी प्रतीति को विरुद्ध भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रमाण से बाधित पदार्थ को विरुद्ध कहा जाता है, किन्तु जैसे एक ही कुण्डल में 'कुण्डलमिदं' और 'सुवर्णमिदम्'—इस प्रकार दोनों प्रतीतियाँ प्रामाणिक मानी जाती हैं, वैसे ही कटक में भी 'कटकमिदम्' और 'सुवर्णमिदम्'—इस प्रकार दोनों प्रतीतियाँ अनुभव-सिद्ध हैं, फलतः कटक और कुण्डल—दोनों सुवर्णरूप होने से अभिन्न और कटकत्वादिरूपेण भिन्न हैं—ऐसा मानना प्रमाण-बाधित नहीं, अपितु प्रमाण के अनुरूप ही है, तब इसे विरुद्ध क्योंकर कहा जा सकता है ? जिन पदार्थों में भेद और अभेद—दोनों प्रमाण-सिद्ध हैं, उन्हें भिन्नाभिन्न कहना विरुद्ध कदापि नहीं ।

कटक और कुण्डल का ऐकान्तिक अभेद मानने पर 'इमे कटककुण्डले'—ऐसी प्रतीति न होकर 'इमे कटके या इमे कुण्डले'—इस प्रकार एक-एक कार्य का दो बार भान होना चाहिए । इसी प्रकार दोनों का ऐकान्तिक भेद मानने पर जैसे कटक को कुण्डल नहीं कहा जाता, वैसे कटक को सुवर्ण भी नहीं कह सकते, अतः 'कटकं सुवर्णम्'—इस प्रकार का सामानाधिकरण्य-व्यपदेश न हो सकेगा, क्योंकि अत्यन्त भिन्न गौ और अश्व का कहीं भी गौरश्वः'—इस प्रकार का सामानाधिकरण्य-व्यवहार कभी नहीं होता । यद्यपि अपर्याय शब्दों

भामती

न हि भवति कुण्डं बदरमिति । नाप्येकासनस्थयोश्चैत्रमैत्रयोश्चैत्रो मैत्र इति । सोऽयमबाधितोऽसन्दिग्धः सर्वजनीनः सामानाधिकरण्यप्रत्यय एव कार्य्यकारणयोर्भेदाभेदौ व्यवस्थापयति । तथा च कार्य्याणां कारणात्मत्वात् कारणस्य च सद्रूपस्य सर्वत्रानुगमात् सद्रूपेणाभेदः कार्य्यस्य जगतो भेदः कार्य्यरूपेण गोघटादिनेति । यथाहुः—

कार्य्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना ।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥ इति ।

अत्रोच्यते—कः पुनरयं भेदो नाम, यः सहाभेदेनैकत्र भवेत् । परस्पराभाव इति चेत्, किमयं कार्य्यकारणयोः कटकहाटकयोरस्ति न वा । न चेदेकत्वमेवास्ति न च भेदः । अस्ति चेद् भेद एव नाभेदः । न च भावाभावयोरविरोधः, सहावस्थानासम्भवात् । सम्भवे वा कटकवर्धमानकयोरपि तत्त्वेनाभेदप्रसङ्गः, भेदस्याभेदाविरोधात् । अपि च कटकस्य हाटकादभेदे यथा हाटकात्मना कटकमुकुटकुण्डलादयो न भिद्यन्ते

भामती-व्याख्या

का एक ही अर्थ में वाच्यत्वेन प्रवृत्त होना सामानाधिकरण्य कहलाता है, वह भेदाभेद-पक्ष में ही बनता है—ऐसा नहीं, अपितु आधाराधेयभाव और एकाश्रयवृत्तिता को लेकर भी देखा जाता है, जैसे 'मृद् घटः'—यहाँ पर मृत्तिका आधार और घट आधेय है, एवं 'एकं रूपम्'—यहाँ 'एकत्व' संख्या और 'रूप'—दोनों पदार्थ एक ही घटादि आश्रय में रहते हैं, अतः उनका भी सामानाधिकरण्य-व्यवहार देखा जाता है। तथापि वह क्वाचित्क है, सार्वत्रिक नहीं, अन्यथा कुण्डाद्यात्मक आधार और बदराद्यात्मक आधेय का भी 'कुण्डं बदरम्'—ऐसा व्यवहार होना चाहिए। इसी प्रकार एक ही आसन पर बैठे हुए चैत्र और मैत्र का भी 'चैत्रो-मैत्रः'—इस प्रकार सामानाधिकरण्य-प्रत्यय होना चाहिए। परिशेषतः सभी सुवर्णादि कारणपदार्थों और कटकादि कार्य पदार्थों का सार्वत्रिक और सर्वजनीन अबाधित सामानाधिकरण्य-व्यवहार कार्य और कारण में भेदाभेद सम्बन्ध का व्यवस्थापक होता है। फलतः सभी गो-घटादि कार्य पदार्थों में अनुगतरूप से प्रतीत होनेवाले सद्रूप कारण का अपने कार्य-वर्ग के साथ भेदाभेद मानना आवश्यक है, जैसा कि अनेकान्तवादियों ने कहा है—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना ।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥

[इस पद्य में 'भिदा' पद का अर्थ भेद है। सुवर्ण और कुण्डलादि का 'सुवर्णं कुण्डलम्' और 'सुवर्णस्य कुण्डलम्'—इस प्रकार के दोनों व्यवहारों का भेदाभेद सम्बन्ध के द्वारा निर्वाह हो जाता है]।

समाधान—वह भेद पदार्थ कौन है जो कि अभेद के साथ एक आधार में रह जाता है ? यदि वह अन्योऽन्याभावात्मक है, तब जिज्ञासा होती है कि वह (अन्योऽन्याभाव) सुवर्ण और कटकादिरूप कारण और कार्य पदार्थों में रहता है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं रहता, तब कार्य और कारण का आत्यन्तिक अभेद ही स्थिर होता है, भेद नहीं। कार्य और कारण पदार्थों में यदि अन्योऽन्याभाव रहता है, तब उनमें भेद ही पर्यवसित होता है, अभेद नहीं। 'भेदाभेद या भावाभाव का विरोध नहीं—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दो विरोधी पदार्थों का सहावस्थान (एकत्र रहना) सम्भव नहीं। यदि सम्भव माना जाता है, तब कटक, कुण्डल और वर्धमानक (प्याला) आदि कार्य पदार्थों का आत्यन्तिक अभेद होना चाहिए, क्योंकि भेद और अभेद का विरोधी होता है। दूसरी बात यह भी है कि कटक जिस सुवर्ण से अभिन्न है, उसी सुवर्ण से मुकुट और कुण्डलादि अभिन्न हैं, अतः कटक, मुकुट और कुण्डलादि का

भामती

एवं कटकात्मनापि न भिद्येरन्, कटकस्य हाटकादभेदात् । तथा च हाटकमेव वस्तु सन्न कटकादयो भेदस्याप्रतिभासनात् । अथ हाटकत्वेनैवाभेदो न कटकत्वेन तेन तु भेद एव कुण्डलादेः । यदि हाटकादभिन्नः कटकः कथमयं कुण्डलादिषु नानुवर्त्तते । नानुवर्त्तते चेत्, कथं हाटकादभिन्नः कटकः । ये हि यस्मिन्ननुवर्त्तमाने व्यावर्त्तन्ते ते ततो भिन्ना एव, यथा सूत्रात् कुसुमभेदाः । नानुवर्त्तन्ते चानुवर्त्तमानेऽपि हाटकत्वे कुण्डलादयः, तस्मात्तेऽपि हाटकाद्भिन्ना एवेति । सत्तानुवृत्त्या च सर्ववस्त्वनुगमे इदमिह नेदमिदमस्मान्नेदमिदानीं नेदमिदमेवं नेदमिति विभागो न स्यात् । कस्यचित् क्वचित् कदाचित् कथञ्चिद्विवेकहेतोरभावात् । अपि च दूरात्कनकमित्यवगते न तस्य कुण्डलादयो विशेषा जिज्ञास्येरन्, कनकादभेदात्तेषां, तस्य च ज्ञातत्वात् । अथ भेदोऽप्यस्ति कनकात् कुण्डलादीनामिति कनकावगमेऽप्यज्ञातास्ते । नन्वभेदोऽप्यस्तीति किं न ज्ञाताः । प्रत्युत ज्ञानमेव तेषां युक्तं, कारणाभावे हि कार्य्याभाव औत्सर्गिकः, स च कारण-

भामती–व्याख्या

आत्यन्तिक अभेद होना चाहिए, क्योंकि 'स्वाभिन्नाभिन्नस्य स्वाभिन्नत्वम्'—ऐसा नियम लोक-प्रसिद्ध है, तब तो कटकादि के रूप में सर्वत्र 'सुवर्णम्–सुवर्णम्'– ऐसा ही भान होना चाहिए, कटकादि की कोई वस्तु-सत्ता नहीं रह जाती ।

यदि कहा जाय कि कटक में दो धर्म रहते हैं—(१) सुवर्णत्व और (२) कटकत्व । कटक का कुण्डलादि से जो अभेद माना जाता है, वह सुवर्णत्वेन ही माना जाता है, कटकत्वेन नहीं । तब यह प्रश्न उठता है कि यदि सुवर्ण से कटक अभिन्न है, तब कुण्डलादि से अभिन्न क्यों नहीं । यदि कुण्डलादि से कटक अभिन्न नहीं, तब वह सुवर्ण से भी अभिन्न न हो सकेगा, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सुवर्ण से कटकादि का भेद सिद्ध होता है—'यस्मिन् अनुवर्तमाने यद् व्यावर्तते, तत् ततो भिन्नम्' इस नियम के अनुसार जैसे पुष्पमाला के द्वितीयादि पुष्पों के स्थान पर अनुवृत्त न रहनेवाले प्रथमादि पुष्प सर्वत्रान्वयी सूत्र (धागे) से भिन्न होते हैं, वैसे ही कुण्डलादि में अनुवर्तमान सुवर्ण से व्यावर्तमान कटक का भेद न्यायसिद्ध है । कुण्डलादि में सुवर्ण की अनुवृत्ति होने के कारण यदि कुण्डलादि का सुवर्ण से अभेद माना जाता है, तब सत्तारूप कारण का 'घटः सन्', 'पटः सन्' इस प्रकार समस्त कार्यों में अनुवर्तन होने के कारण सभी कार्य सदात्मक हो जाते हैं और असत् कोई नहीं रहता, तब 'इदमिह नेदम्', 'इदमस्मान्नेदम्', 'इदमिदानीं नेदम्', 'इदमेव नेदम्'—ऐसा विभाग न हो सकेगा, क्योंकि किसी वस्तु का कहीं पर भी कोई विभाजक धर्म नहीं रह जाता । यह भी एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि दूर से 'सुवर्णमिदम्'—इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर जैसे सुवर्ण के विषय में सन्देह नहीं होता, वैसे ही कुण्डलादि का सन्देह नहीं होना चाहिए, क्योंकि सुवर्ण से कुण्डलादि का अभेद माना जाता है । यदि कहा जाता है कि सुवर्ण से कुण्डलादि का भेद भी माना जाता है, अतः सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर भी कुण्डलादि अज्ञात रह जाते हैं, फलतः उनकी जिज्ञासा होती है । तब यह भी स्मरण दिलाया जा सकता है कि कुण्डलादि से सुवर्ण का अभेद भी तो माना जाता है, अतः ज्ञात हो जाने पर कुण्डलादि की जिज्ञासा क्यों होगी ? कुण्डलादि के ज्ञान का कारण न होने पर ज्ञानरूप कार्य का अभाव हो सकता था, किन्तु सुवर्णाभेद रूप कारण का सद्भाव होने से कारणाभाव बाधित हो जाता है, ज्ञात सुवर्ण से अभिन्न होने के कारण जब कुण्डलादि भी ज्ञात ही हो जाते हैं, तब उनकी जिज्ञासा एवं जिज्ञासा-निवृत्ति के लिए उनका ज्ञान करना निरर्थक ही हो जाता है । अतः जिज्ञास्य अत एव अज्ञात कुण्डलादि ज्ञात सुवर्ण से भिन्न ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि 'यस्मिन् ज्ञाते यन्न

भामती

सत्तयाऽपोह्यते । अस्ति चाभेदे कारणसत्तेति कनके ज्ञाते ज्ञाता एव कुण्डलादय इति तज्जिज्ञासाज्ञानानि चानर्थकानि स्युः । तेन यस्मिन् गृह्यमाणे यन्न गृह्यते तत्ततो भिद्यते । यथा करभे गृह्यमाणेऽगृह्यमाणो रासभः करभात् । गृह्यमाणे च दूरतो हेम्नि न गृह्यन्ते तस्य भेदाः कुण्डलादयः, तस्मात्ते हेम्नो भिद्यन्ते । कथं तर्हि हेम कुण्डलमिति सामानाधिकरण्यमिति चेत् न ह्याधाराधेयभावे समानाश्रयत्वे वा सामानाधिकरण्यमित्युक्तम् । अथानुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवस्था च हेम्नि ज्ञाते कुण्डलादिजिज्ञासा च कथम् । न खल्वभेद ऐकान्तिकेऽनैकान्तिके चैतदुभयमुपपद्यते यत इत्युक्तम् । तस्माद् भेदाभेदयोरन्यतरस्मिन्नवहेयेऽभेदोपादानैव भेदकल्पना न भेदोपादानाऽभेदकल्पनेति युक्तम् । भिद्यमानतन्त्रत्वाद्भेदस्य भिद्यमानानां च प्रत्येकमेकत्वात्, एकाभावे चानाश्रयस्य भेदस्यायोगात्, एकस्य च भेदानधीनत्वात्, नायमयमिति च भेदग्रहस्य प्रतियोगिग्रहसापेक्षत्वादेकत्वग्रहस्य चान्यानपेक्षत्वादभेदोपादानैवानिर्वचनीयभेदकल्पनेति साम्प्रतम् । तथा च श्रुतिः—'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति तस्मात् कूटस्थनित्यतैव पारमार्थिकी न परिणामिनित्यतेति सिद्धम् । ❀ व्योमवद् ❀ इति च दृष्टान्तः परसिद्धः अस्मन्मते तस्यापि कार्यत्वेनानित्यत्वात् ।

अत्र च ❀ कूटस्थनित्यम् ❀ । इति निर्वर्त्यकर्मतामपाकरोति ❀ सर्वव्यापि ❀ । इति प्राप्य-

भामती—व्याख्या

ज्ञायते तत् ततो भिद्यते'—इस न्याय के अनुसार जैसे करभ (ऊँट) का ज्ञान हो जाने पर भी रासभ (गर्दभ) अज्ञात ही रह जाता है, अतः वह करभ से भिन्न होता है, वैसे ही कुण्डलादि सुवर्ण से भिन्न क्यों न होंगे ?

यदि सुवर्ण से कुण्डलादि भिन्न हैं, तब 'सुवर्णं कुण्डलम्'—ऐसा सामानाधिकरण्य-व्यवहार क्योंकर होगा ? आधाराधेयभाव या एकाश्रयवृत्तित्व को लेकर सामानाधिकरण्य, व्यवस्था नहीं हो सकती—यह कहा जा चुका है। अनुवृत्ति (अन्वय-व्यतिरेक) के आधार पर कारण और कार्य का भेद सम्भव नहीं, क्योंकि इस पक्ष में भी दूर से 'सुवर्णमिदं' ऐसा ज्ञान हो जाने पर कुण्डलादि की जिज्ञासा कैसे होगी ? जैसे ऐकान्तिक अभेद मानने पर कुण्डलादि की जिज्ञासा उपपन्न नहीं होती, वैसे ही अनैकान्तिक (भेदाभेद) पक्ष में भी ये दोनों (अनुवृत्ति-व्यावृत्ति-व्यवस्था एवं कुण्डलादि-जिज्ञासा) उपपन्न नहीं हो सकते। फलतः भेद और अभेद में से एक का परित्याग आवश्यक हो जाने पर भेद का परित्याग एवं अभेदाश्रित भेद का कल्पन मानना उचित है, भेदाश्रित अभेद की कल्पना युक्त नहीं, क्योंकि भेद सदैव भिद्यमान पदार्थों के आश्रित होता है, भिद्यमान पदार्थों में से प्रत्येक को भिन्न नहीं, अभिन्न या एक ही माना जाता है, क्योंकि एक पदार्थ के न होने पर भेद किसके आश्रित रहेगा ? एकात्मक वस्तु भेद के अधीन नहीं होती, क्योंकि 'अयम् अयं (घटः पटो) न भवति'—इस प्रकार प्रतीयमान भेद सदैव प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा करता है, किन्तु एकत्व-ज्ञान अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं करता, परिशेषतः अभेद के आश्रित अनिर्वचनीय भेद की कल्पना ही युक्ति-संगत है, जैसा कि श्रुति कहती है—"मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कूटस्थ-नित्यता ही पारमार्थिक है, परिणामि-नित्यता नहीं। भाष्यकार ने जो कूटस्थ-नित्यता में दृष्टान्त दिया है—'व्योमवत्, वह न्याय-मत के अनुसार है, क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्त में व्योम भी जन्य होने के कारण अनित्य ही है। उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति क्रिया के भेद से कर्मता (क्रियाश्रितता) भी चार प्रकार की होती है—(१) उत्पाद्यता, (२) प्राप्यता, (३) विकृतता तथा (४) संस्कृतता। ब्रह्मभाव में 'कूटस्थनित्य' पद के द्वारा उत्पाद्यकर्मता, 'सर्वव्यापि' विशेषण के द्वारा प्राप्यकर्मता, 'सर्वविक्रियारहितम्' ऐसा कहकर विकार्यतात्मक कर्मता और 'निरवयवम्' पद के द्वारा संस्कार्य कर्मता की निवृत्ति

यारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिःस्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' कठ० २।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अतस्तद् ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता, तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत। नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते, अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः। अपि च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।२।८)। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तैत्ति० २।९)। 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृह० ४।२।४)। 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (वाजसनेयिब्राह्मणोप० १।४।१०)। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। तथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृह० १।४।१०) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम्। यथा तिष्ठन्गायतीति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति

भामती

कर्मताम् ❀ सर्वविक्रियारहितम् ❀। इति विकार्य्यकर्मताम्, ❀ निरवयवम् ❀। इति संस्कार्य्यकर्मताम्। व्रीहीणां खलु प्रोक्षणेन संस्काराख्योंऽशो यथा जन्यते, नैवं ब्रह्मणि कश्चिदंशः क्रियाधेयोऽस्त्यनवयवत्वात्। अनंशत्वादित्यर्थः। पुरुषार्थतामाह ❀ नित्यतृप्तम् इति ❀। तृप्त्या दुःखरहितं सुखमुपलक्षयति। क्षुद्दुःखनिवृत्तिसहितं हि सुखं तृप्तिः। सुखं चाप्रतीयमानं न पुरुषार्थ इत्यत आह ❀ स्वयंज्योतिः इति ❀। तदेवं स्वमतेन मोक्षाख्यं फलं नित्यं श्रुत्यादिभिरुपपाद्य क्रियानिष्पाद्यस्य तु मोक्षस्यानित्यत्वं प्रसञ्जयति ❀ तद्यदि इति ❀। न चागमबाधः, आगमस्योक्तेन प्रकारेणोपपत्तेः। अपि च ज्ञानजन्यापूर्वजनितो मोक्षो नैयोगिक इत्यस्यार्थस्य सन्ति भूयस्यः श्रुतयो निवारिका इत्याह ❀ अपि च ब्रह्म वेद इति ❀। अविद्या-

---

भामती—व्याख्या

की गई है, क्योंकि जैसे "व्रीहीन् प्रोक्षति"—इस श्रुति से विहित व्रीहि में प्रोक्षणरूप संस्कार के द्वारा अदृष्ट उत्पन्न होता है, वैसा ब्रह्म में कोई अंश उत्पन्न नहीं होता, ब्रह्म सर्वथा निरवयव और निरंश होता है। ब्रह्मभाव में पुरुषार्थता (पुरुषाभिलाषा) प्रकट करने के लिए 'नित्यतृप्तम्'—ऐसा कहा गया है। यहाँ 'तृप्ति' पद की दुःखाभावरूप सुख में लक्षणा विवक्षित है, क्योंकि क्षुधारूप दुःख की निवृत्ति का ही नाम तृप्ति है। अप्रतीयमान सुख पुरुषाभिलषित नहीं होता, अतः सदा प्रतीयमानता प्रकट करने के लिए कहा है—"स्वयंज्योतिः"। इस प्रकार अपने अद्वैत वेदान्त के अनुसार श्रुत्यादि के द्वारा मोक्षरूप फल की नित्यता का उपपादन करके पराभिमत कर्मजन्य मोक्ष में अनित्यता का प्रसञ्जन करते हैं—"तद् यदि कर्त्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्त्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्"। क्रिया-साध्य या अनित्य मोक्षवाद में मोक्षगत नित्यता के प्रतिपादक आगम वाक्यों का विरोध इसलिए प्रसक्त नहीं होता कि मोक्षगत नित्यता के प्रतिपादक आगम वाक्यों का उस (क्रिया-साध्य) मोक्ष में तात्पर्य न होकर नित्यमोक्ष में ही होता है। केवल इतना ही नहीं, ज्ञान-जन्य अपूर्व या नियोग के द्वारा साध्य होने के कारण मोक्ष के नैयोगिकत्व-मत की निषेधिका बहुत सी श्रुतियाँ हैं, यह दिखाने के लिए कहा जाता है—"अपि च ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्येवमादयः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति"। कथित द्विविध

गम्यते । 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' (प्रश्न० ६।८) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' (छान्दो० ७।१।३) 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' (छान्दो० ७।२६।२) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति । तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या०

भामती

ह्यप्रतिबन्धापनयमात्रेण च विद्याया मोक्षसाधनत्वे न स्वतोऽपूर्वोत्पादेन चेत्यत्रापि श्रुतिमुदाहरति ॐ त्वं हि नः पिता इति ॐ । न केवलमस्मिन्नर्थे श्रुत्यादयोऽपि त्वक्षपादाचार्य्यसूत्रमपि न्यायमूलमस्तीत्याह ॐ तथा चाचार्य्यप्रणीतम् इति ॐ । आचार्य्यश्चोक्तलक्षणः पुराणे ।

'आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्य्यस्तेन सोच्यते ॥ इति ।

तेन हि प्रणीतं सूत्रं "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति" । पाठापेक्षया कारणमुत्तरं, कार्य्यं च पूर्वं, कारणापाये कार्य्यापायः, कफापाय इव कफोद्भवस्य ज्वरस्यापायः । जन्मापाये दुःखापायः प्रवृत्त्यपाये जन्मापायः, दोषापाये प्रवृत्त्यपायः, मिथ्याज्ञानापाये

भामती–व्याख्या

अविद्यारूप प्रतिबन्ध की निवर्त्तिका होने मात्र से विद्या (ब्रह्म-वेदन) को मोक्ष का साधन माना जाता है, वस्तुतः विद्या न तो स्वतः और न अपूर्वोत्पत्ति के द्वारा मोक्ष की जनिका मानी जाती है—इस रहस्य में प्रमाणभूत श्रुतियों का उदाहरण दिया जाता है—"त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" (छान्दो. ७।२६।२) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति ।" केवल श्रुतियाँ ही उक्त अर्थ में प्रमाण नहीं, अपि तु महर्षि अक्षपाद के द्वारा प्रणीत सूत्र भी प्रमाण है—"तथा चाचार्यप्रणीत न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या. सू. १।१।२) इति" । शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में आचार्य का नितान्त उन्नत स्थान है, आचार्य की शरण लिए बिना विद्या फलवती ही नहीं होती—"आचार्याद्धि विद्या विहिता साधिष्ठं प्रापयति" (छां. ४।९।३) । द्विजाति को उपनीत, संस्कृत एवं दीक्षित करने का दायित्व आचार्य पर ही है (मनु. २।१४०) निरुक्त (१।४), आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१।१।१।१४) एवं पुराणों में आचार्य का गौरव वर्णित है । कारण की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति, कारण पूर्ववृत्ति और कार्य उत्तर वृत्ति होना स्वाभाविक है, अतः पूर्व-पूर्व की निवृत्ति से उत्तरोत्तर की निवृत्ति का कथन न्याय-संगत है, किन्तु यहाँ सूत्रकार जो उत्तरोत्तर की निवृत्ति से पूर्व-पूर्व की निवृत्ति का अभिधान करता है, वह अपने सूत्र में पठित पद-क्रम को ध्यान में रख कर कहा है । दुख, जन्म, प्रवृत्ति (धर्माधर्म), दोष (राग-द्वेष) और मिथ्याज्ञान में पूर्व-पूर्व कार्य और उत्तरोत्तर कारण का निर्देश किया गया है, अतः 'उत्तरोत्तरापाये' का अर्थ 'कारणानामभावे सति'—ऐसा ही है । 'तत्पूर्वापायः' का अर्थ है—'कार्याणामभावः' । कारण का अभाव होने से वैसे ही कार्य का अभाव होता है, जैसे कफ दोष का अभाव हो जाने से कफज ज्वर का अभाव हो जाता है । अर्थात् जन्म का अभाव होने से दुःख का धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति का अभाव होने से जन्म का, दोष (राग द्वेष) का अभाव होने से प्रवृत्ति का एवं मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाने से दोष का अभाव हो जाता

सू० १।१।२) इति । मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति । न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपद्रूपम् , यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृह० ३।१।९) इति । न चाध्यासरूपम् , यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छान्दो०

भामती

दोषापायः । मिथ्याज्ञानं चाविद्या, रागाद्युपजनितक्रमेण दृष्टेनैव संसारस्य परमं निदानम् । सा च तत्त्वज्ञानेन ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेनावगतिपर्य्यन्तेन विरोधिना निवर्त्यते । ततोऽविद्यानिवृत्त्या ब्रह्मरूपाविर्भावो मोक्षः । न तु विद्याकार्य्यस्तज्जनितापूर्वकार्य्यो वेति सूत्रार्थः । तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाय इत्येतावन्मात्रेण सूत्रोपन्यासः, न त्वक्षपादसम्मतं तत्त्वज्ञानमिह सम्मतम् । तदनेनाचार्य्यान्तरसंवादेनायमर्थो दृढीकृतः ।

स्यादेतत्—नैकत्वविज्ञानं स्थितवस्तुविषयं, येन मिथ्याज्ञानं भेदावभासं निवर्त्तयन्न विधिविषयो भवेत् । अपि तु सम्पदादिरूपम् । तथा च विधेः प्रागप्राप्तं पुरुषेच्छया कर्त्तव्यं सद्विधिगोचरो भविष्यति । यथा वृत्त्यनन्तत्वेन मनसो विश्वदेवसाम्याद् विश्वान् देवान् मनसि सम्पाद्य मन आलम्बनमविद्यमानसमं कृत्वा प्राधान्येन सम्पाद्यानां विश्वेषामेव देवानामनुचिन्तनं तेन चानन्तलोकप्राप्तिः । एवं चिद्रूपसाम्याज्जीवस्य ब्रह्मरूपतां सम्पाद्य जीवमालम्बनमविद्यमानसमं कृत्वा प्राधान्येन ब्रह्मानुचिन्तनं तेन चामृतत्वफलप्राप्तिः । अध्यासे त्वालम्बनस्यैव प्राधान्येनारोपिततद्भावस्यानुचिन्तनं, यथा मनो ब्रह्मेत्यु-

भामती-व्याख्या

है । मिथ्या ज्ञान का नाम ही अविद्या है, वह (अविद्या) जीव में राग-द्वेषरूप दोष को, दोष प्रवृत्ति को प्रवृत्ति जन्म को और जन्म विविध दुःखों को उत्पन्न करता है । उक्त अविद्या जीवब्रह्माभेद-साक्षात्काररूप तत्त्वज्ञान के द्वारा निवृत्त (नष्ट) की जाती है, क्योंकि विद्या अविद्या की सर्वथा विरोधिनी है । अविद्या की निवृत्ति से ब्रह्मभावरूप मोक्ष का आविर्भाव हो जाता है । मोक्ष न तो विद्या का कार्य होता है और न अविद्या-जनित अपूर्व या नियोग का फल । तत्त्व-ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश होता है— इतना ही दिखाने के लिए भाष्यकार ने यहाँ न्याय-सूत्र उद्‌धृत किया है, न कि अक्षपाद-सम्मत तत्त्व-ज्ञान और मोक्ष से सम्मति प्रकट करने के लिए, क्योंकि आगे चल कर तर्कपाद में न्याय-मत का भी पूर्णतया निराकरण किया गया है । यहाँ अन्यमतावलम्बी आचार्य का संवाद दिखा कर अपने सिद्धान्त का दृढीकरणमात्र विवक्षित है ।

शङ्का—यह जो कहा गया कि यहाँ 'तत्त्वज्ञान' पद से जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान विवक्षित है, वह संगत नहीं, क्योंकि वह एकत्व-विज्ञान केवल यथावस्थितवस्तुविषयक नहीं कि वह मिथ्या का निवर्तक होकर विधि का विषय न होता । वस्तु-स्थिति यह है कि यहाँ एकत्व-ज्ञान सम्पदादिरूप है । अन्य वस्तु में अन्यरूपता का सम्पादन पुरुष की इच्छा पर निर्भर है, अतः विधि के पूर्व कर्त्तव्यत्वेन अप्राप्त होकर सम्पद्रूप ज्ञान विधेय हो जाता है, जैसे कि मन की वृत्तियाँ अनन्त हैं और विश्वदेव भी अनन्त हैं, अतः अनन्तत्व की समानता को लेकर मन में विश्वदेवरूपता का सम्पादन किया जाता है । सम्पादन का अर्थ है—आलम्बनीभूत मन को अविद्यमान-जैसा करके प्रधानतः आरोप्यमान विश्वदेव का अनुचिन्तन । उससे अनन्तलोक की प्राप्ति होती है । उसी प्रकार जीव और ब्रह्म के चिद्रूपत्वात्मक साम्य को लेकर जीव में ब्रह्मरूपता का सम्पादन अर्थात् आलम्बनीभूत जीव की उपेक्षा कर प्रधानतः ब्रह्मरूपता का अनुचिन्तन किया जाता है, उस अनुचिन्तन से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। यद्यपि 'सम्पद्' और 'अध्यास'—दोनों ही आरोप-ज्ञान हैं, तथापि सम्पद् में आरोप्य एवं अध्यास में अधिष्ठान वस्तु का प्राधान्य विवक्षित होता है, जैसे "मनो ब्रह्मेत्युपा

३।१८।१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छान्दो० ३।१९।१) इति च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः । नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तं 'वायुर्वाव संवर्गः' (छान्दो० ४।३।१) 'प्राणो वाव संवर्गः' (छान्दो० ४।३।३) इतिवत् । नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्ग-संस्काररूपम् । संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० १।४।१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (मुण्ड० २।२।८) इति चैवमादीन्यविद्या-

भामती

पासीतादित्यो ब्रह्मेत्यादेश एवं जीवमब्रह्म ब्रह्मेत्युपासीतेति । क्रियाविशेषयोगाद्वा, यथा वायुर्वाव संवर्गः प्राणो वाव संवर्गः । बाह्या खलु वायुदेवता वह्न्यादीन् संवृङ्क्ते । महाप्रलयसमये हि वायुर्वह्न्यादीन् संवृज्य संहृत्यात्मनि स्थापयति । यथाह द्रविडाचार्य्यः—'संहरणाद्वा संवरणाद्वा सात्मीभावाद्वायुः संवर्गः' इति । अध्यात्मं च प्राणः संवर्ग इति । स हि सर्वाणि वागादीनि संवृङ्क्ते, प्रयाणकाले हि स एव सर्वाणी-न्द्रियाणि संगृह्योत्क्रामतीति । सेयं संवर्गदृष्टिर्वायौ प्राणे च दशाशागतं जगद्दर्शयति यथा, एवं जीवात्मनि बृंहणक्रियया ब्रह्मदृष्टिरमृतत्वाय फलाय कल्पत इति । तदेतेषु त्रिष्वपि पक्षेष्वात्मदर्शनोपासनादयः प्रधान-कर्माण्यपूर्वविषयत्वात् स्तुतशस्त्रवत् ।

भामती-व्याख्या

(छां. ३।१८।१) यहाँ पर ब्रह्मरूपता का जिसमें आरोप किया है, ऐसे मन का अनुचिन्तन जब किया जाता है—'यह जो हमारा मन है, वही ब्रह्म है' । तब इसे अध्यासानुचिन्तन कहते हैं और जब मन की उपेक्षा कर ब्रह्म का अनुचिन्तन किया जाता है—यह हमारा मन नहीं अपितु ब्रह्म है, ऐसे ब्रह्मप्रधानक अनुचिन्तन को सम्पत् कहा जाता है, जैसे अब्रह्मभूत जीव के लिए कहा गया है—"ब्रह्मेत्युपासीत" ।

अथवा क्रिया-विशेष के सम्बन्ध से ब्रह्म-ज्ञान में विधेयता का निर्वाह हो सकता है, जैसे "वायवंवि संवर्गः, प्राणो वाव संवर्गः" (छां. ४।३।१-३) । अर्थात् बाह्य (अन्तरिक्षस्थ) वायु देवता प्रलय के समय अग्न्यादि पदार्थों को अपने में संवर्जित या उपसंहृत कर लेता है, जैसा द्रविडाचार्य ने कहा है —"संहरणाद्वा संवरणाद्वा सात्मीभावाद् वायुः संवर्गः" । बाह्य वायु के समान ही शरीर के अन्दर की प्राणसंज्ञक वायु भी संवर्ग है, क्योंकि वह वागादि सभी इन्द्रियों का संवर्जन करती है । अर्थात् प्राण मृत्यु के समय सभी इन्द्रियों को अपने में समेट कर शरीर से उत्क्रमण करता है । बाह्य वायु और प्राण में यह संवर्ग दृष्टि दसों दिशाओं में व्याप्त अन्नादत्व का दर्शन प्रस्तुत करती है ।

उसी प्रकार जीवात्मा में बृंहण (शरीर को संवर्धित करना) क्रिया को देख कर जीव में ब्रह्म-दृष्टि अमृतत्वरूप फल प्रदान करती है । सम्पद्, अध्यास और क्रिया-विशेष के द्वारा जीव में ब्रह्म-दृष्टि'--ये तीनों उपासनाएँ अपूर्वविषयक होने के कारण वैसे ही प्रधान कर्म मानी जाती हैं, जैसे स्तुत और शास्त्र [मीमांसा-दर्शन के द्वितीय अध्याय में कहा गया है—"स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद् देवताभिधानत्वात्" (जै. सू. २।१।१३) । "आज्यैः स्तुवते", "प्रयुगं शंसति"—इत्यादि विधि वाक्यों के द्वारा 'स्तुत' और शास्त्र का विधान किया गया है । साम-गान-युक्त मन्त्रों के द्वारा देवता के गुण-गान को स्तोत्र और अप्रगीत मंत्रों के द्वारा देवता के गुणों का अभिधान शस्त्र कहलाता है । उसके विषय में पूर्व पक्षी ने कहा है कि वे दोनों प्रधान कर्म नहीं, अपितु गुणकर्म हैं, क्योंकि वे देवताभिधान के द्वारा वैसे ही

निवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन्। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन्। तस्मान्न संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्। अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि? प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा। एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न

भामती

आत्मा तु द्रव्यं कर्मणि गुण इति संस्कारो वाऽऽत्मनो दर्शनं विधीयते। यथा दर्शपूर्णमासप्रकरणे पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवतीति समाम्नातं प्रकरणिना च गृहीतमुपांशुयागाङ्गभूताज्यद्रव्यसंस्कारतयाऽवेक्षणं गुणकर्म विधीयते, एवं कर्तृत्वेन क्रत्वङ्गभूते आत्मन्यात्मा वा अरे द्रष्टव्य इति दर्शनं गुणकर्म विधीयते। 'यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत' इति न्यायात्, अत आह ❀ न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम् इति ❀। कुतः, ❀ सम्पदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञाने इति ❀। दर्शपूर्णमासप्रकरणे हि समाम्नातमाज्यावेक्षणं तदङ्गभूताज्यसंस्कार इति युज्यते। न चात्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादि कस्यचित् प्रकरणे समाम्नातम्। न चानारभ्याधीतमपि यस्य पर्णमयी जुहूर्भवतीत्यव्यभि-

भामती—व्याख्या

देवता में संस्कार उत्पन्न करते हैं, जैसे 'याज्या' मन्त्र, अत एव याज्या मन्त्र (ऋग्विशेष) का उच्चारण गुणकर्म माना गया है। भाष्यकार कहते हैं—"याज्या देवतोपलक्षणार्था" (जै. सू. २।३।१५)। इस पूर्व पक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्त स्थापित किया गया है- "अपि वा श्रुतिसंयोगात् प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्ति विदध्यातां" (जै. सू. २।१।२२)। यहाँ 'श्रुति' पद शक्ति वृत्ति का बोधक है, अतः 'स्तौति' और 'शंसति'—इन दोनों धातुओं की शक्ति स्तुतिरूप अर्थ (देवतागत गुणों के प्रकाशन) में है। गुण-प्रकाशन का कोई दृष्ट फल नहीं, अतः क्रियोत्पत्ति (अपूर्व का उत्पादन) ही मुख्य फल है। अपूर्वार्थक कर्म प्रधान कर्म होता है]।

अथवा आत्म-दर्शन को गुण कर्म कहा जा सकता है, क्योंकि दर्शनरूप कर्म (क्रिया) का विषयीभूत आत्मा कर्मों का अङ्ग है, उसी का दर्शनरूप संस्कार 'द्रष्टव्यः' पद के द्वारा विहित है। जैसे दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित "पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति"—इस वाक्य के द्वारा जिस आज्य (घृत) द्रव्य का दर्शनरूप संस्कार विहित है, वह आज्य दर्शपूर्णमास-घटक उपांशुयाज नाम के कर्म की हवि है—"सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्" (तै. ब्रा. ३।३।५।५)। 'ध्रुवा' नाम के पात्र में रखा हुआ घृत साधारण द्रव्य होने के कारण उपांशुयाज का द्रव्य माना गया है। यजमान की पत्नी के द्वारा उसका निरीक्षण उस आज्य का संस्कार गुणकर्म है। वैसे ही सभी कर्मों में अपेक्षित कर्त्ता आत्मा द्रव्य है, उसी का "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृह० २।४।५) इस अनारभ्याधीत वाक्य के द्वारा दर्शनरूप संस्कार कर्म विहित है, ऐसे संस्कार कर्मों को गुण कर्म कहा गया है—"यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत" (जै. सू. २।१।८)। अर्थात् जिन संस्कार कर्मों के द्वारा कोई द्रव्य संस्कार्यत्वेन आकाङ्क्षित होता है, उन कर्मों को गुण कर्म कहते हैं।

समाधान—इस प्रकार आशङ्कित आत्मदर्शन की सम्पदादिरूपता का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्पद्रूपम्"। जीव-ब्रह्म का एकत्व-दर्शन सम्पदादिरूप नहीं माना जा सकता क्योंकि "सम्पदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने "तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) इत्यादि पदसन्दर्भः पीड्येत"। आशय यह है कि दर्शपूर्णमास के प्रकारण में पठित आज्यावेक्षण दर्शपूर्णमास कर्म के अङ्गभूत आज्य का संस्कार कर्म है—यह तो युक्ति-संगत है, किन्तु "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"—यह वाक्य किसी भी कर्म के प्रकरण में पठित नहीं, अतः कर्माङ्गभूत द्रव्य का संस्कार क्योंकर होगा?

कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम्। न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केन० १।३) इति विदिक्रिया-

भामती

चरितक्रतुसम्बन्धजुहूद्वारेण जुहूरिदं क्रतुं स्मारयद्वाक्येन यथा पर्णतायाः क्रतुशेषभावमापादयति, एवमात्माव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धो येन तद्दर्शनं क्रत्वङ्गं सदात्मानं क्रत्वर्थं संस्कुर्यात्। तेन यद्ययं विधिस्तथापि सुवर्णं भार्य्यमितिवद् विनियोगभङ्गेन प्रधानकर्मत्वापूर्वविषयत्वाच्च गुणकर्मेति स्थवीयस्तयैतद्दूषणमनभिधाय सर्वपक्षसाधारणं दूषणमुक्तम्, तदतिरोहितार्थतया न व्याख्यातम्। किञ्च ज्ञानक्रियाविषयत्वविधानमस्य बहुश्रुतिविरुद्धमित्याह ॐ न च विदिक्रिया इति।

भामती-व्याख्या

यद्यपि कर्म के प्रकरण में अपठित (अनारभ्याधीत) वाक्य के द्वारा विहित पदार्थ भी कर्म का अङ्ग हो सकता है, जैसे "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति" (तै. सं. ३।५।७।२) इस वाक्य के द्वारा जिस 'जुहू' पात्र के उद्देश्य से पर्णता ["पलाशे किंशुकः पर्णो वातपोथः"—इस अमरकोष के अनुसार यहाँ पलाश वृक्ष का नाम पर्ण है, अतः जुहू बनाने के लिए पलाश की लकड़ी] का विधान किया गया है। जुहू के बिना कोई याग सम्पन्न नहीं हो सकता, अतः जुहू का याग से अव्यभिचरित सम्बन्ध होने के कारण जुहू के प्रकृतिभूत पर्ण (पलाश वृक्ष के काष्ठ) में यागाङ्गत्व पर्यवसित हो जाता है। तथापि आत्मा का याग के साथ वैसा अव्यभिचरित सम्बन्ध न होने के कारण आत्मदर्शन में यागाङ्गत्व प्राप्त नहीं होता। अतः "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"—यह वाक्य यदि विधि-वाक्य है, तब इसके द्वारा विहित दर्शन को वैसे ही गुण-कर्म न मानकर प्रधान कर्म माना जायगा, जैसे—सुवर्ण-धारण। ["तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्, सुवर्ण एव भवति, दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति" (तै. ब्रा. २।२।४।५) इस अनारभ्याधीत वाक्य के द्वारा विहित शोभन वर्णवाले सुवर्ण का धारण (कड़ा, मुद्रादि का हाथ और कान आदि में पहनना) गुण कर्म है? अथवा प्रधान कर्म? ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्षी ने कहा है—"अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात्" (जै. सू. ३।४।२५)। अर्थात् इस कर्म का कोई विशेष द्रव्य (हवि) और देवता निर्दिष्ट नहीं, अतः प्रधान कर्म न होकर सुवर्ण-धारण सभी कर्मों का शेष (अङ्गभूत गुण कर्म) है। सिद्धान्ती ने उस पूर्व पक्ष का खण्डन करते हुए कहा है—"अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात्" (जै. सू. ३।४।२६)। अर्थात् सुवर्ण-धारण न तो किसी कर्म के प्रकरण में पठित है और न इसका कर्म के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध है, अतः यह गुण कर्म न होकर पुरुष का धर्मभूत प्रधान कर्म है।] किसी कर्म के साथ सुवर्ण-धारण का विनियोग न होकर पुरुष के साथ विनियोग (अङ्गाङ्गिभाव) होता है। उसका फल परमापूर्व के द्वारा भ्रातृव्य (शत्रु) की दुर्वर्णता होती है। इसी प्रकार "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"—इस वाक्य से विहित आत्मदर्शन गुण कर्म न होकर प्रधान कर्म ही होगा—यह दोष अत्यन्त स्थूल और प्रसिद्ध होने के कारण भाष्यकार के द्वारा उद्भावित न होकर "तत्त्वमसि"—इत्यादि वाक्यों का जो विरोधोद्भावन हुआ है, वह नितान्त स्पष्ट है कि उपासनादि में उपास्य, उपासक और उपासना का भेद अनिवार्य है, किन्तु "तत्त्वमसि"—इत्यादि वाक्य सर्वथा भेद का संहार कर रहे हैं, अतः एकत्व-ज्ञान को सम्पदादिरूप न मानकर तत्त्व-साक्षात्कारात्मक ही मानना आवश्यक है।

'ब्रह्म वेद'—इत्यादि वाक्यों के द्वारा विदि (वेदन) क्रिया की कर्मता ब्रह्म में प्रतिपादित है। क्रिया का विधान होता है, ज्ञान का नहीं, अतः विदि क्रिया की विधि के द्वारा ब्रह्म का कार्यानुप्रवेश हो जायगा'—ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि ब्रह्म को

कर्मत्वप्रतिषेधाद्, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' (बृह॰ २।४।१३) इति च। तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (केन॰ १।४) इति। अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्,—न; अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। न हि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि ? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति। तथा च शास्त्रम्—'यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं

भामती

शङ्कते ❀ अविषयत्वे इति ❀। ततश्च शान्तिकर्मणि वेतालोदय इति भावः। निराकरोति ❀न❀। कुतः ? ❀ अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिविषयत्वाद् इति ❀। सर्वमेव हि वाक्यं नेदन्तया वस्तुभेदं बोधयितुमर्हति, न हीक्षुक्षीरगुडादीनां मधुररसभेदः शक्य आख्यातुम्, एवमन्यत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यम्। तेन प्रमाणान्तरसिद्धे लौकिक एवार्थे यदा गतिरीदृशी शब्दस्य, तदा केव कथा प्रत्यगात्मन्यलौकिके ? अदूरविप्रकर्षेण तु कथञ्चित् प्रतिपादनमिहापि समानम्। त्वम्पदार्थो हि प्रमाता प्रमाणाधीनया प्रमित्या प्रमेयं घटादि व्याप्नोतीत्यविद्याविलसितम्। तदस्याविषयीभूतोदासीनतत्पदार्थप्रत्यगात्मसामानाधिकरण्येन प्रमातृत्वाभावाद् तन्निवृत्तौ प्रमाणादयस्तिस्रो विधा निवर्त्तन्ते। न हि पक्तुरवस्तुत्वे पाक्यपाकपचनानि वस्तुसन्ति भवितुमर्हन्तीति। तथा हि—

> विगलितपरागवृत्त्यर्थत्वं पदस्य तदस्तदा
> त्वमिति हि पदेनैकार्थत्वे त्वमित्यपि यत्पदम्।
> तदपि च तदा गत्वैकार्थ्यं विशुद्धचिदात्मतां
> त्यजति सकलान् कर्तृत्वादीन् पदार्थमलान्निजान्॥

भामती–व्याख्या

विदि क्रिया का कर्म मानने पर "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (केन. १।३) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म में विदि क्रिया की कर्मता का निषेध कर दिया गया है। 'ब्रह्म यदि किसी ज्ञान का विषय नहीं, तब सर्वथा अज्ञेय ब्रह्म में शास्त्रयोनित्व (शास्त्र-प्रतिपादितत्व) क्योंकर सम्भव होगा—यह शङ्का की जा रही है—"अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिः"। छोटे-से भूत को भगाने के लिए शान्ति कर्म आरम्भ किया था, देखते क्या हैं कि सामने उससे बड़ा खबीस मुँह फाड़े खड़ा है। चिन्ता की बात नहीं, उसे भी भगाने का मन्त्र पढ़ दिया गया है—"न, अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिविषयत्वात्"। जैसे इक्षु (ईख) क्षीर (दूध) और गुड़ादि के माधुर्य का अन्तर किसी भी वाक्य से नहीं कहा जा सकता, वैसे ही लोकोत्तर आनन्द की उत्ताल तरङ्गोंवाले उस महासागर (भूमा तत्त्व) का यथावत् प्रतिपादन किसी भी वाक्य से नहीं किया जा सकता, केवल (अदूरविप्रकर्ष) लक्षणादि के द्वारा ब्रह्म के सूचक शास्त्रों को ब्रह्म में प्रमाण मान कर उसे शास्त्रप्रमाणक कह दिया गया है। यह जो कहा जाता है कि त्वम्पदार्थभूत जीव प्रमाता है, वह प्रमाणाधीन प्रमिति के माध्यम से घटादि प्रमेय वर्ग को व्याप्त करता है। वह कथन पूर्णतया अविद्या-विलसित है, क्योंकि 'अहं घटं जानामि'—यहाँ अस्मत्पदार्थभूत प्रत्यगात्मा और शुद्ध चैतन्य का सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है, किन्तु शुद्ध चैतन्य किसी भी प्रमा का विषय नहीं होता, तब उसमें प्रमातृत्व क्योंकर होगा ? प्रमाता के विना प्रमाता, प्रमाण और प्रमा—ये तीनों वैसे ही अनुपपन्न हो जाते हैं, जैसे पक्ता (पाचक पुरुष) के विना पाक्य, पाक और पचन का वास्तविक सद्भाव नहीं रहता। इस तथ्य का प्रकाश इस श्लोक के द्वारा किया जा सकता है—

विजानतां विज्ञातमविजानताम्' (केन० २।३) 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः', 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृह० ३।४।२) इति चैवमादि। अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः। यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च; तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। न हि दध्यादि विकार्यं उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं

भामती

इत्यान्तरश्लोकः। अत्रैवार्थे श्रुतीरुदाहरति ● तथा च शास्त्रं, यस्यामतम् इति ●। प्रकृतमुपसंहरति ● अतोऽविकल्पित इति ●। परपक्षे मोक्षस्यानित्यतामापादयति—●यस्य तु इति ●। कार्य्यमपूर्वं यागादिव्यापारजन्यं तमपेक्षते मोक्षः स्वोत्पत्ताविति। ●तयोः पक्षयो. इति● निर्वर्त्यविकार्य्ययोः। क्षणिकं ज्ञानमात्मेति बौद्धाः। तथा च विशुद्धविज्ञानोत्पादो मोक्ष इति निर्वर्त्यो मोक्षः। अन्येषां तु संसाररूपावस्थामपहायया कैवल्यावस्थावाप्तिरात्मनः स मोक्ष इति विकार्यो मोक्षः, यथा पयसः पूर्वावस्थापहानेनावस्थान्तरप्राप्तिर्विकारो दधीति। तदेतयोः पक्षयोरनित्यता मोक्षस्य, कार्य्यत्वाद्, दधिघटादिवत्। अथ

भामती–व्याख्या

विगलितपराग्वृत्त्यर्थत्वं पदस्य तदस्तदा
त्वमिति हि पदेनैकार्थत्वे त्वमित्यपि यत्पदम्।
तदपि च तदा गत्वैकार्थ्यं विशुद्धचिदात्मतां
त्यजति सकलान् कर्तृत्वादीन् पदार्थमलान् निजान्॥

['तत् त्वमसि'—यहाँ पर प्रत्यक्पदार्थ की परावत्वेन वृत्तिता (विद्यमानता) सम्भव नहीं, तब तत्पद की उसमें वृत्ति (शक्ति) नहीं हो सकती, क्योंकि त्वम्पदार्थ तत्पदार्थ से अभिन्न या विशुद्ध होकर रह जाता है। तब आत्मा अपने में आरोपित सकल कर्तृत्वादि (प्रमातृत्वादि) धर्मों का परित्याग कर डालता है। इसी अर्थ (ब्रह्मगत फल-व्याप्यताभाव के प्रदर्शन) में श्रुति प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—"यस्यामतं तस्य मतम्, मतं यस्य न वेद सः" (केनो. २।३)। [जिस व्यक्ति को 'ब्रह्म अमतम्' (ज्ञानाविषयः) ऐसा निश्चय है, उस व्यक्ति को ही मतम् (सम्यक् निश्चय) है। उसके विपरीत जिस व्यक्ति को 'ब्रह्म मतम्' (ज्ञानस्य विषयः) ऐसा निश्चय होता है, वह ब्रह्म का वस्तुस्वरूप नहीं समझ पाया]। प्रकरण का उपसंहार किया जाता है—"अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः"।

परकीय पक्ष में मोक्ष की अनित्यतापत्ति का उद्भावन करते हैं—"यस्य तूत्पाद्यो मोक्षः, तस्य कार्यम् अपेक्षते"। यहाँ 'कार्य' पद से यागादि-जन्य अपूर्व विवक्षित है, मोक्ष अपनी उत्पत्ति में उसी अपूर्व को अपेक्षा करता है। 'तयोः पक्षयोः" का अर्थ है—'निर्वर्त्यविकार्यपक्षयोः। 'मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्, न हि दध्यादि विकार्यमुत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्ट लोके"। निर्वर्त्य (उत्पाद्य) और विकार्य पक्षों का उदाहरण यह है—(१) बौद्धगण क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानते हैं, उनके पक्ष में विज्ञान-सन्तति में उत्पद्यमान विशुद्ध विज्ञानक्षणों को मोक्ष माना जाता है, अतः वह मोक्ष निर्वर्त्य है। [चित्त या विज्ञान में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण– ये दो प्रकार के मल माने जाते हैं, उनकी निवृत्ति ही चित्त की विशुद्धता है—"धर्माभावोपलब्धिश्च निःक्लेशविशुद्धता"। (महायान सू. १३।१६)। बौद्धनिकायों के विविध निर्वाणवाद हैं, उनका दिग्दर्शन भूमिका में देखा जा सकता है]।

अन्य आचार्यों के मत में संसाररूप अवस्था छोड़ कर कैवल्यावस्था को आत्मा वैसे ही प्राप्त करता है, जैसे सुवर्ण पिण्डावस्था को छोड़ कर कटकादि में विकृत होता है। यह अवस्थान्तर-प्राप्तिरूप मोक्ष वैसे ही विकार्य है, जैसे दूध का अपनी पूर्वावस्था को छोड़ कर

लोके । न चाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा; स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात् । स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वं, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः, आकाशस्येव । नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत । संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा ? न तावद् गुणाधानेन संभवति; अनाधेयातिशय-

भामती

'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इति श्रुतेर्ब्रह्मणो विकृताविकृतदेशभेदावगमादविकृतदेशब्रह्मप्राप्तिरुपासनाविधिकार्य्या भविष्यति । तदा च प्राप्यकर्मता ब्रह्मण इत्यत आह ॐ न चाप्यत्वेनापि इति ॐ । अन्यदन्येन विकृतदेशपरिहाण्याऽविकृतदेशं प्राप्यते । तद्यथोपवेलं जलधिरतिबहलचपलकल्लोलमालापरस्परास्फालनसमुल्लसत्फेनपुञ्जस्तबकतया विकृतः, मध्ये तु प्रशान्तसकलकल्लोलोपसर्गः स्वस्थः स्थिरतयाऽविकृतस्तस्य मध्यमविकृतं पौतिकः पोतेन प्राप्नोति । जीवस्तु ब्रह्मैवेति किं केन प्राप्यतां, भेदाश्रयत्वात् प्राप्तेरित्यर्थः । अथ जीवो ब्रह्मणो भिन्नस्तथापि न तेन ब्रह्माप्यते, ब्रह्मणो विभुत्वेन नित्यप्राप्तत्वादित्याह ॐ स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि इति ॐ । संस्कार्य्यकर्मतामपाकरोति ॐ नापि संस्कार्य्य इति ॐ । द्वयी हि संस्कार्य्यता, गुणाधानेन वा यथा बीजपूरकुसुमस्य लाक्षारसावसेकस्तेन हि तत् कुसुमं संस्कृतं लाक्षासवर्णं फलं प्रसूते । दोषापनयेन वा यथा मलिनमादर्शतलं निघृष्टमिष्टकाचूर्णेनोद्भासितभास्वरत्वं

भामती–व्याख्या

अवस्थान्तर की प्राप्ति दधिरूप विकार है । इन दोनों पक्षों में घट और दधि के समान मोक्ष में अनित्यत्व सिद्ध होता है ।

शङ्का—मोक्ष यदि उत्पाद्य या विकार्य नहीं, तब प्राप्य तो अवश्य है, क्योंकि "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वत. पृष्ठेषु" (छां. ३।१३।७) इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध पर आत्मा के दो (विकृत और अविकृत) देश प्रतीत होते हैं। उनमें अविकृत देश की प्राप्ति उपासना-विधि की देन है, वही मोक्ष है, अतः मोक्ष में प्राप्य कर्मता स्थिर होती है ।

समाधान—भाष्यकार ने उक्त पक्ष का खण्डन करने के लिए कहा है—"न चाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा, स्वात्मरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्" । तात्पर्य यह है कि अन्य वस्तु अन्य साधन के द्वारा विकृत देश को छोड़ कर अविकृत देश को प्राप्त होती है, जैसे जलधि (महासागर) अपने तट के समीप अत्यन्त चपल और उत्ताल तरङ्गावलियों के परस्पर आस्फालन (टकराहट) से फेनिल अवस्था में विकृत होता है और वही मध्य भाग में जा कर सकल कल्लोल (उछल-कूद) को छोड़ कर नितान्त प्रशान्त होता है । नाविक अपने नौका यान के द्वारा उसी प्रशान्त क्षेत्र को प्राप्त करता है, किन्तु जीव तो ब्रह्मरूप ही है, अतः वह किस अन्य पदार्थ को प्राप्त करेगा ? प्राप्ति क्रिया सदैव प्रापक और प्राप्य के भेद की अपेक्षा करती है, प्रकृत में प्रापक (जीव) और प्राप्य (ब्रह्म) का भेद न होने के कारण प्राप्ति सम्भव नहीं, फलतः मोक्ष में प्राप्य कर्मता क्योंकर बनेगी ? यदि जीव को ब्रह्म से भिन्न भी मान लिया जाय, तब भी वह प्राप्य नहीं हो सकता, क्योंकि लोक में प्राप्य वही माना जाता है, जो कभी अप्राप्त हो, ब्रह्म तो विभु होने के कारण सदैव प्राप्त है—"स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्" ।

मोक्ष में संस्कार्यकर्मता का अपाकरण किया जाता है—"नापि संस्कार्यो मोक्षः" । संस्कार्य कर्मता दो प्रकार की होती है—(१) गुण-विशेष की उत्पत्ति के द्वारा जैसे—

कुसुमे बीजपूरादेः यल्लाक्षाद्युपसिच्यते ।
तद्रूपस्यैव संक्रान्तिः फले तस्येति वासना ॥ (प्र. वा. भा. पृ. ३५८)

बीजपूर (विजौरा निम्बू) के फल को लाख के रस (पानी) से तर कर देने पर विजौरा

ब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन; नित्य शुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य।

स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्,—न; क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया

भामती

संस्कृतं भवति। तत्र न तावद् ब्रह्मणि गुणाधानं सम्भवति। गुणो हि ब्रह्मणः स्वभावो वा भिन्नो वा? स्वभावश्चेत् कथमाधेयस्तस्य नित्यत्वात्। भिन्नत्वे तु कार्य्यत्वेन मोक्षस्यानित्यत्वप्रसङ्गः। न च भेदे धर्मधर्मिभावो गवाश्ववत्। भेदाभेदश्च व्युदस्तो विरोधात्। तदनेनाभिसन्धिनोक्तम् ॐ अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य ॐ। द्वितीयं पक्षमपक्षिपति ॐ नापि दोषापनयनेन इति ॐ। अशुद्धिः सती दर्पणे निवर्त्तते, न तु ब्रह्मणि असती निवर्त्तनीया, नित्यनिवृत्तत्वादित्यर्थः।

शङ्कते ॐ स्वात्मधर्म एव इति ॐ। ब्रह्मस्वभाव एव मोक्षोऽनाद्यविद्यामलावृत उपासनादिक्रिययाऽऽत्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, न तु क्रियते। एतदुक्तं भवति—नित्यशुद्धत्वमात्मनोऽसिद्धं, संसारावस्थायामविद्यामलिनत्वादिति। शङ्कां निराकरोति ॐ न ॐ। कुतः? ॐ क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः ॐ। नाविद्या ब्रह्माश्रया, किन्तु जीवे, सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तं, तेन नित्यशुद्धमेव ब्रह्म। अभ्युपेत्य त्वशुद्धि क्रियासंस्कार्य्यत्वं दूष्यते। क्रिया हि ब्रह्मसमवेता वा ब्रह्म संस्कुर्य्यात्, यथा घर्षणमिष्टकाचूर्णसंयोग-

भामती–व्याख्या

का फल अन्दर से लाल हो जाता है। यहाँ फूल पर लालिमात्मक गुण का आधान किया जाता है, वह फूल की लालिमा फल के रस में परिणत हो जाती है। (२) दूसरा संस्कार दोषापनथन के द्वारा किया जाता है, जैसे मलिन दर्पण-तल पर ईंट का चूर्ण रगड़ने से दर्पण संस्कृत अर्थात् निर्मल हो जाता है। ब्रह्म पर गुणाधानरूप संस्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ब्रह्म पर जो गुण उत्पन्न किया जाता है, वह क्या ब्रह्म का स्वरूप है? अथवा ब्रह्म से भिन्न? यदि स्वभाव है, तब वह आधेय नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य ब्रह्म का स्वरूप भी नित्य ही है। संस्कार का ब्रह्म से भिन्न और उत्पाद्य मानने पर मोक्ष में अनित्यत्वापत्ति होती है। अत्यन्त भेद मानने पर संस्कार और ब्रह्म का वैसे ही धर्मधर्मिभाव नहीं बन सकता, जैसे गौ और अश्व का। भेदाभेद-पक्ष का निरास पहले ही किया जा चुका है, क्योंकि वह परस्पर-विरुद्ध है—इस आशय को मन में रखकर कहा है—"अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य"। संस्कार के दोषापनयनरूप द्वितीय कल्प का निरास किया जा रहा है—"नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य"। आशय यह है कि दृष्टान्त-स्थल पर मल या अशुद्धि वस्तुतः होती है, तब उसकी निवृत्ति हो सकी, किन्तु ब्रह्म पर अशुद्धि की सत्ता तीनों कालों में भी नहीं, तब नित्य असत् या निवृत्त पदार्थ की निवृत्ति क्योंकर होगी?

शङ्का-सूचक शब्द न होने पर भी यह शङ्का-भाष्य है—"स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः"। यद्यपि मोक्ष ब्रह्म-स्वभाव है, तथापि वह अनादि अविद्यारूप मल से आच्छन्न है, उपासनादि क्रिया के द्वारा आत्मा के संस्कृत हो जाने पर वह अभिव्यक्त हो जाता है। शङ्कावादी का अभिप्राय यह है कि आत्मा में नित्यशुद्धत्व सिद्ध नहीं, क्योंकि संसारावस्था में वह अविद्यारूप मल से युक्त होता है। उक्त शङ्का का निराकरण किया जाता है—"न"। किसी भी क्रिया के द्वारा ब्रह्म का संस्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि "क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः"। अविद्या भी ब्रह्म के आश्रित नहीं रहती, किन्तु जीव के आश्रित रहती है। अविद्या अनिर्वचनीय है—यह कहा जा चुका है। फलतः ब्रह्म नित्य शुद्ध ही है। ब्रह्म में अविद्यारूप अशुद्धि को मानकर क्रिया के द्वारा संस्कार्यत्व का निरास किया गया है, क्योंकि क्या क्रिया ब्रह्म के

विक्रियेत, अनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। 'अविकार्योऽयमुच्यते' (भ. गी. २।२५) इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम्। तस्माच्च स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः संभवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयाऽऽत्मा संस्क्रियते। ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः, न; देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम्। तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदविद्ययात्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम्। यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलम्, अहमरोग इति बुद्धिरुत्पद्यते। एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना अहं

भामती

विभागप्रचयो निरन्तर आदर्शतलसमवेतोऽन्यसमवेतो वा। न तावद् ब्रह्मधर्मः क्रिया, तस्याः स्वाश्रयविकारहेतुत्वेन ब्रह्मणो नित्यत्वव्याघातात्। अन्याश्रया तु कथमन्यस्योपकरोति, अतिप्रसङ्गात्। न हि दर्पणे निघृष्यमाणे मणिर्विशुद्धो दृष्टः। ❀ तच्चानिष्टम् इति ❀। तदा बाधनं परामृशति। अत्र व्यभिचारं चोदयति ❀ ननु देहाश्रयया इति ❀। परिहरति ❀ न, देहसंहतस्य इति ❀। अनाद्यनिर्वाच्याविद्योपधानमेव ब्रह्मणो जीव इति च क्षेत्रज्ञ इति चाचक्षते। स च स्थूलसूक्ष्मशरीरेन्द्रियादिसंहतस्तत्सङ्घातमध्यपतितस्तदभेदेनाहमितिप्रत्ययविषयीभूतोऽतः शरीरादिसंस्कारः शरीरादिधर्मोऽप्यात्मनो भवति, तदभेदाध्यवसायात्। यथाऽङ्गरागधर्मः सुगन्धिता कामिनीनां व्यपदिश्यते। तेनात्रापि यदाश्रिता क्रिया सांव्यवहारिकप्रमाणविषयीकृता तस्यैव संस्कारो नान्यस्येति न व्यभिचारः। तत्त्वतस्तु न क्रिया न

भामती–व्याख्या

आश्रित होकर वैसे ही ब्रह्म को संस्कृत करती है, जैसे आदर्श-तल पर इष्टिका-चूर्णका निरन्तर संयोग-विभाग-प्रचयरूप घर्षण ? अथवा अन्य वस्तु में रहकर क्रिया ब्रह्म को संस्कृत करती है ? क्रिया ब्रह्म का धर्म नहीं हो सकती, क्योंकि वह नियमतः अपने आश्रय को विकृत करती है, यदि ऐसा मान लिया जाय, तब ब्रह्मगत नित्यत्व-प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध होता है। ब्रह्म से अन्य पदार्थ में रहनेवाली क्रिया के द्वारा ब्रह्म संस्कृत नहीं हो सकता, अन्यथा दर्पण पर इष्टिका-चूर्ण रगड़ने पर स्फटिक मणि भी संस्कृत हो जायगी, किन्तु वैसा कभी लोक में देखा नहीं जाता। "तच्चानिष्टम्"—इस भाष्य में 'तत्' पद के द्वारा ब्रह्मगत अनित्यत्व का बाध गृहीत होता है, अर्थात् ब्रह्मगत अनित्यत्व का बाध किसी को भी अभीष्ट नहीं। 'यदाश्रिता क्रिया भवति, तया तदेव संस्क्रियते'—इस नियम के व्यभिचार की शङ्का की जा रही है–"ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः"। उक्त शङ्का का परिहार किया जा रहा है –"न, देहादिसंहतस्यैवात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्"। अर्थात् देह-तादात्म्यापन्न आत्मा ही स्नानादि क्रिया का कर्त्ता (आश्रय) और वही उसके फल का भोक्ता माना जाता है, अतः उसकी क्रिया से वह (विशिष्ट) आत्मा संस्कृत होता है, शुद्ध ब्रह्म नहीं, क्योंकि अनादि और अनिर्वचनीय अविद्यारूप उपाधि से युक्त ब्रह्म को जीव, क्षेत्रज्ञादि पदों के द्वारा अभिहित किया जाता है। वह स्थूल शरीर एवं इन्द्रियादि-घटित सूक्ष्म शरीर से विशिष्ट होता है। देहादि संघात के मध्य में निविष्ट वह देहादि-तादात्म्याध्यास के कारण देहादि को 'अहम्' ही मानता है, इस प्रकार शरीर का संस्कार शरीर-विशिष्ट आत्मा का वैसे ही माना जाता है, जैसे कामिनी के शरीर पर मले हुए चन्दन-चूर्ण की सुगन्धि का व्यवहार कामिनी में होता है, फलतः व्यावहारिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा स्नानादि क्रिया जिस आश्रय में देखी जाती है, वह संस्कृत होता है, उक्त नियम में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं होता। तत्त्वतः (पारमार्थिक दृष्टि से) पृथक्

शुद्धः संस्कृत इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव। तेनैव ह्यहंकर्त्राऽहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते। तत्फलं च स एवाश्नाति; 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मुण्ड० ३।१।१) इति मन्त्रवर्णात्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (काठ० १।३।४) इति च। तथा च 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० ६।११) इति, 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' (ईशा० ८) इति चैतो मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः। ब्रह्मभावश्च मोक्षः। तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः। अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम्। तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया

भामती

संस्कार इति। सनिदर्शनं तु शेषमध्यासभाष्य एव कृतव्याख्यानमिति नेह व्याख्यातम्। * तयोरन्यः पिप्पलम् इति *। अन्यो जीवात्मा, पिप्पलं कर्मफलम्। *अनश्नन्नन्य – इति*। परमात्मा। संहतस्यैव भोक्तृत्वमाह मन्त्रवर्णः। * आत्मेन्द्रिय इति *। अनुपहितशुद्धस्वभावब्रह्मप्रदर्शनपरौ मन्त्रौ पठति * एको देवः इति *। "शुक्रं" दीप्तिमत्, "अव्रणं" दुःखरहितम्, "अस्नाविरम्" अविगलितम्, अविनाशीति यावत्। उपसंहरति * तस्माद् इति *। ननु मा भून्निर्वर्त्यादिकर्मताचतुष्टयी, पञ्चमी तु काचिद् विधा भविष्यति यया मोक्षस्य कर्मता घटिष्यत इत्यत आह * अतोऽन्यद् इति *। एभ्यः प्रकारेभ्यो न प्रकारान्तरमन्यदस्ति, यतो मोक्षस्य क्रियानुप्रवेशो भविष्यति। एतदुक्तं भवति – चतसृणां विधानां मध्येऽन्यतमतया क्रियाफलत्वं व्याप्तं, सा च मोक्षाद् व्यावर्त्तमाना व्यापकानुपलब्ध्या मोक्षस्य क्रियाफलत्वं व्यावर्त्तयतीति। तत् किं मोक्षे क्रियैव नास्ति, तथा च तदर्थानि शास्त्राणि तदर्थाश्च प्रवृत्तयोऽ-

---

भामती–व्याख्या

न कोई क्रिया होती है और न तज्जन्य संस्कार। आध्यासिक दृष्टि का विशेष वर्णन "परत्र पूर्वदृष्टावभास"—इस भाष्य की व्याख्या में विविध उदाहरणों के द्वारा पहले किया जा चुका है, अतः यहाँ विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। "तयोरन्यः" इस श्रुति में 'अन्यः' का अर्थ जीव, 'पिप्पलं' का अर्थ कर्म-फल और 'अनश्नन् अन्यः' का अर्थ ब्रह्म या परमात्मा है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य में फल-भोक्तृत्व नहीं होता, संहत, उपहित या विशिष्ट आत्मा में ही भोक्तृत्व का वर्णन मन्त्र वर्ण (संहिता-मन्त्र) करता है—"आत्मा इन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" (कठो० १।३।४) अनुपहित या शुद्धस्वभावक ब्रह्मपरक दो मन्त्रों का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" (श्वेता. ६।११)। द्वितीय मन्त्र में 'शुक्रम्' का अर्थ—दीप्तिमान् (शुल्कं), 'अव्रणम्' का अर्थ दुःख-रहित, 'अस्नाविरं' का अर्थ—अविगलित (अविनाशी) है। प्रकरण का उपसंहार किया जाता है—"तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः"। यदि ऐसी शङ्का हो कि निर्वर्त्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्यरूप चार प्रकारों से भिन्न पाँचवीं कोई विधा हो सकती है, जिसको लेकर मोक्ष में कर्मता (क्रियाश्रयता) घट जायगी। तो वैसी शङ्का का निरास किया जाता है—"अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद् दर्शयितुम्"। अर्थात् इन चार प्रकारों को छोड़ कर कोई पञ्चम प्रकार ऐसा नहीं दिखाया जा सकता, जिसके द्वारा मोक्ष में क्रिया की अपेक्षा सिद्ध की जा सके। 'यत्र-यत्र क्रियाफलत्वम्, तत्र-तत्र निर्वर्त्यत्वादिचतुष्टयान्यतमत्वम्'—इस प्रकार की व्याप्ति पर्यवसित होती है, अतः प्रकृत (ब्रह्मभावरूप) मोक्ष में निर्वर्त्यत्वाद्यन्यतमता की निवृत्ति से क्रिया-जन्यत्व की निवृत्ति हो जाती है। यह जो शङ्का होती है कि यदि मोक्ष में किसी प्रकार की क्रिया (कृति-साध्यता)

गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते ।

ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया न, वैलक्षण्यात् । क्रिया हि नाम सा, यत्र वस्तु-स्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च । यथा—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद्वषट् करिष्यन्' इति, 'संध्यां मनसा ध्यायेत्' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति चैवमादिषु । ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तु-मन्यथा वा कर्तुं शक्यं; पुरुषतन्त्रत्वात् । ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम् । प्रमाणं च यथाभूत-वस्तुविषयम्, अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यम्, केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत् । न चोदनातन्त्रम् । नापि पुरुषतन्त्रम् । तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैल-क्षण्यम् । यथा च 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः' 'योषा वाव गौतमाग्निः' (छान्दो० ५।७, ८।१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति । केवलचोदनाजन्यत्वात् क्रियैव सा

भामती

नर्थकानीत्यत उपसंहारव्याजेनाह ❀ तस्माज् ज्ञानमेकम् इति ❀। अथ ज्ञानं क्रिया मानसी कस्मान्न विधिगोचरः, कस्माच्च तस्याः फलं निर्वर्त्यादिष्वन्यतमं न मोक्ष इति चोदयति ❀ ननु ज्ञानम् इति ❀। परिहरति ❀ न, वैलक्षण्यात् ❀। अयमर्थः—सत्यं ज्ञानं मानसी क्रिया, न त्वियं ब्रह्मणि फलं जनयितु-मर्हति, तस्य स्वयम्प्रकाशतया विदिक्रियाकर्मभावानुपपत्तेरित्युक्तम् । तदेतस्मिन् वैलक्षण्ये स्थिते एव वैलक्षण्यान्तरमाह ❀ क्रिया हि नाम सा इति ❀। "यत्र" विषये "वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते" यथा देवतासम्प्रदानकहविर्ग्रहणे देवतावस्तुस्वरूपानपेक्षा देवताध्यानक्रिया । यथा वा योषिति अग्निवस्त्वन-पेक्षाऽग्निबुद्धिर्या सा क्रिया हि नामेति योजना । न हि यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करि-ष्यन्नित्यस्माद्विधेः प्राग्देवताध्यानं प्राप्तं, प्राप्तं स्वधीतवेदान्तस्य विदितपदतदर्थसम्बन्धस्याधिगतशब्दन्याय-

भामती–व्याख्या

ही नहीं, तब मोक्ष-सम्पादन करने के लिए उपदिष्ट शास्त्र एवं मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति अत्यन्त व्यर्थ हो जाती है । उस शङ्का का समाधान उपसंहार के बहाने किया जाता है—"तस्माज्ज्ञा-नमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते" ।

ज्ञान को मानस क्रिया क्यों न मान लिया जाय, वह विधि का विषय भी हो सकती है और उसके फलभूत मोक्ष में कथित चतुर्विधान्यतमत्व भी—ऐसी शङ्का उठाई जा रही है—"ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया" । उस शङ्का का परिहार किया जा रहा है—"न" । ज्ञान को मानस क्रिया नहीं मान सकते, क्योंकि इसमें क्रिया से वैलक्षण्य पाया जाता है । आशय यह है कि यह सत्य है कि ज्ञान भी एक मानस क्रिया है, किन्तु यह ब्रह्म में किसी प्रकार का फल उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण ज्ञानरूप विदि क्रिया का कर्म नहीं हो सकता । इस प्रकार के वैलक्षण्य के रहने पर भी अन्य वैलक्षण्य प्रदर्शित किया जा रहा है—"क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते" । यहाँ 'यत्र' का अर्थ है—जिस विषय में, इस प्रकार यहाँ क्रिया का यह लक्षण विवक्षित है—'यत्र विषये या वस्त्वनपेक्षा चोद्यते, तत्र विषये सा क्रिया' । जैसे देवतारूप सम्प्रदान के लिए हवि की ग्रहण क्रिया के अवसर पर "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट् करिष्यन्" (ऐ. ब्रा. ११।८।१) इस वाक्य के द्वारा जो ध्यान क्रिया विहित है, वह अपने विषयीभूत देवता की अपेक्षा नहीं करती, क्योंकि ज्ञेय वस्तु ज्ञान से पहले जैसे अपने स्वरूप में व्यवस्थित होती है, ध्येय वस्तु वैसी नहीं, सम्पदादि स्थलों पर अन्य वस्तु में ध्यान अन्य का ही होता है, जैसे योषित् (स्त्री) में अग्नि-भावना । देवता-ध्यान विहित भी इसी लिए है कि "तां मनसा ध्यायेत्"—इस विधि वाक्य के श्रवण से पहले देवता-ध्यान प्राप्त नहीं, किन्तु जिस

पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिः, न सा चोदनातन्त्रा, नापि पुरुषतन्त्रा। किं तर्हि? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्ति, उपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्या-

भामती

तत्त्वस्य सदेव सोम्येदमित्यादेस्तत्त्वमसीत्यन्तात्सन्दर्भाद् ब्रह्मात्मभावज्ञानं शब्दप्रमाणसामर्थ्यात्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षसामर्थ्यादिव प्रणिहितमनसः स्फीतालोकमध्यवर्तिकुम्भानुभवः। न ह्यसौ स्वसामग्रीवललब्धजन्मा मनुजेच्छयाऽन्यथाकर्तुमकर्तुं वा शक्यः, देवताध्यानवत्, येनार्थवानत्र विधिः स्यात्। न चोपासना वाऽनुभवपर्यन्तता वाऽस्य विधेर्गोचरस्तयोरन्वयव्यतिरेकावधृतसामर्थ्ययोः साक्षात्कारे वाऽनाद्यविद्यापनये वा विधिमन्तरेण प्राप्तत्वेन पुरुषेच्छयाऽन्यथाकर्तुमकर्तुं वाऽशक्यत्वात्। तस्माद् ब्रह्मज्ञानं मानसी क्रियाऽपि न विधिगोचरः। पुरुषचित्तव्यापाराधीनायास्तु क्रियाया वस्तुस्वरूपनिरपेक्षिता क्वचिदविरोधिनी, यथा देवताध्यानक्रियायाः। न ह्यत्र वस्तुस्वरूपेण कश्चिद्विरोधः। क्वचिद्वस्तुविरोधिनी, यथा योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिरित्येतावता भेदेन निदर्शनमिथुनद्वयोपन्यासः। क्रियैवेत्येवकारेण वस्तुतन्त्रत्वमपाकरोति।

नन्वात्मेत्येवोपासीतेत्यादयो विधयः श्रूयन्ते, न च प्रमत्तगीताः, तुल्यं हि साम्प्रदायिकं, तस्माद्विधेयेनात्र भवितव्यमित्यत आह ॐ तद्विषये लिङादयः इति ॐ। सत्यं श्रूयन्ते लिङादयः, न त्वमी विधि-

भामती–व्याख्या

व्यक्ति ने वेदान्त का अध्ययन किया है एवं पद-पदार्थ का संगति-ग्रह भी कर लिया है, उस व्यक्ति को "सदेव सोम्येदमासीत्"—यहाँ से लेकर "तत्त्वमसि"—यहाँ तक के सन्दर्भ (प्रकरण) से शब्द प्रमाण के बल पर वैसे ही ब्रह्म में आत्मत्व-बोध हो जाता है, जैसे इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के बल पर समाहितमनवाले व्यक्ति को उज्वल प्रकाश में अवस्थित घट का अनुभव हो जाता है, क्योंकि ऐसे घटानुभव का जो अपनी इन्द्रिय-सन्निकर्षादि-घटित सामग्री से उत्पन्न हुआ है, किसी पुरुष की इच्छा से न तो अन्यथा किया जा सकता है और न अकरण। यदि इसका इच्छामात्र के बल पर ध्यानादि के समान अन्यथाकरण या अकरण सम्भव होता, तब इसके विधान की सार्थकता हो सकती थी। इस 'द्रष्टव्यः' विधि के द्वारा उपासना (श्रावण ज्ञान की आवृत्ति) या अविद्यापनयनार्थ परोक्ष ज्ञान की साक्षात्कार-पर्यन्तता का विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोक-प्रसिद्ध अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर उपासना (निरन्तरानुचिन्तन) में साक्षात्कार की एवं साक्षात्कार-पर्यन्त ज्ञान में अविद्या-निवृत्ति की जनकता विधि के बिना ही स्वतः सिद्ध है, पुरुष की इच्छा के द्वारा उसका अन्यथा-करणनहीं हो सकता। फलतः ब्रह्मज्ञान को मानस क्रिया मान लेने पर भी उसमें विधि-विषमता सम्भव नहीं। क्रिया में सर्वत्र वस्तुस्वरूप-निरपेक्षता का विरोध नहीं होता, कहीं-कहीं अविरोध भी होता है, जैसे देवताविषयक ध्यान क्रिया में, क्योंकि वस्तुस्वरूप (देवता-स्वरूप) के साथ इसका कोई विरोध नहीं होता। कहीं-कहीं क्रिया अवश्य ही वस्तुस्वरूप की विरोधिनी होती है, जैसे स्त्री और पुरुष में अग्नि का ध्यान। क्रियाओं के इस अन्तर को ध्यान में रख कर देवता-ध्यान और स्त्री आदि में अग्नि-ध्यान इन द्विविध ध्यान क्रियाओं का उदाहरण भाष्यकार ने दिया है। भाष्यकार ने जो कहा है 'क्रियैव सा''। वहाँ एवकार के द्वारा क्रिया में वस्तु-तन्त्रता का निराकरण किया गया है।

शङ्का—"आत्मेत्येवोपासीत" (बृह० उ० १।४।७) इत्यादि विधि वाक्य जब वेदान्त-क्षेत्र में उपलब्ध होते हैं, तब उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि ये वाक्य कोई प्रमत्त पुरुष के प्रलाप के समान निरर्थक नहीं, एवं अर्थवाद-वाक्यों की प्रामाणिकता और

दिवद् ; अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात् । किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' (बृ. २।४।५) इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि ?; स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः । यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः 'इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूद्' इति, नच तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति—'आत्मा वा

भामती

विषयाः, तद्विषयत्वेऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । हेयोपादेयविषयो हि विधिः । स एव च हेय उपादेयो वा यं पुरुषः कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्नोति । तत्रैव च समर्थः कर्ताऽधिकृतो नियोज्यो भवति । न चैवम्भूतान्यात्मश्रवणमननोपासनदर्शनानीति विषयतदनुष्ठात्रोर्विधिव्यापकयोरभावाद् विधेरभाव इति प्रयुक्ता अपि लिङादयः प्रवर्तनायामसमर्था उपल इव क्षुरतैक्ष्ण्यं कुण्ठमप्रमाणीभवन्तीति । ॐ अनियोज्यविषयत्वाद् इति ॐ । समर्थो हि कर्ताऽधिकारी नियोज्यः । असामर्थ्ये तु न कर्तृता ततोऽनधिकृतो न नियोज्य इत्यर्थः । यदि विधेरभावान्न विधिवचनानि, किमर्थानि तर्हि वचनान्येतानि विधिच्छायानीति पृच्छति ॐ किमर्थानि इति ॐ । न चानर्थकानि युक्तानि, स्वाध्यायविध्यधीनग्रहणत्वानुपपत्तेरिति भावः । उत्तरम् ॐ स्वाभाविक इति ॐ । अन्यतः प्राप्ता एव हि श्रवणादयो विधिसरूपैर्वाक्यैरनूद्यन्ते । न चानुवादोऽप्य-

भामती-व्याख्या

सार्थकता की पुष्टि में कहा जाता है—"तुल्यं च साम्प्रदायिकम्" (जै. सू. १।२।८) अर्थात् अध्ययनाध्यापन की परम्परा में अन्य विधि में वाक्यों के समान ही इन वाक्यों को मान्यता प्राप्त है, अतः इनकी विधिरूपता निश्चित है, तब आत्मोपासना का विधान क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात् कुण्ठीभवन्ति" । अर्थात् इस बात को कभी भी नकारा नहीं जा सकता कि आत्मोपासना-विधि-बोधक वाक्य उपलब्ध नहीं होते । ऐसे वाक्य अवश्य हैं, किन्तु उनका विधि में तात्पर्य मानने पर प्रामाण्य अक्षुण्ण नहीं रहता, क्योंकि विधि सदैव हेय और उपादेय विषय की होती है, हेय (त्याज्य) या उपादेय (ग्राह्य) वही होता है, जिस विषय का पुरुष अपनी इच्छा से त्याग या ग्रहण कर सके । जिस विषय के करण, अकरण या अन्यथाकरण में पुरुष सर्वथा समर्थ और स्वतन्त्र होता है, उसी विषय का पुरुष कर्त्ता, अधिकारी या नियोज्य माना जाता है । इस प्रकार यह एक नियम या व्याप्ति स्थिर होती है कि "यत्र यत्र पुरुषस्वातन्त्र्यं सनियोज्यत्वं तत्र तत्र विधेयत्वम्" । आत्मा के श्रवण, मनन और उपासन (निदिध्यासन) में विधेयत्व सम्भव नहीं, क्योंकि उनमें विधेयत्व का व्यापकीभूत हेयत्वोपादेयत्वरूप पुरुष-स्वातन्त्र्य एवं सनियोज्यत्व नहीं, व्यापक का अभाव होने पर व्याप्य का अभाव निश्चित है । लिङादि प्रत्यय अवश्य ही विधि या प्रवर्तना में शक्त होते हैं, किन्तु प्रवर्तना के अविषयीभूत पदार्थ के बोधन में प्रयुक्त लिङादि वैसे ही कुण्ठित या विवश हो जाते हैं, जैसे पत्थर को काटने के लिए चलाया गया छुरा, पत्थर काटने में समर्थ नहीं होता । अविषयीभूत पदार्थ में लिङादि प्रमाण या प्रवर्तक नहीं हो सकते, क्योंकि उस विषय का नियोज्य या अधिकारी व्यक्ति ही सुलभ नहीं, समर्थ कर्त्ता पुरुष को अधिकारी या नियोज्य माना जाता है, जिस पदार्थ के सम्पादन में जो समर्थ नहीं, उसका वह न कर्त्ता हो सकता है और न नियोज्य (अधिकारी) । विधि के अभाव में विधि-वचन यदि प्रयुक्त नहीं हो सकते, तब "आत्मेत्येवोपासीत"—इस प्रकार श्रूयमाण विध्याभास-वचन किस लिए ? ऐसी शङ्का की जा रही है—किमर्थानि तर्हि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य" इत्येवमादीनि विधिच्छायानि वचनानि ?" । "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस स्वाध्याय-विधि के

अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि। तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृह० २।४।६) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्', 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृह० ४।५।१५) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्यादिभिः। यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति, तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते अलंकारो ह्ययमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति। तथा च श्रुतिः—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥' (बृह०

भामती

प्रयोजनः, प्रवृत्तिविशेषकरत्वात्। तथाहि—तत्तदिष्टानिष्टविषयेप्साजिहासापहृतहृदयतया बहिर्मुखो न प्रत्यगात्मनि समाधातुमर्हति। आत्मश्रवणादिविधिसरूपैस्तु वचनैर्मनसो विषयस्रोतः खिलीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोत उद्घाट्यते इति प्रवृत्तिविशेषकरतानुवादानामस्तीति सप्रयोजनतया स्वाध्यायविध्यधीनग्रहणत्वमुपपद्यत इति।

यच्च चोदितमात्मज्ञानमनुष्ठानानङ्गत्वादपुरुषार्थमिति। तदयुक्तम्, स्वतोऽस्य पुरुषार्थत्वे सिद्धे यदनुष्ठानानङ्गत्वं तद् भूषणं न दूषणमित्याह ॐ यदपि इति ॐ। "अनुसंज्वरेत्" शरीरं परितप्यमानमनु-

भामती—व्याख्या

द्वारा गृहीत होने के कारण उक्त वाक्यों को अनर्थक नहीं कहा जा सकता। उक्त शङ्का का समाधान है—"स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः"। वैषयिक सुख की लिप्सा में जीव की सहज प्रवृत्ति को रोकने के लिए "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः"—ऐसा कह दिया गया है। वह भी विधि वाक्यों के द्वारा आत्म-साक्षात्कारार्थ श्रवणादि का विधान नहीं, अपितु अन्यतः (लोक-प्रसिद्ध अन्वय-व्यतिरेक के माध्यम से) जो श्रवणादि में साक्षात्कार-जनकत्व प्राप्त है, उसी का अनुवादमात्र कर दिया गया है। यह अनुवाद भी निरर्थक नहीं, श्रवणादिगत प्राशस्त्य का गमक होकर आत्म-श्रवणादि में रुचि और अनात्म-चिन्तन में अरुचि का जनक हो जाता है। विविध इष्ट विषयों की लिप्सा और अनिष्ट विषयों की जिहासा के मोहक प्रपञ्च में फँसा जीव आत्म-चिन्तन में मन को नहीं लगा सकता, कथित आत्मश्रवणादि-बोधक विध्याभासों के द्वारा विषयाभिमुख मानस प्रवाह को रोककर प्रत्यगात्माभिमुख प्रवृत्त किया जाता है। इस प्रकार सार्थक श्रवणादि-विषयक अनुवाद के गमक कथित विधि के समान रूपवाले "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः"—इत्यादि वाक्यों का स्वाध्याय-विधि के द्वारा ग्रहण उपपन्न हो जाता है।

यह जो आक्षेप किया था कि आत्म-ज्ञान किसी कर्मानुष्ठान का अङ्ग न होने के कारण निरर्थक है। वह आक्षेप युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जब कि आत्म-ज्ञान स्वयं पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है, तब उसमें किसी कर्मानुष्ठान की अङ्गता आवश्यक नहीं—यह कहा जा रहा है—"यदपि अकर्त्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय न भवतीति, तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते, अलङ्कारो ह्ययमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्त्तव्यताहानिः कृतकृत्यता च"। जैसे धर्म-ज्ञान के पश्चात् धर्म का अनुष्ठान अपेक्षित होता है, वैसे ब्रह्म-ज्ञान के पश्चात् किसी प्रकार का अनुष्ठान अवशिष्ट नहीं रहता—यह हमारे अद्वैत-सिद्धान्त में कोई दोष नहीं, अपितु गुण है, अलंकार है, महती कृतकृत्यता है, श्रुति भगवती का विजय-घोष हमारे पक्ष में है—

"आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥" (बृह. उ. ४।४।१२)

[यदि यह पुरुष (जीव) अपने वास्तविक शुद्ध बुद्ध ब्रह्मस्वरूप का विज्ञान (साक्षात्कार)

४।४।१२) इति । 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत' (भ० गी० १५।२०) इति स्मृतिः । तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम् ।

यदपि केचिदाहुः—'प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्ति' इति,—तन्न; औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात् । योऽसावुपनिष-

भामती

तप्येत । सुगममन्यत् । प्रकृतमुपसंहरति ❀ तस्मान्न प्रतिपत्ति इति ❀ । प्रकृतसिद्धयर्थमेकदेशिमतं दूषयितुमनुभाषते ❀ यदपि केचिदाहुः इति ❀ । दूषयति ❀ तन्न इति ❀ । इदमत्राकूतम्—

कार्य्यबोधे यथा चेष्टा लिङ्गं हर्षादयस्तथा ।
सिद्धबोधेऽर्थवत्त्वैवं शास्त्रत्वं हितशासनात् ।।

यदि हि पदानां कार्य्याभिधाने तदर्थस्वार्थाभिधाने वा नियमेन वृद्धव्यवहारे सामर्थ्यमवधृतं भवेत् , न भवेत् , अहेयोपादेयभूतब्रह्मात्मतापरत्वमुपनिषदाम् । तत्राविदितसामर्थ्यत्वात् पदानां लोके तत्पूर्वकत्वाच्च वैदिकार्थप्रतीतेः । अथ तु भूतेऽप्यर्थे पदानां लोके शक्यः सङ्गतिग्रहस्तत उपनिषदां तत्परत्वं पौर्वापर्य्यपर्य्यालोचनयाऽवगम्यमानमपह्नुत्य न कार्य्यपरत्वं शक्यं कल्पयितुं, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । तत्र तावदेवमकार्य्येऽर्थे न सङ्गतिग्रहः, यदि तत्परः प्रयोगो न लोके दृश्येत, तत्प्रत्ययो वा

भामती–व्याख्या

कर ले, तब और किस फल की इच्छा से अथवा अपने से भिन्न किस पुरुष के लिए शरीर-सन्ताप के द्वारा अनुसन्तप्त होगा ?] 'अनुसंज्वरेत्' शब्द का अर्थ भाष्यकार ने ही श्रुति की व्याख्या में किया है—"शरीरमनुसंज्वरेत्, शरीरोपाधिकृतदुःखमनु दुःखी स्यात्, शरीरतापमनुतप्येत" (बृह. भा. पृ. ६७७) । प्रकरण का उपसंहार किया जाता है—"तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्" ।

अपने सिद्धान्त की दृढ़ता के लिए एकदेशी के दूषित मत का अनुवाद करते हैं—"यदपि केचिदाहुः" । उसमें दोषोद्भावन किया जा रहा है—"तन्न" । आशय यह है कि—

कार्यबोधे यथा चेष्टा लिङ्गं हर्षादयस्तथा ।
सिद्धबोधेऽर्थवत्त्वैवं शास्त्रत्वं हितशासनात् ।।

[विगत पृ. १२६ पर एकदेशी की ओर से कहा गया था कि (१) 'अज्ञातसंगतित्व', (२) 'शास्त्रत्व', (३) 'अर्थवत्त्व' और (४) 'मननादिप्रतीत्या'—इन चार हेतुओं के द्वारा वेदान्त-क्षेत्र में भी कार्यानुप्रवेश आवश्यक है । उसी का यहाँ निराकरण किया जाता है कि संगति-ग्रह से लेकर तत्त्व-निश्चय करने तक वेदान्त में कहीं भी कार्यानुप्रवेश आवश्यक नहीं] । आनयनादि कार्यरूप अर्थ के बोध में जैसे चेष्टा (प्रवृत्ति) अपेक्षित है, वैसे ही पुत्रादि सिद्धरूप अर्थ के बोधन में "पुत्रस्ते जातः"—इत्यादि वाक्यों को सुनकर श्रोता के मुख-मण्डल पर बिखरी हुई हर्ष की रेखाएँ लिङ्ग (गमक) रूपेण अपेक्षित हैं । यदि कार्यार्थ के अभिधान में पदों को नियमतः उत्तम और मध्यम वृद्धों के व्यवहार अपेक्षित होते, तब हेयोपादेय-रहित ब्रह्म-परता वेदान्त-वाक्यों में नहीं होती, क्योंकि लोक में पदों का वैसा शक्ति-ग्रह सम्भव नहीं था और शक्ति-ग्रह पूर्वक ही वैदिकार्थ की प्रतीति होती है । यदि भूत (सिद्ध) अर्थ में पदों का शक्ति-ग्रह सम्भव है और उसके आधार पर उपनिषद्-ग्रन्थों में उपक्रमोपसंहारादि-न्याय का सहारा लेकर ब्रह्मपरता निश्चित है, तब उसका अपलाप करके कार्यार्थपरत्व की स्थापना कभी नहीं की जा सकती, अन्यथा श्रुत (सिद्धार्थपरत्व) की हानि और अश्रुत (कार्यपरत्व) की प्रसक्ति वेदान्त में होगी ।

अकार्य (सिद्ध) रूप अर्थ में तब शक्ति-ग्रह नहीं हो सकता था, जब कि लोक में

भामती

व्युत्पन्नस्योन्नेतुं न शक्येत । न तावत्तत्परः प्रयोगो न दृश्यते लोके, कुतूहलभयादिनिवृत्त्यर्थानामकार्य्यं-पराणां पदसन्दर्भाणां प्रयोगस्य लोके बहुलमुपलब्धेः । तद्यथाऽऽखण्डलादिलोकपालचक्रवालाधिवसतिः सिद्धविद्याधरगन्धर्वाप्सरःपरिवारो ब्रह्मलोकावतीर्णमन्दाकिनीपयःप्रवाहपातधौतकलधौतमयशिलातलो नन्दनादिप्रमदवनविहारिमणिमयशकुन्तकमनीयनिनदमनोहरः पर्वतराजः सुमेरुरिति । नैष भुजङ्गो रज्जुरित्यादि ।

नापि भूतार्थबुद्धिर्व्युत्पन्नपुरुषवर्तिनी न शक्या समुन्नेतुं हर्षादिरन्वयहेतोः सम्भवात् । तथाह्य-विदितार्थजनभाषार्थो द्रविडो नगरगमनोद्यतो राजमार्गाभ्यर्णं देवदत्तमन्दिरमध्यासीनः प्रतिपन्नजनका-नन्दनिबन्धनपुत्रजन्मा वार्त्ताहारेण सह नगरस्थदेवदत्ताभ्याशमागतः पटवासोपायनार्पणपुरःसरं दिष्ट्या वर्धसे पुत्रस्ते जात इति वार्त्ताहारव्याहारश्रवणसमनन्तरमुपजातरोमाञ्चकञ्चुकं विकसितनयनोत्पलमति-स्मेरमुखमहोत्पलमवलोक्य देवदत्तमुत्पन्नप्रमोदमनुमिमीते, प्रमोदस्य च प्रागभूतस्य तद्व्याहारश्रवणसम-नन्तरं भवतस्तद्धेतुताम् । न चायमप्रतिपादयन् हर्षहेतुमर्थं हर्षाय कल्पत इत्यनेन हर्षहेतुरर्थ उक्त इति प्रतिपद्यते । हर्षहेत्वन्तरस्य चाप्रतीतेः पुत्रजन्मनश्च तद्धेतोरवगमात्तदेव वार्त्ताहारेणाभ्यधायीति निश्चि-नोति । एवं भयशोकादयोऽप्युदाहार्य्याः । तथा च प्रयोजनवत्तया भूतार्थाभिधानस्य प्रेक्षावत्प्रयोगोऽप्यु-

भामती—व्याख्या

सिद्धार्थ-बोधक शब्द-प्रयोग उपलब्ध न होता अथवा व्युत्पन्न पुरुष के द्वारा शब्दों में सिद्धार्थ-परत्व की ऊहा नहीं की जा सकती हो, किन्तु वे दोनों बाते नहीं, क्योंकि सिद्धार्थक पदों का प्रयोग लोक में भी होता देखा जाता है, जैसे सुमेरुपर्वत कैसा होगा ? इस प्रकार के कुतूहल को निवृत्त करने के लिए कहा जाता है—आखण्डल (इन्द्र) आदि लोक-पाल देवगणों का अधिवास जिस पर है; सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व और अप्सरादिसंज्ञक देवजातियाँ विहरण कर रही हैं जिस पर; ब्रह्म-लोक से अवतीर्ण मन्दाकिनी के धवल जल से प्रक्षालित हैं सुवर्णमय शिला-तल जिसके; नन्दनादि प्रमद-वन में क्रीडा-रत मणिमय पक्षियों के कमनीय कूजन से जो नितान्त मोहक है; ऐसा पर्वत-राज है—सुमेरु । सर्प-भ्रम-जनित भय की निवृत्ति के लिए कहा जाता है—"नैष भुजङ्गो रज्जुरियम्" ।

अन्य पुरुषों में समुत्पन्न सिद्धार्थविषयक ज्ञान की ऊहा भी सम्भव है, क्योंकि श्रोता के मुख पर लहराई हुई हर्ष की रेखाएँ ही श्रोता के हृदय में उठी हर्ष की तरङ्गों का समुन्नयन करा देती हैं, जैसे कि किसी अन्य प्रान्त की भाषा से अनभिज्ञ द्रविडदेश का कोई व्यक्ति अपने नगर में देवदत्त के घर पर पुत्र-जन्म का महोत्सव देख चुका था, किसी ऐसे सन्देशवाहक के साथ देशान्तर के लिए चल पड़ता है, जिसके हाथ में पुत्र-पद-लिप्त केसर की छापवाला वस्त्रोपहार था । अन्य प्रान्त के किसी नगर में अवस्थित देवदत्त के घर पर पहुँचता है । संदेश-वाहक ने देवदत्त के लिए लाया उक्त वस्त्रादि का उपहार देवदत्त के सामने रख कर कहता है—'दिष्ट्या वर्धसे पुत्रस्ते जातः' । सन्देश-वाहक का इतना कहना था कि देवदत्त के अन्दर उठीं हर्ष की उत्ताल तरङ्गें मुख-मण्डल पर लहराने लग जाती है, नेत्र-कमल सहसा खिल उठते हैं । इस पूरे दृश्य को देखकर वह देश भाषानभिज्ञ द्रविड देश-वासी व्यक्ति यह सोच लेता है कि यह देवदत्त सन्देश-वाहक के वाक्य को सुनकर जो हर्षविभोर हो गया, अवश्य ही इसके हर्ष का जनक अर्थ इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित है । प्रकृत में पुत्रोत्पत्ति ही हर्ष की जनक है, जो कि इस वाक्य के द्वारा अभिहित है, इस प्रकार लिङादि से अघटित वाक्य भी सिद्धार्थ का बोधक निश्चित हो जाता है । इसी प्रकार भय और शोकादि के जनक उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं । प्रयोजनवत्ता भी कार्यार्थक वाक्यों में ही सीमित होती है—ऐसी

स्त्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म, उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरण-

भामती

पपन्नः । एवं च ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्य परमपुरुषार्थहेतुभावादनुपदिशतामपि पुरुषप्रवृत्तिनिवृत्ती वेदान्तानां पुरुषहितानुशासनाच्छास्त्रत्वं सिद्धं भवति । तदिसद्धमेतद्—विवादाध्यासितानि वचनानि भूतार्थविषयाणि, भूतार्थविषयप्रमाजनकत्वात् , यद्यद्विषयप्रमाजनकं तत्तद्विषयं, यथा रूपादिविषयं चक्षुरादि, तथा चैतानि, तस्मात्तथेति । तस्मात्सुष्ठूक्तं ❀ तत्रौपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वाद् इति ❀ । उपनिपूर्वात्सदेर्विशरणार्थात् क्विप्युपनिषत्पदं व्युत्पादितमुपनीयाद्वयं ब्रह्म सवासनामविद्यां हिनस्तीति ब्रह्मविद्यामाह, तद्धेतुत्वाद्वेदान्ता अप्युपनिषदः, तत्र विदित औपनिषदः पुरुषः । एतदेव विभजते ❀ योऽसावुपनिषत्सु इति ❀ । अहम्प्रत्ययविषयाद्भिनत्ति ❀ असंसारी इति ❀ । अत एव क्रियारहितत्वाच्चतुर्विधद्रव्यविलक्षणः । अतश्च चतुर्विधद्रव्यविलक्षणो यदनन्यशेषः । अन्यशेषं हि भूतं द्रव्यं चिकीर्षितं सदुत्पत्त्याद्याप्यं सम्भवति । यथा यूपं तक्षतीत्यादि । यत् पुनरनन्यशेषं भूतभाव्युपयोगरहितं, यथा सुवर्णं भार्यं, सक्तून् जुहोतीत्यादि, न तस्योत्पत्त्याद्याप्यता । कस्मात्पुनरस्यानन्यशेषतेत्यत आह ❀ यतः स्वप्रकरणस्थः ❀ ।

भामती–व्याख्या

बात नहीं, अपितु सिद्धार्थक वाक्य भी कुतूहल और भयादि-निवृत्तिरूप प्रयोजन के जनक होने के कारण प्रयोजनवान् होते हैं, अत एव प्रेक्षावान् व्यक्तियों के द्वारा उनका लोक में बहुल प्रयोग किया जाता है । जब कि ब्रह्मस्वरूप ज्ञान में परम पुरुषार्थ की हेतुता निश्चित है, तब उसके बोधक वेदान्त-वाक्यों में भले ही प्रवृत्ति निवृत्ति की जनकता न हो, उनकी प्रामाणिकता और शास्त्ररूपता में सन्देह नहीं रह जाता, क्योंकि वे भी मुमुक्षु पुरुषों का हितानुशासन करते हैं, अतः यह अनुमान पर्यवसित होता है—"विवादाध्यासितानि ("ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादीनि) सिद्धार्थबोधकानि, सिद्धार्थविषयकप्रमाजनकत्वात् । यद् यद्विषयकप्रमाजनकम् तत् तद्विषयकम्, यथा रूपादिविषयकं चक्षुरादि तथा चैतानि, तस्मात्तथा' । अतः भाष्यकार ने बहुत सुन्दर ही कहा है—"तत्र, औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात्" । 'उप' और 'नि' इन दोनों उपसर्ग पदों के उत्तर 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इस धातु से क्विप् प्रत्यय करके 'उपनिषत्' पद सम्पन्न हुआ है, 'अद्वयं ब्रह्मोपनीय सवासनामविद्यां सादयति हिनस्ती उपनिषत्, इस प्रकार उपनिषत्' पद ब्रह्म-विद्या का वाचक है । उस विद्या के हेतुभूत वेदान्त-वाक्य भी उपनिषत् कहे जाते हैं, उपनिषत्स विदित इति औपनिषदः पुरुषः । यही "औपनिषद' पद की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—"योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः" । 'अहम्'—इस प्रतीति के विषयीभूत जीव से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए उक्त पुरुष को "असंसारी" कहा गया है । अत एव क्रिया-रहित होने के कारण उत्पाद्यादि चतुर्विध द्रव्य से वह विलक्षण है । चतुर्विध द्रव्य से विलक्षण होने के कारण किसी कर्म का शेष (अङ्ग) नहीं, किन्तु "अनन्यशेष" है । अन्य-शेष (कर्म का अङ्गभूत द्रव्य उत्पत्त्यादि में से किसी एक क्रिया के द्वारा चिकीर्षित होकर उत्पाद्यादि चतुर्विध द्रव्यों में अन्यतम) होता है, जैसे—"यूपं तक्षति" इत्यादि । जो द्रव्य अन्य शेष न होकर अतीत और अनागत क्रिया से रहित होता है, जैसे "सुवर्णं भार्यम्", "सक्तून् जुहोति"—वह उत्पत्त्यादि क्रियाओं से रहित है । ब्रह्म अनन्यशेष क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर है—"स्वप्रकरणस्थः" । उपनिषद्वाक्य आत्मा के प्रकरण का आरम्भ करके समाम्नात हैं, पौर्वापर्य की आलोचना से यह निश्चित हो जाता है कि उक्त पुरुष तत्त्व स्व-प्रकरणस्थ और प्रधान है । जैसे याग से बाहर जुहू पात्र नहीं होता, अत एव याग का अव्यभिचरित सम्बन्धी होता है, वैसे पुरुष तत्त्व क्रतु का अव्यभिचरित सम्बन्धी नहीं—यह पहले ही कहा जा चुका है । ऐसा प्रधानभूत पुरुष उपनिषद्वाक्यों से प्रतीयमान है, अतः

स्थोऽनन्यशेषः- नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्, 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृह० ३।९।२६) इत्यात्मशब्दाद् आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वाद्, य

भामती

उपनिषदामनारभ्याधीतानां पौर्वापर्य्यपर्यालोचनया पुरुषप्रतिपादनपरत्वेन पुरुषस्यैव प्राधान्येनेदं प्रकरणं, न च जुह्वादिवदव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धः पुरुष इत्युपपादितम्। अतः स्वप्रकरणस्थः सोऽयं तथाविध उपनिषद्भ्यः प्रतीयमानो न नास्तीति शक्यो वक्तुमित्यर्थः।

स्यादेतत्—मानान्तरागोचरत्वेनागृहीतसङ्गतितयाऽपदार्थस्य ब्रह्मणो वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः कथमुपनिषदर्थतेत्यत आह ❀ स एष नेति नेत्यात्मेत्यात्मशब्दात् ❀। यद्यपि गवादिवन्मानान्तरगोचरत्वमात्मनो नास्ति तथापि प्रकाशात्मन एव सतस्तत्तदुपाधिपरिहाण्या शक्यं वाक्यार्थत्वेन निरूपणं, हाटकस्येव कटककुण्डलादिपरिहाण्या। नहि प्रकाशः स्वसंवेदनो न भासते, नापि तदवच्छेदकः कार्य्यकारणसङ्घातः। तेन स एष नेति नेत्यात्मेति तत्तदवच्छेदपरिहाण्या बृहत्त्वादापनाच्च स्वयम्प्रकाशः शक्यो वाक्याद् ब्रह्मेति चात्मेति च निरूपयितुमित्यर्थः। अथोपाधिनिरासवदुपहितमप्यात्मरूपं कस्मान्न निरस्यते इत्यत आह ❀ आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् ❀। प्रकाशो हि सर्वस्यात्मा तदधिष्ठानत्वाच्च प्रपञ्चविभ्रमस्य, न चाधिष्ठानाभावे विभ्रमो भवितुमर्हति। न हि जातु रज्ज्वभावे रज्ज्वां भुजङ्ग इति वा धारेति वा विभ्रमो दृष्टपूर्वः। अपि चात्मनः प्रकाशस्य भासा प्रपञ्चस्य प्रथा। तथा हि श्रुतिः 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति। न चात्मनः प्रकाशस्य प्रत्याख्याने प्रपञ्चप्रथा युक्ता। तस्मा-

भामती-व्याख्या

'नास्ति'—इस प्रकार उसकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। ब्रह्म तत्त्व यदि केवल औपनिषद है, तब अन्य किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय न होने के कारण किसी पद की उसमें शक्ति का ज्ञान न हो सकेगा, जो पदार्थ (पद का शक्यार्थ) नहीं, वह वेदान्त-वाक्यार्थ क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"स एष नेति-नेति आत्मा" इत्यात्मशब्दप्रयोगात्"। यद्यपि गवादि के समान आत्मा में प्रमाणान्तर-गोचरता नहीं, तथापि पदार्थभूत सोपाधि तत्त्व की उपाधि का निषेध करके वाक्यार्थता का शुद्ध ब्रह्म में सामञ्जस्य वैसे ही किया जा सकता है, जैसे कटक-कुण्डलादि उपाधियों का परिहाण करके सुवर्ण तत्त्व का। अवच्छेद्यभूत स्वसंवेदनात्मक प्रकाश तत्त्व अवभासित नहीं होता—ऐसा नहीं, अपितु अवभासित होता है। उसी प्रकार उसकी अवच्छेदकीभूत शरीर-संघातरूप उपाधि नहीं प्रतीत होती—ऐसा भी नहीं, अपितु प्रतीत होती है। फलतः "स एष नेति नेत्यात्मा'—इस प्रकार अवच्छेदकीभूत उपाधियों का निषेध करके ब्रह्म और आत्मा के रूप में निरूपित हो सकता है, क्योंकि वह बृहत् (व्यापक) एवं 'सर्वत्र अतति आप्नोति'—ऐसे व्यवहार का विषय है। "नेति नेति" वाक्यों के द्वारा उपाधियों के निषेध के समान उपहित आत्मा का भी निषेध क्यों नहीं माना जाता ? इस प्रश्न का उत्तर है—"आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्"। उपहित (उपाधि से उपलक्षित) प्रकाश तत्त्व सबका आत्मा होने के कारण निषेध्य नहीं हो सकता। अर्थात् आरोप-स्थल पर जैसे रजतादि आरोप्य पदार्थों का निषेध होता है, वैसे अधिष्ठानरूप शुक्ति तत्त्व का निषेध नहीं हो सकता। आत्मप्रकाश तत्त्व सकल अनात्म-भ्रान्ति का अधिष्ठान है, अधिष्ठान के बिना कोई भ्रान्ति हो ही नहीं सकती, रज्जु के अभाव में सर्प या धारादि का विभ्रम कभी नहीं देखा जाता। अपि च आत्म प्रकाश के प्रकाश से ही प्रपञ्च का प्रकाश होता है, जैसा कि श्रुति कहती है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" (कौ. २।५।१५)। आत्मप्रकाश का प्रत्याख्यान कर देने पर प्रपञ्च की प्रथा (प्रतीति) ही नहीं हो सकती। अतः आत्मा का निषेध सम्भव न हो सकने के कारण वेदान्त-वाक्यों के द्वारा प्रमाणान्तरा-

एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात्। नन्वात्माऽहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्। न; तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्। न ह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा, अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम्। आत्मत्वादेव च सर्वेषा न हेयो नाप्युपादेयः। सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं

भामती

दात्मनः प्रत्याख्यानायोगाद्वेदान्तेभ्यः प्रमाणान्तरागोचरसर्वोपाधिरहितब्रह्मस्वरूपावगतिसिद्धिरित्यर्थः।

उपनिषत्स्वेवावगत इत्यवधारणममृष्यमाण आक्षिपति ❀ नन्वात्मा इति ❀। सर्वजनीनाहम्प्रत्ययविषयो ह्यात्मा कर्ता भोक्ता च संसारी, तत्रैव च लौकिकपरीक्षकाणामात्मपदप्रयोगाद्, य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्था इत्यौपनिषदमप्यात्मपदं तत्रैव प्रवर्त्तितुमर्हति नार्थान्तरे तद्विपरीत इत्यर्थः। समाधत्ते ❀ नाहम्प्रत्ययविषय औपनिषदः पुरुषः ❀। कुतः? ❀तत्साक्षित्वेना❀ अहम्प्रत्ययविषयो यः कर्त्ता कार्य्यकरणसंघातोपहितो जीवात्मा तत्साक्षित्वेन, परमात्मनोऽहम्प्रत्ययविषयत्वस्य ❀ प्रत्युक्तत्वात् ❀। एतदुक्तं भवति– यद्यप्यनेन जीवेनात्मनेति जीवपरमात्मनोः पारमार्थिकमैक्यं तथापि तस्योपहितं रूपं जीवः शुद्धं तु रूपं तस्य साक्षि तच्च मानान्तरानधिगतमुपनिषद्गोचर इति। एतदेव प्रपञ्चयति ❀ न ह्यहम्प्रत्ययविषयः इति ❀। ❀ विधिशेषत्वं वा नेतुं न शक्यः ❀। कुतः? ❀ आत्मत्वादेव ❀। न ह्यात्माऽन्यार्थोऽन्यत्तु सर्वमात्मार्थम्। तथा च श्रुतिः—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इति। अपि चातः सर्वेषामात्मत्वादेव न हेयो

भामती-व्याख्या

गोचर समस्त उपाधि-रहित ब्रह्मस्वरूप की अवगति सिद्ध हो जाती है।

'उपनिषत्स्वेव'—इस प्रकार के अवधारण से सहमत न होने के कारण पूर्वपक्षी शङ्का करता है—"ननु आत्मा अहं प्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्"। अर्थात् यह तथ्य सर्व-विदित है कि आत्मा 'अहंकरोमि'—इत्यादि प्रतीति का विषयीभूत कर्त्ता और भोक्तादि के रूप में अवगत है, क्योंकि कर्त्ता और भोक्ता में ही लौकिक और परीक्षक सभी व्यक्ति 'आत्मा' पद का प्रयोग करते हैं। लौकिक और वैदिक पद-पदार्थों का भेद नहीं होता, शबरस्वामी कहते हैं "य एव लौकिका शब्दाः, ते एव वैदिकाः, त एव च तेषामर्थाः" (जै. सू. भा. पृ. २९१)। अतः उपनिषद्वाक्य-घटक 'आत्मा' पद भी उसी कर्त्ता-भोक्ता तत्त्व का ही अभिधान करेगा, उससे भिन्न या विपरीत (शुद्ध तत्त्व) का बोधक कदापि नहीं हो सकता।

उक्त शङ्का का समाधान करते हैं—"न"। अर्थात् अहंप्रत्यय का विषय औपनिषद पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि "तत्साक्षित्वेन"। अहंप्रत्यय का विषयीभूत कार्य-करण-संघातरूप जीव का साक्षी होने के कारण ब्रह्म में अहंप्रत्यय की विषयता नहीं हो सकती। आशय यह है कि यद्यपि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छां. ६।३।२) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जीव और परमात्मा का पारमार्थिक ऐक्य ही सिद्ध होता है, तथापि उपाधि-विशिष्ट चेतन को जीव और उपाधि-रहित शुद्ध तत्त्व को ब्रह्म या साक्षी कहा जाता है, वह अन्य प्रमाणों का अविषय केवल उपनिषद्वाक्यों के द्वारा ही प्रतिपादित होता है। इसी रहस्य का विस्तार किया जाता है—"न ह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी"। उस साक्षी तत्त्व को विधि का अङ्ग नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि "आत्मत्वादेव"। समस्त भोग्यवर्ग आत्मा के लिए है, आत्मा अन्य किसी के लिए नहीं होता, जैसा कि श्रुति कहती है—"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं

विनश्यति । पुरुषो विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अत

भामती

नाप्युपादेयः । सर्वस्य हि प्रपञ्चजातस्य ब्रह्मैव तत्त्वमात्मा । न च स्वभावो हेयोऽशक्यहानत्वात् । न चोपादेयः, उपात्तत्वात् । तस्माद्धेयोपादेयविषयौ विधिनिषेधौ न तद्विपरीतमात्मतत्त्वं विषयीकुरुत इति सर्वस्य प्रपञ्चजातस्यात्मैव तत्त्वमिति । एतदुपपादयति ॐसर्वं विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति॥ । अयमर्थः—पुरुषो हि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणतदविरुद्धन्यायव्यवस्थापितत्वात् परमार्थसन् । प्रपञ्चस्त्वनाद्यविद्योपदर्शितोऽपरमार्थसन् । यश्च परमार्थसन्नसौ प्रकृती रज्जुतत्त्वमिव सर्पविभ्रमस्य विकारस्य । अत एवास्यानिर्वाच्यत्वेनादृढस्वभावस्य विनाशः । पुरुषस्तु परमार्थसन् नासौ कारणसहस्रेणाप्यसन् शक्यः कर्तुम् । न हि सहस्रमपि शिल्पिनो घटं पटयितुमीशत इत्युक्तम् । तस्मादविनाशिपुरुषान्तो विकारविनाशः शुक्तिरज्जुतत्त्वान्त इव रजतभुजङ्गविनाशः । पुरुष एव हि सर्वस्य प्रपञ्चविकारजातस्य तत्त्वम् । न च पुरुषस्यास्ति विनाशो यतोऽनन्तो विनाशः स्यादित्यत आह ॐ पुरुषो विनाशहेत्वभावाद् इति ॐ । न हि कारणानि सहस्रमप्यन्यदन्ययितुमीशत इत्युक्तम् । अथ मा भूत् स्वरूपेण पुरुषो हेय उपादेयो वा, तदीयस्तु कश्चिद्धर्मो हास्यते कश्चिच्चोपादास्यत इत्यत आह ॐ विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः ॐ । त्रिविधोऽपि धर्मलक्षणावस्थापरिणामलक्षणो विकारो नास्तीत्युक्तम् । अपि चात्मनः परमार्थसतो धर्मोऽपि

भामती—व्याख्या

प्रियं भवति" (बृह० उ० ४।५।६) । समस्त प्रपञ्च का आत्मा होने के कारण किसी के द्वारा वह न हेय हो सकता है और न उपादेय । 'घटः सन्', 'पटः सन्' इत्यादि सद्रूप से प्रतीयमान ब्रह्म तत्त्व सभी घटादि सत्पदार्थों का स्वरूप है, स्वरूप का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वह आगन्तुक पदार्थ नहीं । इसी प्रकार वह उपादेय नहीं, क्योंकि कभी अप्राप्त नहीं, सदैव प्राप्त है । इस प्रकार यह स्थिर हो जाता है कि विधि-निषेध वाक्य सदैव हेय और उपादेय वस्तु को विषय करते हैं, उनसे विपरीत (हेयोपादेय-रहित) आत्मतत्त्व को विषय नहीं कर सकते । समस्त हेयोपादेय प्रपञ्च का अधिष्ठान होने के कारण ब्रह्म प्रपञ्च का आत्मा कहलाता है । इस सिद्धान्त का उपपादन किया जाता है—"सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति" । अभिप्राय यह है कि पुरुषतत्त्व श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण एवं श्रुत्याद्यविरुद्ध न्यायों के द्वारा व्यवस्थापित एक परमार्थसत् तत्त्व है, किन्तु प्रपञ्च अनादि अविद्या के द्वारा कल्पित अपरमार्थ पदार्थ है । जो परमार्थसत् तत्त्व है, वह समस्त विकार वर्ग की वैसे ही प्रकृति (अधिष्ठान) है, जैसे सर्प-विभ्रम की प्रकृति रज्जुतत्त्व होता है । अत एव यह प्रपञ्च अस्थिरस्वभाव का होने से विनश्वर किन्तु इसका अधिष्ठान परमार्थ तत्त्व स्थिर कूटस्थ नित्य परमार्थसत् अविनाशी है । यह किसी भी कारण-कलाप के द्वारा असत् नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि हजार शिल्पी एकत्र हो जाँय, तब भी घट को पट नहीं बना सकते यह कहा जा चुका है, अतः अविनाशी पुरुष को छोड़कर वहाँ तक का समस्त विकार-वर्ग वैसे नष्ट हो जाता है, जैसे शुक्ति और रज्जु तत्त्व-पर्यन्त रजत और सर्प-विभ्रम विनष्ट हो जाता है । तत्त्व का विनाश नहीं होता, समस्त विकार-वर्ग का पुरुष ही एकमात्र तत्त्व है । पुरुष तत्त्व का विनाश नहीं होता कि विनाश सीमित न होकर अनन्त हो जाता—"पुरुषो विनाशहेत्वभावादविनाशी" । किसी भी कारण पदार्थ की यह क्षमता नहीं कि नित्य तत्त्व को अनित्य बना सके—यह कई बार कहा जा चुका है । जैसे आकाशतत्त्व हेय और उपादेय नहीं, फिर भी उसका शब्दरूप धर्म हेय और उपादेय होता है, वैसे ही पुरुष तत्त्व का भी कोई धर्म हेय और उपादेय हो सकता है—ऐसी सम्भावना का निराकरण किया जा रहा है—विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः" । धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था-

एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः । तस्मात् 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (काठ० १।३।११) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह० ३।९।२६) इति चौपनिषद-त्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्व उपपद्यते । अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम् ।

यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इत्ये-वमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम् । अपि च 'आम्ना-

भामती

परमार्थसन्निति न तस्यात्मवदन्यथात्वं कारणैः शक्यं कर्तुम् । न च धर्मान्यथात्वादन्यो विकारः । तदिदमुक्तम्—विक्रियाहेत्वभावादिति । सुगममन्यत् । यत् पुनरेकदेशिना शास्त्रविद्वचनं साक्षित्वेनानुक्रान्तं तदन्यथोपपादयति ॐ यदपि शास्त्रतात्पर्य्यविदामनुक्रमणम् इति ॐ । दृष्टो हि तस्यार्थः प्रयोजनवदर्थाव-बोधनमिति वक्तव्ये धर्मजिज्ञासायाः प्रकृतत्वाद्धर्मस्य च कर्मत्वात् कर्मावबोधनमित्युक्तम् । न तु सिद्धरूप-ब्रह्मावबोधनं व्यापारं वेदस्य वारयति । न हि सोमशर्मणि प्रकृते तद्गुणाभिधानं परिसञ्चष्टे विष्णुशर्मणो गुणवत्ताम् । विधिशास्त्रं विधीयमानकर्मविषयं प्रतिषेधशास्त्रं च प्रतिषिध्यमानकर्मविषयमित्युभयमपि कर्मावबोधपरम् । अपि चाम्नायस्य क्रियार्थत्वादिति शास्त्रकृद्वचनं तत्रार्थग्रहणं यद्यभिधेयवाचि ततो भूतार्थानां द्रव्यगुणकर्मणामानर्थक्यमनभिधेयत्वं प्रसज्येत, न हि ते क्रियार्था इत्यत आह ॐ अपि चाम्ना-यस्य इति ॐ । यद्युच्येत न हि क्रियार्थत्वं क्रियाभिधेयत्वमपि तु क्रियाप्रयोजनत्वं द्रव्यगुणशब्दानां च

भामती—व्याख्या

परिणाम—ये तीनों प्रकार के परिणाम या विकार कूटस्थनित्य तत्त्व के नहीं होते—यह भी कह चुके हैं । दूसरी बात यह भी है कि आकाश नित्य नहीं, अतः उसका धर्म भी नित्य नहीं, किन्तु पुरुषतत्त्व नित्य है, अतः उसका यदि कोई धर्म होगा, तब वह भी नित्य होगा, अतः उसका भी अन्यथाकरण सम्भव नहीं, धर्मान्यथात्व का नाम ही विकार है, अत एव कहा गया है—"विक्रियाहेत्वभावात्" । शेष भाष्य सुगम है ।

एकदेशी ने जो शाबर वचन का अपने मत में साक्ष्य दिया था, उसका अन्यथा उपपा-दन किया जा रहा है—"यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—"दृष्टो हि तस्यार्थः कर्माव-बोधनं नाम' इत्येवमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद् विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम् ।" श्री शबरस्वामी ने जो यह कहा है कि "दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम" (जै. सू. भा. पृ. ६) । वहाँ 'दृष्टो हि तस्यार्थः प्रयोजनवदर्थावबोधनम्'—ऐसा कहना चाहिए था, किन्तु धर्मजिज्ञासा का प्रसङ्ग है, धर्म ही कर्म है, अतः 'कर्मावबोधनम्'—ऐसा कह दिया गया है । उसका तात्पर्य सिद्धरूप ब्रह्म के अवबोधनरूप व्यापार से वेद को विरत करना नहीं है । जैसे सोमशर्मा सामने है, अतः उसके गुणों का वर्णन कर दिया गया, उसका तात्पर्य विष्णुशर्मा की गुणवत्ता के निषेध में कदापि नहीं, वैसे ही प्रकृत में । विधि-शास्त्र विधीयमान कर्म को विषय करता है और निषेध-शास्त्र निषिध्यमान हिंसादि कर्मों को विषय करता है—इस प्रकार दोनों शास्त्र कर्मावबोधपरक होते हैं । यह जो जैमिनि-सूत्र उद्धृत किया गया है—"आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्" (जै. सू. १।२।१) । इसमें 'क्रियार्थत्वात्' और 'आनर्थक्यम्'—यहाँ पर 'अर्थ' पद अभिधेयपरक है ? अथवा प्रयोजनपरक ? यदि अभिधेय-परक है, तब 'ये ये क्रियार्था (क्रियारूपाभिधेयाः) ते ते सार्थकाः (अभिधेयाः)' ऐसी व्याप्ति फलित होती है । तब तो सिद्धस्वरूप द्रव्य, गुण और कर्म अनर्थक (अनभिधेय) हो जाते हैं, क्योंकि वे क्रियारूप अर्थ नहीं हैं, व्यापक के अभाव में व्याप्य का अभाव होना स्वाभाविक है, भाष्यकार कहते हैं—अपि "आम्मायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" इत्येतदैकान्ते-नाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्य प्रसङ्गः" । यदि कहा जाय कि 'क्रियार्थत्व' से 'क्रिया-

यस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन,

भामती

क्रियार्थत्वेनैव भूतद्रव्यगुणाभिधानं न स्वनिष्ठतया। यथाहुः शास्त्रविदः 'चोदना हि भूतं भवन्तम्' इत्यादि। एतदुक्तं भवति कार्य्यमर्थमवगमयन्ती चोदना तदर्थं भूतादिकमप्यर्थं गमयतीति, तत्राह ❀ प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यतिरेकेण भूतं चेद् इति ❀। अयमभिसन्धिः—न तावत् कार्य्यार्थ एव स्वार्थे पदानां सङ्गतिग्रहो नान्यार्थ इत्युपपादितं भूतेऽप्यर्थे व्युत्पत्ति दर्शयद्भिः। नापि स्वार्थमात्रपरतैव पदानां, तथा सति न वाक्यार्थप्रत्ययः स्यात्। न हि प्रत्येकं स्वप्रधानतया गुणप्रधानभावरहितानामेकवाक्यता दृष्टा। तस्मात् पदानां स्वार्थमभिदधतामेकप्रयोजनवत् पदार्थपरतयैकवाक्यता। तथा च तत्तदर्थान्तरविशिष्टैकवाक्यार्थप्रत्यय उपपन्नो भवति, यथाहुः शास्त्रविदः—

साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥ इति।

भामती-व्याख्या

भिधेयत्व विवक्षित नहीं, अपितु 'क्रियाप्रयोजनकत्व' विवक्षित है, सिद्धात्मक द्रव्य, गुण और कर्मादि का अभिधान क्रियाप्रयोजनकत्वेन ही होता है, स्वतन्त्र नहीं। श्री शबरस्वामी कहते हैं—"चोदना हि भूतं भवन्तं....शक्नोत्यवगमयितुम्" (शबर. पृ. १३)। आशय यह है कि कार्यरूप अर्थ का बोध कराती हुई चोदना (विधि) उस कार्य (क्रिया) के लिए भूत (सिद्ध) आदिरूप अर्थों का बोध कराती है—यही भाष्यकार कह रहे हैं—"प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यतिरेकेण भूतं चेद् वस्तुपदिशति भव्यार्थत्वेन"। भाव यह है कि 'कार्यरूप अर्थ में ही शब्दों का शक्ति-ग्रह होता है, अन्य (सिद्धार्थ) में नहीं'—ऐसे नियम का निराकरण सिद्धार्थ में संगति-ग्रह दिखाते हुए पहले किया जा चुका है। यह भी कोई नियम नहीं कि पद केवल स्वार्थ का ही बोधक होता है, क्योंकि तब तो वाक्यार्थ में संसर्गरूप अर्थ का भान न हो सकेगा, क्योंकि वाक्यार्थ गुण-प्रधानादि के रूप में एकवाक्यतापन्न होता है, सभी पद यदि अपने-अपने अर्थों का प्रधानतया बोध कराते है, गुण-प्रधानभाव से नहीं, तब उनमें एकवाक्यता सम्भव न हो सकेगी। अतः वाक्य-घटक पद परस्पर-निरपेक्ष स्वार्थमात्र का प्रपितादन न करके एक प्रयोजनवत्ता का निर्वाह करने के लिए गुण-प्रधानभावेन साकाङ्क्षपदार्थों का अभिधान करते हैं, जिससे नानागुणपदार्थ-विशिष्ट एक प्रधान अर्थ की गमकता वाक्य में उपपन्न हो जाती है, जैसा कि श्री कुमारिलभट्ट कहते हैं—

साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णाः तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥ (श्लो. वा. पृ. ९४३)

[वाक्य के घटकीभूत पद यद्यपि अपने शुद्ध (इतरार्थानन्वित) स्वार्थ के वाचक होते हैं, तथापि केवल स्वार्थ का प्रतिपादन कर देने से न तो वाक्यार्थ-बोध होता है और न प्रवृत्त्यादि, अतः प्रवृत्त्यादि का सम्पादन करने के लिए इतरार्थान्वित स्वार्थ की लक्षकता पदों में वैसे ही नान्तरीयक (अनिवार्य) होती है, जैसे ओदनादि का पाक सम्पादन करने के लिए चूल्हे में लगी सभी लकड़ियाँ एक ऐसी मिलित ज्वाला को जन्म देती हैं, जिससे पाक सम्पन्न होता

कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः ? न हि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति। अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्, नैष दोषः; क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव। क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न

भामती

तथा चार्थान्तरसंसर्गपरतामात्रेण वाक्यार्थप्रत्ययोपपत्तौ न कार्य्यसंसर्गपरत्वनियमः पदानाम्। एवं च सति कूटस्थनित्यब्रह्मरूपपरत्वेऽप्यवोध इति। ॐ भव्यं ॐ कार्य्यम्। ननु यद्भव्यार्थं भूतमुपदिश्यते न तद् भूतं भव्यसंसर्गिणा रूपेण तस्यापि भव्यत्वादित्यत आह ॐ न हि भूतमुपदिश्यमानम् इति ॐ। न तादात्म्यलक्षणः संसर्गः, किन्तु कार्य्येण सह प्रयोजनप्रयोजनिलक्षणोऽन्वयः। तद्विषयेण तु भावार्थेन भूतार्थानां क्रियाकारकलक्षण इति न भूतार्थानां क्रियार्थत्वमित्यर्थः। शङ्कते ॐ अक्रियात्वेऽपि इति ॐ। एवं चाक्रियार्थकूटस्थनित्यब्रह्मोपदेशानुपपत्तिरिति भावः। परिहरति ॐ नैष दोषः, क्रियार्थत्वेऽपि इति ॐ। न हि क्रियार्थं भूतमुपदिश्यमानमभूतं भवति। अपि तु क्रियानिर्वर्त्तनयोग्यं भूतमेव तत्। तथा च भूतेऽर्थेऽवधृतशक्तयः शब्दाः क्वचित् स्वनिष्ठभूतविषया दृश्यमाना मुख्या गौर्ण्या वा न कथञ्चित् क्रिया-निष्ठतां गमयितुमुचिताः। नह्युपहितं शतशो दृष्टमप्यनुपहितं क्वचिद् दृष्टमदृष्टं भवति। तथा च वर्त्तमानापदेशा अस्तिक्रियोपहिता अकार्य्यार्था अप्यटवीवर्णकादयो लोके बहुलमुपलभ्यन्ते, एवं क्रियाऽनिष्ठा

भामती–व्याख्या

है]। फलतः इतरार्थान्वित स्वार्थपरता के विना पदों के द्वारा वाक्यार्थविबोध (संसर्गज्ञान) सम्भव नहीं, अतः जब इतरार्थान्वय-ज्ञान के द्वारा वाक्यार्थ सम्पन्न हो जाता है, तब पदों में कार्यरूपार्थान्वयपरत्व का नियम व्यर्थ है। वेदान्त-वाक्य भी कूटस्थ नित्य ब्रह्म का समर्पण अबाध गति से कर सकते हैं, इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं। "भूतं चेद् वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन"—इस भाष्य में 'भव्य' शब्द का अर्थ है—कार्य (अपूर्व और उसकी साधनीभूत यागादि क्रिया) श्री शबरस्वामी भी कहते हैं—"भव्यं कर्म, भूतं द्रव्यम्" (शावर. पृ. १२४८)। जैसे मृत्तिका-संसृष्ट घटादि मृण्मय माने जाते हैं, वैसे भव्य-संसर्गी भूत (द्रव्य) पदार्थ भी भव्य क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—"य हि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति।" दृष्टान्त (मृत्तिका और घट) में तादात्म्य संसर्ग होने के कारण घट में मृण्मयता मानी जाती है, किन्तु भूत और भव्य का तादात्म्य संसर्ग नहीं माना जाता। 'भव्य' शब्द से अपूर्व और उसकी साधनीभूत यागादि क्रिया विवक्षित होती है। अपूर्व के साथ व्रीहि आदि द्रव्य का प्रयोजन-प्रयोजनीभाव एवं अपूर्व की जनकीभूत यागादि क्रिया के साथ क्रिया-कारकभाव सम्बन्ध होता है, तादात्म्य नहीं कि जिससे भूत में भव्यत्वापत्ति हो जाती।

शङ्का—"अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात् क्रियार्थ एव भूतोपदेशः"। यह सत्य है कि व्रीह्यादि भूत पदार्थ कभी भव्य या क्रियारूप नहीं हो सकते, किन्तु वेद में उन्हीं भूत पदार्थों का उपदेश होता है, जो क्रिया के आश्रय या जनक होते है, ब्रह्म पदार्थ वैसा भूत नहीं, अतः उसका वेद-पदों के द्वारा प्रतिपादन क्योंकर होगा ?

समाधान—"नैष दोषः, क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव"। अन्वितार्थ का पद लक्षक होता है, वाचक नहीं, वाचक शुद्ध (इतरार्थानन्वित) स्वार्थ का ही होता है, अतः मर-खप करके भूत वस्तु के साथ क्रियान्वयन का लाभ कर लेने पर भी शुद्ध भूतार्थ में भूत-पदों की शक्ति का अपलाप नहीं हो सकता। क्रिया-जनन शक्ति से युक्त होने पर भी भूत भूत ही रहता है, अतः भूत-पदों को भूतार्थ में अवधृत शक्ति अपने क्रिया-विशिष्ट अर्थ के समान उपहित (उपाधि से उपलक्षित) अर्थ का भी उपस्थापन कर सकती है। अतः एव अस्ति क्रिया से उपहित अटवी (वन) एवं पर्वतादि के वर्णन प्रचुररूप में उपलब्ध होते हैं, जैसे—

चेतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति। यदि नामोपदिष्टं, किं तव तेन स्यादिति ? उच्यते— अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतो- र्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन। अपि च

भामती

अपि सम्बन्धमात्रपर्यवसायिनः, यथा कस्यैष पुरुष इति प्रश्नोत्तरं राज्ञ इति, तथा प्रातिपदिकार्थमात्र- निष्ठा, यथा कीदृशास्तरव इति प्रश्नोत्तरं फलिन इति, न हि पृच्छता पुरुषस्य वा तरूणां वाऽस्तित्वना- स्तित्वे प्रतिपित्सिते, किन्तु पुरुषस्य स्वामिभेदस्तरूणां च प्रकारभेदः। प्रष्टुरपेक्षितं चाचक्षाणः स्वामि- भेदमेव च प्रकारभेदरूपमेव च प्रतिवक्ति, न पुनरस्तित्वं, तस्य तेनाप्रतिपित्सितत्वात्। उपपादिता च भूतेऽप्यर्थे व्युत्पत्तिः प्रयोजनवति पदानाम्।

चोदयति ® यदि नामोपदिष्टं ® भूतं किं तव उपदेष्टुः श्रोतुर्वा प्रयोजनं ® स्यात् ®। तस्माद् भूतमपि प्रयोजनवदेवोपदेष्टव्यं नाप्रयोजनम्, अप्रयोजनं च ब्रह्म तस्योदासीनस्य सर्वक्रियारहि- तत्वेनानुपकारकत्वादिति भावः। परिहरति ® अनवगतात्मोपदेशश्च ® तथैव प्रयोजनवानेव भवितु- मर्हति ®। अप्यर्थश्चकारः। एतदुक्तं भवति— यद्यपि ब्रह्मोदासीनं तथापि तद्विषयं शाब्दज्ञानमवगति- पर्यन्तं विद्या स्वविरोधिनीं संसारमूलमविद्यामुच्छिन्दत् प्रयोजनवदित्यर्थः। अपि च येऽपि कार्यपरत्वं

भामती–व्याख्या

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्यामिव मानदण्डः॥"

इसी प्रकार 'क्रिया' पद का प्रयोग किए बिना ही सम्बन्धमात्र के उपस्थापक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे—'कस्यैष पुरुषः ?' इस प्रश्न का उत्तर है—'राज्ञः'। केवल प्रातिपदि- कार्थ के बोधक पद भी होते हैं, जैसे 'कीदृशास्तरवः ?' इस प्रश्न का उत्तर है—'फलिनः'। यहाँ प्रश्न-कर्त्ता के द्वारा प्रथम प्रश्न में पुरुष और द्वितीय प्रश्न में तरु (वृक्ष) समूह के अस्तित्व या नास्तित्व की जिज्ञासा नहीं की गई कि उत्तर वाक्य में क्रिया-पद का प्रयोग आवश्यक होता। यहां तो केवल पुरुष के स्वामी और तरुओं के प्रकार की जिज्ञासा की गई है, अतः 'राज्ञः' और 'फलिनः'—इतना कह देना पर्याप्त माना जाता है, क्योंकि उत्तर-कर्ता जिज्ञासितमात्र का ही अभिधान किया करता है, अजिज्ञासित का नहीं। क्रिया-सम्बन्ध के बिना भी सिद्धार्थक पदों का शक्ति-ग्रह एवं सिद्धार्थ प्रयोजनवान् होता है—यह कह चुके हैं।

पूर्वपक्षी शङ्का करता है—"यदि नामोपदिष्टम्, किं तव तेन स्यात् ?" अर्थात् यदि भूत (सिद्ध) वस्तु का उपदेश देखा जाता है, तब उससे वक्ता या श्रोता का क्या लाभ ? अतः उसी सिद्धार्थ का उपदेश करना चाहिए, जो सप्रयोजन हो, ब्रह्म अत्यन्त प्रयोजन-शून्य है, क्योंकि वह कूटस्थ, विभु और उदासीन है, उसमें किसी क्रिया का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः उससे किसी प्रकार का उपकार सम्भव नहीं।

उक्त शङ्का का परिहार किया जाता है—"अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितु- मर्हति।" 'तथैव' शब्द का यहाँ अर्थ है—प्रयोजनवान्। 'आत्मवस्तूपदेश्च'—यहाँ चकार का प्रयोग 'अपि' के अर्थ में हुआ है। आशय यह है कि यद्यपि ब्रह्म कूटस्थ, विभु और उदासीन है, तथापि ब्रह्मविषयक अवगति-पर्यन्त (साक्षात्कारात्मक) बोध वह ब्रह्म-विद्या है, जो अपनी विरोधिनी संसार की मूलभूत अविद्या का समूल उच्छेद कर डालती है, इससे बढ़ कर और प्रयोजन या उपकार क्या होगा ?

दूसरी बात यह भी है कि जो आचार्य सभी पदों में कार्यपरत्व आवश्यक मानते हैं, वे

भामती

सर्वेषां पदानामास्थियत, तैरपि ब्राह्मणो न हन्तव्यो न सुरा पातव्येत्यादीनां न कार्य्यपरता शक्याऽऽस्थातुम् । कृत्युपहितमर्य्यादं हि कार्य्यं कृत्या व्याप्तं तन्निवृत्तौ निवर्त्तते शिंशपात्वमिव वृक्षत्वनिवृत्तौ । कृतिर्हि पुरुषप्रयत्नः, स च विषयाधीननिरूपणः । विषयश्चास्य साध्यस्वभावतया भावार्थ एव पूर्वापरीभूतोऽन्योत्पादानुकूलो भवितुमर्हति, न द्रव्यगुणौ । साक्षात् कृतिव्याप्यो हि कृतेर्विषयः, न च द्रव्यगुणयोः सिद्धयोरस्ति कृतिव्याप्यता । अत एव शास्त्रकृद्वचः "भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत" इति । द्रव्यगुणशब्दानां नैमित्तिकावस्थायां .कार्य्यावमर्शेऽपि भावस्य स्वतो द्रव्यगुणशब्दानां तु भावयोगात् कार्य्यावमर्श इति भावार्थेभ्य एवापूर्वावगतिर्न द्रव्यगुणशब्देभ्य इति । न च 'दध्ना जुहोति' 'सन्ततमाघारयति' इत्यादिषु द्रव्यादीनां कार्य्यविषयता । तत्रापि हि होमाघारभावार्थविषयमेव कार्य्यम् । न चैतावता सोमेन यजेतेतिवत् , दधिसन्ततादिविशिष्टहोमाघारविधानात् 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'आघारमभिघारयति' इति तदनुवादः । यद्यप्यत्रापि भावार्थविषयमेव कार्य्यम् । तथापि भावार्थानुबन्धतया द्रव्यगुणाव-

भामती—व्याख्या

आचार्य भी "ब्राह्मणो न हन्तव्यः", "न सुरा पातव्या"—इत्यादि निषेध-वाक्यों में कार्यपरत्व का उपपादन नहीं कर सकते, क्योंकि मनुष्य की कृति (प्रयत्न) से साध्य पदार्थ को कार्य कहा जाता है, अतः 'यद् यत्कार्यम्, तत्तत् कृतिसाध्यम्'—इस व्याप्ति के अनुसार कार्य व्याप्य और कृति व्यापक सिद्ध होती है। निषेध-स्थल पर कृतिरूप व्यापक की निवृत्ति हो जाने से कार्यत्व की भी निवृत्ति वैसे ही हो जाती है, जैसे शिंशपात्व की वहाँ निवृत्ति हो जाती है, जहाँ वृक्षत्व नहीं रहता, श्रीधर्मकीर्ति कहते हैं—"व्यापकानुपलब्धिर्यथा नात्र शिंशपा वृक्षाभावात्" (न्या. वि. पृ. १२९)। कृति नाम है—पुरुष के प्रयत्न का, कृति या प्रयत्न का निरूपण उसके विषय पर निर्भर है, कृति का विषय होता है—साध्यस्वरूप धात्वर्थ (पचनादि) श्री प्रभाकर मिश्र भी कहते हैं—"तस्य च विषयाधीनप्रतिपत्तित्वाद्, भावार्थानां विषयबोधकत्वात्" (बृहती पृ. २९७)। धात्वर्थ के लिए निरुक्तकार ने कहा है—"पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति, पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्" (निरुक्त. पृ. ४)। न्याय भाष्यकार ने पचति का स्वरूप बताते हुए कहा है—"नानाविधा चैकार्था क्रिया पचतीति—स्थाल्यधिश्रयणम्, उदकासेचनम्, तण्डुलावपनम्, एधोऽपसर्पणम्, अग्न्यभिज्वालनम्, दर्वीघट्टनम्, मण्डस्रावणम्, अधोऽवतारणम्" (न्या. भा. पृ. ७४)]। पौर्वापरीभूत पाक क्रिया तण्डुलगत विक्लेदन-जनक होती है। यही क्रिया कृति की विषय है, द्रव्य और गुणादि नहीं। महर्षि जैमिनि कहते हैं—"भावार्थाः कर्मशब्दाः, तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत" एष ह्यर्थो विधीयते (जै. सू. २।१।१)। प्रभाकर की रीति से सूत्र का अर्थ यह है कि शाब्द बोध के अवसर पर प्रथम क्षण में प्रत्येक पद अपने सम्बन्धी शुद्ध अर्थ का स्मारक और द्वितीय क्षण में कार्यान्वित स्वार्थ का अभिधायक होता है। शुद्ध (अनन्वित) अर्थ को निमित्त और अन्वित (कार्यान्वित) अवस्था को नैमित्तिक कहा जाता है। नैमित्तिक अवस्था में तो द्रव्य, गुणादि के वाचक शब्द भी कार्यार्थक होते हैं, किन्तु शुद्ध अवस्था में केवल भावार्थक (धातु) शब्द ही विषयोपस्थापन के द्वारा कार्य (अपूर्व) का बोधक होता है, अतः यागादि क्रिया के वाचक (भावार्थ) शब्दों से ही क्रिया (अपूर्वरूप कार्य) का अभिधान माना जाता है और उसी (यागादि) का ही विधान किया जाता है।

शङ्का—जैसे कार्य (अपूर्व) के विषयीभूत यागादि का विधान माना जाता है, वैसे ही "दध्ना जुहोति", "सन्ततमाघारयति"—इत्यादि स्थलों पर दधिरूप द्रव्य एवं घृत का सन्तत (अटूट धारा के रूप में) क्षरणरूप गुण भी कार्य (अपूर्व) के विषय या अवच्छेदक

भामती

विषयावपि विधीयेते । भावार्थो हि कारकव्यापारमात्रतयाऽविशिष्टः कारकविशेषेण द्रव्यादिना विशेष्यत इति द्रव्यादिस्तदनुबन्धः । तथा च भावार्थे विधीयमाने स एव सानुबन्धो विधीयत इति द्रव्यगुणाव-विषयावपि तदनुबन्धतया विहितौ भवतः । एवं च भावार्थप्रणालिकया द्रव्यादिसङ्क्रान्तो विधिर्गौरवाद् बिभ्यत् स्वविषयस्य चान्यतः प्राप्ततया तदनुवादेन तदनुबन्धीभूतद्रव्यादिपरो भवतीति सर्वत्र भावार्थ-विषय एव विधिः । एतेन यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवतीत्यत्र सम्बन्धविषयो विधिरिति परास्तम् । ननु न भवत्यर्थो विधेयः, सिद्धे भवितरि लब्धरूपस्य भवनं प्रत्यकर्तृत्वात् । न खलु गगनं भवति । नाप्यसिद्धेऽ-सिद्धस्यानियोज्यत्वाद् , गगनकुसुमवत् । तस्माद् भवनेन प्रयोज्यव्यापारेणाक्षिप्तः प्रयोजकस्य भावयितु-र्व्यापारो विधेयः । स च व्यापारो भावना कृतिः प्रयत्न इति । निर्विषयश्चासावशक्यप्रतिपत्तिरतो विषया-पेक्षायामाग्नेयशब्दोपस्थापितो द्रव्यदेवतासम्बन्ध एवास्य विषयः । ननु व्यापारविषयः पुरुषप्रयत्नः कथमव्यापाररूपं सम्बन्धं गोचरयेत् । नहि घटं कुर्वित्यत्रापि साक्षाद्धात्वर्थं घटं पुरुषप्रयत्नो गोचरयत्यपि

भामती-व्याख्या

होते हैं, अतः उनका भी विधान क्यों न किया जाय ?

समाधान—वहाँ भी जुहोत्यर्थ (होम) और आघार (क्षारण) रूप भावार्थ ही कार्य का विषय माना जाता है, अतः साक्षात् विषय का ही विधान न्याय-संगत है ।

शङ्का—यदि दध्यादि में भी भावार्थ का ही विधान होता है, तब जैसे "सोमेन यजेत" (तै. सं. ३।२।२) इस वाक्य के द्वारा सोम-विशिष्ट याग का विधान होता है, वैसे ही "दध्ना जुहोति" और "सन्ततमाघारयति" इत्यादि वाक्य भी क्रमशः होम और आघार कर्म के विधायक हो जाएँगे और "अग्निहोत्रं जुहोति" (तै. सं. १।५।९।१) एवं "आघार-माघारयति" (तै. सं. २।५।११।६) इन दोनों वाक्यों को क्रमशः होम और आघार का अनुवादक मानना पड़ेगा ।

समाधान—यद्यपि यहाँ पर भी कार्य (अपूर्व) भावार्थविषयक ही है, तथापि भावार्थ के विशेषक होने के कारण कार्य के अविषयीभूत भी द्रव्य और गुण विहित हो जाते हैं । द्रव्यादि से विशिष्ट भावार्थ का विधान गौरव-ग्रस्त होता है, अतः विशिष्ट-विधान वहाँ ही अगत्या माना जाता है, जहाँ वाक्यान्तर से कर्म का विधान न हो सकता हो, अग्निहोत्रं जुहोति—इत्यादि वाक्यों के द्वारा विहित भावार्थ के अनुवाद से "दध्ना जुहोति", "पयसा जुहोति"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा केवल दध्यादि गुण का विधान मानने में ही लाघव होता है । "सोमेन यजेत"—यहाँ पर कोई वाक्यान्तर ऐसा उपलब्ध नहीं होता जो केवल भावार्थ का विधायक माना जा सके, अतः वहाँ अगत्या विशिष्ट विधान मानना पड़ता है. किन्तु प्रकृत में वैसा नहीं । फलतः सिद्धार्थ कहीं पर भी साक्षाद् विधेय नहीं होता, अपितु भावार्थ ही विधेय होता है । अत एव जो लोग "यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" (तै. सं. २।६।३३) यहाँ पर द्रव्य के साथ अग्न्यादि देवताओं के सम्बन्धमात्र का विधान मानते थे, उनका निराकरण हो जाता है, क्योंकि सम्बन्ध पदार्थ भी द्रव्यादि के समान सिद्धार्थ है, अतः वह साक्षाद् विधेय नहीं हो सकता ।

शङ्का—उक्त स्थल पर यदि द्रव्य-देवता का सम्बन्ध विधीयमान नहीं, तब किसका विधान होता है ? 'भवति' धातु के अर्थभूत भवन का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि भवत्यर्थ का कर्त्ता सिद्ध है ? अथवा असिद्ध ? प्रथम कल्प में विधि ही व्यर्थ है, द्वितीय कल्प में कर्त्तारूप नियोज्य असिद्ध होने के कारण विधित्व सम्भव नहीं । परिशेषतः भवनरूप प्रयोज्य-व्यापार के द्वारा प्रयोजक के व्यापार का आक्षेप होता है, क्योंकि घटादिरूप

भामती

तु दण्डादि हस्तादिना व्यापारयति । तस्माद् घटार्थां कृतिं व्यापारविषयामेव प्रतिपद्यते, न तु स्वरूपतो घटविषयाम्, उद्देश्यतया त्वस्यामस्ति घटो न तु विषयतया, विषयतया तु हस्तादिव्यापार एव । अत एवाग्नेय इत्यत्रापि द्रव्यदेवतासम्बन्धाक्षिप्तो यजिरेव कार्य्यविषयो विधेयः । किमुक्तं भवति आग्नेयो भवतीति, आग्नेयेन यागेन भावयेदिति । अत एव 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते', 'य एवं विद्वानमावास्यां यजते' इत्यनुवादो भवति यदाग्नेय इत्यादिविहितस्य यागषट्कस्य । अत एव च विहितानुवितस्य तस्यैव दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेत्यधिकारसम्बन्धः । तस्मात् सर्वत्र कृतिप्रणालिकया भावार्थविषय एव विधिरित्येकान्तः । तथा च न हन्यान्न पिबेदित्यादिषु यदि कार्य्यमभ्युपेयेत ततस्तद्व्यापिका कृतिरभ्युपेतव्या । तद्व्यापकश्च भावार्थो विषयः । एवञ्च प्रजापतिव्रतन्यायेन पर्य्युदासवृत्त्याऽहननापानसङ्कल्पलक्षणया तद्विषयो विधिः स्याद् । तथा च प्रसज्यप्रतिषेधो दत्तजलाञ्जलिः प्रसज्येत । न च सति

भामती-व्याख्या

उत्पद्यमान या प्रयोज्य का भवतरूप व्यापार तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक प्रयोजक (उत्पादक) का भावन या उत्पादन व्यापार न हो । प्रयोजक के व्यापार को ही भावना, कृति या प्रयत्न कहा जाता है । निर्विषयक कृति की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, अतः विषय की आकांक्षा में 'आग्नेय' शब्द के द्वारा उपस्थापित द्रव्य-देवता का सम्बन्ध ही विषय ठहरता है, अतः उसे ही यहाँ विधेय मानना चाहिए ।

समाधान—कृति या प्रयत्न सदैव क्रिया को ही विषय करता है, सम्बन्ध क्रिया रूप नहीं, अतः उसको विषय क्योंकर करेगा ? जैसे कि "घटं कुरु"—ऐसे प्रयोग में कृतिरूप पुरुष-प्रयत्न घटादि सिद्ध पदार्थों को साक्षात् विषय नहीं कर सकता, अपितु वैसी आज्ञा सुनते ही पुरुष तुरन्त दण्डादि के द्वारा चाक घुमाने लग जाता है, अतः घटोत्पत्ति के अनुकूल कृति का उत्पादनादि व्यापार विषय माना जाता है, स्वरूपतः घटादि नहीं, क्योंकि 'घटं करोति'—इसका अर्थ होता है—'घटाय चक्रं व्यापारयति'। घट उस कृति का केवल उद्देश्य होता है, विषय नहीं । कृति का साक्षात् विषय तो हस्त, दण्ड और चक्रादि का व्यापार ही होता है । अत एव 'आग्नेय.' यहाँ पर भी द्रव्य-देवता-सम्बन्ध के द्वारा आक्षिप्त याग ही विधेय होता है । 'आग्नेयो भवति'—इस वाक्य का अर्थ होता है—'आग्नेयेन यागेनेष्टं भावयेत्' । इसीलिए "य एवंविद्वान् पौर्णमासीं यजते" (तै. सं. १।६।९।१) । "य एवंविद्वानमावास्यां यजते"—ये दोनों वाक्य आग्नेयादि याग के अनुवादक माने जाते हैं ['यदाग्नेयो भवति'—इत्यादि वाक्यों से पूर्णिमा में विहित 'आग्नेय', 'उपांशुयाज' और 'आग्नीषोमीय'—इन तीन यागों का 'पौर्णमासी' पद और अमावास्या में विहित 'आग्नेय' 'ऐन्द्र दधि' और 'ऐन्द्र पयः'—इन तीन कर्मों का अनुवाद 'अमावास्या'—पद के द्वारा माना जाता है, जिससे कि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इस अधिकार-वाक्य में द्विवचन की उपपत्ति हो जाती है । कर्म का फलविशेष के साथ सम्बन्ध-ज्ञान करानेवाले वाक्य को अधिकार-वाक्य कहा जाता है । फलतः सर्वत्र कृति के माध्यम से भावार्थ को ही विधि विषय किया करती है—ऐसा ऐकान्तिक नियम है । अतः "न हन्यात्", "न पिबेत्"—इत्यादि वाक्यों में यदि कोई कार्य माना जाता है, तब उसकी व्यापकीभूत कृति माननी होगी और कृति का व्यापक होता है—भावार्थरूप विषय । यदि यह सब कुछ मान लिया जाता है, तब उक्त वाक्यों से निषेध न होकर 'प्रजापति-व्रत-न्याय' (जै. सू. ४।१।३-९) के आधार पर 'अहनन' और 'अपानादि विषयक सङ्कल्प में उसकी लक्षणा मानकर उक्त सङ्कल्पविषयक विधि का उपपादन किया जायगा । तब तो सर्वत्र पर्युदास वृत्ति को अपनाकर प्रसज्य प्रतिषेध को तिलाञ्जलि ही देनी

'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्येवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते । न च सा क्रिया । नापि क्रियासाधनम् । अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत् 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम् । तच्चानिष्टम् । न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः

भामती

सम्भवे लक्षणा न्याय्या । नेक्षेतोद्यन्तमित्यादौ तु तस्य व्रतमित्यधिकारात् प्रसज्यप्रतिषेधासम्भवेन पर्युदासवृत्त्याऽनीक्षणसङ्कल्पलक्षणा युक्ता । तस्मान्न हन्यान्न पिबेदित्यादिषु प्रसज्यप्रतिषेधेषु भावार्थाभावाद् तद्व्याप्तायाः कृतेरभावस्तदभावे च तद्व्याप्तस्य कार्य्यस्याभाव इति न कार्य्यपरत्वनियमः सर्वत्र वाक्ये इत्याह । ❀ ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्येवमाद्या इति ❀ । ननु कस्मात् निवृत्तिरेव कार्य्यं न भवति, तत्साधनं चेत्यत आह । ❀ न च सा क्रिया इति ❀ । क्रियाशब्दः कार्य्यवचनः । एतदेव विभजते । ❀ अक्रियार्थानाम् इति ❀ ।

स्यादेतत्—विधिविभक्तिश्रवणात् कार्य्यं तावदत्र प्रतीयते, तच्च न भावार्थमन्तरेण । न च

भामती–व्याख्या

होगी । किसी अन्य गति के सम्भव होने पर लक्षणा न्याय-संगत नहीं मानी जाती, जैसा कि महर्षि जैमिनि कहते हैं—"गुणे त्वन्यायकल्पना" (जै. सू. ९।३।१७) । अर्थात् गौणीभूत या अप्रधान अर्थ में ही अन्याय (लक्षणादि) की कल्पना की जाती है । जहाँ प्रसज्य प्रतिषेध सम्भव नहीं, वहाँ अगत्या प्रतिषेध की विधेयार्थ में लक्षणा की जाती है, जैसे—मनुस्मृति में स्नातक व्यक्ति के कर्त्तव्यों की प्रतिज्ञा की गई है—

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ।
स्वर्ग्यायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ।। (मनु. ४।१३)

यहाँ 'व्रत' शब्द का अर्थ है—अनुष्ठेय कर्म । उन व्रतों की गणना में जो कहा गया है—"वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः" (मनु. ४।१४) वह उचित ही है, किन्तु यह जो कह दिया गया है कि "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन" (मनु. ४।३७) । वह सर्वथा अनुचित और विरुद्धाभिधान है, क्योंकि 'ईक्षण' (दर्शन) न करना कोई व्रत या अनुष्ठेय कर्म नहीं, अपितु निषेधात्मक है । कहीं-कहीं प्रतिज्ञा-वाक्य 'तस्य व्रतम्'—ऐसा पाया जाता है, उस प्रतिज्ञा-वाक्य से विरुद्ध होने के कारण यहाँ प्रसज्य-प्रतिषेधपरक 'नेक्षेत' पद की लक्षणा अनीक्षणविषयक सङ्कल्प में की जाती है, उसमें कर्त्तव्यता का निर्वाह हो जाता है । स्नातक के इन व्रतों को प्रजापति-व्रत कहा जाता है, इनका विचार जै. सू. (४।१।३) में किया गया है ।

'न हन्यात्', 'न पिबेत्'—इत्यादि वाक्यों में किसी प्रकार का विरोध उपस्थित न होने के कारण निषेधपरता ही मानी जाती है । वहाँ निषेध्य पदार्थ ही होता है, कोई विधेय नहीं, जब विधेयभूत कोई धात्वर्थ ही वहाँ नहीं, तब भावार्थ-व्याप्त कृति का अभाव और कृति का अभाव होने से कृति-व्याप्त अपूर्वरूप कार्य (नियोग) का अभाव हो जाता है, अतः समस्त वैदिक वाक्यों में कार्यपरत्व का नियम भङ्ग हो जाता है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्येवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते" । निवृत्ति को कार्य (नियोग) या कार्य की साधनीभूत भावार्थात्मक क्रिया क्यों नहीं माना जा सकता ? इस प्रश्न का उत्तर है—"न च सा क्रिया" । यहाँ 'क्रिया' शब्द कार्य (नियोग) का वाचक है । इसी का स्पष्टीकरण किया जा रहा है—"अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेद् ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम्" ।

शङ्का—'हन्तव्यः' इत्यादि पदों में श्रुत विध्यर्थक 'तव्य' प्रत्यय के द्वारा कार्यार्थ की

शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण । नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसंबन्धिनोऽभावं बोधयतीति । अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम् । सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति । तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्य-' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः ।

भामती

रागतः प्रवृत्तस्य हननपानादावकस्मादौदासीन्यमुपपद्यते विना विधारकप्रयत्नम् । तस्मात् स एव प्रवृत्त्युन्मुखानां मनोवाग्देहानां विधारकः प्रयत्नो निषेधविधिगोचरः क्रियेति नाक्रियापरमस्ति वाक्यं किञ्चिदपीत्याह ❀ न च हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुम् ❀ । केन हेतुना न शक्यमित्यत आह ❀ स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः ❀ । अयमर्थः । हननपानपरो हि विधिप्रत्ययः प्रतीयमानस्ते एव विधत्त इत्युत्सर्गः । नचैते शक्ये विधातुम् । रागतः प्राप्तत्वात् । न च नञः प्रसज्यप्रतिषेधो विधेयः । तस्याप्यौदासीन्यरूपस्य सिद्धतया प्राप्तत्वात् । न च विधारकः प्रयत्नः । तस्याश्रुतत्वेन लक्ष्यमाणत्वात् । सति सम्भवे च लक्षणाया अन्याय्यत्वात् । विधिविभक्तेश्च रागतः प्राप्तप्रवृत्त्यनुवादकत्वेन विधिविषयत्वायोगात् । तस्माद् यत् पिबेद् हन्याद्वेत्यनूद्य तन्नेति निषिध्यते, तदभावो ज्ञाप्यते, न तु नञर्थो विधीयते । अभावश्च स्वविरोधिभावनिरूपणतया भावच्छायानुपातीति सिद्धे

भामती–व्याख्या

प्रतीति होती है। कार्य कभी भावार्थरूप क्रिया के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि वह कार्य का विषय और साधन है। हननादि में प्रवृत्त पुरुष तब तक सहसा उदासीन (निवृत्त) नहीं हो सकता, जब तक उसकी प्रवृत्ति का विधारक (अवरोधक) प्रयत्न नहीं किया जाता, अतः प्रवृत्त्युन्मुख पुरुष के मन, वाणी और शरीर का धारक वही प्रयत्न निषेधविधि की विषयीभूत क्रिया माना जाता है। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि क्रियार्थ-निरपेक्ष कोई वाक्य और वाक्यार्थ नहीं होता।

समाधान—उक्त शङ्का का निषेध करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"न च हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुम्"। हनन क्रिया की निवृत्ति के द्वारा औदासीन्य (तटस्थभाव या उपेक्षा) ही उपलक्षित होता है, उससे भिन्न कोई अनुष्ठेय पदार्थ उपस्थित क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर है—"स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः"। अभिप्राय यह है कि 'हन्तव्यः' और 'पातव्यः ? इन पदों में तव्यरूप विधि-प्रत्यय से 'हनन' और 'पान' का विधान कर सकते हैं—यह सहज-सिद्ध है, किन्तु यहाँ हनन और पान का विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि रागतः प्राप्त है [द्वेष के कारण ब्राह्मणादि के हनन और राग के कारण सुरादि के पान में मनुष्य स्वयं प्रवृत्त हो जाता है, ऐसा करने में उसे किसी प्रकार की आज्ञा या प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती]। हननादि से निवृत्त होने के लिए किसी विधारक (प्रतिबन्धक या अवरोधक) प्रयत्न का विधान भी सम्भावित नहीं, क्योंकि यहाँ उसका वाचक कोई पद ही प्रयुक्त नहीं हुआ है। उसमें केवल लक्षणा हो सकती थी, उसका भी कोई निमित्त यहां उपस्थित नहीं, बिना निमित्त के लक्षणा की कल्पना अन्याय है। फिर विधि प्रत्यय क्या करेगा ? इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर है कि रागादि के द्वारा प्राप्त पानादि का वह अनुवाद कर देता है, किसी अज्ञात पदार्थ का विधान नहीं कर सकता। अतः 'यत् पिबेत्', 'यद् हन्यात्', तन्न–इस प्रकार निषेधमात्र किया जाता है। हनन-पानादि का अभाव भी 'नञ्' के द्वारा ज्ञापितमात्र होता है, विहित नहीं, क्योंकि अभाव पदार्थ वस्तुतः सर्वत्र विधेय नहीं होता, उसकी विधेयता का यहाँ भ्रम अवश्य हो जाता है, क्योंकि अभाव एक सप्रतियोगिक पदार्थ है, उसका स्वभाव भी प्रतियोगी के स्वभाव पर

भामती

सिद्धवत् साध्ये च साध्यवद् भासत इति साध्यविषयो नञर्थः साध्यवद् भासत इति नञर्थः कार्य्य इति भ्रमस्तद्विवमाह ® नञश्चैष स्वभावः इति ®। ननु बोधयतु सम्बन्धिनोऽभावं नञ्, प्रवृत्युन्मुखानान्तु मनोवाग्देहानां कुतोऽकस्मान्निवृत्तिरित्यत आह ® अभावबुद्धिश्चौदासीन्यपालनकारणम् ®। अयमभिप्रायः—ज्वरितः पथ्यमश्नीयाद् न सर्पायाङ्गुलिं दद्यादित्यादिवचनश्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यवृद्धस्य पथ्याशने प्रवृत्तिं भुजङ्गाङ्गुलिदानोन्मुखस्य च ततो निवृत्तिमुपलभ्य बालो व्युत्पित्सुः प्रयोज्यवृद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतू इच्छाद्वेषावनुमिमीते। तथाहीच्छाद्वेषहेतुके वृद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती, स्वतन्त्रप्रवृत्तिनिवृत्तित्वात्, मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्तिनिवृत्तिवत्। कर्त्तव्यतैकार्थसमवेतेष्टानिष्टसाधनभावावगमपूर्वकौ चास्येच्छाद्वेषौ, प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतेच्छाद्वेषत्वात्, मत्प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतेच्छाद्वेषवत्। न जातु मम शब्दतद्व्यापारपुरुषाशयत्रैकाल्यानवच्छिन्नभावनापूर्वप्रत्ययपूर्वाविच्छाद्वेषावभूताम्, अपि तु भूयोभूयः स्वगतमालोचयत उक्तकारणपूर्वाविव प्रत्यवभासेते। तस्माद्वृद्धस्य स्वतन्त्रप्रवृत्तिनिवृत्ती इच्छाद्वेषभेदौ च कर्त्तव्यतैकार्थसमवेतेष्टानिष्टसाधनभावावगमपूर्वावित्यानुपूर्व्या सिद्धः कार्य्यकारणभाव इतीष्टानिष्टसाधनतावगमात्प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिनिवृत्तो इति सिद्धम्। स चावगमः प्रागभूतः शब्दश्रवणानन्तरमुपजायमानः शब्दश्रवणहेतुक इति प्रवर्तकेषु वाक्येषु यजेतेत्यादिषु शब्द एव कर्त्तव्यमिष्टसाधनं व्यापारमवगमयंस्तस्येष्टसाधनतां

भामती-व्याख्या

निर्भर है—प्रतियोगी यदि सिद्धार्थ है, तब उसका अभाव सिद्ध के समान और प्रतियोगी यदि असिद्ध या साध्य है, तब उसका अभाव भी साध्य-जैसा प्रतीत हो जाता है। प्रकृत में हननादिरूप प्रतियोगी सिद्ध (प्राप्त) होने के कारण उसका अभाव भी प्राप्त ही है—इस रहस्य का स्पष्टीकरण भाष्यकार कर रहे हैं—"नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधयति"। 'नञ्' का कुछ भी स्वभाव हो, यहाँ हननादि की प्रवृत्ति में अग्रसर व्यक्ति के मन, वाणी और शरीर का अकस्मात् अवरोध क्यों हो जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर है—"अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम्"। आशय यह है कि "ज्वरितः पथ्यमश्नीयात्", "न सर्पायाङ्गुलिं दद्याद्"—इत्यादि वचनों को सुनने के अनन्तर मध्यम वृद्ध की पथ्याहार में प्रवृत्ति और सर्प के बिल में अंगुलि-दानोन्मुखता से निवृत्ति को देख कर शिक्षणार्थी बालक प्रवृत्ति और निवृत्ति की कारणीभूत इच्छा और द्वेष का अनुमान कर लेता है, जिसे शिक्षित-भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है—'वृद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती इच्छाद्वेषहेतुके, स्वतन्त्रप्रवृत्तिनिवृत्तित्वात्, मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्तिनिवृत्तिवत्'। मध्यम वृद्ध की इच्छा इष्ट-साधनता और द्वेष अनिष्ट-साधनता के ज्ञान से होता है, इष्ट-साधनता और अनिष्ट-साधनता सदैव उस पदार्थ में होती है, जो कार्य (कृति-साध्य) हो। अतः मध्य वृद्ध की इच्छा और द्वेष के विषय में ऐसा अनुमान किया जा सकता है—'अस्येच्छाद्वेषौ कार्यनिष्ठेष्टानिष्टसाधनताज्ञानपूर्वकौ, प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतेच्छाद्वेषत्वात्, मदीयप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतेच्छाद्वेषवत्'। बालक ने भली प्रकार यह निश्चय कर रखा है कि हमारे इच्छा और द्वेष कभी भी शब्द (विधि प्रत्यय), शब्दगत व्यापार (शाब्दी भावना), पुरुषाशय (लौकिक प्रेरणा), त्रैकाल्यानवच्छिन्न भावना (वर्तमानादि त्रिकाल-विहित प्रत्यय से अजनित आर्थीभावना) और अपूर्व (नियोग) के ज्ञान से किसी विषय में उत्पन्न नहीं हुए, अपितु वर्तमान विषयों में बार-बार यह अनुभव कर लिया है कि इष्ट-साधनता के ज्ञान से इच्छा और अनिष्ट-साधनता के ज्ञान से द्वेष उत्पन्न होते हैं, अतः मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति-निवृत्ति और इच्छा-द्वेष उसके कृति-साध्यभूत पदार्थ में समुत्पन्न इष्ट-साधनता और अनिष्ट-साधनता के ज्ञान से समुद्भूत हुए हैं। मध्यम वृद्ध को वह ज्ञान शब्द-श्रवण से पहले नहीं था, शब्द-श्रवण के पश्चात् उत्पद्यमान होने के

भामती

कर्त्तव्यतां चावगमयति, अनन्यलभ्यत्वादुभयोः, अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थत्वात् । यत्र तु कर्त्तव्यताऽन्यत एव लभ्यते, यथा न हन्यान्न पिबेदित्यादिषु हननपानप्रवृत्त्यो रागतः प्रतिलम्भात्तत्र तदनुवादेन नञ्समभिव्याहृता लिङादिविभक्तिरन्यतोऽप्राप्तमनयोरनर्थ-हेतु-भावमात्रमवगमयति । प्रत्यक्षं हि तयोरिष्टसाधनभावोऽवगम्यते, अन्यथा रागविषयत्वायोगात् । तस्माद्रागादिप्राप्तकर्त्तव्यतानुवादेनानर्थसाधनता प्रज्ञापनपरं न हन्यान्न पिबेदित्यादिवाक्यं, न तु कर्त्तव्यतापरमिति सुष्ठूक्तमकार्य्यनिष्ठत्वं निषेधानाम् । निषेध्यानां चानर्थसाधनताबुद्धिरेव निषेध्याभावबुद्धिस्तया खल्वयं चेतन आपाततो रमणीयतां पश्यन्नप्यायतिमालोच्य प्रवृत्त्यभावं निवृत्तिमवबुध्य निवर्त्तते, औदासीन्यमात्मनोऽवस्थापयतीति यावत् ।

स्यादेतत्—अभावबुद्धिश्चेदौदासीन्यस्थापनकारणं यावदौदासीन्यमनुवर्त्तेत न चानुवर्त्तते । नह्युदासीनोऽपि विषयान्तरव्यासक्तचित्तस्तदभावबुद्धिमान् । न चावस्थापककारणाभावे कार्य्यावस्थानं दृष्टम् । नहि स्तम्भावपाते प्रासादोऽवतिष्ठतेऽत आह ● सा च दग्धेन्धनाग्निवत् स्वयमेवोपशाम्यति ● । तावदेव खल्वयं प्रवृत्त्युन्मुखो न यावदस्यानर्थहेतुभावमधिगच्छति । अनर्थहेतुत्वाधिगमोऽस्य समूलोद्धारं प्रवृत्ति-

भामती–व्याख्या

कारण शब्द-श्रवण से जनित होता है । अतः "यजेत"—इत्यादि प्रवर्तक वाक्यों में शब्द ही इष्ट-साधनभूत यागादिरूप अनुष्ठेय व्यापार का बोध कराता हुआ यागादिगत इष्ट-साधनता और कर्त्तव्यता का बोध कराता है, क्योंकि वहाँ इष्ट-साधनता और कर्तव्यता—ये दोनों शब्द को छोड़ कर अन्य किसी साधन से प्राप्त न होने के कारण शब्दार्थ कहलाते हैं, जैसा कि प्रसिद्ध न्याय है—"अनन्यलभ्यः शब्दार्थः" । इसके विपरीत जहाँ इष्ट-साधनतादि का ज्ञान अन्यतः (शब्द को छोड़ कर अन्य साधन से) हो जाता है, जैसे कि "न हन्यात्", "न पिबेत्"—इत्यादि स्थलों पर हनन, पान में प्रवृत्ति द्वेष और राग के आधार पर ही उपपन्न हो जाती है, वहाँ लिङादि प्रत्यय उसी का अनुवाद करते हुए 'नञ्' का समभिव्याहार पाकर हनन-पान में केवल अनिष्ट-साधनता का बोध करा देते हैं । हनन-पान में इष्ट-साधनता तो प्रत्यक्षतः प्राप्त है, अन्यथा हनन-पान में द्वेष और राग की विषयता सम्भव न हो सकेगी । अतः रागादि के द्वारा प्राप्त हननादि की कर्तव्यता का अनुवाद करके अनिष्ट-साधनता के बोधक ही "न हन्यात्", "न पिबेत्"—इत्यादि वाक्य होते हैं, कर्तव्यता के विधायक नहीं, अतः भाष्यकार ने अत्यन्त युक्ति-पूर्ण कहा है—"अकार्यनिष्ठत्वं निषेधानाम्" । हिंसादिरूप निषेध्यगत अनिष्ट-साधनता का ज्ञान ही निषेध्याभाव का ज्ञान है । यह चेतन पुरुष सुरा-पानादि में आपाततः रमणीयता देखता है, किन्तु उससे भविष्य में होनेवाले अनर्थ को सोचकर प्रवृत्त्यभावरूप निवृत्ति को अपनाता है, अर्थात् सुरा-पानादि से उदासीन (विरत) हो जाता है ।

शङ्का—प्रवृत्त्यभाव का ज्ञान यदि औदासीन्य की स्थापना का कारण होता, तब उस ज्ञान को तब तक बराबर रहना चाहिए था, जब तक कि उदासीनता रहती है, किन्तु नहीं रहता, क्योंकि सुरापानादि से विरत पुरुष को भी तब प्रवृत्त्यभाव का ज्ञान नहीं रहता, जबकि उसका चित्त अन्य विषय में व्यासक्त हो (लग) जाता है । जब किसी कार्य का अवस्थापक नहीं रहता, तब उस कार्य का अवस्थान कभी नहीं देखा जाता, जैसे कि स्तम्भों (खम्भों) के गिर जाने पर उनके आश्रित रहनेवाला भवन तुरन्त धराशायी हो जाता है ।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करने के लिए ही भाष्यकार ने कहा है—"सा च दग्धेन्धनाग्निवत् स्वयमेवोपशाम्यति" । अर्थात् यह पुरुष तब तक ही सुरा-पानादि की ओर प्रवृत्त होता है, जब तक कि सुरा-पानादि की अनर्थकारिता का ज्ञान नहीं होता । उसकी

तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम् ।

यदप्युक्तम्—कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात्, 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादिवदिति, तत्परिहृतम्, 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात् । ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनाद्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम्, अत्रोच्यते—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं

भामती

मुद्धृत्य दग्धेन्धनाग्निवत् स्वयमेवोपशाम्यति । एतदुक्तं भवति—यथा प्रासादावस्थानकारणं स्तम्भो नैवमौदासीन्यावस्थानकारणमभावबुद्धिः, अपि त्वागन्तुकविनाशहेतोस्त्राणेनावस्थानकारणम् । यथा कमठपृष्ठनिष्ठुरः कवचः शस्त्रप्रहारत्राणेन राजन्यजीवावस्थानहेतुः । न च कवचापगमे चासति च शस्त्रप्रहारे राजन्यजीवनाश इति । उपसंहरति ❀ तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव इति ❀ । औदासीन्यमजानतोऽप्यस्तीति प्रसक्तक्रियानिवृत्त्योपलक्षय विशिनष्टि । तत् किमक्रियार्थत्वेनानर्थक्यमाशङ्क्य क्रियार्थत्वोपवर्णनं जैमिनीयमसमञ्जसमेवेत्युपसंहारव्याजेन परिहरति ❀ तस्मात् पुरुषार्थं इति ❀ । पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिविषयावक्रियार्थतया क्रियार्थतया च पूर्वोत्तरपक्षौ, न तूपनिषद्विषयौ । उपनिषदां स्वयम्पुरुषार्थब्रह्मरूपावगमपर्य्यवसानादित्यर्थः । यदप्यौपनिषदात्मज्ञानमपुरुषार्थं मन्यमानेनोक्तं कर्तव्यमनुप्रवेशमन्तरेणेति । अत्र निगूढाभिसन्धिः पूर्वोक्तं परिहारं स्मारयति ❀ तत् परिहृतम् इति ❀ । अत्राक्षेप्ता स्वोक्तमर्थं स्मारयति ❀ ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि इति ❀ ।

निगूढमभिसन्धि समाधातोद्घाटयति ❀ अत्रोच्यते । नावगतब्रह्मात्मभावस्य इति ❀ । सत्यं न

भामती—व्याख्या

अनर्थकारिता का ज्ञान प्रवृत्ति का समूल नाश करके ,जिसका ईन्धन समाप्त हो गया, उस अग्नि के समान स्वयं उपशान्त हो जाता है। आशय यह है कि जैसे भवन की अवस्थिति का कारण खम्भा होता है, वैसे उक्त अभाव-ज्ञान औदासीन्य के अवस्थान का कारण नहीं माना जाता, अपितु आगन्तुक विनाश-कारणों से रक्षण-प्रदान कर औदासीन्य को वैसे ही अभाव-ज्ञान बनाए रहता है, जैसे कछुवे की पीठ के समान कठोर कवच शस्त्र-प्रहारों से बचाता हुआ क्षत्रिय-वीरों को जीवन-प्रदान करता है। शस्त्र-प्रहार से योद्धा का जीवन तब तक नष्ट नहीं होता, जब तक कि कवच का अपगम (अभाव) न हो। प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं—"तस्मात् प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे"। औदासीन्य का ज्ञान न रहने पर भी औदासीन्य रहता है, उस अज्ञात औदासीन्य का संग्रह करने के लिए 'प्रसक्तक्रियानिवृत्त्या उपलक्षितम्' कहा गया है। तब 'वैदिकवाक्यों में क्रियापरता न होने पर आनर्थक्य (अप्रामाण्य) की आशङ्का उठाकर महर्षि जैमिनि ने जो सभी वैदिक वाक्यों में क्रियार्थत्व का वर्णन किया, वह किस लिए ?' इस प्रश्न का उत्तर है—"तस्मात् पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम्"। निष्कर्ष यह है कि पुरुषार्थानुपयोगी वैदिक उपाख्यानों में ही अक्रियार्थत्व का पूर्वपक्ष उठाकर क्रियार्थकत्व का सिद्धान्त उक्त अधिकरण में प्रस्तुत किया गया है, न कि उपनिषद्वाक्यों को अभिलक्ष्य करके, क्योंकि उपनिषद्वाक्यों में स्वयं पुरुषार्थभूत ब्रह्म के स्वरूप की समर्पकता पर्यवसित होती है। औपनिषद आत्मज्ञान को अपुरुषार्थ मानकर जो पूर्वपक्षी ने कहा है—"कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात्"। उसका अपने हृदय में रहस्य छिपाये सिद्धान्ती उसके परिहार का स्मरण दिलाता है—"तत् परिहृतम्"। आक्षेपवादी भी उक्त परिहार पर किये गये आक्षेप का स्मरण दिलाता है—"ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वसंसारित्वदर्शनात्"। सिद्धान्ती इस आक्षेप का अपना अनुभूत परिहार प्रस्तुत करता है—"अत्रोच्यते,

संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं, वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात्। न हि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। न हि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति। न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या—'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छान्दो० ८।१२।१) इति। शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवत इति चेत्—न, सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वान्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम। तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरी-

---

भामती

ब्रह्मज्ञानमात्रं सांसारिकधर्मनिवृत्तिकारणमपि तु साक्षात्कारपर्यन्तम्। ब्रह्मसाक्षात्कारश्चान्तःकरणवृत्तिभेदः श्रवणमननादिजनितसंस्कारसचिवमनोजन्मा षड्जादिभेदसाक्षात्कार इव गान्धर्वशास्त्रश्रवणाभ्याससंस्कृतमनोयोनिः। स च निखिलप्रपञ्चमहेन्द्रजालसाक्षात्कारं समूलमुन्मूलयन्नात्मानमपि प्रपञ्चत्वाविशेषादुन्मूलयतीत्युपपादितमधस्तात्। तस्माद्रज्जुस्वरूपकथनतुल्यतैवात्रेति सिद्धम्। अत्र च वेदप्रमाणमूलतया वेदप्रमाणजनितेत्युक्तम्। अत्रैव सुखदुःखानुत्पादभेदेन निदर्शनद्वयमाह ® न हि धनिनः इति ®। श्रुतिमत्रोदाहरति ® तदुक्तम् इति ®। चोदयति। ® शरीरे पतिते इति ®। परिहरति ® न सशरीरत्वस्य इति ®। यदि वास्तवं सशरीरत्वं भवेन्न जीवतस्तन्निवर्त्तेत। मिथ्याज्ञाननिमित्तं तु तत्। तच्चोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन जीवतापि शक्यं निवर्त्तयितुम्। यत्पुनरशरीरत्वं तदस्य स्वभाव इति न शक्यं निवर्त्तयितुं, स्वभावहानेन भावविनाशप्रसङ्गादित्याह ® नित्यमशरीरत्वम् इति ®।

भामती-व्याख्या

नावगतब्रह्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्''। यह सत्य है कि ब्रह्मभाव का ज्ञानमात्र कर्तृत्वादि-रूप संसारित्व का निवर्तक नहीं होता, अपि तु साक्षात्कारात्मक ब्रह्मात्मावबोध अविद्या और अविद्या-प्रयुक्त संसारित्व का बाधक माना जाता है। वह साक्षात्कार श्रवण-मननादि-जनित संस्कारों से युक्त मन के द्वारा वैसे ही उत्पन्न होता है, जैसा कि गन्धर्व-शास्त्राभ्यास-जनित संस्कारों से युक्त मन के द्वारा षड्जादि स्वर समूह का साक्षात्कार समुत्पादित होता है। वह साक्षात्कार निखिल प्रपञ्चरूपी इन्द्रजाल के साक्षात्कार का समूल उन्मूलन करता हुआ अपने आपको भी प्रपञ्च के रूप में नष्ट करता है, यह पहले कहा जा चुका है। अतः रज्जु-स्वरूप-संकीर्तन के समान ही तत्त्वमसि आदि का उद्बोधन सार्थक है। उक्त साक्षात्कार वेदप्रमाणमूलक होने के कारण वेदप्रमाण-जनित कह दिया गया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में सुख और दुःख का अनुत्पाद ध्यान में रखकर दो उदाहरण दिये जाते हैं—''न हि धनिनः इत्यादि''। उसी प्रसङ्ग में श्रुति को उद्धृत किया जाता है—''तदुक्तं श्रुत्या''।

शङ्का की जाती है कि ''शरीरे पतिते अशरीरत्वं स्यात्''। उक्त शङ्का का परिहार किया जाता है—''न, सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्''। अर्थात् यदि आत्मा में सशरीरत्व वास्तविक होता, तब अवश्य ही जीवन-काल में निवृत्त नहीं हो सकता था, किन्तु वह मिथ्याज्ञाननिमित्तक है, अतः जीवन-काल में ही अविद्या या मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति से निवृत्त क्यों न होगा? जो अशरीरत्व आत्मा में स्वाभाविक है, वह कभी निवृत्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वभाव का परिहरण हो जाने पर भाव वस्तु का ही विनाश प्रसक्त होता

रत्वमिति चेन्न; शरीरसंबन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः। शरीरसंबन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना। क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः।

भामती

स्यादेतत्—न मिथ्याज्ञाननिमित्तं सशरीरत्वमपि तु धर्माधर्मनिमित्तं, तच्च स्वकारणधर्माधर्मनिवृत्तिमन्तरेण न निवर्त्तते। तन्निवृत्तौ च प्रयाणमेवेति न जीवतोऽशरीरत्वमिति शङ्कते ❀ तत्कृत इति ❀। तदित्यात्मानं परामृशति। निराकरोति ❀ न, शरीरसम्बन्धस्य इति ❀। न तावदात्मा साक्षाद्धर्माधर्मौ कर्तुमर्हति, वाग्बुद्धिशरीरारम्भजनितौ हि तौ नासति शरीरसम्बन्धे भवतः, ताभ्यां तु शरीरसम्बन्धं रोचयमानो व्यक्तं परस्पराश्रयदोषमावहति। तदिदमाह ❀ शरीरसम्बन्धस्य इति ❀। यद्युच्येत सत्यमस्ति परस्पराश्रयः, न त्वेष दोषोऽनादित्वाद्बीजाङ्कुरवदित्यत आह ❀ अन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना ❀। 'यस्तु मन्यते नेयमन्धपरम्परातुल्यानादिता, न हि यतो धर्माधर्मभेदा आत्मशरीरसम्बन्धभेदस्तत एव स धर्माधर्मभेदः, किन्त्वेष पूर्वस्मादात्मशरीरसम्बन्धात् पूर्वधर्माधर्मभेदजन्मनः, एष त्वात्मशरीरसम्बन्धोऽस्माद्धर्माधर्मभेदादिति' तं प्रत्याह ❀ क्रियासमवायाभावाद्" इति।

भामती—व्याख्या

है, यह कहा जाता है—"नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम"। कोई शङ्का करता है कि सशरीरत्व मिथ्याज्ञाननिमित्तक नहीं, अपितु धर्माधर्मनिमित्तक है, अतः स्वकृत धर्माधर्म की निवृत्ति के बिना वह निवृत्त नहीं हो सकता और धर्माधर्म की निवृत्ति हो जाने पर मरण ही हो जाता है, अतः जीवित अवस्था में अशरीरत्व नहीं रह सकेगा—"तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वम्"। 'तत्कृत' शब्द का अर्थ है—आत्मकृत। केवल जड़ या शुद्ध चेतन के द्वारा धर्माधर्म नहीं किया जाता, अपितु शरीर-संहत आत्मा के द्वारा। उक्त शङ्का का निराकरण किया जाता है—'न शरीरसम्बन्धस्यासिद्धत्वात्"। आत्मा साक्षात् धर्माधर्म नहीं कर सकता, क्योंकि वाक्, बुद्धि और शरीर के द्वारा ही धर्माधर्म सम्पादित होते हैं, अतः शरीर-सम्बन्धी आत्मा ही धर्माधर्म का कर्त्ता माना जाता है। शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध धर्माधर्म के माध्यम से ही होता है, इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयता प्रसक्त होती है, भाष्यकार कहते हैं—"शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात्"। यह जो कहा जाता है कि अन्योऽन्याश्रय दोष अवश्य है, किन्तु यहाँ वह कोई दोष नहीं, क्योंकि बीज और अंकुर के समान शरीर-सम्बन्ध और धर्माधर्म अनादि हैं, अनादि पदार्थों में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं माना जाता। उसका परिहार किया जाता है—अन्धपरम्परैषा अनादित्वकल्पना।" अर्थात् यह अनादित्व की कल्पना प्रामाणिक नहीं। जो वादी इस कल्पना को प्रामाणिक मान कर कहता है कि यह अनादित्व-कल्पना अन्ध-परम्परा के समान नहीं, क्योंकि धर्माधर्म और शरीर-सम्बन्ध—दोनों एक-एक व्यक्त्यात्मक न होकर अनन्त व्यक्तिरूप माने जाते हैं। जिस धर्माधर्म व्यक्ति से शरीर-सम्बन्धरूप व्यक्ति उत्पन्न होती है उसी शरीर-सम्बन्ध व्यक्ति से वही धर्माधर्म व्यक्ति उत्पन्न नहीं होती, अपितु जो शरीर-सम्बन्ध जिस धर्माधर्म से उत्पन्न होता है, वही शरीर-सम्बन्ध उसी धर्माधर्म से उत्पन्न नहीं होता, अपितु अपनी पूर्वभावी भिन्न-भिन्न कारण व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न कार्य व्यक्तियाँ जन्म लेती हैं, अतः अन्योऽन्याश्रयता प्रसक्त ही नहीं होती। उस वादी के लिए अन्य आपत्ति प्रदर्शित की जाती है—"क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः"। जिस कार्य की जनिका क्रिया जिस द्रव्य में समवेत हो, वही द्रव्य उस क्रिया का कर्त्ता माना जाता है, आत्मा में कोई भी क्रिया नहीं रहती, क्योंकि क्रिया अपने आश्रय को अवश्य विकृत कर देती है, आत्मा अविकारी पदार्थ है,

संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेन्न; धनदानाद्युपार्जितभृत्यसंबन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः, न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसंबन्धनिमित्तं किंचिच्छक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः संबन्धहेतुः। एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम्।

अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो, न मिथ्येति चेन्न; प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः,

---

भामती

शङ्कते ❀ सन्निधानमात्रेण इति ❀। परिहरति ❀ न इति ❀। उपार्जनं स्वीकरणम्। न त्वियं विधाऽऽत्मनीत्याह ❀ न त्वात्मन इति ❀। ये तु देहादावात्माभिमानो न मिथ्या, अपि तु गौणो माणवकादाविव सिंहाभिमान इति मन्यन्ते; तन्मतमुपन्यस्य दूषयति ❀ अत्राहुः इति ❀। प्रसिद्धो वस्तुभेदो यस्य पुरुषस्य स तथोक्तः। उपपादितं चैतदस्माभिरध्यासभाष्ये इति नेहोपपाद्यते। यथा मन्दान्धकारे

भामती—व्याख्या

अतः धर्माधर्म का कर्त्ता आत्मा नहीं हो सकता।

क्रिया-समवाय न होने पर भी कर्तृत्व की शङ्का उठाई जा रही है—"सन्निधानमात्रेण राजप्रभृतीनां कर्तृत्वं दृष्टम्"। राजा में युद्धादि क्रिया न होने पर भी राजा भी युद्धादि का कर्त्ता माना जाता है, वैसे ही आत्मा में कोई क्रिया न होने पर भी धर्माधर्मादि का कर्तृत्व माना जा सकता है, [जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—

"चालनेन ह्यसि योद्धा प्रयुङ्क्ते छेदनं प्रति।
सेनापतिस्तु वाचैव भृत्यानां विनियोजकः॥
राजा सन्निधिमात्रेण विनियुङ्क्ते कदाचन।
तस्मादचलतोऽपि स्याच्चलने कर्तृतात्मनः॥" (श्लो. वा. पृ. ७१०)]।

जैसे युद्ध करनेवाले पुरुषों का सन्निधान पाकर राजा युद्धादि का कर्त्ता माना जाता है, वैसे ही धर्माधर्म के कर्त्ता शरीरादि का सन्निधान पाकर आत्मा भी धर्मादि का कर्त्ता माना जा सकता है। सन्निधान-प्रयुक्त कर्तृत्व का आत्मा में निराकरण करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"न, धनदानाद्युपार्जितभृत्यसम्बन्धित्वात्"। उपार्जन का यहाँ अर्थ है—स्वीकार। राजा और उसके भृत्यों में धन-दान-प्रयुक्त जो स्वस्वामिभाव सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उस सम्बन्ध को लेकर भृत्य का कर्तृत्व राजा में संक्रान्त हो जाता है, किन्तु आत्मा और शरीर के मध्य वैसा कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं—"नत्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसम्बन्धनिमित्तं किञ्चित् शक्यं कल्पयितुम्"। राजा और भृत्यों के मध्य में सम्बन्ध स्थापित होने के धनदानादि कई हेतु हो सकते हैं, किन्तु आत्मा और शरीर का जो सम्बन्ध है, उसका एक मात्र प्रत्यक्षभूत मिथ्या अभिमान ही हेतु है, अन्य कोई हेतु नहीं—"मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्धहेतुः"। यहाँ 'तु' शब्द का अर्थ 'एव' है, अर्थात् 'मिथ्याभिमान एव सम्बन्धहेतुः'। अध्यास को छोड़ कर असङ्ग आत्मा और शरीरादि के सम्बन्ध का नियामक और कोई नहीं हो सकता।

जो लोग (प्राभाकरगण) देहादि में आत्माभिमान को मिथ्या न मान कर वैसा ही गौण मानते हैं, जैसा कि माणवकादि में सिंहादि का अभिमान होता है। उनके मत का उपन्यास करके खण्डन किया जाता है, "अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो, न मिथ्येति चेन्न, प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः"। अर्थात् "अहं गच्छामि"—इत्यादि स्थलों पर शरीरादि में जो 'अहम्' शब्द का प्रयोग है, वह गौण

यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः संपन्नः प्रसिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिदमिति

भामती

स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे वस्तुनि पुरुषात्सांशयिकौ पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, तत्र तु पुरुषत्वमनियतमपि समारोपितमेव। एवं संशये समारोपितमनिश्चितमुदाहृत्य विपर्य्ययज्ञाने निश्चितमुदाहरति ® यथा वा शुक्तिकायाम् इति ®। शुक्लभास्वरस्य द्रव्यस्य पुरःस्थितस्य सति शुक्तिकारजतसाधारण्ये यावदत्र रजतविनिश्चयो भवति तावत् कस्माच्छुक्तिविनिश्चय एव न भवति? संशयो वा द्वेधा युक्तः, समानधर्मधर्मिणोर्दर्शनाद्' उपलब्ध्यानुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषद्वयस्मृतेश्च संस्कारोन्मेषहेतोः, सादृश्यस्य द्विष्ठत्वेनोभयत्र तुल्यमेतदिति। अत उक्तम् ® अकस्मात् इति ®। अनेन दृष्टस्य हेतोः समानत्वेऽप्यदृष्ट

भामती-व्याख्या

नहीं माना जा सकता, क्योंकि गौण व्यवहार उसी पुरुष का माना जाता है, जिसको गौण (माणवकादि) और मुख्य (सिंहादि) वस्तुओं का भेद निश्चित हो, प्रकृत में शरीरादि से भिन्न आत्मतत्त्व का स्वरूप ही स्थिर नहीं, अतः गौण-प्रयोग सम्भव नहीं, जैसा कि विगत पृ. १२ पर कहा जा चुका है कि "न त्वहंकारस्य मुख्योऽर्थो निर्लुठितगर्भतया देहादिभ्यो भिन्नोऽनुभूयते, येन परशब्दः शरीरादौ गौणो भवेत्"। अतः यहाँ उसका पिष्ट-पेषण करना उचित नहीं। जिस पुरुष की दृष्टि में गौण और मुख्य पदार्थों का भेद स्थिर नहीं हुआ, उसके लिए अन्य शब्द का अन्यत्र प्रयोग गौण नहीं होता, जैसे कि मन्द अन्धकार में 'स्थाणुरयम्'—इस प्रकार का भेद-भान जिस वस्तु में नहीं हुआ, उस वस्तु में 'पुरुष' शब्द और पुरुष-प्रतीति दोनों गौण नहीं, अपितु भ्रान्तिमूलक होते हैं। यद्यपि शुक्ति में रजतत्व के समान स्थाणु में पुरुषत्व का निश्चय नहीं, संशय होता है। तथापि संशय में पाक्षिक समारोप होने के कारण संशय को भी भ्रम या अप्रमारूप ही माना जाता है। स्थाणु में पुरुषत्वरूप समारोपित पदार्थ निश्चित नहीं, अतः निश्चित समारोपित का उदाहरण दिखाते हैं—"यथा वा शुक्तिकायामकस्माद् रजतमिदमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ"। [यहाँ 'अकस्मात्' शब्द का अर्थ 'कारण के विना'—ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि विपर्यय ज्ञान का भी अपना कारण निश्चित होता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अतः 'अकस्मात्' शब्द से दृष्ट कारण का निषेध करना अभीष्ट है। यहाँ जब कि शुक्लभास्वर (एक चमकीला) पदार्थ सामने है, जो कि शुक्ति और रजत का एक साधारण रूप है, तब जैसे रजतमिदम्'—ऐसा निश्चय होता है, वैसे ही 'शुक्तिरियम्' ऐसा निश्चय क्यों नहीं हो जाता? अथवा उभय-साधारण धर्मी को देख कर संशय क्यों नहीं होता? न्यायसूत्र में महर्षि गौतम ने संशय का लक्षण बताया है—"समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" (न्या. सू. १।१।२३)। संशय के कारण हैं—(१) समान (सादृश्य) धर्मवाले धर्मी का दर्शन (२) असाधारण धर्मवाले धर्मी का दर्शन, (३) विप्रतिपत्ति से (विपरीतार्थाभिधायी वाक्यों को सुन कर), (४) एक वस्तु की उपलब्धि की अव्यवस्था और (५) अनुपलब्धि की अव्यवस्था। इनमें प्रथम और चतुर्थ—इन दो कारणों के आधार पर द्वेधा संशय होना चाहिए, किन्तु यहाँ न तो शुक्ति का निश्चय होता है और न संशय, अतः भाष्यकार ने "अकस्मात्" कहा है, जिसका अर्थ है—"अदृष्टविशेषात्"। इस शब्द के प्रयोग से यह

निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसंघातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम् ? आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव, न गौणः। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः 'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते। अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृह० ४।४।७) इति। 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च। स्मृतिरपि च –'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (भ० गी० २।५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबन्धं दर्शयति। तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्। यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूप-

---

भामती

हेतुरुक्तः। तच्च कार्य्यदर्शनोन्नेयत्वेनासाधारणमिति भावः। ❀ आत्मानात्मविवेकिनाम् इति ❀। श्रवणमननकुशलतामात्रेण पण्डितानामनुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्काराणामिति यावत्। तदुक्तम्—पश्वादिभिश्चाविशेषादिति। शेषमतिरोहितार्थम्। जीवतो विदुषोऽशरीरत्वे च श्रुतिस्मृती उदाहरति ❀ तथा च इति ❀। सुबोधम् प्रकृतमुपसंहरति ❀ तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य इति ❀।

ननूक्तं यदि जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावगतिरेव सांसारिकधर्मनिवृत्तिहेतुः, हन्त मननादिविधानानर्थक्यं, तस्मात्प्रतिपत्तिविधिपरा वेदान्ता इति, तदनुभाष्य दूषयति ❀ यत् पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोरिति ❀।

भामती-व्याख्या

ध्वनित किया है कि यहाँ यद्यपि दृष्ट सामग्री समान है, उससे शुक्ति का भी पूर्णतया या आंशिक भान होना चाहिए। तथापि कोई अदृष्ट हेतु ऐसा है, जिसके द्वारा 'रजतमिदम्'—ऐसा ही विपर्यय ज्ञान होता है, क्योंकि कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है, प्रकृत में जब कि "रजतमिदम्'—ऐसा ज्ञान होता है, तब वह अदृष्ट (संस्काररूप) हेतु इसी ज्ञान का असाधारण कारण है। "आत्मानात्मविवेकिनाम्"—इस भाष्य के द्वारा ऐसे व्यक्ति विवक्षित हैं, जिन्होंने आत्मा का श्रवण और मनन करके कुछ कुशलता तो प्राप्त कर ली है किन्तु आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त नहीं किया है। जैसा कि भाष्यकार पहले (पृ. ४६ पर) कह चुके हैं—"पश्वादिभिश्चाविशेषात्। अर्थात् व्यवहार-दशा में विपर्यय ज्ञानादि एक विद्वान् को भी होता है। जीवन-काल में ही विद्वान् (आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष) की अशरीरता का प्रतिपादक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—'तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—"तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते" (बृह. उ ४।४।७)। श्रुति का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है कि जैसे साँप की केंचुली साँप के शरीर से पृथक् होकर बल्मीक (बाँबी) में फेंकी पड़ी रहती है, ऐसे ही विद्वान् का शरीर भी आसक्ति-रहित हो जाता है, और विद्वान् जीवन काल में ही अशरीर कहा जाता है। प्रकृत का उपसंहार किया जाता है - "तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्"।

शङ्का—यदि जीव की ब्रह्मात्मत्वावगति ही आत्मा के सांसारिक धर्म निवृत्त कर देती है, तब वह तो श्रवण मात्र से हो जाती है, मनन और निदिध्यासन का विधान व्यर्थ हो जाता है, उसकी सार्थकता इसी में है कि वेदान्त-वाक्यों को प्रतिपत्ति-विधि (उपासना-विधि) का प्रतिपादक माना जाय।

पर्यवसायित्वमिति । न; अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः । यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत भवेत्तदा विधिशेषत्वम् । न तु तदस्ति; मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात् । तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम् । एवं च सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयः पृथक्शास्त्रारम्भ उपपद्यते । प्रतिपत्तिवि-

भामती

मनननिदिध्यासनयोरपि न विधिस्तयोरन्वयव्यतिरेकसिद्धसाक्षात्कारफलयोर्विधिसरूपैर्वचनैरनुवादात् । तदिदमुक्तम् ॐ अवगत्यर्थत्वाद् इति ॐ । ब्रह्मसाक्षात्कारोऽवगतिस्तदर्थत्वं मनननिदिध्यासनयोरन्वयव्यतिरेकसिद्धमित्यर्थः । अथ कस्मान्मननादिविधिरेव न भवतीत्यत आह ॐ यदि ह्यवगतम् इति ॐ । न तावन्मनननिदिध्यासने प्रधानकर्मणी अपूर्वविषये अमृतत्वफले इत्युक्तमधस्तात् । अतो गुणकर्मत्वमनयोरवघातप्रोक्षणादिवत् परिशिष्यते । तदप्ययुक्तम्, अन्यत्रोपयुक्तोपयोक्ष्यमाणत्वाभावादात्मनः । विशेषतस्त्वौपनिषदस्य कर्मानुष्ठानविरोधादित्यर्थः । प्रकृतमुपसंहरति ॐ तस्माद् इति ॐ । एवं सिद्धरूपब्रह्मपरत्वमुपनिषदां ब्रह्मणः शास्त्रार्थस्य धर्मादन्यत्वाद्भिन्नविषयत्वेन शास्त्रभेदाद् "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यस्य शास्त्रारम्भत्वमुपपद्यत इत्याह ॐ एवं च सति इति ॐ । इतरथा तु धर्मजिज्ञासैवेति न शास्त्रा-

भामती-व्याख्या

समाधान—उक्त आशङ्का का अनुवाद करके दोषोद्भावन किया जाता है-"यत्पुनरुक्तं श्रवणात् पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद् विधिशेषत्वम् ब्रह्मणः" । आत्मसाक्षात्कार के लिए मनन और निदिध्यासन का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही उनमें साक्षात्कार की हेतुता निश्चित है, अतः विधि के समानरूपवाले वेदान्त-पदों के द्वारा उनका अनुवादमात्र किया जाता है, यह कहा जा रहा है—"अवगत्यर्थत्वात्" । यहाँ 'अवगति' पद से ब्रह्म-साक्षात्कार विवक्षित है, उसकी साधनता मनन और निदिध्यासन में अन्वय-व्यतिरेक से ही सिद्ध है । मनन और निदिध्यासन को विधि क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—"यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत, भवेत्तदा विधिशेषत्वम्" । मनन और निदिध्यासन को स्वतन्त्र अपूर्वार्थक प्रधान कर्म नहीं माना जा सकता—यह पहले कहा जा चुका है, अतः अवघात और प्रोक्षण के समान इन्हें गुण कर्म ही मानना शेष रह जाता है । वह भी असंगत है, क्योंकि अन्यत्र कर्म में ब्रह्म न तो उपयुक्त है और न उपयोक्ष्यमाण [द्रव्य दो प्रकार का हो सकता है--(१) किसी कर्म में उपयुक्त अथवा (२) उपयोक्ष्यमाण, उसके संस्कार कर्मों को गुणकर्म कहते हैं, जैसे देवता के लिए हविष्प्रदान में उपयुक्त पुरोडाशादि का इडानामक पात्र में रखकर भक्षण कर लेना । व्रीह्यादि उपयोक्ष्यमाण हैं, अवघातादि के द्वारा निष्पन्न तण्डुलों का पुरोडाशादि के निर्माण में उपयोग होगा, अतः अवघातादि को उपयोक्ष्यमाण द्रव्य का संस्कारक माना जाता है] । विशेषतः औपनिषद असङ्ग पुरुष कर्मानुष्ठान का उपयोगी न होकर विरुद्ध पड़ जाता है । प्रसङ्ग का उपसंहार किया जा रहा है—"तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः" । इस प्रकार उपनिषद्-वाक्यों में सिद्धरूप ब्रह्म की प्रतिपादकता स्थिर हो जाती है, वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्म धर्म से भिन्न है, अतः धर्मशास्त्र से वेदान्त-शास्त्र का भेद होना अनिवार्य है, फलतः "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"—इस सूत्र के द्वारा भिन्न शास्त्र का आरम्भ करना अत्यन्त उचित और न्याय-संगत है—"एवं च सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयः पृथक् शास्त्रारम्भ उपपद्यते" । यदि ब्रह्म धर्म से भिन्न न होकर प्रतिपत्ति-विधि का शेष (अङ्ग) हो जाता, तब उसका प्रतिपादन 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै. सू. १।१।१) से ही प्रतिज्ञात हो जाता,

धिपरत्वे हि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्येवारब्धत्वान्न पृथक्शास्त्रमारभ्येत। आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत—'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा' इति, 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा' (जै० ४।१।१) इतिवत्। ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति। तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि। नह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति। अपि चाहुः—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवंबोधे कार्यं कथं भवेत्॥

भामती

न्तरमिति न शास्त्रारम्भःस्यादित्याह ❀ प्रतिपत्तिविधिपरत्वे इति ❀। न केवलं सिद्धरूपत्वाद् ब्रह्मात्मैक्यस्य धर्मादन्यत्वमपि तु तद्विरोधावपीत्युपसंहारव्याजेनाह ❀ तस्मादहं ब्रह्मास्मीति ❀। इतिकरणेन ज्ञानं परामृशति। विधयो हि धर्मे प्रमाणं, ते च साध्यसाधनेतिकर्तव्यभेदाधिष्ठाना धर्मोत्पादिनश्च, तदधिष्ठाना न ब्रह्मात्मैक्ये सति प्रभवन्ति, विरोधादित्यर्थः। न केवलं धर्मप्रमाणस्य शास्त्रस्येयं गतिः, अपि तु सर्वेषां प्रमाणानामित्याह ❀ सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि इति ❀। कुतः ? ❀ न हि इति ❀। अद्वैते हि विषयविषयिभावो नास्ति। न च कर्तृत्वं, कार्याभावात्। न च करणत्वमत एव। तदिदमुक्तम् ❀ अप्रमातृकाणि च ❀ इति चकारेण।

अत्रैव ब्रह्मविदां गाथामुदाहरति ❀ अपि चाहुः इति ❀। पुत्रदारादिष्वात्माभिमानो गौणः।

भामती-व्याख्या

उसके लिए "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र. सू. १।१।१) इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, यह कहा जा रहा है—"प्रतिविधिपरत्वे हि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्येवारब्धत्वान्न पृथक् शास्त्रमारभ्येत"।

केवल सिद्धरूप होने के कारण ही ब्रह्मात्मैक्य साध्यात्मक धर्म से भिन्न नहीं, अपितु धर्म से विरुद्ध भी है—"तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः"। 'अहं ब्रह्मास्मीति'—इस वाक्य में 'इति' शब्द के द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार के शब्द का ग्रहण न होकर ज्ञान का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि सभी विधि-वाक्यों का पर्यवसान उक्त ज्ञान में ही होता है, उक्त शब्द में नहीं। विधि-वाक्य अद्वैत-ज्ञान के विरोधी इसलिए होते हैं कि विधि-वाक्य कर्म में प्रमाण माने जाते हैं, वे (विधि-वाक्य) साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्य के भेद की अपेक्षा करते हैं, धर्मोत्पादन का उपदेश करते हैं, अतः उनकी गति ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान के हो जाने पर स्वतः ही अवरुद्ध और बाधित हो जाती है, क्योंकि जहाँ सभी साध्य-साधनादि-भेद की समाप्ति हो जाती है—"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" (श्वेता. ६।८)। वहाँ साध्य-साधनादि-भेद-सापेक्ष प्रमाणों का प्रसर क्योंकर होगा ? ब्रह्मात्मावबोध से केवल धर्म-शास्त्र में ही यह कुण्ठा नहीं आती, अपितु समस्त प्रमाणों में गति-रोध आ जाता है—"सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि"। उसका कारण बताया जाता है—"न ह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाणि अप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्ति"। आशय यह है कि अद्वैतावस्था में विषय-विषयिभाव ही नहीं रहता, कार्य का अभाव हो जाने से कर्तृत्व और करणत्व नहीं रहता, यह रहस्य "अप्रमातृकाणि च"—इस वाक्य में प्रयुक्त चकार से प्रकट किया है। इसी अर्थ में ब्रह्मवेत्ताओं के पद्य उद्धृत किये जाते हैं, "अपि चाहुः—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवंबोधे कार्यं कथं भवेत्॥

अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः ।
अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥

भामती

यथा स्वदुःखेन दुःखी यथा स्वसुखेन सुखी तथा पुत्रादिगतेनापीति सोऽयं गुणः । न त्वेकत्वाभिमानो, भेदस्यानुभवसिद्धत्वात्? तस्माद् गौर्वाहीक इतिवद्गौणः, देहेन्द्रियादिषु त्वभेदानुभवान्न गौण आत्माभिमानः, किन्तु शुक्तौ रजतज्ञानवन्मिथ्या । तदेवं द्विविधोऽयमात्माभिमानो लोकयात्रां वहति, तदसत्त्वे तु न लोकयात्रा, नापि ब्रह्मात्मैकत्वानुभवः तदुपायस्य श्रवणमननादेरभावात् । तदिदमाह ❀ पुत्रदेहादिबाधनात् ❀ । गौणात्मनोऽसत्त्वे पुत्रकलत्रादिबाधनं ममकाराभाव इति यावत् । मिथ्यात्मनोऽसत्त्वे देहेन्द्रियादिबाधनं श्रवणादिबाधनञ्च । तथा च न केवलं लोकयात्रासमुच्छेदः सद् ब्रह्माहमित्येवंबोधशीलं यत्कार्य्यमद्वैतसाक्षात्कार इति यावत् । तदपि ❀ कथं भवेत् ❀ । कुतस्तदसम्भव इत्यत आह ❀ अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः ❀ । उपलक्षणं चैतत् । प्रमाप्रमेयप्रमाणविभाग इत्यपि द्रष्टव्यम् ।

भामती-व्याख्या

अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः ।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥

पुत्र-दारादि में आत्माभिमान गौण होता है, क्योंकि जैसे सिंह के शूरतादि गुणों को अपना कर देवदत्त गौण सिंह बनता है, वैसे ही पुत्र-दारादि के सुखित्व-दुःखित्वादि रूप गुणों को अपने में मानकर अहमर्थभूत आत्मा कहता है—'अहं सुखी, दुःखी च' । पुत्र-दारादि के साथ एकत्वाभिमान नहीं होता, क्योंकि उनसे आत्मा का भेद अनुभव-सिद्ध है, अतः 'गौर्वाहीकः'—इत्यादि के समान गौणाभिमान ही है [गुण वृत्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कैयट ने लिखा है—'सिंहो माणवकः', 'गौर्वाहीकः' इत्यादावपि ताद्धर्म्यात्ताद्रूप्यारोपात् तच्छब्द वृतिः, तदुक्तं हरिणा—

गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात् कैश्चिदिष्यते ।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः ॥

किसी जड़-मूर्ख व्यक्ति के लिए जैसे 'बैल' शब्द का गौण प्रयोग हो जाता है, वैसे ही पञ्जाब के 'बहिः' प्रखण्ड में रहनेवाले मूर्ख हलवाहे के लिए 'गौर्वाहीकः'—ऐसा प्रयोग प्राचीनकाल से होता आया है] । देह और इन्द्रियादि में जो आत्माभिमान होता है, गौण नहीं, क्योंकि वहाँ देहादि से आत्मा का भेद प्रतीत नहीं होता, अतः वह वैसा ही मिथ्या प्रत्यय या अध्यास है, जैसा कि शुक्ति में रजत-प्रत्यय । यही 'गौण' और 'मिथ्या' भेद से भिन्न द्विविध आत्माभिमान लौकिक व्यवहार का निर्वाहक माना जाता है । उसकी सत्ता न मानने पर न तो लोक-व्यवहार का निर्वाह होगा और न ब्रह्मात्मैकत्व का अनुभव, क्योंकि उसके उपायभूत श्रवण-मननादि का अनुष्ठान अध्यासमूलक ही होता है, अध्यास का अभाव होने पर न हो सकेगा, यही कहा गया है—"पुत्रदेहादिबाधनात्" । अर्थात् गौणात्मा के न होने पर ममकार का अभाव हो जाने से पुत्र-दारादि का बाध हो जाता है और मिथ्या आत्मा की असत्ता होने पर देहेन्द्रियादि और श्रवणादि साधनों का बाध हो जाता है । तब न केवल लोक-व्यवहार का समुच्छेद हो जाता है, अपितु 'सद्ब्रह्माहम्'—इस प्रकार का जो बोधरूप कार्य (अद्वैत-साक्षात्कार) है, वह भी कैसे होगा? क्योंकि "अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः" । आत्म-साक्षात्कार के होने से पहले ही आत्मा में कर्तृत्व-प्रमातृत्वादि का भान हो सकता है, उसके

देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्' ॥ इति ॥ ४ ॥

इति भाष्ये चतुःसूत्री समाप्ता

भामती

एतदुक्तं भवति । एव हि विभागोऽद्वैतसाक्षात्कारकारणम् । ततो नियमेन प्राग् भावात् । तेन तदभावे कार्य्यं नोत्पद्यते इति । न च प्रमातुरात्मनोऽन्वेष्टव्य आत्माऽन्य इत्याह ❀ अन्विष्टः स्यात्प्रमातेव पाप्मदोषादिवर्जितः ❀ । उक्तं ग्रीवास्थग्रैवेयकनिदर्शनम् । स्यादेतत्—अप्रमाणात्कथं पारमार्थिकाद्वैतानुभवोत्पत्तिरित्यत आह ❀ देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः । लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं तु ❀ । अस्यावधिमाह ❀ आत्मनिश्चयात् ❀ । आ ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—पारमार्थिकप्रपञ्चवादिभिरपि देहादिष्वात्माभिमानो मिथ्येति वक्तव्यं, प्रमाणबाधितत्वात् । तस्य च समस्तप्रमाणकारणत्वं भाविकलोकयात्रावाहित्वं चाभ्युपेयम् । सेयमस्माकमप्यद्वैतसाक्षात्कारे विधा भविष्यति । न चायमद्वैतसाक्षात्कारोऽप्यन्तःकरणवृत्तिभेद एकान्ततः परमार्थः । यस्तु साक्षात्कारो भाविकः, नासौ कार्य्यः, तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वात् । अविद्या तु यद्यविद्यामुच्छिन्द्यान्जनयेद्वा, न तत्र काचिदनुपपत्तिः । तथा च श्रुतिः—

भामती-व्याख्या

पश्चात् नहीं । प्रमातृत्व का कथन प्रमाण, प्रमेय और प्रमा के विभाग का भी उपलक्षक है । सारांश यह है कि यह प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमा का विभाग ही अद्वैत-साक्षात्कार का कारण है, क्योंकि वह नियमतः अद्वैत-साक्षात्कार के पूर्वकाल में रहता है, अतः उस नियत पूर्वभावी कारण का अभाव होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । प्रमाता आत्मा से कभी अन्वेष्टव्य (प्रमेयभूत) आत्मा भिन्न नहीं, अतः कहा है—"अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः" । अन्वेष्टा और अन्वेष्टव्य आत्मा एक ही है, तब किसके द्वारा किसका अन्वेषण होगा ? इस शङ्का का समाधान 'गले के हार' का दृष्टान्त देकर किया जा चुका है । 'यदि प्रमाणादि-विभाग काल्पनिक और अप्रमाणभूत है, तब उससे पारमार्थिक अद्वैतानुभव की उत्पत्ति क्योंकर होगी ?' इस प्रश्न का उत्तर है—"देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः, लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं तु" । जैसे देह में आत्म-प्रत्यय को व्यवहार-काल में प्रमाण माना जाता है, वैसे ही प्रमाणादि-भेद-प्रत्यय को भी प्रमाण ही माना जाता है । कब तक यह प्रमाण माना जाता है ? इसकी अवधि बताई गई है—"आ आत्मनिश्चयात्" । ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार होने तक । आशय यह है कि जो लोग प्रपञ्च को पारमार्थिक मानते हैं, उन्हें भी देहादि में आत्माभिमान को मिथ्या ही मानना होगा, क्योंकि वह प्रमाणों के द्वारा बाधित है । देहादि में अहमनुभव को समस्त प्रमाणों का कारण और भावी लोक-व्यवहार का निर्वाहक भी मानना होगा । ये दोनों मान्यताएँ हमें भी अद्वैत-साक्षात्कार में अपनानी होंगी । यह अद्वैत-साक्षात्कार भी जो अन्तःकरण की एक विशेष वृत्ति है, एकान्ततः परमार्थ नहीं माना जाता और वृत्ति-प्रतिफलित चैतन्यरूप जो पारमार्थिक साक्षात्कार है, वह कार्य (जन्य) नहीं माना जाता, क्योंकि वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही है । अविद्या यदि अविद्या का नाश या उत्पादन करती है, तब उसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं, जैसा कि श्रुति कहती है—

भामती

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥' इति।
तस्मात्सर्वमवदातम्। एवम्—

कार्यान्वयं विना सिद्धरूपे ब्रह्मणि मानता।
पुरुषार्थे स्वयं तावद्वेदान्तानां प्रसाधिता ॥ ४ ॥

इति भामत्यां चतुःसूत्री समाप्ता।

भामती-व्याख्या

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥" (ईशा. ११)

[अन्तःकरण-वृत्तिरूप विद्या और प्रमाणदि-भेद-प्रतीत्यात्मक अविद्या को कार्य-कारणभाव के रूप में जो जानता है, वह अखण्डाकार वृत्तिरूप अविद्या के द्वारा अविद्यारूप मृत्यु का उच्छेद करके वृत्ति-प्रतिफलित चैतन्यरूप विद्या के द्वारा अमृत ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है।

ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर भाष्य के वार्तिककार श्री नारायणसरस्वती ऊपर के तीनों श्लोकों को श्रीगौड़पादाचार्य की कृति मान कर कहते हैं—"अपि चाहुरस्मिन्नर्थे सम्प्रदायविदो गौड़पादाचार्याः"। किन्तु श्री आत्मस्वरूपभगवान् पञ्चपादिका की अपनी व्याख्या प्रबोध-परिशोधिनी में उक्त तीनों श्लोकों के रचयिता का नाम आचार्य सुन्दर पाण्ड्य बताते हैं। श्री माधवाचार्य-कृत सूतसंहिता-व्याख्या तात्पर्यदीपिका से भी ऐसा ही प्रतीत होता है] ॥४॥

इति भामतीव्याख्यायां चतुःसूत्री समाप्ता

(५ ईक्षत्यधिकरणम् । सू० ५-११)

एवं तावद्वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिप्रयोजनानां ब्रह्मात्मनि तात्पर्येण समन्वितानामन्तरेणापि कार्यानुप्रवेशं ब्रह्मणि पर्यवसानमुक्तम्। ब्रह्म च सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणमित्युक्तम्। सांख्यादयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराण्यनुमिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्ति। सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव कार्येण कारणं लिलक्षयिषितम्। प्रधानपुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति सांख्या मन्यन्ते। काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते, अणूंश्च समवायिकारणम्। एवमन्येऽपि तार्किका वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ते। तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वप्रदर्शनाय

भामती

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय जन्माद्यस्य यत इत्यादिना तत्तु समन्वयादित्यन्तेन सूत्रसन्दर्भेण सर्वज्ञे सर्वशक्तौ जगदुत्पत्तिस्थितिविनाशकारणे प्रामाण्यं वेदान्तानामुपपादितम्। तच्च ब्रह्मणीति परमार्थतो न त्वद्यापि ब्रह्मण्येवेति व्युत्पादितम्। तदत्र सन्दिह्यते। तज्जगदुपादानकारणं किं चेतनमुताचेतनमिति। अत्र च विप्रतिपत्तेः प्रतिवादिनां विशेषानुपलम्भे सति संशयः। तत्र च प्रधानमचेतनं जगदुपादानकारणमनुमानसिद्धमनुवदन्त्युपनिषद इति सांख्याः। जीवाणुव्यतिरिक्तचेतनेश्वरनिमित्ताधिष्ठिताश्चतुर्विधाः परमाणवो जगदुपादानकारणमनुमितमनुवदन्तीति काणादाः। आदिग्रहणेनाभावोपादानत्वादि ग्रहीतव्यम्। अनिर्वचनीयानाद्यविद्याशक्तिमच्चेतनोपादानं जगदागमिकमिति ब्रह्मविदः। एतासां च विप्रतिपत्तीनामनुमानवाक्यानुमानवाक्याभासा बीजम्।

भामती—व्याख्या

संगति—विगत ग्रन्थ के द्वारा कार्यान्वियन के विना ही सिद्ध ब्रह्म में वेदान्त-वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध किया गया, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म स्वयं पुरुषार्थ है, वह अन्य किसी पुरुषार्थ का साधन नहीं। अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करके "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र. सू. १।१।२) यहाँ से लेकर "तत्तु समन्वयात्" (ब्र. सू. १।१।३) यहाँ तक के सूत्र-सन्दर्भ के द्वारा सर्वज्ञ सर्वशक्ति-समन्वित, जगत्-कारणीभूत ब्रह्म में वेदान्त-वाक्यों का प्रमाण्य संस्थापित किया।

संशय—जगज्जन्मादि-कारणत्व परमार्थतः ब्रह्म में है, किन्तु वह ब्रह्म में ही है, अन्यत्र (प्रधानादि में) नहीं—इस सिद्धान्त का व्युत्पादन अभी तक नहीं किया गया, अतः यह सन्देह होता है कि जगत् का उपादान कारण क्या चेतन है ? अथवा अचेतन ? इस विप्रतिपत्ति में वादिगणों का कोई विशेष व्युत्पादन न देख कर संशय का हो जाना स्वाभाविक है। (१) सांख्याचार्यों का कहना है कि जो अचेतन प्रधान तत्त्व जगत् का उपादान कारण अनुमान-सिद्ध है, उपनिषद्वाक्य उसी का अनुवाद करते हैं। (२) कणादमतावलम्बी आचार्यों की घोषणा है कि जीव और अणुओं से भिन्न चतुर्विध (पृथिवी, जल, तेज और वायु के) परमाणु चेतन ईश्वर से अधिष्ठित होकर जगत् के उपादान कारण जो अनुमान के द्वारा सिद्ध किए जाते हैं, उन्हीं का अनुवाद उपनिषद्वाक्य करते हैं। (३) भाष्यकार ने जो कहा है—"सांख्यादयः" वहाँ 'आदि' पद के द्वारा अभावोपादानकत्वादि का ग्रहण कर लेना चाहिए। (४) ब्रह्मवादियों का सिद्धान्त है कि अनादि अनिर्वचनीय अविद्यारूप शक्ति से समन्वित चेतन पुरुष जगत् का उपादान कारण है—इसका उपपादन हमारे आगम उपनिषद् ग्रन्थ करते हैं। इस प्रकार के विविध मतवादों के पोषक अनुमान, वैदिक वाक्य, अनुमानाभास और वाक्याभास माने जाते हैं।

वाक्याभासयुक्त्याभासविप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते ।

तत्र सांख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः– यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रदर्शयन्तीत्यवोचंस्तानि

भामती

तदेव विप्रतिपत्तेः संशये किं तावत्प्राप्तम् ? तत्र

ज्ञानक्रियाशक्त्यभावाद् ब्रह्मणोऽपरिणामिनः ।
न सर्वशक्तिविज्ञाने प्रधाने त्वस्ति सम्भवः ॥

ज्ञानक्रियाशक्ती खलु ज्ञानक्रियाकार्य्यदर्शनोन्नेयसद्भावे । न च ज्ञानक्रिये चिदात्मनि स्तः, तस्यापरिणामित्वादेकत्वाच्च । त्रिगुणे च प्रधाने परिणामिनि सम्भवतः । यद्यपि च साम्यावस्थायां प्रधाने समुदाचरद्वृत्तिनी क्रियाज्ञाने न स्तः, तथाप्यव्यक्तेन शक्त्यात्मना रूपेण सम्भवत एव । तथा च प्रधानमेव सर्वज्ञं च सर्वशक्ति च, न तु ब्रह्म । स्वरूपचैतन्यं त्वस्यावृत्तिकमनुपयोगि जीवात्मनामिवास्माकम् । न च स्वरूपचैतन्ये कर्तृत्वम्, अकार्य्यत्वात्तस्य । कार्य्यत्वे वा न सर्वदा सर्वज्ञता । भोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थ-द्वयप्रयुक्तानादिप्रधानपुरुषसंयोगनिमित्तस्तु महदहङ्कारादिक्रमेणाचेतनस्यापि चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य परिणामः सर्गः । दृष्टं चाचेतनं चेतनानधिष्ठितं पुरुषार्थं प्रवर्त्तमानम् । यथा वत्सविवृद्ध्यर्थमचेतनं क्षीरं

भामती–व्याख्या

पूर्वपक्ष—इस प्रकार संशय उपस्थित हो जाने पर सांख्याचार्यों की स्थापना है—

ज्ञानक्रियाशक्त्यभावाद् ब्रह्मणोऽपरिणामिनः ।
न सर्वशक्तिविज्ञाने प्रधाने त्वस्ति सम्भवः ॥

ब्रह्म अपरिणामी है, अतः उसमें ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति सम्भव न होने के कारण सर्व शक्ति और सर्व-ज्ञान नहीं, उसके विना उपादानकारणता उपपन्न नहीं हो सकती, किन्तु प्रधान संज्ञक त्रिगुणा परिणामिनी प्रकृति में ज्ञानशक्ति (सत्त्व गुण) और क्रिया शक्ति (रजोगुण) विद्यमान होने के कारण जगदुपादानत्व उपपन्न हो जाता है। यद्यपि साम्यावस्था में प्रकृतिगत क्रिया (रजोगुण) और ज्ञान (सत्त्वगुण) कार्यकारी नहीं होते, तथापि अव्यक्त-शक्ति के रूप में अवस्थित रहते हैं, उनको लेकर प्रधान तत्त्व ही सर्वज्ञ और सर्व-शक्ति-समन्वित हो सकता है, ब्रह्म नहीं। ब्रह्म का स्वरूप चैतन्य तो अविद्या से आवृत और अवृत्तिक अर्थात् जगद्रूपेण परिणत होने में वैसे ही अक्षम होता है, जैसे कि हम संसारी जीवगण। स्वरूप (अनौपाधिक) चैतन्य में सर्वज्ञत्व या ज्ञान-कर्तृत्व भी नहीं रहता, क्योंकि वह ज्ञान पदार्थ जन्य ही नहीं होता, जिसकी जनकता उसमें सम्भव हो। यदि उस स्वरूप ज्ञान को जन्य माना जाता है, तब वह सदातन नहीं रह सकता, ब्रह्म की सदा सर्वज्ञता समाप्त हो जाती है।

चेतनानधिष्ठित जड़ प्रकृति की जगद्रचना में प्रवृत्ति क्योंकर होगी? यह प्रश्न भी संगत नहीं, क्योंकि इसका उत्तर दिया गया है—"पुरुषार्थ एव हेतुः, न केनचित् कार्यते करणम्" (सां. का. ३१) अर्थात् भोग और मोक्षरूप द्विविध पुरुषार्थ से प्रयुक्त अनादि पुरुष-संयोग प्रकृति को महद्, अहङ्कारादि क्रम से परिणत होने में सक्षम बना देता है। यह देखा भी गया है कि चेतन से अधिष्ठित न होकर भी अचेतन (जड़) पदार्थ भोगापवर्गरूप कार्य के साधन में प्रवृत्त होता है, जैसे बछड़े की क्षुधा निवृत्त करने के लिए गौ के स्तनों में दूध अपने-आप उतर आता है—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ (सां. का. ५७)

भामती

प्रवर्त्तते । 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति' इत्याद्याश्च श्रुतयोऽचेतनेऽपि चेतनवदुपचारात् स्वकार्य्योन्मुखत्वमादर्शयन्ति । यथा कूलं पिपतिषतीति ।

यत्प्राये श्रूयते यच्च तत्ताद्दगवगम्यते ।
भाक्तप्राये श्रुतमिदमतो भाक्तं प्रतीयते ॥

अपि चाहुर्वृद्धाः—'यथाऽग्रचप्राये लिखितं दृष्ट्वा वदन्ति भवेदयमग्रचः' इति, तथेदमपि 'ता आप ऐक्षन्त' 'तत्तेज ऐक्षत' इत्याद्युपचारप्राये श्रुतम् । तदैक्षतेत्यौपचारिकमेव विज्ञेयम् । अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणीति च प्रधानस्य जीवात्मत्वं जीवार्थकारितयाह । यथा हि भद्रसेनो राजार्थकारी राज्ञा भद्रसेनो ममात्मेत्युपचर्य्यते । एवं तत्त्वमसीत्याद्याः श्रुतयो भाक्ताः सम्पत्त्यर्था वा द्रष्टव्याः । स्वमपीतो भवतीति च निरुक्तं जीवस्य प्रधाने स्वकीयेऽप्ययं सुषुप्तावस्थायां ब्रूते ।

भामती–व्याख्या

"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छां. ६।२।२) इत्यादि श्रुतियाँ तो अचेतन (जड़ प्रकृति) में चेतन-जैसा गौण व्यवहार वैसे ही करती है, जैसे 'कूलं पिपतिषति' (नदी का कगार गिरना ही चाहता है) ऐसा गौण व्यवहार, क्योंकि—

यत्प्राये श्रूयते यच्च तत् ताद्दगवगम्यते ।
भाक्तप्राये श्रुतमिदमतो भाक्तं प्रतीयते ॥

["प्राय वचनाच्च" (जै. सू. २।२।१२), "विशये प्रायदर्शनात्" (जै. सू. ३।३।२) इत्यादि सूत्रों में सजातीय या समान पदार्थों के समूह, प्रसङ्ग या प्रकरण का 'प्राय' शब्द से निर्देश किया गया है और प्राय-पाठ को भी एक निर्णायक या तात्पर्य-ग्राहक माना जाता है, जैसा श्री शबरस्वामी कहते हैं—"प्रायादपि चार्थनिश्चयो भवति, यथा—अग्रप्राये लिखिते अग्रच इति गम्यते" (शा. भा. पृ. ६०२) । अर्थात् प्रधान पदार्थों की पंक्ति में निर्दिष्ट पदार्थ प्रधान एवं गौण पदार्थों की पंक्ति में चर्चित पदार्थ गौण माना जाता है। प्रकृत में ईक्षण पदार्थ गौण ईक्षणों के प्रसङ्ग में वर्णित हैं, जैसे] "ता आप ऐक्षन्त" (छां. ६।२।४), "तत् तेज ऐक्षत", (छां. ६।२।२) इत्यादि जलादि जड़ पदार्थों के औपचारिक (गौण) ईक्षणों के मध्य में "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छां. ६।२।३) यह ईक्षण भी पठित है, अतः यहाँ 'तत्' पद से प्रधान (प्रकृति) का ही ग्रहण करना चाहिए, जिससे गौण ईक्षणों का प्रसङ्ग भङ्ग न हो। "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छां. ६।३।१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रधान की ओर से ही यह कहलवाया गया है कि मैं (प्रधान) इस मनुष्य शरीर में जीव के रूप में प्रविष्ट होकर नाम-रूप का व्याकरण [देवदत्तादि विशेष नाम और गौरादि विशेषरूप धारण] करूँ। यहां भी प्रधान में ही जीवात्मत्व का व्यवहार इस लिए कर दिया गया है कि प्रधान तत्त्व ही जीव का उपकार-साधन करता है—

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ (सा. का. ६०)

लोक में उपकार-कर्त्ता को आत्मा ही समझा जाता है, जैसे भद्रसेन नामक पुरुष राजा का उपकार-साधन करता है, अतः राजा उसमें आत्मस्वरूपता का गौण व्यवहार करता है— 'भद्रसेनो ममात्मा'। इसी प्रकार "तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जीव में प्रधानरूपता का उपचार या सम्पादन किया जाता है। "स्वमपीतो भवति" (छां. ६।८।१) इस श्रुति के द्वारा सुषुप्त जीव का अपनी प्रकृति (प्रधान) में लय प्रतिपादित है,

प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते। सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते। एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते। कथम्? यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः, 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' (गी० १४।१७) इति स्मृतेः। तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन

भामती

प्रधानांशतमःसमुद्रेके हि जीवो निद्राणस्तमसीव मग्नो भवति। यथाहुः—'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' इति। वृत्तीनामन्यासां प्रमाणादीनामभावस्तस्य प्रत्ययः कारणं तमस्तदालम्बना निद्रा जीवस्य वृत्तिरित्यर्थः। तथा सर्वज्ञं प्रस्तुत्य श्वेताश्वतरमन्त्रोऽपि 'स कारणं करणाधिपाधिपः' इति प्रधानाभिप्रायः। प्रधानस्यैव सर्वज्ञत्वं प्रतिपादितमधस्तात्। तस्मादचेतनं प्रधानं जगदुपादानमनुवदन्ति श्रुतय इति पूर्वः पक्षः। एवं काणादादिमतेऽपि कथञ्चिद्योजनीयाः श्रुतयः। अक्षरार्थस्तु ''प्रधानकारणपक्षेऽपि'' इति ''प्रधानस्यापि'' इति अपिकारावेवकारार्थौ। स्यादेतत्—सत्त्वसम्पत्त्या चेदस्य सर्वज्ञताऽस्य तमःसम्पत्त्याऽसर्वज्ञतेवास्य कस्मान्न भवतीत्यत आह ❀ तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन ❀ इति। सत्त्वं हि प्रकाशशीलं निरतिशयोत्कर्षं सार्वज्ञ्यबीजम्। यथाहुः—'निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम्' इति। यत् खलु सातिशयं तत् क्वचिन्निरतिशयं दृष्टं, यथा कुवलामलकबिल्वेषु सातिशयं महत्त्वं व्योम्नि परममहति निरतिशयम्। एवं ज्ञानमप्येकद्वि-

भामती-व्याख्या

क्योंकि प्रधान के तमोगुणरूप अंश की वृद्धि या प्रधानता हो जाने पर जीव सुषुप्तिरूप गाढ निद्रा में वैसे ही डूब जाता है, जैसे कोई गाढ़ अन्धकार में समा जाय। महर्षि पतञ्जलि निद्रा का लक्षण करते हैं- ''अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा'' (यो. सू. १।१) अर्थात् अन्तःकरण की सब पाँच वृत्तियाँ होती हैं— (१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा और (५) स्मृति। निद्रा से भिन्न प्रमाणादि चार प्रकार की वृत्तियों के अभाव का जो प्रत्यय (कारण या सम्पादक) है—तमोगुण, उसको आलम्बन (विषय) करनेवाली वृत्ति को निद्रा कहते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषत् में सर्वज्ञ का प्रकरण आरम्भ करके जो कहा गया है— ''स कारणं करणाधिपाधिपः'' (श्वेता० ६।९) वह प्रधान पदार्थ को अभिलक्ष्य करके कहा है कि वह जगत् का कारण एवं करणों (इन्द्रियों) के अधिपति जीव का अधिपति (अन्तर्यामी) है। प्रधान में ही सर्वज्ञता का उपपादन पहले किया जा चुका है, अतः अचेतन प्रधान को ही जगत् का उपादान कारण श्रुतियाँ बताती हैं—यह इस अधिकरण का पूर्वपक्ष है।

यद्यपि वैशेषिकादि मतों में भी श्रुतियों की योजना की जा सकती है, तथापि प्रधान कारणता पक्ष में ही श्रुतियों का अक्षरार्थ घटता है। ''प्रधानकारणपक्षेऽपि'' और ''सर्वशक्तिमत्त्वं तावत् प्रधानस्यापि'' इन भाष्य-वाक्यों में प्रयुक्त दोनों 'अपि' शब्द एवकारार्थक हैं, अर्थात् श्रुतियों का शब्दार्थ प्रधान-कारणता-पक्ष में ही घटता है और सर्वशक्तिमत्व भी प्रधान तत्त्व में ही उपपन्न होता है। सर्वज्ञत्व भी वहीं समञ्जस होता है, क्योंकि सर्वज्ञत्व का घटकीभूत जो ज्ञान है, वह प्रधान के सत्त्व गुण का ही धर्म है, भगवद्गीता कहती है—''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'' (गी. १४।१७)। 'यदि सत्त्व गुण के धर्मभूत ज्ञान को लेकर प्रधान सर्वज्ञ है, तब अपने तमोगुण के धर्मभूत अज्ञान को लेकर असर्वज्ञ क्यों नहीं?' इस प्रश्न का उत्तर है—''तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्यकारणवन्तः पुरुषाः योगिनः सर्वज्ञाः प्रसिद्धाः, सत्त्वस्य हि निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम्।'' अर्थात् सत्त्वगुण प्रकाशशील है, प्रकाश का निरतिशय उत्कर्ष (असीम अवस्था में पहुँच जाना) ही सर्वज्ञता का बीज (कारण) है, जैसा कि योगसूत्र की स्थापना है—''तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम्'' (यो. सू. १।२५)। जो वस्तु सातिशय (तरतमभाव-युक्त) होती है, वह कहीं चरम सीमा में पहुँची देखी गई है, जैसे—

कार्यकरणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः। सत्त्वस्य हि निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम्। न केवलस्याकार्यकरणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वं किञ्चिज्ज्ञत्वं वा कल्पयितुं शक्यम्। त्रिगुणत्वात्तु प्रधानस्य सर्वज्ञानकारणभूतं सत्त्वं प्रधानावस्थायामपि विद्यत इति प्रधानस्याचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्वमुपचर्यते वेदान्तवाक्येषु। अवश्यं च त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्माभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमुपगन्तव्यम्। न हि सर्वदा सर्वविषयं ज्ञानं कुर्वदेव ब्रह्म वर्तते। तथापि—ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयेत। अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति। अपि च प्रागुत्पत्तेः सर्वकारकशून्यं ब्रह्मेष्यते त्वया। न च ज्ञानसाधनानां शरीरेन्द्रियादीनामभावे ज्ञानोत्पत्तिः कस्यचिदुपपन्ना। अपि च प्रधानस्यानेकात्मकस्य परिणामसंभवात्कारणत्वो-

---

भामती

बहुविषयतया सातिशयमित्यनेनापि क्वचिन्निरतिशयेन भवितव्यम्। इदमेव चास्य निरतिशयत्वं यद्विदितसमस्तवेदितव्यत्वम्। तदिदं सर्वज्ञत्वं सत्त्वस्य निरतिशयोत्कर्षत्वे सम्भवति। एतदुक्तं भवति—यद्यपि रजस्तमसी अपि स्तः, तथापि पुरुषार्थप्रयुक्तगुणवैषम्यातिशयात् सत्त्वस्य निरतिशयोत्कर्षे, सार्वज्ञ्यं कार्य्यमुत्पद्यत इति। प्रधानावस्थायामपि तन्मात्रं विवक्षित्वाऽविवक्षित्वा च तमःकार्य्यं प्रधानं सर्वज्ञमुपचर्य्यत इति। अपिभ्यामवधारणस्य व्यवच्छेद्यमाह ॐ न केवलस्य ॐ इति। नहि किञ्चिदेकं कार्य्यं जनयेदपि तु बहूनि। चिदात्मा चैकः, प्रधानन्तु त्रिगुणमिति तत एव कार्य्यमुत्पत्तुमर्हति, न चिदात्मन इत्यर्थः। तथापि च योग्यतामात्रेणैव चिदात्मनः सर्वज्ञताभ्युपगमो न कार्य्ययोगादित्याह—ॐ त्वयाऽपि ॐ इति। न केवलस्याकार्य्यकारणस्येत्येतत्सिंहावलोकितेन प्रपञ्चयति ॐ प्रागुत्पत्तेः इति ॐ। ॐ अपि च प्रधानस्य इति ॐ चस्त्वर्थः।

भामती—व्याख्या

बेर, आँवलादि में महत् परिमाण सातिशय (न्यूनाधिक) है और आकाश में असीम (व्यापकतापादक) निरतिशय होता है, वैसे ही ज्ञान भी किसी में एक विषयवाला, किसी में दो विषयवाला सातिशय (तरतमभाव-युक्त) होता है, वह कहीं-न-कहीं जाकर निरतिशय (परमोत्कृष्ट) अवश्य होगा। ज्ञान की निरतिशयता यही है कि समस्त विषय-प्रकाशकत्व। इस प्रकार का सर्वज्ञत्व सत्त्व गुण का निरतिशय उत्कर्ष होने पर ही सम्भव होगा। कहने का भाव यह है कि प्रधान में यद्यपि रजोगुण और तमोगुण भी हैं, तथापि जिस पुरुषार्थ की प्रेरणा से गुणों में उत्कर्षापकर्ष होता है, उसके ही बल पर कहीं पर सत्त्व गुण के चरम सीमा में पहुँच जाने पर सर्वज्ञता उत्पन्न हो जाती है। सत्त्व की प्रधानता को लेकर प्रधान में सर्वज्ञता का उपचार विवक्षित है और तमोगुण-प्रयुक्त असर्वज्ञता नहीं। कथित दो 'अपि' शब्दों को जो एवकारार्थक कहा गया था, वहाँ एवकार के द्वारा व्यावर्तनीय पदार्थ का स्पष्टीकरण किया जाता है—"न केवलस्याकार्यकारणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वम्"। कोई एक अद्वितीय पदार्थ कार्योत्पादन नहीं कर सकता, अपितु कई पदार्थ मिलकर कार्यकारी होते हैं। चिदात्मा (ब्रह्मतत्त्व) तो एकमात्र है, किन्तु प्रधान तत्त्व त्रिगुणात्मक होने के कारण कार्य का उत्पादन कर सकता है, चिदात्मा नहीं। आप (वेदान्तिगण) भी योग्यता मात्र के आधार पर चिदात्मा में सर्वज्ञत्व मानते हैं, कार्य के सम्बन्ध से नहीं—"त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्माभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञत्वमभ्युपगन्तव्यम्"। जो यह कहा गया कि कार्यकरण-रहित केवल (असंघत) आत्मा में सर्वज्ञत्व नहीं बन सकता, उसी विषय का सिंहावलोकन के समान विस्तार किया जाता है—"प्रागुत्पत्तेः सर्वकार्यशून्यं ब्रह्मेष्यते त्वया"। "अपि च प्रधानस्य"—इस भाष्य में चकार का अर्थ है—'तु'।

पपत्तिर्मृदादिवत्, नासंहतस्यैकात्मकस्य ब्रह्मण इत्येवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम्। अशब्दं हि तत्। कथमशब्दत्वम्? ईक्षतेः–ईक्षितृत्वश्रवणात्कारणस्य। कथम्? एवं हि श्रूयते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० ६।२।१) इत्युपक्रम्य

भामती

एवं प्राप्त उच्यते—नाम रूप-प्रपञ्च-लक्षणकार्य्यदर्शनादेतत्कारणमात्रवदिति सामान्यकल्पनायामस्ति प्रमाणं, न तु तदचेतनं चेतनमिति वा विशेषकल्पनायामस्त्यनुमानमित्युपरिष्टात्प्रवेदयिष्यते। तस्मान्नाम-रूपप्रपञ्चकारणभेदप्रमायामाम्नाय एव भगवानुपासनीयः। तदेवमाम्नायैकसमधिगमनीये जगत्कारणे—

पौर्वापर्य्यपरामर्शाद् यदाम्नायोऽञ्जसा वदेत्।
जगद्बीजं तदेवेष्टं चेतने च स आञ्जसः॥

तेषु तेषु खल्वाम्नायप्रदेशेषु तदैक्षतेत्येवंजातीयकैर्वाक्यैरीक्षितुः कारणाज्जगज्जन्माख्यायते इति, न च प्रधानपरमाण्वादेरचेतनस्येक्षितृत्वमाञ्जसम्। सत्त्वांशेनेक्षितृ प्रधानं तस्य प्रकाशकत्वादिति चेत्। न; तस्य जाड्येन तत्त्वानुपपत्तेः। कस्तर्हि रजस्तमोभ्यां सत्त्वस्य विशेषः? स्वच्छता। स्वच्छं हि सत्त्वम्। अस्वच्छे च रजस्तामसी। स्वच्छस्य च चैतन्यबिम्बोद्ग्राहितया प्रकाशत्वव्यपदेशो नेतरयोरस्वच्छतया तद्ग्राहित्वाभावात्। पार्थिवत्वे तुल्य इव मणेर्बिम्बोद्ग्राहिता न लोष्टादीनाम्। ब्रह्मणस्त्वीक्षितृत्वमाञ्ज-

---

भामती—व्याख्या

सिद्धान्त—नाम-रूपात्मक प्रपञ्च को देख कर अनुमान प्रमाण से तो केवल इतनी ही कल्पना की जा सकती है कि 'इदं कार्यजातं कारणवत्, कार्यत्वाद् घटादिवत्'। इससे अतिरिक्त वह कारण पदार्थ चेतन है? या अचेतन? इस प्रकार की विशेष कल्पना में अनुमान की गति नहीं हो सकती—यह आगे चल कर कहा जायगा, अतः इस नाम-रूपात्मक प्रपञ्च के विशेष कारण का निश्चय करने के लिए भगवान् वेद की ही शरण लेनी आवश्यक है। जब वेद के द्वारा ही जगत् की कारण वस्तु का अधिगम करना है, तब—

पौर्वापर्यपरामर्शाद् यदाम्नायोऽञ्जसा वदेत्।
जगद्बीजं तदेवेष्टं चेतने च स आञ्जसः॥

[वेद अपनी तात्पर्य-ग्राहिका उपक्रमोपसंहारादि युक्तियों की सहायता से जो जगत् का कारण बताएगा, वही मानना होगा, वेद के द्वारा वह कारणता ब्रह्मरूप चेतन पदार्थ में ही सम्यक् प्रदिपादित है, क्योंकि] वेद के अनेक प्रदेशों में 'तदैक्षत" (छां. ६।२।३) इत्यादि वचनों के द्वारा ईक्षण-कर्त्ता पुरुष से जगत् का जन्म कथित है। प्रधान और परमाणु आदि अचेतन पदार्थों में मुख्य ईक्षितृत्व सीधे-सीधे नहीं घटता। 'सत्त्व गुण के अंशभूत ज्ञान के द्वारा प्रधान (प्रकृति) में जो ईक्षितृत्व सांख्याचार्य कहते हैं, वह सम्भव नहीं, क्योंकि प्रधान जड़ है, अतः मुख्यरूप से उसमें ईक्षण का कर्तृत्व उपपन्न नहीं होता। यदि पूछा जाय कि सत्त्व के माध्यम से प्रधान में यदि ईक्षितृत्व नहीं बन सकता, तब रजोगुण और तमोगुण से सत्त्व की विशेषता ही क्या रह जाती है? तो इसका सहज उत्तर है कि सत्त्व की वह विशेषता है—स्वच्छता, क्योंकि सत्त्वगुण स्वच्छ होता है, रज और तम अस्वच्छ होते हैं। स्वच्छ द्रव्य में ही चैतन्य के प्रतिबिम्ब की ग्राहकता होती है, अत एव सत्त्व को प्रकाशक मान लिया गया है—"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्" (सां. का. १३)। रजोगुण और तमो गुण में अस्वच्छता होने के कारण प्रतिबिम्ब-ग्राहित्व नहीं होता। यद्यपि स्फटिकादि मणि और लोष्ठ (पत्थर) सभी समानरूप से पार्थिव है, तथापि मणि में ही प्रतिबिम्ब-ग्राहिता होती है, लोष्ठादि

भामती

सम। तस्याम्नायतो नित्यज्ञानस्वभावत्वविनिश्चयात्। नन्वत एवास्य नेक्षितृत्वं; नित्यस्य ज्ञानस्वभावभूतस्येक्षणस्याक्रियात्वेन ब्रह्मणस्तत्प्रति निमित्तभावाभावात्। अक्रियानिमित्तस्य च कारकत्वनिवृत्तौ तद्व्याप्यस्य तद्विशेषस्य कर्तृत्वस्य निवृत्तेः। सत्यं ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यं नित्यतया न क्रिया, तस्य त्वनवच्छिन्नस्य तत्तद्विषयोपधानभेदावच्छेदेन कल्पितभेदस्यानित्यत्वं कार्य्यत्वं चोपपद्यते। तथा चैवंलक्षणे ईक्षणे सर्वविषये ब्रह्मणः स्वातन्त्र्यलक्षणं कर्तृत्वमुपपन्नम्। यद्यपि च कूटस्थनित्यस्यापरिणामिन औदासीन्यमस्य वास्तवं तथाप्यनाद्यनिर्वचनीयाविद्यावच्छिन्नस्य व्यापारवत्त्वमवभासत इति कर्तृत्वोपपत्तिः। परैरपि च चिच्छक्तेः कूटस्थनित्याया वृत्तीः प्रति कर्तृत्वमीदृशमेवाभ्युपेयम्। चैतन्यसामानाधिकरण्येन ज्ञातृत्वोपलब्धेः। न हि प्राधानिकान्यन्तर्बहिष्करणानि त्रयोदश सत्त्वप्रधानान्यपि स्वयमेवाचेतनानि तद्वृत्तयश्च स्वं वा परं वा वेदितुमुत्सहन्ते। नो खल्वन्धाः सहस्रमपि पान्थाः पन्थानं विदन्ति। चक्षुष्मता चैकेन चेद् वेद्यते, स एव तर्हि मार्गदर्शी स्वतन्त्रः कर्ता नेता तेषाम्। एवं बुद्धिसत्त्वस्य स्वयमचेतनस्य चिति-

भामती-व्याख्या

में नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म में ही ईक्षितृत्व मुख्य रूप से घटता है, क्योंकि वेद के द्वारा उसमें नित्यज्ञानरूपता प्रतिपादित है, प्रधानादि में नहीं।

शङ्का—नित्यज्ञानस्वरूपता होने के कारण ही ब्रह्म में ईक्षण-कर्तृत्व सम्भव नहीं, क्योंकि घटादि कार्य (जन्य) पदार्थों का ही कुलालादि में कर्तृत्व देखा जाता है. नित्य ज्ञानरूप ईक्षण कार्य (जन्य) पदार्थ नहीं, अतः उसका कर्तृत्व ब्रह्म में क्योंकर होगा? 'यत्र यत्र कारकत्वम्, तत्र तत्र क्रिया-निमित्तत्वम्—इस प्रकार व्यापकीभूत क्रिया-निमित्तत्व की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्म में कारकत्व ही नहीं घटता, कारकत्व धर्म कर्तृत्वादि का व्यापक है, उसकी निवृत्ति हो जाने से उसके व्याप्यभूत कर्तृत्व की भी निवृत्ति हो जाती है, तब ब्रह्म में ईक्षणकर्तृत्व कैसे बनेगा?

समाधान—यह सत्य है कि ब्रह्मस्वरूप ज्ञान नित्य है, कार्य (जन्य) नहीं, किन्तु स्वभावतः अनवच्छिन्न ज्ञान अपनी विषयरूप उपाधियों से अवच्छिन्न होकर वैसे ही कार्य (अनित्य) माना जाता है, जैसे घटादि से अवच्छिन्न होकर आकाश। फलतः इस प्रकार के ईक्षणरूप ज्ञान को लेकर ब्रह्म में उसका "स्वतन्त्रः कर्त्ता" (पा. सू. १।४।५४) के अनुसार कर्तृत्व उपपन्न हो जाता है। यद्यपि इस कूटस्थ, नित्य और अपरिणामी ब्रह्म में औदासीन्य (अक्रियाकारित्व) ही वास्तविक है, तथापि अनादि और अनिर्वचनीय अविद्या से अवच्छिन्न होकर ब्रह्म क्रियावान् हो जाता है, अतः उसमें कर्तृत्व बन जाता है। सांख्याचार्यादि भी चिति शक्ति (पुरुष) को कूटस्थ और नित्य मानते हैं, अतः उन्हें भी बुद्धिस्थ वृत्ति (क्रिया) का कर्तृत्व ऐसा ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि ज्ञातृत्व जड़ में नहीं, चेतन में ही प्रतीत होता है।

प्रधान (प्रकृति) के द्वारा जो मन, बुद्धि और अहङ्काररूप त्रिविध अन्तःकरण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय रूप दशविध बाह्य करण; सब मिलाकर तेरह प्रकार का करण-कलाप उत्पन्न किया जाता है—"करणं त्रयोदशविधम्" (सां. का. ३२)। वह सब सत्त्व गुण का कार्य होने पर भी अचेतन एवं उसकी वृत्तियाँ भी जड़ हैं, अतः वे न अपने को जान सकती हैं और न अपने से भिन्न विषय को। हजारों अन्धे यदि मिलकर किसी मार्ग पर चल पड़ते हैं, तब भी उस मार्ग का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु आँखवाला व्यक्ति भले ही एक अकेला हो, यदि सब कुछ देख सकता है, तब वही आँखवाला व्यक्ति ही सभी का नेता माना जायगा। बुद्धिगत सत्त्व स्वयं अचेतन होकर जिस चैतन्य की छाया पत्ति के द्वारा

भामती

बिम्बसंक्रान्त्या चेवापन्नं चैतन्यस्य ज्ञातृत्वम् , चितिरेव ज्ञात्री स्वतन्त्रा, नान्तर्बहिष्करणान्यन्यसहस्र-प्रतिमान्यस्वतन्त्राणि । न चास्याश्चितेः कूटस्थनित्याया अस्ति व्यापारयोगः । न च तदयोगेऽप्यज्ञातृत्वं व्यापारवतामपि जडानामज्ञत्वात् । तस्मादन्तःकरणवर्तिनं व्यापारमारोप्य चितिशक्तौ कर्तृत्वाभिमा-नोऽन्तःकरणे वा चैतन्यमारोप्य तस्य ज्ञातृत्वाभिमानः । सर्वथा भवन्मतेऽपि नेदं स्वाभाविकं क्वचिदपि ज्ञातृत्वमपि तु सांव्यावहारिकमेवेति परमार्थः । नित्यस्यात्मनो ज्ञानं परिणाम इति च भेदाभेदपक्ष-पाकुर्वद्भिरपास्तम् । कूटस्थस्य नित्यस्यात्मनोऽव्यापारवत एव भिन्नं ज्ञानं धर्म इति चोपरिष्टादपाकरि-ष्यते । तस्माद्वस्तुतोऽनवच्छिन्नं चैतन्यं तत्त्वान्यत्वानिर्वचनीयाव्याकृतव्याचिकीर्षितनामरूपविषयावच्छिन्नं सज्ज्ञानं कार्य्यं तस्य कर्त्ता ईश्वरो ज्ञाता सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति सिद्धम् । तथा च श्रुतिः—

'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥
यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' ॥ इति ।

तपसा ज्ञानेन अव्याकृतनामरूपविषयेण चीयते तद्व्याचिकीर्षावद्भवति । यथा कुविन्दादिरव्याकृतं पटादि बुद्धावालिख्य चिकीर्षति । एकधर्मवान् द्वितीयधर्मोपजननेन उपचित उच्यते । व्याचिकीर्षायां

भामती-व्याख्या

चैतन्य प्राप्त करता है, उस मुख्य चैतन्य में ही ज्ञातृत्व होता है, वही चैतन्य तत्त्व स्वतन्त्र है, अन्तःकरण या बहिःकरणों का समूह वैसे ही कभी चेतन नहीं बन सकता, जैसे हजारों अन्धों का समूह चक्षुष्मान नहीं होता। इस मुख्य चिति शक्ति (आत्मा) में कूटस्थता, विभुता और नित्यता होने के कारण किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध नहीं। क्रिया का असम्बन्ध होने के कारण चैतन्य में अज्ञातृत्व नहीं कह सकते, क्रिया के अयोग से अज्ञातृत्व तब कह सकते थे, जबकि ज्ञातृत्व के प्रति क्रिया-सम्बन्ध व्यापक होता, किन्तु वैसा नहीं, क्योंकि जड़ पदार्थों में क्रिया का सम्बन्ध रहने पर भी ज्ञातृत्व नहीं माना जाता। अतः अन्तःकरणगत क्रिया का चित्ति शक्ति में आरोप करके ज्ञातृत्व का अभिमान होता है अथवा अन्तःकरण में चैतन्य का आरोप करके ज्ञातृत्व का अभिमान होता है। सर्वथा आप (सांख्य) के मत में भी ज्ञातृत्व कहीं पर स्वाभाविक (अनौपाधिक) नहीं होता, अपि तु सांव्यवहारिक ज्ञातृत्व बनता है। 'नित्य आत्मा का परिणाम ज्ञान है'—ऐसा भेदाभेदवादी भास्कराचार्य जो मानते हैं, वह पहले भेदाभेद-पक्ष का निराकरण करते समय निराकृत हो चुका है। नित्य और क्रिया-रहित आत्मा का ज्ञान धर्म है—इस पक्ष का आगे चलकर (ब्र. सू. २।३।१८ में) खण्डन किया जायगा। वस्तुतः अनवच्छिन्न चैतन्य सत्त्वासत्त्व से भिन्न (अनिर्वचनीय) व्याचिकीर्षित नाम-रूपात्मक विषय से अवच्छिन्न होकर जो ज्ञानरूप कार्य बनता है, उसका कर्त्ता है—ईश्वर, वह सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-समन्वित होता है। जैसा कि श्रुति कहती है—"तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ (मुण्ड. १।१।८)। "यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" (मुण्ड. १।१।९)। 'तपः' शब्द से अव्याकृत नाम-रूपात्मक विषयावगाही ज्ञान विवक्षित है। 'चीयते' का अर्थ है—'व्याचिकीर्षितो भवति,। जैसे जुलाहा अव्याकृत (तन्त्वा-दिरूप में अवस्थित अप्रकट) पटादि का कुछ आकार अपनी बुद्धि में खींच कर निर्माण करना चाहता है। किसी एक धर्मवाले पदार्थ में द्वितीय धर्म का उत्पादन हो जाने पर वह पदार्थ उपचित कहा जाता है। "ततोऽन्नमभिजायते' का अर्थ यह है कि व्याचिकीर्षा और उपचय

भामती

चोपचये सति ततो नामरूपमन्नमदनीयं साधारणं संसारिणां व्याचिकीर्षितमभिजायते। तस्मादव्याकृताद् व्याचिकीर्षिताद् अन्नात्प्राणो हिरण्यगर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठानं जगत् सूत्रात्मा साधारणो जायते। यथाऽव्याकृताद् व्याचिकीर्षितात् पटाद् अवान्तरकार्यं द्वितन्तुकादि। तस्माच्च प्राणाद् मनआख्यं सङ्कल्पविकल्पादिव्याकरणात्मकं जायते। ततो व्याकरणात्मकात् मनसः सत्यशब्दवाच्यान्याकाशादीनि जायन्ते। तेभ्यश्च सत्याख्येभ्योऽनुक्रमेण लोका भूरादयः। तेषु मनुष्यादिप्राणिनो वर्णाश्रमक्रमेण कर्माणि धर्माधर्मरूपाणि जायन्ते। कर्मसु चामृतं फलं स्वर्गनरकादि। तच्च स्वनिमित्तयोर्धर्माधर्मयोः सतोर्न विनश्यतीत्यमृतं यावद्धर्माधर्मभावीति यावत्। यः सर्वज्ञः सामान्यतः सर्वविद्विशेषतो यस्य भगवतो ज्ञानमयं तपो धर्मो नायासमयम्। तस्माद् ब्रह्मणः पूर्वस्मादेतत्परं कार्य्यं ब्रह्म। किञ्च नामरूपमन्नं च व्रीहियवादि जायत इति। तस्मात् प्रधानस्य साम्यावस्थायामनीक्षितृत्वात्, क्षेत्रज्ञानां च सत्यपि चैतन्ये सर्गादौ विषयानीक्षणात्, मुख्यसम्भवे चोपचारस्यान्याय्यत्वात्, मुमुक्षोश्चायथार्थोपदेशानुपपत्तेः, मुक्तिविरोधित्वात्तेजःप्रभृतीनाञ्च मुख्यासम्भवेनोपचाराश्रयणस्य युक्तिसिद्धत्वात्, संशये च तत्प्रायपाठस्य निश्चायकत्वात्, इह तु मुख्यस्यौत्सर्गिकत्वेन निश्चये सति संशयाभावाद्, अन्यथा किरातशतसङ्कीर्णदेशनिवासिनो ब्राह्मणायनस्यापि किरातत्वापत्तेः, ब्रह्मैवेक्षितृ नाद्यनिर्वाच्याविद्यासचिवं जगदुपादानं, शुक्तिरिव समारोपितस्य रजतस्य, मरीचय इव जलस्यैकश्चन्द्रमा इव द्वितीयस्य चन्द्रमसः। न त्वचेतनं

भामती–व्याख्या

के हो जाने पर नाम-रूपात्मक प्रपञ्च अन्न (भोग्यवर्ग) के रूप में उत्पन्न होता है। उस व्याचिकीर्षित अव्यक्त से प्राण (हिरण्यगर्भ, ब्रह्म की ज्ञान-शक्ति और क्रियाशक्ति का अधिष्ठानभूत सूत्रात्मा) वैसे ही उत्पन्न होता है, जैसे—व्याचिकीर्षित एकतन्त्वात्मक पट से बहुतन्त्वात्मक पट उत्पन्न होता है। उस प्राण तत्त्व से मनःसंज्ञक संकल्प-विकल्पात्मक वस्तु उत्पन्न होती है। उस मन से 'सत्य' शब्द-वाच्य आकाशादि जगत्, उस से क्रमशः भूः, भुवः और स्वः ये तीन लोक, उन लोकों में मनुष्य एवं वर्णाश्रमोचित कर्म (धर्माधर्म) उत्पन्न होते हैं। धर्म और अधर्म से स्वर्ग-नरकादि रूप फल उत्पन्न होता है, [उसको अमृत (अविनाशी) इसलिए कहा जाता है कि वह अपने कारणीभूत धर्म और अधर्म के रहने पर नष्ट नहीं होता, धर्माधर्म-पर्यन्त स्थायी होता है]। दूसरी श्रुति का अर्थ यह है कि 'यः सर्वज्ञः' जो सर्वविषयक सामान्य ज्ञानवान् और सर्ववित् (विशेषतः सर्वविषयक ज्ञानवान्) है, जिस परमेश्वर का तप ज्ञानात्मक है, उस परब्रह्म परमेश्वर से यह ब्रह्म (बृहत् कार्य) नाम, रूप एवं व्रीहि आदि अन्न उत्पन्न होता है। फलतः साम्यावस्थापन्न प्रधान में ईक्षितृत्व, सर्गारम्भकालीन जीवों में विषय का ईक्षण सम्भव न होने के कारण ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण मानना पड़ता है। जब कि ब्रह्म में मुख्य सर्वज्ञत्व बन सकता है, तब प्रधानादि में गौण सर्वज्ञत्वादि मानना अन्याय है। 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियों के द्वारा मुमुक्षु जीव को प्रधानात्मकता का उपदेश अयथार्थ होने के कारण मुक्ति का साधक न होकर बाधक है। तेज और जलादि में मुख्य ईक्षितृत्व सम्भव न होने के कारण गौण ईक्षितृत्व का आश्रयण अगत्या किया जाता है, ब्रह्म में वैसा करने की कोई आवश्यकता नहीं। ब्रह्म में ईक्षण-कर्तृत्व निश्चित है, सन्दिग्ध नहीं, जहाँ सन्देह होता है, वहाँ ही प्राय-पाठ को निर्णायक माना जाता है, ब्रह्म में तो मुख्य ईक्षितृत्व ही सहज-सिद्ध है। फिर भी यदि प्राय-पाठ को महत्त्व देकर गौण ईक्षितृत्व सिद्ध किया जाता है, तब चारों ओर भीलों से आकीर्ण देश में रहनेवाले ब्राह्मण को भी किरात (भील) ही मानना पड़ेगा। परिशेषतः अनादि एवं अनिर्वचनीय अविद्या की सहायता से सच्चिदात्मक ब्रह्म ही समस्त जगत् का वैसे ही उपादान कारण सिद्ध होता है,

'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो० ६।२।३) इति। तत्रेदंशब्दवाच्यं नामरूपव्याकृतं जगत्प्रागुत्पत्तेः सदात्मनावधार्य तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्दवाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजःप्रभृतेः स्रष्टृत्वं दर्शयति। तथान्यत्र—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र

भामती

प्रधानपरमाण्वादि। अशब्दं हि तत्। न च प्रधानं परमाणवो वा तदतिरिक्तसर्वज्ञेश्वराधिष्ठिता जगदुपादानमिति साम्प्रतम्, तेषां भेदेन कार्य्यत्वात्। कारणात्कार्याणां भेदाभावात्। कारणज्ञानेन समस्तकार्यपरिज्ञानस्य मृदादिनिदर्शनेनागमेन प्रसाधितत्वात्। भेदे च तदनुपपत्तेः। साक्षाच्च 'एकमेवाद्वितीयं' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इत्यादिभिर्बहुभिर्वचोभिर्ब्रह्मातिरिक्तस्य प्रपञ्चस्य प्रतिषेधाच्चेतनोपादानमेव जगद् भुजङ्ग इवारोपितो रज्जूपादान इति सिद्धान्तः। सदुपादानत्वे हि सिद्धे जगतस्तदुपादानं चेतनमचेतनं वेति संशय्य मीमांस्येत। अद्यापि तु सदुपादानत्वमसिद्धमित्यत आह ❀ तत्रेदं शब्दवाच्यम् ❀ इत्यादि ❀ दर्शयति ❀ इत्यन्तेन। तथापीक्षिता पारमार्थिकप्रधानक्षेत्रज्ञातिरिक्त ईश्वरो भविष्यति, यथाहुर्हैरण्यगर्भा इत्यतः श्रुतिः पठिता 'एकमेवाद्वितीयम्' इति, 'बहु स्याम्' इति

भामती-व्याख्या

जैसे शुक्ति पदार्थ अपने में अध्यस्त रजत का, मरुमरीचि-पुञ्ज अपने में समारोपित जल का और एक चन्द्रमा अपने में अवभासित द्वितीय चन्द्र का उपादान कारण होता है।

सांख्य-सम्मत प्रधान (प्रकृति) वैशेषिकाभ्युपगत परमाणु आदि पदार्थ जगत् के कभी भी उपादान कारण नहीं बन सकते, क्योंकि वे अशब्द (प्रमाण-रहित) हैं। यद्यपि प्रधान और परमाण्वादि जड़ पदार्थ हैं, तथापि ईश्वर से अधिष्ठित होकर जगत् के उपादान क्यों न हो सकेंगे?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मृदादि कारण से घटादि कार्य का भेद नहीं होता, किन्तु जगत् से प्रधानादि का भेद सिद्ध है। अत एव श्रुति ने एक कारण के ज्ञान से समस्त कार्य का ज्ञान मृदादि दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध किया है—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छां. ६।१।४)। कार्य और कारण का भेद मानने पर एक कारण के ज्ञान से समस्त कार्य का ज्ञान सम्भव न हो सकेगा।

दूसरी बात यह भी है कि "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति" (बृह. उ. ४।४।१९) इत्यादि अनेक श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म से अतिरिक्त प्रपञ्च का प्रतिषेध किया गया है, अतः यह प्रपञ्च वैसे ही ब्रह्मोपादनक सिद्ध होता है, जैसे—रज्जु में आरोपित सर्प रज्जूपादानक होता है। जब यह सिद्ध हो जाय कि जगत् का उपादन कोई सत् तत्त्व है, तब उसमें वह 'सत्' पदार्थ चेतन है? अथवा अचेतन? इस प्रकार का सन्देह उठाकर यह प्रस्तुत विचार किया जा सकता था, किन्तु सदुपादानकत्व तो जगत् में अभी तक सिद्ध नहीं किया गया, अतः भाष्यकार कह रहे हैं—"तत्रेदंशब्दवाच्यं नामरूपव्याकृतं जगत् प्राग् उत्पत्तेः सदात्मनावधार्य तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्दवाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजःप्रभृतेः स्रष्टृत्वं दर्शयति"। अर्थात् 'तेज' आदि शब्दों के द्वारा उसी सत् या चेतन तत्त्व की उपस्थिति कराकर उसी में मुख्य ईक्षण प्रतिपादित हैं, अतः वहाँ गौण ईक्षण का प्रसङ्ग ही नहीं कि गौण ईक्षण मानना आवश्यक हो। 'सत्' पद के द्वारा पारमार्थिक वस्तु का ग्रहण कर लेने पर भी प्रधान और परमाणु से अतिरिक्त योग-सम्मत ईश्वर को जगत् का उपादान कारण क्यों न मान लिया जाय?' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए "एकमेवाद्वितीयम्"—यह श्रुति पढ़ दी है। एक अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व का ही ग्रहण 'सत्' पद के द्वारा किया जा सकता है, अन्य किसी पदार्थ का नहीं। "बहुस्यां प्रजायेय" इस श्रुति के द्वारा भी एक अद्वितीय चेतन तत्त्व

आसीत् । नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐत० १।१।१) इतीक्षापूर्विकामेव सृष्टिमाचष्टे । क्वचिच्च षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्याह—'स ईक्षांचक्रे । स प्राणमसृजत' (प्रश्न० ६।३) इति । ईक्षतेरिति च धात्वर्थनिर्देशोऽभिप्रेतः, यजतेरितिवत् । न धातुनिर्देशः । तेन 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य

भामती

च चेतनं कारणमात्मन एव बहुभावमाह । तेनापि कारणाच्चेतनादभिन्नं कार्यमवगम्यते । यद्यप्याकाशाद्या भूतसृष्टिस्तथापि तेजोबन्नानामेव त्रिवृत्करणस्य विवक्षितत्वात् तत्र तेजसः प्राथम्यात् तेजः प्रथममुक्तम् । एकमद्वितीयं जगदुपादानमित्यत्र श्रुत्यन्तरमपि पठति ® तथान्यत्र ® इति । ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलम् । तद्यथा, प्राची प्रतीची दक्षिणोदीचीति चतस्रः कला ब्रह्मणः । प्रकाशवान् नाम प्रथमः पादः । तदष्टं शफः । तथा पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः समुद्र इत्यपराश्चतस्रः कला द्वितीयः पादोऽनन्तवान्नाम । तथाग्निः सूर्यश्चन्द्रमा विद्युदिति चतस्रः कलाः, स ज्योतिष्मान्नाम तृतीयः पादः । प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं वागिति चतस्रः कलाः स चतुर्थ आयतनवान्नाम ब्रह्मणः पादः । तदेवं षोडशकलं षोडशावयवं ब्रह्मोपास्यमिति । स्यादेतत् । ईक्षतेरिति श्तिपा धातुस्वरूपमुच्यते, न चाविवक्षितार्थस्य धातुस्वरूपस्य चेतनोपादानसाधनत्वसम्भव इत्यतआह "ईक्षतेः" इति । धात्वर्थनिर्देशोऽभिमतः, विषयिणा विषयलक्षणात् । प्रसिद्धा चेयं लक्षणेत्याह

भामती–व्याख्या

ही सृष्टि के रूप में अपना बहुभाव प्रदर्शित कर रहा है, इसलिए भी चेतन से जगत् अभिन्न ही प्रतीत होता है। यद्यपि आकाशादि से पाँच भूतों की सृष्टि दिखाई है, अतः पञ्चीकरण प्रक्रिया सर्व-सम्मत प्रतीत होती है । तथापि यहाँ तेज, जल और अन्न (पृथिवी) इन तीनों का त्रिवृत्करण विवक्षित है—"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" (छां. ६।३।३) । तीनों में तेज का प्रथम उल्लेख होने के कारण तेज की प्रथम चर्चा की गई है । एक अद्वितीय तत्त्व ही जगत् का उपादान कारण है—इस अर्थ की साधिका अन्य श्रुति प्रस्तुत की जाती है—"तथा अन्यत्र आत्मा वा इदमेक एवाग्रे आसीत्, नान्यत् किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति" (ऐत. १।१।२) । ब्रह्म चतुष्पात्, अष्टशफक और षोडशकलावाला है, अर्थात् (१) पूर्व, (२) पश्चिम, (३) दक्षिण और (४) उत्तर—ये चार कलाएँ ब्रह्म का 'प्रकाशवान्' नामक प्रथक पाद (खुर) हैं । (५) पृथिवी, (६) अन्तरिक्ष, (७) द्यौः और (८) समुद्र—ये चार कलाएँ ब्रह्म का 'अनन्तवान्' नामक द्वितीय पाद हैं । (९) अग्नि, (१०) सूर्य, (११) चन्द्रमा और (१२) विद्युत्—ये चार कलाएँ 'ज्योतिष्मान्' नामक तृतीय पाद हैं । (१३) प्राण, (१४) चक्षु, (१५) श्रोत्र और (१६) वाक्—ये चार कलाएँ 'आयतनवान्' नामक चतुर्थ पाद हैं । इस प्रकार चतुष्पात् और षोडश कला-युक्त ब्रह्म उपास्यरूप से निर्दिष्ट हुआ है । गौ आदि के प्रत्येक पैर में जो एक फटा हुआ खुर होता है, उसके प्रत्येक भाग को शफ कहते हैं, अतः पशु के चार पाद और आठ शफ माने जाते हैं ।

'चेतनमेव जगदुपादानं भवति, ईक्षतेः'—इस विवक्षित अनुमान में 'ईक्षतेः' का अर्थ क्या है ? 'इक्षति' शब्द में यदि 'श्तिप' का निर्देश माना जाता है, तब "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे विहितौ" (तं. वा. पृ. ३७९) इसके अनुसार 'इक्षतेः' का अर्थ होता है—'ईक्षिधातोः' । चेतनगत जगदुपादानता की साधक ईक्षधातु नहीं, अपितु ईक्षणरूप अर्थ साधक होता है, अतः कहा गया है—"ईक्षितेरिति धात्वर्थनिर्देशोऽभिप्रेतः । 'इक्' और 'श्तिप्' कहीं-कहीं अर्थ के भी निर्देशक माने गये हैं—"क्वचिदर्थेऽपि धातुमिक्श्तिबन्तं प्रयुञ्जते—यजिः, यजति इति च" (तं. वा. पृ. ३७९) । अथवा शब्दपरक इक् और श्तिप् की वाच्यार्थ में लक्षणा की जा सकती है । यह लक्षणा अत्यन्त प्रसिद्ध है—"यजतेरितिवत्" । ईक्षणरूप पदार्थ चेतन में ही सम्भव

ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' (मुण्ड० १।१।९) इत्येवमादीन्यपि सर्वत्रेश्वरकारणपराणि वाक्यान्युदाहर्तव्यानि ।

यत्तूक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति, तन्नोपपद्यते । नहि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात्सत्त्वधर्मो ज्ञानं संभवति । ननूक्तं, सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भविष्यतीति । तदपि नोपपद्यते । यदि गुणसाम्ये सति सत्त्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत, कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य किंचिज्ज्ञमुच्येत । अपि च नासाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिनाऽभिधीयते । न चाचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्ति । तस्मादनुपपन्नं प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम् । योगिनां तु चेतनत्वात्सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदाहरणम् । अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षि-

भामती

❀ यजतेरितिवत् इति ❀ । ❀ यः सर्वज्ञः ❀ इति सामान्यतः, ❀ सर्ववित् ❀ इति विशेषतः । सांख्यीयं स्वमतसमाधानमुपन्यस्य दूषयति । "यत्तूक्तं सत्त्वधर्मेण" इति । पुनः सांख्यमुत्थापयति ❀ ननूक्तम् इति ❀ । परिहरति । ❀ तदपि इति ❀ । समुदाचरद्वृत्ति तावन्न भवति सत्त्वं, गुणवैषम्यप्रसङ्गेन साम्यानुपपत्तेः । न चाव्यक्तेन रूपेण ज्ञानमुपयुज्यते, रजस्तमसोस्तत्प्रतिबन्धस्यापि सूक्ष्मेण रूपेण सद्भावादित्यर्थः । अपि च चैतन्यप्रधानवृत्तिवचनो जानातिर्न चाचेतने वृत्तिमात्रे दृष्टचरप्रयोग इत्याह ❀ अपि च नासाक्षिका इति ❀ । कथं तर्हि योगिनां सत्त्वांशोत्कर्षहेतुकं सर्वज्ञत्वमित्यत आह ❀ योगिनां तु इति ❀ । सत्त्वांशोत्कर्षो हि योगिनां चैतन्यचक्षुष्मतानुपकरोति नान्धस्य प्रधानस्येत्यर्थः । यदि तु कापिलमतमपहाय हैरण्यगर्भमास्थीयेत तत्राप्याह ❀ अथ पुनः साक्षिनिमित्तम् इति ❀ । तेषामपि हि प्रकृष्टसत्त्वोपादानं पुरुषविशेषस्यैव क्लेशकर्मविपाकाशयापरामृष्टस्य सर्वज्ञत्वं, न तु प्रधानस्याचेतनस्य । तदपि

भामती–व्याख्या

होने के कारण जगदुपादानत्व उपपन्न होगा, प्रधानादि जड़-वर्ग में नहीं। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्"—इस श्रुति में सामान्यतः सर्वविषयावगाहिज्ञानवत्त्व 'सर्वज्ञ' पद से और 'सर्ववित्' पद से विशेषतः सर्वविषयावगाहिज्ञानवत्त्व विवक्षित है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं।

सांख्य-मत का अनुवाद करके निरास किया जाता है—"यत्तूक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति, तन्नोपपद्यते"। सांख्य-मत का पुनः उज्जीवन किया जाता है—"ननूक्तं सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भविष्यतीति"। उसका भी परिहार किया जाता है—"तदपि नोपपद्यते"। साम्यावस्था में सत्त्व को यदि कार्यकारी माना जाता है, तब साम्य भङ्ग होकर गुण-वैषम्य हो जाता है। अव्यक्तरूप से ज्ञान का ग्रहण करने पर उसी रूप से रजोगुण और तमोगुण का अवस्थान है, अतः उस ज्ञान का प्रतिबन्ध भी मानना होगा। 'जानाति' पद से साक्षी चेतन की ज्ञानरूप वृत्ति का अभिधान होता है, अतः 'प्रधानं जानाति'—ऐसा प्रयोग वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे 'घटो जानाति', 'पटो जानाति'—ऐसा प्रयोग—"अपि च नासाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिनाभिधीयते"। यदि सत्त्वोत्कर्ष का 'ज्ञान' पद से ग्रहण नहीं हो सकता, तब योगियों के लिए सर्वज्ञत्व का व्यवहार कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है—"योगिनां तु चेतनत्वात्"। जैसे बाह्य आलोक आँखवालों का ही उपकार कर सकता है, अन्धों का नहीं, वैसे सत्त्वगुण का उत्कर्ष चेतनरूप योगियों का ही उपकारक सिद्ध होता है, प्रधानादि जड़ पदार्थों का नहीं। यदि कपिल-मत को छोड़ कर हिरण्यगर्भ-प्रचारित योग-मत अपनाया जाता है, तब भी उचित नहीं—"अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्प्यते"। योग-मत के अनुसार भी प्रकृष्टसत्त्व-प्रयुक्त सर्वज्ञत्व क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित चेतन पुरुष (ईश्वर) में ही माना गया है,

तृत्वं प्रधानस्य कल्प्येत, यथाग्निनिमित्तमयःपिण्डादेर्दग्धृत्वम्; तथा सति यन्निमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञं मुख्यं ब्रह्म जगतः कारणमिति युक्तम्।

यत्पुनरुक्तं—ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वमुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यासंभवादिति। अत्रोच्यते—इदं तावद्भवान्प्रष्टव्यः, कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति। यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम्। अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज्जानाति कदाचिन्न जानातीत्यसर्वज्ञत्वमपि स्यात्। नासौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति। ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेन्न, प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेशदर्शनात्। ननु सवितुर्दाह्यप्रकाश्यसंयोगे सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेशः स्यात्, नतु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञानकर्मसंयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः। न; असत्यपि कर्मणि सविता प्रकाशत इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात्। एवम-

भामती

चाद्वैतश्रुतिभिरपास्तमिति भावः। पूर्वपक्षबीजमनुभाषते * यत् पुनरुक्तं ब्रह्मणोऽपि इति *। चैतन्यस्य शुद्धस्य नित्यत्वेऽप्युपहितं सदनित्यं, कार्यमाकाशमिव घटावच्छिन्नमित्यभिसन्धाय परिहरति * इदं तावद्भवान् इति *। * प्रततौष्ण्यप्रकाशे सवितरि *। इत्येतदपि विषयावच्छिन्नप्रकाशः कार्यमित्येतदभिप्रायम्। वैषम्यं चोदयति। * ननु सवितुः इति * किं वास्तवं कर्माभावमभिप्रेत्य वैषम्यमाह भवान्? उत तद्विवक्षाभावम्? तत्र यदि तद्विवक्षाभावं, तदा प्रकाशयतीत्यनेन मा भूत् साम्यं, प्रकाशत इत्यनेन त्वस्ति। नह्यत्र कर्म विवक्षितम्। अथ च प्रकाशत्वभावं प्रत्यस्ति स्वातन्त्र्यं सवितुरिति परिहरति * नासत्यपि कर्मणि इति *। असत्यपीत्यविवक्षितेऽपीत्यर्थः। अथ वास्तवं कर्माभावमभिसन्धाय

भामती–व्याख्या

अचेतन प्रधान में नहीं। अद्वैत श्रुतियों के द्वारा इस सर्वज्ञत्व का भी खण्डन किया जा चुका है।

पूर्वपक्षोद्भावित दोष का अनुवाद करते हैं—"यत्पुनरुक्तं ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वमुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यासम्भवात्"। चैतन्यस्वरूप ज्ञान दो प्रकार का है—(१) निरवच्छिन्न और (२) सावच्छिन्न। यद्यपि निरवच्छिन्न या शुद्ध ज्ञान नित्य है, तथापि सावच्छिन्न ज्ञान वैसे ही अनित्य या कार्यरूप माना जाता है, जैसे—घटाद्यवच्छिन्न आकाश। इस आशय से उक्त दोष का उद्धार किया जाता है—"इदं तावद् भवान् प्रष्टव्यः कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिः?"

भाष्यकार ने जो कहा है कि "प्रततौष्ण्यप्रकाशे सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेशदर्शनात्"। वह भी इसी आशय से कहा है कि यद्यपि वस्त्रादि का दाहक सूर्य-प्रकाश पहले से विद्यमान है, अभी उत्पन्न नहीं हुआ, तथापि सूर्यकांत मणि में प्रतिफलित (सोपाधिक) प्रकाश उत्पन्न हुआ माना जाता है, जिसको लेकर सूर्य में दाह-कर्तृत्व का व्यवहार हो जाता है।

शङ्का—सूर्य में दाह्य और प्रकाश्य पदार्थ के संयोग का जनक व्यापार होने के कारण दहति और प्रकाशयति—ऐसा व्यवहार हो जाता है, किन्तु ब्रह्म में ज्ञान की उत्पत्ति से पहले घटादि कर्म कारण के साथ न तो ब्रह्म का संयोग उत्पन्न होता है और न संयोग-जनक कोई व्यापार ही ब्रह्म में उत्पन्न होता है, 'ब्रह्म सर्वं जानाति'—ऐसा व्यवहार क्योंकर होगा?

समाधान—दाह्य (दाह क्रिया के कर्मभूत) पटादि के साथ सूर्य का सम्बन्ध होने पर ही सूर्य में 'दहति'—यह व्यवहार होता है—यह आवश्यक नहीं, क्योंकि पटादि पदार्थों के न होने पर भी 'सविता प्रकाशते'—ऐसा व्यवहार देखा जाता है, इसी प्रकार ज्ञान के

सत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तदैक्षत' (छान्दो० ६।२।३) इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम्। कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः। किं पुनस्तत्कर्म, यत्प्रागुत्पत्तेरीश्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति ? तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः। यत्प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति।

यदप्युक्तं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरादिसंबन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चो-

भामती

वैषम्यमुच्यते, तन्न, असिद्धत्वात् कर्माभावस्य, विवक्षितत्वाच्चात्र कर्मण इति परिहरति ❁ कर्मापेक्षायां तु इति ❁। यासां सति कर्मण्यविवक्षिते श्रुतीनामुपपत्तिस्तासां सति कर्मणि विवक्षिते सुतरामित्यर्थः। ❁ यत्प्रसादात् इति ❁। यस्य भगवत ईश्वरस्य प्रसादात्तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य नित्यं ज्ञानं भवतीति किमु वक्तव्यमिति योजना। यथाहुर्योगशास्त्रकाराः। 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति।

भामती-व्याख्या

कर्मकारकभूत जगत् के न होने पर भी ब्रह्म में ईक्षण-कर्तृत्व का व्यवहार निभ जाता है। आशय यह है कि शङ्कावादी क्या वास्तविक कर्म और कर्माभाव को लेकर सूर्य और ब्रह्म में वैषम्य सिद्ध करना चाहता है कि सूर्य-प्रकाश का कर्मकारक रूपादि पदार्थ विद्यमान हैं और ब्रह्म के ज्ञान का कर्मभूत जगत् अपनी उत्पत्ति से पहले नहीं ? अथवा कर्म के अविवक्षितत्व को लेकर वैषम्य दिखाना चाहता है कि सवितृप्रकाश का रूपादि कर्म सत् भी है और विवक्षित भी है, किन्तु ब्रह्म-ज्ञान का कर्मभूत अव्यस्त प्रपञ्च होने पर भी अविवक्षित है। कर्म के विवक्षाभाव को लेकर यदि वैषम्य विवक्षित है, तब 'सविता प्रकाशयति'—ऐसा सकर्मक धातु का प्रयोग ब्रह्म के लिए 'ब्रह्म प्रकाशयति' ऐसा साम्य न होने पर भी 'प्रकाशते'—ऐसे प्रयोग का साम्य है ही, क्योंकि प्रकाशते'—यह अकर्मक धातु का प्रयोग है, कर्म की विवक्षा और विवक्षा के अभाव का प्रसङ्ग ही नहीं उठता। यदि प्रकाशस्वरूप कर्म की अपेक्षा सविता में स्वतन्त्र कर्तृत्व माना जाता है, तो उसका परिहार किया गया है कि "न, असत्यपि कर्मणि"। अर्थात् कर्म के अविवक्षित होने पर भी सविता में कर्तृत्व-व्यवहार होता है— 'सविता प्रकाशते।' सविता के प्रकाश का वास्तविक कर्मकारक घटादि पदार्थ है, किन्तु ब्रह्म-ज्ञान का वास्तविक कर्म नहीं—इस प्रकार विषमता यदि अभिप्रेत है, तब वह सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान का कर्माभाव ही सिद्ध नहीं, क्योंकि यहाँ कर्म विवक्षित है— "कर्मपेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः"। जिन श्रुतियों की सत् किन्तु अविवक्षित कर्म में उपपत्ति हो जाती है, उन श्रुतियों की अनिर्वचनीय नाम-रूपात्मक प्रपञ्चरूप सत् एवं विवक्षित कर्म में सुतरां (भली प्रकार) उपपत्ति हो जाती है। "यत्प्रसादाद्धि"। जिस परमेश्वर की कृपा से योगियों को अतीतानागत विषय का ज्ञान-लाभ माना जाता है, उस नित्य सिद्ध ईश्वर का सर्वविषयक ज्ञान नित्य क्यों न होगा ? ईश्वर की कृपा से योगियों को सर्वविषयक ज्ञान की प्राप्ति योगसूत्रकार ने कही है—"ततः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" (यो. सू. १।२९)। इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है—"भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति ज्ञानवैराग्यादिना"। योगी की विशेष (अनन्य) भक्ति के द्वारा प्रसादित ईश्वर उस पर ज्ञान और वैराग्य-प्रदान करने का अनुग्रह करता है।

यह जो आक्षेप किया गया कि प्रपञ्च की उत्पत्ति से पहले शरीरादि साधनों के न होने के कारण ईक्षण और ईक्षण-कर्तृत्व क्योंकर बनेगा ? वह आक्षेप उचित नहीं, क्योंकि

द्यमवतरति; सवितृप्रकाशवद्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। अपि चाऽविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् , न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य। मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानतां च दर्शयतः—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वेता० ६।८) इति। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' (श्वेता० ३।१९) इति च। ननु नास्ति तावज्ज्ञानप्रतिबन्धकारणवानीश्वरादन्यः संसारी, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति विज्ञाता' (बृह० ३।७।२३) इति श्रुतेः। तत्र किमिदमुच्यते संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्येति ? अत्रोच्यते—सत्यम् , नेश्वरादन्यः संसारी, तथापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसंबन्ध इव व्योम्नः। तत्कृतश्च शब्दप्रत्ययव्यवहारो लोकस्य दृष्टो घटच्छिद्रं करकादिच्छिद्रमित्यादिराकाशाव्यतिरेकेऽपि, तत्कृता चाकाशे घटाकाशादिभेदमिथ्याबुद्धिर्दृष्टा। तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः। दृश्यते चात्मन एव सतो

भामती

तद्भाष्यकारश्च भक्तिविशेषावार्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति ज्ञानवैराग्यादिनेति ॐसवितृप्रकाशवद् इतिॐ। वस्तुतो नित्यस्य कारणानपेक्षां स्वरूपेणोक्त्वा व्यतिरेकमुखेनाप्याह ॐ अपि चाविद्यादिमतः ॐ इत्यादि। आदिग्रहणेन कामकर्मादयः संगृह्यन्ते। ॐ न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्य इति ॐ। संसारिणां वस्तुतो नित्यज्ञानत्वेऽप्यविद्यादयः प्रतिबन्धकारणानि सन्ति, न तु ईश्वरस्याविद्यारहितस्य ज्ञानप्रतिबन्धकारणसम्भव इति भावः। न तस्य कार्यमावरणाद्यपगमो विद्यते, अनावृतत्वादिति भावः। ज्ञानबलेन क्रिया। प्रधानस्य त्वचेतनस्य ज्ञानबलाभावाज्जगतो न क्रियेत्यर्थः। अपाणिर्ग्रहीता, अपादो जवनो वेगवान् विहरणवान् अतिरोहितार्थमन्यत्। स्यादेतत्—अनात्मनि व्योम्नि घटाद्युपाधिकृतो भवत्ववच्छेदविभ्रमः, न तु आत्मनि स्वभावसिद्धप्रकाशे स घटत इत्यत आह। ॐ दृश्यते चात्मन एव सतः इति ॐ। ॐ अभि-

भामती-व्याख्या

सूर्य-प्रकाश को जैसे शरीरादि की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही नित्य ब्रह्मस्वरूप ज्ञान (ईक्षण) को ज्ञान के साधनीभूत शरीरादि की अपेक्षा ही नहीं होती, केवल सूर्यात्मक प्रकाशरूप कर्म के समान ब्रह्मस्वरूप ईक्षणात्मक ज्ञान की अपेक्षा से 'ऐक्षत'—ऐसा व्यवहार हो जाता है। वस्तुतः नित्य पदार्थ को साधन की अपेक्षा नहीं—यह अन्वय-मुखेन दिखाकर व्यतिरेक के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है—"अपि चाविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्, न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य"। 'आदि' पद के द्वारा काम और कर्मादि साधनों का ग्रहण किया जाता है, अर्थात् यद्यपि जीव का ज्ञान भी नित्य है, तथापि अविद्यादि प्रतिबन्धक होते हैं, उनकी निवृत्ति के लिए साधनों की अपेक्षा होती है, किन्तु अविद्या, काम और कर्मादि रूप प्रतिबन्धकों से रहित ईश्वर को शरीरादि साधनों की अपेक्षा क्यों होगी ? "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ (श्वेता. ६।८) इस श्रुति में 'कार्यम्' का अर्थ प्रतिबन्धकीभूत आवरण का अभाव है, वह ईश्वर के ज्ञान में नहीं, क्योंकि उसका ज्ञान अनावृत होता है। "ज्ञानबलेन क्रिया"। अचेतन प्रधान में ज्ञानरूप बल का अभाव होने के कारण जगत् की क्रिया (उत्पत्ति) नहीं होती। "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" (श्वेता. ३।१९) इस श्रुति में अपाणिर्ग्रहीता, अपादो जवनः'—ऐसा अन्वय कर लेना चाहिए, 'जवन' शब्द का अर्थ वेगवान्

देहादिसंघातेऽनात्मन्यात्मत्वाभिनिवेशो मिथ्याबुद्धिमात्रेण पूर्वेण। सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्षमीक्षितृत्वमुपपन्नं संसारिणः। यदप्युक्तं प्रधानस्यानेकात्मकत्वान्मृदादिवत्कारणत्वोपपत्तिर्नासंहतस्य ब्रह्मण इति, तत्प्रधानस्याशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम्। यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वोढुं शक्यते, न प्रधानादीनां, तथा प्रपञ्चयिष्यति—'न, विलक्षणत्वादस्य-' (ब्र. २।१।४) इत्येवमादिना ॥ ५ ॥

अत्राह—यदुक्तं नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणम्, ईक्षितृत्वश्रवणादिति, तदन्यथाप्युपपद्यते, अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात्। यथा प्रत्यासन्नपतनतां नद्याः कूलस्यालक्ष्य कूलं पिपतिषतीत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तद्वदचेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्नसर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति 'तदैक्षत' इति। यथा लोके कश्चिच्चेतनः स्नात्वा भुक्त्वा चापराह्णे ग्रामं रथेन गमिष्यामीतीक्षित्वानन्तरं तथैव नियमेन प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेण नियमेन प्रवर्तते, तस्माच्चेतनवदुपचर्यते। कस्मात्पुनः कारणाद्विहाय मुख्यमीक्षितृत्वमौपचारिकं कल्प्यते? 'तत्तेज ऐक्षत', 'ता आप ऐक्षन्त' (छान्दो० ६।२।३,४) इति चाचेतनयोरप्यप्तेजसोश्चेतनवदुपचारदर्शनात्। तस्मात्सत्कर्तृकमपीक्षणमौपचारिकमिति गम्यते, 'उपचारप्राये वचनात्' इति। एवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

यदुक्तं प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं, तस्मिन्नौपचारिक ईक्षतिः, अप्तेजसोरिवेति। तदसत्, कस्मात्? आत्मशब्दात्। 'तदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो० ६।२।१, ३) इति च तेजोऽबन्नानां सृष्टिमुक्त्वा तदेव प्रकृतं सदीक्षितृ, तानि च तेजोऽबन्नानि, देवताशब्देन परामृश्याह—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छान्दो० ६।३।२) इति। तत्र यदि प्रधानमचेतनं गुणवृत्त्येक्षितृ कल्प्येत, तदेव

भामती

निवेशः * मिथ्याभिमानः। * मिथ्याबुद्धिमात्रेण पूर्वेण इति *। अनेनानादिता दर्शिता। मात्रग्रहणेन विचारासहत्वेन निर्वचनीयता निरस्ता। परिशिष्टं निगदव्याख्यातम् ॥ ५-६ ॥

भामती—व्याख्या

या विहरणवान् होता है। शेष अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है। 'आकाशादि अनात्म पदार्थों का घटादि उपाधियों के द्वारा अवच्छेदादिभ्रम हो सकता है, किन्तु सहज सिद्धस्वभाव आत्मप्रकाश में वह कैसे घटेगा?' इस प्रश्न का उत्तर है—"दृश्यते चात्मन एव सतो देहादिसंघातेऽनात्मन्यात्मत्वाभिनिवेशो मिथ्याबुद्धिमात्रेण पूर्वेण"। यहाँ अभिनिवेश का अर्थ है—मिथ्याभिमान, वह अपने से पूर्वभावी मिथ्या ज्ञान से प्रयुक्त है—यह अध्यास की अनादिता दिखाते समय पहले कहा जा चुका है। 'मात्र' पद के प्रयोग से मिथ्या ज्ञान की निर्वचनीयता का निरास किया जाता है, क्योंकि वह सदसद्रूपता के विचार की कसौटी पर चढ़ाया नहीं जा सकता। शेष भाष्य सुबोध है एवं "तत्तेज ऐक्षत" (छां. ६।२।३), "ता आप ऐक्षन्त" (छां. ६।२।४) इत्यादि गौण ईक्षण के प्रायपाठ की शङ्का और उसका समाधान पहले ही किया जा चुका है। छठे सूत्र के भाष्य में केवल "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मना" (छां. ६।३।२) इस श्रुति में प्रयुक्त 'आत्मा' शब्द के बल पर प्रधान के गौण ईक्षण का निरास विशेष रूप किया गया है॥ ५-६ ॥

प्रकृतत्वात्सेयं देवतेति परामृश्येत । न तदा देवता जीवमात्मशब्देनाभिदध्यात् । जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता, तत्प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च । स कथमचेतनस्य प्रधानस्यात्मा भवेत् ? आत्मा हि नाम स्वरूपम् , नाचेतनस्य प्रधानस्य चेतनो जीवः स्वरूपं भवितुमर्हति । अथ तु चेतनं ब्रह्म मुख्यमीक्षितृ परिगृह्यते, तस्य जीवविषय आत्मशब्दप्रयोग उपपद्यते । तथा 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो० ६।१४।३) इत्यत्र 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमात्मानमात्मशब्देनोपदिश्य 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेनोपदिशति । अप्तेजसोस्तु विषयत्वादचेतनत्वं, नामरूपव्याकरणादौ च प्रयोज्यत्वेनैव निर्देशात् । नचात्मशब्दवत्किंचिन्मुख्यत्वे कारणमस्तीति युक्तं कूलवद् गौणत्वमीक्षितृत्वस्य । तयोरपि च सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेक्षितृत्वम् । सतस्त्वात्मशब्दान्न गौणमीक्षितृत्वमित्युक्तम् ॥ ६ ॥

अथोच्येत-अचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः, आत्मनः सर्वार्थकारित्वाद् , यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्यात्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति । प्रधानं हि पुरुषस्यात्मनो भोगापवर्गौ कुर्वदुपकरोति, राज्ञ इव भृत्यः संधिविग्रहादिषु वर्तमानः । अथवैक एवात्मशब्दश्चेतनाचेतनविषयो भविष्यति, भूतात्मेन्द्रियात्मेति च प्रयोगदर्शनात् । यथैक एव ज्योतिःशब्दः क्रतुज्वलनविषयः । तत्र कुत एतदात्मशब्दादीक्षतेरगौणत्वमिति-अत उत्तरं पठति—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति, 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमादाय 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो० ६।८।७) इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्मोक्षयितव्यस्य तन्निष्ठामुपदिश्य 'आचार्यवान्पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छान्दो० ६।१४।२) इति मोक्षोपदेशात् । यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं तदसीति ग्राहयेन्मुमुक्षुं चेतनं सन्तमचेतनोऽसीति, तदा विपरीतवादि

भामती

ॐ तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद् ॐ इति शङ्कोत्तरत्वेन वा स्वातन्त्र्येण वा प्रधाननिराकरणार्थं सूत्रम् , शङ्का च भाष्ये उक्ता ॥ ७ ॥

भामती–व्याख्या

"तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्" (ब्र. सू. १।१।७) इस सिद्धान्त सूत्र का सामञ्जस्य दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) "तत्त्वमसि" (छां. ६।१४।३) इस मोक्षोपाय के उपदेश में जो 'तत्' पद से प्रधान के ग्रहण की शङ्का की गई है, उसका यह उत्तर है कि 'आत्मनिष्ठ' का ही मोक्ष होता है, प्रधाननिष्ठ का नहीं । (२) अथवा स्वतन्त्ररूप से प्रधानकारणतावाद का इस सूत्र के द्वारा निराकरण अभिप्रेत है ।

['तन्निष्ठ' शब्द का अर्थ है—तस्मिन् निष्ठा (आत्मरूपापत्तिः) यस्य, अर्थात् जगत् के कारणीभूत तत्त्व को जो अपना आत्मा निश्चय कर लेता है, वह मुक्त होता है । मुमुक्षु जीव के लिए प्रधान तत्त्व को अपना आत्मा समझना सम्भव नहीं, क्योंकि आत्मा का अर्थ है—स्वरूप । विजातीय पदार्थ विजातीय पदार्थ का आत्मा या स्वरूप नहीं हो सकता । जो श्रुति अचेतन प्रधान को जीव का स्वरूप बताती है—'तत्त्वमसि', उस श्रुति को विपरीतार्थवादी और अप्रमाण कहा जायगा, किन्तु वेदान्त-श्रुति सर्वथा निर्दोष और स्वतः प्रमाणभूत है, उसमें अप्रामाण्य की कल्पना नहीं कर सकते । यदि शास्त्र भोले-भाले मुमुक्षु को कह देता

शास्त्रं पुरुषस्यानर्थायेत्यप्रमाणं स्यात्। न तु निर्दोषं शास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम्। यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमात्मेत्युपदिशेत्प्रमाणभूतं शास्त्रं, स श्रद्धानतयान्धगोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्, तद्व्यतिरिक्तं चात्मानं न प्रतिपद्येत, तथा सति पुरुषार्थाद्विहन्येतानर्थं च ऋच्छेत्। तस्माद्यथा स्वर्गाद्यर्थिनोऽग्निहोत्रादिसाधनं यथाभूतमुपदिशति, तथा मुमुक्षोरपि 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति यथाभूतमेवात्मानमुपदिशतीति युक्तम्। एवं च सति तप्तपरशुग्रहणमोक्षदृष्टान्तेन सत्याभिसंधस्य मोक्षोपदेश उपपद्यते। अन्यथा ह्यमुख्ये सदात्मतत्त्वोपदेशे 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' (ऐ० आर० २।१।२।६) इतिवत्संपन्मात्रमिदमनित्यफलं स्यात्। तत्र मोक्षोपदेशो नोपपद्येत। तस्मान्न सदणिमन्यात्मशब्दस्य गौणत्वम्। भृत्ये तु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वादुपपन्नो गौण आत्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। अपि च क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्तूक्तं-चेतनाचेतनयोः साधारण आत्मशब्दः क्रतु-ज्वलनयोरिव ज्योतिःशब्द इति,-तन्न, अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात्। तस्माच्चेतनविषय एव मुख्य आत्मशब्दश्चेतनत्वोपचाराद् भूतादिषु प्रयुज्यते भूतात्मेन्द्रियात्मेति च। साधारणत्वेऽप्यात्मशब्दस्य न प्रकरणमुपपदं वा किंचिन्निश्चायकमन्तरेणान्यतरवृत्तिता निर्धारयितुं शक्यते। नचात्राचेतनस्य निश्चायकं किंचित्कारणमस्ति। प्रकृतं तु सदीक्षितृ, सन्निहितश्चेतनः श्वेतकेतुः। न हि चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतन आत्मा संभवतीत्यवोचाम। तस्माच्चेतनविषय इहात्मशब्द इति निश्चीयते। ज्योतिःशब्दोऽपि लौकिकेन प्रयोगेण ज्वलन एव रूढः, अर्थवादकल्पितेन तु ज्वलनसादृश्येन क्रतौ प्रवृत्त इत्यदृष्टान्तः। अथवा—पूर्वसूत्र एवात्मशब्दं निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारणत्वाशङ्कतया व्याख्याय ततः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणनिराकरणहेतुर्व्याख्येयः—'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्' इति। तस्मान्नाचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ७॥

भामती-व्याख्या

है कि यह (अचेतन प्रधान) ही तेरा आत्मा है और श्रद्धालु मुमुक्षु उस उपदेश को वैसे ही कस करके पकड़ लेता है, जैसे किसी अन्धे बैल की पूछ कोई अन्धा व्यक्ति पकड़ ले। तब उस बेचारे मुमुक्षु की क्या दुर्गति होगी, यह कल्पना भी नहीं कर सकते। अतः जैसे कर्म काण्ड अपने स्वर्गार्थी अधिकारी पुरुष को यथावत् स्वर्ग के साधनीभूत अग्निहोत्रादि का उपदेश करता है, वैसे ही वेदान्त-शास्त्र का भी प्रामाण्य और श्रद्धेयता इसी में है कि वह भी अपने मुमुक्षु पुरुष को "स आत्मा तत्त्वमसि"— ऐसा यथाभूत उपदेश करे, तब तो ब्रह्मतत्त्व में ही जगत्कारणता और आत्मरूपता उपपन्न होती है, अन्यत्र नहीं। "पुरुष सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत् परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्त्ता भवति सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति, स दह्यते। अथ यदि तस्याकर्त्ता भवति, तत एव सत्यमात्मानं कुरुते, स सत्याभिसन्धो न दह्यतेऽथ मुच्यते" (छां. ६।१६।१-२) इस प्रकार आत्मा में आत्मत्वावधारण (सत्यभिसन्धि) मोक्ष का सच्चा साधन है, इस साधन को अपनानेवाला पुरुष वैसे ही मुक्त हो जाता है, जैसे सत्यवादी पुरुष तप्त परशु का ग्रहण कर लेने पर भी नहीं जलता और बन्धन से मुक्त हो जाता है। 'आत्मा' शब्द के अनेक अर्थ मानना सर्वथा अनुचित है। जब कहीं जड़ वस्तु के लिए इसका प्रयोग हो जाता है, तब वह गौण प्रयोग है, प्रकृत में मुख्य] ॥ ७॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) इतीहोपदिष्टं स्यात्, स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षुस्तस्य हेयत्वं ब्रूयात्। यथाऽरुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां ताराममुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति, तद्वन्नायमात्मेति ब्रूयात्, नचैवमवोचत्। सन्मात्रात्मावगतिनिष्ठैव हि षष्ठप्रपाठकपरिसमाप्तिर्दृश्यते। चशब्दः प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थः। सत्यपि हेयत्ववचने प्रतिज्ञाविरोधः प्रसज्येत। कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम्। 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', 'एवं सोम्य स आदेशो भवति' (छा० ६।१।१,३) इति वाक्योपक्रमे श्रवणात्। न च सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा विज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवति, अप्रधानविकारत्वाद्भोक्तृवर्गस्य। तस्मान्न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ८ ॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

भामती

स्यादेतत्—ब्रह्मैव जीप्सितं, तच्च न प्रथमं सूक्ष्मतया शक्यं श्वेतकेतुं ग्राहयितुमिति तत्सम्बद्धं प्रधानमेव स्थूलतयाऽऽत्मत्वेन ग्राह्यते श्वेतकेतुररुन्धतीमिवातीव सूक्ष्मां दर्शयितुं तत्सन्निहितां स्थूलतारकां दर्शयतीयमसावरुन्धतीति। अस्यां शङ्कायामुत्तरम् ❀ हेयत्वावचनाच्च ❀ इति सूत्रम्। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तच्चानुक्तं भाष्य उक्तम् ॥ ८ ॥

अपि च जगत्कारणं प्रकृत्य स्वपितीत्यस्य निरुक्तं कुर्वती श्रुतिश्चेतनमेव जगत्कारणं ब्रूते। य ओ

भामती-व्याख्या

शङ्का—वेदान्तियों की यदि यह बात मान भी ली जाय कि मोक्ष के लिए ब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है, तब भी ब्रह्म ऐसा सूक्ष्मतम पदार्थ है कि उसका नितान्त कुशाग्र बुद्धि के मुमुक्षु को भी सहसा दर्शन नहीं कराया जा सकता, अतः जैसे अरुन्धती नाम के अत्यन्त नन्हें तारे को दिखाने के लिए पहले उसके समीप का वसिष्ठनामक स्थूल तारा अरुन्धती के रूप में दिखाकर क्रमशः वास्तविक अरुन्धती का दर्शन कराया जाता है, वैसे ही पहले जगत् के कारणीभूत प्रधान तत्त्व को दिखाकर 'तत्त्वमसि'—ऐसा उपदेश करके क्रमशः उसके साक्षीभूत आत्मतत्त्व तक मुमुक्षु को पहुँचाया जाय।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करने के लिए कहा गया है—"हेयत्वावचनाच्च" (ब्र. सू. १।१।८)। सूत्र में चकार का ग्रहण जिस अनुक्तार्थ का संग्रह करने के लिए प्रयुक्त है, वह अनुक्त अर्थ भाष्य में कहा गया है—"चशब्दः प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थः"। श्रुति में यह प्रतिज्ञा की गई है कि जगत् के कारणीभूत एक तत्त्व के ज्ञान से अनन्त कार्यों का ज्ञान हो जाता है—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छां. ६।१।२)। प्रधान को यदि कारण माना जाता है, तब एक प्रधान तत्त्व ज्ञातव्यत्वेन उपादेय होता, उसे अब त्याज्य बताना प्रतिज्ञा-विरुद्ध है ॥ ८ ॥

जगत् के कारणीभूत तत्त्व में ही जीव का अप्यय (तद्रूपतापत्ति) दिखाया गया है—

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते–'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति । एषा श्रुतिः स्वपितीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति । स्वशब्देनेहात्मोच्यते । यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः । अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धं, प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात् । मनःप्रचारोपाधिविशेषसम्बन्धादिन्द्रियार्थान्गृह्णन् तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति । तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान् पश्यन् मनःशब्दवाच्यो भवति । स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात्स्वात्मनि प्रलीन इवेति 'स्वं ह्यपीतो भवति' इत्युच्यते । यथा हृदयशब्दनिर्वचनं श्रुत्या दर्शितम्—'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद् हृदयमिति' (छा० ८।३।३) इति । यथा वाऽशनायोदन्याशब्दप्रवृत्तिमूलं दर्शयति श्रुतिः –'आप एव तदशितं नयन्ते, तेज एव तत्पीतं नयते' (छा० ६।८।३,५) इति च, एवं स्वमात्मानं सच्छब्दवाच्यमपीतो भवतीतीममर्थं स्वपितिनामनिर्वचनेन दर्शयति । न च चेतन आत्माऽचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिपद्येत । यदि पुनः प्रधानमेवात्मीयत्वात्स्वशब्देनैवोच्येत, एवमपि चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत । श्रुत्यन्तरं च –'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृह० ४।३।२१) इति सुषुप्तावस्थायां चेतनेऽप्ययं दर्शयति । अतो यस्मिन्नप्ययः सर्वेषां चेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणं न प्रधानम् ॥ ९ ॥

कुतश्च न प्रधानं जगतः कारणम्—

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत् क्वचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं, क्वचिदचेतनं प्रधानं, क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित्प्रधान-

---

भामती

स्वशब्द आत्मवचनस्तथापि चेतनस्य पुरुषस्याचेतनप्रधानत्वानुपपत्तिः । अथात्मीयवचनस्तथाप्यचेतने पुरुषार्थतयाऽऽत्मीयेऽपि चेतनस्य प्रलयानुपपत्तिः । न हि मृदात्मा घट आत्मीयेऽपि पाथसि प्रलीयतेऽपि स्वात्मभूतायां मृदेव । न च रजतमनात्मभूते हस्तिनि प्रलीयते, किन्त्वात्मभूतायां शुक्तावेवेत्याह ॐ स्वाप्ययात् ॐ ॥ ९ ॥

ॐ गतिसामान्यात् ॐ । गतिरवगतिः । ॐ तार्किकसमय इव इति ॐ । यथा हि तार्किकाणां

भामती–व्याख्या

"यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति" (छां. ६।८।१) । स्वपिति का निर्वचन है—'स्वमपीतो भवति', यहाँ 'स्व' शब्द यदि आत्मा का वाचक है, तब जीव का अचेतनभूत प्रधानरूप होना सम्भव नहीं। यदि 'स्व' शब्द आत्मीय का बोधक है, तब प्रधान का 'स्व' पद से ग्रहण हो जाने पर भी उसमें जीव का प्रलय (अभिभव) नहीं हो सकता, क्योंकि मृन्मय घट आत्मीय (अपने सम्बन्धित जल) पदार्थ में प्रलीन नहीं होता, अपितु स्वात्मभूत मृत्तिका में ही विलीन होता है। रजतादि पदार्थ कभी भी अपने आरोप के अनाधारभूत हस्ती में प्रलीन नहीं होता, अपितु शुक्ति में ही विलीन होता है, अतः जीव का प्रलय ब्रह्म में ही सम्भव होने के कारण वही जगत् का उपादान कारण है, प्रधान नहीं ॥ ९ ॥

सभी वेदान्त-वाक्यों से जगत्कारणत्वेन एकमात्र ब्रह्म की ही गति (अवगति या ज्ञान) होती है, तार्किक (न्याय, वैशेषिक, सांख्यादि) मतवादों के अनुसार विविधता प्रतीत नहीं होती।

कारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत । नत्वेतदस्ति, समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः ।' 'यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ३।३) इति । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१) इति । 'आत्मन एवेदं सर्वम्' (छा० ७।२६।१) इति । 'आत्मन एष प्राणो जायते' (प्र० ३।३) इति चात्मनः कारणत्वं दर्शयन्ति सर्वे वेदान्ताः । आत्मशब्दस्य चेतनवचन इत्यवोचाम । महच्च प्रामाण्यकारणमेतद्यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वं, चक्षुरादीनामिव रूपादिषु । अतो गतिसामान्यात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ॥ १० ॥

कुतश्च सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्—

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य—'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति । तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणं, नाचेतनं प्रधानमन्यद्वेति सिद्धम् ॥ ११ ॥

भामती

समयभेदेषु परस्परपराहतार्थता, नैवं वेदान्तेषु परस्परपराहतिः, अपि तु तेषु सर्वत्र जगत्कारणचैतन्यावगतिः समानेति । ⊛ चक्षुरादीनामिव रूपादिषु इति ⊛ । यथा हि सर्वेषां चक्षू रूपमेव ग्राहयति, न पुना रसादिकं कस्यचिद्दर्शयति कस्यचिद्रूपम् । एवं रसनादिष्वपि गतिसामान्यं दर्शनीयम् ॥ १० ॥

⊛ श्रुतत्वाच्च ⊛ । तदैक्षतेत्यत्र ईक्षणमात्रं जगत्कारणस्य श्रुतं न तु सर्वविषयम् । जगत्कारणसम्बन्धितया तु तदर्थात् सर्वविषयमवगतं श्वेताश्वतराणां तूपनिषदि सर्वज्ञ ईश्वरो जगत्कारणमिति साक्षादुक्तमिति विशेषः ॥ ११ ॥

भामती-व्याख्या

"चेतनकारणत्वे समानगतित्वं चक्षुरादीनामिव रूपादिषु" । अर्थात् जैसे चक्षु से सभी आँखवाले पुरुषों को समानरूप से रूप और रूपी पदार्थों की ही अवगति होती है, वैसे सभी वेदान्तवचनों से चेतन-कारणता की ही अवगति होती है, अतः प्रधानादि अचेतन पदार्थों को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार रसादि दृष्टान्तों में भी रसनादि से समान अवगति दिखाई जा सकती है ॥ १० ॥

प्रधान-कारणता कहीं भी साक्षात् श्रुत नहीं, अपितु "तदैक्षत"—इत्यादि श्रुतियों में जगत्कारणीभूत पदार्थ में ईक्षणमात्र श्रुत है, वह भी सर्वविषयक नहीं । जगत्कारणता का सामञ्जस्य करने के लिए ईक्षण में सर्वविषयत्व की कल्पना ही की जाती है, किन्तु श्वेताश्वतरोपनिषत् में सर्वज्ञ ईश्वर का प्रकरण उठा कर कहा है — 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वेता० ६।९) । वह सर्वज्ञ ईश्वर ही जगत् का कारण, करणाधिपों (जीवों) का अन्तर्यामी है, इसका न तो कोई जनक है और न कोई सञ्चालक अतः सर्वज्ञ ईश्वर को छोड़ कर प्रधानादि को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता ॥ ११ ॥

(६ आनन्दमयाधिकरणम् । सू० १२–१९)

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'श्रुतत्वाच्च' इत्येवमन्तैः सूत्रैर्यान्युदाहृतानि वेदान्तवाक्यानि तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वं न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम्। गतिसामान्योपन्यासेन च सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारणवादिन इति व्याख्यातम्, अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमिति ? उच्यते—द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृह० ४।५।१५) 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छान्दो० ७।२४।१) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' (श्वे० ६।१९) 'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) 'न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्' इति चैवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि। तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः। तत्र कानिचिद् ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचित्क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसमृद्ध्य-

---

भामती

उत्तरसूत्रसन्दर्भमाक्षिपति ❀ जन्माद्यस्य यत इत्यारभ्य इति ❀। ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति प्रतिज्ञातं, तच्च शास्त्रैकसमधिगम्यं, शास्त्रञ्च सर्वज्ञे सर्वशक्तौ जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणे ब्रह्मण्येव प्रमाणं न प्रधानादाविति न्यायतो व्युत्पादितम्। न चास्ति कश्चिद्वेदान्तभागो यस्तद्विपरीतमपि बोधयेदिति च गतिसामान्यादित्युक्तम्। तत् किमपरमवशिष्यते यदर्थमुत्तरसूत्रसन्दर्भस्यावतारः स्यादिति। ❀ किमुत्थानमिति ❀ किमाक्षेपे। समाधत्ते ❀ उच्यते, द्विरूपं हि इति ❀। यद्यपि तत्त्वतो निरस्तसमस्तोपाधिरूपं ब्रह्म तथापि न तेन रूपेण शक्यमुपदेष्टुमित्युपहितेन रूपेणोपदेष्टव्यमिति। तत्र च क्वचिदुपाधिर्विवक्षितः। तदुपासनानि ❀ कानिचिदभ्युदयार्थानि ❀ मनोमात्रसाधनतयात्र पठितानि। ❀ कानिचित्

भामती-व्याख्या

संगति—अग्रिम अधिकरण के सूत्र-सन्दर्भ पर आक्षेप किया जाता है—"जन्माद्यस्य यत:" इत्यारभ्य "श्रुतत्वाच्च" इत्येवमन्तैः सूत्रैः सर्वज्ञ ईश्वरो जगत्कारणमिति प्रतिपादितम्। अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानम् ?" अर्थात् 'ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्'—ऐसी प्रतिज्ञा की गई, वह (ब्रह्म) केवल वेदान्त-वेद्य है, वह वेदान्त शास्त्र सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-सम्पन्न, जगत्कारणीभूत ब्रह्म में ही प्रमाण है, प्रधानादि में नहीं—ऐसा न्यायों और युक्तियों के द्वारा सिद्ध किया गया। वेदान्त का कोई भी भाग ऐसा नहीं, जो उसके विपरीत कहता हो—यह बात "गतिसामान्यात्"—इस सूत्र से कही गई। अब और क्या शेष रह गया कि जिसके लिए आगे के सूत्रों की रचना की गई, अतः कहा गया—"किमुत्थानम्"। यहाँ 'किम्' शब्द आक्षेपार्थक है।

उक्त आक्षेप का समाधान किया जाता है—"उच्यते द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधि-विशिष्टम्, तद्विपरीतं च"। यद्यपि ब्रह्म तत्त्व समस्त उपाधियों से रहित है, तथापि उस अनौपाधिक रूप से उसका उपदेश नहीं किया जा सकता, अतः किसी-न-किसी उपाधि से विभूषित कर उसका उपदेश करना होगा। किसी-किसी क्रिया में उपाधि विवक्षित होती है, जैसे उपासना विधि में। कतिपय (प्रतीकादि) उपासनाओं का फल अभ्युदय

र्थानि। तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः। एक एव तु परमात्मेश्वरस्तैस्तैर्गुणविशेषै- र्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति, तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः, यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' (छा० ३।१४।१) इति च। स्मृतेश्च—'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥' (गी० ८।६) इति। यद्यप्येक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढः, तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्यादात्मनः

भामती

क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसमृद्धयर्थानि ॐ। क्वचित् पुनरुक्तोऽप्युपाधिरविवक्षितः, यथाऽत्रैवान्नमयादय आनन्दमयान्ताः पञ्च कोशाः। तदत्र कस्मिन्नुपाधिर्विवक्षितः कस्मिन्नेति नाद्यापि विवेचितम्। तथा गतिसामान्यमपि सिद्धवदुक्तं, न त्वद्यापि साधितमिति। तदर्थमुत्तरग्रन्थसन्दर्भारम्भ इत्यर्थः। स्यादेतत्— परस्यात्मनस्तत्तदुपाधिभेदविशिष्टस्याप्यभेदात् कथमुपासनाभेदः कथञ्च फलभेद इत्यत आह ॐ एक एव तु इति ॐ। रूपाभेदेऽप्युपाधिभेदादुपहितभेदादुपासनाभेदस्तथा च फलभेद इत्यर्थः। ॐ क्रतुः ॐ सङ्कल्पः। ननु यद्येक आत्मा कूटस्थनित्यो निरतिशयः सर्वभूतेषु गूढः कथमेतस्मिन् भूताश्रये तारतम्यश्रुतय इत्यत आह ॐ यद्यप्येक आत्मा इति ॐ। यद्यपि निरतिशयमेकमेव रूपमात्मन ऐश्वर्यं ज्ञानं चानन्दश्च,

भामती–व्याख्या

(स्वर्गादि) माना जाता है। कर्म-निरपेक्ष केवल मन के द्वारा सम्पादित होने के कारण ऐसी उपासनाओं को कर्मकाण्ड में न पढ़ कर यहाँ (वेदान्त-काण्ड) में स्थान दिया गया है। "कानिचित् क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित् कर्मसमृद्धयर्थानि"। कहीं-कहीं ब्रह्म की कथित उपाधि भी अविवक्षित होती है, जैसे—यहाँ [आनन्द ब्रह्म के प्रसङ्ग में] ही 'अन्नमय', 'प्राणमय', 'मनोमय', 'विज्ञानमय' और 'आनन्दमय'—ये पाँच कोश। कहाँ उपाधि विवक्षित है और कहाँ नहीं? ऐसा विचार अभी तक नहीं किया गया। उसी प्रकार 'गतिसामन्य' का भी उपदेश मात्र कर दिया गया, अभी तक उसकी सिद्धि नहीं की गई, इसके लिए अग्रिम सूत्र-ग्रन्थ की रचना की गई है।

विविध उपाधियों से विशिष्ट भी परमात्मा तो एक अभिन्न ही है, तब उसकी उपासनाओं का भेद क्योंकर होगा? उपासना-भेद न होने पर फल-भेद क्यों होगा? ऐसी शङ्का का समाधान है—"एक एव तु परमात्मेश्वरः तैस्तैर्गुणविशेषैर्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति, तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते "तं यथा यथोपासते, तदेव भवति" (मुद्गलो. ३।३) इति श्रुतेः। "यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" (छां. ३।१४।१) इति च"। आशय यह है कि उपधेय का अभेद होने पर भी उपाधियों का भेद होने के कारण उपासना का भेद हो जाता है। उपासना का भेद होने से फल-भेद हो जाता है। उक्त श्रुति में क्रतु' शब्द का अर्थ है—'सङ्कल्प। भाष्यकार ने भी इस मन्त्र की व्याख्या में कहा है—"क्रतुर्निश्चयोऽध्यवसायः यादृङ् निश्चयोऽस्मिँल्लोके पुरुषो भवति, तथेतो मृत्वा भवति"। जीव का निश्चय अपने कर्मों पर निर्भर है और उस निश्चय पर भावी जन्म।

यदि एक ही आत्मा कूटस्थ, नित्य और निरतिशय सभी भूतों में व्याप्त है, तब उसके उपास्य-उपासकादिरूप तारतम्य का प्रतिपादन श्रुतियाँ क्यों करती हैं? इस प्रश्न का उत्तर है—"यद्यप्येक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढः, तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्या- दात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तराविष्कृतस्य तारतम्यम्"। अर्थात् आत्मा का रूप, ऐश्वर्य और ज्ञान एक ही प्रकार का है, तथापि अनादि अविद्यारूप अन्धकार से आवृत्त होकर किसी (स्थावरादि) शरीर में असत्-जैसा (नहीं के बराबर), कहीं अत्यन्त

कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते— 'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' (ऐ० आ० २।३।२।१) इत्यत्र। स्मृतावपि—'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥' (गी० १०।४१) इति। यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपास्यतया चोद्यते। एवमिहाप्यादित्यमण्डले हिरण्मयः पुरुषः सर्वपाप्मोदयलिङ्गात्पर एवेति वक्ष्यति। एवं 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १।१।२२) इत्यादिषु द्रष्टव्यम्। एवं सद्योमुक्तिकारणमप्यात्मज्ञानमुपाधिविशेषद्वारेणोपदिश्यमानमप्यविवक्षितोपाधिसंबन्धविशेषं परापरविषयत्वेन संदिह्यमानं वाक्यगतिपर्यालोचनया निर्णेतव्यं भवति। यथेहैव तावद् 'आनन्दमयोऽभ्यासाद्' इति, एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसम्बन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यत इति प्रदर्शयितुं परो ग्रन्थ आरभ्यते। यच्च 'गतिसामान्याद्' इत्यचेतनकारणनिराकरणमुक्तं, तदपि वाक्यान्तराणि ब्रह्मविषयाणि व्याचक्षाणेन ब्रह्मविपरीतकारणनिषेधेन प्रपञ्च्यते—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

तैत्तिरीयकेऽन्नमयं, प्राणमयं, मनोमयं, विज्ञानमयं, चानुक्रम्याम्नायते—'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २।५) इति। तत्र संशयः—किमिहानन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते यत्प्रकृतम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति, किंवाऽन्नमयादिवद् ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति? किं तावत्प्राप्तं? ब्रह्मणोऽर्थान्तरममुख्य

भामती

तथाप्यनाद्यविद्यातमःसमावृत्तं तेषु तेषु प्राणभृद्भेदेषु क्वचिदसदिव क्वचित्सदिव क्वचिदत्यन्तापकृष्टमिव क्वचित्सत् क्वचित् प्रकर्षवत् क्वचिदत्यन्तप्रकर्षवदिव भासते, तत् कस्य हेतोः? अविद्यातमसः प्रकर्षनिकर्षतारतम्यादिति। यथोत्तमप्रकाशः सविता दिङ्मण्डलमेकरूपेणैव प्रकाशेनापूरयन्नपि वर्षासु निकृष्टप्रकाश इव शरदि तु प्रकृष्टप्रकाश इव प्रथते, तथेदमपीति। अपेक्षितोपाधिसम्बन्धम् उपास्यत्वेन, 'निरस्तोपाधिसम्बन्धं ज्ञेयत्वेन इति।

तत्र तावत्प्रथममेकदेशिमतेनाधिकरणमारचयति। ⊛ तैत्तिरीयकेऽन्नमयम् ⊛ इत्यादि।

गौणप्रवाहपातेऽपि युज्यते मुख्यमीक्षणम्। मुख्यत्वे तूभयोस्तुल्ये प्रायदृष्टिर्विशेषिका ॥

भामती—व्याख्या

अपकृष्ट, कहीं अपकृष्टतर, कहीं सत्, कहीं प्रकृष्ट और कहीं अत्यन्तोत्कृष्ट प्रतीत होता है। ऐसा किस कारण से हुआ? इसका उत्तर इतना ही है कि उसको उपाधिभूत अविद्या के उत्कर्षापकर्षतारतम्य के कारण वैसे ही वह वैसा हो जाता है, जैसे कि भगवान् सूर्य एकविध अपने उत्तमरूप से सभी दिशाओं को पूरित और अवभासित करता है, किन्तु वर्षा काल में उसका प्रकाश मन्द और शरत् काल में प्रखर होता है। भाष्य में "अपेक्षितोपाधिसम्बन्धं" का "उपास्यत्वेन" और "निरस्तोपाधिसम्बन्धं" का "ज्ञेयत्वेन" के साथ अन्वय विवक्षित है। अर्थात् उपास्य और ज्ञेय ब्रह्म का श्रौत उपदेश प्रशस्त करने या ब्रह्म में सद्रूपता और चिद्रूपता सिद्ध करने के अनन्तर आनन्दरूपता सिद्ध करने के लिए अग्रिम सूत्र-सन्दर्भ प्रस्तुत किया जाता है।

एकदेशी के मत से अधिकरण-रचना

संशय—"अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय" (तै. उ. २।५)। यहाँ 'आनन्दमय' शब्द से ब्रह्म का ग्रहण किया जाय? अथवा अन्य पदार्थ का? इस संशय के अनुसार पहले एकदेशि-मत के अनुसार अधिकरण की रचना की जा रही है—

आत्मानन्दमयः स्यात्। कस्मात्? अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वात्। अथापि स्यात्सर्वान्तरत्वादानन्दमयो मुख्य एवात्मेति, न स्यात्प्रियाद्यवयवयोगाच्छारीरत्वश्र-

भामती

आनन्दमय इति हि विकारे प्राचुर्ये च मयटस्तुल्यं मुख्यार्थत्वमिति विकारार्थान्नमयादिपद-प्रायपाठादानन्दमयपदमपि विकारार्थमेवेति युक्तम्। न च प्राणमयादिषु विकारार्थत्वायोगात् स्वार्थिको मयडिति युक्तम्। प्राणाद्युपाध्यवच्छिन्नो ह्यात्मा भवति प्राणादिविकारो घटाकाशमिव घटविकारः। न च सत्यर्थे स्वार्थिकत्वमुचितम्,

भामती-व्याख्या

गौणप्रवाहपातेऽपि युज्यते मुख्यमीक्षणम्।
मुख्यत्वे तूभयोस्तुल्ये प्रायदृष्टिर्विशेषिका॥

पूर्व अधिकरण से गौण ईक्षण का ग्रहण किया जाय? अथवा मुख्य ईक्षण का? इस प्रकार के संशय का निर्णायक प्राय-पाठ गौण ईक्षण के पक्ष में था, उसकी उपेक्षा करके मुख्य ईक्षण का ग्रहण किया गया। किन्तु इस अधिकरण में 'मयट्' प्रत्यय के दो मुख्यार्थ प्रसिद्ध हैं— (१) विकार ["मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः" (पा. सू. ४।३।१४३) इस सूत्र से विकारार्थक मयट् विहित है]। (२) प्राचुर्य ["तत्प्रकृतवचने मयट्" (पा. सू. ५।४।२१) इस सूत्र में प्राचुर्येण प्रस्तुत पदार्थ का 'प्रकृत' शब्द से ग्रहण कर प्राचुर्यार्थक मयट् विहित है]। इन दोनों मुख्यार्थों में से यहाँ किस अर्थ का ग्रहण किया जाय? इस संशय का निरास करने के लिए प्राय-पाठ का अनुशासन मानते हुए प्राचुर्य अर्थ का ही ग्रहण किया गया है।

पूर्वपक्ष—'आनन्दमय' शब्द यद्यपि 'विकार' और 'प्राचुर्य'—इन दोनों अर्थों में विहित है, तथापि "तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय" (तै. उ. २।२), "तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः" (तै. उ. २।३), "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमया-दन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः" (तै. उ. २।४), "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः" (तै. उ. २।५) इन श्रुतियों में अन्नमयकोशादि का जो प्रतिपादन है, वह अन्न का विकार मात्र है, अतः विकारार्थक अन्नमयादि पदों के प्राय में पठित 'विज्ञानमय' पद भी गौण आत्मा का उपस्थापक है, मुख्य आत्मा (ब्रह्म) का नहीं।

शङ्का—जैसे अन्नमय (स्थूल) शरीर तो अन्न का विकार है, वैसे प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय शरीर अर्थात् सूक्ष्म शरीर प्राणादि का विकार नहीं, अपितु इन तीन कोशों से घटित एक निकाय है, अतः वहाँ 'मयट्' विकारार्थक नहीं माना जा सकता, अतः प्राय-पाठ विघटित हो जाने के कारण 'आनन्दमय' शब्द में 'मयट्' की विकारार्थता का सन्देह नहीं उठाया जा सकता।

समाधान—यह पहले ही कहा जा चुका है कि नित्य निरवच्छिन्न पदार्थ सावच्छिन्न होकर कार्य या विकार माना जाता है, अतः प्राणादि उपाधियों से अवच्छिन्न आत्मा वैसे ही प्राणादि का विकार माना जाता है, जैसे घटावच्छिन्न आकाश घट का विकार, अतः विकारार्थक 'मयट्' का प्राय-पाठ सुरक्षित है, उसके बल पर 'आनन्दमय' भी आनन्द का विकार कहा जा सकता है। यद्यपि 'आनन्द एव आनन्दमय'—इस प्रकार स्वार्थ में मयट् प्रत्यय वैसे ही माना जा सकता है, जैसे 'देव एव देवता'—इत्यादि स्थलों पर 'तल' होता है। तथापि स्वार्थक प्रत्यय एक प्रकार से निरर्थक-सा ही माना जाता है, अतः जहाँ तक कोई विशेष अर्थ सुलभ होता है, वहाँ तक स्वार्थक प्रत्यय नहीं माना जाता, प्रकृत में जब विकारार्थ का लाभ हो रहा है, तब प्रत्यय को स्वार्थपरक नहीं माना जा सकता।

वणाच्च । मुख्यश्चेदात्मानन्दमयः स्यात् , न प्रियादिसंस्पर्शः स्यात् । इह तु 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादि श्रूयते । शारीरत्वं च श्रूयते—'तस्यैष एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य' इति । तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शारीर आत्मा य एष आनन्दमय इत्यर्थः । न च सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियसंस्पर्शौ वारयितुं शक्यः । तस्मात्संसार्येवानन्दमय आत्मेत्येवं प्राप्ते इदमुच्यते—

भामती

चतुष्कोशान्तरत्वेन न सर्वान्तरतोचिता ।
प्रियादिभागी शारीरो जीवो न ब्रह्म युज्यते ॥

न च सर्वान्तरतया ब्रह्मैवानन्दमयं न जीव इति साम्प्रतम् , नहीयं श्रुतिरानन्दमयस्य सर्वान्तरतां ब्रूतेऽपि त्वन्नमयादिकोशचतुष्टयान्तरतामानन्दमयकोशस्य । न चास्मादन्यस्यान्तरस्याश्रवणादयमेव सर्वान्तर इति युक्तम् , यदपेक्षं यस्यान्तरत्वं श्रुतं तत्तस्मादेवान्तरं भवति । न हि देवदत्तो बलवानित्युक्ते सर्वान् सिंहशार्दूलादीनपि प्रति बलवान् प्रतीयतेऽपि तु समानजातीयनरान्तरमपेक्ष्य । एवमानन्दमयोऽप्यन्नमयादिभ्योऽन्तरो न तु सर्वस्मात् । न च निष्कलस्य ब्रह्मणः प्रियाद्यवयवयोगः, नापि शारीरत्वं युज्यत इति संसार्य्येवानन्दमयः । तस्मादुपहितमेवात्रोपास्यत्वेन विवक्षितं, न तु ब्रह्मरूपं ज्ञेयत्वेनेति पूर्वः पक्षः । अपि च यदि प्राचुर्य्यार्थोऽपि मयट् , तथापि संसार्य्येवानन्दमयः, न तु ब्रह्म, आनन्दप्राचुर्य्यं हि तद्विपरीतदुःखलवसम्भवे भवति, न तु तदत्यन्तासम्भवे । न च परमात्मनो मनागपि दुःखलवसम्भवः, आनन्दैकरसत्वादित्याह @ न च सशरीरस्य सतः इति @ । अशरीरस्य पुनरप्रियसम्बन्धो मनागपि नास्तीति

भामती–व्याख्या

शङ्का—अन्नमयादि चार कोशों की प्रस्तुति के अनन्तर श्रुति उन चारों के अन्तर (मध्य) में व्याप्त पदार्थ को 'आनन्दमय' कह रही है, चार कोशों की अन्तर-व्याप्ति सर्वान्तरत्व का उपलक्षक है, सर्वान्तर एकमात्र ब्रह्म है, अतः इस सर्वान्तरता के निर्देश से प्राय-पाठ का बाध हो जाता है ।

समाधान—यहाँ सर्वान्तरता का उल्लेख नहीं और न चतुष्कोशान्तरता मात्र के उल्लेख से सर्वान्तरता का उन्नयन ही हो सकता है—

चतुष्कोशान्तरत्वेन न सर्वान्तरतोचिता ।
प्रियादिभागी शारीरो जीवो न ब्रह्म युज्यते ॥

'सर्वान्तर ब्रह्म ही है, अतः सर्वान्तरता के संकीर्तन से ब्रह्म की ही अवगति होती है, जीव की नहीं—ऐसी शङ्का यहाँ नहीं की जा सकती, क्योंकि यहाँ केवल अन्नमयादि चार कोशों के अन्तर ही आनन्दमय बताया गया है, सर्वान्तर नहीं । आनन्दमय के अन्तर किसी अन्य का निर्देश न होने के कारण भी आनन्दमय को सर्वान्तर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिसकी अपेक्षा से जो पदार्थ अन्तर कहा जाता है, उसी की अन्तरता अवगत होती है. जैसे यज्ञदत्ताद् देवदत्तो बलवान्—ऐसा कहने से देवदत्त में सभी सिंह, शार्दूल (तेन्दुआ) आदि से बलवत्ता का लाभ नहीं होता, अपितु यज्ञदत्तादि अपने सजातीय व्यक्तियों की अपेक्षा ही बलवत्ता अधिगत होती है । उसी प्रकार आनन्दमय में अन्नमयादि चार की ही अभ्यन्तरता प्राप्त होती है, सर्वान्तरता नहीं, प्रत्युत उसके भी अन्तर कोई अन्य हो सकता है ।

"तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" (तै. उ. २।५) इस वाक्य के द्वारा प्रियादि पदार्थों को आनन्दमय का अवयव कहा गया है, निरवय ब्रह्म के अवयव सम्भव नहीं । परिशेषतः 'आनन्दमय' शब्द के द्वारा संसारी आत्मा का ही उपास्यत्वेन निर्देश मानना उचित है, ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन कथमपि सम्भावित नहीं ।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

पर एवात्माऽऽनन्दमयो भवितुमर्हति । कुतः ? अभ्यासात् । परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते । आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वै सः' (तै० २।६) इति तस्यैव रसत्वमुक्त्वोच्यते—'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इति, 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति' (तै० २।७) 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति', 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तैत्ति० २।८,९) इति । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्ति० ३।६) इति च । श्रुत्यन्तरे च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) इति ब्रह्मण्येवानन्दशब्दो दृष्टः । एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासादानन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते । यत्तूक्तमन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्याप्यमुख्यत्वमिति, नासौ दोषः,

---

भामती

प्राचुर्यार्थोऽपि मयड् नोपपद्यत इत्यर्थः । उच्यते—आनन्दमयावयवस्य तावद् ब्रह्मणः पुच्छस्याङ्गतया न प्राधान्यम्, अपित्वङ्गिन आनन्दमयस्यैव ब्रह्मणः प्राधान्यम् । तथा च तदधिकारे पठितमभ्यस्यमानमानन्दपदं तद्बुद्धिमावहत् तस्यैवानन्दमयस्याभ्यास इति युक्तम् । ज्योतिष्टोमाधिकारे वसन्ते वसन्ते ज्योतिषेति ज्योतिष्पदमिव ज्योतिष्टोमाभ्यासः कालविशेषविधिपरः । अपि च साक्षादानन्दमयात्माभ्यासः श्रूयते ॐ एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति इति ॐ । पूर्वपक्षबीजमनुभाष्य दूषयति ॐ यत्तूक्तमन्नमयादि

भामती-व्याख्या

यदि 'मयट्' को प्राचुर्यार्थक भी मान लिया जाय, तब भी संसारी (जीव) आत्मा ही आनन्दमय ठहरता है, ब्रह्म नहीं, क्योंकि आनन्द की प्रचुरता वहाँ ही मानी जायगी, जहाँ न्यून मात्रा में दु.ख भी विद्यमान हो, दुःख का अत्यन्ताभाव नहीं । ब्रह्म में तो दुःख का लेशमात्र भी नहीं होता, क्योंकि वह आनन्दैकरस है. जीव वैसा नहीं—"न च सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियसंस्पर्शो वारयितुं शक्यः" । अतः ब्रह्म को आनन्दप्रचुर नहीं कहा जा सकता, अतः प्राचुर्यार्थक 'मयट्' मान कर भी अभीष्ट-सिद्धि नहीं होती ।

सिद्धान्त—['यद्यपि आनन्दमयो ब्रह्म, अभ्यस्यमानत्वात्'—इस सिद्धान्त्यभिमत अनुमान में स्वरूपासिद्धि प्रतीत होती है, क्योंकि "एष ह्येवानन्दयाति" (तै. उ. २।७), 'सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति" (तै. उ. २।८), "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तै. उ. २।९) इत्यादि वाक्यों में 'आनन्द' अभ्यस्यमान (पुनः पुनः चर्चित) है, 'आनन्दमय' नहीं, 'आनन्दमय' शब्द का 'आनन्द' शब्द एक भाग (अवयव) है, अत एव आनन्दरूप ब्रह्म को आनन्दमय की पुच्छ (अवयव) कहा गया है—"तस्य (आनन्दमयस्य) प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छम्" (तै. उ. २।५) । तथापि] 'आनन्दमय' पदार्थ ही मुख्य, अङ्गी एवं प्रकरणी है, अत एव भाष्यकार ने कहा है—"आनन्दमयं प्रस्तुत्य" । 'आनन्दमय' पदार्थ का निर्देश 'आनन्द' पद के द्वारा ही किया गया है । 'ज्योतिष्टोम' याग के प्रकरण में पठित "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत" (तुलना आप. श्रौ. सू. १०।२।५) इस वाक्य के द्वारा ज्योतिष्टोम का अभ्यास वसन्तरूप काल का विधान करने के लिए किया गया है, जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"यजेत स्वर्गकामो वसन्ते-वसन्ते' इति फलगुणसम्बन्धार्थः" (शाबर. २।२।१७) । जैसे वेद में ज्योतिष्टोम के लिए 'ज्योतिः' शब्द का और लोक-व्यवहार में सत्यभामा के लिए 'भामा' शब्द का प्रयोग देखा जाता है, वैसे ही प्रकृत में आनन्दमय के लिए 'आनन्द' शब्द का प्रयोग हो गया है, फलतः कथित अनुमान में अभ्यस्यमानत्व हेतु स्वरूपासिद्ध नहीं । केवल 'आनन्द' पद के द्वारा ही

आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात् । मुख्यमेव ह्यात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरत्, अन्नमयं शरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽन्तरमित्येवं पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राहयत्, प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरं मुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरम् । यथारुन्धतीनिदर्शने बह्वीष्वपि तारास्वमुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु याऽन्त्या प्रदर्श्यते सा मुख्यैवारुन्धती भवति, एवमिहाप्यानन्दमयस्य सर्वान्तरत्वान्मुख्यमात्मत्वम् । यत्तु ब्रूषे—प्रियादीनां शिरस्त्वादिकल्पनाऽनुपपन्ना मुख्यस्यात्मन इति, अतीतानन्तरोपाधिजनिता सा, न स्वाभाविकीत्यदोषः । शारीरत्वमप्यानन्दमयस्यान्नमयादिशरीरपरम्परया प्रदर्श्यमानत्वात्, न पुनः साक्षादेव शारीरत्वं संसारिवत्, तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १२ ॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

अत्राह—नानन्दमयः पर आत्मा भवितुमर्हति । कस्मात्? विकारशब्दात् । प्रकृतिवचनादयमन्यः शब्दो विकारवचनः समधिगतः, आनन्दमय इति मयटो विका-

भामती

इति * । न हि मुख्यारुन्धतीदर्शनं तत्तदमुख्यारुन्धतीदर्शनप्रायपठितमप्यमुख्यारुन्धतीदर्शनं भवति । तादर्थ्यात्पूर्वदर्शनानामन्त्यदर्शनानुगुण्यं न तु तद्विरोधितेति चेद्, इहाप्यानन्दमयादान्तरस्यान्यस्याश्रवणात् । तस्य चान्नमयादिसर्वान्तरत्वश्रुतेस्तत्पर्यवसानात्तादर्थ्यं तुल्यम् । प्रियाद्यवयवयोगशारीरत्वे च निगदव्याख्यातेन भाष्येण समाहिते । प्रियाद्यवयवयोगवद् दुःखलवयोगोऽपि परमात्मन औपाधिक उपपादितः । तथाऽऽनन्दमय इति प्राचुर्यार्थता मयट उपपादितेति ॥ १२–१४ ॥

भामती–व्याख्या

आनन्दमय का अभ्यास प्रस्तुत नहीं किया गया, अपितु साक्षात् 'आनन्दमय' पद के माध्यम से भी आनन्दमय का अभ्यास उपलब्ध होता है—"एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तै. उ. २।८) ।

पूर्वपक्ष की युक्तियों का अनुवाद करके खण्डन किया जाता है—'यत्तूक्तमन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्यामुख्यत्वम्, नासौ दोषः, आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात्" । जैसे मुख्य अरुन्धती तारे का दर्शन कहीं अमुख्य अरुन्धती-दर्शन के प्राय में पठित अमुख्य अरुन्धती का दर्शन नहीं होता, वैसे ही मुख्य आनन्दमय अन्नमयादि अमुख्यात्म-प्रवाह में पड़ कर भी अमुख्य नहीं हो सकता । 'पूर्व-पूर्व दर्शन जब उत्तरोत्तर दर्शन की उपपत्ति के लिए है, तब अन्तिम दर्शन पूर्व दर्शनों से विपरीत क्यों ?' इस शङ्का का समाधान यह है कि आनन्दमय के अभ्यन्तर अन्य किसी पदार्थ का निर्देश न होने के कारण अन्नमयादि कोशों एवं समस्त प्रपञ्च की अभ्यन्तरता आनन्दमय में सिद्ध हो जाती है, सर्वान्तर एक मात्र ब्रह्म है । उसकी अवगति के साधनभूत अन्नमयादि कोशों की समानता कदापि सम्भव नहीं । प्रियादि अवयवों के निर्देश से जो शारीर आत्मा का पूर्व पक्ष उठाया गया था, उसका निरास भी भाष्यकार ने कर दिया है—"यत्तु ब्रूषे प्रियादीनां शिरस्त्वादिकल्पनाऽनुपपन्ना मुख्यस्यात्मन इति, अतीतानन्तरोपाधिजनिता सा, न स्वाभाविकीत्यदोषः" । आनन्दमय में सावयवत्व और शारीरत्व का व्यवहार जो देखा जाता है, वह स्वाभाविक नहीं, अपितु अन्नमय शरीरादि अतीत उपाधियों एवं जीव से अनन्तरता (अनौपाधिक एकता) को लेकर हो जाता है, अतः आनन्दमय की ब्रह्मरूपता में किसी प्रकार का दोष नहीं रह जाता ।

'मयट्' प्रत्यय विकारार्थक नहीं, अपितु प्रचुरार्थक है, क्योंकि "तत्प्रकृतवचने मयट्"

रार्थत्वात् । तस्मादन्नमयादिशब्दवद्विकारविषय एवानन्दमयशब्द इति चेत्, न, प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात्। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पा० ५।४।२१) इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते। यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यन्नप्रचुर उच्यते, एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्मानन्दमय उच्यते। आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात्। तस्मात्प्राचुर्यार्थे मयट् ॥ १३ ॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट्, यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः—'एष ह्येवानन्दयाति' इति। आनन्दयतीत्यर्थः। यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति। यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत्। तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः संभवादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १४ ॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। यस्मात् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युपक्रम्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इत्यस्मिन्मन्त्रे यत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तविशेषणैर्निर्धारितम्, यस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्यजायन्त, यच्च भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थितं सर्वान्तरं, यस्य विज्ञानाय 'अन्योऽन्तर आत्माऽन्योऽन्तर आत्मा' इति प्रक्रान्तं, तन्मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मेह गीयते 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २।५) इति। मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तम्, अविरोधात्।

भामती

अपि च मन्त्रब्राह्मणयोरुपेयोपायभूतयोः सम्प्रतिपत्तेर्ब्रह्मैवानन्दमयपदार्थः, मन्त्रे हि पुनःपुनरन्योऽन्तर आत्मेति पर ब्रह्मण्यान्तरत्वश्रवणात्तस्यैव चान्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय इति ब्राह्मणे प्रत्यभिज्ञानात्

भामती–व्याख्या

(पा. सू. ५।४।२१) इस सूत्र के द्वारा प्राचुर्यार्थ में भी मयट् विहित है, जैसे 'अन्नमयो यज्ञः''– ऐसा व्यवहार उसी यज्ञ के लिए होता है, जिसमें अन्न की प्रचुरता होती है। उसी प्रकार मनुष्यादि के आनन्द से उत्तरोत्तर शतगुण आनन्द बढ़ता-बढ़ता ब्रह्मानन्द में पूर्ण हो जाता है।

'मयट्' की प्रचुरार्थता श्रुति के उस व्यपदेश से भी सिद्ध होती है, जिसमें ब्रह्म को आनन्द का हेतु कहा गया है—''एष ह्येवानन्दयाति'' (तै. उ. २।७)। जो पदार्थ अपने योग से औरों को भी मधुर बनाता है, वह स्वयं माधुर्यमय होता है, जो दूसरों को धनी बनाता है, वह 'प्रचुरधनः' कहा जाता है, उसी प्रकार जो दुःखमय प्रपञ्च को भी अपने सम्बन्ध से आनन्दित करता है, वह आनन्दप्रचुर या आनन्दमय क्यों न होगा ? ॥ १२-१४ ॥

['मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते''—इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने 'मन्त्र' पद से ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै. उ. २।१) इस वाक्य का ग्रहण करके कहा है कि इस मन्त्र के द्वारा प्रतिपादित सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म की ही प्रत्यभिज्ञा ''अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः'' (तै. उ. २।५) इस ब्राह्मण वाक्य में हो रही है, अतः आनन्दमय और सच्चिदानन्द ब्रह्म की एकता निश्चित है, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण की एकार्थपरता होती है—''मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तम्''। 'मन्त्र' का लक्षण है—''तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'' (जै. सू. २।१।३२) और उससे भिन्न वाक्यों को ब्राह्मण कहा जाता है—''शेषे ब्राह्मणशब्दः'' (जै. सू. २।१।३३)। इन लक्षणों के अनुसार ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''—इस वाक्य को 'मन्त्र' कहना दुष्कर है, क्योंकि अनुष्ठानोपयोगी पदार्थों के प्रतिपादक या स्मारक वाक्यों को ही याज्ञिकगण मन्त्र

अन्यथा हि प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये स्याताम्। न चान्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्माऽभिधीयते। एतन्निष्ठैव च 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या' (तै० ३।६) तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १५ ॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात्? अनुपपत्तेः। आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते—'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत, यदिदं किंच' (तै० २।६) इति। तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं, सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः, सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते ॥ १६ ॥

भामती

परब्रह्मैवानन्दमयमित्याह सूत्रकारः ❀ मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ❀। मान्त्रवर्णिकमेव परं ब्रह्म ब्राह्मणेऽप्यानन्दमय इति गीयते इति ॥ १५ ॥

अपि चानन्दमयं प्रकृत्य शरीराद्युत्पत्तेः प्राक् स्रष्टृत्वश्रवणाद् बहु स्यामिति च सृज्यमानानां स्रष्टुरानन्दमयादभेदश्रवणादानन्दमयः पर एवेत्याह सूत्रम् ❀ नेतरोऽनुपपत्तेः ❀। नेतरो जीव आनन्दमयः, तस्यानुपपत्तेरिति ॥ १६ ॥

भामती-व्याख्या

कहा करते हैं, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—यह वाक्य तो ऐसे ब्रह्म का प्रतिपादक है, जो धर्मानुष्ठानादि का उपयोगी नहीं, प्रत्युत विरोधी माना गया है। फलतः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इस वाक्य को गौणरूप से ही 'मन्त्र' कहना होगा। जब सूत्र-घटक 'मन्त्रवर्ण' पद औपचारिक या गौणार्थक है, तब अन्नमयादि चार कोशों के प्रतिपादक वाक्य-समूह का 'मन्त्रवर्ण' पद से ग्रहण करना ही उचिततर है और "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः"—इस वाक्य को तो ब्राह्मण वाक्य कहा ही गया है। इन दोनों में परस्पर उपायोपेयभाव और एकार्थपरत्व निश्चित है, जैसे ब्राह्मण वाक्य मन्त्रार्थ का निर्णायक या उपाय होता है, वैसे ही 'कोश-वाक्य' भी 'आनन्दमय-वाक्य' की अर्थावगति में उपकारक है, दोनों की प्रतिपाद्य वस्तु में प्रत्यभिज्ञा भी स्पष्ट है—इस आशय को लेकर श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं—] मन्त्र-वाक्य उपेय (निर्णेय) और ब्राह्मण वाक्य उपाय (निर्णायक होता है। प्रकृत में दोनों वाक्यों की एकार्थ-प्रतिपत्ति को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दमय ब्रह्म ही है, क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यादि चारों वाक्य-खण्डरूपी मन्त्र में प्रयुक्त 'अन्य' और 'अन्तर' पद परब्रह्म के ही समर्पक हैं, उसी ब्रह्म की 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः'—इस ब्राह्मण में प्रत्यभिज्ञा हो रही है, अतः 'आनन्दमय' शब्द से परब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए, ऐसा सूत्रकार का कहना है—"मन्त्रवर्णिकमेव च गीयते" अर्थात् मान्त्रवर्णिक परब्रह्म ही उक्त ब्राह्मण वाक्य में 'आनन्दमय' पद के द्वारा अभिहित होता है। [मिश्रजी के मन्त्र भाग में ब्राह्मण की सन्निधि और सन्निधि-प्रयुक्त प्रत्यभिज्ञा का जैसा सामञ्जस्य है, वैसा सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म का उद्बोधकत्व स्पष्ट नहीं, जैसा कि भाष्यकार का मन्त्रवर्ण है]॥ १५ ॥

'आनन्दमय' का प्रकरण आरम्भ करके जीव के शरीरादि की उत्पत्ति से पहले ही कामना, ईक्षण और स्रष्टृत्व का प्रतिपादन किया गया है—"सोऽकामयत, बहु स्याम् प्रजायेय, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत" (तै. उ. २।६)। सृष्टि के रचयिता का आनन्द-

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

इतश्च नानन्दमयः संसारी। यस्मादानन्दमयाधिकारे—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दीभवति' (तै० २।७) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। नहि लब्धैव लब्धव्यो भवति। कथं तर्हि 'आत्माऽन्वेष्टव्यः', 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतिस्मृती ? यावता न लब्धैव लब्धव्यो भवतीत्युक्तम्। बाढम्, तथाप्यात्मनोऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सतस्तत्त्वानवबोधनिमित्तो मिथ्यैव देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः। तेन देहादिभूतस्यात्मनोऽप्यात्माऽनन्विष्टोऽन्वेष्टव्योऽलब्धो लब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्योऽविज्ञातो विज्ञातव्य इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते। प्रतिषिध्यत एव तु परमार्थतः सर्वज्ञात्परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा

भामती

❀ भेदव्यपदेशाच्च ❀। रसः सारो ह्ययमानन्दमय आत्मा रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवतीति। सोऽयं जीवात्मनो लब्धृभाव आनन्दमयस्य च लभ्यता नाभेद उपपद्यते। तस्मादानन्दमयस्य जीवात्मनो भेदे परब्रह्मत्वं सिद्धं भवति। चोदयति ❀ कथं तर्हि इति ❀। यदि लब्धा न लब्धव्यः, कथं तर्हि परमात्मनो वस्तुतोऽभिन्नेन जीवात्मना परमात्मा लभ्यत इत्यर्थः। परिहरति ❀ बाढं तथापि इति ❀। सत्यं परमार्थतोऽभेदेऽप्यविद्यारोपितं भेदमुपाश्रित्य लब्धृलब्धव्यभाव उपपद्यते। जीवो ह्यविद्यया परब्रह्मणो भिन्नो दर्शितः, न तु जीवादपि। तथा चानन्दमयश्चेज्जीवो न जीवस्याविद्ययापि स्वतो भेदो दर्शित इति न च लब्धृलब्धव्यभाव इत्यर्थः। भेदाभेदौ च न जीवपरब्रह्मणोरित्युक्तमधस्तात्। स्यादेतत्—यथा परमेश्वरादभिन्नो जीवात्मा द्रष्टा न भवत्येवं जीवात्मनोऽपि द्रष्टुर्न भिन्नः परमेश्वर इति जीवस्या-

---

भामती–व्याख्या

मयात्मा से अभेद-प्रतिपादन यह सिद्ध करता है कि "नेतरोऽनुपपत्तेः"। इतर अर्थात् ब्रह्म से भिन्न जीव को आनन्दमय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शरीरादि की उत्पत्ति से पहले उसमें अभिध्यान और सृष्टि-कर्तृत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥ १६ ॥

आनन्दमय को अभिलक्ष्य करके कहा गया है—"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति" (तै. उ. २।७) अर्थात् आनन्दमयात्मा वह आनन्दरस है, जिसको प्राप्त करके यह (जीव) आनन्दित हो जाता है। जीवात्मा जब उस आनन्दमय का लब्धा (प्रापक) और आनन्दमय लब्धव्य है, इस प्रकार जीव और आनन्दमय का भेद-प्रतिपादन यह सिद्ध करता है कि आनन्दमय जीव नहीं।

शङ्का—यदि लब्धा लब्धव्य नहीं होता, तब श्रुति और स्मृति में जीव के लिए अभिन्न-स्वरूप परमात्मा को अन्वेष्टव्य (गवेषणीय) क्यों कहा है ?

समाधान—यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा का वस्तुतः अभेद है, तथापि अविद्या के द्वारा आपादित भेद को लेकर लब्धृत्व और लब्धव्यत्व की उपपत्ति हो जाती है अर्थात् देहादि-तादात्म्यापन्न आत्मा प्रापक और सर्वोपाधि-रहित आत्मा लब्धव्य हो जाता है। आशय यह है कि अविद्या के द्वारा जीव को ब्रह्म से ही भिन्न दर्शाया गया है, जीव से जीव को भिन्न नहीं कहा गया है, यदि आनन्दमय को जीव कहा जाता है, तब जीव की अविद्या के द्वारा वह स्वयं अपने से भिन्न क्योंकर सिद्ध होगा ? भेद के बिना जीव में लब्धृत्व और आनन्दमय में लब्धव्यत्व नहीं बन सकता। जीव और ब्रह्म का भेदाभेद पहले ही खण्डित हो चुका है।

शङ्का—जैसे परमात्मा से भिन्न जीवात्मा द्रष्टा नहीं होता, वैसे ही जीवात्मारूप द्रष्टा से परमेश्वर भिन्न नहीं, अतः जीव यदि अनिर्वाच्य है, तब परमेश्वर भी अनिर्वाच्य ही हो

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिना । परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात्कर्तृभोक्तृविज्ञानात्माख्यादन्यः । यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः । यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः । ईदृशं च विज्ञानात्मपरमात्मभेदमाश्रित्य 'नेतरोऽनुपपत्तेः', 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

आनन्दमयाधिकारे च 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति कामयितृत्वनिर्देशान्नानुमानिकमपि सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वाऽपेक्षितव्यम् । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५) इति निराकृतमपि प्रधानं पूर्वसूत्रोदाहृतां कामयितृत्वश्रुतिमाश्रित्य प्रसङ्गात्पुनर्निराक्रियते गतिसामान्यप्रपञ्चनाय ॥ १८ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

इतश्च न प्रधाने जीवे वानन्दमयशब्दः । यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्याऽस्य जीवस्य तद्योगं शास्ति । तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः ।

भामती

निर्वाच्यत्वे परमेश्वरोऽप्यनिर्वाच्यः स्यात् तथा च न वस्तु सन्निरयत आह ॐ परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताद् इति ॐ । रजतं हि समारोपितं न शुक्तितो भिद्यते । नहि तद्भेदेनाभेदेन वा शक्यं निर्वक्तुं, शुक्तिस्तु परमार्थसती निर्वचनीयानिर्वचनीयाद्रजताद्भिद्यत एव । अत्रैव सरूपमात्रं दृष्टान्तमाह ॐ यथा मायाविन इति ॐ । एतदपरितोषेणात्यन्तसरूपं दृष्टान्तमाह ॐ यथा वा घटाकाशाद् इति ॐ । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ १७–१९ ॥

भामती–व्याख्या

जायगा । अनिर्वाच्य होने पर परमार्थसत् क्योंकर रह सकेगा ?

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"परमेश्वरस्तु अविद्याकल्पितात् शारीरात् कर्तृभोक्तृविज्ञानात्माख्यादन्यः" । जैसे शुक्ति में समारोपित रजत की सत्ता शुक्ति की सत्ता से भिन्न नहीं, किन्तु शुक्ति की सत्ता रजत की सत्ता से भिन्न होती है, वैसे ही जीवरूप अध्यस्त पदार्थ अपने अधिष्ठानभूत परमेश्वर से भिन्न नहीं, किन्तु परमेश्वर अपने में अध्यस्त जीव से भिन्न पारमार्थिक है । इसके अनुरूप दृष्टांत प्रस्तुत किया जाता है—"यथा मायाविनः चर्मखड्गधरात् सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः" । जैसे एक ही ऐन्द्रजालिक अपने वास्तविक रूप में भूमि पर खड़ा है और काल्पनिकरूप के द्वारा आकाश में लटक रहे एक सूत पर चढ़ रहा है । वहाँ उसके काल्पनिक रूप से उसका भूमि पर अवस्थित वास्तविक रूप भिन्न होता है, वैसे ही जीव से ब्रह्म भिन्न होता है । अन्य अनुरूप दृष्टान्त दिखाया जाता है—"यथा वा घटाकाशाद् उपाधिपरिच्छिन्नाद् अनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः" । जैसे घटादि उपाधियों से परिच्छिन्न आकाश की अपेक्षा अनवच्छिन्न आकाश भिन्न होता है वैसे ही जीवरूप अवच्छिन्न चेतन की अपेक्षा ब्रह्मरूप अनवच्छिन्न चेतन भिन्न होता है । शेष भाष्य अत्यन्त सुबोध है । ["कामाच्च नानुमानापेक्षा"—इस सूत्र के द्वारा "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" (तै. उ. २।६) इस श्रुति में निर्दिष्ट कामयितृत्वानुपपत्ति दिखाकर प्रधान तत्त्व की आनन्दमयता का खण्डन किया गया । "अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति"—यह सूत्र कहता है कि मोक्षावस्था में जीव आनन्दमय तत्त्व से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, अतः तादात्म्य के अनुयोगी का अपने प्रतियोगी से भिन्न होना स्वाभा-

मुक्तिरित्यर्थः। तद्योगं शास्ति शास्त्रम्—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' (तै० २।७) इति। एतदुक्तं भवति—यदैतस्मिन्नानन्दमयेऽल्पमप्यन्तरमतादात्म्यरूपं पश्यति, तदा संसारभयान्न निवर्तते। यदा त्वेतस्मिन्नानन्दमये निरन्तरं तादात्म्येन प्रतितिष्ठति, तदा संसारभयान्निवर्तत इति। तच्च परमात्मपरिग्रहे घटते, न प्रधानपरिग्रहे जीवपरिग्रहे वा। तस्मादानन्दमयः परमात्मेति स्थितम्।

इदं त्विह वक्तव्यम्—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'। 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' तस्मात् 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' तस्मात् 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तै० २।१,२,३,४) इति च विकारार्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रीयत इति ? मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत्,—न, अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः। अत्राह—युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वं, तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्तरस्यान्यस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वाद्, आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्य आन्तर आत्मो-

---

भामती

स्वमतपरिग्रहार्थमेकदेशिमतं दूषयति ⊛ इदं त्विह वक्तव्यम् इति ⊛। एष तावदुत्सर्गो यत्—

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति ब्रह्मशब्दात्प्रतीयते।
विशुद्धं ब्रह्म, विकृतं त्वानन्दमयशब्दतः॥

भामती–व्याख्या

विक है। आशय यह है कि "यदा ह्येवैष एतस्मिन् अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै. उ. २।७) इस श्रुति के द्वारा आनन्दमय पदार्थ के साथ जो जीव की तद्रूपापत्ति दिखाकर मुक्ति का स्वरूप दिखाया गया है, वह तभी उपपन्न हो सकता है, जब कि आनन्दमय पदार्थ को ब्रह्मरूप माना जाय]॥ १७–१९॥

एकदेशी के मत का निरास –

कथित एकदेशी के मत में यह प्रश्न उठता है कि "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" (तै. उ. २।१), "तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमायाद् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः" (तै. उ. २।२), "तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः" (तै. उ. २।३), "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः" (तै. उ. २।४), "तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः" (तै. उ. २।५) यहाँ सब पाँच वाक्यों में 'मयट्' का प्रयोग हुआ है, पूर्व के चार वाक्यों में तो 'मयट्' विकारार्थक है किन्तु पञ्चम वाक्य में 'मयट्' प्राचुर्यार्थक मान लिया गया, यह क्यों ? विकारार्थक 'मयट्' के प्रवाह में अकस्मात् एक मयट् को प्राचुर्यार्थक क्योंकर माना जा सकता है ? यहाँ तो 'अर्धजरतीय' न्याय लागू होता है [अर्धजरतीयन्याय का स्पष्टीकरण करते हुए सोमेश्वर भट्ट कहते है—"केनचित्पाशुपतेन सर्वजरत्या योषितोऽनुपभोग्यत्वात् सर्वतरुण्याश्च वृद्धेप्यरुचिप्रसङ्गाद् अर्धजरत्यानयने दूतः प्रेषितः" (न्या. सु. पृ. १३५)। आधी बूढ़ी और आधी तरुणी स्त्री का निर्माण या अन्वेषण जैसे असंगत है, वैसे ही एक प्रवाह में पठित कुछ मयट् प्रत्ययों को विकारार्थक और कुछ को प्राचुर्यार्थक मानना असंगत है। इस न्याय के लिए 'आधा तीतर और आधा बटेर' की कहावत प्रचलित है]।

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति ब्रह्मशब्दात् प्रतीयते।
विशुद्धं ब्रह्म विकृतं त्वानन्दमयशब्दतः॥

च्यते, तेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम् , अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गादिति । अत्रोच्यते,—यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति न श्रूयते, तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं, यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते—'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति। तत्र यद् ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, तदिह 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते। तद्विजिज्ञापयिषयैवान्नमयादय आनन्दमयपर्यन्ताः पञ्च कोशाः कल्प्यन्ते । तत्र कुतः प्रकृतहानाऽप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गः ? नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते, अन्नमयादीनामिव 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादि। तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम् ? प्रकृतत्वादिति ब्रूमः। नन्वानन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते, आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादिति। अत्रोच्यते,—तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्माऽवयवी, तदेव च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यात्। अन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुं, ब्रह्मशब्दसंयोगात् ; नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति। अपिच 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्त्वेदमुच्यते,—'तदप्येष श्लोको भवति। असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति' (तै० २।६)। अस्मिंश्च श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयं, ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद् गम्यते 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति। न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता; प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात्। कथं पुनः स्वप्रधानं सद्ब्रह्म, आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति ? नैष दोषः; पुच्छवत्पुच्छं, प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते, नावयवत्वम् ; 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह० ४।३।३२) इति श्रुत्यन्तरात्। अपि च आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम् , निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते; वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २।९)। अपि च आनन्दप्रचुर इत्युक्तेऽपि दुःखास्तित्वमपि गम्यते; प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात्। तथा च सति 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (७।२४।१) इति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत। प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्यापि भिन्नत्वम् , ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २।१) इत्यानन्त्यश्रुतेः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इति च श्रुत्यन्तरात्। न चानन्दमयस्याभ्यासः श्रूयते, प्राति-

भामती

तत्र किं पुच्छपदसमभिव्याहाराबन्नमयादिषु चास्यावयवपरत्वेन प्रयोगादिहाप्यवयवपरत्वात् पुच्छपदस्य तत्समानाधिकरणं ब्रह्मपदमपि स्वार्थत्यागेन कथञ्चिदवयवपरं व्याख्यायताम् ? आनन्दमयपदं

भामती—व्याख्या

['ब्रह्म' शब्द और 'आनन्दमय' शब्द पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि 'ब्रह्म' शब्द से अविकृत विशुद्ध चिदात्मा की एवं 'आनन्दमय' शब्द से आनन्द के विकारभूत पदार्थ की प्रतीति होती है, अतः उक्त दोनों शब्दों का सामानाधिकरण्य क्योंकर सम्भव होगा ?] यहां यह सन्देह होता है कि 'पुच्छ' पद का 'ब्रह्म' पद के साथ समभिव्याहार एवं अन्नमयादि का

पदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते—'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी-भवति, को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'। 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति'। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २।७,८,९) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ६।६) इति च। यदि च आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्म-विषयत्वं निश्चितं भवेत्, तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत। न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम। तस्माच्छ्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) इत्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शनात्। 'यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्' इत्यादिर्ब्रह्मविषयः प्रयोगो न त्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यम्। यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः—'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' (तै० २।८ इति, न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति, विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पतितत्वात्। नन्वानन्दमयस्योप-

भामती

चान्नमयादिविकारवाचिप्रायपठितं विकारवाचि वा, कथञ्चित् प्रचुरानन्दवाचि वा ब्रह्मण्यप्रसिद्धं कयाचिद् वृत्त्या ब्रह्मणि व्याख्यायताम्? आनन्दपदाभ्यासेन च ज्योतिष्पदेनेव ज्योतिष्टोम आनन्दमयो लक्ष्यताम्, उतानन्दमयपदं विकारार्थमस्तु, ब्रह्मपदं च ब्रह्मण्येव स्वार्थेऽस्तु, आनन्दपदाभ्यासश्च स्वार्थे, पुच्छपदमात्रमवयवप्रायलिखितमधिकरणपरतया व्याक्रियतामिति कृतबुद्धय एव विवाङ्कुर्वन्तु। तत्र

प्रायपाठपरित्यागो मुख्यत्रितयलङ्घनम्।
पूर्वस्मिन्नुत्तरे पक्षे प्रायपाठस्य बाधनम्॥

पुच्छपदं हि वालधौ मुख्यं सदानन्दमयावयवे गौणमेवेति मुख्यशब्दार्थलङ्घनम् अवयवपरतायामधिकरणपरतायां च तुल्यम्। अवयवप्रायलेखबाधश्च विकारप्रायलेखबाधेन तुल्यः। ब्रह्मपदमानन्दमयपदम्

भामती-व्याख्या

प्राय-पाठ देख कर क्या यह मान लिया जाय कि अवयवार्थक पुच्छ पद-समभिव्याहृत 'ब्रह्म' पद अपने विशुद्धचिदात्मरूप वाच्यार्थ को छोड़ कर अवयवरूप अर्थ को कहता है? या 'आनन्दमय' पद विकारार्थक पदों के प्रवाह में पठित होने के कारण विकार-वाची है? या किसी प्रकार प्रचुर आनन्द का वाचक है? या ब्रह्म में अप्रसिद्ध होने पर भी किसी वृत्ति के द्वारा ब्रह्मपरक है? या जैसे अभ्यस्त 'ज्योति पद की ज्योतिष्टोम में लक्षणा होती है, वैसे ही अभ्यस्त 'आनन्द' पद की आनन्दमय में लक्षणा की जाय? अथवा 'आनन्दमय' पद विकारार्थक ही रहे, 'ब्रह्म' पद भी अपने स्वार्थभूत ब्रह्म का ही वाचक रहे, 'आनन्द' पद का अभ्यास भी अपने स्वार्थमात्र का समर्पक रहे, केवल 'पुच्छ' पद अवयवार्थक पदों के प्रवाह में प्रविष्ट होने के कारण अधिकरणार्थक मान लिया जाय? इन प्रश्नों पर विवेचकों को अपना विचार प्रस्तुत करना चाहिए। उन पक्षों में—

प्रायपाठपरित्यागो मुख्यत्रितयलङ्घनम्।
पूर्वस्मिन्नुत्तरे पक्षे प्रायपाठस्य बाधनम्॥

['मयट्' प्रत्यय विकारार्थ में, 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्मरूप अर्थ में और अभ्यस्यमान 'आनन्द' शब्द प्रकृत्यर्थ में स्वभावतः मुख्य है, इन तीनों स्वभावों का पूर्व पक्ष में उल्लङ्घन और 'आनन्दमय' पद का विकारार्थक पदों के प्राय में पाठ उपेक्षित हो जाता है। उत्तर पक्ष में केवल 'पुच्छ' पद का अवयव-प्राय-पाठ बाधित होता है, मुख्यार्थक तीनों पदों पर किसी प्रकार का आघात नहीं आता] अर्थात् 'पुच्छ' पद पशु की बालधि (लाङ्गूल) में मुख्य होकर आनन्दमय के अवयवार्थ में गौण ही माना जाता है। मुख्य शब्दार्थ का उल्लङ्घन अवयवपरता और

संक्रमितव्यस्यान्नमयादिवद्ब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिः फलं निर्दिष्टं भवेत्। नैष दोषः, आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात्। 'तदप्येष श्लोको भवति। यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिना च प्रपञ्च्यमानत्वात्। या त्वानन्दमयसंनिधाने 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' इयं श्रुतिरुदाहृता, सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यनेन संनिहिततरेण ब्रह्मणा सम्बध्यमाना नानन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति। तदपेक्षत्वाच्चोत्तरस्य ग्रन्थस्य 'रसो वै सः' इत्यादेर्नानन्दमयविषयता। ननु 'सोऽकामयत' इति ब्रह्मणि पुंलिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते। नायं दोषः, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्र पुंलिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्। या तु भार्गवी वारुणी विद्या 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद्' इति, तस्यां मयडश्रवणात्, प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाच्च युक्तमानन्दस्य ब्रह्मत्वम्। तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते। नचेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितं, वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः। तस्मादन्नमयादिष्वि-

भामती

आनन्दपदमिति त्रितयलङ्घनं त्वधिकं, तस्मान्मुख्यत्रितयलङ्घनादसाधीयान् पूर्वः पक्षः। मुख्यत्रयानुगुण्येन तूत्तर एव पक्षो युक्तः। अपि चानन्दमयपदस्य ब्रह्मार्थत्वे ब्रह्म पुच्छमिति न समञ्जसम्। नहि तदेवावयव्यवयवश्चेति युक्तम्। आधारपरत्वे च पुच्छशब्दस्य प्रतिष्ठेत्येतदप्युपपन्नतरं भवति। आनन्दमयस्य चान्तरत्वमन्नमयादिकोशापेक्षया। ब्रह्मणस्त्वान्तरत्वमानन्दमयादर्थादवगम्यत इति न श्रुत्योक्तम्। एवं चान्नमयादिवदानन्दमयस्य प्रियाद्यवयवयोगो युक्तः। वाङ्मनसागोचरे तु परब्रह्मण्युपाधिमन्तर्भाव्य प्रियाद्यवयवयोगः प्राचुर्यं च क्लेशेन व्याख्यायेयाताम्। तथा च मान्त्रवर्णिकस्य ब्रह्मण एव ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति स्वप्रधानस्याभिधानात् तस्यैवाधिकारो नानन्दमयस्येति। सोऽकामयतेत्याद्या अपि श्रुतयो ब्रह्मविषया नानन्दमयविषया इत्यर्थसंक्षेपः। सुगममन्यत्॥

भामती-व्याख्या

अधिकरणार्थपरता—इन दोनों पक्षों में समान है। अवयवार्थक पदों के प्राय-पाठ का बाध विकारार्थक पदों के प्राय-पाठ-बाध के तुल्य है, किन्तु 'ब्रह्म' पद, 'आनन्दमय' पद और 'आनन्द' पद—तीनों की मुख्यार्थता का बाध अधिक होता है, अतः मुख्य त्रितय का उल्लङ्घन होने के कारण पूर्व पक्ष अयुक्त और मुख्य-त्रितय का पोषक होने के कारण उत्तर पक्ष श्रेष्ठ है।

दूसरी बात यह भी कि 'आनन्दमय' पद को ब्रह्मार्थक मानने पर "ब्रह्म पुच्छम्"—इस वाक्य का सामञ्जस्य नहीं बैठता, क्योंकि वही ब्रह्म अवयवी भी और अपना अवयव भी हो—ऐसा सम्भव नहीं। 'पुच्छ' शब्द को आधारपरक मानने पर 'प्रतिष्ठा' पद भी उपपन्नतर हो जाता है। आनन्दमय में अभ्यन्तरता का प्रतिपादन अन्नमयादि कोशों की अपेक्षा किया जा सकता है। ब्रह्म में सर्वान्तरता तो अर्थात् सिद्ध हो जाती है, अतः श्रुति ने उसका अभिधान नहीं किया। इस प्रकार अन्नमयादि के समान आनन्दमय के प्रियादि अवयवों का योग और प्राचुर्य का समन्वय हो सकता है, किन्तु वह सुकर नहीं, अपितु क्लेश-साध्य है। फलतः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इस मन्त्रवर्ण में प्रस्तावित ब्रह्म का ही "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"—यहाँ पर मुख्यतः अभिधान किया गया है, वही अधिकृत है, आनन्दमय नहीं। "सोऽकामयत" (तै. उ. २।६) इत्यादि श्रुतियाँ भी ब्रह्म को ही विषय करती हैं, आनन्दमय को नहीं। शेष भाष्य सुगम है। [यह जो शङ्का होती है कि 'ब्रह्म' पद नपुंसक लिङ्ग है, उसका "सोऽकामयत"—यहाँ पुँल्लिङ्गरूप से निर्देश क्योंकर होगा?' उस शङ्का का समाधान यह है कि "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः"—इत्यादि वाक्यों में उसी ब्रह्म का

वानन्दमयेऽपि विकारार्थ एव मयड् विज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः, सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि— 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र किमानन्दमयावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यत उत स्वप्रधानत्वेनेति ? पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्त उच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। आनन्दमय आत्मेत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते, अभ्यासात्। 'असन्नेव स भवति' इत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलस्याभ्यस्यमानत्वात्। 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्'। विकारशब्देनावयवशब्दोऽभिप्रेतः। पुच्छमित्यवयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वं ब्रह्मण इति यदुक्तं, तस्य परिहारो वक्तव्यः। अत्रोच्यते—नायं दोषः, प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः। प्राचुर्यं प्रायापत्तिः, अवयवप्राये वचनमित्यर्थः। अन्नमयादीनां हि शिरआदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिरआदीन्यवयवान्तराण्युक्त्वाऽवयवप्रायापत्त्या 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्याह, नावयवविवक्षया। यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम्। 'तद्धेतुव्यपदे-

---

भामती-व्याख्या

'आत्मा' पद के द्वारा उल्लेख किया गया है, जो कि पुँल्लिङ्ग है। यह भृगु-द्वारा प्राप्त और वरुणोपदिष्ट विद्या में कहा गया है—"आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै. उ. ३।६)। वहाँ 'मयट्' का निर्देश नहीं, अतः आनन्द में ब्रह्मरूपता वहाँ सम्भव है। ब्रह्म में उपाधि का योग जब तक न हो, तब तक प्रियशिरस्त्वादि का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। यहाँ सोपाधिक या सविशेष ब्रह्म विवक्षित नहीं कि प्रियशिरस्त्वादि का योग मान लिया जाता, क्योंकि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै. उ. २।४।१) इत्यादि वाक्यों के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का प्रकरण अवधारित है। फलतः अन्नमयादि वाक्यों में जैसे 'मयट्' विकारार्थक है, वैसे ही 'आनन्दमय' शब्द में भी विकारपरक मयट् मानना ही न्याय-संगत है, प्राचुर्यार्थक नहीं। श्रुति का ऐसा तात्पर्य मानने पर इस अधिकरण के सूत्रों का जो विरोध होता है, उसकी निवृत्ति के लिए गौणी वृत्ति या लक्षणादि के द्वारा सूत्रों की अन्यथा व्याख्या कर लेनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्मावगति में श्रुति-वाक्य प्रधान कारण है और सूत्र-वाक्य अप्रधान या गौण साधन, अत एव महर्षि जैमिनि ने मुख्य शब्दों की लक्षणादि न मान कर गौणीभूत पदों की ही लक्षणा को न्यायोचित ठहराया है—"गुणे तु अन्यायकल्पना" (जै. सू. १।३।१५)। वार्तिककार भी कहते हैं—

> वैदिकं जैमिनीयं च यत्र वाक्यं विरुध्यते।
> अध्याहारादिभिः सूत्रं वैदिकं तु यथाश्रुतम्॥ (श्लो. वा. पृ. १५)

लक्षणादि के द्वारा सूत्रों का तात्पर्य ऐसा पर्यवसित होता है—'आनन्दमय' शब्द की "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"—इस वाक्य के घटकीभूत 'ब्रह्म' पद में लक्षणा की जाती है। आशय यह है कि 'आनन्दमय' इत्यादि वाक्यों में जो "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"—यहाँ प्रयुक्त 'ब्रह्म' पद मुख्यार्थक है, अतः वहाँ श्रुति को 'ब्रह्म अधिकरणम्'—ऐसा कहना चाहिए था, किन्तु वैसा न कह कर जो 'ब्रह्म पुच्छम्'—ऐसा कहा गया है, उसका कारण यह है कि पूर्ववाक्यों में अवयवार्थक पदों का प्रयोग सन्निहित था, अतः सन्निधान के अनुरोध से अवयवार्थक 'पुच्छ' पद का प्रयोग कर दिया गया, किन्तु इसकी भी अधिकरण में लक्षणा की जा सकती है, [अतः "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इस सूत्र का अर्थ यह पर्यवसित होता है कि आनन्दमयपदोपलक्षित "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"—इस वाक्य का घटकीभूत 'ब्रह्म' पद अपने ब्रह्मात्मक मुख्यार्थ का ही बोधक है, क्योंकि 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति चेद् वेद"

शाच्च'। सर्वस्य हि विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते— 'इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च' (तै० २।६) इति। न च कारणं सत् ब्रह्म स्वविकारस्यानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्याऽवयव उपपद्यते। अपराण्यपि सूत्राणि यथासंभवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानि॥ १९॥

भामती

⊛ सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि इति ⊛। वेदसूत्रयोर्विरोधे गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति सूत्राण्यन्यथा नेतव्यानि। आनन्दमयशब्देन तद्वाक्यस्थब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठेत्येतद्गतं ब्रह्मपदमुपलक्ष्यते। एतदुक्तं भवति— आनन्दमय इत्यादिवाक्ये यद् ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति ब्रह्मपदं, तत् स्वप्रधानमेवेति। यत्तु ब्रह्माधिकरणमिति वक्तव्ये ब्रह्म पुच्छमित्याह श्रुतिः, तत्कस्य हेतोः? पूर्वमवयवप्रधानप्रयोगात् तत्प्रयोगस्यैव बुद्धौ सन्निधानात्, तेनापि चाधिकरणलक्षणोपपत्तेरिति॥ 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ⊛ ॥१५॥ यत्सत्यं ज्ञानमित्यादिना मन्त्रवर्णेन ब्रह्मोक्तं तदेतदुपायभूतेन ब्राह्मणेन स्वप्राधान्येन गीयते—ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति। अवयववचनत्वे त्वस्य मन्त्रे प्राधान्यं ब्राह्मणे त्वप्राधान्यमिति, उपायोपेययोर्मन्त्रब्राह्मणयोर्विप्रतिपत्तिः स्यादिति।

⊛ नेतरोऽनुपपत्तेः ⊛। अत्र इतश्चानन्दमय इति भाष्यस्य स्थाने इतश्च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पठितव्यम्। ⊛ भेदव्यपदेशाच्च ⊛। अत्रापीतश्चानन्दमय इत्यस्य चानन्दमयाधिकार इत्यस्य च भाष्यस्य स्थाने ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति च ब्रह्मपुच्छाधिकार इति च पठितव्यम्। ⊛ कामाच्च नानुमानापेक्षा ⊛। ⊛ अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ⊛। इत्यनयोरपि सूत्रयोर्भाष्ये आनन्दमयस्थाने ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पाठो द्रष्टव्यः। ⊛ तद्धेतुव्यपदेशाच्च ⊛। विकारस्यानन्दमयस्य ब्रह्म पुच्छमवयवश्चेत् कथं सर्वस्यास्य

भामती—व्याख्या

(तै० उ० २।६।१) इत्यादि वाक्यों में केवल ब्रह्म ही अभ्यस्यमान है ॥ १२॥ "विकार-शब्दान्नेति चेन्न, प्राचुर्यात्"—इस सूत्र में 'विकार' शब्द से अवयव अभिप्रेत है। 'अवयवार्थक पुच्छ पद के योग में "ब्रह्म" पद मुख्यार्थक क्योंकर हो सकेगा? इस शङ्का का परिहार इस सूत्र से किया गया है—"नायं दोष, प्राचुर्यात्"। प्राचुर्य का अर्थ है—प्रायपाठ। अवयवार्थक अन्नमयादि पदों के प्रवाह में पतित होने के कारण अवयवार्थक 'पुच्छ' पद के द्वारा ब्रह्म का भी निर्देश कर दिया गया है, 'पुच्छ' पद से आधारार्थ की विवक्षा है, मुख्य ब्रह्म जगत् का आधार (अधिष्ठान) है ही, अतः 'ब्रह्म' पद की मुख्यार्थता में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं ॥ १३॥ "तद्धेतुव्यपदेशाच्च"—इस सूत्र के द्वारा आनन्दमय-सहित समस्त विकार वर्ग की कारणता ब्रह्म में ही श्रुत है—"इदं सर्वमसृजत, यदिदं किंच" (तै. उ. २।६)। कारणीभूत ब्रह्म अपने विकारभूत आनन्दमय का मुख्यरूप से अवयव नहीं हो सकता। अन्य सूत्र भी "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"—इस वाक्य में निर्दिष्ट ब्रह्म के ही उपपादक हैं॥ १४॥]। जो सत्यं ज्ञानमनन्तम्'—इस मन्त्रवर्ण में ब्रह्म निर्दिष्ट है, वही ब्रह्म इस ब्राह्मण वाक्य में उपात्त है—"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"। यदि मन्त्रगत 'ब्रह्म' पद मुख्यार्थक और ब्राह्मणवाक्यगत 'ब्रह्म' पद अवयवपरक माना जाता है, तब मन्त्र और ब्राह्मण का उपाय-उपेयभाव सुरक्षित नहीं रहता, अतः ब्राह्मणगत 'ब्रह्म' पद को भी मुख्यार्थक मानना आवश्यक है॥ १५॥ "नेतरोऽनुपपत्तेः"—इसमें "इतश्चानन्दमय"—इस भाष्य के स्थान पर "इतश्च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"—ऐसा पढ़ना चाहिए॥ १६॥ "भेदव्यपदेशाच्च"— इस सूत्र के स्थान पर "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" और "आनन्दमयाधिकारे" इसके स्थान पर "ब्रह्मपुच्छाधिकारे"—ऐसा पढ़ना चाहिए॥ १७॥ "कामाच्च नानुमानापेक्षा" और "अस्मिन्नस्य च योगं शास्ति"—इन दोनों सूत्रों के भाष्य में ही 'आनन्दमय' के स्थान पर

(७ अन्तरधिकरणम् । २०–२१)

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

इदमाम्नायते—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ प्रणखात्सर्व एव सुवर्णः' 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद' 'इत्यधिदैवतम्' (छा० १।६।६,७,८) । अथाध्यात्ममपि 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १।७।१,५) इत्यादि । तत्र संशयः—किं विद्याकर्मातिशयवशात्प्राप्तोत्कर्षः कश्चित्संसारी सूर्यमण्डले चक्षुषि चोपास्यत्वेन श्रूयते, किंवा नित्य-

भामती

विकारजातस्य सानन्दमयस्य ब्रह्म पुच्छं कारणमुच्येत 'इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च' इति श्रुत्या ? नह्यानन्दमयविकारावयवो ब्रह्मविकारः सन् सर्वस्य कारणमुपपद्यते । तस्मादानन्दमयविकारावयवो ब्रह्मेति तदवयवयोग्यानन्दमयो विकार इह नोपास्यत्वेन विवक्षितः, किन्तु स्वप्रधानमिह ब्रह्म पुच्छं ज्ञेयत्वेनेति सिद्धम् ।

पूर्वस्मिन्नधिकरणेऽपास्तसमस्तविशेषब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमुपायतामात्रेण पञ्च कोशा उपायाः स्थिताः, न तु विवक्षिताः । ब्रह्मैव तु प्रधानं ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति ज्ञेयत्वेनोपक्षिप्तमिति निर्णीतम् । सम्प्रति तु ब्रह्म विवक्षितोपाधिभेदमुपास्यत्वेनोपक्षिप्यते, न तु विद्याकर्मातिशयलब्धोत्कर्षो जीवात्मादित्यपदवेदनीय इति

भामती-व्याख्या

'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'—ऐसा पढ़ना चाहिए ॥ १८–१९ ॥ "तद्धेतुव्यपदेशाच्च" । आनन्दमयरूप विकार का यदि ब्रह्म पुच्छरूप अवयव है, तब आनन्दमय-सहित समस्त विकारवर्ग की हेतुता का जो श्रुतियों में प्रतिपादन है—"इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च" । वह कैसे उपपन्न होगा ? क्योंकि आनन्दमयरूप विकार का अवयवभूत ब्रह्म समस्त जगत् का कारण नहीं हो सकता, अतः आनन्दमयात्मक विकार का अवयवरूप ब्रह्म यहाँ उपास्यत्वेन निर्दिष्ट है—ऐसा कहना संगत नहीं, किन्तु 'ब्रह्म पुच्छम्'—यहाँ मुख्यार्थक 'ब्रह्म' पद ज्ञेयभूत मुख्य ब्रह्म का बोधक है ॥ १९ ॥

संगति—विगत अधिकरण में समस्त उपाधियों से रहित निर्विशेष ब्रह्म की प्रतिपत्ति (ज्ञान) प्राप्त करने के लिए उपायभूत अन्नमयादि पाँच कोशों का उपस्थापक वाक्य-समूह प्रस्तुत किया गया, वहाँ कोशरूप उपाधियाँ विवक्षित नहीं, मान्त्रवर्णिक निर्विशेष ब्रह्म ही "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" –इस वाक्य के द्वारा निर्णीत हुआ, किन्तु इस अधिकरण में विवक्षित उपाधियों से युक्त ब्रह्म उपास्यत्वेन प्रस्तुत किया जाता है । आदित्य पद के द्वारा वह जीव प्रतिपादनीय नहीं माना गया, जिसने अपनी विद्या और धर्म के द्वारा परमोत्कर्ष का लाभ कर लिया हो । [उपासना का यह प्रस्तुतीकरण अपने तक ही सीमित नहीं, अपितु इसका उद्देश्य ब्रह्म-ज्ञान के पावन शिखर पर पहुँचना ही है, कल्पतरु की अमलोक्ति तथ्यपूर्ण है—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥ १ ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥ २ ॥] ।

संशय—"य एषोऽन्तरादित्ये पुरुषो दृश्यते" (छां. १।६।६) इत्यादि वाक्यों में क्या

सिद्धः परमेश्वर इति ? किं तावत्प्राप्तम् ? संसारीति । कुतः ? रूपवत्त्वश्रवणात् । आदित्यपुरुषे तावत् 'हिरण्यश्मश्रुः' इत्यादि रूपमुदाहृतम् । अक्षिपुरुषेऽपि तदेवातिदेशेन प्राप्यते—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' इति । न च परमेश्वरस्य रूपवत्त्वं युक्तम्, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (का० १।३।१५) इति श्रुतेः, आधारश्रवणाच्च—'य एषोऽन्तरादित्ये', 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति । न ह्यनाधारस्य स्वमहिमप्रतिष्ठस्य सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्याधार उपदिश्येत । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च श्रुती भवतः । ऐश्वर्यमर्यादाश्रुतेश्च । 'स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १।६।८) इत्यादित्यपुरुषस्यैश्वर्यमर्यादा । 'स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १।७।६) इत्यक्षिपुरुषस्य । न च परमेश्व-

भामती

निर्णीयते । तत्र—

मर्य्यादाधाररूपाणि संसारिणि परे न तु ।
तस्मादुपास्यः संसारी कर्मानधिकृतो रविः ।

हिरण्यश्मश्रुरित्यादिरूपश्रवणात्, य एषोऽन्तरादित्ये य एषोऽन्तरक्षिणीति चाधारभेदश्रवणात् ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यैश्वर्य्यमर्य्यादाश्रुतेश्च, संसार्येव कार्य्यकारणसङ्घातात्मको रूपादिसम्पन्न इहोपास्यः, न तु परमात्मा 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादिश्रुतिभिः 'अपास्तसमस्तरूपश्च स्वे महिम्नि' इत्यादिश्रुतिभिरपाकृताधारश्च 'एष सर्वेश्वरः' इत्यादिश्रुतिभिरधिगतनिर्मर्य्यादैश्वर्य्यश्च शक्य उपास्यत्वेनेह प्रतिपत्तुम् । सर्वपाप्मविरहश्चादित्यपुरुषे सम्भवति, शास्त्रस्य मनुष्याधिकारतया देवतायाः पुण्यपापयोरनधिकारात् । रूपादिमत्त्वान्यथानुपपत्त्या च कार्य्यकरणात्मके जीवे उपास्यत्वेन विवक्षिते

भामती-व्याख्या

जीव उपास्यत्वेन श्रुत है ? अथवा नित्य सिद्ध परमेश्वर ?

पूर्वपक्ष—यहाँ आदित्यपुरुष की उपासना प्रस्तुत की जाती है—

मर्यादाधाररूपाणि संसारिणि परे न तु ।
तस्मादुपास्यः संसारी कर्मानधिकृतो रविः ॥

श्रुति-प्रतिपादित मर्यादा, आधार और रूपात्मक उपाधियाँ जीव में ही सम्भावित हैं, परमेश्वर में नहीं. अतः जीवविशेष ही उपास्यत्वेन उपस्थित किया जाता है—'हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः" इत्यादि स्वर्णिम मूँछ, दाढ़ी और केशवाला भव्यरूप वर्णित है । "य एषोऽन्तरादित्ये", "य एषोऽन्तरक्षिणि" इत्यादि आधार-विशेष कहा गया है । "ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च" (छां. १।६।८)—इस प्रकार ऐश्वर्य की मर्यादा अवधारित है कि आदित्यलोक के ऊर्ध्वस्थ लोकों का ही शासन करता है । कथित रूप, आधार और अधिकार का समन्वय किसी संसारी जीव में हो सकता है, अतः कार्य (शरीर) और करण (इन्द्रियादि) से युक्त जीव ही यहाँ उपास्यत्वेन निर्दिष्ट है, परमेश्वर नहीं, क्योंकि वह "अशब्दमस्पर्शम्"—इत्यादि श्रुतियों के द्वारा समस्त उपाधियों से रहित और अपनी ही महिमा में अवस्थित कहा गया है—"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्न" (छां. ७।२४।१) । उसका कोई अन्य आधार नहीं और न उसके ऐश्वर्य की कोई सीमा—"एष सर्वेश्वरः" (बृह. उ. ४।४।२२) । आदित्य-पुरुष में समस्त पापों का अभाव भी है, क्योंकि पुण्य-पापात्मक कर्मों के अनुष्ठान में त्रैवर्णिक पुरुष को छोड़ कर अन्य किसी देवतादि का अधिकार नहीं माना जाता, अतः वह पाप-युक्त क्यों होगा ? देवताओं-द्वारा कर्म-सम्पादन का कहीं-कहीं

रस्य मर्यादावदैश्वर्यं युक्तम्, 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) इत्यविशेषश्रुतेः। तस्मादक्ष्यादित्ययोरन्तः परमेश्वर इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः – 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशाद्' इति, 'य एषोऽन्तरादित्ये', 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति च श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव, न संसारी। कुतः ? तद्धर्मोपदेशात्। तस्य हि परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टाः। तद्यथा –'तस्योदिति नाम' इति श्रावयित्वा तस्यादित्यपुरुषस्य नाम 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य

भामती

यत्तावत् ऋगाद्यात्मकतयास्य सर्वात्मकत्वं श्रूयते तत्कथञ्चिदादित्यपुरुषस्यैव स्तुतिरित्यादित्यपुरुष एवोपास्यो न परमात्मेत्येवं प्राप्तम्। अनाधारत्वे च नित्यत्वं सर्वगतत्वं च हेतुः। अनित्यं हि कार्यं कारणाधारमिति नानाधारम्। नित्यमप्यसर्वगतं यत्तस्मादधरभावेनावस्थितं तदेव तस्योत्तरस्याधार इति नानाधारं तस्मादुभयमुक्तम्। एवं प्राप्तेऽभिधीयते—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्'।

सार्वात्म्यसर्वदुरितविरहाभ्यामिहोच्यते।
ब्रह्मैवाव्यभिचारिभ्यां सर्वहेतुर्विकारवत् ॥

नामनिरुक्तेन हि सर्वपाप्मापादानतयास्योदय उच्यते। न चादित्यस्य देवतायाः कर्मानधिकारेऽपि

भामती–व्याख्या

जो प्रतिपादन उपलब्ध होता है, वह अर्थवादमात्र है। जब कि श्रुति-प्रतिपादित रूप और आधारादि की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति के द्वारा जीव उपास्यत्वेन निर्णीत हो गया, तब उस उपास्य तत्त्व के लिए जो "सैव ऋक्, तत्, साम, तदुक्थम्" (छां. १।७।५) इस प्रकार ऋगादिरूपता दिखाकर सर्वात्मकत्व ध्वनित किया है, वह अर्थवाद है और उसके द्वारा आदित्य-पुरुष की ही स्तुति की जाती है। फलतः यहाँ आदित्य-पुरुष का ही उपास्यत्वेन निर्देश सिद्ध होता है, शेष परमेश्वर का नहीं। भाष्यकार ने यह कहा है कि "न ह्यनाधारस्य स्वमहिमप्रतिष्ठितस्य सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्याधार उपदिश्यते। "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" (छां. ७।२४।१) इति, "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" (गौड. का. ३।३) इति च श्रुती भवतः"। यहाँ परमेश्वर की अनाधारता सिद्ध करने के लिए 'नित्यत्व' और 'सर्वगतत्व'—इन दो हेतुओं का उल्लेख किया गया है, क्योंकि घटादि अनित्य पदार्थ जन्य होने के कारण अपने मृदादिरूप कारण पदार्थ को अपना आधार बनाता है; अतः अनाधार नहीं, तार्किकादि-सम्मत नित्य पदार्थ भी जो सर्वगत नहीं, ऐसे परमाण्वादि पदार्थ अनाधार नहीं होते, क्योंकि उनके नीचे अवस्थित पृथिव्यादि ही अपने ऊपर अवस्थित परमाण्वादि के आधार हैं, अतः 'नित्यत्व' और 'सर्वगतत्व'–दोनों को अनाधारता का हेतु बनाया गया है।

सिद्धान्त –"अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्"।

सार्वात्म्यसर्वदुरितविरहाभ्यामिहोच्यते ।
ब्रह्मैवाव्यभिचारिभ्यां सर्वहेतुर्विकारवत् ॥

आदित्यादि के अन्दर अवस्थित पदार्थ ब्रह्म ही है, क्योंकि उसी के ही सर्वात्मत्वादि धर्मों का यहाँ उपदेश किया गया है। सर्वात्मत्व और सर्वपाप्म-निवृत्ति—ये दोनों धर्म ब्रह्म के अव्यभिचारी हैं, ब्रह्म को छोड़ कर अन्यत्र नहीं रहते। हिरण्यश्मश्रुत्वादि रूपविशेष का योग भी ब्रह्म में सम्भव है, किन्तु विकारवान् (सोपाधिक) ब्रह्म में, क्योंकि वह समस्त विश्व का हेतु है, अतः आदित्यादिगत कथित हिरण्यकेशादि-युक्तत्व का व्यवहार उसके हेतुभूत ब्रह्म में सम्भव है।

"तस्योदिति नाम"—इस प्रकार उक्त पुरुषतत्त्व का 'उद्' यह नाम बताकर इस नाम

उदितः' इति सर्वपाप्मापगमेन निर्वक्ति। तदेव च कृतनिर्वचनं नामाक्षिपुरुषस्याप्यतिदिशति—'यन्नाम तन्नाम' इति। सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव श्रूयते—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादौ। तथा चाक्षुषे पुरुषे 'सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म' इत्यृक्सामाद्यात्मकतां निर्धारयति। सा च परमेश्वरस्योपपद्यते, सर्वकारणत्वात्सर्वात्मकत्वोपपत्तेः। पृथिव्यग्न्याद्यात्मके चाधिदैवतं ऋक्सामे,

भामती

सर्वपाप्मविरहः प्राग्भवीयधर्माधर्मरूपपाप्मसम्भवे सति। न चैतेषां प्राग्भवीयो धर्म एवास्ति, न पाप्मेति साम्प्रतम्, विद्याकर्मातिशयसमुदाचारेऽप्यनादिभवपरम्परोपार्जितानां पाप्मनामपि प्रसुप्तानां सम्भवात्। न च श्रुतिप्रामाण्यादादित्यशरीराभिमानिनः सर्वपाप्मविरह इति युक्तम्, ब्रह्मविषयत्वेनाप्यस्याः प्रामाण्योपपत्तेः। न च विनिगमनायां हेत्वभावः, तत्र तत्र सर्वपाप्मविरहस्य भूयो भूयो ब्रह्मण्येव श्रवणात्। तस्यैव चेह प्रत्यभिज्ञायमानस्य विनिगमनाहेतोर्विद्यमानत्वात्। अपि च सार्वात्म्यं जगत्कारणस्य ब्रह्मण एवोपपद्यते। कारणाभेदात् कार्य्यजातस्य, ब्रह्मणश्च जगत्कारणत्वात्। आदित्यशरीराभिमानिनस्तु जीवात्मनो न जगत्कारणत्वम्। न च मुख्यार्थसम्भवे प्राशस्त्यलक्षणया स्तुत्यर्थता युक्ता। रूपवत्त्वञ्चास्य परानुग्रहाय

भामती–व्याख्या

का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है—"स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः" (छां. १।६।७) अर्थात् समस्त पापरूप अपादान से उदित या विमुक्त होने के कारण उसका 'उद्' यह नाम पड़ गया है। आदित्याभिमानी देवता में समस्त पाप-निवृत्ति सम्भव नहीं, क्योंकि यद्यपि देवता अपने वर्तमान जन्म में कर्म का अधिकारी न होने से पापार्जन नहीं कर सकता, तथापि उसके पूर्वजन्मार्जित पाप की सम्भावना बनी है, सर्वथा पापों की निवृत्ति ब्रह्म में ही घटती है। 'आदित्यादि देवगणों में पूर्वजन्मार्जित धर्म ही होता है, अधर्म या पाप नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि देवताओं में विद्या या धर्म का अतिशय अवश्य अपने कार्य में पूर्ण सक्षम होता है, किन्तु अनादि पूर्व जन्मों के अधर्म या पाप भी प्रसुप्त या अक्षम अवस्था में रहते हैं, जैसा कि योग-भाष्यकार कहते हैं—"क्लेशकर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसम्मूर्छितमिदं चित्रं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततम्" (यो० सू० २।१३)।

शङ्का—जब श्रुति आदित्य-पुरुष के लिए कहती है कि "स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः" (छां० १।६।७) तब श्रुति का प्रामाण्य इसी में है कि आदित्य-पुरुष सर्वथा निष्पाप होता है।

समाधान—उक्त श्रुति को यदि ब्रह्म के पाप्म-विरह का प्रतिपादक माना जाता है, तब भी उसका प्रामाण्य अक्षुण्ण रहता है। विनिगमनाभाव की भी शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि ब्रह्म में ही बार-बार सर्वपाप्म-विरह प्रतिपादित है, अन्यत्र नहीं।

सर्वात्मत्व का सामञ्जस्य वस्तुतः ब्रह्म में ही होता है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि ब्रह्म ही जगत् का कारण है। कार्य और कारण का अभेद होता है, आदित्य-पुरुष एक जीव है, जगत् का कारण नहीं हो सकता, अतः सर्वात्मक क्योंकर होगा? जब ब्रह्मगत मुख्य सर्वात्मत्व उपपन्न हो जाता है, तब आदित्याभिमानी जीव में स्तुत्यर्थक गौण सर्वात्मत्व की कल्पना संगत नहीं। ईश्वर सर्वशक्ति-सम्पन्न है सङ्कल्पमात्र से ऐसे शरीरों का निर्माण कर लेता है, जिसमें स्वर्णमय केशादि का समन्वय हो सकता है, वैसे शरीरों का धारण ईश्वर अपने भक्तों का उद्धार करने के लिए किया ही करता है। समस्त कार्य और विकार-वर्ग रूपवान् है एवं विकार-वर्ग अपने कारण से अभिन्न होता है, अतः विकारगत रूपादिमत्ता का व्यवहार कारणीभूत ईश्वर में वैसे ही हो जाता है, जैसे—"सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः"

वाक्प्राणाद्यात्मके चाध्यात्ममनुक्रम्याह—'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ' इत्यधिदैवतम् । तथाऽध्यात्ममपि—'यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ' इति । तच्च सर्वात्मन एवोपपद्यते । 'तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः' (छा० १।७।६) इति च लौकिकेष्वपि गानेष्वस्यैव गीयमानत्वं दर्शयति । तच्च परमेश्वरपरिग्रहे घटते, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्' (गी.१०।४१) इति भगवद्गीतादर्शनात् । लोककामेशितृत्वमपि निरङ्कुशं श्रूयमाणं परमेश्वरं

भामती

कायनिर्माणेन वा, तद्विकारतया वा सर्वस्य कार्य्यजातस्य, विकारस्य च विकारवतोऽनन्यत्वात्तत्तद्रूप-भेदेनोपदिश्यते, यथा 'सर्वगन्धः सर्वरसः' इति । न च ब्रह्मनिर्मितं मायारूपमनुवदच्छास्त्रमशास्त्रं भवति । अपि तु तां कुर्वदिति नाशास्त्रत्वप्रसङ्गः । यत्र तु ब्रह्म निरस्तसमस्तोपाधिभेदं ज्ञेयत्वेनोपदिश्यते, तत्र शास्त्रम् 'अशब्दमस्पर्शमरू मव्ययम्' इति प्रवर्त्तते । तस्माद्रूपवत्त्वमपि परमात्मन्युपपद्यते, एतेनैव मर्य्यादा-धारभेदावपि व्याख्यातौ । अपि चादित्यदेहाभिमानिनः संसारिणोऽन्तर्यामी भेदेनोक्तः, स एवान्तरादित्य इत्यन्तः श्रुतिसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानो भवितुमर्हति । ॐ तस्मात्ते धनसनयः इति ॐ । धनवन्तो विभूति-मन्त इति यावत् कस्मात् पुनर्विभूतिमत्त्वं परमेश्वरपरिग्रहे घटत इत्यत आह ॐयद्यद्विभूतिमद् इतिॐ । सर्वात्मकत्वेऽपि विभूतिमत्स्वेव परमेश्वररूपाभिव्यक्तिः, न त्वविद्यातमःपिहितपरमेश्वरस्वरूपेष्वविभूति-

भामती—व्याख्या

(छां. ३।१४।४) । "हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः" (छां. १।७ १) ऐसा शास्त्र ब्रह्म-निर्मित माया रूप (मिथ्या रूप) का अनुवाद मात्र करता है, अतः अशास्त्र या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता । हाँ, यदि वह नीरूप ब्रह्म में रूपवत्ता की माया बुद्धि (मिथ्या बुद्धि) को जन्म देता, तब वह अवश्य अशास्त्र हो जाता, किन्तु जब वह माया-द्वारा पूर्वोत्पादित कार्य का अनुवाद मात्र करता है, तब उसमें अशास्त्रत्व (अप्रमाणत्व) प्रसक्त क्यों होगा ? जहाँ समस्त उपाधि-रहित ज्ञेय ब्रह्म का प्रसङ्ग है, वहाँ शास्त्र वस्तु-स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डालता है—"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" (कठो. १।३।१५ । फलतः ब्रह्म में रूपवत्ता की उपपत्ति हो जाती है । इसी प्रकार "स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे" (छां. १।६।८) और "य एषोऽन्तरादित्ये" (छां. १।६।६) इत्यादि शास्त्रों के द्वारा प्रदर्शित मर्यादा और आधार की उपपत्ति भी औपाधिकरूप से ब्रह्म में हो जाती है । दूसरी बात यह भी है कि आदित्य-शरीराभिमानी जीव से भिन्न जो अन्तर्यामी के रूप में प्रदर्शित है—"एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृह. उ. ३।७।२) । वही "अन्तरादित्ये"—यहाँ प्रत्यभिज्ञात होता है, क्योंकि 'अन्तः' शब्द समानरूप से उभयत्र प्रयुक्त हुआ है, अतः अन्तर्यामी पदार्थ की ही यहाँ प्रत्यभिज्ञा होती है । [उसी परमेश्वर का अधिदैवत (देव-सम्बन्धी आदित्यादि प्रतीक में) ध्यान और अध्यात्म (यहाँ 'आत्मा' शब्द शरीर का बोधक है, अतः शरीर-सम्बन्धी प्राणादि में) उपासना प्रतिपादित है । उसी का गुण-गान वीणा में होता है, अत एव गायक-गण धनसनय हो जाते हैं] । धनसनय का अर्थ धनवान् या विभूतिमान् होता है । गायकों में विभूतिमत्त्व की उपपत्ति परमेश्वर के गान से क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर है—"तच्च परमेश्वरपरिग्रह एव घटते, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम् ॥ (गी. १०।४१) इति भगवद्गीतादर्शनात्" । यद्यपि ब्रह्मसर्वात्मक है, तथापि भूतिमान् (ऐश्वर्य-सम्पन्न) पदार्थों में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है, अविद्यारूपी घोरान्धकार से जिन पदार्थों में परमेश्वर का स्वरूप आवृत (आच्छन्न) होता है, ऐसे अविभूतिमान् पदार्थों में परमेश्वर अभिव्यक्त नहीं होता । ऊर्ध्वादि लोकों का निरंकुश शासन

गमयति । यदुक्तं हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यत इति, अत्र ब्रूमः—स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम् । 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि' इति स्मरणात् । अपि च यत्र निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपमुपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि । सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३।१४।२) इत्यादिना । तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति । यदप्याधारश्रवणान्न परमेश्वर इति, अत्रोच्यते-स्वमहिमप्रतिष्ठस्याप्याधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वाद् ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वान्तरत्वोपपत्तेः । ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमुपासनार्थमेव । तस्मात्परमेश्वर एवाक्ष्यादित्ययोरन्तरुपदिश्यते ॥ २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

अस्ति चादित्यादिशरीराभिमानिभ्यो जीवेभ्योऽन्य ईश्वरोऽन्तर्यामी, 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।९) इति श्रुत्यन्तरे भेदव्यपदेशात् । तत्र हि 'आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद' इति वेदितुरादित्याद्विज्ञानात्मनोऽन्योऽन्तर्यामी स्पष्टं निर्दिश्यते, स एवेहाप्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति, श्रुतिसामान्यात् । तस्मात् परमेश्वर एवेहोपदिश्यत इति सिद्धम् ॥ २१ ॥

(८ आकाशाधिकरणम् । सू० २२)

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

इदमामनन्ति—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा

भामती

मत्स्विवत्यर्थः । * लोककामेशितृत्वमपि इति * । अतोऽत्यन्तपारार्थ्यन्यायेन निरङ्कुशमैश्वर्यमित्यर्थः ॥ २०-२१ ॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे ब्रह्मणोऽसाधारणधर्मदर्शनाद्विवक्षितोपाधिनोऽस्यैवोपासना, न त्वादित्यशरीराभिमानिनो जीवात्मन इति निरूपितम् । । इदानीं त्वसाधारणधर्मदर्शनात् तदेवोद्गीथे सम्पाद्योपास्यत्वेनोपदि-

भामती-व्याख्या

और देवताओं की मनःकामना-पूर्ति एक मात्र परमेश्वर का कार्य है। समस्त जड़ और चेतन-वर्ग अत्यन्त परार्थ [पराधीन अर्थात् परमेश्वर के अधीन] है कि उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता—इस प्रकार अत्यन्त परार्थता के द्वारा परमेश्वर में निरङ्कुश शासकत्व सिद्ध होता है, उसके माध्यम से वहाँ परमेश्वर ही प्रधानतया प्रतिपाद्य सिद्ध होता है ॥ २०-२१ ॥

संगति—पूर्व अधिकरण में ब्रह्म के जिन सर्वात्मत्वादि असाधारण धर्मों के अनुरोध पर आदित्यादि उपाधियों के माध्यम से ब्रह्म की ही उपासना का निर्णय दिया गया, उन्हीं असाधारण धर्मों के अनुरोध पर इस अधिकरण में ब्रह्म की सम्पदुपासना का निश्चय किया जाता है।

संशय—"अस्य लोकस्य का गतिः ? आकाश इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि

इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायाताकाशः परायणम्' (छान्दो० १।९।१) इति। तत्र संशयः—किमाकाशशब्देन परं ब्रह्माभिधीयत उत भूताकाशमिति? कुतः संशयः? उभयत्र प्रयोगदर्शनात्। भूतविशेषे तावत्सुप्रसिद्धो लोकवेदयोराकाशशब्दः ब्रह्मण्यपि क्वचित्प्रयुज्यमानो दृश्यते। यत्र वाक्यशेषवशादसाधारणगुणश्रवणाद्वा निर्धारितं ब्रह्म भवति, यथा—'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० २।७) इति, 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) इति चैवमादौ। अतः संशयः। किं पुनरत्र युक्तं? भूताकाशमिति। कुतः? तद्धि प्रसिद्धतरेण प्रयोगेण शीघ्रं बुद्धिमारोहति। नचायमाकाशशब्द उभयोः साधारणः शक्यो विज्ञातुम्, अनेकार्थत्वप्रसङ्गात्। तस्माद् ब्रह्मणि गौण एवाकाशशब्दो भवितुमर्हति। विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म

भामती

इयते, न भूताकाश इति निरूप्यते। तत्र 'आकाश इति होवाच' इति किं मुख्याकाशपदानुरोधेन 'अस्य लोकस्य का गतिः' इति च 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इति च 'ज्यायान्' इति च 'परायणम्' इति च कथञ्चिद् व्याख्यायतामुतैतदनुरोधेनाकाशशब्दो भक्त्या परात्मनि व्याख्यायतामिति? तत्र

प्रथमत्वात् प्रधानत्वादाकाशं मुख्यमेव नः।
तदानुगुण्येनान्यानि व्याख्येयानीति निश्चयः॥

अस्य लोकस्य का गतिरिति प्रश्नोत्तरे 'आकाश इति होवाच' इत्याकाशस्य गतित्वेन प्रतिपाद्यतया प्राधान्यात्, 'सर्वाणि ह वा' इत्यादीनां तु तद्विशेषणतया गुणत्वात्, गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति बहून्यप्यप्रधानानि प्रधानानुरोधेन नेतव्यानि। अपि च 'आकाश इति होवाच' इत्युत्तरे प्रथमावगतमाकाशपदमनुपजात-

भामती—व्याख्या

भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् आकाशः परायणम्" (छां. १।९।१) इस श्रुति में क्या 'आकाश' पद के द्वारा मुख्य भूताकाश की विवक्षा और श्रुति-प्रतिपादित लोकाश्रयता, सर्वभूतोत्पादकत्व, सर्वतो ज्यायस्त्व एवं सर्वपरायणत्व का भूताकाश में कथंचित् सामञ्जस्य किया जाय? अथवा ब्रह्म के लोकाश्रयत्वादि असाधारण धर्मों के अनुरोध पर 'आकाश' पद का ब्रह्म में गौण प्रयोग माना जाय?

पूर्वपक्ष—

प्रथमत्वात् प्रधानत्वादाकाशं मुख्यमेव नः।
तदानुगुण्येनान्यानि व्याख्येयानीति निश्चयः॥

[श्रुति में 'आकाश' पद प्रथम श्रुत होने के कारण असंजातविरोधी है, इतना ही नहीं, 'अस्य लोकस्य का गतिः (आश्रयः)?' इस प्रश्न के उत्तर में लोकाश्रयत्वेन आकाश का निर्देश किया गया है—"आकाश इति होवाच"। इस प्रकार मुख्य प्रतिपाद्य वस्तु का समर्थक होने के कारण 'आकाश' पद अपने भूताकाश में रूढ़ है। "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (छां. १।९।१) इत्यादि पद विशेषण और 'आकाश' पद विशेष्य है। विशेष्य प्रधान और विशेषण गौण होता है। प्रधान पद अभिधेय अर्थ का ही बोधक माना जाता है, किन्तु गौणीभूत पद लक्षणादि के द्वारा गौण अर्थ का भी उपस्थापक हो जाता है। "गुणे त्वन्याय्यकल्पना" (जै. सू. ९।३।१७) इस न्याय के आधार पर गौणीभूत पदों की व्याख्या प्रधान पद के अनुसार ही करनी चाहिए।

दूसरी बात यह भी है कि "आकाश इति होवाच" इस उत्तर-वाक्य में 'आकाश' पद

भवति । न च मुख्यसंभवे गौणोऽर्थो ग्रहणमर्हति । संभवति चेह मुख्यस्यैवाकाशस्य ग्रहणम् । ननु भूताकाशपरिग्रहे वाक्यशेषो नोपपद्यते--'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादिः । नैष दोषः, भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वोपपत्तेः । विज्ञायते हि--'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः' (तै० २।१) इत्यादि । ज्यायस्त्वपरायणत्वे अपि भूतान्तरापेक्षयोपपद्येते भूताकाशस्यापि । तस्मादाकाशशब्देन भूताकाशस्य ग्रहण

भामती

विरोधित्वेन तदनुरक्तायां बुद्धौ यद्यदेव तदेव वाक्यगतमुपनिपतति तत्तदुपजातविरोधि तदानुगुण्येनैव व्यवस्थापयितुमर्हति । न च क्वचिदाकाशशब्दो भक्त्या ब्रह्मणि प्रयुक्त इति सर्वत्र तेन तत्परेण भवितव्यम् । न हि गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदमनुपपत्त्या तीरपरमिति यादांसि गङ्गायामित्यत्राप्यनेन तत्परेण भवितव्यम् । सम्भवश्चोभयत्र तुल्यः । न च ब्रह्मण्यप्याकाशशब्दो मुख्यः, अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात् । भक्त्या च ब्रह्मणि प्रयोगोपपत्तेः । लोके चास्य नभसि निरूढतरत्वात् तत्पूर्वकत्वाच्च वैदिकार्थप्रतीतेर्वैपरीत्यानुपपत्तेः । तदानुगुण्येन च 'सर्वाणि ह वा' इत्यादीनि भाष्यकृता स्वयमेव नीतानि । तस्माद् भूताकाशमेवात्रोपास्यत्वेनोपदिश्यते, न परमात्मेति प्राप्तम् ।

भामती-व्याख्या

प्रथम श्रुत होने के कारण असञ्जातविरोधी है अर्थात् उसके द्वारा अपने मुख्य अर्थ के बोधन में किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता, अतः यहाँ 'आकाश' पद बिना किसी विरोध के भूताकाश की अवगति करा देता है, क्योंकि प्रत्येक पद की अपने मुख्य अभिधेय अर्थ में संगति (शक्ति) गृहीत होती है, उस पद का श्रवण करते ही बुद्धि में उसका अभिधेय अर्थ तुरन्त उपस्थित हो जाता है । उस अर्थ के उपस्थित हो जाने पर विशेषण पदों के द्वारा विशेष्यार्थ के विरुद्ध अर्थ का बोधन नहीं किया जा सकता, अतः विशेषण पद सञ्जातविरोधी हो जाने के कारण लक्षणादि के द्वारा विशेष्यार्थ के अनुरूप ही अर्थ उपस्थित कराते हैं । यदि 'आकाश' पद कहीं पर परिस्थिति-वश गौणी वृत्ति के द्वारा ब्रह्म का उपस्थापक हो जाता है, तब वह सर्वत्र ब्रह्म का की बोधक होगा—ऐसा नियम कदापि नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'गङ्गायां घोषः'—ऐसे प्रयोगों में 'गङ्गा' पद मुख्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण तीर (तट) अर्थ का बोधक हो जाता है, तब क्या 'गङ्गायां यादांसि (जलीयजन्तवः) सन्ति'—इत्यादि प्रयोगों में भी 'गङ्गा' पद तीररूप अर्थ का ही उपस्थापक होगा ? कदापि नहीं, क्योंकि यहाँ 'जलप्रवाहे मत्स्यादयः सन्ति'—इस प्रकार के बोध में मुख्यार्थ की अनुपपत्ति न होने के कारण 'गङ्गा' पद अपने प्रवाहरूप मुख्यार्थ का ही बोधक होता है । 'गङ्गायां यादांसि' यहाँ मुख्यार्थ का अन्वय सम्भव और "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते"—यहाँ पर मुख्यार्थ का अन्वय सम्भव नहीं—ऐसा नहीं, क्योंकि मुख्यार्थ के अनुरूप ही विशेषण पदों के द्वारा अर्थ की कल्पना करके मुख्यार्थ का अन्वय सर्वत्र सम्भव हो जाता है । एक ही 'आकाश' पद की भूताकाश और ब्रह्म—इन दोनों अर्थों में शक्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि एक पद की अनेक अर्थों में शक्ति मानना संगत (न्यायोचित) नहीं होता । जब कि 'आकाश' पद के द्वारा गौणी वृत्ति से ब्रह्म में प्रयोग बन जाता है, तब उसमें उसकी शक्ति मानने की क्या आवश्यकता ? लोक में 'आकाश' पद नभ (भूताकाश) में ही निरूढतर है, अतः वेद में प्रयुक्त 'आकाश' पद के द्वारा भी भूताकाश का ही बोध होगा, श्री मण्डनमिश्र ने स्पष्ट कहा है—"लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः" (ब्र. सि. ३।८३) । अतः 'आकाश' पद ब्रह्म में रूढ़ और भूताकाश में गौण—ऐसी विपरीत कल्पना

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

आकाशस्तल्लिङ्गात् आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम्। कुतः ? तल्लिङ्गात्। परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति। परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा। ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम्। सत्यं दर्शितम्, तथापि मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहादाकाशादेवेत्यवधारणं, सर्वाणीति च भूतविशेषणं नानुकूलं स्यात्। तथा

भामती

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं, कुतः ? तल्लिङ्गात्। तथाहि—

सामानाधिकरण्येन प्रश्नतत्प्रतिवाक्ययोः।
पौर्वापर्य्यपरामर्शात् प्रधानत्वेऽपि गौणता॥

यद्यप्याकाशपदं प्रधानार्थं तथापि यत् पृष्टं तदेव प्रतिवक्तव्यं, न खल्वनुन्मत्त आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे। तदिहास्य लोकस्य का गतिरिति प्रश्नो दृश्यमाननामरूपप्रपञ्चमात्रविषय इति तदनुरो-

---

भामती-व्याख्या

नहीं की जा सकती, क्योंकि लोक में वैसा नहीं देखा जाता। भूताकाश में भी सर्वभूतोत्पादकत्वादि का समन्वय स्वयं भाष्यकार ने दिखा दिया है, अतः यहाँ 'आकाश' पद के द्वारा भूताकाश का ही उपास्यत्वेन निर्देश पर्यवसित होता है।

सिद्धान्त—कथित पूर्व पक्ष का खण्डन करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि यहाँ 'आकाश' शब्द के द्वारा ब्रह्म का ग्रहण किया गया है, क्योंकि प्रक्रान्त प्रश्न और उत्तर वाक्यों का पर्यवसित सर्वभूतोपादनत्वरूप एकार्थरूप लिङ्ग (ब्रह्म का असाधारण धर्म) ब्रह्म का ही गमक है—

सामानाधिकरण्येन प्रश्नतत्प्रतिवाक्ययोः।
पौर्वापर्यपरामर्शात् प्रधानत्वेऽपि गौणता॥

["अस्य लोकस्य का गतिः" (छां. १।९।१) इस प्रश्न का यहाँ—"आकाश इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (छां. १।९।१ ; यह उत्तर दिया गया है। प्रश्न और उसके प्रतिवाक्य (प्रतिवचन या उत्तर वाक्य) का सामानाधिकरण्य (एकार्थपर्यवसायित्व) नैसर्गिक है। प्रश्न सदैव पूर्व (पहले) किया जाता है और उसका उत्तर पश्चात् दिया जाता है। पूर्वोच्चरित वाक्य असञ्जातविरोधी और उत्तर-वाक्य पश्चाद्भावी होने से सञ्जातविरोधी होता है, अतः एव प्रश्न वाक्य का जो सहज सिद्ध अर्थ होता है, उसके साथ ताल-मेल रखते हुए ही उत्तर वाक्य का अर्थ किया जाता है, उसके लिए उत्तर-वाक्य के पदों की यदि लक्षणादि करनी पड़े, तो भी कोई दोष नहीं माना जाता। प्रकृत में सर्व लोकोपादानत्वविषयक प्रश्न किया गया, श्रुत्यादि प्रमाणों के द्वारा ब्रह्म में ही जगदुपादानत्व सिद्ध किया गया है, अतः उत्तर वाक्यगत] 'आकाश' पद यद्यपि भूताकाश का प्रधानतया (रूढतया) बोधक होता है, तथापि यहाँ सञ्जातविरोधी होने के कारण गौणी वृत्ति के द्वारा ब्रह्म का ही उपस्थापक है, क्योंकि जो पूछा जाता है, वही कहना चाहिए, उन्मत्त (पागल) को छोड़ कर कोई समझदार व्यक्ति आम वृक्ष (आम) के विषय में पूछे जाने पर कोविदार (कचनार) की चर्चा नहीं करता। [अनर्थ या असंगतार्थ के अभिधान पर उपालम्भ देते हुए महाभाष्यकार कहते हैं—"अन्यद्भवान् पृष्टोऽन्यदाचष्टे, आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे" (पा. सू. १।२।४५)]। प्रकृत में "अस्य का गतिः ?" ऐसा दृश्यमान नामरूपात्मक समस्त प्रपञ्च के आश्रय का प्रश्न किया गया, उसके अनुरूप जो समस्त प्रपञ्च

'आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इति ब्रह्मलिङ्गं 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' इति च ज्यायस्त्वपरायणत्वे । ज्यायस्त्वं ह्यनापेक्षिकं परमात्मन्येवैकस्मिन्नाम्नातम्— 'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१४।३) इति । तथा परायणत्वमपि परमकारणत्वात्परमात्मन्येवोपपन्नतरम् । श्रुतिश्च—

भामती

धाम एव सर्वस्य लोकस्य गतिः, स एवाकाशशब्देन प्रतिपत्तव्यः । न च भूताकाशः सर्वस्य लोकस्य गतिः, तस्यापि लोकमध्यपतितत्वात्, तदेव तस्य गतिरित्यनुपपत्तेः । न चोत्तरे भूताकाशश्रवणाद् भूताकाशकार्य्यमेव पृष्टमिति युक्तम् । प्रश्नस्य प्रथमावगतस्यानुपजातविरोधिनो लोकसामान्यविषयस्योपजातविरोधिनोत्तरेण सङ्कोचानुपपत्तेः, तदनुरोधेनोत्तरव्याख्यानात् । न च प्रश्नेन पूर्वपक्षरूपेणाव्यवस्थितार्थेनोत्तरं व्यवस्थितार्थं न शक्यं नियन्तुमिति युक्तम् , तन्निमित्तानामज्ञानसंशयविपर्य्यासानामनवस्थानेऽपि तस्य स्वविषये व्यवस्थानात् । अन्यथोत्तरस्यानालम्बनत्वापत्तेर्वैयधिकरण्यापत्तेर्वा ।

अपि चोत्तरेऽपि बहुसमञ्जसम् । तथाहि— 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते'

भामती-व्याख्या

का वस्तुतः उपादान है, उसी का 'आकाश' पद के द्वारा अभिधान करना चाहिए । भूताकाश समस्त जगत् का आश्रय नहीं, क्योंकि वह भी उपादेयभूत लोक या प्रपञ्च के अन्तर्गत है, वही उसका आश्रय हो ऐसा सम्भव नहीं ।

शङ्का—प्रश्न और उत्तर की एकरूपता दो प्रकार से बन सकती है—(१) प्रश्न के अनुसार उत्तर की व्याख्या की जाय अथवा (२) उत्तर के अनुरूप प्रश्न वाक्य का अर्थ किया जाय । यहाँ उत्तर वाक्य में भूताकाश का अभिधान देख कर प्रश्न वाक्य का तात्पर्य केवल भूताकाशीय कार्य के आश्रय में किया जा सकता है, भूताकाश अपने को छोड़ कर अपने वायु आदि कार्य का आश्रय है ही, अतः 'आकाश' पद की ब्रह्म में गौणी वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता ?

समाधान—यह कहा जा चुका है कि प्रश्न-वाक्य की उपस्थिति प्रथम होने के कारण उसका अपने लोक-प्रसिद्ध सामान्यतः समस्त प्रपञ्चोपादानत्वरूप मुख्यार्थ के बोधन में कोई विरोधी नहीं, अतः उस समय अनुत्पन्न और पश्चात् सञ्जात-विरोधी उत्तर-वाक्य के द्वारा प्रश्न-वाक्य के स्वाभाविक अर्थ में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया जा सकता और उत्तर-वाक्य की व्याख्या पूर्वोत्पन्न प्रश्न-वाक्य के अनुरूप ही करनी होगी, फलतः 'आकाश' पद का ब्रह्म अर्थ करना न्यायोचित है ।

शङ्का—प्रश्न-वाक्य के अनुरोध पर उत्तर-वाक्य का नियमन सम्भव नहीं, क्योंकि प्रश्न-कर्त्ता के हृदय में जिस विषय का अज्ञान, संशय या विपर्यय होता है, वह उसी विषय का प्रश्न किया करता है, और उत्तर-वाक्य सदैव अपने विषय में व्यवस्थित होता है, अव्यवस्थितविषयक अत एव दुर्बल प्रश्न-वाक्य के अनुरोध पर व्यवस्थितविषयक उत्तर-वाक्य का अर्थ करना क्योंकर संभव होगा ?

समाधान—यद्यपि प्रश्न के उद्भावक अज्ञान, संशय और विपर्यय व्यवस्थित नहीं होते, तथापि प्रश्न का अपना विषय व्यवस्थित (निश्चित) होता है । यदि प्रश्न का कोई विषय नहीं, तब वह निर्विषयक हो जाता है और निर्विषयक प्रश्न कभी किया नहीं जा सकता, क्योंकि प्रश्न भी एक ऐसा वाक्य है, जिसका विषय जाने बिना वाक्य की रचना ही नहीं हो सकती और यदि प्रश्न भिन्नविषयक है, तब उत्तर-वाक्य से वैयधिकरण्य हो (ताल-मेल बिगड़) जाता है । अतः प्रश्न को अव्यवस्थितविषयक नहीं कहा जा सकता ।

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्' (बृ० ३।९।२८) इति ।

अपि चान्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य पक्षं निन्दित्वा, अनन्तं किंचिद्वक्तुकामेन

भामती

इति सर्वशब्दः कथञ्चिदल्पविषयो व्याख्येयः । एवमेवकारोऽप्यसमञ्जसः । न खल्वपामाकाश एव कारणम् अपि तु तेजोऽपि । एवमन्नस्यापि नाकाशमेव कारणम्, अपि तु पावकपाथसी अपि । मूलकारणविवक्षायान्तु ब्रह्मण्येवावधारणं समञ्जसम् । असमञ्जसन्तु भूताकाशे । एवं सर्वेषां भूतानां लयो ब्रह्मण्येव । एवं सर्वेभ्यो ज्यायस्त्वं ब्रह्मण एव । परमयनं ब्रह्मैव । तस्मात्सर्वेषां लोकानामिति प्रश्नेनोपक्रमाद्, उत्तरे च तत्तदसाधारणब्रह्मगुणपरामर्शात् , पृष्टायाश्च गतेः परमयनमित्यसाधारणब्रह्मगुणोपसंहारात् , भूयसीनां श्रुतीनामनुग्रहाय 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' इतिवद् वरमाकाशपदमात्रमसमञ्जसमस्तु । एतावता हि बहु समञ्जसं स्यात् । न चाकाशस्य प्राधान्यमुत्तरे, किन्तु पृष्टार्थत्वादुत्तरस्य, लोकसामान्यगतेश्च पृष्टत्वाद्, परायणमिति च तस्यैवोपसंहाराद् ब्रह्मैव प्रधानम् । तथा च तदर्थं सदाकाशपदं प्रधानार्थं भवति, नान्यथा । तस्माद् ब्रह्मैव प्रधानमाकाशपदेनेहोपास्यत्वेनोपक्षिप्तं, न भूताकाशमिति सिद्धम् ।

भामती–व्याख्या

दूसरी बात यह है कि यहाँ उत्तर-वाक्य भी व्यवस्थितविषयक नहीं, क्योंकि "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रति अस्तं यन्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्" (छां. १।९।१) इस वाक्य में 'सर्व' शब्द को तो भला "सर्वेभ्यो वै दर्शपूर्णमासौ" के समान कथंचित् अल्पविषयक (केवल वाय्वादि कार्यपरक) माना जा सकता है, किन्तु वह निसर्गतः प्राप्त सकलार्थ में असमञ्जस है, "आकाशादेव"—यहाँ पर एवकार भी अपने अन्ययोग-व्यवच्छेदरूप अर्थ में समंजस नहीं, क्योंकि जलादि कार्य का केवल आकाश ही कारण नहीं, अपितु तेज भी कारण है। अन्न (पृथिवी) का भी केवल आकाश कारण नहीं, अपितु तेज और जल भी उसके कारण माने जाते हैं। यदि यहाँ कारण पद से मूल कारण की विवक्षा की जाती है, तब ब्रह्म में ही अवधारण (एवकारार्थ) उपपन्न होता है।.हाँ, भूताकाश में वह अवश्य असंगत है। सभी भूतों का अस्तंगमन (लय) भी ब्रह्म में ही होता है। सबकी अपेक्षा ज्यायस्त्व (श्रेष्ठत्व) ब्रह्म में ही है। सभी भूतों का परम अयन (आश्रय) ब्रह्म ही है। फलतः 'सर्वेषां लोकानाम्'—इस प्रकार के प्रश्न का उपक्रम, उत्तर-वाक्य में ब्रह्म के सर्वलोकाश्रयत्वरूप असाधारण धर्म का परामर्श और जिज्ञासित परम गति का "आकाशः परायणम्"—इस प्रकार उपसंहार देख कर 'आकाश' पद का ब्रह्म में तात्पर्य निश्चित होता है। ब्रह्मगत सर्वोपादानता की प्रतिपादिका अनेक श्रुतियों का सामंजस्य बनाए रखने के लिए एक 'आकाश' पद की मुख्यार्थता का बाध कर देना अनुचित नहीं, जैसे कि कहावत प्रचलित है—"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे" [श्री कुमारिलभट्टादि गम्भीर विचारकों का भी यही कहना है—'यत्र तु द्वयसन्निपातस्तत्रान्यतरेण कृतार्थत्वादवश्यावहेयेऽन्यतरस्मिन् भूयसामनुग्रहो युक्तः, त्यजेदेकं कुलस्यार्थे इति' (तं. वा. पृ. ११६)]। इस प्रकार अनेक पदों और अनेक श्रुतियों का सामंजस्य सुरक्षित हो जाता है।

वस्तुतः उत्तर वाक्य में भी 'आकाश' (भूताकाश) प्रधान पदार्थ नहीं, क्योंकि उत्तर वाक्य सदैव प्रष्टव्यार्थपरक होता है, प्रष्टव्य है समस्त भूतों का आश्रय। 'परायणम्' यह पद भी उसी अर्थ का उपसंहारक है, अतः उत्तर वाक्य में भी ब्रह्म ही प्रधान अर्थ स्थिर होता है और 'आकाश' पद का भी तभी प्राधान्य माना जा सकता है, जब कि वह ब्रह्मपरक हो, अन्यथा नहीं। इस प्रकार 'आकाश' पद के द्वारा उपास्यत्वेन ब्रह्म ही उपक्षिप्त (उपस्थापित) है, भूताकाश नहीं—यह सिद्ध हो जाता है।

जैवलिना आकाशः परिगृहीतः, तं चाकाशमुद्गीथे संपाद्योपसंहरति –'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १।९।२) इति । तच्चानन्त्यं ब्रह्मलिङ्गम् । यत्पुनरुक्तं भूताकाशं प्रसिद्धिबलेन प्रथमतरं प्रतीयत इति, अत्र ब्रूमः– प्रथमतरं प्रतीतमपि सत् वाक्यशेषगतान्ब्रह्मगुणान्दृष्ट्वा न परिगृह्यते । दर्शितश्च ब्रह्मण्यप्याकाशशब्दः –'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादौ । तथाकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते –'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः' (ऋ० सं० १।१६४।३९) 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन्प्रतिष्ठिता' (तै० ३।६) 'ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'खं पुराणम्' (बृ० ५।१) इति चैवमादौ । वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्याकाशशब्दस्य वाक्यशेषवशाद्युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा । 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' इति हि वाक्योपक्रमगतोऽप्यग्निशब्दो माणवकविषयो दृश्यते । तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ २२ ॥

भामती

ॐ अपि च ॐ । अस्यैवोपक्रमेऽन्तवत् किल ते सामेति ॐ अन्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य इति ॐ । न चाकाशशब्दो गौणोऽपि विलम्बितप्रतिपत्तिः, तत्र तत्र ब्रह्मण्याकाशशब्दस्य तत्पर्यायस्य च प्रयोगप्राचुर्य्यादत्यन्ताभ्यासेनास्यापि मुख्यवत् प्रतिपत्तेरविलम्बनादिति दर्शनार्थं ब्रह्मणि प्रयोगप्राचुर्य्यं वैदिकं निदर्शितं भाष्यकृता । तत्रैव च प्रथमावगतानुगुण्येनोत्तरं नीयते, यत्र तदन्यथा कर्तुं शक्यम् । यत्र तु न शक्यं तत्रोत्तरानुगुण्येनैव प्रथमं नीयत इत्याह ॐ वाक्योपक्रमेऽपि इति ॐ ॥२२॥

भामती–व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि शालावत्य ऋषि ने जो अपना पक्ष प्रस्तुत किया—"अमुष्य लोकस्य का गतिरिति ? अयं लोक इति होवाच" (छां. १।८।७) । उस पक्ष में दोष दिखाते हुए प्रवाहण जैवलि ने कहा—"अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम" (छां. १।८।८) । इस शालावत्य के पक्ष में अन्तवत्त्व दोष दिखाकर किसी अनन्त तत्त्व की विवक्षा से जैवलि ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया—"अस्य लोकस्य का गतिरिति ? आकाश इति होवाच" (छां. १।९।१) । इतना ही नहीं, उक्त आकाश का उद्गीथ साम में सम्पादन करके कहा है—"स एष परावरीयानुद्गीथः, स एषोऽनन्तः" (छां. १।९।२) । यदि यहाँ 'आकाश' पद से भूताकाश का ग्रहण किया जाता है, तब इस पक्ष में भी अन्तवत्त्व दोष बना रहता है, अतः "स एषोऽनन्तः" ऐसा आनन्त्याभिधान ब्रह्म का असाधारण धर्म होता हुआ 'आकाश' पद की ब्रह्मपरता का साधक है ।

'आकाश' शब्द ब्रह्म में गौण होने पर भी ब्रह्म का बोध कराने में विलम्ब नहीं करता, क्योंकि "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता" (छां. ८।१४।१), "ऋचोऽक्षरे परमे व्योमनि" (ऋ. सं. १।१६४।३९), 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता" (तै. उ. ३।६), "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" (छां. ४।१०।५), "ख पुराणम्" (बृह. उ. ५।१) इत्यादि अनेक स्थलों पर आकाश और उसके पर्याय-वाचक 'व्योमादि' पद ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं, अतः मुख्य 'ब्रह्म' पद के समान ही 'आकाशादि' गौण पद भी विना विलम्ब के ही ब्रह्म के बोधक होते हैं ।

प्रथमतः श्रुत प्रश्न-वाक्य के अनुसार वहीं उत्तर-वाक्य का अर्थ किया जाता है, जहाँ उत्तर-वाक्य का अर्थान्तर सम्भावित हो, प्रकृत में उत्तर वाक्यगत 'आकाश' पद "स एषोऽनन्तः

(९ प्राणाधिकरणम् । सू० २३)

अत एव प्राणः ॥ २३ ॥

उद्गीथे—'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' (छां० १।१०।९) इत्युपक्रम्य श्रूयते—'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' (छा० १।११।४,५) इति । तत्र संशयनिर्णयौ पूर्ववदेव द्रष्टव्यौ । 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छां० ६।८।२) 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) इति चैवमादौ ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते, वायुविकारे तु प्रसिद्धतरो लोकवेदयोः, अत इह प्राणशब्देन कतरस्योपादानं युक्तमिति भवति संशयः ।

किं पुनरत्र युक्तम् ? वायुविकारस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्योपादानं युक्तम् । तत्र हि

भामती

'उद्गीथे या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाचोषस्तिश्चाक्रायणः' उद्गीथोपासनप्रसङ्गेन प्रस्तावोपासनमप्युद्गीथ इत्युक्तं भाष्यकृता । प्रस्ताव इति साम्नो भक्तिविशेषस्तमन्वायत्ता अनुगता प्राणो देवता । अत्र प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि च वायुविकारे च वर्तनात् संशयः—किमयं ब्रह्मवचन उत वायुविकारवचन इति ?

तत्रात एव ब्रह्मलिङ्गादेव प्राणोऽपि ब्रह्मैव न वायुविकार इति युक्तम् । यद्येवं तेनैव गतार्थमेत-

भामती–व्याख्या

परोवरीयो हास्य भवति, परोवरीयसो लोकान् जयति" (छां. १।९।२) इस अर्थवाद वाक्य से नियन्त्रित होकर ब्रह्मपरक ही है, भूताकाशपरक हो ही नहीं सकता, भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है—"वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्य आकाशशब्दस्य वाक्यशेषवशाद् युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा" ॥ २२ ॥

संगति—पूर्वोक्त 'आकाश' पद के समान ही 'प्राण' पद का प्रसङ्ग उपस्थित कर पूर्ववत् निर्णय दिया जाता है, इस प्रकार आतिदेशिकी संगति को सूत्रकार ने ही "अत एव" शब्द के द्वारा ध्वनित कर दिया है ।

विषय वाक्य –[साम एक वैदिक गीत या राग है, एक साम तीन ऋचाओं पर गाया जाता है । साम-गान करनेवाले तीन ऋत्विक् होते हैं—प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्त्ता । एक-एक साम के पाँच भाग किए जाते हैं—(१) प्रस्ताव, (२) उद्गीथ, (३) प्रतिहार, (४) उपद्रव और (५) निधन । प्रस्तावनामक प्रथम भाग का गान प्रस्तोता, उद्गीथसंज्ञक द्वितीय भाग का उद्गाता, प्रतिहाराख्य तृतीय भाग का गान प्रतिहर्ता, चतुर्थ और पञ्चम भाग का गान तीनों मिल कर करते हैं] । उद्गीथ के प्रकरण में "या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता"—ऐसा प्रस्तावसंज्ञक साम का उपक्रम करके कहा गया है—"कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच उषस्त्यश्चाक्रायण:" (छां. १।११।४) । यद्यपि यहाँ प्रस्ताव की उपासना अभिहित है, तथापि उद्गीथोपासना के प्रकरण में प्रस्ताव की उपासना का विधान उचित नहीं, अतः भाष्यकार ने 'उद्गीथे' कह दिया है । 'प्रस्ताव' साम की विशेष भक्ति (भाग) का नाम है, उस प्रस्ताव में प्राण देवता अन्वायत्त (अनुगत) है ।

संशय—'प्राण' शब्द ब्रह्म और शरीरगत वायु में प्रसिद्ध होने के कारण संशय हो जाता है कि यह 'प्राण' शब्द ब्रह्म का बोधक है ? अथवा शरीरगत वायु का वाचक है ?

पूर्वपक्ष—सूत्रकार ने जो सिद्धान्त किया है कि 'अत एव' (ब्रह्म का साधारण

प्रसिद्धतरः प्राणशब्द इत्यवोचाम। ननु पूर्ववदिहापि तल्लिङ्गाद् ब्रह्मण एव ग्रहणं युक्तम्। इहापि वाक्यशेषे भूतानां संवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं कर्म प्रतीयते. न; मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेशनोद्गमनस्य दर्शनात्। एवं ह्याम्नायते—'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः', 'स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते' (श० ब्रा० १०।३।३।६) इति। प्रत्यक्षं चैतत्,-स्वापकाले प्राणवृत्तावपरिलुप्यमानायामिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते, प्रबोधकाले च पुनः प्रादुर्भवन्तीति। इन्द्रियसारत्वाच्च भूतानामविरुद्धो मुख्ये प्राणेऽपि भूतसंवेशनोद्गमनवादी वाक्यशेषः। अपि चादित्योऽन्नं चोद्गीथप्रतिहारयोर्देवते प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्यानन्तरं निर्दिश्येते।

भामती

विति कोऽधिकरणान्तरस्यारम्भार्थः ? तत्रोच्यते—

अर्थे श्रुत्येकगम्ये हि श्रुतिमेवाद्रियामहे।
मानान्तरावगम्ये तु तद्वशात् व्यवस्थितिः॥

ब्रह्मणो वा सर्वभूतकारणत्वमाकाशस्य वा वाय्वादिभूतकारणत्वं प्रति नागमादृते मानान्तरं प्रभवति। तत्र पौर्वापर्य्यपर्य्यालोचनया यत्रार्थे समञ्जस आगमः स एवार्थस्तस्य गृह्यते, त्यज्यते चेतरः। इह तु संवेशनोद्गमने भूतानां प्राणं प्रत्युच्यमाने किं ब्रह्म प्रत्युच्येते आहो वायुविकारं प्रतीति विशये 'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति' इत्यादिकायाः श्रुतेः सर्वभूतसारेन्द्रियसंवेशनोद्गमनप्रतिपादनद्वारा सर्वभूतसंवेशनोद्गमनप्रतिपादिकाया मानान्तरानुग्रहलब्धसामर्थ्याया बलात्संवेशनोद्गमने वायुविकारस्यैव प्राणस्य, न ब्रह्मणः। अपि चात्रोद्गीथप्रतिहारयोः सामभक्त्योर्ब्रह्मणोऽन्ये आदित्यश्चान्नं च देवते अभिहिते कार्यकरणसङ्घातरूपे, तत्साहचर्यात् प्राणोऽपि कार्यकरणसङ्घातरूप एव देवता भवितुमर्हति। निरस्तोऽप्ययमर्थ ईक्षत्यधिकरणे पूर्वोक्तपूर्वपक्षहेतूपोद्बलनाय पुनरुपन्यस्तः। तस्माद्वायुविकार

भामती-व्याख्या

धर्म) कीर्तित होने के कारण प्रक्रान्त प्राण भी ब्रह्म ही है। यदि यही मान लिया जाय, तब पूर्वोक्त आकाशाधिकरण से ही यह अधिकरण गतार्थ हो जाता है, अधिकरणान्तर के आरम्भ का क्या प्रयोजन ? अतः हमारा कहना है—

अर्थे श्रुत्येकगम्ये हि श्रुतिमेवाद्रियामहे।
मानान्तरावगम्ये तु तद्वशात् तद्व्यवस्थितिः॥

अर्थात् ब्रह्म की सर्वभूत-कारणता और आकाशगत केवल वाय्वादि की कारणता श्रुत्येकसमधिगम्य है, प्रमाणान्तर के द्वारा अवगत नहीं, अतः ऐसे स्थल पर पौर्वापर्य-विचार से शास्त्र जिस पक्ष में समञ्जस (संगत) होता है, वही पक्ष उपादेय और पक्षान्तर त्याज्य होता है। किन्तु यहाँ जो समस्त भूतों का प्रवेश और उद्गमन कहा गया है– "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" (छां. १।११।४,५), वह प्रवेश और उद्गमन शरीरगत वायुरूप प्राण के प्रति कहा जाता है ? अथवा ब्रह्म के प्रति ? इधर हम प्रत्यक्षरूप प्रमाणान्तर के द्वारा सुषुप्ति काल में देखते हैं कि भूतों के सारभूत इन्द्रियों का वायुविकारात्मक प्राण में होता है और जागने पर प्राणों से ही उनका निर्गमन होता है, अतः यह निश्चित हो जाता है कि उक्त श्रुति का उपोद्बलक यही प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसके आधार पर सर्व भूतों का प्रवेशाप्रवेश शरीरस्थ वायुरूप प्राण में ही स्थिर होता है, ब्रह्म में नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि यहाँ उद्गीथ और प्रतिहाररूप साम-भागों के ब्रह्म से भिन्न आदित्य और अन्न देवता बताए गए हैं, जो कि कार्य-करण-संघातरूप (शरीरधारी) है। उनके सहचार से प्राण भी कार्यकरण-संघातरूप ही होना चाहिए। यद्यपि ईक्षत्यधिकरण

नच तयोर्ब्रह्मत्वमस्ति, तत्सामान्याच्च प्राणस्यापि न ब्रह्मत्वमित्येवं प्राप्ते सूत्रकार आह—

'अत एव प्राणः' इति। 'तल्लिङ्गाद्' इति पूर्वसूत्रे निर्दिष्टम्। अत एव तल्लिङ्गात्प्राणशब्दमपि परं ब्रह्म भवतुमर्हति। प्राणस्यापि हि ब्रह्मलिङ्गसंबन्धः श्रूयते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' (छा० १।११।५) इति। प्राणनिमित्तौ सर्वेषां भूतानामुत्पत्तिप्रलयावुच्यमानौ प्राणस्य ब्रह्मतां गमयतः।

ननूक्तं—मुख्यप्राणपरिग्रहेऽपि संवेशनोद्गमनदर्शनमविरुद्धं, स्वापप्रबोधयोर्दर्शनादिति। अत्रोच्यते—स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेव केवलानां प्राणाश्रयं संवेशनोद्गमनं दृश्यते, न सर्वेषां भूतानाम्। इह तु सेन्द्रियाणां सशरीराणां च जीवाविष्टानां

भामती

एवात्र प्राणशब्दार्थ इति प्राप्तम्।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—पुंवाक्यस्य बलीयस्त्वं मानान्तरसमागमात्।

अपौरुषेये वाक्ये तत्सङ्गतिः किं करिष्यति॥

नो खलु स्वतःसिद्धप्रमाणभावमपौरुषेयं वचः स्वविषयज्ञानोत्पादे वा तद्व्यवहारे वा मानान्तरमपेक्षते। तस्यापौरुषेयस्य निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य स्वत एव निश्चायकत्वात्। निश्चयपूर्वकत्वाद् व्यवहारप्रवृत्तेः। तस्मादसंवादिनो वा चक्षुष इव रूपे त्वगिन्द्रियसंवादिनो वा तस्यैव द्रव्ये नादार्ढ्यं दार्ढ्यं वा। तेन स्तामिन्द्रियमात्रसंवेशनोद्गमने वायुविकारे प्राणे, सर्वभूतसंवेशनोद्गमने तु न ततो

भामती-व्याख्या

में इस जड़कारणतावाद का भी खण्डन किया जा चुका है, तथापि पूर्वपक्ष के हेतु का उपोद्बलन और प्रकारान्तर से उपन्यास करने के लिए फिर वही कह दिया गया है। फलतः शरीरगत वायु ही यहाँ प्राण शब्द का अर्थ है।

सिद्धान्त—उक्त पक्ष का निरास करने के लिए कहा जाता है—

पुंवाक्यस्य बलीयस्त्वं मानान्तरसमागमात्।

अपौरुषेये वाक्ये तत्संगतिः किं करिष्यति॥

[पुरुष-रचित वाक्यों का प्रामाण्य प्रमाणान्तर के संवाद पर निर्भर होता है, अतः उनके लिए अवश्य यह कहा जा सकता है कि प्रमाणान्तर से संवादित वाक्य उस पौरुषेय वाक्य से प्रबल होता है, जो प्रमाणान्तर से समर्थित नहीं होता किन्तु] अपौरुषेय वाक्यों का प्रामाण्य प्रमाणान्तर-सापेक्ष न होकर स्वतः सिद्ध होता है, अपौरुषेय वाक्य न तो स्वविषय के ज्ञानोत्पादन में प्रमाणान्तर की अपेक्षा करता है और व्यवहाररूप अर्थ क्रिया के उत्पादन में। अपौरुषेय वाक्यों में किसी प्रकार के भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और लिप्सादि दोषों की सम्भावना ही नहीं कि उनकी निवृत्ति के लिए उसको प्रमाणान्तर की अपेक्षा हो। वह स्वतः (अन्य-निरपेक्ष होकर) ही अपने विषय का निश्चायक होता है, निश्चय-पूर्वक व्यवहार में प्रवृत्ति होती है। जैसे चक्षु का रूप-ग्रहण में प्रमाणान्तर का संवाद नहीं होता, एतावता रूप-ग्रहण में अदाढर्य नहीं आता और चक्षु का ही घटादि द्रव्य के ग्रहण में त्वगिन्द्रिय का संवाद मिल जाने पर भी द्रव्य-ग्रहण में किसी प्रकार का दाढर्य नहीं माना जाता, वैसे ही अपौरुषेय वाक्य के द्वारा धर्मादि-ज्ञान के उत्पादन में प्रमाणान्तर का संवाद न होने के कारण धर्मादि-ज्ञान में किसी प्रकार का अदाढर्य और सुषुप्त्यवस्थ प्राण में इन्द्रियों का प्रवेश और निर्गमन प्रमाणान्तर (प्रत्यक्ष) से संवादित होने पर भी प्रवेशाप्रवेश-ज्ञान में किसी प्रकार की विशेषता या दृढता नहीं मानी जाती। प्रत्यक्षावगत केवल इन्द्रियों का प्रवेश और निर्गमन भले ही शरीरस्थ वायुरूप प्राण में रहे, श्रुत्यभिहित समस्त भूतों का संवेशन और

भूतानां, 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' (छा० १।११।५) इति श्रुतेः। यदापि भूतश्रुतिर्महाभूतविषया परिगृह्यते, तदापि ब्रह्मलिङ्गत्वमविरुद्धम्। ननु सहापि विषयैरिन्द्रियाणां स्वापप्रबोधयोः प्राणेऽप्ययं प्राणाच्च प्रभवं शृणुमः—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' (कौ० ३।३) इति। तत्रापि तल्लिङ्गात्प्राणशब्दं ब्रह्मैव। यत्पुनरुक्तम्—अन्नादित्यसंनिधानात्

भामती

वाक्यात्प्रतीयेते, प्रतीतौ वा तत्रापि प्राणो ब्रह्मैव भवेन्न वायुविकारः। 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इत्यत्र वाक्ये यथा प्राणशब्दो ब्रह्मवचनः। न चास्मिन् वायुविकारे सर्वेषां भूतानां संवेशनोद्गमने मानान्तरेण दृश्येते। न च मानान्तरसिद्धसंवादेन्द्रियसंवेशनोद्गमनवाक्यदार्ढ्यात् सर्वभूतसंवेशनोद्गमनवाक्यं कथञ्चिदिन्द्रियविषयतया व्याख्यानमर्हति, स्वतःसिद्धप्रमाणभावस्य स्वभावदृढस्य मानान्तरानुपयोगात्। न चास्य तेनैकवाक्यता, एकवाक्यतायां वा तदपि ब्रह्मपरमेव स्यादित्युक्तम्। इन्द्रियसंवेशनोद्गमनं त्ववयुत्यानुवादेनाऽपि घटिष्यते। 'एकं वृणीते द्वौ वृणीते' इतिवत्।

भामती-व्याख्या

उद्गमन तो प्राणों में नहीं देखा जाता। यदि माना जाता है, तब उस प्राण को भी ब्रह्म वैसे ही मानना होगा, वायुविकार नहीं, जैसे "यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधाभवति" (कौ. उ. ३।३) इस वाक्य में प्राण शब्द ब्रह्मपरक है। वायु-विकाररूप प्राण में न तो सभी भूतों का प्रवेश प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से देखा जाता है, और न उससे उनका निर्गमन।

शङ्का—प्राण में इन्द्रियों का प्रवेशाप्रवेश प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से संवादित होने के कारण ऐसे श्रुति-वाक्य का प्रामाण्य दृढ़ हो जाता है। उसके अनुरोध पर सर्वभूत-प्रवेशाप्रवेश के प्रतिपादक श्रुति-वाक्य का तात्पर्य इन्द्रियों के प्रवेश और निर्गमन में क्यों न मान लिया जाय?

समाधान—यह कहा जा चुका है कि वेद का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, प्रमाणान्तर के संवाद से उसमें किसी प्रकार की दृढता नहीं आती। अदृढ़ प्रामाण्य की दृढ़ता के सम्पादन में प्रमाणान्तर का संवाद उपयोगी हो सकता है, किन्तु वेद-वाक्य-जन्य ज्ञान का प्रामाण्य स्वभावतः दृढ़ होता है, अतः वहाँ प्रामाणान्तर के संवाद का वैसे ही कोई उपयोग नहीं, जैसे क्षुर की तीक्ष्णतम धार पर शाण-प्रयोग।

दूसरी बात यह भी है कि एकवाक्यतापन्न उपक्रम के अनुरोध पर उपसंहार का संकोच माना जाता है। प्रकृत में इन्द्रियों के प्रवेश और उद्गमन का प्रतिपादक "यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राणे एकधा भवति" (कौ. उ. ३।३) यह वाक्य संवर्ग विद्या में और सर्वभूत-प्रवेश-प्रतिपादक "सर्वाणि ह वा" (छां. १।११।४) यह वाक्य उद्गीथोपासना के प्रकरण में पठित है, अतः उनकी एकवाक्यता सम्भावित ही नहीं कि उपक्रम के अनुरोध पर उपसंहार की व्याख्या या संगमनिका की जाय। जिस वाक्य की एकवाक्यता मानी जाती है, उसका भी ब्रह्म में ही तात्पर्य पर्यवसित होता है—यह कहा जा चुका है। इन्द्रियों के संवेशन और निर्गमन का अन्वय अवयुत्यवाद की रीति से उपपन्न हो जायगा। [श्रीशबरस्वामी कहते हैं—"यत्र परा संख्या कीर्त्यते, तत्रावयुत्यवादो भवति, यथा द्वादशकपाले यदष्टाकपालो भवति" (जै. सू. १।४।३५)। पुत्रोत्पत्ति होने पर वैश्वानरेष्टि की जाती है, उसका विधायक वाक्य है—"वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपतेत् पुत्रे जाते। यदष्टाकपालो भवति गायत्रियैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, यन्नवकपालः त्रिवृतैवास्मिन् तेजो दधाति" (तै. सं.

प्राणस्याब्रह्मत्वमिति—'तदयुक्तम्, वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायां संनिधानस्याकिंचित्करत्वात्। यत्पुनः प्राणशब्दस्य पञ्चवृत्तौ प्रसिद्धतरत्वं, तदाकाशशब्दस्येव प्रतिविधेयम्। तस्मात्सिद्धं प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम्।

भामती

न तु सर्वशब्दार्थः सङ्कोचमर्हति। तस्मात् प्रस्तावभक्ति प्राणशब्दाभिधेयब्रह्मदृष्ट्योपासीत, न वायुविकारदृष्ट्येति सिद्धम्। तथा चोपासकस्य प्राणप्राप्तिः कर्मसमृद्धिर्वा फलं भवतीति। ॐवाक्यशेषबलेन इति॥।

भामती—व्याख्या

२।२।५।३)। यहाँ जिज्ञासा होती है कि द्वादशकपाल-संस्कृत पुरोडाशद्रव्यक इष्टि का विधान करने के अनन्तर जो कहा गया है—"यदष्टाकपालो भवति, यन्नवकपालः' इत्यादि, उसका प्रकृत में अन्वय क्योंकर होगा ? इस जिज्ञासा को शान्त करते हुए वार्तिककार कहते हैं—वैश्वानरद्वादशकपालःधिकारे ह्यष्टत्वादय उच्चार्यमाणा स्वरूपेणानुपयुज्यमानाः शक्नुवन्त्यवयवत्वं गमयितुम्" (तं. वा. पृ. १०९९)। द्वादश संख्या की घटकीभूत अष्टत्वादि संख्याएँ है, अतः द्वादश कपालों में संस्कृत पुरोडाश एक ऐसा अवयवी पदार्थ है, जिसके अष्टादिकपाल-संस्कृत पुरोडाश अवयव है, अतः अवयव-स्तुति के द्वारा अवयवी की स्तुति यहाँ विवक्षित है। वैसे ही ब्रह्म में सर्वभूतों का विलय और उद्भव होने से उनके अवयवभूत इन्द्रियादि का विलय और उद्भव अर्थ-प्राप्त है। उसी का अवयुत्य (विच्छिद्य) एकवाक्यता मानकर उत्थापित आकांक्षा के द्वारा स्वतन्त्रतया अन्वयाभिधान अवयुत्यवाद है। 'अवयुत्यानुवाद'—ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है, उसका भी यही आशय है कि ब्रह्म में जब सर्वभूतों का प्रवेशाप्रवेश अभिहित है, तब सर्व की घटकीभूत इन्द्रियादि प्रत्येक इकाई के अर्थ-प्राप्त प्रवेशाप्रवेश का अनुवाद इस वाक्य से विवक्षित है]। अवयुत्यवाद का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीशबरस्वामी (जै.सू. ६।१।४३ में) कहते हैं–'त्रीन् वृणीते इति त्रित्वं विधास्यति, एकं वृणीते इत्यवयुत्यानुवादोऽयम्' (शा. भा. पृ. १३८४)। प्रायः सभी वैदिक कर्मों के आरंभ में जो संकल्प किया जाता है उसमें कर्त्ता पुरुष अपना नाम, गोत्र और प्रवर का उच्चारण करता हुआ प्रतिज्ञा करता है, जैसे—'अहं देवदत्तनामा, भारद्वाजगोत्रः, आङ्गिरसबार्हस्पत्यभारद्वाजाख्यत्रिप्रवरः एतत्कर्म करिष्ये'। किसी गोत्र में उत्पन्न हुए मन्त्र-द्रष्टा महर्षियों को प्रवर कहते हैं, किस गोत्र में कितने प्रवर हैं—यह प्रवराध्यायादि में वर्णित है। तीन प्रवरवाले व्यक्ति का श्रौतकर्म में अधिकार है—"त्रीन् प्रवरान् वृणीते"। त्रिप्रवरता की प्रशंसा के लिए कहा गया है—"एकं वृणीते, द्वौ वृणीते"। 'शते पञ्चाशत्'— इस न्याय के अनुसार तृत्व के द्वित्व और एकत्व घटक हैं, अतः जैसे अवयवों के द्वारा अवयवी की स्तुति यहाँ की जाती है, वैसे ही प्रकृत में इन्द्रियादि के प्रवेशन और निर्गमन के द्वारा समस्त भूतों के प्रवेशन और निर्गमन की स्तुति अभिवाञ्छित है। 'सर्व' शब्द का संकुचित अर्थ में तात्पर्य कभी निश्चित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि प्राणशब्दाभिधेय ब्रह्म की दृष्टि (भावना) से साम के प्रस्तावरूप भाग की उपासना करनी चाहिए, शरीरस्थ वायुरूप प्राण की दृष्टि से नहीं। इस प्रकार की उपासना का फल है—प्राण-प्राप्ति या कर्म की समृद्धि, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—'प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारभक्तीः प्राणादित्यान्नदृष्ट्योपासीतेति समुदायार्थः। प्राणाद्यापत्तिः कर्मसमृद्धिर्वा फलम्" (छां० पृ० ७१)। भाष्यकार कहते हैं—'यत्पुनरुक्तमन्नादित्यसन्निधानात् प्राणस्याब्रह्मत्वमिति, तदयुक्तम्, वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायां सन्निधानस्याकिञ्चित्करत्वात्" (ब्र. सू. १।१।२३)। यहाँ 'वाक्यशेष' शब्द

अत्र केचिदुदाहरन्ति—'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८), 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२ । इति च—तदयुक्तम्, शब्दभेदात्प्रकरणाच्च संशयानुपपत्तेः । यथा पितुः पितेति प्रयोगेऽन्यः पिता षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्यः प्रथमानिर्दिष्टः पितुः पितेति गम्यते, तद्वत् 'प्राणस्य प्राणम्' इति शब्दभेदात्प्रसिद्धात्प्राणादन्यः प्राणस्य प्राण इति निश्चीयते । न हि स एव तस्येति भेदनिर्देशार्हो भवति । यस्य च प्रकरणे यो निर्दिश्यते नामान्तरेणापि स एव तत्र प्रकरणी निर्दिष्ट इति गम्यते । यथा ज्योतिष्टोमाधिकारे—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्यत्र ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयो भवति, तथा परस्य ब्रह्मणः प्रकरणे 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२) इति श्रुतः प्राणशब्दो वायुविकारमात्रं कथमवगमयेत् ? अतः संशयाविषयत्वान्नैतदुदाहरणं युक्तम् । प्रस्तावदेवतायां तु प्राणे संशयपूर्वपक्षनिर्णया उपपादिताः ॥ २३ ॥

भामती

वाक्यात् सन्निधानं दुर्बलमित्यर्थः । उदाहरणान्तरन्तु निगदव्याख्यातेन भाष्येण दूषितम् ॥ २३ ॥

भामती—व्याख्या

का अर्थ है—ब्रह्मलिङ्गक उपक्रम की एकवाक्यता । 'एकवाक्यता' शब्द से वाक्य प्रमाण विवक्षित है और 'सन्निधि' शब्द से स्थान प्रमाण । "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" (जै. सू. ३।३।१३) इस सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि पूर्व-पूर्व प्रमाणों की अपेक्षा उत्तरोत्तर प्रमाण दुर्बल होते हैं, अतः वाक्य की अपेक्षा स्थान का दुर्बल होना स्वाभाविक है, [क्योंकि उत्तरोत्तर प्रमाण पूर्व-पूर्व की कल्पना करके ही विनियोजक माने जाते हैं, वाक्य प्रमाण को अपने पूर्ववर्ती केवल लिङ्ग और श्रुति—इन दो प्रमाणों की कल्पना करनी है और स्थान प्रमाण को 'प्रकरण, वाक्य लिङ्ग और श्रुति'—इन चार प्रमाणों की कल्पना करनी है, अतः कल्पना-लाघव के कारण वाक्य प्रमाण प्रबल और कल्पना-गौरव होने के कारण स्थान प्रमाण दुर्बल होता है, वार्तिककार कहते हैं—"यावदाकांक्षापूर्वकमेकवाक्यत्वादि कल्प्यते तावदितरेणानन्तर्यात् समानविषयत्वाच्च सामर्थ्यादि कल्पयित्वा विनियोगः कृत इति बलीयस्त्वम्" (तं. वा. पृ. ८३९)] ।

इस अधिकरण में वृत्तिकार ने जो "प्राणस्य प्राणम्" (बृह. उ. ४।४।१८) और "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" (छां. ६।८।२) इन दो वाक्यों का उदाहरण प्रस्तुत कर विचार किया है कि यहाँ 'प्राण' शब्द शरीरस्थ वायुरूप प्राण का बोधक है ? अथवा ब्रह्म का ? प्राण-बोधकता का पूर्वपक्ष उठा कर ब्रह्मपरता का सिद्धान्त स्थिर किया है । वह युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उदाहृत दोनों वाक्यों में संशय ही नहीं बनता, 'पितुः पिता'—ऐसे सम्बन्धगर्भित वाक्य-प्रयोग में दोनों पितृपदार्थों की एकता सम्भव नहीं रहती, अत उनका भेद अनिवार्य है । "प्राणस्य प्राणः"—यहाँ षष्ठयन्त प्राणपदार्थ की अपेक्षा प्रथमान्त प्राणपदार्थ भिन्न ही मानना होगा, वह प्रकरण के आधार पर ब्रह्म ही निश्चित होता है, क्योंकि जिसके प्रकरण में जो निर्दिष्ट होता है, वही प्रकरणी पदार्थ ही विभिन्न नामों से विवक्षित होता है । ज्योतिष्टोमसंज्ञक कर्म के प्रकरण में पठित "वसन्ते-वसन्ते ज्योतिषा यजेत"—इस वाक्य में 'ज्योतिः' शब्द जैसे ज्योतिष्टोमपरक होता है, वैसे ही पर ब्रह्म के प्रकरण में पठित "प्राणबन्धनं सोम्य मनः"—इस श्रुति का घटकीभूत 'प्राण' शब्द ब्रह्म का वाचक न होकर वायु-विकारात्मक प्राण का बोधक क्योंकर होगा ? अतः जिस वाक्य में

(१० ज्योतिश्चरणाधिकरणम् । सू० २४–२७)

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

इदमामनन्ति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतःपृष्ठेषु सर्वतःपृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा० ३।१३।७) इति । तत्र संशयः– किमिह ज्योतिःशब्देनादित्यादिकं ज्योतिरभिधीयते किंवा परमात्मेति । अर्थान्तरविषयस्यापि शब्दस्य तल्लिङ्गाद् ब्रह्मविषयत्वमुक्तम् , इह तु तल्लिङ्गमेवास्ति नास्तीति विचार्यते ।

भामती

इदमामनन्ति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' इति । यज्ज्योतिरतो दिवो द्युलोकात्परं दीप्यते प्रकाशते विश्वतः पृष्ठेषु विश्वेषामुपरि । असङ्कुचद्वृत्तिरयं विश्वशब्दोऽनवयवेन संसारमण्डलं ब्रूत इति दर्शयितुमाह * सर्वतः पृष्ठेषूत्तमेषु * । न चेदमुत्तममात्रमपि तु सर्वोत्तममित्याह * अनुत्तमेषु * । नास्त्येभ्योऽन्य उत्तम इत्यर्थः । 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन् पुरुषेऽन्तर्ज्योतिस्त्वग्ग्राह्येण शारीरेणोष्मणा श्रोत्रग्राह्येण च पिहितकर्णेन पुंसा घोषेण लिङ्गेनानुमीयते' । तत्र शारीरस्योष्मणस्त्वचा दर्शनं दृष्टिः, घोषस्य च श्रवणं श्रुतिः, तयोश्च दृष्टिश्रुती ज्योतिष एव, तल्लिङ्गेन तदनुमानादिति ।

अत्र संशयः—किं ज्योतिःशब्दं तेज उत ब्रह्मेति ? किं तावत् प्राप्तं ? तेज इति । कुतः ? गौण-

भामती–व्याख्या

अधिकरणार्थ का प्रमुख अङ्गीभूत संशय पदार्थ ही सम्भव नहीं, वह उस अधिकरण का विषय वाक्य कैसे हो सकेगा ? साम के प्रस्तावरूप भाग में अनुगत प्राणरूप देवता को विषय बनाने पर संशय, पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्त का उपपादन किया जा चुका है, अतः "कतमा सा देवता, प्राण इति होवाच" (छां. १।११।५) यह वाक्य ही यहाँ विषय-वाक्य बन सकता है ॥ २३ ॥

विषय-वाक्य—"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतःपृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः" (छां. ३।१३।७) । यहाँ 'परः' शब्द को 'ज्योतिः' पद के अनुसार नपुंसक लिङ्ग में परिवर्तित कर 'यदतो दिवः परं ज्योतिर्दीप्यते' ऐसा अन्वय कर लेना चाहिए । जो ज्योतिः इस स्वर्ग लोक में परे प्रकाशमान है । 'विश्वतः पृष्ठेषु' का ही अर्थ किया गया है—'सर्वतः पृष्ठेषु' । 'विश्व' शब्द का अर्थ समस्त या सर्व होता है, उस सर्वार्थ में ब्रह्म भी आ जाता है किन्तु ब्रह्मज्योतिः ब्रह्म के ऊपर नहीं हो सकती । 'विश्व' शब्द की वृत्ति (शक्ति) का संकोच करके ब्रह्म-भिन्न संसार-मण्डल किया जा सकता । तथापि 'विश्व' शब्द का तात्पर्य सामस्त्येन प्रकाश्यभूत संसार-मण्डल के अभिधान में ही है, यह दिखाने के लिए 'विश्वतः' का पर्याय सर्वतः दिया गया है, अतएव भाष्यकार ने कहा है—"संसार एव हि सर्वः' (छां. पृ. १६५) । यह ज्योति केवल उत्तम ही नहीं, अपितु सर्वोत्तम है—यह सूचित करने के लिए 'अनुत्तमेषु' कहा गया है । 'अनुत्तम' शब्द में 'नास्त्येभ्योऽन्य उत्तमः'—इस प्रकार बहुव्रीहि समास विवक्षित है, 'नोत्तमा अनुत्तमाः तेषु'—ऐसा तत्पुरुष नहीं, भाष्यकार कहते हैं—"अनुत्तमेषु तत्पुरुषसमासाशङ्कानिवृत्तय आह उत्तमेषु लोकेष्विति" (छां. पृ. १६५) । उसी ब्रह्मज्योति की शरीरस्थता दिखाने के लिए कहा है—'इदं वाव' । 'इदं वाव' का अर्थ है–इदमेव । शरीर में त्वगिन्द्रिय-ग्राह्य ऊष्णता और ढके हुए श्रोत्र से ग्राह्य घोष (अन्तर्नाद) के द्वारा वही ज्योति अनुमित होती है ।

संशय—उदाहृत श्रुति में 'ज्योतिः' शब्द तेजो द्रव्य का बोधक है ? अथवा ब्रह्म का ?

किं तावत्प्राप्तम् ? आदित्यादिकमेव ज्योतिःशब्देन परिगृह्यत इति। कुतः ? प्रसिद्धेः। तमो ज्योतिरिति हीमौ शब्दौ परस्परप्रतिद्वन्द्विविषयौ प्रसिद्धौ। चक्षुर्वृत्ते-र्निरोधकं शार्वरादिकं तम उच्यते। तस्या एवानुग्राहकमादित्यादिकं ज्योतिः। तथा 'दीप्यते' इतीयमपि श्रुतिरादित्यादिविषया प्रसिद्धा। नहि रूपादिहीनं ब्रह्म 'दीप्यते' इति मुख्यां श्रुतिमर्हति। द्युमर्यादत्वश्रुतेश्च। नहि चराचरबीजस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य द्यौर्मर्यादा युक्ता, कार्यस्य तु ज्योतिषः परिच्छिन्नस्य द्यौर्मर्यादा स्यात्। 'परो दिवो ज्योतिः' इति च ब्राह्मणम्।

ननु कार्यस्यापि ज्योतिषः सर्वत्र गम्यमानत्वाद् द्युमर्यादावत्त्वमसमञ्जसम्। अस्तु तर्ह्यत्रिवृत्कृतं तेजः प्रथमजम्। न; अत्रिवृत्कृतस्य तेजसः प्रयोजनाभावादिति। इदमेव प्रयोजनं यदुपास्यत्वमिति चेत्, न; प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवादित्यादेरुपास्य-त्वदर्शनात्। 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६।३।२) इति चाविशेष-श्रुतेः। नचात्रिवृत्कृतस्यापि तेजसो द्युमर्यादत्वं प्रसिद्धम्। अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तत्तेजो ज्योतिःशब्दम्। ननूक्तमर्वागपि दिवोऽवगम्यतेऽग्न्यादिकं ज्योतिरिति। नैष दोषः; सर्वत्रापि गम्यमानस्य ज्योतिषः 'परो दिवः' इत्युपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते। न तु निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना भागिनी। 'सर्वतःपृष्ठेष्व-नुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु' इति चाधारबहुत्वश्रुतिः कार्ये ज्योतिष्युपपद्यतेतराम्। 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा० ३।१३।७) इति च कौक्षेये ज्योतिषि परं ज्योतिरध्यस्यमानं दृश्यते। सारूप्यनिमित्ताश्चाध्यासा भवन्ति। यथा—'तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरम्' (बृ० ५।५।३) इति। कौक्षेयस्य तु ज्योतिषः प्रसिद्धम-ब्रह्मत्वम्; 'तस्यैषा दृष्टिः' (छा० ३।१३।७) 'तस्यैषा श्रुतिः' इति चौष्ण्यघोषविशिष्ट-

---

भामती

मुख्यग्रहणविषये मुख्यग्रहणस्य—

औत्सर्गिकत्वाद्वाक्यस्थतेजोलिङ्गोपलम्भनात्।

वाक्यान्तरेणानियमात्तदर्थाप्रतिसन्धितः ॥

बलवद्बाधकोपनिपातेन खल्वाकाशप्राणशब्दौ मुख्यार्थत्वात् प्रच्याव्यान्यत्र प्रतिष्ठापितौ। तदिह ज्योतिष्पदस्य मुख्यतेजोवचनत्वे बाधकस्तावत् स्ववाक्यशेषो नास्ति। प्रत्युत तेजोलिङ्गमेव दीप्यत इति।

भामती—व्याख्या

पूर्वपक्ष—यहाँ 'ज्योतिः' शब्द गौणी वृत्ति से ब्रह्म का उपस्थापक हो सकता है, किन्तु "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" (परिभाषेन्दु. पृ ६८) इस न्याय के अनुसार शब्द की मुख्य (अभिधा) वृत्ति के द्वारा उपस्थापित पदार्थ का पहले ग्रहण किया जाता है–

औत्सर्गिकत्वाद् वाक्यस्थतेजोलिङ्गोपलम्भनात्।

वाक्यान्तरेणानियमाद् अर्थाप्रतिसन्धितः ॥

विगत अधिकरणों में प्रबल बाधक के उपस्थित हो जाने के कारण 'आकाश' और 'प्राण'—इन दोनों शब्दों के द्वारा उनके मुख्यार्थ का ग्रहण न कर गौणार्थ का उपस्थापन किया गया, किन्तु यहाँ 'ज्योतिः' पद के द्वारा तेजोद्रव्यरूप मुख्यार्थ की उपस्थिति कराने में कोई बाधक वाक्य-शेषादि नहीं, प्रत्युत तेजोद्रव्य का लिङ्ग (गमक) 'दीप्यते' पद से प्रस्तुत किया गया है, "इदं वाव तद् यदिदमेतस्मिन् पुरुषे ज्योतिः" (छां. ३।१३।७) इस श्रुति के द्वारा कुक्षिस्थ भौतिक ज्योति में उक्त ज्योति का सारूप्यमूलक अध्यास भी यह सिद्ध करता है कि कथित ज्योति तेजोद्रव्य ही है, ब्रह्मज्योति नहीं। दूसरी बात यह भी है कि "तदेतद्

त्वस्य श्रवणात् । 'तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति च श्रुतेः । 'चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद' (छा० ३।१३।८) इति चाल्पफलश्रवणादब्रह्मत्वम् । महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते । नचान्यदपि किंचित्स्ववाक्ये प्राणाकाशवज्ज्योतिषोऽस्ति ब्रह्मत्वलिङ्गम् । नच पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टमस्ति; 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्'

भामती

कौक्षेयज्योतिःसारूप्यं च चक्षुषो रूपवान् श्रुतो विश्रुतो भवतीत्यल्पफलत्वं च स्ववाक्ये श्रूयते । न जातु ज्वलनापरनामा दीप्तिर्विना तेजो ब्रह्मणि सम्भवति । न कौक्षेयज्योतिःसारूप्यमृते बाह्यात्तेजसो ब्रह्मण्यस्ति । न चौष्ण्यघोषलिङ्गदर्शनश्रवणमौदर्य्यात्तेजसोऽन्यत्र ब्रह्मण्युपपद्यते । न च महाफलं ब्रह्मोपासनमणीयसे फलाय कल्पते । औदर्य्यं तु तेजस्यध्यस्य बाह्यं तेज उपासनमेतत्फलानुरूपं युज्यते । तदेतत्तेजोलिङ्गम् । एतदुपोद्बलनाय च निरस्तमपि मर्य्यादाधारवत्त्वमुपन्यस्तम् । इह तन्निरासकारणाभावात् । न च मर्य्यादावत्त्वं तेजोराशेर्न सम्भवति, तस्य सौर्य्यादिः सावयवत्वेन तदेकदेशमर्य्यादासम्भवात् । तस्य चोपास्यत्वेन विधानात् । ब्रह्मणस्त्वनवयवस्यावयवोपासनानुपपत्तेः । अवयवकल्पनायाश्च सत्यां गतावनवकल्पनात् । न च 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति ब्रह्मप्रतिपादकं वाक्यान्तरं यदतः परो दिवो ज्योतिरिति ज्योतिःशब्दं ब्रह्मणि व्यवस्थापयतीति युक्तम् । न हि सन्निधानमात्राद् वाक्यान्तरेण वाक्यान्तरगता श्रुतिः शक्या मुख्यार्थाच्च्यावयितुम् ।

न च वाक्यान्तरेऽधिकरणत्वेन द्यौः श्रुता दिव इति मर्य्यादाश्रुतौ शक्या प्रत्यभिज्ञातुम् । अपि च वाक्यान्तरस्यापि ब्रह्मार्थत्वं प्रसाध्यमेव नाद्यापि सिध्यति तत् कथं तेन नियन्तुं ब्रह्मपरतया यदतः पर इति

भामती–व्याख्या

दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत" । "चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद" (छां. ३।१३।८) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा इस उपासना का फल केवल चक्षुष्य (दर्शनीय) रूपवान् और लोक-प्रसिद्धिरूप स्वल्प फल का प्रतिपादन किया गया है, जो कि ब्रह्मोपासना का कदापि नहीं हो सकता, हाँ, उदरस्थ तेज में अध्यस्त बाह्य तेजो धातु की उपासना का यह फल हो सकता है। फलतः ऐसे स्वल्प फल का प्रतिपादन तेजस्तत्त्व की उपासना का लिङ्ग (गमक) है। इसी लिङ्ग की पुष्टि के लिए ही अनुकूल तर्क के रूप में "दिवः परम्" ऐसी मर्यादा और "सर्वतः पृष्ठेषु"—इत्यादि आधार-बहुत्व का अभिधान किया गया है। यद्यपि विगत अन्तरधिकरण में आदित्यादि ज्योतिगत मर्यादावत्त्वादि का निरास किया गया है, तथापि यहाँ उसके निरास का अप्राप्तिरूप निमित्त प्राप्त न होने के कारण मर्यादादि का निरास नहीं किया जा सकता। तेजःसमूह में मर्यादावत्त्व सम्भव नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सौर्यादि तेजोमण्डल सावयव है, अतः ऊर्ध्वस्थ तेज द्युलोक से नीचे न होकर ऊपर ही रहता है। मर्यादावत्त्व का वस्तुतः निर्देश न होकर उपासना के लिए विधान किया गया है। ब्रह्म निरवयव होने के कारण उसमें अवयवशः उपासना नहीं बन सकती। ब्रह्म में अवयव-कल्पना तभी हो सकती है, जब कि अन्य कोई गति (उपाय या मार्ग) न हो किन्तु सावयव तेजो धातु की उपासना मान लेने से ब्रह्मगत अवयव-कल्पना की आवश्यकता नहीं रह जाती।

शङ्का—"पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छां. ३।१२।६) इस वाक्यान्तर में स्पष्टरूप से ब्रह्म का प्रतिपादन है, क्योंकि त्रिपादरूप विशुद्ध चरण का अभिधान है, उस वाक्य की सन्निधि के बल पर "यदतः परो दिवो ज्योतिः" (छां. ३।१३।७) इस वाक्य का 'ज्योतिः' पद ब्रह्मपरक सिद्ध किया जा सकता है।

समाधान—केवल वाक्यान्तर की सन्निधि के बल पर वाक्यान्तरस्थ पद को अपने मुख्य (अभिधेय) अर्थ के अवबोधन से विरत नहीं किया जा सकता। "त्रिपादस्यामृतं

इति छन्दोनिर्देशात् । अथापि कथंचित्पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टं स्यात्, एवमपि न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्ति । तत्र हि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा. ३।१२।१,६) इति द्यौरधिकरणत्वेन श्रूयते, अत्र पुनः 'परो दिवो ज्योतिः' इति द्यौर्मर्यादात्वेन । तस्मात्प्राकृतं ज्योतिरिह ग्राह्यमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

भामती

वाक्यं शक्यम् । तस्मात्तेज एव ज्योतिर्न ब्रह्मेति प्राप्तम् । तेजःकथनप्रस्तावे तमःकथनं प्रतिपक्षोपन्यासेन प्रतिपक्षान्तरे दृढा प्रतीतिर्भवतीत्येतदर्थम् । चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकमित्यर्थावरकत्वेन ।

आक्षेप्ताऽऽह ❀ ननु कार्यस्यापि इति ❀ । समाधातैकदेशी ब्रूते ❀ अस्तु तर्हि इति ❀ । यत्तेजोऽबन्नाभ्यामसंपृक्तं तदत्रिवृत्कृतमुच्यते । आक्षेप्ता दूषयति ❀ न इति ❀ । न हि तत् क्वचिदप्युपयुज्यते सर्वास्वर्थक्रियासु त्रिवृत्कृतस्यैवोपयोगादित्यर्थः ।

एकदेशिनः शङ्कामाह ❀ इदमेव इति ❀ । आक्षेप्ता निराकरोति ❀ न, प्रयोजनान्तर इति ❀ ।

भामती—व्याख्या

दिवि" (छां. ३।१२।१) इस वाक्य में अधिकरणत्वेन श्रुत द्युलोक की प्रत्यभिज्ञा "परो दिवः" (छां. ३।१३।७) इस वाक्य में नहीं हो सकती, क्योंकि इस वाक्य में द्यु को मर्यादा के रूप में उपस्थित किया गया है, अधिकरण के रूप में नहीं । दूसरी बात यह भी है कि "पादोऽस्य सर्वाभूतानि" (छां. ३।१२।६) इस वाक्य में ब्रह्मपरता अभी तक सिद्ध नहीं हुई, तब इसके अनुरोध पर "अतः परो दिवो ज्योतिः" (छां. ३।१३।१) इस वाक्य में 'ज्योति' शब्द को ब्रह्मार्थक क्योंकर माना जा सकता है ? अतः इस वाक्य में ज्योति पद से भौतिक तेज का ही ग्रहण किया जाता है, ब्रह्म का नहीं ।

भाष्यकार ने जो तेजोराशि की चर्चा के अवसर पर तम (अन्धकार) का उपन्यास किया है—"तमो ज्योतिरिति हीमौ शब्दौ परस्परप्रतिद्वन्द्विविषयौ प्रसिद्धौ ।" उसका उद्देश्य ज्योति-पदार्थ के स्वरूप को निखारना है, क्योंकि प्रतिपक्ष (विरोधी) पदार्थ के निरूपण से उसके विरोधी पदार्थ के स्वरूप की सुदृढ़ प्रतीति होती है, अतः तम के निरूपण से तेज का वैशद्य किया गया है । तम के लिए जो कहा गया है—'चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकम्', उसका तात्पर्य यह नहीं कि तम चाक्षुष वृत्ति का निर्गमन नहीं होने देता, क्योंकि रात्रि के घोर अन्धकार में भी दूरस्थ तारक मण्डल तक नेत्र-वृत्ति जाती है, अतः उक्त भाष्य-वाक्य का आशय यह है कि विषय वस्तु के स्वरूप को आच्छन्न कर अन्धकार चाक्षुष वृत्ति का विषय नहीं होने देता ।

आक्षेपवादी कहता है—"ननु कार्यस्यापि ज्योतिषः सर्वत्र गम्यमानत्वाद् द्युमर्यादावत्त्वमसमञ्जसम् ।" अर्थात् सौर्यादि तेज भी द्युलोक के नीचे सर्वत्र फैला दिखाई देता है, तब उसके लिए द्युलोक के ऊपर ही है'—ऐसा कहना क्योंकर सम्भव होगा ?

समाधान करनेवाला एकदेशी कहता है—"अस्तु तर्हि अत्रिवृत्कृतं तेजः प्रथमजम्" । जो तेज जल और पृथिवी से असम्पृक्त (असम्बद्ध) है, उसे अत्रिवृत्कृत तेज कहा जाता है । पञ्चीकृत तेज के समान त्रिवृत्कृत तेज सर्वत्र प्रसृत होता है, अत्रिवृत्कृत तेज नहीं, वही द्युलोक के अधो भाग में नहीं, अतः उसी का उपास्यत्वेन यहाँ निर्देश किया गया है ।

आक्षेपवादी उक्त कथन का निरास करता है—"न, अत्रिवृत्कृतस्य तेजसः प्रयोजनाभावात् ।।" अर्थात् त्रिवृत्कृत तेज ही प्रकाशनादि रूप अर्थक्रियाकारी या प्रयोजनवान् होता है, अत्रिवृत्कृत तेज अर्थक्रियाकारी न होने से सत् पदार्थ ही नहीं कहा जा सकता, उसकी उपासना भी सप्रयोजन नहीं कही जा सकती ।

ज्योतिरिह ब्रह्म ग्राह्यम्। कुतः? चरणाभिधानात्। पादाभिधानादित्यर्थः।

भामती

एकैकां त्रिवृतंत्रिवृतं करवाणीति तेजःप्रभृत्युपासनामात्रविषया श्रुतिर्न सङ्कोचयितुं युक्तेत्यर्थः। एवमेकदेशिनि दूषिते परमसमाधाता पूर्वपक्षी ब्रूते। ॐ अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव इति ॐ। ॐ भागिनी युक्ता ॐ। यद्यप्याधारबहुत्वश्रुतिर्ब्रह्मण्यपि कल्पितोपाधिनिबन्धना कथञ्चिदुपपद्यते। तथापि यथा कार्ये ज्योतिष्यतिशयेनोपपद्यते न तथाऽत्रेत्यत उक्तम् ॐ उपपद्यतेतराम् इति ॐ। ॐ प्राकृतं ॐ। प्रकृतेर्जातं, कार्यमिति यावत्। एवं प्राप्ते, उच्यते—

सर्वनाम प्रसिद्धार्थं प्रसाध्यार्थविघातकृत्।
प्रसिद्धयपेक्षि सत्पूर्ववाक्यस्थमपकर्षति॥

भामती-व्याख्या

एकदेशी अत्रिवृत्कृत तेज के लिए सप्रयोजनत्व की शङ्का करता है—"इदमेव प्रयोजनं यदुपास्यत्वमिति।" उपासना भी एक प्रयोजन है, जिसको लेकर अत्रिवृत्कृत तेज को सप्रयोजन कहा जा सकता है।

आक्षेपवादी उस प्रयोजनवत्ता का खण्डन करता है—"न प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवादित्यादेरुपास्यत्वदर्शनात्।" जिस पदार्थ की सृष्टि का कुछ प्रयोजन होता है, ऐसी आदित्यादि ज्योति ही उपास्य हो सकती है। अत्रिवृत्कृत तेज की न सृष्टि प्रयोजनवती है और न उपासना। "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां" सामान्यतः 'तेज, जल और पृथिवी'—इन तीनों भूतों के त्रिवृत्करण की प्रतिपादिका है, इस श्रुति का केवल तेजरूप उपास्य मात्र के त्रिवृत्करण में तात्पर्य सीमित करना उचित नहीं।

अत्रिवृत्कृत तेज का पक्ष दूषित हो जाने पर परम समाधाता (पूर्वपक्षी) अपना मन्तव्य प्रस्तुत करता है—"अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तेजः प्रथमजम्"। यद्यपि त्रिवृत्कृत तेज सर्वत्र व्याप्त है, केवल द्युलोक के ऊर्ध्व भाग में सीमित नहीं किया जा सकता, तथापि उपासना के लिए वैसा आरोप मात्र किया जा सकता है, किन्तु ब्रह्म सर्वथा निरवयव है, उसमें वैसी कल्पना भागिनी (युक्ति-युक्त) नहीं। "विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा जो आधार-बहुत्व का प्रतिपादन किया गया है, वह यद्यपि ब्रह्म में भी कल्पित उपाधियों के द्वारा कथञ्चित् उपपन्न हो सकता है, तथापि कार्यात्मक सावयव ज्योति में आधारबहुत्व का सामञ्जस्य सुसंगत और अत्यन्त सरल मार्ग से हो जाता है, भाष्यकार कहते हैं—"आधारबहुत्वश्रुतिः कार्ये ज्योतिषि उपपद्यतेतराम्।"

यह कहा जा चुका है कि विवादास्पद ज्योति में उदरस्थ भौतिक ज्योति का सारूप्य भौतिकत्व-साधक है, उसी के कार्यभूत ऊष्मा और घोष का शरीर में भान होता है, इसकी ही उपासना का चक्षुष्य (दर्शनीयता) जैसा स्वल्प फल माना जा सकता है, "गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्" (छां० ३।१२।१) इस पूर्व के वाक्य में भी ब्रह्म का प्रकरण नहीं, केवल गायत्री छन्द का निर्देश है, अतः प्रकरण को देखते हुए भी ज्योति पद को ब्रह्मपरक नहीं माना जा सकता। पूर्व वाक्य में कथञ्चित् ब्रह्मपरत्व की कल्पना कर लेने पर भी उसकी इस ज्योति-वाक्य में प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। फलतः प्रक्रान्त 'ज्योति' पद प्राकृत (प्रकृति-जनित भौतिक) ज्योति का ही अभिधायक सिद्ध होता है।

सिद्धान्त—

सर्वनाम प्रसिद्धार्थं प्रसाध्यार्थविघातकृत्।
प्रसिद्धयपेक्षि सत् पूर्ववाक्यस्थमपकर्षति॥

पूर्वस्मिन्हि वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम्—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्यनेन मन्त्रेण। तत्र यच्चतुष्पदो ब्रह्मणस्त्रिपादमृतं द्युसंबन्धिरूपं निर्दिष्टं, तदेवेह द्युसंबन्धान्निर्दिष्टमिति

भामती

तद्बलात् तेन नेयानि तेजोलिङ्गान्यपि ध्रुवम्।
ब्रह्मण्येव प्रधानं हि ब्रह्मच्छब्दो न तत्र तु॥

औत्सर्गिकं तावद्यदः प्रसिद्धार्थानुवादकत्वं यद्विधिविभक्तिमप्यपूर्वार्थावबोधनस्वभावात्प्रच्यावयति। यथा यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेदिति। यत्र पुनस्तत्प्रसिद्धमन्यतो न कथञ्चि-दाप्यते, तत्र वचनानि त्वपूर्वत्वादिति सर्वनाम्नः प्रसिद्धार्थत्वं बलादपनीयते। यथा यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवतीति। तदिह यदतः परो दिवो ज्योतिरिति यच्छब्दसामर्थ्याद् द्युमर्यादेनापि ज्योतिषा प्रसिद्धेन भवितव्यम्। न च तस्य प्रमाणान्तरतः प्रसिद्धिरस्ति। पूर्ववाक्ये च द्युसम्बन्धि त्रिपाद् ब्रह्मप्रसिद्धमिति प्रसिद्ध्यपेक्षायां तदेव सम्बध्यते। न च प्रधानस्य प्रातिपदिकार्थस्य तत्त्वेन प्रत्यभिज्ञाने तद्विशेषणस्य

भामती-व्याख्या

तद्बलात् तेन नेयानि तेजोलिङ्गान्यपि ध्रुवम्।
ब्रह्मण्येव प्रधानं हि ब्रह्मच्छब्दो न तत्र तु॥

"यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" (छा० ३।१३।७) इस वाक्य में 'यत्' पद सर्वनाम है, 'सर्वनाम पद प्रसिद्धार्थक होते हैं'—यह एक औत्सर्गिक (स्वाभाविक) नियम है। अतः 'यत्' पद किसी प्रसिद्धार्थ का अनुवादक होता है, अत एव 'यत्' पद लिङादि विधि-विभक्ति से युक्त वाक्य की अज्ञातार्थ-बोधकत्वरूप विधिशक्ति (विधायकता) को नष्ट कर देता है, जैसे—"यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत्", "यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत्" (तै० ब्रा० ३।७।१।७) इत्यादि वाक्यों में विधायकत्व नहीं माना जाता। [श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—

"येषामाख्यातशब्दानां यच्छब्दाद्युपबन्धनात्।
विधिशक्तिः प्रणश्येत्तु ते सर्वत्राभिधायकाः॥" (तं. वा. पृ. ४३३)

'यत्' पद का योग होने के कारण उक्त वाक्यों में "दहेत्" और "आर्च्छेत्"—ये दोनों पद विधायक नहीं माने जाते। यहाँ आदि शब्द से आमन्त्रण विभक्ति, उत्तमपुरुष, यदि शब्दादि का ग्रहण किया जाता है, अतः "अहेर्बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय" (तै. ब्रा. १।२।१।२६), "यदि सोममपहरेयुः" इत्यादि वाक्य विधायक नहीं, 'अनुवादक ही माने जाते हैं]। यदादि पदों का योग रहने पर भी विधीयमान पदार्थ की अन्यतः प्राप्ति नहीं होती, उन वाक्यों में विधायकत्व माना जाता है—"वचनानि त्वपूर्वत्वात् तस्माद्यथोपदेशं स्युः" (जै. सू. ३।४।२१)। अर्थात् यद्यपि यदादि सर्वनाम पद प्रसिद्धार्थ के परामर्शी होते हैं, तथापि जहाँ विधित्सित कर्म की वाक्यान्तर के द्वारा प्राप्ति (ज्ञप्ति) नहीं होती है, वहाँ सर्वनाम पद प्रसिद्धार्थ-परामर्शी नहीं माना जाता और सर्वनाम-घटित वचन को विधायक माना जाता है, जैसे—"यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति" (तै. सं. २।६।३।२) इस वाक्य के द्वारा अमावस्या और पूर्णिमा—दोनों तिथियों में अष्टकपाल-संस्कृत पुरोडाशद्रव्यक कर्म का विधान किया जाता है एवं दूसरे वाक्य के द्वारा हवि का नाशरूप निमित्त प्रस्तुत किया जाता है कि जिस यजमान की सायं और प्रातः दोनों कालों की दूध-दधिरूप दोनों हवियों का नाश हो जाता है, वह अग्निदेव की शान्ति के लिए एक नैमित्तिक कर्म करे। प्रकृत में 'यदतः' इस वाक्य का घटकीभूत 'यत्' पद भी जिस द्युलोक के ऊर्ध्वलोकस्थ ज्योति का कथन करता है, वह भी कहीं प्रसिद्ध (किसी

प्रत्यभिज्ञायते । तत्परित्यज्य प्राकृतं ज्योतिः कल्पयतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम् । न केवलं ज्योतिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः, परस्यामपि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म । तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । यत्तूक्तम्—'ज्योतिर्दीप्यते' इति चैतौ शब्दौ कार्ये ज्योतिषि प्रसिद्धाविति । नायं दोषः; प्रकरणाद्ब्रह्मावगमे सत्य-

भामती

विभक्त्यर्थेऽन्यतामात्रेणान्यता युक्ता । एवं च स्ववाक्यस्थानि तेजोलिङ्गान्यसमञ्जसानीति ब्रह्मण्येव गमयितव्यानि, गमितानि च भाष्यकृता । तत्र ज्योतिर्ब्रह्मविकार इति ज्योतिषा ब्रह्मैवोपलक्ष्यते । अथ वा प्रकाशमात्रवचनो ज्योतिःशब्दः, प्रकाशश्च ब्रह्मणि मुख्यः, इति ज्योतिर्ब्रह्मेति सिद्धम् । ॐ प्रकृतहाना-प्रकृतप्रक्रिये इति ॐ । प्रसिद्ध्यपेक्षायां पूर्ववाक्यगतं प्रकृतं सन्निहितमप्रसिद्धं तु कल्प्यं न प्रकृतम् । अत एवोक्तं ॐ कल्पयत इति ॐ । सन्दंशन्यायमाह ॐ न केवलम् इति ॐ । ॐ परस्यापि ब्रह्मणो नामाविप्रती-

भामती—व्याख्या

समीपस्थ वाक्य में चर्चित) होना चाहिए । आगम को छोड़कर अन्य किसी भी प्रमाण के द्वारा उस ज्योति की प्रसिद्धि नहीं । "पादोऽस्य सर्वा भूतानि" (छां. ३।१२।६) इस पूर्व वाक्य में द्युलोक-सम्बन्धी त्रिपाद ब्रह्म प्रसिद्ध है, अतः उसी का सम्बन्ध "यदतः परो दिवः' इस वाक्य की ज्योति से पर्यवसित हो जाता है । यह जो कहा गया कि पूर्व वाक्य में 'द्यु' शब्द सप्तम्यन्त और इस वाक्य में 'दिवः' यह पञ्चम्यन्त है, अतः दोनों में प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती । वह कहना उचित नहीं, क्योंकि "सत्त्वप्रधानानि नामानि –इस न्याय के अनुसार प्रकृत्यर्थ प्रधान और प्रत्ययार्थ गौण होता है । प्रत्ययार्थ की प्रधानता जो प्रसिद्ध है, वह कृत् और तद्धित प्रत्ययों को ही विषय करती है । द्युरूप प्रधानार्थ की एकता जब प्रत्यभिज्ञात है, तब प्रत्ययार्थरूप गौणार्थ का भेद उसकी एकता को भङ्ग नहीं कर सकता । इसी प्रकार इस वाक्य में 'दीप्यते'—इत्यादि तेज के लिङ्गों का भी सामञ्जस्य ब्रह्मरूप ज्योति में हो जाता है । भाष्यकार ने 'ज्योति' पद से उपलक्षित ब्रह्म में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए कहा है— "दीप्यमानकार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसम्भवात् ।" अथवा 'ज्योतिः' शब्द यहाँ प्रकाशमात्र का वाचक है, प्रकाश है—ब्रह्म, अतः 'ज्योति' पद की प्रधान (अभिधा) वृत्ति ही ब्रह्म से प्रसिद्ध हो जाती है । भाष्यकार ने जो कहा है—"प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम्" । वहाँ प्रसिद्धार्थापेक्षी 'यत्' से घटित "यत्परो दिवः" (छां. ३।१३।७) इस वाक्य के समीप में पठित 'त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छां. ३।१२।६) इस वाक्य की प्रतिपाद्य ब्रह्म वस्तु का 'प्रकृत' पद से ग्रहण किया गया है । उसकी अपेक्षा अप्रसिद्ध पदार्थ कल्पनीय होने के कारण अप्रकृत है, अत एव भाष्यकार ने कहा है—"कल्पयतः" । 'ज्योतिः' पद से ब्रह्म का ग्रहण करने में सन्दंश-न्याय दिखाया गया है—"न केवलं ज्योतिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः, परस्यामपि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म" । आशय यह है कि "त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छां. ३।१२।६) इस पूर्व के एवं शाण्डिल्य ऋषि-द्वारा प्रतिपादित "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छां. ३।१४।१) इस पर वाक्य में जब ब्रह्म ही चर्चित है, तब "यदतः परो दिवो ज्योति" (छां. ३।१३।७) इस मध्यपाती वाक्य में भी 'ज्योतिः' पद से ब्रह्म का ही प्रतिपादन मानना होगा, क्योंकि सन्दंश (सँड़सी) में जकड़ी हुई वस्तु जैसे सँड़सी के दोनों दाँतों से बाहर नहीं जा सकती, सँड़सी को जहाँ भी ले जाया जाय, मध्यपाती वस्तु को वहाँ ही जाना पड़ता है । वैसे ही जब पूर्व और उत्तर वाक्यों में ब्रह्मपरता निश्चित है, तब मध्य वाक्य में भी ब्रह्मपरता माननी होगी ।

नयोः शब्दयोरविशेषकत्वात्। दीप्यमानकार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसंभवात्। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति च मन्त्रवर्णात्। यद्वा,—नायं ज्योतिःशब्दश्चक्षुर्वृत्तेरेवानुग्राहके तेजसि वर्तते; अन्यत्रापि प्रयोगदर्शनात्। 'वाचैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४।३।५), 'मनो ज्योतिर्जुषताम्' (तै० ब्रा० १।६।३।३) इति च। तस्माद्यद्यत्कस्यचिदवभासकं तत्तज्ज्योतिःशब्देनाभिधीयते। तथा सति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यरूपस्य समस्तजगदवभासहेतुत्वादुपपन्नो ज्योतिःशब्दः। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कौ० २।५।१५) 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४।४।१६) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च।

यदप्युक्तं—द्युमर्यादत्वं सर्वगतस्य ब्रह्मणो नोपपद्यत इति। अत्रोच्यते,—सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते। ननूक्तं निष्प्रदेशस्य ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यत इति। नायं दोषः; निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसंबन्धात्प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः। तथा हि—आदित्ये, चक्षुषि, हृदय, इति प्रदेशविशेषसंबन्धीनि ब्रह्मण उपासनानि श्रूयन्ते। एतेन 'विश्वतःपृष्ठेषु' इत्याधारबहुत्वमुपपादितम्। यदप्येतदुक्तं,—औष्ण्यघोषाभ्यामनुमिते कौक्षेये कार्ये ज्योतिष्यध्यस्यमानत्वात्परमपि दिवः कार्यं ज्योतिरेव-इति,—तदप्ययुक्तम्; परस्यापि ब्रह्मणो नामादिप्रतीकत्ववत्कौक्षेयज्योतिःप्रतीकत्वोपपत्तेः। 'दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति तु प्रतीकद्वारकं दृष्टत्वं श्रुतत्वं च भविष्यति। यदप्युक्तमल्पफलश्रवणान्न ब्रह्मेति,-तदनुपपन्नम्।

—भामती

कत्ववद् इति॥। कौक्षेयं हि ज्योतिर्जीवभावेनानुप्रविष्टस्य परमात्मनो विकारः, जीवाभावे देहस्य शैत्यात्, जीवतश्चौष्ण्याज्ज्ञायते। तस्मात्तत्प्रतीकस्योपादानमुपपन्नम्। शेषं निगदव्याख्यातं भाष्यम्॥ २४॥

भामती—व्याख्या

यह जो पूर्वपक्ष की ओर से कहा गया था कि प्रकृत ज्योति को ब्रह्मात्मक नहीं कह सकते, क्योंकि यह उदरस्थ कार्यरूप ज्योति में अध्यस्त मानी गई है, ब्रह्म कहीं पर भी अध्यस्त नहीं हो सकता, अन्यथा उसमें मिथ्यात्व प्रसक्त होगा। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि जैसे अध्यास-स्थल पर 'इदं रजतम्'—ऐसा समानाधिकरणता का व्यवहार होता है, वैसा ही "नाम ब्रह्मेत्युपासते" (छां. ७।१।५) इस प्रकार प्रतीकोपासना-विधायक वाक्यों में भी होता है। अन्य पदार्थ की भावना से अन्य पदार्थ की उपासना को प्रतीकोपासना कहा जाता है, जैसे विष्णु की भावना से पाषाण, ब्रह्म की भावना से नाम या ज्योति आदि की उपासना। फलतः कौक्षेय ज्योति को प्रतीक मान कर ब्रह्म की उपासना हो जाती है। नाम-रूपादि प्रपञ्च ब्रह्म का कार्य होने से ब्रह्म का जैसे प्रतीक होता है, वैसे ही उदरस्थ तेज भी शरीर में जीवभावेन प्रविष्ट ब्रह्म का ही कार्य है, अतः कौक्षेय ज्योति को ब्रह्म का प्रतीक मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं। शरीर में जीव के न रहने पर शरीर शीतल पड़ जाता है और जीव के रहने पर उष्णता रहती है, इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा उदरस्थ तेज को जीव का विकार (कार्य) माना जाता है। शेष भाष्य अत्यन्त सुगम है। ["दृष्टं च श्रुतं च" (छां. ३।१३।८) इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित दृष्टत्व और श्रुतत्व ब्रह्म में साक्षात् नहीं, अपितु कौक्षेय ज्योति के माध्यम से ही सम्भव होता है। यह जो कहा गया कि इस उपासना का 'चक्षुष्यत्व (दर्शनीयत्व) रूप फल अत्यन्त स्वल्प होने के कारण इस उपासना को ब्रह्मोपासना नहीं कह सकते। वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि ब्रह्म की उपासना का 'इतना ही फल है'—ऐसा इयत्ता का अवधारण कहीं नहीं किया गया। वस्तु-स्थिति यह है कि जहाँ

नहि इयते फलाय ब्रह्माश्रयणीयं, इयते नेति नियमहेतुरस्ति। यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसंबन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेनोपदिश्यते, तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते, यत्र तु गुणविशेषसंबन्धं प्रतीकविशेषसंबन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येवोच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते—'अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद' (बृ० ४।४।२४) इत्याद्यासु श्रुतिषु। यद्यपि न स्ववाक्ये किंचिज्ज्योतिषो ब्रह्मत्वलिङ्गमस्ति, तथापि पूर्वस्मिन्वाक्ये दृश्यमानं ग्रहीतव्यं भवति। तदुक्तं सूत्रकारेण—'ज्योतिश्चरणाभिधानाद्' इति। कथं पुनर्वाक्यान्तरगतेन ब्रह्मसंनिधानेन ज्योतिःश्रुतिः स्वविषयाच्छक्या प्रच्यावयितुम्? नैष दोषः; 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति प्रथमतरपठितेन यच्छब्देन सर्वनाम्ना द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमाने पूर्ववाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि स्वसामर्थ्येन परामृष्टे सत्यर्थाज्ज्योतिःशब्दस्यापि ब्रह्मविषयत्वोपपत्तेः। तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ॥ २४ ॥

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्
तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

अथ यदुक्तं,—पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये न ब्रह्माभिहितमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच' (छा० ३।१२।१) इति गायत्र्याख्यस्य छन्दसोऽभिहितत्वादिति—

भामती

पूर्ववाक्यस्य हि ब्रह्मार्थत्वे सिद्धे स्यादेतदेवं, न तु तद्ब्रह्मार्थमपि तु गायत्र्यर्थम्। 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' इति गायत्रीं प्रकृत्यैव श्रूयते 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति।

भामती–व्याख्या

पर समस्त विशेष सम्बन्ध-रहित ब्रह्म का जीवाभिन्नत्वेन उपदेश किया जाता है, वहाँ विविध फल न होकर मोक्षरूप एकविध ही फल माना जाता है, किन्तु जहाँ पर गुण-विशेष या प्रतीकादि विशेष पदार्थों के सम्बन्ध से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, वहाँ पर विविध सांसारिक फल ही अभिहित किए गए हैं, जैसे—"अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद" (बृह. उ. ४।४।२४) इत्यादि। यद्यपि "यदतः परो दिवो ज्योतिः" (छां. ३।१३।७) इस वाक्य में ज्योति पदार्थ की ब्रह्मात्मता का सूचक कोई लिङ्ग नहीं, तथापि पूर्व के "त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छां. ३।१२।६) इस वाक्य में अवस्थित ब्रह्म के गमक लिङ्ग का ग्रहण सूत्रकार ने किया है—"ज्योतिश्चरणाभिधानात्" (ब्र. सू. १।१।२३)। चरणाभिधानात् का अर्थ है—त्रिपादभिधानात्। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वाक्यान्तर में गृहीत ब्रह्म-लिङ्ग के द्वारा वाक्यान्तरस्थ ज्योतिः' पद को अपनी मुख्यार्थ-बोधकता से वञ्चित क्योंकर किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस वाक्य में 'यत्'—इस प्रसिद्धार्थक सर्वनाम पद एवं द्यु पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा के बल पर पूर्व वाक्यस्थ जो त्रिपाद् ब्रह्म यहाँ परामृष्ट होता है, उसका सम्बन्ध सामर्थ्य या योग्यता को ध्यान में रख कर 'ज्योतिः' पद के साथ पर्यवसित हो जाता है। फलतः यहाँ 'ज्योतिः' पद के द्वारा ब्रह्म का ग्रहण करना चाहिए] ॥ २४ ॥

पूर्वपक्ष—पूर्व के ["त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छां. ३।१२।६) इस] वाक्य में ब्रह्मपरता का निश्चय हो जाने पर ही "यदतः परो दिवो ज्योतिः' यहाँ ब्रह्म का परामर्श और 'ज्योतिः' पद की ब्रह्मपरता का निश्चय हो सकता है, किन्तु पूर्व वाक्य ब्रह्मपरक न होकर त्रिपदा गायत्री छन्द का बोधक है, क्योंकि "गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच" (छां. ३।१२।१) इस प्रकार गायत्री छन्द का प्रकरण उठा कर "त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छां. ३।१२।१) ऐसा कहा गया है।

तत्परिहर्तव्यम् । कथं पुनश्छन्दोऽभिधानाच्च ब्रह्माभिहितमिति शक्यते वक्तुं ? यावता 'तावानस्य महिमा' इत्येतस्यामृचि चतुष्पाद् ब्रह्म दर्शितम् । नैतदस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति गायत्रीमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदैर्व्याख्याय 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तं तावानस्य महिमा' इति तस्यामेव

भामती

नन्वाकाशस्तल्लिङ्गादित्यनेनैव गतार्थमेतत् । तथाहि । तावानस्य महिमेत्यस्यामृचि ब्रह्म चतुष्पादुक्तम् । सैव च तदेतदृचाभ्यनूक्तमित्यनेन सङ्गमिता ब्रह्मलिङ्गम् । एवं गायत्री वा इदं सर्वमित्यक्षरसन्निवेशमात्रस्य गायत्र्या न सर्वात्मत्वमुपपद्यते , न च भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणात्मत्वं गायत्र्याः स्वरूपेण सम्भवति । न च ब्रह्मपुरुषसम्बन्धित्वमस्ति गायत्र्याः । तस्माद्गायत्रीद्वारा ब्रह्मण एवोपासना न गायत्र्या इति पूर्वेणैव गतार्थत्वादनारम्भणीयमेतत् । न च पूर्वन्यायस्मारणे सूत्रसन्दर्भ एतावान् युक्तः ।

अत्रोच्यते — अस्त्यधिकशङ्का । तथाहि — गायत्रीद्वारा ब्रह्मोपासनेति कोऽर्थः । गायत्रीविकारोपाधिनो ब्रह्मण उपासनेति । न च तदुपाधिनस्तदवच्छिन्नस्य सर्वात्मत्वम् , उपाधेरवच्छेदात् । न हि घटावच्छिन्नं नभोऽनवच्छिन्नं भवति । तस्मादस्य सर्वात्मत्वादिकं स्तुत्यर्थं , तद्वरं गायत्र्या एवास्तु स्तुतिः कयाचित् प्रणाड्या 'वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायति च' इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

भामती–व्याख्या

शङ्का—इस प्रकार के पूर्व पक्ष का परिहार तो 'आकाशाधिकरण' से ही किया जा सकता है कि जैसे 'आकाश' पद से घटित वाक्य में ब्रह्म का लिङ्ग (असाधारण धर्म) देख कर यह निश्चय किया कि आकाश के माध्यम से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए, वैसे ही "तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छां. ३।१२।६) इस ऋचा में ब्रह्म को चतुष्पाद् कहा गया है और इसी ऋचा के द्वारा 'गायत्री' पद की ब्रह्म में संगमनिका की गई है —"सैषा चतुष्पदा गायत्री, तदेतद् ऋचाभ्यनूक्तम्" (छां. ३।१२।५) । अतः यही ऋचा ब्रह्म का लिङ्ग (बोधक) है । इसी प्रकार "गायत्री वेदं सर्वम्" (छां. ३।१२।१) इस श्रुति के द्वारा अभिहित सर्वरूपता गायत्री छन्द में नहीं बन सकती, क्योंकि उसका कलेवर अक्षरों के सन्निवेशमात्र में सिमटा हुआ है, वह जगत् का रूप क्योंकर होगी ? "सा येयं पृथिवी", "सा यदिदमस्मिन् पुरुषे शरीरमस्मिन् हीमे प्राणाः", "इदं वाव तद्यदिदमस्मिनन्तः पुरुषे हृदयम्" (छां. ३।१२।२–४) इन श्रुति वाक्यों के द्वारा अभिहित पृथिवीप्राणादिरूपता भी कथित गायत्री छन्द में साक्षात् सम्भव नहीं हो सकती और न "पञ्च ब्रह्मपुरुषाः" (छां. ३।१३।६) इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित पञ्चब्रह्मपुरुष-सम्बन्धित्व इस गायत्री में बन सकता है, परिशेषतः गायत्री के द्वारा ब्रह्म की ही उपासना सिद्ध होती है, जो कि विगत आकाशाधिकरण से गतार्थ हो जाती है, इसके लिए इस ज्योतिरधिकरण के आरम्भ की क्या आवश्यकता ? 'पूर्वाधिकरण का स्मरण दिलाना ही इस अधिकरण का उद्देश्य है'—ऐसा कहना भी संगत नहीं, क्योंकि इतने उद्देश्य के लिए इतने बड़े सूत्र-सन्दर्भ का निर्माण युक्ति-युक्त नहीं कहा जा सकता ।

समाधान—इस सूत्र में पूर्वपक्षी की इतनी ही आशङ्का नहीं, अपितु अधिक आशङ्का यह है कि 'गायत्री द्वारा ब्रह्मोपासना' का तात्पर्य यह है कि 'गायत्री विकाररूप उपाधि के द्वारा ब्रह्म की उपासना किन्तु गायत्रीरूप उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्म सर्वात्मक या अनवच्छिन्न स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि घटादि उपाधियो से अवच्छिन्न आकाश कभी व्यापक या अनवच्छिन्न नहीं होता, अतः यहाँ सर्वात्मत्व का कथन केवल स्तुत्यर्थक है । स्तुत्यर्थक सर्वत्व का समन्वय तो किसी-न-किसी प्रकार गायत्री छन्द में भी हो सकता है, जैसा कि श्रुति कहती

व्याख्यातरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माद् ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात्? योऽपि तत्र 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३।१२।५,६) इति ब्रह्मशब्दः, सोऽपि छन्दसः प्रकृतत्वाच्छन्दोविषय एव 'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छा० ३।११।३) इत्यत्र हि वेदोपनिषदमिति व्याचक्षते, तस्माच्छन्दोभिधानान्न ब्रह्मणः प्रकृतत्वमिति चेत् ,– नैष दोषः, 'तथा चेतोऽर्पणनिगदात्' तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं चित्तसमाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते – 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति । न ह्यक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं संभवति । तस्माद्यद्गायत्र्याख्यविकारेऽनुगतं जग-

भामती

तथा च 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इत्युपक्रमे गायत्र्या एव हृदयादिभिर्व्याख्या, व्याख्याय च 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री इत्युपसंहारो गायत्र्यामेव समञ्जसो भवति । ब्रह्मणि तु सर्वमेतदसमञ्जसमिति यद्वैतद् ब्रह्मेति च ब्रह्मशब्दश्छन्दोविषय एव, यथैतां ब्रह्मोपनिषदमित्यत्र वेदोपनिषदुच्यते । तस्माद्गायत्रीच्छन्दोऽभिधानान्न ब्रह्मविषयमेतदिति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते । * न * कुतः ? * तथा चेतोऽर्पणनिगदात् * । गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण गायत्रीरूपविकारानुगते ब्रह्मणि चेतोऽर्पणं चित्तसमाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते । एतदुक्तं भवति – न गायत्री ब्रह्मणोऽवच्छेदिका, उत्पलस्येव नीलत्वं, येन तदवच्छिन्नमन्यत्र न स्यादवच्छेदविरहात् । किन्तु यदेव तद् ब्रह्म सर्वात्मकं सर्वकारणं तत्स्वरूपेणाशक्योपदेशमिति तद्विकारगायत्रीद्वारेणोपलक्ष्यते । गायत्र्याः सर्वच्छन्दो व्याप्त्या च सवनत्रयव्याप्त्या च द्विजातिद्वितीयजन्मजननी तया च श्रुतेर्विकारेषु मध्ये

भामती–व्याख्या

है—"वाग् वै गायत्री, वाग् वै सर्वं भूतं गायति च त्रायते च" (छां. ३।१२।१)। "गायत्री वा इदं सर्वम्" (छां. ३।१२।१) ऐसा उपक्रम करके वाक्, प्राणादिरूपों में गायत्री की व्याख्या प्रस्तुत की गई, उसके अनन्तर उपसंहार किया गया—"सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री" (छां. ३।१२।५) । यह सब कुछ गायत्री छन्द में ही उपपन्न होता है, ब्रह्म में नहीं। "यद्वै तद् ब्रह्म" (छां. ३।१२।६) यहां पर 'ब्रह्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ है—'वेद', जैसे कि "एतामेवं ब्रह्मोपनिषदम्" (छां. ३।११।३) यहाँ 'ब्रह्मोपनिषत्' का अर्थ वेदगुह्यम् (वेद-रहस्य या वेदोपनिषत्) किया गया है । फलतः गायत्री छन्द का यहाँ अभिधान होने के कारण ब्रह्मोपासना का विधान नहीं किया जा सकता ।

सिद्धान्त -उक्त पूर्वपक्ष का निरास करने के लिए सूत्रकार ने कहा है—न, क्योंकि गायत्रीसंज्ञक छन्द के द्वारा तदनुगत ब्रह्म में चित्त के अर्पण (उपासन) का इस ब्राह्मण वाक्य में प्रतिपादन हुआ है । तात्पर्य यह है कि जैसे 'नीलमुत्पलम्'—यहाँ पर नीलत्व (नील वर्ण) उत्पल (कमल) का अवच्छेदक है, वैसे गायत्री ब्रह्म का अवच्छेदक (विशेषण) नहीं कि तदवच्छिन्न ब्रह्म में व्यापकता अनुपपन्न हो। जो सर्वात्मक (व्यापक) ब्रह्म है, उसका स्वरूपेण उपदेश या उपासन सम्भव नहीं, अतः गायत्रीरूप विकार के द्वारा वह ब्रह्म उपलक्षित होता है । सभी विकार-वर्ग में गायत्री मन्त्र प्रधान है, क्योंकि गायत्री छन्द सब छन्दों में व्याप्त है, सोमयाग के तीनों सवनों [प्रातः, माध्यन्दिन एवं सायं तीनों कालों में अनुष्ठीयमान तीनों अभिषवों] में प्रयुक्त एवं द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पुरुषों के द्वितीय जन्म का साधक है [ताण्ड्य महा ब्राह्मण ८।४) में एक आख्यायिका आती है कि पहले सभी छन्द चार-चार अक्षरों के होते थे । जगती छन्द सोम लता लाने के लिए द्युलोक गया, अपने तीन अक्षर वहीं छोड़ कर लौट आया, त्रिष्टुभ् छन्द गया और वह भी अपना एक अक्षर वहीं छोड़ कर असफल लौटा, किन्तु गायत्री छन्द गया, वह वहाँ जगती एवं त्रिष्टुभ् के

त्कारणं ब्रह्म, तदपि सर्वमित्युच्यते ? यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति। कार्यं च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः—'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० २।१।१४) इत्यत्र। तथान्यत्रापि विकारद्वारेण ब्रह्मण उपासनं दृश्यते—'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' (ऐ० आ० ३।२।३।१२) इति। तस्मादस्ति छन्दोऽभिधानेऽपि पूर्वस्मिन्वाक्ये चतुष्पाद् ब्रह्म निर्दिष्टम्। तदेव ज्योतिर्वाक्येऽपि परामृश्यत उपासनान्तरविधानाय।

अपर आह—साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते, संख्यासामान्यात्। यथा गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैः, तथा ब्रह्म चतुष्पात्। तथान्यत्रापि छन्दोऽभि-

भामती

प्राधान्येन द्वारत्वोपपत्तेः। न चात्रोपलक्षणाभावेन नोपलक्ष्यं प्रतीयते, न हि कुण्डलेनोपलक्षितं कण्ठरूपं कुण्डलवियोगेऽपि पश्चात्प्रतीयमानमप्रतीयमानं भवति। तद्रूपप्रत्यायनमात्रोपयोगित्वादुपलक्षणानामनवच्छेदकत्वात्।

तदेवं गायत्रीशब्दस्य मुख्यार्थत्वे गायत्र्या ब्रह्मोपलक्ष्यत इत्युक्तं, सम्प्रति तु गायत्रीशब्दः संख्यासामान्याद्गौण्या वृत्त्या ब्रह्मण्येव वर्तत इति दर्शयति * अपर आह इति *। तथाहि—षडक्षरैः पादैर्यथा गायत्री चतुष्पदा एवं ब्रह्मापि चतुष्पाद्। सर्वाणि हि भूतानि स्थावरजङ्गमान्यस्यैकः पादः। दिवि द्योतनवति चैतन्यरूपे स्वात्मनीति यावत्। त्रयः पादाः। अथवा दिव्याकाशे त्रयः पादाः। तथाहि श्रुतिः—'इदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशस्तद्धि तस्य जागरितस्थानं जाग्रत् खल्वयं बाह्यान्

भामती–व्याख्या

द्वारा छोड़े गए चारों अक्षर और सोम लता लेकर आया। तब से गायत्री छन्द आठ अक्षरों का हो गया। याज्ञिकों ने सोम याग आरम्भ किया, उसके माध्यन्दिन सवन में त्रिष्टुभ् की प्रार्थना पर गायत्री ने उसे बुला लिया, तब से वह गायत्री के आठ अक्षरों को मिला कर ग्यारह अक्षरों का हो गया। तृतीय (सायं सवन में जगती की प्रार्थना पर गायत्री ने उसको भी आमन्त्रित कर दिया, तब से जगती छन्द गायत्री और त्रिष्टुभ् के ग्यारह अक्षरों को अपने एक अक्षर में मिला कर बारह अक्षरों वाला हो गया। इस प्रकार सभी छन्दों और तीनों सवनों की व्याप्ति गायत्री में अवगत होती है। गायत्री मन्त्र ही द्विजत्व का सम्पादक है—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धनम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ (मनु. २।१७०)

प्रथम जन्म माता की कुक्षि और द्वितीय जन्म गायत्री से होता है]। विशेषण के न होने पर विशिष्ट की अन्यत्र सत्ता (सर्वरूपता या व्यापकता) नहीं मानी जाती किन्तु उपलक्षण के न होने पर उपलक्ष्य पदार्थ की सत्ता अन्यत्र नहीं मानी जाती—यह बात नहीं, क्योंकि कुण्डल के न रहने पर भी कुण्डलोपलक्षित कण्ठ (ग्रीवा) प्रतीयमान होता है, क्योंकि उपलक्षण पदार्थ अपने उपलक्ष्य पदार्थ के पूर्ण स्वरूप का परिचायकमात्र होता है, उसका अवच्छेदक नहीं होता। इस प्रकार 'गायत्री' शब्द मुख्यार्थ होकर ब्रह्म का उपलक्षक है—यह सिद्ध किया गया है।

अब 'गायत्री' शब्द संख्या-सामान्यरूप गुण को लेकर गौणी वृत्ति के द्वारा ब्रह्म का बोधक है—यह मत दिखाने के लिए भाष्यकार कहते हैं—"अपर आह साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते"। जैसे गायत्री के छः-छः अक्षरवाले चार पाद होते हैं, वैसे ही ब्रह्म के भी चार पाद हैं—सभी स्थावर-जङ्गम जगत् मिल कर ब्रह्म का एक पाद (चतुर्थ अंश) है। शेष तीन पाद द्युलोक (प्रकाशात्मक स्व-स्वरूप) में अवस्थित हैं। अथवा यहाँ 'दिवि' का

घायी शब्दोऽर्थान्तरे संख्यासामान्यात्प्रयुज्यमानो दृश्यते । तद्यथा-'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' इत्युपक्रम्याह 'सैषा विराडन्नादी' (छा० ४।३।८) इति । अस्मिन्पक्षे ब्रह्मैवाभिहितमिति न छन्दोऽभिधानम् । सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म ॥ २५ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति, पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मेति । यतो भूतादीन्पादान्व्यपदिशति । भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निर्दिश्याह—'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इति । नहि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य छन्दसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते । अपि

भामती

पदार्थान् वेद तथाऽयं वाव स योऽयमन्तःपुरुष आकाशः' शरीरमध्य इत्यर्थ, 'तद्धि तस्य स्वप्नस्थानं तथाऽयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः' हृदयपुण्डरीक इत्यर्थः, तद्धि तस्य सुषुप्तिस्थानम् । तदेतत् 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्युक्तम् । तदेवं चतुष्पात्त्वसामान्याद्गायत्रीशब्देन ब्रह्मोच्यते इति । * अस्मिन् पक्षे ब्रह्मैवाभिहितम् इति * । ब्रह्मपरत्वादभिहितमित्युक्तम् ॥ २५ ॥

* षड्विधा इति * । भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणा इति षट् प्रकारा गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मणः श्रूयन्ते—"पञ्च ब्रह्मपुरुषा इति च हृदयसुषिषु ब्रह्मपुरुषश्रुतिर्ब्रह्मसम्बन्धितायां विवक्षितायां संभवति" । अस्यार्थः—हृदयस्यास्य खलु पञ्च सुषयः, पञ्च छिद्राणि । तानि च देवैः प्राणादिभी रक्ष्यमाणानि स्वर्गप्राप्तिद्वाराणीति देवसुषयः । तथाहि, हृदयस्य यत् प्राङ्मुखं छिद्रं तत्स्थो यो वायुः स प्राणस्तेन हि प्रयाणकाले सञ्चरते स्वर्गलोकं, स एव चक्षुः स एवादित्य इत्यर्थः । 'आदित्यो ह वै बाह्यः प्राणः' इति

भामती—व्याख्या

अर्थ है—'आकाशे' । ब्रह्म के तीन पाद आकाश में स्थित हैं, जैसा कि श्रुति कहती है—"यद्वै तद् ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशः" (छां. ३।१२।७) । इस श्रुति में त्रिपाद् अमृत ब्रह्म को जो पुरुष के बाहर अवस्थित भूताकाशस्वरूप कहा गया है, वह केवल स्तुत्यर्थक है । वस्तुत भूताकाश जागरित प्रपञ्चोपलक्षित चिदाकाश का आधार है, क्योंकि जागता हुआ यह आत्मा बाह्य (शरीर के बाहर अवस्थित) पदार्थों को जानता है, "अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः (छां. ३।१२।८) यहाँ 'अन्तः' शब्द का अर्थ है—'शरीरमध्ये' । शरीर के अन्दर स्थित आकाश पुरुष के स्वाप्न प्रपञ्च का आधार एवं "अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः" (छां. ३।१२।९) यहाँ 'अन्तर्हृदये' का अर्थ भाष्यकार ने 'हृदयपुण्डरीके' किया है, क्योंकि वह पुरुष की सुषुप्ति का आश्रय है । अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ—ये तीनों जिसके पाद (पद्यते गम्यतेऽनेन इति पादो गमकः) हैं, ऐसा तुरीय तत्त्व आकाश में विराजमान है । इस प्रकार चतुष्पात्त्वरूप संख्या की समानता को लेकर 'गायत्री' शब्द के द्वारा ब्रह्म अवगमित होता है । भाष्यकार ने जो कहा है—अस्मिन् पक्षे ब्रह्मैवाभिहितम् ।' उसका तात्पर्य है—'गौण्या वृत्त्या बोधितम्' ॥ २५ ॥

"सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री" (छा. ३।१२।५) इस श्रुति से पूर्व कथित भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय, वाक् और प्राण—ये छः गायत्रीसंज्ञक ब्रह्म के प्रकार वर्णित हैं । भाष्यकार ने जो कहा है—"पञ्च ब्रह्मपुरुषाः (छां. ३।१३।६) इति च हृदयादिसुषिषु ब्रह्मपुरुषश्रुतिर्ब्रह्मसम्बन्धितायां विवक्षितायां सम्भवति" । इसका आशय यह है कि शरीर में रहनेवाले इस हृदय के पाँच देव-सुषि (छिद्र) हैं, उन्हें देव-सुषि इस लिए कहा जाता है प्राणादि पाँच देवताओं के द्वारा अभिरक्षित हैं । वे छिद्र ही स्वर्ग-प्राप्ति के द्वार हैं । (१) इस हृदय के पूर्वी छिद्र (द्वार) में अवस्थित जो वायु है, उसे प्राण कहते हैं, क्योंकि वह 'प्राग्

च ब्रह्मानाश्रयणे नेयमृक् संबध्येत—'तावानस्य महिमा' इति। अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाभिधीयते, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।५) इति सर्वात्मत्वोपपत्तेः। पुरुषसूक्तेऽपीयमृग्ब्रह्मपरतयैव समाम्नायते। स्मृतिश्च ब्रह्मण एवंरूपतां दर्शयति—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (गी० १०।४२) इति, 'यद्वै तद् ब्रह्म' (छा० ३।१२।७) इति च निर्देशः। एवं सति मुख्यार्थ उपपद्यते। 'पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३।१३।६) इति च हृदयसुषिषु ब्रह्मपुरुषश्रुतिर्ब्रह्मसंबन्धितायां विवक्षितायां संभवति। तस्मादस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म प्रकृतम्। तदेव ब्रह्म ज्योतिर्वाक्ये द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमानं परामृश्यत इति स्थितम् ॥ २६ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

यदप्येतदुक्तं पूर्वत्र—'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा; इह पुनः 'अथ यदतः परो दिवः' इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन, तस्मादुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्तीति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—नायं दोषः; उभयस्मिन्नप्यविरोधात्। उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोपदेशे न प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते। यथा लोके वृक्षाग्रसंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्येनो

भामती

श्रुतेः। अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिस्तत्स्थो वायुविशेषो व्यानः। तत्सम्बद्धं श्रोत्रं तच्चन्द्रमाः। 'श्रोत्रेण सृष्टा दिशश्चन्द्रमाश्च' इति श्रुतेः। अथ योऽस्य प्रत्यङ्मुखः सुषिस्तत्स्थो वायुविशेषोऽपानः स च वाक् तत्सम्बन्धात्, वाक् चाग्निरिति। 'वाग्वा अग्नि' इति श्रुतेः। अथ योऽस्योदङ्मुखः सुषिस्तत्स्थो वायुविशेषः स समानः, तत्सम्बद्धं मनः, तत्पर्जन्यो देवता। अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिस्तत्स्थो वायुविशेषः स उदानः। पादतलादारभ्योर्ध्वं नयनात् स वायुस्तदाधारश्चाकाशो देवता। ते वा एते पञ्च सुषयः। तत्सम्बद्धाः पञ्चहार्दस्य ब्रह्मणः पुरुषा न गायत्र्यामक्षरसन्निवेशमात्रे सम्भवन्ति, किन्तु ब्रह्मण्येवेति ॥२६॥

ॐ यथा लोके इति ॐ। यद्याधारत्वं मुख्यं विवक्षितं तदा कथञ्चिन्मर्यादा व्याख्येया। यो हि श्येनो

भामती—व्याख्या

अनिति'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर मरण-काल में स्वर्गलोक की ओर संचरण करता है। वही (प्राण) चक्षु है, वही आदित्य कहा गया है—"आदित्यो ह वै बाह्यः प्राणः" (प्रश्नो. ३।८)। (२) इस हृदय के दक्षिण-द्वार पर व्यानसंज्ञक वायु है, वही श्रोत्र है, वही चन्द्रमा है—"श्रोत्रेण सृष्टा दिशश्चन्द्रमाश्च" (ऐत. १.७।५)। (३) इस हृदय के पश्चिम द्वार पर अपान नाम की जो वायु है, वही वाक् है, वही अग्नि है—"वाग्वा अग्निः" (ऐत. १।४)। (४) इस हृदय के उत्तर-द्वार पर समान नाम की जो वायु है, वही मन है, वही पर्जन्य (वृष्टि) है—"मनसा सृष्टा आपश्च वरुणश्च" (ऐत. १।७।८)। (५) इस हृदय के ऊर्ध्वमुख द्वार पर जो वायु है, वही उदान कहलाता है, क्योंकि वह पाद-तल से ऊपर की दिशा में उत्क्रमण करता है। वही (उदान) आकाश है। ये पाँच द्वार हैं, इनके पाचों द्वार-पालों को ब्रह्म-पुरुष वैसे ही कहते हैं, जैसे राज-द्वार के द्वार-पालों को राज-पुरुष। यह सब कुछ उपपादन केवल अक्षर-सन्निवेशरूप गायत्री में उपपन्न न होकर ब्रह्म में ही समञ्जस होता है, अतः यहाँ 'गायत्री' शब्द ब्रह्मपरक ही सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि "त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छां ३।१२।१) यहाँ पर 'द्यु' शब्द सप्तम्यन्त और "यदतः परो दिवः" (छां. ३।१३।७) इस वाक्य में 'द्यु' शब्द पञ्चम्यन्त है, अतः उपदेश-भेद होने के कारण दोनों की एकता प्रत्यभिज्ञात नहीं। उसका परिहार यह किया जाता है कि "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति"—इस न्याय के अनुसार एक ही अर्थ में

वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च। एवं दिव्येव सद्ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते। अपर आह – यथा लोके वृक्षाग्रेणासंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च। एवं च दिवः परमपि सद् ब्रह्म दिवीत्युपदिश्यते। तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभिज्ञानम्। अतः परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

(११ प्रतर्दनाधिकरणम् । सू० २८–३१)

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २८ ॥

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदा-

---

भामती

वृक्षाग्रे वस्तुतोऽस्ति स च ततः परोऽप्यस्त्येव। अर्वाग्भागातिरिक्तमध्यपरभागस्थस्य तस्यैव वृक्षात्परतोऽवस्थानात्। एवं च बाह्यद्युभागातिरिक्तशरीरहार्दद्युभागस्थस्य ब्रह्मणो बाह्याद् द्युभागात् परतोऽवस्थानमुपपन्नम्। यदा तु मर्य्यादैव मुख्यतया प्राधान्येन विवक्षिता तदा लक्षणयाऽऽधारत्वं व्याख्येयम्। यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र सामीप्यादिति। तदिदमुक्तम् ॐ अपर आह इति ॐ। अत एव दिवः परमपीत्युक्तम् ॥ २७ ॥

अनेकलिङ्गसन्दोहे बलवत्कस्य किं भवेत्।
लिङ्गिनो लिङ्गमित्यत्र चिन्त्यते प्रागचिन्तितम् ॥

मुख्यप्राणजीवदेवताब्रह्मणामनेकेषां लिङ्गानि बहूनि संप्लवन्ते, तत्कतमदत्र लिङ्गं, लिङ्गाभासञ्च

भामती–व्याख्या

विभिन्न कारकों का प्रयोग बाधक नहीं, जैसे कि लोक में वृक्ष की चोटी पर बैठे श्येन पक्षी के लिए दोनों प्रकार का प्रयोग देखा जाता है–"वृक्षाग्रे श्येनः', 'वृक्षाग्रात् परतः श्येनः'। अर्थात् आधाररूप अर्थ की विवक्षा में सप्तमी मुख्यार्थक और पञ्चमी लाक्षणिक है क्योंकि जो श्येन वृक्ष के शिखर पर वस्तुतः बैठा है, वह वृक्ष से परे भी अवस्थित है। आशय यह है कि वृक्षाग्र कोई एक बिन्दु नहीं, अपितु नीचे-उपर की शाखा-प्रशाखाओं से व्याप्त एक ऐसा झुर-मुट है, जहाँ बैठा श्येन पक्षी अपनी निचली शाखा की अपेक्षा ऊपर स्थित है। इसी प्रकार बाह्य द्यु (आकाश) भाग से अतिरिक्त शरीरस्थ हार्दाकाश में अवस्थित ब्रह्म का बाह्याकाश की अपेक्षा परतः अवस्थान उपपन्न है। जब मर्यादा (अपादानता) विवक्षित होती है, तब पञ्चमी मुख्यार्थक और लक्षणा वृत्ति से आधारार्थक सप्तमी का समन्वय वैसे ही किया जा सकता है, जसे 'गङ्गायां घोषः'–यहां सप्तमी का पर्यवसान सामीप्यार्थ को लेकर हो जाता है, भाष्यकार ने यही कहा है–"अपर आह दिवः परमपि सद्ब्रह्म दिवीति उपदिश्यते" ॥ २७ ॥

विषय वस्तु -

अनेकलिङ्गसन्दोहे बलवत् कस्य किं भवेत्।
लिङ्गिनो लिङ्गमित्यत्र चिन्त्यते प्रागचिन्तितम् ॥

[अनेक पदार्थों के लिङ्गों (गमकों) का एकत्र समावेश उपलब्ध होने पर किस पदार्थ का लिङ्ग प्रबल है–यह यहाँ विचार किया जाता है, इसका पहले विचार नहीं किया गया है] अर्थात् मुख्य प्राण, जीव, देवता और ब्रह्म के लिङ्ग यहाँ प्रतीयमान है, उनमें

सिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्याम्नाता। तस्यां श्रूयते—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति। तथोत्तरत्रापि 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३।१,२,३) इति। तथा 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्याद्' इति। अन्ते च 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' (कौ० ३।८) इत्यादि।

भामती

कतमदित्यत्र विचार्य्यते। न चायमर्थोऽत एव प्राण इत्यत्र विचारितः। स्यादेतत्—हिततमपुरुषार्थसिद्धश्च निखिलभ्रूणहत्यादिपापापरामर्शश्च प्रज्ञात्मत्वं चानन्दादिश्च न मुख्ये प्राणे सम्भवन्ति। तथैव साधु कर्म कारयति, एष लोकाधिपतिरित्याद्यपि। जीवे तु प्रज्ञात्मत्वं कथञ्चिद्भवेदितरेषां त्वसम्भवः। वक्तृत्वञ्च वाक्करणव्यापारवत्त्वं यद्यपि परमात्मनि स्वरूपेण न सम्भवति तथाप्यनन्यथासिद्धबहुब्रह्मलिङ्गविरोधाज्जीवद्वारेण ब्रह्मण्येव कथञ्चित् व्याख्येयम्, जीवस्य ब्रह्मणोऽभेदात्। तथा च श्रुतिः—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इति वाग्वदनस्य ब्रह्म कारणमित्याह। शरीरधारणमपि यद्यपि मुख्यमाणस्यैव तथापि प्राणव्यापारस्य परमात्मायत्तत्वात्परमात्मन एव। यद्यपि चात्रेन्द्रदेवताया विग्रहवत्या लिङ्गमस्ति, तथाहि, इन्द्रधामगतं प्रतर्दनं प्रतीन्द्र उवाच। मामेव विजानीहीत्युपक्रम्य, प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मेत्यात्मनि प्राणशब्दमुच्चचार। प्रज्ञात्मत्वं चास्योपपद्यते, देवतानामप्रतिहतज्ञानशक्तित्वात्।

भामती—व्याख्या

किसका लिङ्ग सत् और किसका असत् (लिङ्गाभास) है—यह यहाँ विचारणीय है। यह विचार पूर्वोक्त "अत एव प्राणः" (ब्र. सू. १।१।८) इस अधिकरण से गतार्थ ,नहीं, क्योंकि वहाँ ब्रह्म-लिङ्ग के अनुरोध पर 'प्राण' शब्द की केवल ब्रह्मपरता स्थिर की गई है, ब्रह्म और अब्रह्म के लिङ्गों की प्रवलता-दुर्बलता का विचार नहीं किया गया।

शङ्का—"सत्यं हीन्द्रः स होवाच—यामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये। स यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते—न मातृबधेन, न पितृबधेन, न स्तेयेन, न भ्रूणहत्यया" (कौ. उ. ३।१) इस प्रकार इन्द्र ने प्रतर्दन के प्रति जो हिततम पुरुषार्थ-सिद्धि, भ्रूण-हत्यादि निखिल पापों का अश्लेष, प्रज्ञात्मत्व और अमृतत्व का प्रतिपादन किया है, वह वायु-विकारात्मक मुख्य प्राण में समञ्जस्य नहीं होता। "एष साधु कर्म कारयति", "एष लोकाधिपतिः" (कौ. उ. ३।८) इत्यादि सामर्थ्य भी मुख्य प्राण में नहीं घटता। जीव में प्रज्ञात्मत्व का कथंचित् समन्वय हो जाने पर भी अन्य धर्मों की उपपत्ति नहीं होती। परमात्मा (ब्रह्म) में यद्यपि वक्तृत्व (वाग्व्यापारवत्त्व) साक्षात् नहीं, तथापि ब्रह्म के लिङ्गों (असाधारण धर्मों) का बाहुल्य उपलब्ध होने के कारण वक्तृत्वादि कतिपय धर्मों का भी ब्रह्म में जीव के द्वारा उपपादन कर लेना चाहिए, क्योंकि जीव ब्रह्म से अभिन्न होता है। "यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" (केन. १।४) यह श्रुति वाग्व्यवहार की कारणता ब्रह्म में बता रही है। शरीर-धारणरूप जीवत्व यद्यपि मुख्य प्राण का धर्म है, तथापि प्राणादि का व्यापार परमात्मा के अधीन ही होता है, अतः प्राण-धारकत्व का योग ब्रह्म से भी किया जा सकता है।

यद्यपि प्रतर्दन के उपदेष्टा इन्द्र में देवतात्व के सूचक विग्रहवत्त्वादि धर्म चर्चित हैं, क्योंकि इन्द्र-लोक में गए प्रतर्दन को इन्द्र ने 'मामेव विजानीहि"—ऐसा आरम्भ करके "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा"—इस प्रकार अपने में प्राणरूपता का उपदेश किया है, जिससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है, कि विग्रहवान् इन्द्र की यहाँ प्राणरूपेण उपासना विवक्षित है। प्रज्ञात्मता का सामञ्जस्य तो इन्द्र देवता में हो ही जाता है, क्योंकि देवगणों में प्रज्ञा या

तत्र संशयः -किमिह प्राणशब्देन वायुमात्रमभिधीयते, उत देवतात्मा, उत जीवः, अथवा परं ब्रह्मेति ? ननु 'अत एव प्राणः' इत्यत्र वर्णितं प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वम् । इहापि च ब्रह्मलिङ्गमस्ति—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि । कथमिह पुनः संशयः संभवति ? अनेकलिङ्गदर्शनादिति ब्रूमः । न केवलमिह ब्रह्मलिङ्गमेवोपलभ्यते, सन्ति हीतरलिङ्गान्यपि—'मामेव विजानीहि' (कौ० ३।१) इतीन्द्रस्य वचनं देवतात्मलिङ्गम् । इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति प्राणलिङ्गम् । 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्याद्' इत्यादि जीवलिङ्गम् । अत उपपन्नः संशयः तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राण इति प्राप्ते

भामती

सामर्थ्यातिशयाच्चेन्द्रस्य हिततमपुरुषार्थहेतुत्वमपि । मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य देवान् प्रत्यप्रवृत्तेर्भ्रूणहत्यादिपापापरामर्शस्योपपत्तेः । लोकाधिपत्यं चेन्द्रस्य लोकपालत्वात् । आनन्दादिरूपत्वं च स्वर्गस्यैवानन्दत्वात् । 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति स्मृतेश्चामृतत्वमिन्द्रस्य । त्वाष्ट्रमहनमित्याद्या च विग्रहवत्त्वेन स्तुतिस्तत्रैवोपपद्यते । तथापि परमपुरुषार्थस्यापवर्गस्य परब्रह्मज्ञानादन्यतोऽनवाप्तेः परमानन्दरूपस्य मुख्यस्यामृतत्वस्याजरत्वस्य च ब्रह्मरूपाव्यभिचाराद्ध्यात्मसम्बन्धभूम्नश्च पराचीन्द्रेऽनुपपत्तेः इन्द्रस्य देवताया आत्मनि प्रतिबुद्धस्य चरमदेहस्य वामदेवस्येव प्रारब्धविपाककर्माशयमात्रं भोगेन क्षपयतो ब्रह्मण एव सर्वमेतत्कल्पत इति विग्रहवदिन्द्रजीवप्राणवायुपरित्यागेन ब्रह्मैवात्र प्राणशब्दं प्रतीयत इति पूर्वपक्षाभावादनारम्भमेतदिति ।

अत्रोच्यते—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः

भामती–व्याख्या

ज्ञान की अप्रतिहत (अबाध) शक्ति होती है । इन्द्रादि विशेष शक्ति-सम्पन्न होने के कारण हिततम (परम) पुरुषार्थ के हेतु भी माने जाते हैं । भ्रूण-हत्यादि-जनित पाप का सम्बन्ध भी इन्द्रादि देवगणों के साथ नहीं होता, क्योंकि विधि-निषेधात्मक शास्त्रों के अधिकारी त्रैवर्णिक मनुष्य ही माने जाते हैं, देवगण नहीं । इन्द्र लोकपाल देवता होने के कारण लोकाधिपति कहा जाता है । स्वर्ग सुखरूप है, अतः स्वर्गाधिपति को आनन्दरूप कहा जाता है । ''आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते''—इस परिभाषा के अनुसार त्रिलोक्यन्तर्गत भूतों के प्रलय-पर्यन्त रहनेवाले स्वर्गादि लोकों को अमृत (अनश्वर) कह दिया गया है, अतः औपचारिक अमृतत्व भी इन्द्र में घट जाता है । इन्द्र ने जो अपनी स्तुति करते हुए कहा है—''त्वाष्ट्रमहनम्', वह स्तुति विग्रहधारी इन्द्र देवता में ही उपपन्न होती है ।

तथापि परमपुरुषार्थरूप मोक्ष का साधन ब्रह्म-ज्ञान से भिन्न इन्द्रदेवतादि का ज्ञान नहीं होता । परमानन्दरूपता एवं मुख्य (अनौपचारिक) अमृतत्व—ये दोनों धर्म ब्रह्मरूपता से अव्यभिचरित हैं । जिस प्राण तत्त्व के साथ उपासक के शरीर का बहुल सम्पर्क (ब्र. सू. १।१।२९ में) बताया गया है —''अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्य उत्थापयति'' (कौ. उ. ३।३) ऐसा प्राण बाह्य इन्द्र नहीं हो सकता, अपितु ब्रह्म ही हो सकता है । इन्द्र ने प्रतर्दन को जो उपदेश दिया है कि ''मामेव विजानीहि'' वह इन्द्र ने अपने आप में ब्रह्मरूपता का वैसे ही साक्षात्कार करके दिया है, जैसे वामदेव ने अपने अन्तिम जन्म में शेष प्रारब्ध का उपभोग करते समय गर्भ-वास में कहा था—''अहं मनुरभवं सूर्यश्च'' (बृह. उ. १।४।१०) । ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप हो जाता है, उसमें ब्रह्म के लिङ्गों का समन्वय समुचित ही माना जाता है । फलतः प्रकृत में विग्रहधारी इन्द्र, जीव और प्राण वायु को छोड़ कर 'प्राण' शब्द ब्रह्म को ही कहता है, इस प्रकार पूर्व पक्ष के उठने का यहाँ कोई अवसर ही नहीं. अतः इस अधिकरण के आरम्भ की कोई आवश्यकता नहीं है ।

उच्यते—प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम् । कुतः ? तथाऽनुगमात् । तथा हि—पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते । उपक्रमे तावत् 'वरं वृणीष्व' इतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनः परमं पुरुषार्थं वरमुपचिक्षेप—'त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति । तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात् ? नह्यन्यत्र परमात्मविज्ञानाद्धिततमप्राप्तिरस्ति, 'तमेव विदि-

भामती

सहोत्क्रामतः' इति यस्यैव प्राणस्य प्रज्ञात्मन उपास्यत्वमुक्तं तस्यैव प्राणस्य प्रज्ञात्मना सहोत्क्रमणमुच्यते । न च ब्रह्मण्यभेदे द्विवचनं, न सहभावः, न चोत्क्रमणम् । तस्माद्वायुरेव प्राणः । जीवश्च प्रज्ञात्मा सह प्रवृत्तिनिवृत्त्या भवत्येकत्वमनयोरुपचरितं यो वै प्राण इत्यादिना । आनन्दामराजरापहतपाप्मत्वादयश्च ब्रह्मणि प्राणे भविष्यन्ति । तस्माद्यथायोगं त्रय एवात्रोपास्याः । न चैष वाक्यभेदो दोषमावहति । वाक्यार्थावगमस्य पदार्थावगमपूर्वकत्वात् । पदार्थानां चोक्तेन मार्गेण स्वातन्त्र्यात् । तस्मादुपास्यभेदादुपासात्रैविध्यमिति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तस्तु—सत्यं पदार्थावगमोपायो वाक्यार्थावगमः, न तु पदार्थावगमपराण्येव पदानि, अपि त्वेकवाक्यार्थावगमपराणि । तमेव त्वेकं वाक्यार्थं पदार्थावगममन्तरेण न शक्नुवन्ति कर्तुमित्यन्तरा तदर्थमेव तमध्यवगमयन्ति, तेन पदानि विशिष्टैकार्थविबोधनस्वरसान्येव बलवद्बाधकोपनिपातान्नानार्थबोधपरतां नीयन्ते । यथाहुः—'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते' इति ।

तेन यथोपांशुयाजवाक्ये जामितादोषोपक्रमे तत्प्रतिसमाधानोपसंहारे चैकवाक्यत्वाय प्रजा-

भामती-व्याख्या

समाधान—"यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः" (कौ. उ. ३।३,४) इस श्रुति के द्वारा जिस प्राण की प्रज्ञारूपेण उपासना प्रतिपादित है, उसी प्राण का प्रज्ञा के साथ-साथ वास और उत्क्रमण कहा गया है । ब्रह्म प्राण से अभिन्न तत्त्व है, उसमें न तो 'वसतः' और 'उत्क्रामतः' का द्विवचन उपपन्न होता है, न सहवास और न सह उत्क्रमण । अतः यहाँ 'प्राण' पद से प्राण वायु का ही ग्रहण करना होगा । जीव प्रज्ञात्मा कहलाता है । इन दोनों का सहवास, सहोत्क्रमण और औपचारिक एकत्व भी कहा जा सकता है—"यो वै प्राणः सा प्रज्ञा" । आनन्दत्व, अमरत्व, अजरत्व और अपहतपाप्मत्वादि ब्रह्मरूप प्राण में घट जाते हैं, अ : प्राण वायु, इन्द्र देवता और जीव—ये तीनों ही यथायोग उपासनीय हैं । तीन पदार्थों की उपासना विवक्षित होने से वाक्य-भेद प्रसक्त होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पदार्थों का ज्ञान वाक्यार्थ-ज्ञान का जनक होता है, यहाँ पदार्थ तीन स्वतन्त्ररूप से उपदिष्ट हैं, अतः उपास्य पदार्थों के भेद से त्रिविध उपासना विवक्षित है ।

सिद्धान्त—यह सत्य है कि वाक्यार्थावबोध का उपाय पदार्थावगम होता है, किन्तु वाक्यस्थ पद केवल पदार्थावगति में ही पर्यवसित होते हैं—ऐसा कोई नियम नहीं, वस्तुस्थिति यह है कि एकवाक्य के घटकीभूत सभी पद एकवाक्यार्थ की अवगति के जनक होते हैं । उसी एक वाक्यार्थ को पदार्थावगम के बिना अवगत नहीं कराया जा सकता, अतः सभी पद वाक्यार्थावगम करने के लिए ही अपने पदार्थों का ज्ञान कराया करते हैं, फलतः एक विशिष्ट वाक्यार्थ के स्वभावतः बोधक पदों को किसी प्रबल बाधक के द्वारा ही अनेकार्थावबोधपरक ठहराया जा सकता है, श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—"सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते" (श्लो. वा. पृ. १३५) । अत एव [उपांशुयाजाधिकरण (जै. सू. २।१।४) में विचार किया गया है—"जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ, उपांशुयाज-

त्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया' (कौ० ३।१) इत्यादि च ब्रह्मपरिग्रहे घटते। ब्रह्मविज्ञानेन हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २।२।८) इत्याद्यासु श्रुतिषु। प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मपक्ष एवोपपद्यते, नह्यचेतनस्य वायोः प्रज्ञात्मत्वं संभवति। तथोपसंहारेऽपि—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यानन्दत्वादीनि न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्यक् संभवन्ति। 'स न साधुना कर्मणा भूयान्भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते' इति, 'एष लोकाधिपतिरेष लोकपाल एष लोकेशः' (कौ० ३।८) इति च। सर्वमेतत्परस्मिन्ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते न मुख्ये प्राणे। तस्मात्प्राणो ब्रह्म ॥ २८ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

यदुक्तं—प्राणो ब्रह्मेति, तदाक्षिप्यते। न परं ब्रह्म प्राणशब्दम्। कस्मात्? वक्तुरात्मोपदेशात्। वक्ता हीन्द्रो नाम कश्चिद्विग्रहवान्देवताविशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनायाचचक्षे—'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यहंकारवादेन। स एष वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं ब्रह्म स्यात्? नहि ब्रह्मणो वक्तृत्वं संभवति, 'अवागमनाः' (बृह० ३।८।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा विग्रहसंबन्धिभिरेव ब्रह्मण्यसंभवद्भिर्धर्मैरात्मानं तुष्टाव—'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीन्शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इत्येवमादिभिः। प्राणत्वं चेन्द्रस्य बलवत्त्वादुपपद्यते। 'प्राणो वै बलम्' इति हि विज्ञायते। बलस्य चेन्द्रो देवता प्रसिद्धा। 'या च काचिद्बलप्रकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' इति हि वदन्ति प्रज्ञात्मत्वमप्यप्रतिहतज्ञानत्वाद्देवतात्मनः संभवति। अप्रतिहतज्ञाना देवता इति हि वदन्ति। निश्चिते चैवं देवतात्मोपदेशे हिततमत्वादिवचनानि यथासंभवं तद्विषयाण्येव योजयितव्यानि। तस्माद्वक्तुरिन्द्रस्यात्मोपदेशान्न प्राणो ब्रह्मेत्याक्षिप्य प्रतिसमाधीयते—'अध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्' इति। अध्यात्मसंबन्धः

भामती

पतिरुपांशु यष्टव्य इत्यादयो न पृथग्विषयः किन्त्वर्थवादा इति निर्णीत, तथेहापि मामेव विजानीहीत्युपक्रम्य प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मेत्युक्त्वाऽन्ते स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृत इत्युपसंहाराद् ब्रह्मण्येक-

---

भामती—व्याख्या

मन्तरा यजति, विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय" (तै. सं. २।६।६)। 'अन्वञ्चौ' का अर्थ है—निरन्तर (अव्यवहित) क्रियमाण। आग्नेय और अग्नीषोमीय—इन दोनों यागों में पुरोडाश द्रव्य है, अतः दोनों कर्मों का निरन्तर (लगातार) अनुष्ठान करने पर अजामित्व (आलस्य) उत्पन्न हो सकता था, अतः इन दोनों कर्मों के मध्य में घृतद्रव्यक उपांशुयाज नाम का कर्म किया जाता है। वहाँ सन्देह किया गया है कि विष्ण्वादि-घटित तीनों वाक्य तीन पृथक्-पृथक् कर्मों के विधायक हैं? अथवा "उपांशुयाजमन्तरा यजति"—यह वाक्य ही केवल एक कर्म का विधायक है और उक्त तीनों वाक्य उसी कर्म के अनुवादक हैं? वहाँ] निर्णय दिया गया है कि उपांशुयाज-वाक्य में जिस 'जामिता' दोष का उपक्रम किया गया है, उसी का अन्त में उपसंहार किया गया, इस प्रकार की एकवाक्यता के आधार पर यही स्थिर होता है कि

प्रत्यगात्मसंबन्धः, तस्य भूमा बाहुल्यम्, अस्मिन्नध्याय उपलभ्यते। 'यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः प्रत्यग्भूतस्यायुष्प्रदानोपसंहारयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति, न देवताविशेषस्य पराचीनस्य। तथाऽस्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसमित्यध्यात्ममेवेन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति। तथा 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३।३) इति। 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इति चोपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इति विषयेन्द्रियव्यवहारानभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति। 'स म आत्मेति विद्यात्' इति चोपसंहारः प्रत्यगात्मपरिग्रहे साधुर्न पराचीनपरिग्रहे। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० २।५।१९) इति च श्रुत्यन्तरम्। तस्मादध्यात्मसंबन्धबाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेशः ॥ २९ ॥

कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेशः—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

इन्द्रो नाम देवतात्मा स्वमात्मानं परमात्मत्वेनाहमेव परं ब्रह्मेत्यार्षेण दर्शनेन यथाशास्त्रं पश्यन्नुपदिशति स्म—'मामेव विजानीहि' इति। यथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति, तद्वत्। 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' (बृ० १।४।१०) इति श्रुतेः। यत्पुनरुक्तं 'मामेव विजानीहि' इत्युक्त्वा विग्रहधर्मैरिन्द्र आत्मानं तुष्टाव त्वाष्ट्रवधादिभिरिति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—न तावत् त्वाष्ट्रवधादीनां विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थत्वेनोपन्यासः, यस्मादेवंकर्माहं तस्मान्मां विजानीहीति। कथं तर्हि? विज्ञानस्तुत्यर्थत्वेन यत्कारणं त्वाष्ट्रवधादीनि साहसान्युपन्यस्य परेण विज्ञानस्तुतिमनुसंदधाति—'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते' इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—यस्मादीदृशान्यपि क्रूराणि कर्माणि कृतवतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमापि न हिंस्यते, स योऽन्योऽपि मां वेद न तस्य केनचिदपि कर्मणा लोको हिंस्यत इति। विज्ञेयं तु ब्रह्मैव 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति वक्ष्यमाणम्। तस्माद् ब्रह्मवाक्यमेतत् ॥ ३० ॥

भामती

वाक्यत्वावगतो सत्यां जीवमुख्यप्राणलिङ्गे अपि तदनुगुणतया नेतव्ये, अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात्। यत् पुनर्भेददर्शनं 'सह ह्येतौ' इति तज्ज्ञानक्रियाशक्तिभेदेन बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्निर्देशः प्रत्यगात्मानमेवोपलक्षयितुम्। अत एवोपलक्ष्यस्य प्रत्यगात्मस्वरूपस्याभेदमुपलक्षणाभेदेनोपलक्षयति ◎ प्राण एव प्रज्ञात्मा इति ◎ः

भामती–व्याख्या

"प्रजापतिरुपांशु यष्टव्यः"—इत्यादि तीनों वाक्य पृथक् कर्म के विधायक नहीं, अपितु अर्थवादमात्र हैं। वैसे ही प्रकृत में "मामेव विजानीहि"—इस प्रकार का उपक्रम करके अन्त में कहा गया है—"स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः।" इससे पूरे वाक्य-समूह की ब्रह्म में एकवाक्यता अवगत होती है, अतः वहाँ उपलभ्यमान जीव और प्राणवायु के लिङ्गों की ब्रह्मपरक ही व्याख्या करनी चाहिए, अन्यथा वाक्य-भेद प्रसक्त होता है। "सह ह्येतौ वसतः"—इत्यादि वाक्यों से जो भेद प्रतीत होता है, उससे प्रत्यगात्मा की ही उपस्थिति कराई जाती है, क्योंकि प्रज्ञा (बुद्धि) और प्राण दोनों प्रत्यगात्मा की उपाधि हैं। अत एव उनसे उपलक्षित प्रत्यगात्मा का अभेद उपलक्षणों के अभेद-निर्देश से सूचित किया जाता

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्या-
दाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

यद्यप्यध्यात्मसंबन्धभूमदर्शनान्न पराचीनस्य देवतात्मन उपदेशः, तथापि न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति। कुतः? जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च। जीवस्य तावदस्मिन् वाक्ये विस्पष्टं लिङ्गमुपलभ्यते 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्याद्' इत्यादि। अत्र हि वागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते। तथा मुख्यप्राणलिङ्गमपि—'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति। शरीरधारणं च मुख्यप्राणस्य धर्मः, प्राणसंवादे वागादीन्प्राणान्प्रकृत्य—'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' (प्र० २।३) इति श्रवणात्। ये तु 'इमं शरीरं परिगृह्य' इति पठन्ति, तेषामिमं जीवमिन्द्रियग्रामं वा परिगृह्य' शरीरमुत्थापयतीति व्याख्येयम्। प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे तावच्चेतनत्वादुपपन्नम्। मुख्येऽपि प्राणे प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादुपपन्नमेव। जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च प्राणप्रज्ञात्मनोः सहवृत्तित्वेनाभेदनिर्देशः, स्वरूपेण च भेदनिर्देश इत्युभयथापि निर्देश उपपद्यते—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति। ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद्भिद्येत? तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा प्रतीयेयातां न ब्रह्मेति चेत्—नैतदेवम्;

भामती

तस्मादनन्यथासिद्धब्रह्मलिङ्गानुसारतः। एकवाक्यबलात्प्राणजीवलिङ्गोपपादनम् ॥

इति संग्रहः ॥ २८–३० ॥

'न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति" इति। नैव सम्भवो ब्रह्मवाक्यमेव भवितुमर्हतीति, किन्तु यथायोगं किञ्चिदत्र जीववाक्यं, किञ्चिन्मुख्यप्राणवाक्यं, किञ्चिद्ब्रह्मवाक्यमित्यर्थः। * प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वाद् इति *। प्राणान्तराणीन्द्रियाणि, तानि हि मुख्ये प्राणे प्रतिष्ठितानि। जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर इत्युपक्रममात्रम्। * उभौ इति *। पूर्वपक्षतत्त्वम्। ब्रह्म तु ध्रुवम्। * न ब्रह्म इति *। न ब्रह्म-

भामती—व्याख्या

है—"प्राण एव प्रज्ञात्मा"। अतः यहाँ का निष्कर्ष यह है कि—

तस्मादनन्यथासिद्धब्रह्मलिङ्गानुसारतः।
एकवाक्यबलात् प्राणजीवलिङ्गोपपादनम् ॥

ब्रह्म के अव्यभिचरित आनन्दत्वादि लिङ्गों के अनुसार एकवाक्यता अवगत होती है, अतः प्राणवायु और जीव के प्रतीयमान लिङ्गों का ब्रह्म में ही सामञ्जस्य कर लेना चाहिए ॥ २८–३० ॥

भाष्यकार ने जो कहा है कि "न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति" उसका आशय यह है कि उक्त वाक्य नियमतः ब्रह्मपरक नहीं हो सकता, किन्तु कोई वाक्य जीवपरक, कोई मुख्य प्राणपरक और कोई ब्रह्मपरक भी हो सकता है, क्योंकि जीव और मुख्य प्राण का लिङ्ग भी विद्यमान है ["वक्तारं विद्यात्" (कौ. उ. ३।८) यहाँ कार्य-करणाध्यक्षरूप जीव को विज्ञेय बताया है। "प्राण एव प्रज्ञात्मेद शरीरं परिगृह्योत्थापयति" (कौ. उ. ३।३) यहाँ शरीर-धारण मुख्य प्राण का व्यापार कथित है। मुख्य प्राण ही प्रज्ञा के साधनीभूत प्राणान्तर (इन्द्रियों) का आश्रय (प्रतिष्ठापक) माना जाता है, अतः वह प्रज्ञात्मा है। भाष्यकार ने पूर्व पक्ष का उपसंहार करते हुए जो कहा है—"तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा प्रतीयेयाताम्, न ब्रह्म" वहाँ अन्यतरत्व का केवल उपक्रम किया गया है, अर्थात् अन्यतर

उपासात्रैविध्यात्। एवं सति त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत—जीवोपासनं, मुख्यप्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति। नचैतदेकस्मिन् वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम्, उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमवगम्यते। 'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इत्युक्त्वा, अन्ते 'स एव प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इत्येकरूपावुपक्रमोपसंहारौ दृश्येते। तत्रार्थैकत्वं युक्तमाश्रयितुम्। नच ब्रह्मलिङ्गमन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्यम्, दशानां भूतमात्राणां प्रज्ञामात्राणां च ब्रह्मणोऽन्यत्रार्पणानुपपत्तेः। आश्रितत्वाच्चान्यत्रापि ब्रह्मलिङ्गवशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि प्रवृत्तेः। इहापि च हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्गयोगाद् ब्रह्मोपदेश एवायमिति गम्यते। यत्तु मुख्यप्राणलिङ्गं दर्शितम्—'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति—तदसत्, प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात्परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात्, 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥' (काठ० २।५।५) इति श्रुतेः। यदपि 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्याद्' इत्यादि जीवलिङ्गं दर्शितं तदपि न ब्रह्मपक्षं निवारयति। नहि जीवो नामात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः, 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुतिभ्यः। बुद्ध्याद्युपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सञ्जीवः कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते। तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म दर्शयितुं 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादिना प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थ उपदेशो न विरुध्यते। 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥' (के० १।४) इत्यादि च श्रुत्यन्तरं वचनादिक्रियाव्यापृतस्यैवात्मनो ब्रह्मत्वं दर्शयति। यत्पुनरेतदुक्तम्—'सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति प्राणप्रज्ञात्मनोर्भेददर्शनं ब्रह्मवादे नोपपद्यत इति नैष दोषः; ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयाश्रययोर्बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्भेदनिर्देशोपपत्तेः उपाधिद्वयोपहितस्य तु प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेद इत्यतः प्राण एव प्रज्ञात्मेत्येकीकरणमविरुद्धम्।

भामती

वेत्यर्थः। ❀ दशानां भूतमात्राणाम् इति ❀। पञ्च शब्दादयः पञ्च पृथिव्यादय इति दश भूतमात्राः। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च बुद्धय इति दश प्रज्ञामात्राः। तदेवं स्वमतेन व्याख्याय प्राचां वृत्तिकृतां मतेन व्याचष्टे ❀ अथवा इति ❀। पूर्वं प्राणस्यैकमुपासनमपरं जीवस्यापरं ब्रह्मण इत्युपासनत्रैविध्येन वाक्यभेदप्रसङ्गो दूषणमुक्तम्, इह तु ब्रह्मण एकस्यैवोपासात्रयविशिष्टस्य विधानान्न वाक्यभेद इत्यभिमानः प्राचां वृत्तिकृताम्। तदेतदालोचनीयं, कथं न वाक्यभेद इति युक्तं सोमेन यजेतेत्यादौ सोमादिगुणविशिष्टयागविधानं

भामती-व्याख्या

को ही उपासना की जाय—ऐसा स्थिर नहीं। 'उभौ'—यह निर्देश जीव और मुख्य प्राण की प्राप्तिमात्र का बोधक है, ब्रह्म का निषेधक नहीं, क्योंकि ब्रह्म की उपासना तो ध्रुवभावी है। 'न ब्रह्म' इसका अर्थ अवधारणपूर्वक है—'न ब्रह्मेव'। फलतः पूर्व पक्षी की ओर से 'जीव', 'मुख्य प्राण' और 'ब्रह्म'—इन तीनों की उपासना का पर्यवसान किया है, तभी सिद्धान्त में त्रिविध उपासना को असम्भव बताया गया है। भाष्यकार ने जो ब्रह्म की असाधारण क्षमता बताते हुए कहा है—"दशानां भूतमात्राणां प्रज्ञामात्राणां च ब्रह्मणोऽन्यत्रार्पणानुपपत्तेः"। वहाँ शब्दादि पाँच और पृथिव्यादि पाँच—ये मिला कर दश भूतमात्राएँ हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और और उनके कार्यभूत पाँच ज्ञान'—ये दश प्रज्ञामात्राएँ हैं।

३१ वें सूत्र की स्वाभिमत व्याख्या करने के अनन्तर भाष्यकार प्राचीन आचार्य वृत्तिकार के मतानुसार व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—'अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह

अथवा—'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इत्यस्यायमन्योऽर्थः—न ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विरुध्यते। कथम्? उपासात्रैविध्यात्। त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितम्—प्राणधर्मेण, प्रज्ञाधर्मेण, स्वधर्मेण च। तत्र 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः प्राणः' इति, 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, 'तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' इति च प्राणधर्मः। 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति तद्व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य 'वागेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादिः प्रज्ञाधर्मः। 'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्। यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः। यद्धि प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः। न ह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिद्ध्येत्। नो एतन्नाना। 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा' इत्यादिर्ब्रह्मधर्मः। तस्माद् ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितम्। अन्यत्रापि 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इत्यादावुपाधिधर्मेण ब्रह्मण उपासनमाश्रितम्। इहापि तद्युज्यते, वाक्यस्योपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थत्वावगमात् प्राणप्रज्ञाब्रह्मलिङ्गावगमाच्च। तस्माद् ब्रह्मवाक्यमेतदिति सिद्धम्॥ ३१॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीशंकरभगवत्पादकृतौ
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः॥ १॥

भामती

तद्गुणविशिष्टस्यापूर्वस्य कर्मणोऽप्राप्तस्य विधिविषयत्वात्। इह तु सिद्धरूपं ब्रह्म न विधिविषयो भवितुमर्हति, अभावार्थत्वात्। भावार्थस्य विधिविषयत्वनियमाद्, वाक्यान्तरेभ्यश्च ब्रह्मावगतेः प्राप्तत्वात् तदनूद्याप्राप्तोपासाभावार्थो विधेयस्तस्य च भेदाद्विध्यावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदोऽतिस्फुट इति भाष्यकृता

भामती—व्याख्या

तद्योगाद्'—इत्यस्यायमन्योऽर्थः"। भाष्यकार ने अपनी व्याख्या के अनुसार पूर्वपक्ष में वाक्य-भेद-प्रसङ्गरूप दोष दिखाया अर्थात् (१) मुख्य प्राण की उपासना, (२) जीव की उपासना और (३) ब्रह्म की उपासना—इन तीन उपासनाओं की प्रसक्ति के द्वारा वाक्यभेदापत्ति होती है, किन्तु वृत्तिकार की धारणा यह है कि त्रिविध उपासना से युक्त एक ही ब्रह्म का विधान हो जाने से वाक्य-भेद प्रसक्त नहीं होता। अतः यहाँ वाक्य-भेद क्यों नहीं होता—यह विचारणीय है। "सोमेन यजेत" (तै. सं. ३।२।२) इत्यादि स्थलों पर सोमादि द्रव्य याग के अङ्ग (गुण) हैं, अतः अनेक गुणों से युक्त एक प्रधान (याग) का विधान वाक्यभेद के बिना ही सम्पन्न हो जाता है। [महर्षि जैमिनि कहते हैं—"तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद् विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः" (जै. सू. १।४।९)। यदि अन्य किसी वाक्य के द्वारा गुण और कर्म शिष्ट (उपदिष्ट या विहित) नहीं, तब उन गुणों से युक्त कर्म का विधान एक ही वाक्य से हो जाता है, वाक्य-भेद प्रसक्त नहीं होता, वार्तिककार भी कहते हैं

न चेदन्येन शिष्टाः स्युर्यागाः शब्देन केनचित्।
ते गुणाश्चोपदिश्येरन् विधिना ह्यविभागतः॥ (तं. वा. पृ. ३४०)

यागादि कर्म कृति-साध्य होने के कारण विधेय हो जाते हैं, किन्तु] ब्रह्म वैसा नहीं, अपितु सिद्ध पदार्थ है, भावार्थ (धात्वर्थ) स्वरूप न होने से विधेय क्योंकर होगा? भावार्थ ही नियमतः विधि का विषय माना जाता है—"भावार्था कर्मशब्दाः, तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, एष

भामती

नोद्घाटितः । स्वव्याख्यानेनैवोक्तप्रायत्वादिति सर्वमवदातम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते भाष्यविभागे भामत्यां
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ।

भामती-व्याख्या

ह्यर्थो विधीयते" (जै. सू. २।१।१)। याग, दान, होमादिरूप भावार्थ कादाचित्क होने के कारण विधेय होते हैं, किन्तु जो पदार्थ सदैव (नित्य) होता है और जो कभी भी नहीं होता, वे दोनों विधेय नहीं होते—

नित्यं न भवनं यस्य यस्य वा नित्यभूतता ।
न तस्य क्रियमाणत्वं खपुष्पाकाशयोरिव ॥ (तं. वा. पृ. ३७७)

ब्रह्म में किसी प्रकार का भी क्रियमाणत्व सम्भव नहीं, अतः उसमें विधि की विषयता क्योंकर सम्भावित होगी ? ब्रह्म वाक्यान्तरों से अवगत होने के कारण वाक्यान्तरानधिगत सोमयाग के समान विधेय नहीं हो सकता । वाक्यान्तर से प्राप्त (अधिगत) ब्रह्म का अनुवाद करके उपासनरूप भावार्थ का विधान करना होगा, उपासनरूप भावार्थ एक नहीं, अपितु भिन्न है, जैसा कि भाष्यकार कहते हैं—त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितम्—"प्राणधर्मेण, प्रज्ञाधर्मेण, स्वधर्मेण च" । "प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः"—इस न्याय के अनुसार प्रत्येक उपासना के लिए विधि-प्रत्यय की आवृत्ति करनी होगी, फलतः वाक्य-भेद प्रसक्त होगा । यह दोष अत्यन्त स्फुट होने के कारण भाष्यकार ने इसका उद्घाटन नहीं किया, अपनी व्याख्या शैली के आधार पर ध्वनित अवश्य कर दिया है ॥ ३१ ॥

भामतीव्याख्यायां प्रथमाध्यायस्य
प्रथमः पादः समाप्तः ।

प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तवाक्यानामुपास्यब्रह्मविषयाणां विचारः]

(१ सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणम् । सू० १-८)

प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्युक्तम्। तस्य समस्तजगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं, नित्यत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं, सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति। अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषांचिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि। पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदिह्यन्ते—किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किंचिदिति? तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते।

भामती

अथ द्वितीयं पादमारिप्सुः पूर्वोक्तमर्थं स्मारयति वक्ष्यमाणोपयोगितया ❀ प्रथमे पादे इति ❀। उत्तरत्र हि ब्रह्मणो व्यापित्वनित्यत्वादयः सिद्धवद्धेतुतयोपदेक्ष्यन्ते। न चैते साक्षात्पूर्वमुपपादिता इति हेतुभावेन न शक्या उपदेष्टुमिति, अत उक्तम् ❀ समस्तजगत्कारणस्य इति ❀। यद्यप्येते न पूर्वं कण्ठत उक्तास्तथापि ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वोपपादनेनाधिकरणसिद्धान्तन्यायेनोपक्षिप्ता इत्युपपन्नस्तेषा-मुत्तरत्र हेतुभावेनोपन्यास इत्यर्थः। ❀ अर्थान्तरप्रसिद्धानां च इति ❀। यत्रार्थान्तरप्रसिद्धा एवाकाशप्राण-ज्योतिरादयो ब्रह्मणि व्याख्यायन्ते तदव्यभिचारिलिङ्गश्रवणात् तत्र कैव कथा मनोमयादीनामर्थान्तरे प्रसिद्धानां पदानां ब्रह्मगोचरत्वनिर्णयं प्रतीत्यभिप्रायः। पूर्वपक्षाभिप्रायं स्वग्रे दर्शयिष्यामः।

भामती-व्याख्या

संगति—द्वितीय पाद का भाष्य आरम्भ करने से पहले वक्ष्यमाणार्थ का उपयोगी होने के कारण पूर्व-प्रसङ्ग का स्मरण दिलाते हैं—"प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तम्"। आगे चल कर ब्रह्म के व्यापकत्व-नित्यत्वादि ऐसे धर्मों को हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जायगा, जो कि प्रायः सिद्धवत् (उपपादित—जैसे) हैं, किन्तु उनका पहले साक्षात् उपपादन नहीं किया गया, तब उनका हेतु के रूप में क्योंकर उपन्यास हो सकेगा? अतः भाष्यकार ने कहा—"समस्तजगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं नित्यत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं सर्वात्मत्वमित्येवं जातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति"। यद्यपि व्यापित्वादि धर्म साक्षात् किसी शब्द के द्वारा अभिहित नहीं, तथापि ब्रह्म में जगत् के जन्मादि-कारणत्व का उपपादन कर देने से 'अधिकरण सिद्धान्त' के अनुसार ब्रह्म में व्यापित्वादि धर्मों की उपपत्ति अर्थात् हो जाती है और उत्तरत्र उनका हेतु के रूप में उपन्यास संगत हो जाता है [न्याय-सूत्रकार ने 'अधिकरण सिद्धान्त' का लक्षण किया है—"यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः" (न्या. सू. १।१।३०)। शब्दान्तर में इसे अर्थापत्ति कहा जा सकता है कि ईश्वर में जगत्कारणत्व सिद्ध होने पर सर्वज्ञत्वादि धम अर्थात् सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि जिसमें सर्वज्ञत्वादि नहीं, ऐसा अल्पज्ञ पुरुष जगत् का रचयिता नहीं हो सकता]। "अर्थान्तरप्रसिद्धानां शब्दानाम्"—इस भाष्य के द्वारा ऐसे 'आकाश', 'प्राण' और 'ज्योति' शब्दों का ग्रहण किया गया है, जो अर्थान्तर (ब्रह्म से भिन्न भूताकाशादि) के लिए लोक में प्रसिद्ध हैं, किन्तु ब्रह्म के असाधारण (अव्यभिचारी) धर्मों का निर्देश पाकर ब्रह्मपरक निर्णीत हुए हैं। तब अर्थान्तर में प्रसिद्ध मनोमयादि शब्दों के लिए कहना ही क्या? उनमें वैसे ही लिङ्गों को देख कर ब्रह्म-बोधकत्व का निर्णय क्यों न किया जा सकेगा? पूर्वपक्षी का अभिप्राय आगे चल कर कहा जायगा।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

इदमाम्नायते—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत', 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।१,२) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः शारीर आत्मोपास्यत्वेनोपदिश्यते, आहोस्वित्परं ब्रह्मेति ? किं तावत्प्राप्तम् ? शारीर इति। कुतः ? तस्य हि कार्यकरणाधिपतेः प्रसिद्धो मनआदिभिः संबन्धो न परस्य ब्रह्मणः, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २।१।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

भामती

® इदमाम्नायते—सर्वं खल्विदं ब्रह्म ®। कुतः ? ® तज्जलान् इति ®। यतस्तस्माद् ब्रह्मणो जायत इति तज्जम्। तस्मिंश्च लीयत इति तल्लम्। तस्मिन्नानिति स्थितिकाले चेष्टत इति तदन् जगत्तस्मात्सर्वं खल्विदं जगद् ब्रह्म। अतः कः कस्मिन् रज्यते कश्च कं द्वेष्टीति रागद्वेषरहितः शान्तः सन्नुपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीर इत्यादि।

तत्र संशयः - किमिह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः शारीर आत्मोपास्यत्वेनोपदिश्यते आहोस्विद् ब्रह्मेति ? किं तावत्प्राप्तम् ? शारीरः जीव इति। कुतः ? क्रतुमित्यादिवाक्येन विहितां क्रतुभावनामनूद्य सर्वमित्यादिवाक्यं शमगुणे विधिः। तथा च सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति वाक्यं प्रथमपठितमप्यर्थालोचनया परमेव, तदर्थोपजीवित्वात्। एवं च सङ्कल्पविधिः प्रथमो निर्विषयः सन्नपर्यवस्यन्विषयापेक्षः स्वयमनिवृत्तो न विध्यन्तरेणोपजीवितुं शक्यः, अनुपपादकत्वात्। तस्माच्छान्ततागुणविधानात् पूर्वमेव मनोमयः

भामती—व्याख्या

विषय—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति, स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः" (छां. ३।१४।१,२) इत्यादि वाक्यों में कहा गया है कि 'यह समस्त प्रपञ्च निश्चितरूप से ब्रह्मात्मक है, क्योंकि यह प्रपञ्च तज्ज (ब्रह्म से जायमान), तल्ल (ब्रह्म में विलीन) एवं तदन (ब्रह्म से ही अनुप्राणित या स्थितिशील) है, अतः शान्त चित्त से ब्रह्म की उपासना कर, यह मनोमय, प्राणशरीरवाला एवं भारूप (चैतन्यस्वरूप) है—ऐसी उपासना करनी चाहिए।

संशय—क्या यहाँ मनोमयत्वादि धर्मों के द्वारा शारीर (जीव) आत्मा उपास्यत्वेन उपदिष्ट है ? अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—मनोमयत्वादि धर्मों के माध्यम से जीव की ही उपासना विवक्षित है, क्योंकि मनोमयत्वादि धर्मों का सम्बन्ध जीव के साथ ही प्रसिद्ध है। दूसरी बात यह भी है कि "स क्रतुं कुर्वीत" (छां ३।१४।२) इस वाक्य के द्वारा क्रतु (ध्यान, भावना या उपासना) का विधान करके, उस उपासना के उद्देश्य से "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छां. ३।१४।१) इस वाक्य के द्वारा शान्ति (शम) रूप गुण का विधान किया गया है, अतः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—यह वाक्य प्रथम पठित होने पर भी अर्थक्रम के अनुसार उपासना-विधि के अनन्तर माना जाता है, क्योंकि गुण (अङ्ग) को प्रधान की अपेक्षा होने के कारण प्रधान-विधि के अनन्तर ही गुण (अङ्ग) की विधि होती है, पहले नहीं। पहले तो "क्रतुं कुर्वीत" यह विधि अपने विषय के अभाव में अपने स्वरूप-लाभ में व्यग्र होने के कारण शम-विधि की उपजीव्य नहीं बन सकती, अतः शान्ततारूप गुण का विधान करने से पहले ही "मनोमयः प्राणशरीरः" इत्यादि विषयोपस्थापक वाक्यों के साथ उपासना विधि का

ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति स्वशब्देनैव ब्रह्मोपात्तं, कथमिह शारीर आत्मोपास्य आशङ्क्यते ? नैष दोषः, नेदं वाक्यं ब्रह्मोपासनाविधिपरं। किं तर्हि ? शमविधिपरम्। यत्कारणं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्याह। एतदुक्तं भवति— यस्मात्सर्वमिदं विकारजातं ब्रह्मैव तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्च। न च सर्वस्यैकात्मत्वेन रागादयः संभवन्ति, तस्माच्छान्त उपासीतेति। न च शमविधिपरत्वे सत्यनेन

भामती

प्राणशरीर इत्यादिभिर्विषयोपनायकैः सम्बध्यते। मनोमयादि च कार्यकारणसङ्घातात्मनो जीवात्मन एव निरूढ़मिति जीवात्मनोपास्येनोपरक्तोपासना न पश्चाद् ब्रह्मणा सम्बद्धुमर्हति, उत्पत्तिशिष्टगुणावरोधात्। न च सर्वं खल्विदमिति वाक्यं ब्रह्मपरमपि तु शमहेतुवन्निगदार्थवादः शान्तताविधिपरः, शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियत इतिवत्। न चान्यपरादपि ब्रह्मापेक्षिततया स्वीक्रियत इति युक्तम्। मनोमय-

---

भामती-व्याख्या

सम्बन्ध स्थापित होता है। मनोमयत्वादि धर्म कार्य (शरीर) और करण (इन्द्रियों) के संघातरूप जीव में ही निरूढ हैं, अतः उनके द्वारा जीव ही उपास्यत्वेन प्रक्रान्त है। जीवोपासनापरक वाक्य के द्वारा ब्रह्म की उपासना का विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपासना के उत्पत्ति (विधि) वाक्य में ही मनोमयत्वादिरूपेण जीव की उपास्यता शिष्ट (उपदिष्ट) है, अतः वाक्यान्तर में निर्दिष्ट ब्रह्म को उस उपासना का विषय (उपास्य) नहीं मान सकते। [उत्पत्ति-शिष्ट (उत्पत्ति विधि में उपदिष्ट) अङ्ग के द्वारा जब प्रधान कर्म की आकांक्षा निवृत्त हो जाती है, तब वाक्यान्तर से विहित गुण का विधान उस कर्म में नहीं हो सकता, जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—"न वा प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च न प्रकरणं द्रव्यस्य" (जै. सू. १।४।१४)। चातुर्मास्य नाम को इष्टि के चार पर्व (भाग) होते हैं—(१) वैश्वदेव, (२) वरुणप्रघास (३) साकमेध और (४) शुनासीरीय। प्रथम पर्व में आठ कर्म विहित हैं—(१) आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपत्ति, (२) सौम्यं चरुम्, (३) सावित्रं द्वादशकपालम्, (४) सारस्वतं चरुम्, (५) पौष्णं चरुम्, (६) मारुतं सप्तकपालम्, (७) वैश्वदेवमामिक्षाम्, (८) द्यावापृथिव्येककपालम् (तै. सं. १।८।२)। इन आठ यागों की सन्निधि में पठित "वैश्वदेवेन यजेत"—इस वाक्य के द्वारा उक्त आठ कर्मों में विश्वेदेवरूप देवता का विधान विवक्षित है ? अथवा कर्मान्तर का विधान ? इस प्रकार के सन्देह का निराकरण करते हुए कहा गया है—

> गुणान्तरावरुद्धत्वान्नावकाशो गुणोऽपरः।
> विकल्पोऽपि न वैषम्यात्तस्मान्नामैव युज्यते॥ (तं. वा. पृ. ३४७)

अर्थात् उक्त आठों कर्मों के उत्पत्ति वाक्यों में उपदिष्ट अग्नि, सोमादि देवताओं के द्वारा ही कर्मों की आकांक्षा शान्त हो जाती है, देवतान्तर के विधान का अवसर ही नहीं रहता। उसी प्रकार प्रकृत उपासना-विधि में उत्पत्ति-शिष्ट जीव का उपास्यत्वेन अन्वय हो जाने पर वाक्यान्तर के द्वारा ब्रह्मरूप उपास्य के अन्वय का अवसर ही नहीं रह जाता]।

दूसरी बात यह भी है कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां. ३।१४।१) यह वाक्य ब्रह्म का विधायक नहीं, अपितु शम-विधि का वैसे ही हेतुवन्निगदार्थवाद है, जैसे "शूर्पेण जुहोति" (मै. सं. १।१०।११) इस विधि का हेतुवन्निगदार्थवाद है—"तेन ह्यन्नं क्रियते" (श. ब्रा. २।५।२।२३)। [हेतुवन्निगदाधिकरण (जै. सू. १।२।३) में विचार किया गया है कि हेतु-हेतुमद्भाव के प्रकाशक वाक्यों को विधि-वाक्य माना जाय ? अथवा अर्थवाद ? जैसे "शूर्पेण जुहोति"—इस शूर्प-विधि को विषय करके पूर्वपक्ष की ओर से कहा गया है कि "तेन ह्यन्नं

वाक्येन ब्रह्मोपासनं नियन्तुं शक्यते। उपासनं तु 'स क्रतुं कुर्वीत' इत्यनेन विधीयते। क्रतुः संकल्पो ध्यानमित्यर्थः। तस्य च विषयत्वेन श्रूयते—'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गम्। अतो ब्रूमो जीवविषयमेतदुपासनमिति। 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्याद्यपि श्रूयमाणं पर्यायेण जीवविषयमुपपद्यते। 'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इति च हृदयायतनत्वमणीयस्त्वं चाराग्रमात्रस्य जीवस्यावकल्पते, नापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः। ननु 'ज्यायान्पृथिव्या' इत्याद्यपि न परिच्छिन्नेऽवकल्पत इति। अत्र ब्रूमः—न तावदणीयस्त्वं ज्यायस्त्वं चोभयमेकस्मिन्समाश्रयितुं शक्यं, विरोधात्। अन्यतराश्रयणे च प्रथमश्रुतत्वादणीयस्त्वं युक्तमाश्रयितुं, ज्यायस्त्वं तु ब्रह्मभावापेक्षया

भामती

स्वाविभिर्धर्मैर्जीवे सुप्रसिद्धैर्जीवविषयसमर्पणेनानपेक्षितत्वात्। सर्वकर्मत्वादि च जीवस्य पर्यायेण भविष्यति। एवं चाणीयस्त्वमप्युपपन्नम्। परमात्मनस्त्वपरिमेयस्य तदनुपपत्तिः। प्रथमावगतेन चाणीयस्त्वेन ज्यायस्त्वं तदनुगुणतया व्याख्येयम्। व्याख्यातं च भाष्यकृता। एवं कर्मकर्तृव्यपदेशः सप्तमीप्रथ-

---

भामती-व्याख्या

क्रियते"। इस वाक्य में 'हि' अव्यय हेतुतार्थक है, अतः इस वाक्य का अर्थ यह होता है कि शूर्प अन्न के परिष्कार का साधन है, अतः शूर्प से होम करना चाहिए, फलतः 'शूर्प' पद अन्न के साधनीभूत सभी दर्वी, स्थाली आदि का उपलक्षक हो जाता है। इस पूर्व पक्ष का खण्डन करते हुए कहा गया है—

> शूर्पसाधनता श्रौती नाश्रौतैः सा विकल्प्यते।
> अतो निरर्थको हेतुः स्तुतिः तस्मात्प्रवर्तिका॥ (जै. न्या. मा. पृ. ५५)।

अर्थात् हेतु-विधि मान कर दर्वी-स्थाल्यादि अन्य साधनों का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि शूर्पगत साधनता का जैसे प्रत्यक्ष प्रतिपादन है, वैसे दर्वी आदि की साधनता प्रत्यक्ष श्रुत नहीं, अतः उक्त वाक्य शूर्प-स्तुतिपरक अर्थवादमात्र है। उसी प्रकार फल-कामनादि से रहित होकर शान्तभाव से उपासना क्यों करनी चाहिए? इस जिज्ञासा का शामक वाक्य है—"यतः सर्वमिदं ब्रह्म"। अर्थात् जब सब कुछ ब्रह्मरूप है, तब प्राप्य-प्रापकभावादि सम्भव न होने के कारण किसी फल की कामना नहीं करनी चाहिए]।

शङ्का—स्तुतिपरक 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म"— इस वाक्य के द्वारा भी ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि उपासना-विधि के लिए उपास्यत्वेन ब्रह्म अपेक्षित है।

समाधान—यह कहा जा चुका है कि उत्पत्ति-शिष्ट जीव का उपास्यत्वेन अन्वय हो जाने के कारण ब्रह्म की न तो उपास्यत्वेन अपेक्षा रहती है और न प्रकृत उपासना का उपास्य होने के लिए ब्रह्म में योग्यता है, क्योंकि प्रक्रान्त मनोमयत्वादि धर्म जीव में ही प्रसिद्ध हैं, ब्रह्म में नहीं, अतः मनोमयत्वादिरूप से ब्रह्म क्योंकर उपास्य बन सकेगा? वहाँ जो "सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः" (छां. ३।१४।२) इस प्रकार सर्वकर्मत्वादि धर्मों का प्रतिपादन है, वह भी जीव में समञ्जस हो जाता है, क्योंकि जीव अपने अनन्त जन्म-पर्यायों में सभी कर्मों और सभी कामों (फलों) का सम्पादन कर लेता है। इसी प्रकार अणीयस्त्वादि धर्म भी हृदयादि उपाधियों के द्वारा जीव में ही उपपन्न होते हैं, अपरिमेय (अपरिच्छिन्न) ब्रह्म में नहीं। प्रथमोपात्त अणीयस्त्व के अनुसार ही ज्यायस्त्व (व्यापकत्व) का भी जीव में समन्वय भाष्यकार ने किया है कि जीव वस्तुदृष्ट्या ब्रह्मरूप है, ज्यायान् है। 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि" (छां. ३।१४।४) इत्यादि वाक्यों से 'प्रतिपादित उपास्यगत प्राप्ति-कर्मता और उपासक जीवगत प्राप्ति-कर्तृता का व्यवहार एवं "यथा व्रीहिर्वा, यवो वा श्यामाको

भविष्यतीति। निश्चिते च जीवविषयत्वे यदन्ते ब्रह्मसंकीर्तनं—'एतद्ब्रह्म' (छा० ३।१४।४) इति, तदपि प्रकृतपरामर्शार्थत्वाज्जीवविषयमेव । तस्मान्मनोमयत्वादिभिर्धर्मैर्जीव उपास्यः ।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः – परमेव ब्रह्म मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यम् । कुतः ? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्। यत्सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दस्यालम्बनं जगत्कारणम्, इह च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्योपक्रमे श्रुतं, तदेव मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टमुपदिश्यत इति युक्तम्। एवं च सति प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये न भविष्यतः। ननु वाक्योपक्रमे

भामती

मान्तता चाभेदेऽपि जीवात्मनि कथञ्चिद्भेदोपचारेण राहोः शिर इतिवद् द्रष्टव्या। एतद् ब्रह्मेति च जीवविषयं जीवस्यापि देहादिबृंहणत्वेन ब्रह्मत्वात् । एवं सत्यसङ्कल्पादयोऽपि परमात्मवर्तिनो जीवेऽपि सम्भवन्ति, तदव्यतिरेकात् । तस्माज्जीव एवोपास्यत्वेन विवक्षितः, न परमात्मेति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते - समासः सर्वनामार्थः सन्निकृष्टमपेक्षते ।
तद्धितार्थोऽपि सामान्यं नापेक्षाया निवर्त्तकः ।।
तस्मादपेक्षितं ब्रह्म ग्राह्यमन्यपरादपि ।
तथा च सत्यसङ्कल्पप्रभृतीनां यथार्थता ।।

भवेदेतदेवं यदि प्राणशरीर इत्यादीनां साक्षाज्जीववाचकत्वं भवेत् । न त्वेतदस्ति । तथाहि—प्राणः शरीरमस्येति सर्वनामार्थो बहुव्रीहिः सन्निहितं च सर्वनामार्थं सम्प्राप्य तदभिधानं पर्य्यवस्येत् । तत्र मनोमयपदं पर्यवसिताभिधानं तदभिधानपर्यवसानायालं, तदेव तु मनोविकारो वा मनःप्रचुरं वा

भामती—व्याख्या

वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः" (शत. ब्रा. १०।६।३।२) इत्यादि श्रुतियों में उपासक का सप्तम्यन्त ('अन्तरात्मन्') पद से तथा उपास्य का प्रथमान्त 'पुरुष' पद से निर्देश जीव-ब्रह्म का 'राहोः शिरः' के समान औपचारिक भेद लेकर बन जाता है। श्रुति में 'एतद्ब्रह्म' यह निर्देश भी जीवविषयक है, क्योंकि जीव भी देहादि के बृंहण (वृद्धि) का कारण होने से ब्रह्म कहा जाता है। श्रुति-निर्दिष्ट ब्रह्मगत सत्यसंकल्पत्वादि धर्म भी जीव में संभव हो जाते हैं, क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न है। फलतः उक्त श्रुति में जीव ही उपास्यत्वेन विवक्षित है, ब्रह्म नहीं।

सिद्धान्त –

समासः सर्वनामार्थः सन्निकृष्टमपेक्षते ।
तद्धितार्थोऽपि सामान्यं नापेक्षाया निवर्तकः ।।
तस्मादपेक्षितं ब्रह्म ग्राह्यमन्यपरादपि ।
तथा च सत्यसंकल्पप्रभृतीनां यथार्थता ।।

यहाँ जीव को तभी उपास्य माना जा सकता था, जब कि 'प्राणशरीरः' इत्यादि पद साक्षात् जीव के वाचक होते, किन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि 'प्राणः शरीरमस्य–'ऐसा बहुव्रीहि समास जिस अन्यार्थ का बोधक है, वह समास-घटक 'अस्य'—इस सर्वनाम पद का अर्थ है जो कि सन्निकृष्टार्थ का परामर्शक माना जाता है। प्रकृत में ब्रह्म ही सन्निकृष्ट है। यह जो कहा गया है कि 'मनोमयः' इस पद का तद्धित (मयट्) प्रत्यय योग्यता के आधार पर 'अन्तःकरणोपाधिक जीव का उपास्यत्वेन उपनायक है, जीव को लेकर उपास्य की आकांक्षा निवृत्त हो जाती है, वहाँ ब्रह्म का अन्वय नहीं हो सकता। वह कहना सम्भव नहीं, क्योंकि 'मनोमय' पद सामान्यतः मनोविकार-सम्बन्धी पदार्थ का उपस्थापक है, वह जीव ही है—ऐसा नहीं कह

शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं न स्वविवक्षयेत्युक्तम्। अत्रोच्यते—यद्यपि शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं तथापि मनोमयत्वादिपूपदिश्यमानेषु तदेव ब्रह्म सन्निहितं भवति। जीवस्तु न सन्निहितो न च स्वशब्देनोपात्त इति वैषम्यम् ॥ १ ॥

भामती

किमर्थमित्यद्यापि न विज्ञायते। तद्येनैव शब्दः समवेतार्थो भवति स समासार्थः। न चैव जीव एव समवेतार्थो न ब्रह्मणीति, तस्याप्राणो ह्यमना इत्यादिभिस्तद्विरहप्रतिपादनादिति युक्तम्। तस्यापि सर्वविकारकारणतया विकाराणां च स्वकारणादभेदात्तेषां च मनोमयतया ब्रह्मणस्तत्कारणस्य मनोमयत्वोपपत्तेः। स्यादेतत् — जीवस्य साक्षात्मनोमयत्वादयो ब्रह्मणस्तु तद्द्वारा, तत्र प्रथमं द्वारस्य बुद्धिस्थत्वात्तदेवोपास्यमस्तु, न पुनर्जघन्यं ब्रह्म, ब्रह्मलिङ्गानि च जीवस्य ब्रह्मणोऽभेदाज्जीवेऽप्युपपत्स्यन्ते। तदेतदत्र सम्प्रधार्यम् - किं ब्रह्मलिङ्गैर्जीवानां तदभिन्नानामस्तु तद्वत्ता, तथा च जीवस्य मनोमयत्वादिभिः प्रथममवगमात्तस्यैवोपास्यत्वम्, उत न जीवस्य ब्रह्मलिङ्गवत्ता तदभिन्नस्यापि, जीवलिङ्गैस्तु ब्रह्म तद्वत्, तथा च ब्रह्मलिङ्गानां दर्शनात् तेषां च जीवेऽनुपपत्तेर्ब्रह्मैवोपास्यमिति ? वयं तु पश्यामः—

समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्।
विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥

समारोपितस्य हि रूपेण भुजङ्गस्य भीषणत्वादिना रज्जू रूपवती, न तु रज्जुरूपेणाभिगम्यत्वा-

---

भामती—व्याख्या

सकते, सांख्याभिमत प्रधानादि का भी ग्रहण किया जा सकता है। फलतः अन्यपरक (विहित शम की स्तुति के बोधक) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म का उपास्यत्वेन ग्रहण करना चाहिए, सत्यसंकल्पत्वादि का स्वरसतः सामञ्जस्य भी ब्रह्म में ही होता है]।
यद्यपि "अप्राणो ह्यमनाः" (मुण्ड. २।१।२) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म में मनोमयत्वादि का साक्षात् सम्बन्ध निषिद्ध है, तथापि मन से अवच्छिन्न होने के कारण जो जीव मन का विकार या मनोमय माना जाता है, उस जीवरूप विकार का भी ब्रह्म कारण है, कार्य और कारण का अभेद होता है, इस प्रकार जीव के माध्यम से ब्रह्म में भी मनोमयत्वादि का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

शङ्का —जब कि मनोमयत्वादि का साक्षात् सम्बन्ध जीव के साथ और जीव के द्वारा ब्रह्म के साथ सम्पन्न किया जाता है, तब साक्षात् मनोमय जीव को ही उपास्य मानना चाहिए और जो ब्रह्म के लिङ्गों (धर्मों) का निर्देश है, वह भी जीव में घटा लेना चाहिए, क्योंकि जीव ब्रह्म से अभिन्न है।

समाधान—यहाँ यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि क्या ब्रह्म के धर्मों (व्यापकत्वादि) का जीव में सम्बन्ध ब्रह्म के माध्यम से माना जाय ? अथवा जीव के मनोमयत्वादि धर्मों का सम्बन्ध ब्रह्म में जीव के माध्यम से किया जाय ? यदि कहा जाय कि जीव के धर्मों का परम्परा सम्बन्ध ब्रह्म के साथ हो सकता है, किन्तु ब्रह्म के धर्मों का जीव के साथ परम्परया सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब ब्रह्म के व्यापकत्वादि धर्मों का योग जीव में नहीं हो सकता, अतः उन धर्मों के द्वारा ब्रह्म को ही उपास्य मानना होगा। यहाँ हमारा (वाचस्पति मिश्र का) कहना यह है कि -

समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्।
विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥

रज्जुरूप विषय (अधिष्ठान) में जहाँ सर्प का समारोप होता है, वहाँ सर्परूप समारोपित पदार्थ के प्रतीयमान भीषणत्वादि धर्मों का सम्बन्ध रज्जु के साथ तो हो जाता है, क्योंकि उस

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

वक्तुमिष्टा विवक्षिताः। यद्यप्यपौरुषेये वेदे वक्तुरभावान्नेच्छार्थः सम्भवति, तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते। लोके हि यच्छब्दाभिहितमुपादेयं भवति तद्विवक्षितमित्युच्यते, यदनुपादेयं तदविवक्षितमिति। तद्वद्वेदेऽप्युपादेयत्वेनाभिहितं विवक्षितं भवति, इतरदविवक्षितम्। उपादानानुपादाने तु वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते। तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्यसंकल्पप्रभृत-

---

भामती

विना भुजङ्गो रूपवान्, तदा भुजङ्गस्यैवाभावात् किं रूपवत्। भुजङ्गदशायां तु न नास्ति वास्तवी रज्जुः। तदिह समारोपितजीवरूपेण वस्तुसद् ब्रह्म रूपवदुच्यते, न तु ब्रह्मरूपैर्नित्यत्वादिभिर्जीवस्तद्वान् भवितुमर्हति, तस्य तदानीमसम्भवात्। तस्माद् ब्रह्मलिङ्गदर्शनाज्जीवे च तदसम्भवाद् ब्रह्मैवोपास्यं न जीव इति सिद्धम्। एतदुपलक्षणाय च सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति वाक्यमुपन्यस्तमिति। ॐ यद्यप्यपौरुषेयः इति ॐ। शास्त्रयोनित्वेऽपीश्वरस्य पूर्वपूर्वसृष्टिरचितसन्दर्भापेक्षरचनत्वेनास्वातन्त्र्यादपौरुषेयत्वाभिधानं, तथा चास्वातन्त्र्येण विवक्षा नास्तीत्युक्तम्। परिग्रहपरित्यागौ चोपादानानुपादाने उक्ते, न तूपादेयत्वमेव। अन्यथोद्देश्यतयाऽनुपादेयस्य ग्रहादेरविवक्षितत्वेन चमसादावपि संमार्गप्रसङ्गात्। तस्मादनुपादेयत्वेऽपि

भामती-व्याख्या

समग्र रज्जुरूप विषय भी विद्यमान होता है, किन्तु रज्जु के प्रतीयमान ग्राह्यत्व और त्रिगुणत्वादि धर्मों का सम्बन्ध सर्प के साथ नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय सर्प की सत्ता ही नहीं होती। सर्प-प्रतीति-काल में वास्तवी रज्जु नहीं होती—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसके बिना सर्प का भान ही नहीं हो सकता। प्रकृत में समारोपित जीव के मनोमयत्वादि धर्मों को लेकर ब्रह्म मनोमय कहा जा सकता है, किन्तु ब्रह्म के व्यापकत्व नित्यत्वादि धर्मों को लेकर जीव वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आरोप के पहले जीव की सत्ता ही नहीं मानी जाती। फलतः ब्रह्म के प्रतीयमान नित्यत्वादि धर्मों का सम्बन्ध जीव में सम्भव न होने के कारण ब्रह्म ही प्रक्रान्त उपासना का उपास्य है, जीव नहीं—इस भाव को ध्वनित करने के लिए ही भाष्यकार ने कहा है कि "इह च सर्वं खल्विदं ब्रह्म इति वाक्योपक्रमे श्रुतम्, तदेव मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टमुपदिश्यते इति युक्तम्" ॥ १ ॥

"विवक्षितगुणोपपत्तेश्च"—इस सूत्र में उपात्त विवक्षा (वक्तुमिच्छा) की अनुपपत्ति उठाते हुए भाष्यकार ने कहा है—"यद्यपि अपौरुषेये वेदे वक्तुरभावात् नेच्छार्थः सम्भवति"। यद्यपि "शास्त्रयोनित्वात्"—इस सूत्र में ईश्वर को वेदों का वक्ता माना गया है, उसकी इच्छा अनुपपन्न नहीं, तथापि ईश्वर भी गतकल्पीय वेद का ही उपदेष्टा है, स्वतन्त्रतया वेद का रचयिता नहीं माना जाता, अतः वेद के स्वतन्त्र वक्ता की इच्छा अनुपपन्न है। भाष्यकार ने जो कहा है—"उपादानेन फलेनोपचर्यते"। वहाँ उपादान का अर्थ ग्रहण है, विधेय नहीं, क्योंकि लोक में ग्राह्य पदार्थ को विवक्षित कहा जाता है, पदार्थगत विवक्षितत्व का पदार्थकर्मक उपादान (ग्रहण) उपलक्षक होता है। [स्वर्गादि फल के उद्देश्य से यागादि साधन पदार्थों का विधान होता है। विधेय पदार्थ को अगृहीत-ग्राह्य माना जाता है, यागादि यद्यपि ईश्वर के द्वारा गृहीत है, तथापि वह स्वतन्त्र वक्ता नहीं, अतः स्वतन्त्र वक्ता के द्वारा वह अगृहीत है। विधि वाक्य के द्वारा जो विधेय या उपादेय होता है, उसे ही विवक्षित मानने पर लौकिक भोजनादि दृष्टान्तों में उसका सामञ्जस्य नहीं होता, अतः भाष्यस्थ 'उपादान' शब्द का ग्रहण और 'अनुपादान' शब्द का अग्रहण अर्थ अभिमत है]। यदि विधेयत्व-समानाधिकरण उपादेयत्व को ही विवक्षितत्त्व का उपलक्षक माना जाता है, तब स्वर्गादिरूप उद्देश्य पदार्थों

यस्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात् परमात्मन एवावकल्पते । परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यत्र 'सत्यकामः सत्यसंकल्प' इति श्रुतम् । आकाशात्मेत्यादिनाकाशवदात्माऽस्येत्यर्थः । सर्वगतत्वादिभिर्धर्मैः संभवत्याकाशेन साम्यं ब्रह्मणः । 'ज्यायान्पृथिव्याः' इत्यादिना चैतदेव दर्शयति । यदाप्याकाश आत्मा यस्येति व्याख्यायते, तदापि संभवति सर्वजगत्कारणस्य सर्वात्मनो ब्रह्मण आकाशात्मत्वम् । अत एव 'सर्वकर्मा' इत्यादि । एवमिहोपास्यतया विवक्षिता गुणा ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । यत्तूक्त 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इति जीवलिङ्गं न तद् ब्रह्मण्युपपद्यत इति. तदपि ब्रह्मण्युपपद्यत इति ब्रूमः, सर्वात्मत्वाद्धि ब्रह्मणो जीवसम्बन्धीनि मनोमयत्वादीनि ब्रह्मसम्बन्धीनि भवन्ति । तथा च ब्रह्मविषये श्रुतिस्मृती भवतः—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' (श्वे० ४।३) इति, 'सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' (गी० १३।१३) इति च । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड २।१।२) इति श्रुतिः शुद्धब्रह्मविषया, इयं तु 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति सगुणब्रह्मविषयेति विशेषः । अतो विवक्षितगुणोपपत्तेः परमेव ब्रह्मेहोपास्यत्वेनोपदिष्टमिति गम्यते ॥ २ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता । अनेन तु शारीरे तेषा-

---

भामती

ग्रह उद्देश्यतया परिगृहीतो विवक्षितः । तद्गतं त्वेकत्वमवच्छेदकत्वेन वर्जितमविवक्षितम् । इच्छानिच्छे च भक्तितः । तदिदमुक्तम् ॐ वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते इति ॐ । यत्परं वेदवाक्यं तत्तेनोपात्तं विवक्षितम्, अतत्परेण चानुपात्तमविवक्षितमित्यर्थः ॥ २ ॥

स्यादेतत्—यथा सत्यसङ्कल्पादयो ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । एवं शारीरेऽप्युपपद्यन्ते, शारीरस्य ब्रह्मणोऽभे-

---

भामती–व्याख्या

को विवक्षित नहीं कह सकेंगे, क्योंकि वे उपादेय नहीं होते । उद्देश्य को अविवक्षित मान लेने पर "ग्रहं सम्मार्ष्टि" इस विधि में ग्रहत्व अविवक्षित हो जाता है, अतः चमसादि में भी सम्मार्जन प्राप्त होगा [डमरू के आकार के काष्ठमय पात्रों को 'ग्रह' कहा जाता है, क्योंकि उनमें सोमरस का ग्रहण किया जाता है और चतुष्कोणाकार काष्ठमय पात्रों को 'चमस' कहते है, क्योंकि उसमें रखे सोमरसादि का भक्षण अध्वर्यु आदि किया करते हैं] । जब गृहीतत्व धर्म को विवक्षितत्व का उपलक्षक मानते हैं, तब सम्मार्जन के लिए 'ग्रहसंज्ञक' पात्र ही गृहीत होते हैं, अतः ग्रहत्व विवक्षित हो जाता है, चमसादि में ग्रहत्व धर्म न होने के कारण उनमें सम्मार्ग प्राप्त नहीं होता जैसा कि चमसाधिकरण (जै. सू. ३।१।८) में निर्णीत है। "ग्रहं सम्मार्ष्टि"—यहाँ 'ग्रह' पद में एकवचन रखा गया है, उसके आधार पर एक ही ग्रह का सम्मार्जन प्राप्त होता है, अतः एकत्व विवक्षित (ग्रहगत उद्देश्यत्व का अवच्छेदक) नहीं माना जाता, फलतः सभी ग्रहों का सम्मार्जन होता है ग्रहैकत्वाधिकरण (जै. सू. ३।१।७) में ऐसा ही सिद्ध किया गया है । विवक्षित और अविवक्षित पदार्थों में इच्छा और अनिच्छा का गौणरूपेण प्रवेश माना जाता है । भाष्यकार ने यही ध्वनित करने के लिए कहा है— "उपादानानुपादाने तु वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते" । अर्थात् वेद-वाक्य का जिस अर्थ में तात्पर्य होता है, वह विवक्षित और जिस अर्थ में तात्पर्य नहीं होता, वह अविवक्षित है ॥ २ ॥

मनुपपत्तिरुच्यते। तुशब्दोऽवधारणार्थः। ब्रह्मैवोक्तेन न्यायेन मनोमयत्वादिगुणं, न तु शारीरो जीवो मनोमयत्वादिगुणः, यत्कारणं 'सत्यसंकल्पः' आकाशात्मा, अवाकी, अनादरः, ज्यायान्पृथिव्या' इति चैवंजातीयका गुणा न शारीर आञ्जस्येनोपपद्यन्ते। शारीर इति शरीरे भव इत्यर्थः। नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति। सत्यम्, शरीरे भवति, न तु शरीर एव भवति, 'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' (छा० ३।१४।३) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (गौड० ३।३) इति व्यापित्वश्रवणात्। जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात् ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

इतश्च न शारीरो मनोमयत्वादिगुणः, यस्मात्कर्मकर्तृव्यपदेशो भवति 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' (छा० ३।१४।४) इति। एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणमुपास्यमात्मानं कर्मत्वेन प्राप्यत्वेन व्यपदिशति। अभिसंभवितास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन प्रापकत्वेन। अभिसंभवितास्मीति प्राप्तास्मीत्यर्थः। न च सत्यां गतावेकस्य कर्मकर्तृव्यपदेशो युक्तः। तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव। तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादिविशिष्टः ॥ ४ ॥

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

इतश्च शारीरादन्यो मनोमयत्वादिगुणः, यस्माच्छब्दविशेषो भवति समानप्रकरणे श्रुत्यन्तरे—'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः' (शत० ब्रा० १०।६।३।२) इति। शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति, तस्माद्विशिष्टोऽन्यः प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्यात्मनोऽभिधायकः। तस्मात्तयोर्भेदोऽधिगम्यते ॥ ५ ॥

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेदं दर्शयति—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (गी० १८।६१) इत्याद्या। अत्राह—कः पुनरयं शारीरो नाम परमात्मनोऽन्यः, यः प्रतिषिध्यते 'अनुपपत्तेस्तु न

भामती

दात्। शारीरगुणा इव मनोमयत्वादयो ब्रह्मणीत्यत आह सूत्रकारः—अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

यत्तदवोचाम समारोप्यधर्माः समारोपविषये सम्भवन्ति, न तु विषयधर्माः समारोप्य इति। तस्यैत उत्थानम्। अत्राह चोदकः ⊛ कः पुनरयं शारीरो नाम इति ⊛। न तावद्भेदप्रतिषेधाद्भेद-

भामती—व्याख्या

यह जो शङ्का होती है कि सत्यसंकल्पत्वादि धर्म जैसे ब्रह्म में घटते हैं, वैसे ही शारीर (जीव) में भी उपपन्न हो सकते हैं, क्योंकि जीव का ब्रह्म से अभेद है। जीव के मनोमयत्वादि धर्मों का ब्रह्म में जैसे समन्वय किया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म के सत्यसंकल्पादि धर्मों का जीव में सामञ्जस्य क्यों नहीं किया जा सकता?

उस शङ्का का समाधान करने के लिए सूत्रकार ने कहा है—"अनुपपत्तेस्तु न शारीरः"। जीव केवल शरीर में रहने के कारण शारीर कहलाता है, अतः उसमें व्यापक ब्रह्म के व्यापकत्वादि धर्म उपपन्न नहीं हो सकते ॥ ३–५ ॥

यह जो कहा गया कि आरोपित (अध्यस्त) पदार्थ के धर्म अधिष्ठान में व्यवहृत होते हैं, अधिष्ठान के धर्म अध्यस्त में नहीं। उस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि ब्रह्म में अध्यस्त जीव ब्रह्म से भिन्न क्योंकर होगा? जिन दो पदार्थों में भेद का निषेध एवं भेद का व्यवहार

शारीरः' इत्यादिना ? श्रुतिस्तु—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' (बृह० ३।७।२३) इत्येवंजातीयका परमात्मनोऽन्यमात्मानं वारयति । तथा स्मृतिरपि—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३।२) इत्येवंजातीयकेति । अत्रोच्यते—सत्यमेवतत्, पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते । यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते, तद्वत् । तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुध्यते, प्राक् 'तत्त्वमसि' इत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात् । गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात् ॥ ६ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

अर्भकमल्पम्, ओको नीडम्, 'एष म आत्मान्तर्हृदये' (छा० ३।१४।३) इति परिच्छिन्नायतनत्वात्, स्वशब्देन च 'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यणीयस्त्वव्यपदेशात्, शारीर एवाराग्रमात्रो जीव इहोपदिश्यते, न सर्वगतः परमात्मेति यदुक्तं तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः, न तावत्परिच्छिन्नदेशस्य सर्वगतत्वव्यपदेशः कथमप्युपपद्यते, सर्वगतस्य तु सर्वदेशेषु विद्यमानत्वात्परिच्छिन्नदेशव्यपदेशोऽपि

भामती

व्यपदेशाच्च भेदाभेदावेकत्र भाविकौ भवितुमर्हतो विरोधादित्युक्तम् । तस्मादेकमिह तात्त्विकमतात्त्विकं चेतरत् । तत्र पौर्वापर्य्येणाद्वैतप्रतिपादनपरत्वाद्वेदान्तानां द्वैतग्राहिणश्च मानान्तरस्याभावात्तद्बाधनाच्च, तेनाद्वैतमेव परमार्थः । तथा चानुपपत्तेस्त्वित्याद्यसङ्गतार्थमित्यर्थः । परिहरति * सत्यमेवमेतत्, पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिरवच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्य्यते * । अनाद्यविद्यावच्छेदलब्धजीवभावः पर एवात्मा स्वतो भेदेनावभासते । तादृशाश्च जीवानामविद्या, न तु निरुपाधिनो ब्रह्मणः । न चाविद्यायां सत्यां जीवात्मविभागः, सति च जीवात्मविभागे तदाश्रयाऽविद्येत्यन्योन्याश्रयमिति साम्प्रतम् । अनादित्वेन जीवाविद्ययोर्बीजाङ्कुरवदनवक्लृप्तेरयोगात् । न च सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेश्च स्वतः कुतोऽकस्मा-

भामती—व्याख्या

होता है, उनमें भेद और अभेद—दोनों तात्त्विक क्योंकर रह सकेंगे ? भेद और अभेद परस्पर अत्यन्त विरुद्ध होने के कारण एकत्र नहीं रह सकते, अतः भेद और अभेद में से यहाँ एक वास्तविक और दूसरा काल्पनिक मानना होगा । वेदान्त-वाक्यों के पौर्वापर्य को देख कर अभेद में तात्पर्य स्थिर होता है, भेद-ग्रह में अन्य कोई प्रमाण सुलभ नहीं, प्रत्युत ''नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' (बृह. उ. ३।७।२३) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा भेद का निषेध किया गया है । परिशेषतः जीव और ब्रह्म का अभेद ही पारमार्थिक सिद्ध होता है, अतः "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः"—यह सूत्र संगतार्थक नहीं रह जाता, क्योंकि जब जीव ब्रह्म से भिन्न ही नहीं, तब जीव का निषेध और ब्रह्म का विधान क्योंकर हो सकेगा ?

उक्त शङ्का का परिहार-भाष्य है—''सत्यमेवंतत् । पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिरवच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते'' । अर्थात् अनादि अविद्यारूप अवच्छेदक का भेद पाकर परमात्मा ही जीवरूप से पृथक् अवभासित होता है । उन्हीं जीवों की अविद्या मानी जाती है, उपाधि-रहित ब्रह्म की नहीं । अविद्या के होने पर जीव और ब्रह्म का विभाग एवं जीव-ब्रह्म का भेद होने पर जीवाश्रित अविद्या सिद्ध होगी—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष क्यों नहीं होता ? ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के लिए अविद्या का अनादि विशेषण लगाया है । जीव और अविद्या का बीज और अंकुर के समान अनादि प्रवाह होने के कारण अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं माना जाता ।

कयाचिदपेक्षया सम्भवति। यथा समस्तवसुधाधिपतिरपि हि सन्नयोध्याधिपतिरिति व्यपदिश्यते। कया पुनरपेक्षया सर्वगतः सन्नीश्वरोऽर्भकौका अणीयांश्च व्यपदिश्यत इति? निचाय्यत्वादेवमिति ब्रूमः। एवमणीयस्त्वादिगुणगणोपेत ईश्वरस्तत्र हृदयपुण्डरीके निचाय्यो द्रष्टव्य उपदिश्यते, यथा शालग्रामे हरिः। तत्रास्य बुद्धिविज्ञानं ग्राहकम्। सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति। व्योमवच्चैतद् द्रष्टव्यम्। यथा सर्वगतमपि सद् व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयार्भकौकोऽणीयश्च व्यपदिश्यते; एवं ब्रह्मापि। तदेवं निचाय्यत्वापेक्षं ब्रह्मणोऽर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च न पारमार्थिकम्। तत्र यदाशङ्क्यते—हृदयायतनत्वाद् ब्रह्मणो हृदयायतनानां च प्रतिशरीरं भिन्नत्वाद्भिन्नायतनानां च शुकादीनामनेकत्वसावयवत्वानित्यत्वादिदोषदर्शनाद् ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति, तदपि परिहृतं भवति ॥ ७ ॥

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

व्योमवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वप्राणिहृदयसंबन्धाद्, चिद्रूपतया च शारीराद-

भामती

संसारिता, यो हि परतन्त्रः सोऽन्येन बन्धनागारे प्रवेश्येत, न तु स्वतन्त्रः, इति वाच्यम्। नहि तद्भागस्य जीवस्य सम्प्रतितनो बन्धनागारप्रवेशिता येनानुयुज्येत, किन्त्वियमनादिः पूर्वपूर्वकर्माविद्यासंस्कारनिबन्धना नानुयोगमर्हति। न चैतावता ईश्वरस्यानीशता, नह्युपकरणाद्यपेक्षिता कर्तुः स्वातन्त्र्यं विहन्ति। तस्माद्यत्किञ्चिदेतदपीति।

विशेषादिति वक्तव्ये वैशेष्याभिधानमात्यन्तिकं विशेषं प्रतिपादयितुम्। यथा ह्यविद्याकल्पितः सुखादिसम्भोगोऽविद्यात्मन एव जीवस्य युज्यते, न तु निर्मृष्टनिखिलाविद्यातद्वासनस्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य परमात्मन इत्यर्थः। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ३–८ ॥

भामती–व्याख्या

शङ्का–ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-समन्वित (स्वतन्त्र) है, उसमें अकस्मात् संसारित्व (जीवभाव) उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जो अल्पज्ञ और परतन्त्र होता है, वही किसी शासक के द्वारा बन्धनागार में डाला जाता है, स्वतन्त्र पुरुष नहीं।

समाधान–ब्रह्म के अंशभूत जीव में संसारिता आज पैदा नहीं हुई, कि उसके लिए यह प्रश्न उठता कि 'कुतोऽकस्मादस्य संसारिता?' संसारिता तो अनादि है और जीव के पूर्व-पूर्व जन्मों में अर्जित कर्म, अविद्या और संस्कार के द्वारा उत्तरोत्तर संसरण होता जाता है। अविद्यादि की अपेक्षा होने से ईश्वर में स्वातन्त्र्य नहीं रहता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कुलालादि में दण्ड, चक्रादि की अपेक्षा होने पर भी घटादि का स्वतन्त्रकर्तृत्व नष्ट नहीं होता। अतः भेदाश्रित सभी आक्षेप निर्मूल हो जाते हैं क्योंकि भेद वास्तविक नहीं, आविद्यिक मात्र है॥ ६–७॥

"सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न, वैशेष्यात्"—इस सूत्र में जीव और ब्रह्म का आत्यन्तिक भेद बताने के लिए 'विशेषात्'—ऐसा न कह कर 'वैशेष्यात्' ऐसा अभिधान किया गया है, क्योंकि अविद्या के द्वारा कल्पित सुखादि रूप सम्भोग अविद्यारूप जीव में ही बन सकता है, अविद्या एवं अविद्या-जन्य संस्कार से रहित, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप ब्रह्म में नहीं हो सकता—इस प्रकार का वैशिष्ट्य 'वैशेष्य' पद में विहित भावार्थक 'ष्यञ्' प्रत्यय के द्वारा ही आविष्कृत होता है। अवशिष्ट भाष्य अत्यन्त स्पष्टार्थक है॥ ८॥

विशिष्टत्वात्, सुखदुःखादिसंभोगोऽप्यविशिष्टः प्रसज्येत। एकत्वाच्च। न हि परस्मादात्मनोऽन्यः कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्परस्यैव ब्रह्मणः संसारसंभोगप्राप्तिरिति चेत् न, वैशेष्यात्। न तावत्सर्वप्राणिहृदयसंबन्धाच्चिद्रूपतया च शारीरवद् ब्रह्मणः संभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मादिसाधनः सुखदुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य। यदि च सन्निधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसम्बन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः। सर्वगतानेकात्मवादिनामपि समावेतौ चोद्यपरिहारौ। यदप्येकत्वाद् ब्रह्मण आत्मान्तराभावाच्छारीरस्य भोगेन ब्रह्मणो भोगप्रसङ्ग इति। अत्र वदामः—इदं तावद्देवानांप्रियः प्रष्टव्यः। कथमयं त्वयात्मान्तराभावोऽध्यवसीयत इति? 'तत्त्वमसि, 'अहं ब्रह्मास्मि', 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिशास्त्रेभ्य इति चेत्, यथाशास्त्रं तर्हि शास्त्रीयोऽर्थः प्रतिपत्तव्यो न तत्रार्धजरतीयं लभ्यम्। शास्त्रं च 'तत्त्वमसि' इत्यपहतपाप्मत्वादिविशेषणं ब्रह्म शारीरस्यात्मत्वेनोपदिशच्छारीरस्यैव तावदुपभोक्तृत्वं वारयति। कुतस्तदुपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः? अथागृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वं, तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः। न हि बालैस्तलमलिनतादिभिर्व्योम्नि विकल्प्यमाने तलमलिनतादिविशिष्टमेव परमार्थतो व्योम भवति। तदाह—न, वैशेष्यादिति। नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानयोः। मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः, सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम्। न च मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्पृश्यते। तस्मान्नोपभोगगन्धोऽपि शक्य ईश्वरस्य कल्पयितुम्॥ ८॥

(अत्त्रधिकरणम्। सू० ९-१०)

अत्ता चराचरग्रहणात्॥ ९॥

कठवल्लीषु पठ्यते—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' (१।२।२४) इति। अत्र कश्चिदोदनोपसेचनसूचितोऽत्ता प्रती-

भामती

कठवल्लीषु पठ्यते—

'यस्य च ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥' इति॥

अत्र चावनीयौदनोपसेचनसूचितः कश्चिदत्ता प्रतीयते। अत्तृत्वं भोक्तृता वा संहर्तृता वा स्यात्। न च प्रस्तुतस्य परमात्मनो भोक्तृतास्ति, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति श्रुत्या भोक्तृताप्रतिषेधात्

भामती–व्याख्या

विषय—कठोपनिषत् में पढ़ा है—"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः, मृत्युर्यस्योपसेचनम्, क इत्था वेद यत्र सः" (कठ० १।२।२५)। [जिस अत्ता (भक्षक) के ब्राह्मण और क्षत्रिय ओदन (भात) और मृत्युदेव उपसेचन (दाल) है, ऐसा अत्ता जहाँ (अपनी महिमा में) रहता है, उसे कौन जानता है ?]। इस श्रुति में ओदन और उपसेचनरूप भक्ष्य पदार्थ के निर्देश में जो भक्षक व्यक्ति सूचित किया गया है, वह इस भोग्य जगत् का या तो भोक्ता होगा या संहार करनेवाला। प्रक्रान्त ब्रह्म भोक्ता या भक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें

यते। तत्र किमग्निरत्ता स्यात्, उत जीवः, अथवा परमात्मेति संशयः, विशेषानवधारणात्, त्रयाणां चाग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे प्रश्नोपन्यासोपलब्धेः। किं तावत् प्राप्तम्? अग्निरत्तेति। कुतः? 'अग्निरन्नादः' (बृ० १।४।६) इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम्। जीवो वाऽत्ता स्यात्, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति दर्शनात्। न परमात्मा, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (मुण्ड० ३।१।१) इति दर्शनादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—अत्ताऽत्र परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः? चराचरग्रहणात्। चराचरं हि

भामती

जीवात्मनश्च भोक्तृताविधानात् ❀ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति इति ❀। तद्यदि भोक्तृत्वमत्तृत्वं ततो मुक्तसंशयं जीवात्मैव प्रतिपत्तव्यः ब्रह्मक्षत्रादि चास्य कार्य्यकारणसङ्घातो भोगायतनतया वा साक्षाद्वा सम्भवति भोग्यम्। अथ तु संहर्तृता भोक्तृता ततस्त्रयाणामग्निजीवपरमात्मनां प्रश्नोपन्यासोपलब्धेः संहर्तृत्वस्याविशेषाद्भवति संशयः। किमत्ता अग्निराहो जीव उताहो परमात्मेति? अत्रौदनस्य भोग्यत्वेन लोके प्रसिद्धेर्भोक्तृत्वमेव प्रथमं बुद्धौ विपरिवर्त्तते, चरमं तु संहर्तृत्वमिति भोक्तैवात्ता। तथा च जीव एव। ❀ न जायते म्रियते इति ❀ च तस्यैव स्तुतिः, संहारकालेऽपि संस्कारमात्रेण तस्यावस्थानात्। दुर्ज्ञानत्वं च तस्य सूक्ष्मत्वात्। तस्माज्जीव एवात्तेहोपास्यत इति प्राप्तम्। यदि तु संहर्तृत्वमत्तृत्वं तथाप्यग्निरत्ता ❀ अग्निरन्नादः इति ❀। श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम्। एवं प्राप्तेऽभिधीयते। अत्तात्र परमात्मा, कुतः, चराचरग्रहणात् ❀ उभे यस्यौदनः इति ❀। ❀ मृत्युर्यस्योपसेचनम् इति ❀। च श्रूयते तत्र यदि

भामती-व्याख्या

भोक्तृत्व का निषेध किया गया है—"अनश्नन्नन्योऽभचाकशीति" (मुण्ड. ३।१।१)। जीव जो भोक्ता माना गया है—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति" (मु. ३।१।१) अतः कथित अत्तृत्व यदि भोक्तृत्व है, तब निःसन्देह जीव की ही अत्तृत्वेन उपासना करनी होगी। ब्राह्मण और क्षत्रियादि से उपलक्षित कार्य-करण-संघातरूप (अवना) शरीर जीव का भोगायतन होने के कारण अथवा (छागादि का शरीर) साक्षात् भोग्य हो सकता है। यदि भोक्तृत्व का अर्थ संहार-कर्तृत्व विवक्षित है, तब अग्नि, जीव और ब्रह्म—इन तीनों में समानरूप से संहर्तृत्व सम्भव है, क्योंकि तीनों के विषय में प्रश्न और प्रतिवचन उपलब्ध हैं ["स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि" (कठो. १।१।१३) यह अग्निविषयक प्रश्न और "लोकादिमग्निं तमुवाच" (कठो. १।१।१५) यह अग्निविषयक उत्तर है। "येयं प्रेते विचिकित्सा" (कठो. १।१।२०) यह जीव के विषय में प्रश्न और "हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि" (कठो. २।५।६) यह जीवविषयक उत्तर है। "अन्यत्र धर्मात्" (कठो. १।२।१४) यह ब्रह्मविषयक प्रश्न एवं "हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि" (कठो. २।५।६) यह ब्रह्म के विषय में उत्तर है]।

संशय—तीनों की समान चर्चा से संशय हो जाता है कि यहाँ अत्ता (भक्षक) अग्नि है? या जीव? अथवा ब्रह्म? भोक्तृत्व और संहर्तृत्व में से लोक में ओदनादि भोग्य पदार्थ की प्रसिद्धि को लेकर भोक्तृत्व ही पहले बुद्धि में अवस्थित होता है और उसके पश्चात् संहर्तृत्व स्मृति-पथ में आता है।

पूर्वपक्ष—प्रक्रान्त अत्ता भोक्ता सर्वथा जीव ही है, क्योंकि "न जायते म्रियते" (कठो. १।२।१८) इत्यादि से उसी की स्तुति की जाती है, संहार (प्रलय) काल में भी संस्कार मात्रेण उसकी अवस्थिति मानी जाती है। जीव में दुर्ज्ञानता उसकी सूक्ष्मता के कारण है, फलतः जीव ही यहाँ अत्तृत्वेन उपास्य है। यदि संहर्त्ता को अत्ता माना जाता है, तब अग्नि को अत्ता कहना होगा, क्योंकि "अग्निरन्नादः" (बृह. उ. १।४।६) इत्यादि श्रुतियों में वैसा ही अभिहित है।

सिद्धान्त—यहाँ अत्ता (भक्षक) ब्रह्म है, क्योंकि "उभे यस्योदनः" "मृत्युर्यस्योप-

स्थावरजङ्गमं मृत्यूपसेचनमिहाद्यत्वेन प्रतीयते, तादृशस्य चाद्यस्य न परमात्मनोऽन्यः कार्त्स्न्येनात्ता संभवति। परमात्मा तु विकारजातं संहरन् सर्वमत्तीत्युपपद्यते। नन्विह चराचरग्रहणं नोपलभ्यते, कथं सिद्धवच्चराचरग्रहणं हेतुत्वेनोपादीयते? नैष दोषः, मृत्यूपसेचनत्वेन सर्वस्य प्राणिनिकायस्य प्रतीयमानत्वाद्, ब्रह्मक्षत्रयोश्च प्राधान्यात्प्रदर्शनार्थत्वोपपत्तेः। यत्तु परमात्मनोऽपि नात्तृत्वं संभवति, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति दर्शनादिति। अत्रोच्यते – कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकमेतद्दर्शनं, तस्य संनिहितत्वात्। न विकारसंहारस्य प्रतिषेधकं, सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्। तस्मात्परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हतीति ॥ ९ ॥

भामती

जीवस्य भोगायतनतया तत्साधनतया च कार्य्यंकरणसङ्घातः स्थितः, न तद्वौदनः। नह्योदनो भोगायतनं, नापि भोगसाधनम्, अपि तु भोग्यः। न च भोगायतनस्य भोगसाधनस्य वा भोग्यत्वं मुख्यम्। न चात्र मृत्युरुपसेचनतया कल्प्यते। न च जीवस्य कार्य्यंकरणसङ्घातो ब्रह्मक्षत्रादिरूपो भक्ष्यः, कस्यचित् क्रूरसत्त्वस्य व्याघ्रादेः कश्चिद्भवेत्, न तु सर्वः सर्वस्य जीवस्य। तेन ब्रह्मक्षत्रविषयमपि जीवस्यात्तृत्वं न व्याप्नोति किमङ्ग पुनर्मृत्यूपसेचनप्राप्तं चराचरम्। न चौदनपदात् प्रथमावगतभोग्यत्वानुरोधेन यथासम्भवमत्तृत्वं योज्यत इति युक्तम्। नह्योदनपदं श्रुत्या भोग्यत्वमाह, किन्तु लक्षणया। न च लाक्षणिकभोग्यत्वानुरोधेन ❀ मृत्युर्यस्योपसेचनम् इति ❀ च ❀ ब्रह्मक्षत्रं च इति ❀ श्रुतो सङ्कोचमर्हतः। न च ब्रह्मक्षत्रे एवात्र विवक्षिते। मृत्यूपसेचनेन प्राणभृन्मात्रोपस्थापनात्। प्राणिषु प्रधानत्वेन च ब्रह्मक्षत्रोपन्यासस्योपपत्तेः। अन्यनिवृत्तेरशाब्दत्वात्, अनर्थत्वाच्च। तथा च चराचरसंहर्तृत्वं परमात्मन एव,

भामती–व्याख्या

सेचनः"—इस प्रकार चर और अचरात्मक समस्त प्रपञ्च का भोग्य (भक्ष्य) कोटि में ग्रहण किया गया है। वह यदि जीव का भोगायतन (भोग-साधन) रूप भोग्य है, तब वह ओदन के समान मुख्य भोग्य नहीं होगा, क्योंकि चराचरात्मक जगत् जीव का न तो भोगायतन है और न भोग-साधन। यह जो मुख्य भोग्यत्व का सम्पादन करते हुए कहा गया कि ब्रह्मक्षत्रोपलक्षित सभी छागादि शरीरों का जीव भोक्ता है, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि वैसा भोक्ता तो कोई नितान्त क्रूर सिंह, व्याघ्रादि ही हो सकता है, सभी जीवों के भक्षक सभी जीव नहीं हो सकते। जब कि समग्र ब्राह्मण और क्षत्रिय-वर्ग ही सबका भोग्य नहीं हो सकता, तब भला मृत्युरूप उपसेचन से उपलक्षित समस्त चराचर जगत् किस जीव का भोग्य होगा ?

यह जो कहा गया कि यहाँ संहार्यत्व की अपेक्षा भोग्यत्व की प्रथमतः उपस्थिति 'ओदन' पद के प्रभाव से होती है, भोग्यत्व के द्वारा जो भोक्तृत्व प्रतीत होता है, उसके अनुसार 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' पद समस्त चराचार के उपलक्षक न होकर उपभोग-योग्य केवल छागादि का उपस्थापक है। वह कहना भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि 'ओदन' पद भोग्यत्व का बोधक अभिधा वृत्ति से नहीं किन्तु लक्षणा के द्वारा ही होता है। लाक्षणिक भोग्यत्व के अनुरोध पर "मृत्युर्यस्योपसेचनम्", एवं "ब्रह्म च क्षत्रं च"—इन पदों की शक्ति या शब्दार्थ का संकोच नहीं किया जा सकता। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही यहाँ विवक्षित नहीं, अपितु मृत्यूपसेचन के द्वारा समस्त प्राणियों की उपस्थिति विवक्षित है अतः प्राणियों में प्रधान होने के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय का उपन्यास युक्ति-संगत हो जाता है। जैसे "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" (बाल्मी. रा. कि. १७।३९) यह वाक्य परिसंख्या विधि होने के कारण शश्क, शल्यकि, गोधा, खड्गी (गैंडा) और कूर्म—इन पाँच नखवाले पाँच प्राणियों से अतिरिक्त पञ्च नखवाले मनुष्य एवं वानरादि प्राणियों की भक्षणीयता का निवर्त्तक है,

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

इतश्च परमात्मैवेहाऽत्ता भवितुमर्हति, यत्कारणं प्रकरणमिदं परमात्मनः, 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (काठ० १।२।१८) इत्यादि । प्रकृतग्रहणं च न्याय्यम् । 'क इत्था वेद यत्र सः' इति च दुर्विज्ञानत्वं परमात्मलिङ्गम् ॥ १० ॥

(३ गुहाधिकरणम् । सू० ११-१२)

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

कठवल्लीष्वेव पठ्यते—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' (काठ० १।३।१) इति । तत्र संशयः—किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टौ, उत जीवपरमात्मानाविति । यदि

भामती

नाग्नेः, नापि जीवस्य । तथा च ® न जायते म्रियते वा विपश्चिद् इति ® । ब्रह्मणः प्रकृतस्य न हानं भविष्यति ® क इत्था वेद यत्र सः इति ® च दुर्ज्ञानत्वमुपपत्स्यते । जीवस्य तु सर्वलोकप्रसिद्धस्य न दुर्ज्ञानता । तस्मादत्ता परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ १० ॥

संशयमाह - ® तत्र इति ® । पूर्वपक्षे प्रयोजनमाह ® यदि बुद्धिजीवौ इति ® । सिद्धान्ते

भामती—व्याख्या

वैसे ही "ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः"—यह वाक्य भी ब्राह्मण ओर क्षत्रिय से भिन्न प्राणियों की भोग्यता (भक्षणीयता) का निवर्तक क्यों न मान लिया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रत्येक पद की स्वार्थ में शक्ति होती है, अन्यार्थ की निवृत्ति उसका शक्यार्थ नहीं । अन्यार्थ की निवृत्ति यहाँ अनर्थक भी है, क्योंकि दृष्टान्त में मनुष्यादि के भक्ष्यत्व की निवृत्ति न होने पर "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" (म. भारत. वन. २।२१२।३४) इस शास्त्र का बाध प्रसक्त होता है, उसका निवारण जैसे "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इस परिसंख्या का विशेष प्रयोजन है, वैसे "ब्रह्म च क्षत्र चोभे भवत ओदनः"—यहाँ अन्यनिवृत्तिपरक परिसंख्या विधि मानने पर कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । सिद्धान्त में संहर्तृत्वरूप भोक्तृत्व विवक्षित है, चराचरात्मक सर्व प्रपञ्च का संहर्तृत्व ब्रह्म में ही श्रुति-सिद्ध है—"तत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति च" (तै. उ ३।१) । अग्नि और जीव में सर्वसंहर्तृत्व सम्भव नहीं । प्रकृत में "न जायते म्रियते वा कदाचन" (कठो. १।२।१८) इत्यादिरूप से ब्रह्म प्रक्रान्त है, अतः ब्रह्म में सर्व प्रपञ्च के लयाभिधान से प्रकृत की हानि भी नहीं होती । "क इत्था वेद यत्र सः"—इस प्रकार की दुर्ज्ञानता भी ब्रह्म में समञ्जस होती है, अग्नि और जीव तो लोक-प्रसिद्ध ही है उनमें दुर्ज्ञानता का प्रतिपादन संगत नहीं । फलतः यहाँ ब्रह्म ही अत्ता सिद्ध होता है ॥ ९-१० ॥

संशय—"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः" (कठो. १।३।१) । यहाँ सन्देह होता है कि क्या 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादिरूपेण बुद्धि और जीव निर्दिष्ट हैं ? अथवा जीव और ब्रह्म ? पूर्वपक्ष के अनुसार यदि बुद्धि और जीव का निर्देश माना जाता है, तब बुद्धि का प्राधान्य होने के कारण कार्य (शरीर) और करण (इन्द्रियों) के समूह से भिन्न जीव प्रतिपादित होता है, वह भी प्रतिपादनीय है, क्योंकि 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।

बुद्धिजीवौ, ततो बुद्धिप्रधानात्कार्यकरणसंघाताद्विलक्षणो जीवः प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यं, 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥' (काठ० १।१।२०) इति पृष्टत्वात्। अथ जीवपरमात्मानौ ततो जीवाद्विलक्षणः परमात्मा प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यम्, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥' (काठ० १।२।१४) इति पृष्टत्वात्। अत्राहाक्षेप्ता—उभावप्येतौ पक्षौ न संभवतः। कस्मात्? ऋतपानं कर्मफलोपभोगः, 'सुकृतस्य लोके' इति लिङ्गात्। तच्चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य संभवति, नाचेतनाया बुद्धेः। 'पिबन्तौ' इति च द्विवचनेन द्वयोः पानं दर्शयति श्रुतिः। अतो बुद्धिक्षेत्रज्ञपक्षस्तावन्न संभवति। अत एव क्षेत्रज्ञपरमात्मपक्षोऽपि न संभवति, चेतनेऽपि परमात्मनि ऋतपानासंभवात्। 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (मु० ३।१।१) इति मन्त्रवर्णादिति। अत्रोच्यते–नैष दोषः, छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेनापि छत्रिणा बहूनां छत्रित्वोपचारदर्शनात्। एवमेकेनापि पिबता द्वौ पिबन्तावुच्येते। यद्वा—जीवस्तावत् पिबति, ईश्वरस्तु पाययति।

भामती

प्रयोजनमाह ॐ अथ जीवपरमात्मानौ इति ॐ। औत्सर्गिकस्य मुख्यताबलात् पूर्वसिद्धान्तपक्षासम्भवेन पक्षान्तरं कल्पयिष्यत इति मन्वानः संशयमाक्षिपति ॐ अत्राह आक्षेप्तेति ॐ। ऋतं सत्यमवश्यम्भावीति यावत्। समाधत्ते ॐ अत्रोच्यते इति ॐ। आध्यात्मिकाधिकारादन्यौ तावत्पातारावशक्यौ कल्पयितुम्।

भामती—व्याख्या

एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः" (कठो. १।१।२०) इस प्रकार जीव की ही जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है। सिद्धान्त-पक्ष के अनुसार जीव और ब्रह्म का निर्देश मानने पर जीव से भिन्न ब्रह्म प्रतिपादित होता है। वह भी यहाँ प्रतिपादनीय है, क्योंकि "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् तत्पश्यसि तद् वद" (कठो. १।२।१४) इस प्रकार ब्रह्म भी जिज्ञासित है।

आक्षेप—पदार्थों के औत्सर्गिक (स्वाभाविक) सामर्थ्य को देखते हुए पूर्वपक्ष और सिद्धान्त पक्ष दोनों सम्भव नहीं, अतः तृतीय पक्ष की कल्पना करनी होगी—ऐसा समझ कर आक्षेपवादी उक्त संशय पर आक्षेप करता है—"अत्राहाक्षेप्ता उभावप्येतौ पक्षौ न सम्भवतः"। पूर्वपक्ष (बुद्धि और जीव में कर्मफलभोक्तृत्व) असम्भव इस लिए है कि ऋत रूप (सत्य या अवश्यंभावी) कर्म-फल का पान-कर्तृत्व (भोक्तृत्व) केवल जीवरूप चेतन में निसर्ग-सिद्ध है, जड़रूप बुद्धि में नहीं, अतः उन दोनों के लिए 'ऋतं पिबन्तौ' ऐसा द्विवचन का निर्देश क्योंकर सम्भव होगा? इसी प्रकार सिद्धान्त-पक्ष के अनुसार जो ब्रह्म में कर्म-फल-भोक्तृत्व प्रतिपादित है, वह सम्भव नहीं, क्योंकि उसमें वह निषिद्ध है—"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मुण्ड. ३।१।१)।

आक्षेप का परिहार—कथित आक्षेप संभव नहीं, क्योंकि यद्यपि बुद्धि और जीव—इन दोनों में से केवल जीव ही भोक्ता है, जड़ होने के कारण बुद्धितत्त्व को भोक्ता नहीं कह सकते। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म—इन दोनों में से भी एक केवल जीव ही भोक्ता है, ब्रह्म नहीं, क्योंकि असङ्ग होने के कारण उसको भोक्ता नहीं कहा जा सकता—"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"। तथापि जैसे छत्री (छाता-धारी) व्यक्ति के साथ अच्छत्री व्यक्तियों में भी छत्रित्व-व्यवहार होता है—"छत्रिणो यान्ति। वैसे ही कर्म-रस-पान-कर्त्ता (जीव) पुरुष के साथ बुद्धि और ब्रह्मरूप अभोक्ता पदार्थों में भोक्तृत्व-व्यवहार हो जाता है—'ऋतं

पाययन्नपि पिबतीत्युच्यते, पाचयितर्यपि पक्तृत्वप्रसिद्धिदर्शनात्। बुद्धिक्षेत्रज्ञपरिग्रहोऽपि संभवति, करणे कर्तृत्वोपचारात्। एधांसि पचन्तीति प्रयोगदर्शनात्। न चाध्यात्माधिकारेऽन्यौ कौचिद् द्वावृतं पिबन्तौ संभवतः। तस्माद् बुद्धिजीवौ स्यातां, जीवपरमात्मानौ वेति संशयः। किं तावत्प्राप्तं? बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति। कुतः? 'गुहां

भामती

तदिह बुद्धेरचैतन्येन परमात्मनश्च भोक्तृत्वनिषेधेन जीवात्मैवैकः पाता परिशिष्यत इति सृष्टीरुपदधातीतिवद् द्विवचनानुरोधादपिबत्संसृष्टतां स्वार्थस्य पिबच्छब्दो लक्षयन् स्वार्थमजहन्नितरेतरयुक्तपिबदपिबत्परो भवतीत्यर्थः। अस्तु वा मुख्य एव, तथापि न दोष इत्याह ※ यद्वा इति ※। स्वातन्त्र्यलक्षणं हि कर्तृत्वं तच्च पातुरिव पाययितुरप्यस्तीति सोऽपि कर्ता। अत एवाहुः "यः कारयति स करोत्येव इति।" एवं करणस्यापि स्वातन्त्र्यविवक्षया कथञ्चित्कर्तृत्वं, यथा काष्ठानि पचन्तीति। तस्मान्मुख्यत्वेऽप्यविरोध इति।

तदेवं संशयं समाधाय पूर्वपक्षं गृह्णाति ※ बुद्धिक्षेत्रज्ञौ इति ※।

नियताधारता बुद्धिजीवसम्भविनी न हि।
क्लेशात् कल्पयितुं युक्ता सर्वगे परमात्मनि॥

भामती—व्याख्या

पिबन्तौ'। 'छत्रिणो यान्ति'—इस लौकिक न्याय के लिए याज्ञिक-पद्धति में "सृष्टीरुपदधाति" (तै. सं. ५।३।४।७) यह उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है [भूमाधिकरण (जै. सू. १।४।१७) में कहा गया है कि अग्निचयन कर्म करने के लिए जिन ईंटों के द्वारा स्थण्डिल (चबूतरा) बनाया जाता है, उनका यज्ञ-मण्डप में ही निर्माण किया जाता है और स्थण्डिल चुनते समय मन्त्रों का उच्चारण करते रहते हैं। सृजतिपद-घटित "ब्रह्मासृज्यत, भूतान्यसृज्यत" (तै. सं. ४।३।१०।१) इन मन्त्रों के द्वारा चुनी जानेवाली ईंटों को 'सृष्टि' पद से अभिहित किया जाता है। सृष्टिसंज्ञक ईंटों में वे ईंटें भी सम्मिलित कर ली जाती हैं, जिनकी सृष्टि संज्ञा नहीं, सृष्टि और असृष्टि इष्टिकाओं में 'सृष्टीरुपदधाति'—ऐसा व्यवहार वैसे ही हो जाता है, जैसे छत्री और अच्छत्री पुरुषों में छत्रिणो यान्ति—ऐसा व्यवहार लोक-प्रसिद्ध है]। उसी प्रकार कर्मजनित फलों के रस का पान करनेवाले व्यक्तियों के समूह में पान न करनेवाले बुद्धितत्त्व और ब्रह्म का भी समावेश हो जाता है। अथवा बुद्धिरूप करण में वैसे ही कर्तृत्व का व्यवहार हो जाता है, जैसे लोक में 'एधांसि पचन्ति'—ऐसा व्यवहार। इस अध्यात्म (शरीर-सम्बन्धी पदार्थों पर विस्तृत प्रकाश डालनेवाले उपनिषत्] शास्त्र में कर्म-रस पान करनेवाला अन्य कोई जोड़ा तो हो नहीं सकता, होगा तो बुद्धि और जीव या जीव और ब्रह्म का जोड़ा हो सकता है। 'पिबत्' पद अजत्स्वार्थ लक्षणा के द्वारा दोनों का बोधक हो जाता है। अथवा लाक्षणिक पातृत्व को छोड़ कर मुख्य पातृत्व का ग्रहण किया जा सकता है—इसका प्रकार बताते हुए भाष्यकार कहते हैं—"यद्वा जीवः पिबति, ईश्वरस्तु पाययति"। पान क्रिया का स्वातन्त्र्यरूप कर्तृत्व जैसे पान करनेवाले व्यक्ति में रहता है, वैसे ही पान करानेवाले व्यक्ति में भी रहता है, अत एव 'यः करोति, स कारयति'—ऐसा लौकिक न्याय प्रसिद्ध है। बुद्धिरूप करण में पान की कर्तृता का व्यवहार कहा जा चुका है, अतः यदि मुख्य पातृत्व विवक्षित है, तब भी कोई अनुपपत्ति नहीं।

पूर्व पक्ष—संशय की उपपत्ति करने के अनन्तर पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया जाता है—"किं तावत् प्राप्तम्? बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति।

नियताधारता बुद्धिजीवसम्भविनी न हि।
क्लेशात् कल्पयितुं युक्ता सर्वगे परमात्मनि॥

प्रविष्टौ' इति विशेषणात्। यदि शरीरं गुहा, यदि वा हृदयं, उभयथापि बुद्धिक्षेत्रज्ञौ गुहां प्रविष्टावुपपद्येते। न च सति संभवे सर्वगतस्य ब्रह्मणो विशिष्टदेशत्वं युक्तं कल्पयितुम्। 'सुकृतस्य लोके' इति च कर्मगोचरानतिक्रमं दर्शयति। परमात्मा तु न सुकृतस्य वा दुष्कृतस्य वा गोचरे वर्तते; 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति श्रुतेः। 'छायातपौ' इति च चेतनाचेतनयोर्निर्देश उपपद्यते; छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्। तस्माद् बुद्धिक्षेत्रज्ञाविहोच्येयातामित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्ये-

भामती

न च पिबन्तावितिवत्प्रविष्टपदमपि लाक्षणिकं युक्तं, सति मुख्यार्थत्वे लाक्षणिकार्थत्वायोगात्। बुद्धिजीवयोश्च गुहाप्रवेशोपपत्तेः। अपि च सुकृतस्य लोक इति सुकृतलोकव्यवस्थानेन कर्मगोचरानतिक्रम उक्तः। बुद्धिजीवौ च कर्मगोचरमनतिक्रान्तौ। जीवो हि भोक्तृतया बुद्धिश्च भोगसाधनतया धर्मस्य गोचरे स्थितौ, न तु ब्रह्म; तस्यातदायत्तत्वात्। किञ्च छायातपाविति तमःप्रकाशावुक्तौ। न च जीवः परमात्मनोऽभिन्नस्तमः, प्रकाशरूपत्वात्। बुद्धिस्तु जडतया तम इति शक्योपदेष्टुम्। तस्माद् बुद्धिजीवावत्र कथ्येते। तत्रापि प्रेते विचिकित्सापनुत्तये बुद्धेर्भेदेन परलोकी जीवो दर्शनीय इति बुद्धिरुच्यते।

भामती-व्याख्या

कर्म-फल-भोक्ता व्यक्तियों का जो विशेषण दिया गया है—"गुहां प्रविष्टौ" (कठो. १।३।१)। वहाँ 'गुहा' पद से चाहे स्थूल शरीर का ग्रहण किया जाय, चाहे हृदय का, उभयथा गुहारूप नियत (परिच्छिन्न) देश की आधारता बुद्धि और जीव में ही सम्भव है, परमात्मा में उसकी कल्पना करनी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि वह सर्वत्रग (व्यापक) है किसी एकदेश में रहनेवाला (परिच्छिन्न) नहीं। 'पबन्तौ' पद लाक्षणिक (जीव और ब्रह्म—इन दोनों का लक्षक) है, वैसे ही "गुहाँ प्रविष्टौ"—यह भी उभय का लक्षक है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि मुख्यार्थकत्व का असम्भव हो जाने पर ही किसी पद को लाक्षणिक माना जाता है, बुद्धि और जीव को लेकर जब 'प्रविष्टौ' पद मुख्यार्थक हो जाता है, तब उसे ब्रह्म का लक्षक मानने की आवश्यकता नहीं। दूसरी बात यह भी है कि "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके" (कठो. १।३।१) इस मन्त्र के सुकृत' पद का यद्यपि उपनिषद्भाष्य में भाष्यकार ने 'ऋत' पद के साथ अन्वय करते हुए कहा है—"सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतमिति पूर्वेण सम्बन्धः" (काठक-भाष्य पृ. ५९), किन्तु यहां 'सुकृतस्य लोके' ऐसी लेख-भङ्गी से 'सुकृत' पद का 'लोक' पद के साथ अन्वय प्रतीत हो रहा है। तथापि 'सुकृत' पद का उभयत्र अन्वय माना जा सकता है। 'सुकृतस्य लोके' का अर्थ है—'स्वयंकृतस्य पूर्वकर्मणः फलभूतेऽस्मिन् शरीरलक्षणे लोके'। इससे ऋत-पान करनेवालों के साथ कर्म का अटूट सम्बन्ध प्रतिपादित होता है, अतः ऐसे पान-कर्त्ता बुद्धि और जीव ही हो सकते हैं, क्योंकि जीव कर्त्ता और भोक्ता है एवं बुद्धि तत्त्व भोग का साधन। ब्रह्म वैसा नहीं हो सकता, क्योंकि वह कर्म के अधीन नहीं, जैसा कि श्रुति कहती है—"न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (कौ. ब्रा, उ. ३।९)। इसी प्रकार 'छायातपौ' शब्द के द्वारा अन्धकार और प्रकाश अभिहित हैं। जीव और ब्रह्म में से जीव को अन्धकाररूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रकाशस्वरूप ब्रह्म से अभिन्न माना जाता है, बुद्धि जड़ होने के कारण अन्धकाररूप कही जा सकती है, अतः उक्त श्रुति में 'पिबन्तौ' पद के द्वारा बुद्धि और जीव का प्रतिपादन किया जाता है। बुद्धि का प्रतिपादन किस लिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मरने के पश्चात् जो आत्मा की सत्ता और असत्ता का सन्देह होता है, उसकी निवृत्ति करने के लिए बुद्धितत्त्व से भिन्न परलोकगामी जीव का स्वरूप दिखाना आवश्यक है, अतः बुद्धि का ग्रहण किया गया है।

यताम् । कस्मात्? आत्मानौ हि तावुभावपि चेतनौ समानस्वभावौ । संख्याश्रवणे च समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते । अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाश्वः पुरुषो वा । तदिह ऋतपानेन लिङ्गेन निश्चिते विज्ञानात्मनि द्वितीयान्वेषणाय समानस्वभावश्चेतनः परमात्मैव प्रतीयते । ननूक्तं गुहाहितत्वदर्शनान्न परमात्मा प्रत्येतव्य इति गुहाहितत्वदर्शनादेव परमात्मा प्रत्येतव्य इति वदामः । गुहाहितत्वं तु श्रुतिस्मृतिष्वसकृत्परमात्मन एव दृश्यते—'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' (काठ० १।२।१२) 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तै० २।१) 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्' इत्याद्यासु । सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थो देशविशेषोपदेशो न विरुध्यत इत्येतदप्युक्तमेव । सुकृतलोकवर्तित्वं तु छत्रित्ववदेकस्मिन्नपि

भामती

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

ऋतपानेन जीवात्मा निश्चितोऽस्य द्वितीयता ।
ब्रह्मणैव सरूपेण न तु बुद्धया विरूपया ॥
प्रथमं सद्वितीयत्वे ब्रह्मणोऽवगते सति ।
गुहाश्रयत्वं चरमं व्याख्येयमविरोधतः ॥

गौः सद्वितीयेत्युक्ते सजातीयेनैव गवान्तरेणावगम्यते, न तु विजातीयेनाश्वादिना । तदिह चेतनो जीवः सरूपेण चेतनान्तरेणैव ब्रह्मणा सद्वितीयः प्रतीयते, न त्वचेतनया विरूपया बुद्धया । तदेवमृतं पिबन्ताविस्यत्र प्रथममवगते ब्रह्मणि तदनुरोधेन चरमं गुहाश्रयत्वं शालग्रामे हरिरितिवद् व्याख्येयम् । बहुलं हि गुहाश्रयत्वं ब्रह्मणः श्रुतय आहुः । तदिदमुक्तं *तद्दर्शनादिति* । तस्य ब्रह्मणो गुहाश्रयत्वस्य

भामती-व्याख्या

सिद्धान्त—

ऋतपानेन जीवात्मा निश्चितोऽस्य द्वितीयता ।
ब्रह्मणैव सरूपेण न तु बुद्धया विरूपया ॥ १ ॥
प्रथमं सद्वितीयत्वे ब्रह्मणाऽगते सति ।
गुहाश्रयत्वं चरमं व्याख्येयमविरोधतः ॥ २ ॥

ऋत पान करनेवाला (कर्म-फल-भोक्ता) जीव है—यह तथ्य तो निश्चित है, उसमें "ऋतं पिबन्तौ"—यहाँ द्विवचन के द्वारा प्रतिपादित जो द्वितीयता है, उसकी निष्पत्ति ब्रह्म को लेकर ही होती है, बुद्धि को लेकर नहीं, क्योंकि ब्रह्म जीव के समानरूप का (चेतन) और बुद्धि विरुद्धरूप की (जड़) है । लोक में भी 'इयं गौः सद्वितीया'—ऐसा कहने पर इस गौ में सद्वितीयता दूसरी गौ को लेकर ही मानी जाती है, गर्दभादि को लेकर नहीं, क्योंकि दूसरी गौ इस गौ की सजातीय और गर्दभादि विजातीय हैं । फलतः "ऋतं पिबन्तौ"—यहाँ द्विवचन की उपपत्ति के लिए जीव के साथ ब्रह्म को जोड़ा जा सकता है, क्योंकि "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" (कठो. १।२।१८) इत्यादि पूर्व वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म में ही गुहाश्रयत्व का वैसे ही अन्वय किया जा सकता है, जैसे शालग्राम में हरि का । 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" (कठो. १।२।१२), "यो वेद निहितं गुहायाम्" (तै. उ. २।१), "आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्" इत्यादि अनेक श्रौत-वाक्यों में गुहाश्रित ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है—इस तथ्य को सूचित करने के लिए सूत्रकार ने कहा है—"तद्दर्शनात्" (ब्र. सू. १।२।११) । 'तद्दर्शनात्' का अर्थ है—'तस्य (ब्रह्मणः) श्रुतिषु गुहाश्रयत्व दर्शनात्' । जब कि पूर्व वाक्यों में ब्रह्म का दर्शन प्रस्तुत किया गया है, तब "सुकृतस्य लोके"—इत्यादि परवर्ती

वर्तमानमुभयोरविरुद्धम्। छायातपावित्यप्यविरुद्धम्। छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्संसारित्वासंसारित्वयोः। अविद्याकृतत्वात्संसारित्वस्य, पारमार्थिकत्वाच्चासंसारित्वस्य। तस्माद्विज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते॥ ११॥

कुतश्च विज्ञानात्मपरमात्मानौ गृह्येते—

विशेषणाच्च॥ १२॥

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (का० १।३।३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (का० १।३।९) इति च परमात्मानं गन्तव्यम्। तथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (का० १।२।१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्तृमन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ। प्रकरणं चेदं परमात्मनः। 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति च वक्तृविशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते। तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम्। एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा

भामती

श्रुतिषु दर्शनादिति। एवं च प्रथमावगतब्रह्मानुरोधेन सुकृतलोकवर्तित्वमपि तस्य लक्षणया छत्रिन्यायेन गमयितव्यम्। छायातपत्वमपि जीवस्याविद्याश्रयतया ब्रह्मणश्च शुद्धप्रकाशस्वभावस्य तदनाश्रयतया मन्तव्यम्। इममेव न्यायं द्वा सुपर्णेत्यत्राप्युदाहरणे कृत्वाचिन्तया योजयति ※ एष एव न्याय इति ※। अत्रापि किं बुद्धिजीवौ उत जीवपरमात्मानाविति संशय्य करणरूपाया अपि बुद्धेरेधांसि पचन्तीतिवत् कर्तृत्वोपचाराद् बुद्धिजीवाविह पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्तयितव्यम्। सिद्धान्तश्च

भामती—व्याख्या

वाक्यों में अभिहित सुकृतलोक की लाक्षणिक वृत्तिता भी ब्रह्म में छत्रिन्याय या दैष्टयुपधानन्याय से समञ्जस हो जाती है। जीव और ब्रह्म का स्वरूपतः वैलक्षण्य दिखाने के लिए कहा है—"छायातपौ"। वहाँ अविद्यारूप अन्धकार का आश्रय होने के कारण जीव को छाया और शुद्ध स्वप्रकाशस्वरूप ब्रह्म को आतप (प्रकाश) कह दिया गया है॥ ११॥

["आत्मानं रथितं विद्धि" (कठा० १।३।३) इत्यादि वाक्यों के द्वारा रथ-रथी-रूपक के माध्यम से अभिव्यञ्जित जीवगत गन्तृत्व एवं "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठा. १।३।९) इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित ब्रह्म में गन्तव्यत्व (प्राप्यत्व), इसी प्रकार "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥" (कठा. १।२।१२) इत्यादि वाक्यों से कथित जीवगत मन्तृत्व (साक्षात्कर्तृत्व) एवं ब्रह्मनिष्ठ मन्तव्यत्वरूप (साक्षात्क्रियमाणत्व) आदि विशेषणों के द्वारा भी जीव और ब्रह्म ही 'गुहां प्रविष्टौ" सिद्ध होते हैं]।

इसी न्याय (गुहाधिकरण) की योजना 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (मुण्ड० ३।१।१) इस उदाहरण में भी करने के लिए भाष्यकार कहते हैं—'एष न्यायः 'द्वा सुपर्णा' इत्येवमादिष्वपि"। [यह योजना सैद्धान्तिक नहीं, अपितु अभ्युपगममात्र है। कृत्वा (वैसा मानकर) जो चिन्ता (विचार) की जाती है, उसे कृत्वाचिन्ता-(विचार या अभ्युपगममात्र) कहा जाता है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—"यत्पुनः परावृत्य भाष्यकारेणोक्तम्—"अथवा पुनरस्तु ज्ञाने धर्म इत्यभ्युपेत्यवादमात्रम्' तत् पूर्वोक्त दोषपरिहारसामर्थ्यप्रदर्शनार्थं कृत्वाचिन्तान्यायेनोक्तम्' (तं० वा० पृ० २८७)। "द्वा सुपर्णा"—इस मन्त्र में भी यद्यपि सिद्धान्ततः जीव और ब्रह्म विवक्षित नहीं, तथापि यदि उनकी विवक्षा मान ली जाय, तब

सयुजा सखाया' (मुण्ड ३।१।१) इत्येवमादिष्वपि। तत्रापि ह्यध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मा भवति। 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यनश्नचेतनत्वाभ्यां परमात्मा। अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि–'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' (मुण्ड० ३।१।२) इति। अपर आह—'द्वा सुपर्णा' इति नेयमृगस्याधिकरणस्य सिद्धान्तं भजते; पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनान्यथा व्याख्यातत्वात्। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। सत्त्वशब्दो जीवः, क्षेत्रज्ञशब्दः परमात्मेति यदुच्यते-तन्न; सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोरन्तःकरणशारीरपरतया प्रसिद्धत्वात्। तत्रैव च व्याख्यातत्वात्—'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति, अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षं भजते। नह्यत्र शारीरः क्षेत्रज्ञः कर्तृत्व-

---

भामती

भाष्यकृता स्फोरितः। तद्दर्शनादिति च 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः' इत्यत्र मन्त्रे। न खलु मुख्ये कर्तृत्वे सम्भवति करणे कर्तृत्वोपचारो युक्त इति कृत्वाचिन्तामुद्घाटयति ॐ अपर आह ॐ। ॐ सत्त्वं ॐ बुद्धिः। प्रकृते ॐ सत्त्वशब्दः इति ॐ। सिद्धान्तार्थं ब्राह्मणं व्याचष्टे इत्यर्थः। निराकरोति ॐ तन्न इति ॐ। ॐ येन स्वप्नं पश्यति इति ॐ। येनेति करणमुपदिशति, ततश्च भिन्नं कर्तारं क्षेत्रज्ञम् ॐ यो यं शारीर उपद्रष्टा इति ॐ। अस्तु तर्ह्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्ष एव ब्राह्मणार्थः, वचनविरोधे न्यायस्याभासत्वादित्यत आह। ॐ नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षं भजते इति ॐ। एवं हि पूर्वपक्ष-

---

भामती–व्याख्या

उसके उपपादन में गुहाधिकरण की क्षमता है, क्योंकि] "द्वा सुपर्णा"–इस वाक्य में भी सन्देह किया जाता है कि क्या यहाँ सुपर्णों (दो पक्षियों) के रूप में बुद्धि और जीव विवक्षित हैं? अथवा जीव और ब्रह्म? जैसे एधांसि पचन्ति" (लकड़ियां भोजन पकाती हैं) यहाँ पाक के करण (साधनीभूत) काष्ठों में पाक-कर्तृत्व का गौण प्रयोग होता है, वैसे ही बुद्धिरूप करण में कर्म फल-भोग-कर्तृत्व का गौण प्रयोग मान कर बुद्धि और जीव को भोक्ता के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—ऐसे पूर्वपक्ष का जो सिद्धान्त हो सकता है, वह भाष्यकार ने "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः"—इस मन्त्र में द्रष्टृत्व-द्रष्टव्यत्वरूप विशेषणों के माध्यम से स्पष्ट कर दिया है—अध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते।"

इस सिद्धान्त की "कृत्वाचिन्ता' का कारण (अनभिमतता या अस्वरसता) दिखाते हैं—"अपर आह"। 'सत्त्वं शब्द का अर्थ है—बुद्धि, अर्थात् पैङ्गिरहस्य नाम के ब्राह्मण में उक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए बुद्धि और जीव का कथित पक्षियों के रूप में प्रस्तुत किया है अतः जीव और ब्रह्म का वहाँ ग्रहण नहीं कर सकते। शङ्कावादी उक्त ब्राह्मण ही सिद्धान्त के अनुगुण व्याख्या करते हुए कहता है कि उक्त ब्राह्मण में 'सत्त्व' शब्द से जीव और 'क्षेत्रज्ञ' पद से ब्रह्म का ग्रहण क्यों न किया जाय? उसकी इस शङ्का का निराकरण करते हुए कहा गया है—"तन्न"। लोक एवं वेद में 'सत्त्व' शब्द बुद्धि एवं 'क्षेत्रज्ञ' शब्द शारीर (जीव) के लिए प्रसिद्ध माना जाता है। उसी अर्थ में उसकी व्याख्या भी की जाती है—"येन स्वप्नं पश्यति, अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः, तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ"। 'येन' शब्द के द्वारा स्वप्न-दर्शन के करण (साधन) का उपदेश किया गया है। उससे भिन्न स्वप्न-द्रष्टा (क्षेत्रज्ञ) का निर्देश किया गया है—"योऽयं शारीर उपद्रष्टा"। उक्त ब्राह्मण को पूर्वपक्ष का उपस्थापक क्यों न मान लिया जाय? इस प्रश्न का उत्तर है—"नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षं भजते।"

भोक्तृत्वादिना संसारधर्मेणोपेतो विवक्ष्यते। कथं तर्हि? सर्वसंसारधर्मातीतो ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यमात्रस्वरूपः; 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति,' 'अनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः' इति वचनात्। 'तत्त्वमसि', 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' गी० १३।२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। तावता च विद्योपसंहारदर्शनमेवमेवावकल्पते, 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ न ह वा एवंविदि किंचन रज आध्वंसते' इत्यादि। कथं पुनरस्मिन्पक्षे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्' इत्यचेतने सत्त्वे भोक्तृत्ववचनमिति? उच्यते—नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता। किं तर्हि? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति। तदर्थं सुखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति। इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते। परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि संभवति; अचेतनत्वात्सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य। अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न संभवति। तथा च श्रुतिः—

भामती

क्षस्य भवेत, यदि हि क्षेत्रज्ञे संसारिणि पर्यवस्येत्। तस्य तु ब्रह्मरूपतायां पर्यवस्यन्न पूर्वपक्षमपि स्वीकरोतीत्यर्थः। अपि च ❀ तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ न ह वा एवंविदि किञ्चन रज आध्वंसते इति ❀। रजोऽविद्या नाध्वंसनं न संश्लेषमेवंविदि करोति। एतावतैव विद्योपसंहाराज्जीवस्य ब्रह्मात्मतापरतास्य लक्ष्यत इत्याह ❀ तावता च इति। चोदयति ❀ कथं पुनः इति ❀। निराकरोति ❀ उच्यते – नेयं श्रुतिः इति ❀। अनश्नन् जीवो ब्रह्माभिचाकशीतीत्युक्ते शङ्कयेत, यदि जीवो ब्रह्मात्मा नाश्नाति, कथं तर्ह्यस्मिन् भोक्तृत्वावगमः, चैतन्यसमानाधिकरणं हि भोक्तृत्वमवभासत इति। तन्निरासायाह श्रुतिः ❀ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति इति ❀। एतदुक्तं भवति—नेदं भोक्तृत्वं जीवस्य तत्त्वतः, अपि तु बुद्धिसत्त्वं सुखादिरूपपरिणतं चितिच्छायापत्त्योपपन्नचैतन्यमिव भुङ्क्ते, न तु तत्त्वतो जीवः परमात्मा भुङ्क्ते। तदेतद-

भामती–व्याख्या

उक्त ब्राह्मण-वाक्य पूर्वपक्षपरक तब हो सकता था, जब कि वह क्षेत्रज्ञ (संसरणशील जीव) में पर्यवसित होता किन्तु उक्त ब्राह्मण वाक्य का पर्यवसान ब्रह्म में ही होता है, अतः वह पूर्वपक्ष-परक नहीं हो सकता। 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ न ह वा एवंविदि किंचन रज आध्वंसते।" यहाँ 'रजः' शब्द का अर्थ अविद्या और 'आध्वंसन' का अर्थ संश्लेष (सम्बन्ध) है। फलतः विद्या (ब्रह्म-साक्षात्कार) में उपसंहृत (पर्यवसित) होने के कारण उक्त ब्राह्मण वाक्य में जीव-ब्रह्माभेदपरता लक्षित होती है–"तावता च विद्योपसंहारदर्शनमेवावकल्पते"। आक्षेपवादी का कहना है कि 'कथं पुनरस्मिन् पक्षे तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति अचेतने सत्त्वे भोक्तृवचनमिति"। अर्थात् उक्त मन्त्र में यदि बुद्धि और जीव का ग्रहण किया जाता है, तब जड़भूत बुद्धि तत्त्व में कर्म-फल-भोक्तृत्व क्योंकर उपपन्न होगा? इस आक्षेप का परिहार किया जाता है—"नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता"। 'अनश्नन् जीवो ब्रह्माभिचकाशीति' ऐसा अन्वय मानने पर यह शङ्का हो सकती थी कि "यदि जीवो ब्रह्मात्मा नाश्नाति, कथं तर्ह्यस्मिन् भोक्तृत्वावगमः?" क्योंकि 'चेतनोऽहं भोक्ता'—इस प्रकार चैतन्य के अधिकरण में ही भोक्तृत्व अवभासित होता है। उस शङ्का का निरास करने के लिए शङ्का की है—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति"—इस प्रकार बुद्धिरूप प्रथम पक्षी में प्रतिपादित भोक्तृत्व क्योंकर उपपन्न होगा? इस शङ्का का उत्तर जो दिया गया—"नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता" उसका आशय यह है कि जो जीवगत भोक्तृत्व प्रतीत होता है, वह तात्त्विक नहीं, अपितु बुद्धि का सत्त्वगुण सुखादिरूपेण परिणत होता है और बुद्धि ही चैतन्य पुरुष का प्रतिबिम्ब पाकर चेतन के समान होकर अपने में (चैतन्यसमानाधिकरण) भोक्तृत्व का अनुभव करती है, जीव तत्त्वतः ब्रह्म है, भोक्ता नहीं—यह विगत अध्यास-भाष्य

'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येद्' इत्यादिना स्वप्नदृष्टहस्त्यादिव्यवहारवद् विद्याविषय एव कर्तृत्वादिव्यवहारं दर्शयति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना च विवेकिनः कर्तृत्वादिव्यवहाराभावं दर्शयन्ति ॥ १२ ॥

(४ अन्तराधिकरणम् । सू० १३-१७)

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति । तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' (छा० ४।१५।१) इत्यादि

भामती

व्यासभाष्ये कृतव्याख्यानम् । तदनेन कृत्वाचिन्तोद्घाटिता ॥ १२ ॥

नन्वन्तस्तद्धर्मोपदेशादित्यनेनैवेतद् गतार्थम् । सन्ति खल्वत्राप्यमृतत्वादयो ब्रह्मधर्माः प्रतिबिम्बजीवदेवतास्वसम्भविनः । तस्माद् ब्रह्मधर्मोपदेशाद् ब्रह्मैवात्र विवक्षितम् । साक्षाच्च ब्रह्म शब्दोपादानात् । उच्यते—

एष दृश्यत इत्येतत् प्रत्यक्षेऽर्थे प्रयुज्यते ।
परोक्षं ब्रह्म न तथा प्रतिबिम्बे तु युज्यते ॥
उपक्रमवशात् पूर्वमितरेषां हि वर्णनम् ।
कृतं न्यायेन येनैव स खल्वत्रानुषज्यते ॥

भामती-व्याख्या

की व्याख्या (विगत पृ० १४-१५) में स्पष्ट किया जा चुका है। फलतः "द्वा सुपर्णा सयुजा" इस मन्त्र में बुद्धि और जीव का ही ग्रहण किया गया है, जीव और ब्रह्म का नहीं, फिर भी इसमें गुहाधिकरण की योजना अभ्युपगममात्र या कृत्वा चिन्ता है ॥ १२ ॥

विषय—"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति । तद् यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्तमनी एव गच्छति" (छां. ४।१५।१) इत्यादि श्रुति-वाक्य कहते हैं कि 'जो यह आँख में पुरुष दिखाई देता है, वह आत्मा है—ऐसा कहा गया है, वही अमृत है, अभय पद है, वही ब्रह्म है' । इसमें जो घृत या जल डाला जाता है, वह पलकों में चला जाता है ।

संशय—वह पुरुष क्या अक्षिगत प्रतिबिम्ब है ? या विज्ञानात्मा (जीव) ? या इन्द्रिय का अधिष्ठाता देव ? अथवा परमेश्वर (ब्रह्म) ?

पूर्व पक्ष की असंभावना—यह उदाहरण "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" (ब्र. सू. १।१।२०) इस अधिकरण से ही गतार्थ हो जाता है, क्योंकि इस वाक्य में भी ब्रह्म के अमृतत्व, अभयत्वादि ऐसे धर्म अभिहित हैं, जो कि प्रतिबिम्ब, जीव और देवता में सम्भावित नहीं, अतः ब्रह्म-धर्मों का उपदेश होने के कारण दृश्यमान पुरुष के रूप में ब्रह्म ही विवक्षित है, इतना ही नहीं, 'ब्रह्म' शब्द साक्षात् निर्दिष्ट है—"एतद् ब्रह्म" । इस प्रकार का निर्णय देने के लिए अधिकरणान्तर की क्या आवश्यकता ?

पूर्वपक्ष की संभावना—

एष दृश्यत इत्येतत् प्रत्यक्षेऽर्थे प्रयुज्यते ।
परोक्षं ब्रह्म न तथा प्रतिबिम्बे तु युज्यते ॥ १ ॥
उपक्रमवशात् पूर्वमितरेषां हि वर्णनम् ।
कृतं न्यायेन येनैव स खल्वत्रानुषज्यते ॥ २ ॥

श्रूयते। तत्र संशयः – किमयं प्रतिबिम्बात्माऽध्यधिकरणो निर्दिश्यते, अथवा विज्ञानात्मा, उत देवतात्मेन्द्रियस्याधिष्ठाता, अथवेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तम् ? छायात्मा पुरुषप्रतिरूप इति। कुतः ? तस्य दृश्यमानत्वप्रसिद्धेः। 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति च प्रसिद्धवदुपदेशात्। विज्ञानात्मनो वाऽयं निर्देश इति युक्तम्। स हि चक्षुषा रूपं पश्यंश्चक्षुषि सन्निहितो भवति। आत्मशब्दश्चास्मिन्पक्षेऽनुकूलो भवति। आदित्यपुरुषो वा चक्षुषोऽनुग्राहकः प्रतीयते; 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' (बृ० ५।५।२) इति श्रुतेः, अमृतत्वादीनां च देवतात्मन्यपि कथंचित्संभवात्। नेश्वरः; स्थानविशेषनिर्देशादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः – परमेश्वर एवाक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट इति।

भामती

ऋतं पिबन्तावित्यत्र हि जीवपरमात्मानौ प्रथमावगताविति तदनुरोधेन गुहाप्रवेशादयः पश्चादवगता व्याख्याताः, तद्वदिहापि य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत इति प्रत्यक्षाभिधानात् प्रथममवगते छायापुरुषे तदनुरोधेनामृतत्वाभयत्वादयः स्तुत्या कथञ्चिद् व्याख्येयाः। तत्र चामृतत्वं कतिपयक्षणावस्थानाद्, अभयत्वमचेतनत्वात्, पुरुषत्वं पुरुषाकारत्वाद्, आत्मत्वं कनीनिकायां व्यापनात्, ब्रह्मरूपत्वमुक्तरूपामृतत्वादियोगात्। एवं वामनीत्वादयोऽप्यस्य स्तुत्यैव कथञ्चिन्नेतव्याः। कञ्च खं चेत्यादि तु वाक्यमग्नीनां नाचार्यवाक्यं नियन्तुमर्हति। आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति च गत्यन्तराभिप्रायं, न तूक्तपरिशिष्टाभिप्रायम्। तस्माच्छायापुरुष एवात्रोपास्य इति पूर्वः पक्षः। सम्भवमात्रेण तु जीवदेवते उपन्यस्ते, बाधकान्तरोपदर्शनाय चैष दृश्यत इत्यस्यात्राभावात्। अन्तस्तद्धर्मोपदेशादित्यनेन निराकृतत्वात्।

भामती–व्याख्या

जैसे "ऋतं पिबन्तौ" (कठो. १।३।१) यहाँ पर जीव और ब्रह्म प्रथमतः अवगत हैं, अतः उसके अनुरोध पर पश्चात् अवगत गुहा-प्रवेशादि भी जीव-ब्रह्मपरक माने जाते हैं। वैसे ही "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते"—ऐसा प्रत्यक्षाभिधान होने के कारण प्रथमावगत छाया पुरुष में ही पश्चात्कथित अमृतत्व, अभयत्वादि धर्मों का स्तुत्यर्थक समन्वय करना होगा, ब्रह्म में नहीं, क्योंकि वह परोक्ष है, 'एष' पद के द्वारा उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। छाया-पुरुष में कतिपयक्षणावस्थायित्व होने के कारण अमृतत्व, अचेतन होने के कारण अभयत्व (भय की अनुभूति का अभाव), पुरुष की छाया में पुरुषाकारता होने के कारण पुरुषत्व, कनीनिका (काली पुतली) पर्यन्त गति होने के कारण आत्मत्व ('अत सातत्य गमने' धातु से निष्पन्न आत्मत्व का अर्थभूत सर्वतः व्याप्तत्व), अमृतत्वादि का योग होने के कारण ब्रह्मत्व घट जाता है। इसी प्रकार वामनीत्व (वामसंज्ञक कर्म-फलों का) नेतृत्व, भामनीत्व (प्रकाशरूपत्व) आदि की व्याख्या भी प्रस्तुत की जा सकती है। यह जो कहा जाता है कि "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" (छां. ४।१०।५) ऐसे उपक्रम के अनुरोध पर "य एषोऽक्षिणि पुरुषः" (छां. ४।१५।१)। वहाँ भी ब्रह्म का परामर्श किया जाना चाहिए। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि 'प्राणो ब्रह्म'—यह अग्नियों का एवं "य एषोऽक्षिणि पुरुषः"—यह आचार्य का वाक्य है। अन्यकर्तृक वाक्य के अनुरोध पर अन्यकर्तृक वाक्य का नियमन नहीं किया जा सकता। "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" (छां. ४।१४।१) यह वाक्य भी अग्नियों का ही है, अतः वह भी इस आचार्य-वाक्य का नियमन नहीं कर सकता। पूर्व पक्ष की निर्भरता छाया-पुरुष में ही है, जीव और अधिष्ठाता देव का उपन्यास केवल सम्भावना के आधार पर कर दिया गया है, वस्तु-स्थिति को लेकर नहीं, क्योंकि 'एष दृश्यते'—इस वाक्य का सामञ्जस्य भी देवतादि में नहीं होता, 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्'—इस अधिकरण के द्वारा जीवादि का निरास किया जा चुका है।

कस्मात् ? उपपत्तेः। उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपदिश्यमानम्। आत्मत्वं तावन्मुख्यया वृत्त्या परमेश्वर उपपद्यते; 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रुतेः। अमृतत्वाभयत्वे च तस्मिन्नसकृच्छ्रुती श्रूयेते। तथा परमेश्वरानुरूपमेतदक्षिस्थानम्। यथा

भामती

एवं प्राप्त उच्यते –'यः' 'एषः' इति।

अनिष्पन्नाभिधाने द्वे सर्वनामपदे सती।
प्राप्य सन्निहितस्यार्थं भवेतामभिधातृणी ॥

सन्निहिताश्च पुरुषात्मादिशब्दास्ते च न यावत् स्वार्थमभिदधति तावत्सर्वनामभ्यां नार्थस्तयोऽप्यभिधीयत इति कुतस्तदर्थस्यापरोक्षता। पुरुषात्मशब्दौ च सर्वनामनिरपेक्षौ स्वरसतो जीवे वा परमात्मनि वा वर्त्तेते इति। न च तयोश्चक्षुषि प्रत्यक्षदर्शनमिति निरपेक्षपुरुषपदप्रत्यायितार्थानुरोधेन य एष इति दृश्यत इति च यथासम्भवं व्याख्येयम्। व्याख्यातञ्च सिद्धवदुपादानं शास्त्राद्यपेक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थम्। विदुषः शास्त्रत उपलब्धिरेव दृढतया प्रत्यक्षवदुपचर्यते प्रशंसार्थमित्यर्थः। अपि च तदेव चरमं प्रथमानुगुणतया नीयते यन्नेतुं शक्यम्, अल्पञ्च। इह त्वमृतत्वादयो बहवश्चाशक्याश्च नेतुम्। न हि स्वसत्ताक्षणावस्थानमात्रममृतत्वं भवति। तथा सति किं नाम नामृतं स्यादिति व्यर्थममृतपदम्। भयाभद्र

भामती–व्याख्या

सिद्धान्त –

अनिष्पन्नाभिधाने द्वे सर्वनामपदे सती।
प्राप्य सन्निहितस्यार्थं भवेतामभिधातृणी ॥

'यः' और 'एषः'—ये दोनों सर्वनाम पद प्रथम श्रुत होने पर भी सापेक्ष होने के कारण चाक्षुषत्वरूप अर्थ के अभिधान में परिनिष्पन्न (पर्यवसित) नहीं हो सकते, अतः सन्निहित 'पुरुष' पद के विशेष्यरूप अर्थ को पाकर ही वे अभिधाता (वाचक) होते हैं। 'पुरुष' और 'आत्मा' आदि सन्निहित पद जब तक अपने अर्थ का अभिधान नहीं कर लेते, तब तक सर्वनाम पदों ('यः' और 'एषः') के द्वारा किसी भी अर्थ का अभिधान नहीं किया जा सकता, तब अपरोक्षत्व या चाक्षुषत्वरूप अर्थ का बोध वे क्योंकर करा सकेंगे ? 'पुरुष' और 'आत्मा' ये दोनों पद सर्वनाम पदों से निरपेक्ष होकर निसर्गतः जीव या परमात्मा (ब्रह्म) के बोधक होते हैं। जीव और ब्रह्म का चक्षु में प्रत्यक्षतः दर्शन नहीं होता। फलतः निरपेक्ष 'पुरुष' पद के द्वारा जब अपने अर्थ का अभिधान हो जाता है, तब उसके अनुरोध पर 'यः' और 'एषः'—इन दोनों सर्वनाम पदों की यथासम्भव व्याख्या करनी होगी। भाष्यकार ने इस अधिकरण के अन्त में वैसी ही व्याख्या की है—"अस्मिश्च पक्षे प्रसिद्धवदुपादानं शास्त्राद्यपेक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थम्"। आशय यह है कि महावाक्यादि के द्वारा विद्वान् को जो बोध प्राप्त होता है, वह परोक्ष होने पर भी सुदृढ़ होने के कारण प्रत्यक्ष कह दिया गया है कि उक्त ज्ञान की स्तुति सम्पन्न हो। ["तत्त्वमसि" आदि शास्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष बोध की उत्पत्ति माननेवाले आचार्यों के मत से ब्रह्म के लिए भी 'एष दृश्यते शास्त्रेण'—ऐसा व्यवहार हो सकता है, किन्तु वाचस्पति मिश्र के मत से नहीं]।

दूसरी बात यह भी है कि प्रथमोपस्थिति के अनुसार पश्चादुपस्थित पदार्थ का सामञ्जस्य वहाँ ही किया जाता है, जहाँ वैसा करना सम्भव हो। प्रकृत में अमृतत्वादि ऐसे बहुत धर्म हैं, जिनका अन्यत्र संगमन सम्भव नहीं, क्योंकि किसी पदार्थ का केवल अपनी सत्ता के क्षण में रहना (कतिपयक्षणावस्थायित्व) मुख्यतः अमृतत्व नहीं कहा जा सकता, वैसा मान लेने पर संसार की कौन वस्तु अमृत न बन जायगी ? तब 'अमृत' विशेषण अत्यन्त व्यर्थ

हि परमेश्वरः सर्वदोषैरलिप्तः; अपहतपाप्मत्वादिश्रवणात् ; तथाऽक्षिस्थानं सर्वलेपरहितमुपदिष्टं, तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' इति श्रुतेः। संयद्वामत्वादिगुणोपदेशश्च तस्मिन्नवकल्पते—'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते, एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति'। एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति'। एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१५।२,३,४) इति च। अत उपपत्तेरन्तरः परमेश्वरः ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

कथं पुनराकाशवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽक्ष्यल्पं स्थानमुपपद्यत इति ? अत्रोच्यते—

भामती

अपि चेतनधर्मौ नाचेतने सम्भवतः। एवं वामनीत्वादयोऽप्यन्यत्र ब्रह्मणो नेतुमशक्याः। प्रत्यक्षव्यपदेशश्चोपपादितः। तदिदमुक्तम् ❀ उपपत्तेः इति ❀। एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेत्युक्ते स्यादाशङ्का—ननु सर्वगतस्येश्वरस्य कस्माद्विशेषेण चक्षुरेव स्थानमुपदिश्यत इति, तत्परिहरति श्रुतिः ❀ तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति इति ❀। वर्त्मनी पक्ष्मस्थाने। एतदुक्तं भवति—निर्लेपस्येश्वरस्य निर्लेपं चक्षुरेव स्थानमनुरूपमिति। तदिदमुक्तं ❀ तथा परमेश्वरानुरूपम् इति ❀। ❀ संयद्वामादिगुणोपदेशश्च तस्मिन् ❀ ब्रह्मणि ❀। ❀ कल्पते ❀ घटते, समवेतार्थत्वात्। प्रतिबिम्बादिषु त्वसमवेतार्थः। वननीयानि सम्भजनीयानि शोभनीयानि पुण्यफलानि वामानि। संयन्ति संगच्छमानानि वामान्यनेनेति संयद्वामः परमात्मा। तत्कारणत्वात् पुण्यफलोत्पत्तेः। तेन पुण्यफलानि संगच्छन्ते। स एव पुण्यफलानि वामानि नयति लोकमिति वामनीः। एष एव भामनीः। भामानि भानानि तानि नयति लोकमिति भामनीः। तदुक्तं श्रुत्या—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति ॥ १३ ॥

आशङ्कोत्तरमिदं सूत्रम्। आशङ्कामाह ❀ कथं पुनरिति❀। स्थानिनो हि स्थानं महद् दृष्टम्। यथा

भामती–व्याख्या

हो जाता है। भय और अभय भी चेतन के धर्म हैं, अचेतन बुद्धि में वे सम्भव नहीं होते। इसी प्रकार वामनीत्व, भामनीत्वादि धर्म भी ब्रह्म से अन्यत्र संगमित नहीं किए जा सकते। 'दृश्यते'—इस प्रकार के प्रत्यक्षता-व्यवहार का शास्त्रीय ज्ञान में तात्पर्य बताया जा चुका है। इस प्रकार के उपपादन को सूचित करने के लिए सूत्रकार ने कहा है—"उपपत्तेः"।

एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म"—ऐसा कहने पर आशङ्का की जा सकती है—"कथं पुनराकाशवत् सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽक्ष्यल्पं स्थानमुपपद्यते? अर्थात् आकाश के समान व्यापक ब्रह्म को एक आँख-जैसे स्वल्प स्थान में सीमित क्योंकर किया जा सकता है? इस आशङ्का का परिहार श्रुति के द्वारा किया जाता है—"तद्यद्यपि अस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्तमनी एव गच्छति" (छां. ४।१५।१)। आशय यह है कि निर्लेप ब्रह्म का चक्षुपात्र-जैसा निर्लेप स्थान ही उचिततम है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"तथा परमेश्वरानुरूपमेतदक्षिस्थानम्"। "संयद्वामत्वादिगुणोपदेशश्च तस्मिन् अवकल्पते"—इस भाष्य में 'तस्मिन्' का अर्थ—ब्रह्मणि और 'अवकल्पते' का अर्थ—घटते हैं, क्योंकि ब्रह्म में ही विशेषण पदों का अर्थ समन्वित होता है, प्रतिबिम्बादि में नहीं। 'वन सम्भक्तौ' धातु से निष्पन्न 'वामन्' शब्दका अर्थ है—शोभन, अतः पुण्यरूप कर्म-फल के लिए 'वननीयानि संभजनीयानि पुण्यफलानि'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्म को 'संयद्वाम' इस लिए कहा जाता है कि वह संयन्ति संगच्छमानि वामानि अनेन—इस प्रकार पुण्य फल का गमयिता है। ब्रह्म को ही 'भामनी' कहा गया है, क्योंकि वह भामसंज्ञक प्रकाश का नेता (प्रकाशक) है, जैसा कि श्रुति कहती है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् (कौ. ब्रा. २।५।१५) ॥ १३ ॥

"स्थानादिव्यपदेशाच्च"—यह सूत्र जिस शङ्का का उत्तर है, वह शङ्का है—'कथं

भवेदेषाऽनवक्लृप्तिः, यद्येतदेवैकं स्थानमस्य निर्दिष्टं भवेत्। सन्ति ह्यन्यान्यपि पृथिव्यादीनि स्थानान्यस्य निर्दिष्टानि—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (बृ० ३।७।३) इत्यादिना। तेषु हि चक्षुरपि निर्दिष्टम् -'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इति। 'स्थानादिव्यपदेशात्' इत्यादिग्रहणेनैतद्दर्शयति—न केवलं स्थानमेवैकमनुचितं ब्रह्मणो निर्दिश्यमानं दृश्यते, किं तर्हि ? नामरूपमित्येवंजातीयकमप्यनामरूपस्य ब्रह्मणोऽनुचितं निर्दिश्यमानं दृश्यते—'तस्योदिति नाम', 'हिरण्यश्मश्रुः' (छा० १।६।७,६) इत्यादि। निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते, शालग्राम इव विष्णोरित्येतदप्युक्तमेव ॥ १४ ॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यं—किं ब्रह्मास्मिन्वाक्येऽभिधीयते न वेति ? सुखविशिष्टाभिधानादेव ब्रह्मत्वं सिद्धम्। सुखविशिष्टं हि ब्रह्म यद्वाक्योपक्रमे प्रक्रान्तं

भामती

यावसामक्षिः। तत्कथमत्यल्पं चक्षुरधिष्ठानं परमात्मनः परममहत इति शङ्कार्थः। परिहरति ॐअत्रोच्यते इतिॐ। स्थानान्यादयो येषां ते स्थानादयो नामरूपप्रकारास्तेषां व्यपदेशात् सर्वगतस्यैकस्थाननियमो नावकल्पते, न तु नानास्थानत्वं नभस इव नानासूचीपाशादिस्थानत्वम्। विशेषतस्तु ब्रह्मणस्तानि तान्युपासनास्थानानीति तैरस्य युक्तो व्यपदेशः ॥ १४ ॥

अपि च प्रकृतानुसारादपि ब्रह्मैवात्र प्रत्येतव्यं, न तु प्रतिबिम्बजीवदेवता इत्याह सूत्रकारः—ॐ सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॐ। एवं खल्वाख्यायते—उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबालि ब्रह्मचर्य्यमुवास, तस्याचार्यस्य द्वादश वर्षाण्यग्नीनुपचचार, स चाचार्योऽन्यान् ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायं ग्राहयित्वा समावर्त्तयामास, तमेवैकमुपकोसलं न समावर्त्तयति स्म, जायया च तत्समावर्त्तनायार्थितोऽपि तद्वचनमवधीर्याचार्यः प्रोषितवान्।

भामती–व्याख्या

पुनराकाशवत् सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽत्यल्पं स्थानमुपपद्यते ?" ब्रह्मरूप स्थानी पदार्थ का स्थान वैसे ही महान् होता है, जैसे जल-जन्तुओं का समुद्र, तब उस महान् ब्रह्म का अक्षि-जैसा स्वल्प स्थान क्योंकर बन सकता है—यह शङ्का का अर्थ है। उस शङ्का का परिहार है—"अत्रोच्यते"। सूत्र-घटक 'स्थानादि' शब्द का समास है—"स्थानानि आदयो येषां ते स्थानादयः'। इस प्रकार नामरूपादि समस्त प्रपञ्च जिसका निवास-स्थान है, ऐसा सर्वगत परमेश्वर किसी एक स्थान पर नियन्त्रित क्योंकर हो सकेगा ? उक्त शङ्का के परिहार सूत्र का भाव यह है कि जैसे व्यापक आकाश का सूची-पाश (सुई के छेद) के समान स्वल्प स्थान निर्दिष्ट होता है, वैसे ही व्यापक ब्रह्म का अक्षि, दहरादि स्वल्प स्थान में निर्देश उपासना के लिए हो जाना अनुचित नहीं ॥ १४ ॥

प्रकरण के अनुसार भी अक्षिपुरुष के रूप में ब्रह्म ही निर्दिष्ट है, प्रतिबिम्ब, जीव और देवता नहीं—ऐसा सूत्रकार कहता है—"सुखविशिष्टाभिधानादेव च।" ऐसी उपाख्या कथा) प्रसिद्ध है कि कमल के उपकोसलनामक पुत्र ने आचार्य सत्यकाम जाबालि की शरण में बारह वर्ष-पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, आचार्य की अग्नियों की सेवा की। आचार्य ने अन्य बहुत-से अन्तेवासियों को वेद-वेदाङ्ग पढ़ाकर उनका समावर्तन (गुरु-कुल से अवकाश) संस्कार कर दिया, किन्तु एक उपकोसल का समावर्तन नहीं किया। गुरु-पत्नी के अनुरोध करने पर भी आचार्य ने उसका समावर्तन नहीं किया। तब अत्यन्त खिन्नमनस्क उपकोसल

'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, तदेवेहाभिहितं, प्रकृतपरिग्रहस्य न्याय्यत्वात्। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (छा० ४।१४।१) इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानात्। कथं पुनर्वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म विज्ञायत इति ? उच्यते—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्येतदग्नीनां वचनं श्रुत्वोपकोसल उवाच—'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म, कं च खं च तु न विजानामि' इति। तत्रेदं प्रतिवचनम्—'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' (छा० ४।१०।५) इति। तत्र खंशब्दो भूताकाशे निरूढो लोके। यदि तस्य विशेषणत्वेन कंशब्दः सुखवाची नोपादीयेत, तथा सति केवले भूताकाशे ब्रह्मशब्दो नामादिष्विव प्रतीकाभिप्रायेण प्रयुक्त इति प्रतीतिः स्यात्। तथा कंशब्दस्य विषयेन्द्रि-

भामती

ततोऽतिखिन्नमानसमग्निपरिचरणकुशलमुपेत्य त्रयोऽग्नयः करुणापराधीनचेतसः श्रद्दधानायाऽस्मै गुरुभक्तये समेत्य ब्रह्मविद्यामूचिरे—प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति। अथोपकोसल उवाच—विजानाम्यहं प्राणो ब्रह्मेति, स हि सूत्रात्मा विभूतिमत्तया ब्रह्मरूपाविर्भावाद् ब्रह्मेति, किन्तु कं च खं च ब्रह्मेत्येतन्न विजानामि, नहि विषयेन्द्रियसम्पर्कजं सुखमनित्यं लोकसिद्धं खं च भूताकाशमचेतनं ब्रह्म भवितुमर्हति। अथैनमग्नयः प्रत्यूचुः—यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति। एवं संभूयोक्त्वा प्रत्येकं च स्वविषयां विद्यामूचुः – पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इत्यादिना। पुनस्त एनं संभूयोचुः—एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्या प्रत्येकमुक्ता स्वविषया विद्या, आत्मविद्या चास्माभिः संभूय पूर्वमुक्ता—प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति, आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता। ब्रह्मविद्येयमुक्तास्माभिर्गतिमात्रं त्ववशिष्टं नोक्तम्, तत्तु विद्याफलप्राप्तये जाबालस्तवाचार्यो वक्ष्यतीत्युक्त्वाऽग्नय उपरेमिरे। एवं व्यवस्थिते यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमित्येतद् व्याचष्टे भाष्यकारः ® तत्र खंशब्द: इति ®। ® प्रतीकाभिप्रायेण इति ®। आश्रयान्तरप्रत्ययस्याश्रयान्तरे क्षेपः

भामती—व्याख्या

को गार्हपत्य, दक्षिणा और आहवनीय नाम की) तीनों अग्नियों ने मिलकर करुणार्द्र मन से उस अपने परम श्रद्धालु भक्त उपकोसल को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया—"प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म"। उपकोसल ने कहा—मैं 'प्राणो ब्रह्म'—यह जानता हूं, क्योंकि प्राणरूप सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ) बृहद् विभूतियों से सम्पन्न होने के कारण ब्रह्म कहा जाता है, किन्तु "कं च खं च ब्रह्म"—यह समझ में नहीं आता, क्योंकि विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जनित लौकिक अनित्य सुख और लोक-प्रसिद्ध अवकाशात्मक आकाश कभी ब्रह्म नहीं हो सकते। तब उस ब्रह्मचारी को अग्नियों ने मिलकर कहा—"यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्।" इस प्रकार का सामूहिक उपदेश देने के अनन्तर तीनों [गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) और आहवनीय] अग्नियों ने क्रमशः पृथक्-पृथक् शिक्षा दी—"पृथिव्यग्नि-रन्नमादित्यः"—इत्यादि। पुनः तीनों ने मिलकर उपदेश किया—"एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्या" अर्थात् यह हमारी अपनी विद्या है और आत्मविद्या का तो हम तीनों ने मिलकर उपदेश किया था—"प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता।" अर्थात् हम लोगों ने केवल आत्मविद्या कह दी है, गति (मार्ग) मात्र अवशिष्ट है, वह विद्या-फल की प्राप्ति के लिए आचार्य जाबाल कहेंगे। इतना कहकर अग्नियाँ उपरत हो गईं। "यदेव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्" - इसकी व्याख्या भाष्यकार कर रहे हैं—"तत्र खं शब्दो भूताकाशे निरूढः"। भाष्यकार ने जो कहा है—"ब्रह्मशब्दो नामादिष्विव प्रतीकाभिप्रायेण प्रयुक्तः"। वहाँ प्रतीक का अर्थ है—'अन्यविषयक प्रतीति का अन्यत्र क्षेपण (आरोपण), जैसे 'ब्रह्म' शब्द, परमात्मा का वाचक है, किन्तु उसका नामादि में प्रयोग (अर्थात् इसको ही ब्रह्म समझना चाहिए जो कि नामादि है)। उसी प्रकार जो भूताकाश है, उसे ही ब्रह्म समझना। यह सिद्धान्ततः

यसंपर्कजनिते सामये सुखे प्रसिद्धत्वात्, यदि तस्य खंशब्दो विशेषणत्वेन नोपादीयेत, लौकिकं सुखं ब्रह्मेति प्रतीतिः स्यात्। इतरेतरविशेषितौ तु कंखंशब्दौ सुखात्मकं ब्रह्म गमयतः। तत्र द्वितीये ब्रह्मशब्देऽनुपादीयमाने कं खं ब्रह्मेत्येवोच्यमाने कंशब्दस्य विशेषणत्वेनैवोपयुक्तत्वात्सुखस्य गुणस्याध्येयत्वं स्यात्, तन्मा भूदित्युभयोः कंखंशब्दयोर्ब्रह्मशब्दशिरस्त्वं 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति। इष्टं हि सुखस्यापि गुणस्य गुणवद्ध्येयत्वम्। तदेवं वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्मोपदिष्टम्। प्रत्येकं च गार्हपत्यादयोऽग्नयः स्वं स्वं महिमानमुपदिश्य 'एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या च' इत्युपसंहरन्तः पूर्वत्र ब्रह्म निर्दिष्टमिति ज्ञापयन्ति। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानमर्थान्तरविवक्षां वारयति। 'यथा पुष्करपलाश आपो न

भामती

प्रतीकः, यथा ब्रह्मशब्दः परमात्मविषयो नामादिषु क्षिप्यते—एवमेव तद् ब्रह्म ज्ञेयं यन्नामेति। तथैवमेव तद् ब्रह्म यद् भूताकाशमिति प्रतीतिः स्यात्। न चैतत्प्रतीकत्वमिष्टम्। लौकिकस्य सुखस्य साधनपारतन्त्र्यं क्षयिष्णुता चामयस्तेन सह वर्तत इति सामयं सुखम्। तदेवं व्यतिरेके दोषमुक्त्वोभयान्वये गुणमाह ❀ इतरेतरविशेषितौ तु इति ❀। तदर्थयोर्विशेषिरवाच्छब्दावपि विशेषितावुच्येते। सुखशब्दसमानाधिकरणो हि खंशब्दो भूताकाशमर्थं परित्यज्य ब्रह्मणि गुणयोगेन वर्तते। तादृशा च खेन सुखं विशिष्यमाणं सामयाद्व्यावृत्तं निरामयं भवति। तस्मादुपपन्नमुभयोपादानम। ब्रह्मशब्दाभ्यासस्य प्रयोजनमाह ❀ तत्र-द्वितीय इति ❀। ब्रह्मपदं कंपदस्योपरि प्रयुज्यमानं शिरः, एवं खंपदस्यापि ब्रह्मपदं शिरो ययोः कंखंपदयोस्ते ब्रह्मशिरसी, तयोर्भावो ब्रह्मशिरस्त्वम्। अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत आह ❀ तदेवं वाक्योपक्रम इति ❀। नन्वग्निभिः पूर्वं निर्दिश्यतां ब्रह्म, य एषोऽक्षणीत्याचार्यवाक्येऽपि तदेवानुवर्तनीयमिति तु कुत इत्याह ❀ आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति च गतिमात्राभिधानम् इति ❀। यद्यप्येते भिन्नवक्तृणी

भामती-व्याख्या

अभीष्ट नहीं, क्योंकि लौकिक सुख सामय है, लौकिक सुख की परतन्त्रता और नश्वरता ही यहाँ 'आमय' शब्द का अर्थ है, उससे युक्त होने के कारण वैषयिक सुख को सामय कहा जाता है। कं और खं दोनों के व्यतिरिक्त (भिन्न-भिन्न) अर्थों में दोषाभिधान करने के अनन्तर दोनों के अभिन्नाकार में गुण का कथन किया जाता है—"इतरेतरविशेषितौ तु"। कं और खं इन दोनों शब्दों के अर्थों में विशेष्य-विशेषणभाव होने पर भी शब्दों में उसका व्यवहार किया जाता है। 'सुख' शब्द का समानाधिकरण ('सुखं खं'—इस प्रकार समाभिव्याहृत होकर) 'खं' शब्द अपने भूताकाशरूप अर्थ को छोड़ कर गौणी वृत्ति के द्वारा ब्रह्म का बोधक होता है। उसी प्रकार 'खं' शब्द से समभिव्याहृत होकर 'सुख' शब्द लोक-प्रसिद्ध सामय सुखरूप अर्थ का परित्याग करके ब्रह्मरूप निरामय सुख का गमक होता है। अतः कं और खं दोनों पदों का ग्रहण सार्थक है। ब्रह्म' शब्द के अभ्यास (बार-बार कथन) का प्रयोजन कहते हैं—"तत्र द्वितीये ब्रह्मशब्देऽनुपादीयमाने"। "कंखंशब्दयोर्ब्रह्मशिरस्त्वम्"—यहाँ 'कं' शब्द के उत्तर प्रयुज्यमान 'ब्रह्म' शब्द को शिरस्, एवं खं शब्द के उत्तर प्रयुज्यमान 'ब्रह्म' शब्द शिरस् है। जिन कं और खं—दोनों पदों के उत्तर 'ब्रह्म' पद का प्रयोग होता है, वे दोनों पद ब्रह्मशिरस्क कहे जाते हैं—'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म'। प्रकरण का उपसंहार प्रस्तुत किया जाता है—"तदेवं वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म"।

यह जो कहा गया कि अग्निवक्तृक वाक्य के द्वारा आचार्यवक्तृक वाक्य का नियमन क्योंकर होगा? उसका समाधान है—"आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति च गतिमात्राभिधानम्"। यद्यपि उक्त दोनों वाक्य भिन्नवक्तृक हैं, तथापि पूर्व वक्ता (अग्नियों) ने उन दोनों वाक्यों

श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४।१४।३) इति चाक्षिस्थानं पुरुषं विजानतः पापेनानुपघातं ब्रुवन्नक्षिस्थानस्य पुरुषस्य ब्रह्मत्वं दर्शयति। तस्मात् प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्षिस्थानतां संयद्वामत्वादिगुणतां चोक्त्वाऽर्चिरादिकां तद्विदो गतिं वक्ष्यामीत्युपक्रमते—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ४।१५।१) इति ॥ १५ ॥

भामती

वाक्ये, तथापि पूर्वेण वक्त्रा एकवाक्यतां गमिते गतिमात्राभिधानात्। किमुक्तं भवति—तुभ्यं ब्रह्मविद्याऽस्माभिरुपदिष्टा, तद्विदस्तु गतिर्नोक्ता, तां च किञ्चिदधिकमाध्येयं पूरयित्वाऽऽचार्यो वक्ष्यतीति। तदनेन पूर्वासंबद्धार्थान्तरविवक्षा वारितेति। अथैवमग्निभिरुपदिष्टे प्रोषित आचार्यः कालेनाजगाम, आगतश्च वीक्ष्योपकोशलमुवाच, ब्रह्मविद इव ते सोम्य मुखं प्रसन्नं भाति, कोऽनु त्वामनुशशासेति, उपकोशलस्तु ह्रीणो भीतश्च को नु मामनुशिष्याद् भगवन्! प्रोषिते त्वयीत्यापाततोऽपज्ञाय निर्बध्यमानो यथावदग्नीनामनुशासनमवोचत्। तदनुश्रुत्य चाचार्यः सुचिरं क्लिष्ट उपकोशले समुपजातदयार्द्रहृदयः प्रत्युवाच—सोम्य किल तुभ्यमेतनयो न ब्रह्म साकल्येनावोचन्, तदहं तुभ्यं साकल्येन वक्ष्यामि, यदनुभवमाहात्म्याद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति। एवमुक्तवत्याचार्य आहोपकोशलः—ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाचाचार्योऽर्चिरादिकां गतिं वक्तुमनाः, यदुक्तमग्निभिः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति तत्पूरणाय एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते इत्यादि। एतदुक्तं भवति—आचार्येण ये यत् सुखं ब्रह्माक्षिस्थानं संयद्वामं वामनी भामनीत्येवंगुणकं प्राणसहितमुपासते, ते सर्वेऽपहतपाप्मानोऽन्यत्कर्म कुर्वन्तु मा वाकार्षुः, अर्चिषमर्चिरभिमानिनीं देवतामभिसम्भवन्ति प्रतिपद्यन्ते, अर्चिषोऽहरहर्देवताम्

भामती–व्याख्या

की एकवाक्यता स्थापित कर दी है। भाव यह है कि अग्नियों का कहना है कि हमने ब्रह्मविद्या का उपदेश कर दिया है, ब्रह्म-विद्या-सम्पन्न पुरुष की गति नहीं कही है, उसको कुछ परिवर्द्धनों के साथ आचार्य कहेंगे। इससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूर्व-प्रसक्त पदार्थ से भिन्न अर्थ की विवक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार तीनों अग्नियों का उपदेश पूरा हुआ था कि देशान्तर गये आचार्य जाबालि समय पर आ गए। उपकोसल को देख कर बोले—'हे सोम्य! ब्रह्मवेत्ता के समान तुम्हारा मुख प्रसन्न हो रहा है, किसने तुम्हें ब्रह्मविद्या का पावन उपदेश किया? उपकोसल कुछ लज्जित कुछ डरा-सा बोला—'कौन मुझे उपदेश देता, भगवन् आपके देशान्तर चले जाने पर? इस प्रकार आपाततः अपलाप करने पर आचार्य ने पूछा—'क्या इन अग्नियों ने उपदेश किया? आचार्य के प्रश्नों का बौछार ने उसे सत्य-सत्य कह देने के लिए बाध्य कर दिया। अग्नियों ने जैसे उपदेश दिया, वह सब उपकोसल ने कह सुनाया। वह सब सुन एवं उपकोसल के चिर ब्रह्मचर्य-पालन-जनित क्लेश पर दयार्द्र होकर आचार्य ने उपकोसल को कहा—'सोम्य! अग्नियों ने तुम्हें ब्रह्म का पूर्णतया उपदेश नहीं दिया, अतः मैं तुम्हें पूर्ण ब्रह्मविद्या का उपदेश देता हूँ, पहले ब्रह्मविद्या का माहात्म्य सुनो—जैसे कमल-पत्र को जल प्रभावित (गीला) नहीं कर सकता, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता पुरुष को पाप कर्म दूषित नहीं कर सकता। आचार्य के वैसा कहने पर उपकोसल ने कहा—भगवन्! वह लोकोत्तर उपदेश आप मुझे देने की कृपा करें। आचार्य ने उपकोसल को अर्चिरादि का मार्ग बताने की इच्छा से अग्नियों द्वारा प्रदत्त "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म'—इस उपदेश का पूरक उपदेश दिया—"यह एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति" इत्यादि सारांश यह है कि आचार्य ने कहा कि जो लोग अक्षिस्थत्व, वामनीत्व, भामनीत्वादि गुणों से युक्त ब्रह्मरूप सुख की प्राणों के साथ उपासना करते हैं, वे अन्य कर्म करें या न करें

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

इतश्चाक्षिस्थानः पुरुषः परमेश्वरः, यस्माच्छ्रुतोपनिषत्कस्य श्रुतरहस्यविज्ञानस्य ब्रह्मविदो या गतिर्देवयानाख्या प्रसिद्धा श्रुतौ – 'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' (प्रश्न० १।१०) इति । स्मृतावपि — 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' (गी०

भामती

अह्नः आपूर्यमाणपक्षम् , शुक्लपक्षदेवताम्, ततः षण्मासान् येषु मासेषूत्तरां दिशमेति सविता, ते षण्मासा उत्तरायणं, तद्देवतां प्रतिपद्यन्ते, तेभ्यो मासेभ्यः संवत्सरदेवताम् , तत आदित्यम् , आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं, तत्र स्थितानेतान् पुरुषः कश्चिद् ब्रह्मलोकादवतीर्याऽमानवोऽमानव्यां सृष्टौ भवो ब्रह्मलोकभव इति यावत् , स तादृशः पुरुष एतान् सत्यलोकस्थं कार्यं ब्रह्म गमयति । स एव देवपथो देवैरर्चिरादिभिर्नेतृभिरुपलक्षित इति देवपथः, स एव ब्रह्मणा गन्तव्येनोपलक्षित इति ब्रह्मपथः, एतेन पथा प्रतिपद्यमानाः सत्यलोकस्थं ब्रह्म इमं मानवं मनोः सर्गं कि भूतमावर्तं जन्मजरामरणपौनःपुन्यमावृत्तिस्तत्कर्त्ताऽऽवर्तो मानवो लोकस्तं नावर्तन्ते । तथा च स्मृतिः —

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

तदनेनोपाख्यानव्याख्यानेन "श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च" —

भामती–व्याख्या

अचिरादि मार्ग के अभिमानी अहरादि देवता को प्राप्त करते हैं, उसके द्वारा अहर्गणात्मक शुक्ल पक्ष के अभिमानी उसके अनन्तर उत्तरायण के जिन छः मासों में सूर्य उत्तर दिशा में आता है, उनके अभिमानी देवता को, तदनन्तर संवत्सर-देवता, अदनन्तर आदित्य, को प्राप्त कर आदित्य से चन्द्रमा, चन्द्रमा से विद्युल्लोक में अवस्थित होते हैं। वहाँ कोई अमानव (ब्रह्मलोकोद्भूत) पुरुष ब्रह्मलोक से अवतीर्ण होकर इन उपासकों को सत्यलोक में अवस्थित कार्य ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) के पास ले जाता है। यह वह देव-पथ कहलाता है, जो कि अचिरादि देवगणों से उपलक्षित है। इसे ही ब्रह्म-पथ भी कहा जाता है, क्योंकि उपासको के द्वारा गन्तव्य ब्रह्म से अभिलक्षित होता है। सत्य लोकस्थ ब्रह्म को प्राप्त जीव पुनः "इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते"। मनु के द्वारा विरचित यह मनुष्य-लोक मानवलोक है, इसको आवर्त इस लिए कहा जाता है कि इस लोक में जीव के जन्म, जरा, मरण की पुनः पुनः आवृत्ति होती रहती है। ब्रह्मलोकस्थ जीव ब्रह्मा के साथ-साथ मुक्त हो जाते हैं, जन्म-मरण के प्रवाह में वे कभी नहीं आते, जैसा कहा है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ (कूर्मपु. १२।२९६)

प्रतिसंचर का अर्थ है—प्रलय अर्थात् उस ब्रह्मा की आयु पूरी हो जाने पर उस लोक के सभी जीव पर ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसमें विलीन हो जाते हैं ॥ १५ ॥

कथित उपाख्यान-व्याख्या के द्वारा ही "श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च"—इस सूत्र की भी व्याख्या हो जाती है, क्योंकि श्रुत्यन्त-विज्ञान-वेत्ता पुरुष के उद्देश्य से जो कहा गया है–"अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते, एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते" (प्रश्नो. १।१०)'। [अर्थात् वे उत्तरायण मार्ग से तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या (प्रजापति से अपने तादात्म्यानुचिन्तन) के द्वारा आत्मा

८।२४) इति । सैवेहाक्षिपुरुषविदोऽभिधीयमाना दृश्यते – 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति' इत्युपक्रम्य, 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते (छा० ४।१५।५) इति । तदिह ब्रह्मविद्विषयया प्रसिद्धया गत्याऽक्षिस्थानस्य ब्रह्मत्वं निश्चीयते ॥ १६ ॥

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

यत्पुनरुक्तं छायात्मा, विज्ञानात्मा, देवतात्मा वा स्यादक्षिस्थान इति । अत्रोच्यते—न छायात्मादिरितर इह ग्रहणमर्हति । कस्मात् ? अनवस्थितेः । न तावच्छायात्मनश्चक्षुषि नित्यमवस्थानं सम्भवति । यदैव हि कश्चित्पुरुषश्चक्षुरासीदति तदा चक्षुषि पुरुषच्छाया दृश्यते, अपगते तस्मिन्न दृश्यते । 'य एषोऽक्षिणि पुरुषः' इति च श्रुतिः सन्निधानात् स्वचक्षुषि दृश्यमानं पुरुषमुपास्यत्वेनोपदिशति । न चोपासनाकाले छायाकारं कञ्चित्पुरुषं चक्षुःसमीपे सन्निधाप्योपास्त इति युक्तं कल्पयितुम् । 'अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति' (छा० ८।९।१) इति श्रुतिश्छायात्मनोऽप्यनवस्थितत्वं दर्शयति । असम्भवाच्च तस्मिन्नमृतत्वादीनां गुणानां न छायात्मनि प्रतीतिः । तथा विज्ञानात्मनोऽपि साधारणे कृत्स्नशरीरेन्द्रियसम्बन्धे सति चक्षुष्येवावस्थितत्वं वक्तुं न शक्यम् । ब्रह्मणस्तु व्यापिनोऽपि दृष्ट उपलब्ध्यर्थो हृदयादिदेशविशेषसम्बन्धः । समानश्च विज्ञानात्मन्यप्यमृतत्वादीनां गुणानामसम्बन्धः । यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्येते । संयद्वामत्वादयश्चैतस्मिन्ननैश्वर्यादनुपपन्ना एव । देवतात्मनस्तु 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' इति श्रुतेर्यद्यपि चक्षुष्यवस्थानं स्यात्तथाप्यात्मत्वं तावन्न सम्भवति, पराग्रूपत्वात् । अमृतत्वादयोऽपि न सम्भवन्ति, उत्पत्तिप्रलयश्रवणात् । अमरत्वमपि देवानां चिरकालावस्थानापेक्षम् । ऐश्वर्यमपि परमेश्वरायत्तं न स्वाभाविकम् । 'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च

भामती

इत्यपि सूत्रं व्याख्यातम् ॥ १६ ॥

य एषोऽक्षिणीति नित्यवत् श्रुतमनित्ये छायापुरुषे नावकल्पते । कल्पनागौरवं चास्मिन् पक्षे प्रसज्यत इत्याह ❁न चोपासनाकाल इति❁ । ❁तथा विज्ञानात्मनोऽपि इति❁ । विज्ञानात्मनो हि न प्रदेशे उपासनाऽन्यत्र दृष्टचरी, ब्रह्मणस्तु तत्र श्रुतपूर्वेत्यर्थः । ❁भीषा❁ भिया । ❁ अस्मात् ❁ ब्रह्मणः । शेषमति-

भामती–व्याख्या

का अन्वेषण कर आदित्य-लोक को जीत लेते (प्राप्त करते) हैं। यह (आदित्यरूप ब्रह्म) हिरण्यगर्भ ही प्राणों का आयतन (आश्रय), अमृत, अभय और परागति है, इसको प्राप्त कर जीव पुनः मनुष्यलोक को नहीं लौटते]। ब्रह्मवेत्ता की जो गति होती है, वही अक्षिपुरुष के उपासक की भी है, अतः अक्षिपुरुष ब्रह्म ही है ॥ १६ ॥

"य एषोऽक्षिणि पुरुषः"– यह श्रवण ऐसे पुरुष का प्रतीत होता है, जो कि नित्य अक्षि-सन्निहित है, छाया-पुरुष में वैसी नित्यावस्थिति सम्भव नहीं, क्योंकि वह अनवस्थित (अनित्य) है। छाया-पुरुषादि की कल्पना में महान् गौरव दिखाते हैं–"न चोपासनाकाले छायाकारं कंचित् पुरुषं चक्षुः समीपे सन्निधाप्योपासते इति युक्तं कल्पयितुम्, असम्भवात्"। "तथा विज्ञानात्मनोऽपि"–इस भाष्य का आशय यह है कि विज्ञानात्मा (जीव) की किसी प्रदेश-विशेष में उपासना अन्यत्र नहीं देखी जाती किन्तु ब्रह्म की विविध प्रदेशों में उपासना

मृत्युर्धावति पञ्चमः' (तै० २।८) इति मन्त्रवर्णात्। तस्मात्परमेश्वर एवायमक्षिस्थानः प्रत्येतव्यः। अस्मिंश्च पक्षे दृश्यत इति प्रसिद्धवदुपादानं शास्त्राद्यपेक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थमिति व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

(५ अन्तर्याम्यधिकरणम् । सू० १८–२०)

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृह० ३।७।१,२) इत्यादि। अत्राधिदैवतमधिलोकमधिवेदमधियज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयिताऽन्तर्यामीति श्रूयते। स किमधिदैवाद्यभिमानी देवतात्मा कश्चित्, किं वा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिद्योगी, किंवा परमात्मा, किंवाऽर्थान्तरं किञ्चिदित्यपूर्वसंज्ञादर्शनात्संशयः। किं तावन्नः प्रतिभाति ? संज्ञाया अप्रसिद्धत्वात्संज्ञिनाप्यप्रसिद्धेनार्थान्तरेण केनचिद्भवितव्यमिति। अथवा नानिरूपितरूपमर्थान्तरं शक्यमस्तीत्यभ्युपगन्तुम्। अन्तर्यामिशब्दश्चान्तर्यमनयोगेन प्रवृत्तो नात्यन्तमप्रसिद्धः। तस्मात्पृथिव्याद्यभिमानी कश्चिद्देवोऽन्तर्यामी स्यात्। तथा च श्रूयते—'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो

भामती

रोहितार्थम् ॥ १७ ॥

स्वकर्मोपार्जितं देहं तेनान्यच्च नियच्छति।
तक्षादिरशरीरस्तु नात्मान्तर्यामितां भजेत् ॥

भामती-व्याख्या

बहुधा श्रुत है। "भीषास्मात्"—इस श्रुति में 'भीषा' शब्द का अर्थ है—भयेन, 'अस्मात्' पद का अभिप्रेत अर्थ है—ब्रह्मणः। अवशिष्ट भाष्य स्पष्टार्थक है ॥ १७ ॥

विषय—बृहदारण्यकोपनिषत् में "य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति"—ऐसा उपक्रम करके कहा गया है कि "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष ते आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृह. उ. ३।७।१,२)। इस श्रुति में ऐसे किसी अन्तर्यामी पुरुष का प्रतिपादन किया गया है, जो देवता, लोक, वेद, यज्ञ, भूत और आत्मा (शरीर) में रह कर उनका नियमन करता है।

संशय—उक्त अन्तर्यामी क्या अधिदैवादि का अभिमानी कोई देवता है ? या अणिमादि [(१) अणिमा (सूक्ष्म हो जाना), (२) महिमा (महान् हो जाना), (३) लघिमा (हल्का हो जाना), (४) गरिमा (गुरु या वजनदार हो जाना), (५) प्राप्ति। पृथिवी पर बैठे-बैठे चन्द्रादि को छू लेना), (६) प्राकाम्य (सत्यसङ्कल्पता), (७) ईशित्व (सर्वभूतनियमन) और (८) वशित्व (सर्वभूतों का वशीकरण)] सिद्धियों से सम्पन्न कोई योगी है ? या परमात्मा ? अथवा कोई अन्य ही पदार्थ है ?

पूर्वपक्ष—

स्वकर्मोपार्जितं देहं तेनान्यच्च नियच्छति।
तक्षादिरशरीरस्तु नात्मान्तर्यामितां भजेत् ॥

ज्योतिः' (बृ० ३।९।१०) इत्यादि । स च कार्यकरणवत्त्वात्पृथिव्यादीनन्तस्तिष्ठन्यमयतीति युक्तं देवतात्मनो यमयितृत्वम् । योगिनो वा कस्यचित्सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन

भामती

प्रवृत्तिनियमनलक्षणं हि कार्य्यं चेतनस्य शरीरिणः स्वशरीरेन्द्रियादौ वा शरीरेण वा वास्यादौ दृष्टं नाशरीरस्य ब्रह्मणो भवितुमर्हति । नहि जातु वटाङ्कुरः कुटजबीजाज्जायते । तदनेन जन्माद्यस्य यत इत्येतदप्याक्षिप्तं वेदितव्यम् । तस्मात्परमात्मनः शरीरेन्द्रियादिरहितस्यान्तर्यामित्वाभावात् प्रधानस्य वा पृथिव्याद्यभिमानवत्या देवताया वाऽणिमाद्यैश्वर्य्ययोगिनो योगिनो वा जीवात्मनो वाऽन्तर्यामिता स्यात् । तत्र यद्यपि प्रधानस्यादृष्टत्वाश्रुतत्वामतत्वाविज्ञातत्वानि सन्ति, तथापि तस्याचेतनस्य द्रष्टृत्वश्रोतृत्वमन्तृत्वविज्ञातृत्वानां श्रुतानामभावाद् अनात्मत्वाच्चैष त आत्मेति श्रुतेरनुपपत्तेर्न प्रधानस्यान्तर्य्यामिता । यद्यपि पृथिव्याद्यभिमानिनो देवस्यात्मत्वमस्ति, अदृष्टत्वादयश्च सह द्रष्टृत्वादिभिरुपपद्यन्ते, शरीरेन्द्रियादियोगश्च, पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनोज्योतिरित्यादिश्रुतेः, तथापि तस्य प्रतिनियतनियमनाद् 'यः सर्वान् लोकानन्तरो यमयति यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' इति श्रुतिविरोधादनुपपत्तेः, योगी तु यद्यपि लोकभूतवशितया सर्वान् लोकान् सर्वाणि च भूतानि नियन्तुमर्हति तत्र तत्रानेकविधदेहेन्द्रियादिनिर्माणेन स एकधा भवति त्रिधा भवतीत्यादिश्रुतिभ्यः, तथापि जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादिति वक्ष्यमाणेन न्यायेन विकारविषये विद्यासिद्धानां व्यापाराभावात्सोऽपि नान्तर्यामी । तस्मात् पारिशेष्याज्जीव एव

भामती–व्याख्या

लोक में देखा जाता है कि तक्षा (बढ़ई) आदि चेतनात्मा अपने पूर्व कर्मार्जित शरीर और उसके द्वारा वास्य (वसूला) आदि साधनों का नियमन करता है, क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति का नियमन किसी शरीरधारी चेतन का ही कार्य है, शरीर-रहित ब्रह्म का नहीं। असमर्थ या अयोग्य पदार्थ से कोई कार्य नहीं होता, जैसे कि वट वृक्ष का अंकुर कभी कुटज के बीज से नहीं उगता । इस आक्षेप के द्वारा "जन्माद्यस्य यतः"—इत्यादि शास्त्र भी आक्षिप्त (आहत) हो जाता है। अतः शरीर, इन्द्रियादि साधनों से रहित परमात्मा (ब्रह्म) में नियन्तृत्व सम्भव नहीं। फलतः पृथिव्यादि की अभिमानिनी प्रकृति (प्रधान) या अणिमादि ऐश्वर्यशाली योगी अथवा जीवात्मा ही अन्तर्यामी हो सकता है। इनमें से सांख्याभिमत प्रधानतत्त्व में यद्यपि श्रुति-चर्चित अदृष्टत्व, अश्रुतत्व, अमतत्व और अविज्ञातत्वादि धर्म हैं, तथापि प्रधान तत्त्व जड है, अतः उसमें श्रुति-कथित द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व और मन्तृत्वादि धर्मों का अभाव है.एवं प्रधानतत्त्व अनात्मा है, अतः उसमें "एष ते आत्मा"—इस श्रुति का सामञ्जस्य नहीं होता, इस लिए प्रधान तत्त्व में श्रौत अन्तर्यामिता सम्भव नहीं।

पृथिव्यादि के अभिमानी देवता में यद्यपि आत्मत्व, अदृश्यत्वादि, द्रष्टृत्वादि धर्म हैं और शरीरेन्द्रियादि का सम्बन्ध भी है, क्योंकि श्रुति कहती है – पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः" (बृह. उ. ३।९।१०) । तथापि उसमें केवल कुछ ही पदार्थों का नियन्तृत्व है' सर्वलोक-नियन्तृत्व नहीं, श्रुति अपने अन्तर्यामी में सर्वलोक-नियन्तृत्व प्रतिपादित करती है— "यः सर्वान् लोकानन्तरो यमयति, यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति" ।

सर्व ऐश्वर्य-सम्पन्न योगी यद्यपि सभी लोकों और भूतों का वशी होने के कारण नियामक हो सकता है। वह सर्व जगत् का नियमन करने के लिए अपने योग-बल से अनेक प्रकार के शरीर और इन्द्रियादि का निर्माण कर लेता है—"स एकधा भवति, त्रिधा भवति" (छां. ७।२६।२) । तथापि "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणात्" (ब्र सू. ४।४।१७) यह सूत्र कहता है कि जगत्सर्जनरूप कार्य (विद्या-सिद्ध) योगी नहीं कर सकता, अतः वह भी कथित अन्तर्यामी नहीं हो सकता। परिशेषतः जीव ही यहाँ अन्तर्यामी है, क्योंकि वह चेतन है,

यमयितृत्वं स्यात्, न तु परमात्मा प्रतीयते, अकार्यकरणत्वादित्येवं प्राप्त इदमुच्यते—योऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते, स परमात्मैव स्यान्नान्य इति। कुतः? तद्धर्मव्यप-

भामती

चेतनो देहेन्द्रियादिमान् द्रष्टृत्वादिसम्पन्नः स्वयमदृश्यादिः स्वात्मनि वृत्तिविरोधादमृतश्च देहनाशेऽप्य-नाशात्। अन्यथाऽऽमुष्मिकफलोपभोगाभावेन कृतविप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। य आत्मनि तिष्ठन्निति चाभेदेऽपि कथञ्चिद्भेदोपचारात् स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नीतिवत्। यमात्मा न वेदेति च स्वात्मनि वृत्तिविरोधाभिप्रायम्। यस्यात्मा शरीरमित्यादि च सर्वं स्वे महिम्नीतिवद्योजनीयं, यदि पुन-रात्मनोऽपि नियन्तुरन्यो नियन्ता भवेद् वेदिता वा ततस्तस्याप्यन्य इत्यनवस्था स्यात्। सर्वलोकभूत-नियन्तृत्वञ्च जीवस्यादृष्टद्वारा, तदुपार्जितौ हि धर्माधर्मौ नियच्छत इत्यनया द्वारा जीवो नियच्छति। एकवचनञ्च जात्यभिप्रायम्। तस्माज्जीवात्मैवान्तर्यामी, न परमात्मेति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

देहेन्द्रियादिनियमे नास्य देहेन्द्रियान्तरम्।
तत्कर्मोपार्जितं तच्चेत्तदविद्यार्जितं जगत्॥

भामती-व्याख्या

देहेन्द्रियादि से युक्त है, द्रष्टृत्वादि-सम्पन्न और स्वयं अदृश्य है, क्योंकि दर्शनादि क्रिया द्रष्टा से भिन्न दृश्य जगत् को ही व्याप्त करती है। वह अमृत इस लिए कहा जाता है कि देह और इन्द्रियादि का नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता, अन्यथा पारलौकिक कर्म-फलों का उपभोग न हो सकने के कारण कृत-प्रणाश एवं पूर्व जन्म में न होने के कारण अकृत कर्मों के फलभूत इस शरीर का अभ्यागम (प्राप्ति) मानना होगा। "स आत्मनि तिष्ठन्"—ऐसा व्यवहार भी जीव में वैसे ही सम्पन्न हो जाता है, जैसे ब्रह्म में "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः ? स्वे महिम्नि" (छां. ७।२४।१) ऐसा व्यवहार ["स्वे महिम्नि"—यहाँ पर श्रुति ने ही भूमा से भिन्न गो और अश्वादि को 'महिमा' पद का अर्थ बताकर 'प्रष्ठि' शब्द का गौण अर्थ सूचित किया है, भाष्यकार कहते हैं—"तदाश्रितः तत्प्रतिष्ठश्चैत्रो भवति" (छां. पृ. ४३१), किन्तु "स्वे महिम्नि" इस वाक्य से पूर्व "यत्र नान्यत् पश्यति" (छां. ७।२४।१) इस वाक्य की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है—"नन्वयमेव दोषः – संसारानिवृत्तिः, क्रियाकारकफलभेदो हि संसारः इति चेत्, न, अविद्याकृतभेदापेक्षत्वात्" अर्थात् जीव और ब्रह्म का अविद्यावस्थ भेद लेकर अभिन्न वस्तु में भी अधिकरणत्व और आधेयत्वादि का व्यवहार किया जा सकता है]। "यमात्मा न वेद"—ऐसा कहना जीवात्मा के लिए उचित है, क्योंकि आत्मगत (अपने में रहनेवाली) वेदन (दर्शन) क्रिया की कर्मता स्वयं अपने में नहीं रह सकती। "यस्यात्मा शरीरम्"—इत्यादि भेद-सापेक्ष व्यवहार अविद्या की छाया में वैसे ही सम्पन्न किए जा सकते हैं, जैसे—"स्वे महिम्नि"। यदि जीवात्मा का भी कोई अन्य नियन्ता (अन्तर्यामी) माना जाता है, तब उस नियन्ता का भी कोई अन्य नियन्ता और उसका भी कोई अन्य—इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है। सभी प्राणियों और लोकों का नियमन जीव अपने अदृष्टों के द्वारा करता है अर्थात् जीव के द्वारा उपार्जित धर्माधर्म मुख्यतः जगत् का नियमन करते हैं और उसका व्यवहार जीव में वैसे ही हो जाता है, जैसे सैनिकों के द्वारा किए गए जय-पराजयादि का व्यवहार राजा में होता है। जगत् के नियन्ता धर्माधर्मादि यद्यपि अनेक हैं, तथापि अदृष्टत्वरूप जाति की एकता को ध्यान में रख कर 'यः' और यमयति'—इस प्रकार नियन्तृगत एकत्व का व्यवहार संगत हो जाता है। फलतः जीवात्मा ही जगत् का अन्तर्यामी है, परमात्मा नहीं।

देशात्। तस्य हि परमात्मनो धर्मा इह निर्दिश्यमाना दृश्यन्ते। पृथिव्यादि तावदधिदेवादिभेदभिन्नं समस्तं विकारजातमन्तस्तिष्ठन्यमयतीति परमात्मनो यमयितृत्वं धर्म उपपद्यते, सर्वविकारकारणत्वे सति सर्वशक्त्युपपत्तेः। 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति चात्मत्वामृतत्वे मुख्ये परमात्मन उपपद्येते। 'यं पृथिवी न वेद' इति च पृथिवीदेवताया अविज्ञेयमन्तर्यामिणं ब्रुवन्देवतात्मनोऽन्यमन्तर्यामिणं दर्शयति। 'पृथिवी देवता ह्यहमस्मि पृथिवीत्यात्मानं विजानीयात्'। तथा 'अदृष्टोऽश्रुतः' इत्यादिव्यपदेशो रूपादिविहीनत्वात्परमात्मन उपपद्यत इति। यत्त्वकार्यकरणस्य परमात्मनो यमयितृत्वं नोपपद्यत इति। नैष दोषः, यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव, तस्य कार्यकरणवत्त्वोपपत्तेः। तस्याप्यन्यो नियन्तेत्यनवस्थादोषश्च न संभवति, भेदाभावात्। भेदे

भामती

श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु तावदत्र भवतः सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः परमेश्वरस्य जगद्योनित्वमवगम्यते। न तत् पृथग्जनसाधारण्यानुमानाभासेनागमविरोधिना शक्यमपह्नोतुम्। तथा च सर्वं विकारजातं तदविद्याशक्तिपरिणामस्तस्य शरीरेन्द्रियस्थाने वर्तत इति यथायथं पृथिव्यादिदेवताविकार्यकरणस्तानेव पृथिव्यादिदेवतादीन् शक्नोति नियन्तुम्। न चानवस्था, न हि नियन्त्रन्तरं तेन नियम्यते, किन्तु यो जीवो नियन्ता लोकसिद्धः स परमात्मैवोपाध्यवच्छेदकल्पितभेदस्तथा व्याख्यायत इत्यसकृदावेदितं, तत् कुतो नियन्त्रन्तरं? कुतश्चानवस्था? तथा च नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्याद्या अपि श्रुतय उपपन्नार्थाः। परमार्थ-

भामती-व्याख्या

सिद्धान्त—

देहेन्द्रियादिनियममे नास्य देहेन्द्रियान्तरम्।
तत्कर्मोपार्जितं तच्चेत् तदविद्यार्जितं जगत्॥

इस जीव में जगत् का नियन्तृत्व (नियमन) देहेन्द्रियादि के द्वारा सम्भव नहीं, क्योंकि नियम्य जगत् के अन्तर्गत देहेन्द्रियादि भी हैं, उनका नियमन अन्य देहेन्द्रियादि के द्वारा सम्भव नहीं। यदि जीवाश्रित अदृष्ट के द्वारा अन्तर्यामित्व का सम्पादन किया जाता है, तब ब्रह्माश्रित या ब्रह्मविषयक अविद्या शक्ति के द्वारा उसमें अन्तर्यामित्व क्यों नहीं बन सकता? श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति-समन्वित ब्रह्म को जगत् की योनि और अन्तर्यामी माना गया है। जीवों में एक अशक्त, अबोध साधारण जीव भी है, उसमें जगत्-नियन्तृत्व की कल्पना जिस अनुमान के द्वारा की जाती है, वह शास्त्र-विरुद्ध होने के कारण अनुमानाभास है, सदनुमान नहीं। ऐसे अनुमान के द्वारा आगम-सिद्ध ब्रह्मगत अन्तर्यामित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता। यह जो कहा जाता है कि लोक-प्रसिद्ध कुलालादि में कार्य-नियमन देहेन्द्रियादि के द्वारा ही देखा जाता है, वह भी यहाँ असम्भव नहीं, क्योंकि परमेश्वर की अविद्या शक्ति के द्वारा विरचित प्रपञ्च ही उसका शरीरेन्द्रियादि है, उनके द्वारा ही वह यथायोग्य समस्त पृथिव्यादि अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म जगत् का नियमन करता है। यहाँ किसी प्रकार की अनवस्था प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि यदि जीव से भिन्न किसी नियन्ता की कल्पना की जाती, तब अवश्य नियन्तृ-परम्परा की कल्पना से अनवस्था होती, प्रकृत में जिस परमेश्वर को अन्तर्यामी माना जाता है, वह जीव से भिन्न नहीं, अपितु परमात्मा ही उपाधिरूप अवच्छेदक के भेद से भिन्न-जैसा प्रतीयमान जीव ही लोक में नियन्तृत्वेन प्रसिद्ध है—यह कई बार कहा जा चुका है। तब न तो वह नियन्त्र्यन्तर कहा जा सकता है और न अनवस्था प्रसक्त होती है। जीवात्मा और परमात्मा का वास्तविक भेद न होने के कारण "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृह. उ. ३।७।२३) इत्यादि भेद-निषेधक

हि सत्यनवस्थादोषोपपत्तिः। तस्मात्परमात्मैवान्तर्यामी ॥ १८ ॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १६ ॥

स्यादेतद्—अदृष्टत्वादयो धर्माः सांख्यस्मृतिकल्पितस्य प्रधानस्याप्युपपद्यन्ते, रूपादिहीनतया तस्य तैरभ्युपगमात्। 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' (मनु० १।५) इति हि स्मरन्ति, तस्यापि नियन्तृत्वं सर्वविकारकारणत्वादुपपद्यते। तस्मात् प्रधानमन्तर्यामिशब्दं स्यात्। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५) इत्यत्र निराकृतमपि सत्प्रधानमिहादृष्टत्वादिव्यपदेशसंभवेन पुनराशङ्क्यते। अत उत्तरमुच्यते—न च स्मार्तं प्रधानमन्तर्यामिशब्दं भवितुमर्हति। कस्मात्? अतद्धर्माभिलापात्। यद्यप्यदृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्य संभवति, तथापि न द्रष्टृत्वादिव्यपदेशः सम्भवति, प्रधानस्याचेतनत्वेन तैरभ्युपगमात्। 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' (बृह० ३।७।२३) इति हि वाक्यशेष इह भवति। आत्मत्वमपि न प्रधानस्योपपद्यते ॥ १९ ॥

यदि प्रधानमात्मत्वद्रष्टृत्वाद्यसंभवान्नान्तर्याम्यभ्युपगम्यते, शारीरस्तर्ह्यन्तर्यामी भवतु। शारीरो हि चेतनत्वाद् द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता च भवति, आत्मा च प्रत्यक्त्वात्। अमृतश्च, धर्माधर्मफलोपभोगोपपत्तेः। अदृष्टत्वादयश्च धर्माः शारीरे प्रसिद्धाः, दर्शनादिक्रियायाः कर्तरि प्रवृत्तिविरोधात्। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' (बृ० ३।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। तस्य च कार्यकरणसंघातमन्तर्यमयितुं शीलं, भोक्तृत्वात्। तस्माच्छारीरोऽन्तर्यामीत्यत उत्तरं पठति—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

नेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते। शारीरश्च नान्तर्यामीष्यते। कस्मात्? यद्यपि द्रष्टृत्वादयो धर्मास्तस्य संभवन्ति, तथापि घटाकाशवदुपाधिपरिच्छिन्नत्वान्न कार्त्स्न्येन पृथिव्यादिष्वन्तरवस्थातुं नियन्तुं च शक्नोति। अपि चोभयेऽपि हि शाखिनः काण्वा माध्यन्दिनाश्चान्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते—'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (बृ० ३।७।२२) इति काण्वाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति माध्यन्दिनाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यस्मिन्नपि पाठे विज्ञानशब्देन शारीर उच्यते। विज्ञानमयो हि शारीरः। तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम्। कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टारावुपपद्येते? यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी, यश्चायमितरः शारीरः। का पुनरिहानुपपत्तिः? 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचनं विरुध्येत। अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं द्रष्टारं, श्रोतारं, मन्तारं, विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति। नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमिति चेत्—न, नियन्त्रन्तराप्रसङ्गादविशेषश्रवणाच्च। अत्रोच्यते—अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ संभवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञेयादिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधि-

भामती

तोऽन्तर्यामिणोऽन्यस्य जीवात्मनो द्रष्टुरभावात्। अविद्याकल्पितजीवपरमात्मभेदाश्रयास्तु ज्ञातृज्ञेयभेदश्रु-

भामती-व्याख्या

श्रुतियाँ सार्थक मानी जाती हैं, क्योंकि द्रष्टा जीव से परमार्थतः भिन्न कोई अन्तर्यामी नही माना जाता। अविद्या के द्वारा जीव और ब्रह्म के कल्पित भेद को ही विषय करती हैं—ज्ञाता

प्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते । तथा च श्रुतिः—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविषये सर्वं व्यवहारं वारयति ॥ २० ॥

भामती

तयः प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि संसारानुभवो विधिनिषेधशास्त्राणि च । एवं चाधिदैवादिष्वेकस्यैवान्तर्यामिणः प्रत्यभिज्ञानं समञ्जसं भवति, यः सर्वान् लोकान् यः सर्वाणि भूतानीत्यत्र य इत्येकवचनमुपपद्यते । अमृतत्वञ्च परमात्मनि समञ्जसं नान्यत्र । य आत्मनि तिष्ठन्नित्यादौ चाभेदेऽपि भेदोपचारक्लेशो न भविष्यति । तस्मात्परमात्मान्तर्यामी न जीवादिरिति सिद्धम् । पृथिव्यादिस्तनयित्न्वन्तमधिदैवम् । यः सर्वेषु लोकेष्वित्यधिलोकम् । यः सर्वेषु वेदेष्वित्यधिवेदम् । यः सर्वेषु यज्ञेष्वित्यधियज्ञम् । यः सर्वेषु भूतेष्वित्यधिभूतम् । प्राणाद्यात्मान्तमध्यात्मम् । संज्ञाया अप्रसिद्धत्वादित्युपक्रममात्रं पूर्वः पक्षः । *दर्शनादिक्रियायाः कर्त्तरि प्रवृत्तिविरोधात्* । कर्त्तरि आत्मनि प्रवृत्तिविरोधादित्यर्थः ॥ १८–२० ॥

भामती–व्याख्या

और ज्ञेय का भेद बतानेवाली श्रुतियाँ, प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण, संसरण (जन्म-मरण) की अनुभूति एवं विधि-निषेधात्मक शास्त्र । इस प्रकार का अन्तर्यामी मानने पर ही आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक प्रपञ्च में अन्तर्यामी पुरुष की एकत्व-प्रत्यभिज्ञा समञ्जस होती है एवं "यः सर्वान् लोकान्", "यः सर्वाणि भूतानि"—यहाँ एकवचनान्त 'यः' शब्द का प्रयोग उपपन्न हो जाता है । अमृतत्व तो मुख्यरूप से ब्रह्म में ही घटता है, अन्यत्र नहीं । "य आत्मनि तिष्ठन्"—यहाँ पर जीव-पक्ष में जो औपचारिक (औपाधिक) भेद की कल्पना करनी पड़ती थी, वह कल्पना-क्लेश भी ब्रह्म-पक्ष में नहीं, क्योंकि सिद्धान्त में अभेद ही माना जाता है। अतः परमात्मा ही सर्वान्तर्यामी है, जीव और देवादि नही—यह सिद्ध हो गया ।

भाष्यकार ने जो इस अधिकरण के आरम्भ में कहा है—(१) "अत्राधिदैवतम्, (२) अधिलोकम्, (३) अधिवेदम्, (४) अधियज्ञम्, (५) अधिभूतम्, (६) अध्यात्मं च अन्तर्यामी श्रूयते ।" उस भाष्य के अधिदैवादि भेद बृहदाण्यक उपनिषत् के वाक्यों में इस प्रकार हैं—(१) "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" (बृह. उ ३।७।३) यहाँ से लेकर "यः स्तनयित्नौ तिष्ठन्"—यहाँ तक अधिदैवत (पृथिव्यादि के अभिमानी देवताओं में वर्तमान) अन्तर्यामी प्रतिपादित है [शुक्ल यजुर्वेदीय बृहदारण्यक नाम की दो पुस्तकें हैं—(१) माध्यन्दिनी या वाजसनेयी शाखा की और (२) दूसरी काण्व शाखा की । इनमें वाचस्पति मिश्र ने यहाँ माध्यन्दिनीय बृहदारण्यक का क्रम उद्धृत किया है, क्योंकि काण्वशाखीय बृहदारण्यक में "यः स्तनयित्नौ"—ऐसा पाठ नहीं, अपितु "यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतम्" (बृह. उ. ३।७।१४) ऐसा पाठ है] । "यः सर्वेषु लोकेषु"—इत्यादि खण्ड में अधिलोक, "यः सर्वेषु वेदेषु"—इत्यादि खण्ड में अधिवेद, "यः सर्वेषु यज्ञेषु" इत्यादि खण्ड में अधियज्ञ, "यः सर्वेषु भूतेषु" इत्यादि खण्ड में अधिभूत और "यः प्राणेषु तिष्ठन्"—यहाँ से लेकर "य आत्मनि तिष्ठन्" —यहाँ तक अध्यात्म अन्तर्यामी चर्चित है ।

भाष्यकार ने जो कहा है—'संज्ञाया अप्रसिद्धत्वात् संज्ञिनाऽप्यप्रसिद्धेन भवितव्यम्' । यह पूर्वपक्ष का उपक्रम मात्र है, उस पक्ष पर पूर्व पक्षी का भी विश्वास नहीं, अत एव "अथवा" से पक्षान्तर प्रस्तुत किया गया है । भाष्यकार ने "न च स्मार्तम्" ब्र. सू. १।२।१९) इस सूत्र में कहा है—"दर्शनादिक्रियायाः कर्त्तरि प्रवृत्तिविरोधात्" । वहाँ 'कर्त्तरि' शब्द का

(६ अदृश्यत्वाधिकरणम् । सू० २१–२३)

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

'अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते', 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मुण्ड० १।१।५,६) इति श्रूयते। तत्र संशयः किमयमद्रेश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं स्यात्, उत शारीरः, आहोस्वित्परमेश्वर इति। तत्र प्रधानमचेतनं भूतयोनि-

भामती

"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते"। "यत्तदद्रेश्यं" बुद्धीन्द्रियाविषयः। "अग्राह्यं" कर्मेन्द्रियागोचरः। "अगोत्रं" कारणरहितम्। "अवर्णं" ब्राह्मणत्वाविहीनम्। न केवलमिन्द्रियाणामविषयः, इन्द्रियाण्यप्यस्य न सन्तीत्याह "अचक्षुरश्रोत्रम्" इति बुद्धीन्द्रियाण्युपलक्षयति। "अपाणिपादम्" इति कर्मेन्द्रियाणि। "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं" दुर्विज्ञानत्वात्। स्यादेतत्—नित्यं सत्कि परिणामि नित्यं ? नेत्याह "अव्ययं" कूटस्थनित्यमित्यर्थः।

परिणामो विवर्तो वा सरूपस्योपलभ्यते।
चिदात्मना तु सारूप्यं जडानां नोपपद्यते॥
जडं प्रधानमेवातो जगद्योनिः प्रतीयताम्।
योनिशब्दो निमित्तं चेत् कुतो जीवनिराक्रिया॥

भामती–व्याख्या

अभिप्रेत अर्थ है—"आत्मनि", क्योंकि लोक-प्रसिद्ध शरीररूप कर्ता में दर्शन क्रिया की प्रवृत्ति विरुद्ध नहीं, किन्तु चिदात्मा में ही श्रुति के द्वारा दर्शन क्रिया की कर्मता निषिद्ध है॥१८-२०॥

विषय—"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (मुण्ड. १।१।५–६)। इस श्रुति में भाष्यकार ने 'अद्रेश्यम्' शब्द का अर्थ किया है—"अदृश्यं सर्वेषां बुद्धीन्द्रियाणामगम्यम्"। 'अग्राह्यम्' का अर्थ "कर्मेन्द्रियाविषयम्" किया है। 'अगोत्रम्' शब्द का अर्थ कारण-रहित है। 'अवर्णम्' शब्द से ब्राह्मणत्वादि वर्णों का अभाव विवक्षित है। वह केवल इन्द्रियों का अविषय ही नहीं, अपितु इन्द्रियों से रहित भी है—यह दिखाने के लिए कहा है—"अचक्षुःश्रोत्रम्"। 'चक्षुःश्रोत्र' शब्द सभी बुद्धिन्द्रियों का और "अपाणिपादम्"—यहाँ 'पाणिपाद' शब्द सभी कर्मेन्द्रियों का उपलक्षक है। 'नित्य' शब्द का 'अविनाशी' और 'विभु' शब्द का व्यापक अर्थ है। दुर्विज्ञेय होने के कारण "सुसूक्ष्म" कहा गया है। सांख्य-सम्मत प्रधान तत्त्व को नित्य परिणामी माना जाता है, उस प्रकार की नित्यता का निषेध करने के लिए कहा है—'अव्ययम्' अर्थात् वह अक्षर तत्त्व कूटस्थ नित्य है, परिणामी नित्य नहीं।

संशय—उक्त श्रुति के द्वारा सांख्याभिमत 'प्रधान' विवक्षित है ? या शारीर (जीव) ? अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—

परिणामो विवर्तो वा सरूपस्योपलभ्यते।
चिदात्मना तु सारूप्यं जडानां नोपपद्यते॥ १॥
जडं प्रधानमेवातो जगद्योनिः प्रतीयताम्।
योनिशब्दो निमित्तं चेत् कुतो जीवनिराक्रिया॥ २॥

रिति युक्तं, अचेतनानामेव तद्दृष्टान्तत्वेनोपादानात्। 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' (मुण्ड० १।१।७) इति। ननूर्णनाभिः पुरुषश्च चेतनाविह दृष्टान्तत्वेनोपात्तौ। नेति ब्रूमः, न हि केवलस्य चेतनस्य तत्र सूत्रयोनित्वं वाऽस्ति। चेतनाधिष्ठितं ह्यचेतनमूर्णनाभिशरीरं सूत्रस्य योनिः, पुरुषशरीरं च केशलोम्नामिति प्रसिद्धम्। अपि च पूर्वत्राद्दृष्टत्वाद्यभिलापसंभवेऽपि द्रष्टृत्वाद्यभिलापासंभवान्न प्रधानमभ्युपगतम्। इह त्वदृश्यत्वादयो धर्माः प्रधाने संभवन्ति। न चात्र विरुध्यमानो धर्मः कश्चिदभिलप्यते। ननु 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९) इत्ययं वाक्यशेषोऽचेतने प्रधाने न सम्भवति, कथं प्रधानं भूतयोनिः प्रतिज्ञायत इति। अत्रोच्यते—'यया तदक्षरमधिगम्यते', 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यक्षरशब्देनादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोनिं श्रावयित्वा पुनरन्ते श्रावयिष्यति—'अक्षरात्परतः परः' (मुण्ड० २।१।२) इति। तत्र यः परोऽक्षराच्छ्रुतः, स सर्वज्ञः सर्ववित्संभविष्यति। प्रधानमेव त्वक्षरशब्दनिर्दिष्टं

भामती

परिणममानसरूपा एव हि परिणामा दृष्टाः, यथोर्णनाभिलालापरिणामा लूतातन्तवस्तत्सरूपाः। तथा विवर्ता अपि विवर्तमानसरूपा एव, न विरूपाः। यथा रज्जुविवर्ता धारोरगादयो रज्जुसरूपाः। न जातु रज्ज्वां कुञ्जर इति विपर्यस्यन्ति। न च हेमपिण्डपरिणामो भवति लूतातन्तुः, तत् कस्य हेतोः? अत्यन्तवैरूप्यात्। तस्मात्प्रधानमेव जडं जडस्य जगतो योनिरिति युज्यते। स्वविकारानश्नुत इति तदक्षरम्। यः सर्वज्ञः सर्वविदिति चाक्षरात् परात्परस्याख्यानम्, 'अक्षरात् परतः परः' इति श्रुतेः। न हि परस्मादात्मनोऽर्वाग्विकारजातस्य च परस्तात् प्रधानादृतेऽन्यदक्षरं सम्भवति। अतो यः प्रधानात्परः परमात्मा स सर्ववित्, भूतयोनिस्त्वक्षरं प्रधानमेव तच्च सांख्याभिमतमेवास्तु। अथ तस्याप्रामाणिकत्वान्न

भामती-व्याख्या

मृत्तिका परिणममान और घटादि परिणाम हैं, परिणममान और परिणाम पदार्थों में सरूपता (समानरूपता) देखी जाती है, जैसे कि ऊर्णनाभि (मकड़ी) की लाला (लार, लासा या लुआब) जाले के रूप में परिणत होती है, उन दोनों में समानरूपता अनुभव-सिद्ध है, उसी प्रकार रज्जु विवर्तमान और सर्पादि विवर्त हैं, उन दोनों में भी समानरूपता पाई जाती है, विरूपता (विरुद्धरूपता) नहीं, क्योंकि रज्जु-जैसे प्रलम्बाकार पदार्थ में वैसे ही सर्प, धारा और दण्डादि पदार्थों का भ्रम होता है, हाथी या ऊँट का नहीं। हेम-पिण्ड (सोने का डला) कभी मकड़ी का जाला नहीं बनता, वह क्यों? उन दोनों में अत्यन्त विरूपता होती है। अतः जड़रूप प्रधान तत्त्व ही इस जड़ जगत् का कारण है—ऐसा मानना ही युक्ति-युक्त है। प्रधान (प्रकृति) को अक्षर इस लिए कहा जाता है कि वह 'अशू व्याप्तौ' धातु से "अशेः सरः" (उणा. ३।७०) इस सूत्र के द्वारा निष्पन्न 'अक्षर' शब्द का 'अश्नुते व्याप्नोति स्वविकारान्' – ऐसी व्युत्पत्ति से लब्ध अर्थ है। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्"—इसका अन्वय "अक्षरात् परतः परः" (मुण्ड. २।१।२) इसके साथ है, अर्थात् जो अक्षर (प्रधान) से परे या ऊपर अवस्थित परमात्मतत्त्व है, वह सर्वज्ञ और सर्ववित् है ["अक्षरात् परतः परः"– इस श्रुति में 'परतः' पद अक्षरात् का विशेषण है, अतः विकारवर्ग (कार्य-प्रपञ्च) से पर अवस्थित जो अक्षरसंज्ञक प्रधान तत्त्व है, उससे पर परमात्मा है—इसी भाव को मिश्र जी यहाँ ध्वनित करते हैं—] विकार-समूह से परे अवस्थित जो प्रधान तत्त्व है, उससे भिन्न अन्य कोई अक्षर पदार्थ नहीं। इस प्रधान तत्त्व से परे जो परमात्मा है, वह सर्ववित् है। सभी भूत पदार्थों की योनि (कारण) तो अक्षर नाम से प्रसिद्ध जो प्रधान तत्त्व है, वह

भूतयोनिः यदा तु योनिशब्दो निमित्तवाची, तदा शारीरोऽपि भूतयोनिः स्यात्, धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्योपार्जनादिति ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते – योऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः स परमेश्वर एव

भामती

तत्र परितुष्यति, अस्तु तर्हि नामरूपबीजशक्तिभूतमव्याकृतं भूतसूक्ष्मं, प्रधीयते हि तेन विकारजातमिति प्रधानं, तत् खलु जडमनिर्वाच्यमनिर्वाच्यस्य जडस्य नामरूपप्रपञ्चस्योपादानं युज्यते, सारूप्यात् । न तु चिदात्मा निर्वाच्यः, विरूपो हि सः । अचेतनानामिति भाष्यं सारूप्यप्रतिपादनपरम् । स्यादेतत्—स्मार्तप्रधाननिराकरणेनैवैतदपि निराकृतप्रायं तत् कुतोऽस्य शङ्केत्यत आह—॥अपि च पूर्वत्रादृष्टत्वादि इति॥ । सति बाधकेऽस्यानाश्रयणमिह तु बाधकं नास्तीत्यर्थः । तेन तदैक्षतेत्यादावुपचर्यतां ब्रह्मणो जगद्योनिताऽविद्याशक्त्याश्रयत्वेन । इह त्वविद्याशक्तेरेव जगद्योनित्वसम्भवे न द्वारद्वारिभावो युक्त इति प्रधानमेवात्र वाक्ये जगद्योनिरुच्यत इति पूर्वः पक्षः । अथ योनिशब्दो निमित्तकारणपरस्तथापि ब्रह्मैव निमित्तं न तु जीवात्मेति विनिगमनायां न हेतुरस्तीति संशयेन पूर्वः पक्षः ।

अत्रोच्यते –

अक्षरस्य जगद्योनिभावमुक्त्वा ह्यनन्तरम् ।
यः सर्वज्ञ इति श्रुत्या सर्वज्ञस्य स उच्यते ॥ १ ॥

भामती–व्याख्या

सांख्य-सम्मत ही सही । सांख्य-सम्मत प्रधान यदि अप्रामाणिक है, अतः उसका अभ्युपगम अभीष्ट नहीं, तब नाम (शब्द) और रूप (अर्थ) की बीज-शक्तिरूप अव्याकृत (सूक्ष्म भूतों) को प्रधान कहा जा सकता है, क्योंकि 'प्रधीयते येन विकारजातम्'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह अनिर्वचनीय है और नामरूपात्मक अनिर्वचनीय प्रपञ्च का उपादानकारण है, अतः उसी में कार्य-वर्ग की समानरूपता है, चिदात्मा में नहीं, क्योंकि वह सत्त्वेन निर्वाच्य एवं चेतन होने के कारण कार्य-वर्ग के विरूप है । ''अचेतनानामेव तद्दृष्टान्तत्वेनोपादानात्''—इस भाष्य का तात्पर्य कार्य और कारण की समानरूपता के प्रतिपादन में ही है ।

शङ्का—सांख्य-स्मृति-सिद्ध प्रधान तत्त्व का निराकरण तो ''ईक्षतेर्नाशब्दम्'' (ब्र० सू० १।१।५) इस सूत्र में ही किया जा चुका है, तब न तो उसमें जगत् की कारणता मानी जा सकती है और न अव्याकृतात्मक प्रधान में, क्योंकि उसी प्रकार यह प्रधान भी निराकृत-प्राय ही है ।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण भाष्यकार करते हैं—''अपि च पूर्वत्रादृष्टत्वाद्यभिलापसम्भवेऽपि द्रष्टृत्वाद्यभिलापासम्भवान्न प्रधानमभ्युपगतम्'' । आशय यह है कि पूर्वत्र ईक्षणाभावरूप बाधक के कारण प्रधान तत्त्व को जगत् का कारण नहीं माना जा सका किन्तु यहाँ अपेक्षित अदृश्यत्वादि का सद्भाव होने के कारण उसमें जगत्कारणता का पूर्व पक्ष उठाया गया है कि ''तदैक्षत''—इत्यादि वाक्यों के द्वारा ब्रह्म में जगत् की कारणता का उपचार किया जा सकता है, क्योंकि वह अविद्यारूप शक्ति की विषयता का आश्रय है, किन्तु ''यत्तदद्रेश्यम्''—इत्यादि वाक्यों के द्वारा अविद्याशक्ति स्वरूप प्रधान तत्त्व में ही जगद्योनिता का उपपादन सम्भव है, अतः उसके द्वारा ब्रह्म में जगत् की कारणता का संगमन उचित नहीं ।

यदि सूत्रस्थ 'योनि' शब्द उपादान कारण का बोधक न होकर निमित्त कारण का वाचक है, तब जीव में जगद्योनिता आशङ्कित हो सकती है, क्योंकि 'ब्रह्म ही जगत् का कारण है, जीव नहीं'—इस प्रकार की विनिगमना में कोई हेतु उपलब्ध नहीं ।

सिद्धान्त—अक्षरस्य जगद्योनिभावमुक्त्वा ह्यनन्तरम् ।
यः सर्वज्ञ इति श्रुत्या सर्वज्ञस्य स उच्यते ॥ १ ॥

स्याच्चान्य इति। कथमेतदवगम्यते? धर्मोक्तेः। परमेश्वरस्य हि धर्म इहोच्यमानो दृश्यते—'यः सर्वज्ञः सर्वविद्' इति। न हि प्रधानस्याचेतनस्य शरीरस्य वोपाधिपरिच्छिन्नदृष्टेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं वा सम्भवति। नन्वक्षरशब्दनिर्दिष्टाद् भूतयोनेः परस्यैवैतत्सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च न भूतयोनिविषयमित्युक्तम्। अत्रोच्यते—नैवं संभवति। यत्कारणं 'अक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इति प्रकृतं भूतयोनिमिह जायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्यानन्तरमपि जायमानप्रकृतित्वेनैव सर्वज्ञं निर्दिशति—'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' इति। तस्मान्निर्देशसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्प्रकृतस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च धर्म उच्यत इति गम्यते। 'अक्षरात्परतः परः' इत्यत्रापि न प्रकृताद् भूतयोनेरक्षरात्परः कश्चिदभिधीयते। कथमेतदवगम्यते? 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मुण्ड० १।२।१३) इति प्रकृत्य तस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेरदृश्यत्वादिगुणकस्य वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात्। कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति व्यपदिश्यते

भामती

तेन निर्देशसामान्यात्प्रत्यभिज्ञानतः स्फुटम्।
अक्षरं सर्वविद्विश्वयोनिर्निचितनं भवेत्॥ २॥
अक्षरात्परत इति श्रुतिस्त्वव्याकृते मता।
अश्नुते यत् स्वकार्य्याणि ततोऽव्याकृतमक्षरम्॥ ३॥

नेह तिरोहितमिवास्ति किञ्चित्॥ यत्तु सारूप्याभावान्न चिदात्मनः परिणामः प्रपञ्च इति। अद्धा

भामती—व्याख्या

तेन निर्देशसामान्यात् प्रत्यभिज्ञानतः स्फुटम्।
अक्षरं सर्वविद् विश्वयोनिर्निचितनं भवेत्॥ २॥
अक्षरात्परत इति श्रुतिस्त्वव्याकृते मता।
अश्नुते यत्स्वकार्याणि ततोऽव्याकृतमक्षरम्॥ ३॥

["तदक्षरमधिगम्यते. तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इस प्रकार जिस अक्षर तत्त्व में जगत्कारणता का प्रतिपादन किया गया, उसी में "यः सर्वज्ञः सर्ववित्"—इस प्रकार सर्वज्ञत्वादि धर्म श्रुत हैं, उस से परे अवस्थित पदार्थ में नहीं, अतः चिदात्मा सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण सिद्ध होता है, प्रधान नहीं। दूसरी बात यह भी है कि "यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथा अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्" (मुण्ड–१।१।७) इस श्रुति के द्वारा जिस चिदात्मा अक्षर तत्त्व में जगत्कारणता स्पष्टरूप से प्रतिपादित है, उसी अक्षर तत्त्व का निर्देश "अक्षरमधिगम्यते, यत्तदद्रेश्यम्"—इत्यादि वाक्य में किया गया है, अतः समान निर्देश के द्वारा चेतनगत जगत्कारणता प्रत्यभिज्ञात होती है। यह जो कहा गया कि सर्वज्ञता अक्षर तत्त्व से परे अवस्थित परमात्मा में होती है, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि पहले वाक्य में 'अक्षर' शब्द का प्रयोग जगत्कारणीभूत ब्रह्म के लिए और "अक्षरात् परतः परः" (मुण्ड. २।१।२) इस वाक्य में 'अव्याकृत' के लिए 'अश्नुते स्वकार्याणि' – इस व्युत्पत्ति के द्वारा किया गया है, अतः अव्याकृतसंज्ञक अक्षर से ही परत्व का अभिधान जगद्योनिरूप अक्षर में किया गया है, इस अक्षर से नहीं। सर्वज्ञत्वादि का अन्वय प्रथम अक्षर पदार्थ में ही विवक्षित है, वह ब्रह्म है] शेषभाष्य अत्यन्त सुगम है।

यह जो कहा गया कि प्रपञ्च का ब्रह्म में सारूप्य न होने के कारण उपादान कारणत्व सम्भव नहीं, उस पर हमारा कहना है कि—

इति, उत्तरसूत्रे तद्वक्ष्यामः। अपि चात्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते—'परा चैवापरा च' इति। तत्रापरामृग्वेदादिलक्षणां विद्यामुक्त्वा ब्रवीति—'अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि। तत्र परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरं श्रुतम्। यदि पुनः परमेश्वरादन्यदद्रश्यत्वादिगुणकमक्षरं परिकल्प्येत, नेयं परा विद्या स्यात्। परापरविभागो ह्ययं विद्ययोरभ्युदयनिःश्रेयसफलतया परिकल्प्यते। न च प्रधानविद्या निःश्रेयसफला केनचिदभ्युपगम्यते। तिस्रश्च विद्याः प्रतिज्ञायेरन्, त्वत्पक्षेऽक्षराद् भूतयोनेः परस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यमानत्वात्। द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये इह निर्दिष्टे। 'कस्मिन्नु

भामती

विवर्त्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते॥

न खलु बाह्यसारूप्यनिबन्धन एव सर्वो विभ्रम इति नियमनिमित्तमस्ति, आन्तरादपि कामक्रोधभयोन्मादस्वप्नादेर्मानसादपराधात्सारूप्यानपेक्षात्तस्य तस्य विभ्रमस्य दर्शनात्। अपि च हेतुमति विभ्रमे तदभावादनुयोगो युज्यते। अनाद्यविद्यावासनाप्रवाहपतितस्तु नानुयोगमर्हति। तस्मात् परमात्मविवर्त्ततया प्रपञ्चस्तद्योनिर्भुजङ्ग इव रज्जुविवर्त्ततया तद्योनिर्न तु तत्परिणामतया। तस्मात्तद्धर्मसर्वविद्त्वोक्तेर्लिङ्गाद् यत्तदद्रेश्यमित्यत्र ब्रह्मैवोपदिश्यते ज्ञेयत्वेन, न तु प्रधानं जीवात्मा वोपास्यत्वेनेति सिद्धम्। न केवलं लिङ्गादपि तु परा विद्येति समाख्यानादप्येतदेव प्रतिपत्तव्यमित्याह * अपि चात्र द्वे

भामती-व्याख्या

विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते॥

अद्वैतवेदान्त-सिद्धान्त में प्रपञ्च को ब्रह्म का परिणाम नहीं, विवर्त माना जाता है। परिणाम में सारूप्य की अपेक्षा होती है, विवर्त में नहीं। रज्जु में सर्पादि का जहाँ विभ्रम होता है, वहाँ सर्पादि को रज्जु का विवर्त कहा जाता है। यद्यपि शुक्त्यादि में उसके विवर्तभूत रजतादि का सारूप्य पाया जाता है, तथापि समस्त विभ्रम बाह्य सारूप्य-प्रयुक्त ही होता है—ऐसे नियम का कोई निमित्त उपलब्ध नहीं, क्योंकि आन्तरिक काम, क्रोध के उद्वेग रूप मानस अपराध के द्वारा जो विविध स्वप्नरूप विभ्रम देखा जाता है, वहाँ सारूप्य की अपेक्षा नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि सादि विभ्रम में सारूप्य की कारणता का सन्देह एवं सारूप्य न होने के कारण 'कथं विभ्रमकारणत्वम् ?' इस प्रकार का प्रश्न किया भी जा सकता है, किन्तु अनादि वासनोद्भूत विभ्रम के लिए वैसा प्रश्न कदापि नहीं किया जा सकता। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी अनादि वासनाओं से जनित विविध विभ्रम माने हैं—"अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः" (प्र. वा. पृ० ३२१)। फलतः ब्रह्म का विवर्त होने के कारण प्रपञ्च वैसे ही ब्रह्मयोनिक कहा जाता है, जैसे सर्प रज्जु का विवर्त होने के कारण ही रज्जुयोनिक (रज्जुकारणक) कहा जाता है, रज्जु का परिणाम होने के कारण नहीं। इस प्रकार ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि धर्मों का निर्देश होने के कारण "यत्तदद्रेश्यम्"—यहाँ ब्रह्म का ही उपदेश सिद्ध होता है प्रधान या जीवात्मा का उपास्यत्वेन उपदेश नहीं।

केवल ब्रह्म के धर्मों (लिङ्गों) के निर्देश से ही ब्रह्मपरता का यहाँ ज्ञान नहीं होता, अपि तु 'पराविद्या'—इस प्रकार की समाख्या के बल पर भी उक्त श्रुति में ब्रह्मपरता अवगत होती है, ऐसा कहा जाता है—"अपि चात्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते—'परा चैवापरा च' इति।" [अर्थात् जैसे लिङ्ग (सामर्थ्य) रूप तृतीय प्रमाण के द्वारा अङ्ग और प्रधान का सम्बन्ध अवगत होता है, वैसे ही समाख्या रूप षष्ठ प्रमाण के द्वारा भी ब्रह्म प्रधान (मुख्य) और

भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणं सर्वात्मके ब्रह्मणि विवक्ष्यमाणेऽवकल्प्यते, नाचेतनमात्रैकायतने प्रधाने, भोग्यव्यतिरिक्ते वा भोक्तरि। अपि च 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' (मुण्ड० १।१।१) इति ब्रह्मविद्यां प्राधान्येनोपक्रम्य परापरविभागेन परां विद्यामक्षराधिगमनीं दर्शयंस्तस्या ब्रह्मविद्यात्वं दर्शयति। सा च ब्रह्मविद्यासमाख्या तदधिगम्यस्याक्षरस्याब्रह्मत्वे बाधिता स्यात्। अपरग्वेदादिलक्षणा कर्मविद्या ब्रह्मविद्योपक्रम उपन्यस्यते ब्रह्मविद्याप्रशंसायै। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त-

भामती

विद्य इति ॐ। लिङ्गान्तरमाह ''कस्मिन् नु भगवः'' इति। भोगा भोग्यास्तेभ्यो व्यतिरिक्ते भोक्तरि। अवच्छिन्नो हि जीवात्मा भोग्येभ्यो विषयेभ्यो व्यतिरिक्त इति तज्ज्ञानेन न सर्वं ज्ञातं भवति। समाख्यान्तरमाह ॐ अपि च स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् इति ॐ। ॐप्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपा अष्टादश इतिॐ। प्लवन्ते गच्छन्ति अस्थायिन इति प्लवाः। अत एवादृढाः। के ते यज्ञरूपाः। रूप्यन्तेऽनेनेति रूपं, यज्ञो रूपमुपाधिर्येषां ते यज्ञरूपाः। तत्र षोडशर्त्विजः। ऋतुयजनेनोपाधिना ऋत्विक्शब्दः प्रवृत्त इति यज्ञोपाधय ऋत्विजः। एवं यजमानोऽपि यज्ञोपाधिरेव। एवं पत्नी, 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति स्मरणात्। त एतेऽष्टादश यज्ञरूपाः, येष्वृत्विगादिषूक्तं कर्म यज्ञः, यदाश्रयो यज्ञ इत्यर्थः। तच्च कर्मावरं, स्वर्गाद्य-

भामती—व्याख्या

उसके प्रतिपादक होने के कारण अङ्गभूत श्रुति-वाक्य का सम्बन्ध प्रतीत होता है। यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं। 'परा विद्या' शब्द भी वैसा ही है, क्योंकि ''परस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यमानत्वात्'' अर्थात् जिस विद्या में पर ब्रह्म का प्रतिपादन है, उसे परा विद्या कहते हैं, इस लिए भी उक्त श्रुति की प्रतिपाद्य वस्तु ब्रह्म ही है।

''कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'' (मुण्ड. १।१।३) इस प्रकार जिस एक तत्त्व के ज्ञान से समस्त प्रपञ्च का ज्ञान हो जाता है, वह एकमात्र ब्रह्म ही है, प्रधान या जीव नहीं, क्योंकि प्रधान केवल जड़-वर्ग का आश्रय है समस्त जगत् का आश्रय या सर्वात्मक नहीं और जीव भी शब्दादि भोग्य पदार्थों से भिन्न होने से सर्वात्मक नहीं, अतः प्रधान और जीव का ज्ञान हो जाने पर भी सर्व प्रपञ्च का ज्ञान सम्भव नहीं।

अन्य समाख्या प्रमाण दिखाते हैं—अपि च ''स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह'' (मुण्ड. १।१।१)। इस श्रुति में 'ब्रह्मविद्या' पद 'ब्रह्मणो विद्या'—इस प्रकार के षष्ठी तत्पुरुष समास के आधार पर ब्रह्मविषयिणी विद्या का वाचक है, प्रधानादि का ग्रहण करने पर उस ब्रह्मविद्या कहना बाधित हो जायगा—''ब्रह्मविद्या समाख्या तदधिगम्यस्याब्रह्मत्वे बाधिता स्यात्''। ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिए ही ऋग्वेदादि रूप कर्मविद्या का उपन्यास किया गया है, क्योंकि ''प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरां मृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ (मुण्ड. १।२।७)। इस श्रुति में कर्मविद्या की निन्दा की गई है कि कर्म के कर्त्ता अधिक-से अधिक अठारह ऋत्विक् हैं, वे 'ऋतुषु याजयन्ति'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार यज्ञ कराने के कारण यज्ञरूपाः (यज्ञोपाधिकाः) कहे जाते हैं। इन्हें 'अदृढा प्लवाः' इसलिए कहा जाता है कि ये जीर्ण शीर्ण प्लव (नौका) के समान संसार सागर के पार नहीं ले जा सकते, मोक्षरूप नित्य फल कर्मों के द्वारा नहीं दिला सकते। अध्वर्युमण्डल के चार, होतृमण्डल के चार, उद्गातृमण्डल के चार और ब्रह्ममण्डल के चार को मिलाकर सोलह ऋत्विक् हैं। ये जैसे यज्ञोपाधिक हैं, वैसे ही यजमान भी है, क्योंकि 'यजति'—इस व्युत्पत्ति से उसके साथ यज्ञ का स्पष्ट सम्बन्ध है। इसी प्रकार यजमान

मवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति' (मुण्ड० १।२।७) इत्येवमादिनिन्दावचनात् । निन्दित्वा चापरां विद्यां ततो विरक्तस्य परविद्याधिकारं दर्शयति—'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्ड० १।२।१२) इति । यत्तूक्तम्—अचेतनानां पृथिव्यादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादानाद्दार्ष्टान्तिकेनाप्यचेतनेन भूतयोनिना भवितव्यमिति—तदयुक्तम्, न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति । अपि च स्थूलाः पृथिव्यादयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दार्ष्टान्तिको भूतयोनिरभ्युपगम्यते । तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वर एव ॥ २१ ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

इतश्च परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतरौ—शारीरः प्रधानं वा । कस्मात् ? विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् । विशिनष्टि हि प्रकृतं भूतयोनिं शारीराद्विलक्षणत्वेन—'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) इति । न ह्येतद्दिव्यत्वादिविशेषणमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मान्स्वात्मनि कल्पयतः शारीरस्योपपद्यते । तस्मात्साक्षादौपनिषदः पुरुष इहोच्यते । तथा प्रधानादपि प्रकृतं भूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति—'अक्षरात्परतः परः' इति । अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतं सर्वस्माद्विकारात्परो योऽविकारस्तस्मात्परतः पर इति भेदेन व्यपदेशात्परमात्मानमिह विवक्षितं

भामती

वरफलत्वात् । अपियन्ति प्राप्नुवन्ति । * न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः * इत्युक्ताभिप्रायम् ॥ २१ ॥

विशेषणं हेतुं व्याचष्टे * विशिनष्टि हि इति * । शारीरादित्युपलक्षणं, प्रधानादित्यपि द्रष्टव्यम् । भेदव्यपदेशं व्याचष्टे * तथा प्रधानादपि इति * । स्यादेतत्—किमार्षमिकं सांख्याभिमतं प्रधानम् ?

भामती-व्याख्या

की पत्नी भी यज्ञरूप या यज्ञोपधिक है, क्योंकि "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" (पा. सू. ४।१।३३) इस सूत्र के द्वारा पति' शब्द की इकार को नकार का आदेश यज्ञ के सम्बन्ध से ही होकर 'पत्नी' शब्द निष्पन्न होता है । इस प्रकार सोलह ऋत्विजों, यजमान और उसकी पत्नी को मिलाकर सब अष्टादश (अठारह) सदस्य 'यज्ञरूपाः' कहे जाते हैं । उनमें रहनेवाला अर्थात् उनके आश्रित कर्म यज्ञ है । वह कर्म अवर (निकृष्ट) इस लिए कहा जाता है कि वह केवल स्वर्गादि अनित्य फलों का ही जनक है, मोक्षरूप नित्य फल का प्रापक नहीं । जो लोग उन कर्मों का अभिनन्दन और अनुष्ठान करते हैं, वे जरा और मृत्यु के चक्कर में अपियन्ति (पड़े रहते हैं) । भाष्यकार ने जो कहा है—"न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यम्" । उसका भी अभिप्राय यही है कि विवर्तवाद में पृथिव्यादि कार्य और उसके कारण का सारूप्य अपेक्षित नहीं ॥ २१ ॥

जीव-व्यावर्तक विशेषण एवं प्रधान से भिन्नता के निर्देश से जीव और प्रधान तत्त्व को जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता । इस सूत्र में निर्दिष्ट विशेषण और भेद-व्यपदेश—इन दो हेतुओं में से प्रथम (विशेषण) हेतु की व्याख्या करते हैं—"विशिनष्टि हि प्रकृतं भूतयोनिं शारीराद् विलक्षणत्वेन—'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" (मुण्ड. २।१।२) ।" भाष्यकार ने जो कहा है—"शारीराद् विलक्षणत्वेन" । वहाँ 'शारीर' पद प्रधान तत्त्व का भी उपलक्षक है अर्थात् दिव्यत्वादि (स्वयंप्रकाशत्वादि) गुण जैसे जीव के व्यावर्तक हैं, वैसे ही प्रधान या

दर्शयति । नात्र प्रधानं नाम किंचित्स्वतन्त्रं तत्त्वमभ्युपगम्य तस्माद् भेदव्यपदेश उच्यते । किं तर्हि ? यदि प्रधानमपि कल्प्यमानं श्रुत्यविरोधेनाव्याकृतादिशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परिकल्प्येत, परिकल्प्यताम् । तस्माद् भेदव्यपदेशात्परमेश्वरो भूतयोनिरित्येतदिह प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

कुतश्च परमेश्वरो भूतयोनिः—

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

अपि च 'अक्षरात्परतः परः' इत्यस्यानन्तरम् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इति प्राणप्रभृतीनां पृथिवीपर्यन्तानां तत्त्वानां सर्गमुक्त्वा तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः—'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मुण्ड० २।१।४ इति) । तच्च परमेश्वरस्यैवोचितं, सर्वविकारकारणत्वात् । न शारीरस्य तनुमहिम्नः । नापि प्रधानस्यायं रूपोपन्यासः संभवति, सर्वभूतान्तरात्मत्वासंभवात् । तस्मात्परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतराविति गम्यते । कथं पुनर्भूतयोनेरयं रूपोपन्यास इति गम्यते ? प्रकरणात्, 'एषः' इति च प्रकृतानुकर्षणात् । भूतयोनिं हि प्रकृत्य 'एतस्माज्जायते प्राणः', 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति वचनं भूतयोनिविषयमेव भवति । यथोपाध्यायं प्रकृत्यैतस्मादधीष्वैष वेदवेदाङ्गपारग इति वचनमुपाध्यायविषयं भवति, तद्वत् । कथं पुनरदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेर्विग्रहवद्रूपं संभवति ? सर्वात्मत्वविवक्षयेदमुच्यते, न तु विग्रहवत्त्वविवक्षयेत्यदोषः । 'अहमन्नमहमन्नादः' (तै० ३।१०।६) इत्यादिवत् । अन्ये पुनर्मन्यन्ते—नायं भूतयोने रूपोपन्यासः, जायमानत्वेनोपन्यासात् ।

भामती

तथा च बहुसमञ्जसं स्यादित्यत आह *नात्र प्रधानं नाम किञ्चित् इति* ॥ २२ ॥

तदेतत् परमतेनाक्षेपसमाधानाभ्यां व्याख्याय स्वमतेन व्याचष्टे *अन्ये पुनर्मन्यन्ते इति* । पुनःशब्दोऽपि पूर्वस्माद्विशेषं द्योतयन्नस्येष्टतां सूचयति । जायमानवर्गमध्यपतितस्याग्निमूर्धादिरूपवतः सति

भामती—व्याख्या

अव्याकृत के भी व्यावर्तक हैं। भेद-व्यपदेशरूप द्वितीय हेतु की व्याख्या करते है—"तथा प्रधानादपि प्रकृतं भूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति—'अक्षरात्परतः परः' (मुण्ड. २।१।२) इति" । अव्याकृत या प्रधान तत्त्व की संज्ञा 'अक्षर' है, जगत् का कारण पदार्थ उस अक्षर से परे है ।

शङ्का—जिस प्रधान तत्त्व से भेद का निर्देश किया गया है, वह क्या आगम-सिद्ध सांख्याभिमत प्रधान (प्रकृति) विवक्षित है ? यदि ऐसा ही है, तब दो प्रधान रूप कारण और समस्त विकारात्मक प्रपञ्च में कार्य-कारणभाव के नियामक सारूप्यादि धर्मों का सामञ्जस्य हो जाता है ।

समाधान—सांख्य-सम्मत प्रधान तत्त्व को वेदान्त-सिद्धान्त में कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना जाता । यदि अव्याकृत (सूक्ष्मभूत शक्ति) को ही सांख्याचार्य प्रधान मानते हैं, तब के लिए प्रधानप्रतियोगिक भेदवत्ता का निर्देश किया गया है ॥ २२ ॥

"रूपोपन्यासाच्च"—इस सूत्र की पराभिमत व्याख्या की गई कि "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः" (मुण्ड. २।१।२) इत्यादि वाक्यों के द्वारा निर्दिष्ट स्वरूप परमेश्वर में ही घटता है, अन्यत्र नहीं । अब भाष्यकार स्वाभिमत व्याख्या अन्यमुखतः प्रस्तुत करते हैं—"अन्ये पुनर्मन्यन्ते" । यहाँ प्रयुक्त 'पुनः' शब्द के द्वारा पहली व्याख्या की अपेक्षा विशेष वैलक्षण्य दिखाते हुए इस व्याख्या की स्वाभीष्टता सूचित की है । पहली व्याख्या

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' इति हि पूर्वत्र प्राणादि पृथिव्यन्तं तत्त्वजातं जायमानत्वेन निरदिक्षत्। उत्तरत्रापि च 'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः' इत्येवमादि 'अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च' इत्येवमन्त जायमानत्वेनैव निर्देक्ष्यति। इहैव कथमकस्मादन्तराले भूतयोने रूपमुपन्यसेत्? सर्वात्मत्वमपि सृष्टिं परिसमाप्योपदेक्ष्यति 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' (मुण्ड० २।१।१०) इत्यादिना। श्रुतिस्मृत्योश्च त्रैलोक्यशरीरस्य प्रजापतेर्जन्मादि निर्दिश्यमानमुपलभामहे 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम' (ऋ० सं० १०।१२१।१)

भामती

जायमानत्वसम्भवे नाकस्माज्जनकत्वकल्पनं युक्तम्। प्रकरणं खल्वेतद्विश्वयोनेः, सन्निधिश्च जायमानानां, सन्निधेश्च प्रकरणं बलीय इति जायमानपरित्यागेन विश्वयोनेरेव प्रकरणिनो रूपाभिधानमिति चेत्। न, प्रकरिणः शरीरेन्द्रियाविरहितस्य विग्रहवत्त्वविरोधात्। न चैतावता मूर्धादिश्रुतयः प्रकरणविरोधात् स्वार्थत्यागेन सर्वात्मतामात्रपरा इति युक्तम्, श्रुतेरत्यन्तविप्रकृष्टार्थात्प्रकरणाद्बलीयस्त्वात्। सिद्धे च

भामती–व्याख्या

में जो कहा गया है कि "अग्निर्मूर्धा"—इत्यादि स्वरूप का अभिधान विश्व के कारणीभूत परमेश्वर का है, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि इस वाक्य से पूर्व "एतस्माज्जायते प्राणो मनः" (मुण्ड. २।१।३) और इस वाक्य के पश्चात् भी "तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः" (मुण्ड, २।१।५) इत्यादि वाक्यों के द्वारा जायमान विश्व के स्वरूप का निर्देश किया गया है, तब मध्य में "अग्निमूर्धा"—इत्यादि से परमेश्वर के स्वरूप का प्रसङ्ग अकस्मात् क्योंकर आ जायगा? अतः जायमान प्रपञ्च के मध्य में चर्चित "अग्निर्मूर्धा"—इत्यादि स्वरूप जायमान जगत् का है उसके जनक परमेश्वर का नहीं।

शङ्का—"अग्निर्मूधा"—इत्यादि स्वरूप का प्रतिपादन जायमान जगत् का नहीं, अपितु उसके जनकीभूत परमात्मा का है, क्योंकि यह प्रकरण विश्व-स्रष्टा का है और सन्निधिरूप स्थान प्रमाण से जायमान जगत् का निर्देश किया जाता है, स्थान की अपेक्षा प्रकरण प्रमाण प्रबल होता है, जैसा कि माधवाचार्य का कहना है—"तस्मात्प्रकरणेन सन्निधिबाधात् सर्वेषां विदेवनादयः" (न्या. मा. वि. ३।३।१०)।

समाधान—यहाँ सन्निधिरूप स्थान प्रमाण का प्रकरण से बाध नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ स्थान प्रमाण का सहायक सामर्थ्यात्मक लिङ्ग प्रमाण है कि जो शरीरवान् है, वही कार्य का जनक हो सकता है, अतः अग्निर्मूधा आदि वाक्य के द्वारा विश्व-स्रष्टा के विग्रह (शरीर) का प्रतिपादन किया गया है, शरीर-रहित पुरुष विश्वयोनि नहीं हो सकता।

शङ्का—यहाँ लिङ्ग प्रमाण का तात्पर्य शरीरवत्त्व के बोधन में नहीं, अपितु सर्वात्मत्व के प्रतिपादन में है, क्योंकि "अग्निर्मूर्धा"-इत्यादि श्रुति-वाक्य प्रकरण से विरुद्ध होने के कारण अपने वाच्यार्थ का परित्याग करके परमात्मा की सर्वात्मता का प्रतिपादन करते हैं।

समाधान—(१) श्रुति, (२) लिङ्ग, (३) वाक्य (४) प्रकरण, (५) स्थान और (६) समाख्या—इन छः प्रमाणों में श्रुतिप्रमाण सबसे प्रबल माना गया है, द्र. जै. सू. ३।३।६४)। अतः परमेश्वर के विग्रह (शरीर) का अभिधान करनेवाले श्रुतिवाक्य अन्यार्थपरता की कल्पना में बाधित हो जाते हैं, निरपेक्ष शब्दात्मक श्रुति प्रमाण की रक्षा करने के लिए परमेश्वर के विग्रह-प्रतिपादन में उक्त वाक्य का तात्पर्य मानना आवश्यक है। प्रकरण प्रमाण अत्यन्त विप्रकृष्ट अर्थ का गमक होता है और श्रुतिप्रमाण अन्तरङ्ग अर्थ का बोधक, अतः

इति। समवर्ततेत्यजायतेत्यर्थः । तथा 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' इति च। विकारपुरुषस्यापि सर्वभूतान्तरात्मत्वं संभवति, प्राणात्मना सर्वभूतानामध्यात्ममवस्थानात्। अस्मिन्पक्षे 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इत्यादिसर्वरूपोपन्यासः परमेश्वरप्रतिपत्तिहेतुरिति व्याख्येयम् ॥ २३ ॥

(७ वैश्वानराधिकरणम् । सू० २४–३२)

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति, 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि' (छा० ५।११।१,६) इति चोपक्रम्य द्युसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीनां सुतेजस्त्वादि-

भामती

प्रकरणिनाऽसम्बन्धे जायमानमध्यपातित्वं जायमानग्रहणे कारणमुपन्यस्तं भाष्यकृता। तस्माद्धिरण्यगर्भ एव भगवान् प्राणात्मना सर्वभूतान्तरः कार्यो निर्दिश्यत इति साम्प्रतम्। तत्किमिदानीं सूत्रमनवधेयमेव ? नेत्याह * अस्मिन् पक्षे इति * प्रकरणात्।

प्राचीनशालसत्ययज्ञेन्द्रद्युम्नजनकबुडिलाः समेत्य मीमांसां चक्रुः *को न आत्मा किं ब्रह्म इति*। आत्मेत्युक्ते जीवात्मनि प्रत्ययो मा भूद्, अत उक्तं किं ब्रह्मेति। ते च मीमांसमाना निश्चयमनधिगच्छन्तः कैकेयराजं वैश्वानरविद्याविदमुपसेदुः। उपसद्य चोचुः * आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि *।

भामती–व्याख्या

प्रकरण की अपेक्षा श्रुति प्रबलतम है।

जायमान विश्व-प्रतिपादन के प्रकरण में विश्वस्रष्टा का प्रतिपादन असम्बद्ध क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकारने जायमान पदार्थों के निर्देश को उसके कारण (जनक) का उपलक्षण माना है। फलतः यहाँ प्राण तत्त्व के आश्रयीभूत भगवान् हिरण्यगर्भ का सर्वभूत-कारणत्वेन निर्देश सिद्ध होता है। यदि 'अग्निर्मूर्धा'—इत्यादि से परमेश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं, तब "रूपोपन्यासाच्च"—इस सूत्र का सामञ्जस्य कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार देते हैं–"अस्मिन् पक्षे पुरुष एवेदं विश्वं कर्म" (मुण्ड. २।१।१०) इत्यादि सर्वरूपोपन्यासः परमेश्वरप्रतिपत्तिहेतुरिति व्याख्येयम्"। य ँ प्रकरण प्रमाण किसी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं, अतः उसके द्वारा परमेश्वर के स्वरूप का ही उपन्यास माना जाता है ॥ २३ ॥

विषय—(१) उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, (२) पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ, (३) भाल्लवि के पुत्र इन्द्रद्युम्न, (४) शर्कराक्ष के पुत्र जनक और (५) अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल—इन पाँचों ने मिल कर विचार किया –"को न आत्मा किं ब्रह्म" (छां. ५।११।१)। केवल आत्मा की जिज्ञासा करने पर जीवात्मा प्रसक्त होता है, उसकी व्यावृत्ति करने के लिए कहा है—किं ब्रह्म ? वे प्राचीनशालादि विचार करते-करते किसी निश्चय पर न पहुँच कर वैश्वानर-विद्या के ज्ञाता उद्दालक के पास गए। उसे भी विशेष ज्ञान नहीं था, अतः वह भी छठा जिज्ञासु बन गया, वे छहों उस विद्या के विशेषज्ञ कैकेयराज अश्वपति के पास गए और बोले– आप ही इस समय वैश्वानर का स्मरण (ज्ञान) रखते हैं, उसका उपदेश हम लोगों को करें। अश्वपति ने उन छहों ऋषि कुमारों से पृथक्-पृथक् पूछा कि आप लोग अभी तक

गुणयोगमेकैकोपासननिन्दया च वैश्वानरं प्रत्येषां मूर्धादिभावमुपदिश्याम्नायते— यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५।१८।२) इत्यादि।

भामती

स्मरसि * तमेव नो ब्रूहीत्युपक्रम्य द्युसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीनाम् इति *। अयमर्थः—वैश्वानरस्य भगवतो द्यौः * मूर्धा सुतेजाः *। * चक्षुर्विश्वरूपः सूर्यः *। * प्राणः वायुः *। * पृथग्वर्त्मात्मा *। पृथक् वर्त्म यस्य वायोः स पृथग्वर्त्मा, स एवात्मा स्वभावो यस्य स पृथग्वर्त्मात्मा। सन्देहः देहस्य मध्यभागः स आकाशो * बहुलः * सर्वगतत्वात्। * बस्तिरेव रयिः * आपः, यतोऽद्भ्योऽन्नमन्नाच्च रयिर्धनं तस्मादापो रयिस्ताश्च मूत्रीभूतानां बस्तिः स्थानमिति बस्तिरेव रयिरित्युक्तम्। "पादौ" "पृथिवी" तत्र प्रतिष्ठानात्। तदेवं वैश्वानरावयवेषु द्युसूर्यानिलाकाशजलावनिषु मूर्धचक्षुःप्राणसन्देहबस्तिपादेष्वेकैकस्मिन् वैश्वानरबुद्धया विपरीततयोपासकानां प्राचीनशालादीनां मूर्धपातान्धत्वप्राणोत्क्रमणदेहशीर्णताबस्तिभेदपादश्लथीभावदूषणैरुपासनानां निन्दया मूर्धादिसमस्तभावमुपदिश्याम्नायते *यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानम् इति *। स सर्वेषु लोकेषु द्युप्रभृतिषु भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु सर्वेष्वात्मसु देहेन्द्रियमनोबुद्धिजीवेष्वन्नमत्ति सर्वसम्बन्धिफलमाप्नोतीत्यर्थः। अथास्य वैश्वानरस्य भोक्तुर्भोजनस्याग्निहोत्रतासम्पिपादयिषयाऽऽह श्रुतिः—"उर एव वेदिः" वेदिमाकृत्यात्। "लोमानि बर्हिः" आस्तीर्णबर्हिः-

भामती-व्याख्या

वैश्वानर का स्वरूप क्या जान पाए हैं, उन लोगों ने क्रमशः (१) द्युलोक, (२) आदित्य, (३) वायु, (४) आकाश, (५) जल और (६) पृथिवी को वैश्वानर बताया। तब अश्वपति ने कहा—"तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य द्यौर्मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्ववर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवीयः" (छां. ५।१८।२)। इसका अर्थ यह है कि उस भगवान् वैश्वानर का द्युलोक तेजस्वी मस्तक है, विश्व-व्याप्त सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है, वायु को पृथग्वर्त्मा इस लिए कहा गया है कि वह विविध दिशाओं में गतिशील है। बहुल (व्यापक) आकाश उसके शरीर का मध्य भाग, रयि (जल) उसका बस्ति-स्थान है, जल से अन्न, अन्न से रयि (धन) होने के कारण जल को धनरूप कहा गया है। मूत्ररूप में परिणत जल का स्थान बस्ति कहा जाता है, इस प्रकार बस्ति को रयि कहा गया है। पृथिवी उस वैश्वानर के पाद (पैर) हैं, क्योंकि उस पर वह प्रतिष्ठित है।

वैश्वानर के अवयवभूत मस्तक, चक्षु, प्राण, देह, बस्ति और पाद के स्थानापन्न द्यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवी में पूर्ण वैश्वानर की विपरीत बुद्धि से उपासना करनेवाले प्राचीनशालादि छहों पुरुषों में शिरःपात, अन्धत्व, प्राणोत्क्रमण, देह-जीर्णता और बस्ति-भेदरूप दोष दिखा कर प्रत्येक उपासन की निन्दा के द्वारा समस्त पदार्थों में वैश्वानरभाव का उपदेश किया जाता है—"यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" (छा. ५।१८।२)। ऐसा उपासक सभी द्युलोकादि, सभी स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणियों में एवं सभी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीवरूप गौण-मुख्यरूप आत्मपदार्थों में व्याप्त होकर अन्न खाता अर्थात् सभी के फलों का भोक्ता होता है। वैश्वानर के इस उपासकरूप भोक्ता के भोजन में अग्निहोत्ररूपता का सम्पादन करने के लिए श्रुति कहती है—"उर एव वेदिः"। वक्षःस्थल में

तत्र संशयः—किं वैश्वानरशब्देन जाठरोऽग्निरुपदिश्यते, उत भूताग्निः, अथ तदभिमानिनी देवता, अथवा शारीरः, आहोस्वित् परमेश्वर इति। किं पुनरत्र संशयकारणम्? वैश्वानर इति जाठरभूताग्निदेवतानां साधारणशब्दप्रयोगादात्मेति च शारीरपरमेश्वरयोः। तत्र कस्योपादानं न्याय्यं, कस्य वा हानमिति भवति संशयः।

किं तावत्प्राप्तम्? जाठरोऽग्निरिति, कुतः? तत्र हि विशेषेण क्वचित्प्रयोगो दृश्यते—'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' (बृह० ५।९) इत्यादौ। अग्निमात्रं वा स्यात्, सामान्येनापि प्रयोगदर्शनात्—'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' (ऋ० सं० १०।८८।१२) इत्यादौ। अग्निशरीरा वा देवता स्यात्, तस्यामपि प्रयोगदर्शनात्—'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः' (ऋ० सं० १।९८।१) इत्येवमाद्यायाः श्रुतेर्देवताया-मश्वर्याद्युपेतायां संभवात्। अथात्मशब्दसामानाधिकरण्यादुपक्रमे च 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति केवलात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दवशेन च वैश्वानरशब्दः परिणेय इत्युच्यते, तथापि शारीर आत्मा स्यात्, तस्य भोक्तृत्वेन वैश्वानरसंनिकर्षात्। प्रादेशमात्रमिति च विशेषणस्य तस्मिन्नुपाधिपरिच्छिन्ने संभवात्। तस्मान्नेश्वरो वैश्वानर इत्येवं प्राप्ते तत इदमुच्यते—वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हतीति, कुतः? साधारणशब्द विशेषात्। साधारणशब्दयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषः। यद्यप्येतावुभावप्यात्म-वैश्वानरशब्दौ साधारणशब्दौ, वैश्वानरशब्दस्तु त्रयस्य साधारणः, आत्मशब्दश्च द्वयस्य, तथापि विशेषो दृश्यते, येन परमेश्वरपरत्वं तयोरभ्युपगम्यते, तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादि। अत्र हि परमेश्वर एव द्युमूर्धत्वा-दिविशिष्टोऽवस्थान्तरगतः प्रत्यगात्मत्वेनोपन्यस्त आध्यानायेति गम्यते, कारणत्वात्। कारणस्य हि सर्वाभिः कार्यगताभिरवस्थाभिरवस्थावत्त्वाद् द्युलोकाद्यवयवत्वमुपप-द्यते। 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' इति च सर्वलोकाद्याश्रयं फलं श्रूयमाणं परमकारणपरिग्रहे संभवति। 'एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।३) इति च तद्विदः सर्वपाप्मप्रदाहश्रवणम्। 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति चात्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम इत्येवमेतानि लिङ्गानि परमेश्वरमेवावगमयन्ति। तस्मात्पर-मेश्वर एव वैश्वानरः॥ २४॥

भामती

सारूप्यात्। "हृदयं गार्हपत्यः"। हृदयानन्तरं "मनोऽन्वाहार्यपचनः"। "आस्यमाहवनीयः"। तत्र हि तदन्नं हूयते॥ २४॥

भामती-व्याख्या

वेदि की समानाकारता होने के कारण उरस्थल को वेदि कह दिया गया है। बिछे हुए बर्हिः (कुशा) में रोमों की समानता होने के कारण बर्हिः को रोम कहा है। हृदय में गृहपति (जीव) का विशेष निवास होने के कारण हृदय को गार्हपत्य अग्नि और हृदय के अनन्तर मन को अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) कह दिया है ['अनु' अर्थात् दर्शपूर्णमास कर्म का अनुष्ठान करने के अनन्तर जो आहार्यते (ऋत्विजो को दक्षिणा के रूप में दिया जाता है), उस चरु द्रव्य को अन्वाहार्य कहते हैं और वह चरु जिस दक्षिणाग्नि में पकाया जाता है, उस अग्नि को अन्वाहार्यपचन कहते है]। आस्य (मुख) को आहवनीय अग्नि इस लिए कहा गया है कि उसमें अन्न की आहुति दी जाती है॥ २४॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात्परमेश्वरस्यैवाग्निरास्यं द्यौर्मूर्धेतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते—'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः ॥' इति। एतत्स्मर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः। इतिशब्दो हेत्वर्थः। यस्मादिदं गमकं तस्मादपि वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः। यद्यपि स्तुतिरियं 'तस्मै लोकात्मने नमः' इति। स्तुतित्वमपि नासति मूलभूते वेदवाक्ये सम्यगीदृशेन रूपेण सम्भवति। 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता ॥' इत्येवंजातीयका च स्मृतिरिहोदाहर्तव्या ॥ २५ ॥

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न, तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

अत्राह—न परमेश्वरो वैश्वानरो भवितुमर्हति, कुतः? शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च। शब्दस्तावद्वैश्वानरशब्दो न परमेश्वरे संभवति, अर्थान्तरे रूढत्वात्। तथाऽग्निशब्दः 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इति। आदिशब्दात् 'हृदयं गार्हपत्यः' (छा० ५।१८।२) इत्याद्यग्नित्रेताप्रकल्पनम्। 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५।१९।१) इत्यादिना च प्राणाहुत्यधिकरणतासंकीर्तनम्। एतेभ्यो हेतुभ्यो जाठरो वैश्वानरः प्रत्येतव्यः। तथाऽन्तःप्रतिष्ठानमपि श्रूयते—'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। तच्च जाठरे सम्भवति। तदप्युक्तं मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषात्कारणात्परमात्मा वैश्वानर इति। अत्र ब्रूमः—कुतो ह्येष निर्णयः? यदुभयथापि विशेषप्रतिभाने सति परमेश्वरविषय एव विशेष आश्रयणीयो न जाठरविषय इति। अथवा भूताग्नेरन्तर्ब-

---

भामती

ननु को न आत्मा किं ब्रह्मेत्युपक्रमे आत्मब्रह्मशब्दयोः परमात्मनि रूढत्वेन तदुपरक्तायां बुद्धौ वैश्वानराग्न्यादयः शब्दास्तदनुरोधेन परमात्मन्येव कथञ्चिन्नेतुं युज्यन्ते, न तु प्रथमावगतौ ब्रह्मात्मशब्दौ चरमावगतवैश्वानरादिपदानुरोधेनान्यथयितुं युज्येते। यद्यपि च वाजसनेयिनां वैश्वानरविद्योपक्रमे वैश्वानरं ह वै भगवान् सम्प्रति वेद तं नो ब्रूहीत्यत्र नात्मब्रह्मशब्दौ स्तस्तथापि तत्समानार्थं छान्दोग्यवाक्यं तदुपक्रममिति तेन निश्चितार्थेन तदविरोधेन वाजसनेयिवाक्यार्थो निश्चीयते। निश्चितार्थेन ह्यनिश्चितार्थं

भामती-व्याख्या

संशय—'वैश्वानर' शब्द के द्वारा क्या जाठर अग्नि विवक्षित है ? या भूताग्नि ? या अग्न्यभिमानी देवता ? या जीव ? अथवा परमेश्वर ?

पूर्वपक्ष—'वैश्वानर' शब्द की शक्ति परमेश्वर में नहीं, अतः जाठराग्नि आदि में से किसी एक का ग्रहण किया जा सकता है।

शङ्का—"को न आत्मा किं ब्रह्म"—ऐसे उपक्रम वाक्य में 'आत्मा' और 'ब्रह्म' ये दोनों शब्द परमात्मा में रूढ होने के कारण पश्चात् उपस्थित 'वैश्वानर' शब्द में परमात्मपरता ही निश्चित होती है। प्रथमावगत 'ब्रह्म' और 'आत्मा' शब्द पश्चादुपस्थित वैश्वानरादि शब्दों के अनुरोध पर अन्य अर्थ (जाठराग्नि) के बाधक नहीं हो सकते। यद्यपि वाजसनेयी बृहदारण्यकोपनिषत् में वैश्वानर-विद्या का उपक्रम करते हुए कहा है—"वैश्वानरं ह वै भगवान्, सम्प्रति वेद तं नो ब्रूहि।" यहाँ न 'आत्म' शब्द है और न ब्रह्म' शब्द। तथापि उसके समानार्थक छान्दोग्योपनिषत् में वे दोनों शब्द प्रयुक्त हैं, अतः निश्चितार्थक वाक्य के

द्विष्ठावतिष्ठमानस्यैष निर्देशो भविष्यति, तस्यापि हि द्युलोकादिसंबन्धो मन्त्रवर्णादवगम्यते—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १०।८८।३) इत्यादौ। अथवा तच्छरीराया देवताया ऐश्वर्ययोगाद् द्युलोकाद्यवयवत्वं भविष्यति। तस्मान्न परमेश्वरो वैश्वानर इति। अत्रोच्यते—न तथादृष्ट्युपदेशादिति*।

भामती

व्यवस्थाप्यते, नानिश्चितार्थेन निश्चितार्थम्। कर्मवच्च ब्रह्मापि सर्वशाखाप्रत्ययमेकमेव। न च द्युमूर्द्धत्वादिकं जाठरभूताग्निदेवताजीवात्मनामन्यतमस्यापि सम्भवति ? न च सर्वलोकाश्रयफलभागिता। न च सर्वपाप्मप्रदाह इति पारिशेष्यात्परमात्मैव वैश्वानर इति निश्चिते कुतः पुनरियमाशङ्का—शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेत् इति ? उच्यते—तदेवोपक्रमानुरोधेनान्यथा नीयते, यन्नेतुं शक्यम्। अशक्यौ च वैश्वानराग्निशब्दावन्यथा नेतुमिति शङ्कितुरभिमानः। अपि चान्तःप्रतिष्ठितत्वं प्रादेशमात्रत्वं च न सर्वव्यापिनोऽपरिमाणस्य च परब्रह्मणः सम्भवतः। न च प्राणाहुत्यधिकरणताऽन्यत्र जठराग्नेर्युज्यते। न च गार्हपत्यादिहृदयादिता ब्रह्मणः सम्भविनो। तस्मात् यथायोगं जाठरभूताग्निदेवताजीवानामन्यतमो वैश्वानरः, न तु ब्रह्म। तथा च ब्रह्मात्मशब्दावुपक्रमगतावप्यन्यथा नेतव्यौ। द्युमूर्द्धत्वादयश्च स्तुतिमात्रम्। अथ वा अग्निशरीराया देवताया ऐश्वर्य्ययोगाद् द्युमूर्द्धत्वादय उपपद्यन्त इति शङ्कितुरभिसन्धिः।

अत्रोच्यते—न, कुतः ? तथा दृष्ट्युपदेशात्। अद्धा चरममनन्यथा सिद्धं प्रथमावगतमन्यथयति। न

भामती-व्याख्या

अनुरोध पर वाजसनेयी बृहदारण्यक का वाक्यार्थ निश्चित हो जाता है, क्योंकि यह अत्यन्त प्रसिद्ध न्याय है कि "निश्चितार्थेन ह्यनिश्चितार्थं व्यवस्थाप्यते, न त्वनिश्चितार्थेन निश्चितार्थम्"। जैसे कर्म अन्यान्य शाखाओं में प्रतिपादित होने पर भी एक ही माना जाता है, वैसे ही ब्रह्म भी विभिन्न शाखाओं से अवगत एकरूप ही माना जाता है। द्युलोक जिसका मस्तक है, ऐसा पदार्थ जाठराग्नि, भूताग्नि, देवता और जीव—इनमें से कोई भी नहीं, न सर्वलोक-फल का भोक्ता और न सर्व पाप का प्रदाहक है, परिशेषतः परमात्मा ही वैश्वानर निश्चित होता है, अतः यह पूर्वपक्ष कैसे उठ सकता है कि "शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्न"। अर्थात् 'वैश्वानर' शब्द ऐसी जाठराग्नि में रूढ है, जो केवल उदर के अन्दर अवस्थित है, अतः 'वैश्वानर' शब्द ब्रह्म का बोधक नहीं हो सकता।

समाधान—उपसंहार-वाक्य के अनुरोध पर वहाँ ही उपक्रम का अन्यथा नयन होता है, जहाँ वसा करना सम्भव हो। 'वैश्वानर' और 'अग्नि'—इन दोनों शब्दों का अन्यथा नयन (अग्नि से भिन्न ब्रह्म का बोधकत्व) सम्भव नहीं—ऐसी पूर्वपक्षी की धारणा है। दूसरी बात यह भी है कि श्रुति में जो वैश्वानर के लिए अन्तःप्रतिष्ठितत्व (उदर में रहना) और प्रादेशमात्र में परिमित [अंगूठा और तर्जनी को पूरी तरह फैला देने से जो लम्बाई निकलती है, उसे प्रदेश कहते हैं, उसमें रहनेवाले पदार्थ को प्रादेशमात्र कहते हैं, ऐसा] कहा गया है, वह कहना सर्व-व्यापक और अपरिमित पर ब्रह्म के लिए कभी सम्भव नहीं हो सकता। शरीर में अवस्थित प्राणों की आहुति जाठराग्नि में ही सम्भव है, ब्रह्म में नहीं। हृदयादि में निहित गार्हपत्यादि अग्नियों की रूपकता भी ब्रह्म में समञ्जस नहीं होती। अतः जाठराग्नि, भूताग्नि, देवता और जीव—इनमें से कोई एक ही वैश्वानरास्पद हो सकता है, ब्रह्म नहीं। ऐसा निश्चय हो जाने पर उपक्रम वाक्य में जो 'ब्रह्म' और 'आत्मा' शब्द उपात्त हुए हैं, उनमें गौणी वृत्ति के द्वारा जाठराग्नि आदि की बोधकता पर्यवसित होती है। द्युलोकादि में मस्तकादिरूपता का प्रतिपादन केवल स्तुतिपरक है। अथवा अग्नि के अधिष्ठातृ देव में सर्वैश्वर्य के योग से उक्त कथन उपपन्न हो जाता है—ऐसा पूर्वपक्षी का आशय है।

सिद्धान्त—कथित पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए कहा गया है—"न",

न शब्दादिभ्यः कारणेभ्यः परमेश्वरस्य प्रत्याख्यानं युक्तम्, कुतः? तथा जाठरापरित्यागेन दृष्ट्युपदेशात्। परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यते—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१) इत्यादिवत्। अथवा जाठरवैश्वानरोपाधिः परमेश्वर इह द्रष्टव्यत्वेनोपदिश्यते—'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्यादिवत्। यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत, केवल एव जाठरोऽग्निर्विवक्ष्येत, ततो मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषस्यासंभव एव स्यात्। यथा तु देवताभूताग्निव्यपाश्रयेणाप्ययं विशेष उपपादयितुं न शक्यते, तथोत्तरसूत्रे वक्ष्यामः। यदि च केवल एव जाठरो विवक्ष्येत, पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं तस्य स्यान्न तु पुरुषत्वम्। पुरुषमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' (श० ब्रा० १०।६।१।११) इति। परमेश्वरस्य तु सर्वा-

भामती

त्वत्र परमस्यानन्यथासिद्धिः प्रतीकोपदेशेन वा मनो ब्रह्मेतिवत्। तदुपाध्यपदेशेन वा मनोमयः प्राणशरीरो भारूप इतिवद् उपपत्तेः। व्युत्पत्त्या वा वैश्वानराग्निशब्दयोर्ब्रह्मवचनत्वान्नान्यथासिद्धिः। तथा च ब्रह्माश्रयस्य प्रत्ययस्याश्रयान्तरे जाठरवैश्वानराह्वये क्षेपेण वा जाठरवैश्वानरोपाधिनि वा ब्रह्मण्युपास्ये वैश्वानरधर्माणां ब्रह्मधर्माणां च समावेश उपपद्यते। असम्भवादिति सूत्रावयवं व्याचष्टे ॐ यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत इति॥। पुरुषमपि चैनमधीयत इति सूत्रावयवं व्याचष्टे ॐयदि केवल एव इति॥। ब्रह्मोपाधितया नापि प्रतीकतयेत्यर्थः। न केवलमन्तःप्रतिष्ठं पुरुषमपीत्यपेरर्थः। अत एव यत् पुरुष इति पुरुषमनूद्य न वैश्वानरो विधीयते। तथा सति पुरुषे वैश्वानरदृष्टिरुपदिश्येत। एवं च परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यत इति भाष्यं विरुध्येत। श्रुतिविरोधश्च—"स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद" इति वैश्वानरस्य हि पुरुषत्ववेदनमत्रानूद्यते, न तु पुरुषस्य वैश्वानरत्ववेदनम्।

भामती-व्याख्या

क्योंकि 'तथादृष्ट्युपदेशात्" [जाठराग्नि आदि में केवल ब्रह्म की दृष्टि या भावना का ही विधान किया गया है, अतः 'वैश्वानर' पद के वाच्यार्थ का बाध नहीं होता, उसमें अन्य पदार्थ का केवल ध्यान किया जाता है]। आशय यह है कि वही अन्तिम वाक्य उपक्रम का अन्यथा नयन कर सकता है, जो अन्यथा सिद्ध (उपपन्न) न हो सके, प्रकृत में जाठराग्नि को प्रतीक मान कर वैसे ही ब्रह्म का उपदेश हो सकता है, जैसे मन में ब्रह्म की भावना का विधान होता है। अथवा 'वैश्वानर' और 'अग्नि' शब्द के द्वारा उपस्थित जाठराग्निरूप उपाधि के द्वारा पर ब्रह्म की वैसे ही उपासना प्रतिपादित है, जैसे "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः" (छां. ३।१४।२) इत्यादि वाक्यों में मन और प्राणादिरूप उपाधियों के द्वारा आत्मा की प्रवृत्ति, निवृत्ति और संसरणादि अभिहित हैं। अथवा "विश्वश्चायं नरश्च, विश्वेषां वाऽयं नरः विश्वे नरा अस्य"—इत्यादि व्युत्पत्ति के द्वारा वैश्वानरादि शब्द ब्रह्म के वाचक हैं, अतः वे अन्यथा सिद्ध नही हो सकते। सारांश यह है कि ब्रह्मविषयिणी प्रतीति का जाठर वैश्वानर में प्रक्षेप करके (जाठराग्नि को प्रतीक मानकर) या जाठर वैश्वानररूप उपाधि के द्वारा उपास्यमान ब्रह्म में ब्रह्म के द्युमूर्धत्वादि धर्मों का अन्वय उपपन्न हो जाता है।

सूत्रगत 'असम्भवात्" —इस पद की व्याख्या करते हैं—"यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत केवल एव जाठरोऽग्निर्विवक्ष्येत, ततो मूर्धैव सुतेजाः इत्यादेविशेषस्यासम्भव एव स्यात्"। "पुरुषमपि चैनमधीयते"—इस सौत्र वाक्य की व्याख्या की जाती है—"यदि च केवल एव जाठरो विवक्ष्यते, पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं तस्य स्यान्न तु पुरुषत्वम्।" अर्थात् यदि ब्रह्म की उपाधि या प्रतीक के रूप में जाठराग्नि का निर्देश न होकर केवल जाठराग्नि

त्मत्वात्पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं चोभयमुपपद्यते। ये तु 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इति सूत्रावयवं पठन्ति, तेषामेषोऽर्थः—केवलजाठरपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं स्यान्न पुरुषविधत्वम्। पुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। पुरुषविधत्वं च प्रकरणाद्यदधिदैवतं द्युमूर्धत्वादि पृथिवीप्रतिष्ठितत्वान्तं, यच्चाध्यात्मं प्रसिद्धं मूर्धत्वादि चुबुकप्रतिष्ठितत्वान्तं तत्परिगृह्यते ॥ २६ ॥

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

यत्पुनरुक्तं भूताग्नेरपि मन्त्रवर्णे द्युलोकादिसंबन्धदर्शनान्मूर्धैव सुतेजा इत्याद्यवयवकल्पनं तस्यैव भविष्यतीति, तच्छारीराया देवताया वैश्वर्ययोगादिति। तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—अत एवोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न देवता वैश्वानरः। तथा भूताग्निरपि न वैश्वानरः। नहि भूताग्नेरौष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य द्युमूर्धत्वादिकल्पनोपपद्यते; विकारस्य विकारान्तरात्मत्वासंभवात्। तथा देवतायाः सत्यप्यैश्वर्ययोगे न द्युमूर्धत्वादिकल्पना संभवति, अकारणत्वात्परमेश्वर्यत्वाच्च। आत्मशब्दासंभवश्च सर्वेष्वेषु पक्षेषु स्थित एव ॥ २७ ॥

भामती

तस्मात् स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यदिति यदः पूर्वेण सम्बन्धः, पुरुष इति तत्र पुरुषदृष्टेरुपदेश इति युक्तम् ॥ २५, २६ ॥

अत एवैतेभ्यः श्रुतिस्मृत्यवगतद्युमूर्द्धत्वादिसम्बन्धसर्वलोकाश्रयफलभागित्वसर्वपाप्मप्रदाहात्मब्रह्मपदोपक्रमेभ्यो हेतुभ्य इत्यर्थः। 'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमाम्' इति मन्त्रवर्णोऽपि न केवलौष्ण्यप्रकाशविभवमात्रस्य भूताग्नेरिममीदृशं महिमानमाहापि तु ब्रह्मविकारतया ताद्रूप्येणेति भावः ॥ २७ ॥

भामती-व्याख्या

का ही प्रतिपादन अपेक्षित होता, तब उस जाठराग्नि के लिए केवल अन्तःप्रतिष्ठितत्व (शरीर के अन्दर रहना) ही कहा जा सकता था, उसमें पुरुषत्व का विधान सम्भव नहीं होता, जैसा कि वाजसनेयी शाखा में कहा है—"स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः" (शत. ब्रा. १०.६।१।११)। पुरुष' शब्द का अर्थ है—पूर्ण (व्यापक)। जाठराग्नि व्यापक नहीं, अपितु उसके द्वारा उपलक्षित ब्रह्म ही पुरुष तत्त्व है। सूत्र में जो कहा है—"पुरुषमपि", वहाँ प्रयुक्त 'अपि' शब्द का अर्थ यह है कि केवल अन्तःप्रतिष्ठितत्व का अभिधान न करके पुरुषत्व का भी विधान किया गया है। अत एव (वैश्वानर में पुरुषत्व का विधान अपेक्षित होने के कारण) पञ्चपादिकाकार का वह वक्तव्य भी निरस्त हो जाता है, जो कहा है कि 'उक्त श्रुति-वाक्य में पुरुष का अनुवाद करके वैश्वानरत्व का विधान किया गया है।' उस वक्तव्य को मान लेने पर पुरुष में वैश्वानर की भावना (उपासना) प्राप्त होगी। इतना ही नहीं "परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानरे इहोपदिश्यते"—यह भाष्य भी विरुद्ध पड़ जाता है, अतः वैश्वानर में पुरुषत्व की भावना यहाँ अनुवादित है, पुरुष में वैश्वानरत्व की भावना नहीं। "स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्"—यहाँ पर 'यत्' पद के द्वारा पूर्वोपस्थापित वैश्वानर का अनुवाद किया गया और 'पुरुषः'—इस पद से पुरुषत्व का विधान किया जाता है ॥ २८–२६ ॥

"अत एव न देवता भूतं च"—इस सूत्र में 'अत एव' शब्द का अर्थ यह है कि 'कथित श्रुति, स्मृति के द्वारा अवगत द्युमूर्धत्वादि का सम्बन्ध, सर्वलोकाश्रितफल-भोक्तृत्व, सर्वपापप्रदाह और आत्मा एवं ब्रह्म शब्द का उपक्रम'—इन हेतुओं से उक्त श्रुति में 'वैश्वानर' और 'अग्नि' पदों के द्वारा अग्नि के अभिमानी देव या भौतिक अग्नि का ग्रहण नहीं किया जा

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पूर्वं जाठराग्निप्रतीको जाठराग्न्युपाधिको वा परमेश्वर उपास्य इत्युक्तमन्तःप्रतिष्ठितत्वाद्यनुरोधेन, इदानीं तु विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमेश्वरोपासनपरिग्रहे न कश्चिद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। ननु जाठराग्न्यपरिग्रहेऽन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं शब्दादीनि च कारणानि विरुध्येरन्निति। अत्रोच्यते—अन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं तावन्न विरुध्यते। न हीह पुरुषविधं 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति जाठराग्न्यभिप्रायेणेदमुच्यते, तस्याप्रकृतत्वादसंशब्दितत्वाच्च। कथं तर्हि ? यत्प्रकृतं मूर्धादिचुबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु पुरुषविधत्वं कल्पितं तदभिप्रायेणेदमुच्यते—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। यथा वृक्षे शाखां प्रतिष्ठितां पश्यतीति तद्वत्। अथवा यः प्रकृतः परमात्माऽध्यात्ममधिदैवतं च पुरुषविधत्वोपाधिस्तस्य यत्केवलं साक्षिरूपं तदभिप्रायेणेदमुच्यते—'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। निश्चिते च पूर्वापरालोचनवशेन परमात्मपरिग्रहे तद्विषय एव वैश्वानरशब्दः केनचिद्योगेन वर्तिष्यते। विश्वश्चायं नरश्चेति, विश्वेषां वाऽयं नरः, विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा, सर्वात्मत्वात्। विश्वानर एव वैश्वानरः, तद्धितोऽनन्यार्थः, राक्षसवायसा-

भामती

यदेतत्प्रकृतं मूर्धादिषु चुबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु द्युप्रभृतीन् पृथिवीपर्यन्तांस्त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्यावयवान् सम्पाद्य पुरुषविधत्वं तदभिप्रायेणेदमुच्यते ❀ पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद इति ❀। अत्रावयवसम्पत्त्या पुरुषविधत्वं कार्यकारणसमुदायरूपपुरुषावयवमूर्धादिचुबुकान्तःप्रतिष्ठानाच्च पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं समुदायमध्यपतितत्वात्तदवयवानां समुदायिनाम्। अत्रैव निदर्शनमाह ❀ यथा वृक्षे शाखाम् इति ❀। शाखाकाण्डमूलस्कन्धसमुदाये प्रतिष्ठिता शाखा तन्मध्यपतिता भवतीत्यर्थः। समाधानान्तरमाह ❀ अथवा इति ❀। अन्तःप्रतिष्ठत्वं माध्यस्थ्यं तेन साक्षित्वं लक्षयति। एतदुक्तं भवति वैश्वानरः परमात्मा चराचरसाक्षीति। पूर्वपक्षिणोऽनुशयमुन्मूलयति ❀ निश्चिते च इति ❀। विश्वात्मकत्वाद् वैश्वानरः प्रत्यगात्मा, विश्वेषां वायं नरस्तद्विकारत्वाद्विश्वप्रपञ्चस्य विश्वे नरा जीवा

भामती—व्याख्या

सकता। "यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्" (ऋ. सं. १०।८८।३) अर्थात् जिसने अपने तेज के द्वारा पृथिवी और द्युलोक को व्याप्त कर रखा है, ऐसी अद्भुत महिमा से सम्पन्न यह भौतिक अग्नि कभी नहीं हो सकती, अपितु ब्रह्म ही ऐसा है—"तस्य भासा सर्वमिद विभाति" (मुण्ड. २।२।१०)। उस ब्रह्म का विकार होने के कारण भौतिक अग्नि को अपने मौलिक ब्रह्मतत्त्व के रूप में अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है ॥ २७ ॥

पुरुष के मूर्धा (मस्तक) से लेकर चुबुक (ठोढ़ी) तक के अवयवों में त्रैलोक्यात्मक वैश्वानर के द्युलोकादि अवयवरूपता का सम्पादन (आरोप) करके पुरुषविधत्व (पुरुषसदृशत्व) की कल्पना की गई है - 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितम्'। उसके अभिप्राय से कहा गया है, अर्थात् जैसे वृक्ष के अवयव (शाखादि) में अवस्थित पक्षी को वृक्ष के अन्दर अवस्थित कहा जाता है, वैसे ही पुरुष के अवयवों में सम्पादित वैश्वानर को पुरुष के अन्दर अवस्थित कहा गया है, क्योंकि पुरुष अवयवी और मस्तकादि अवयव हैं, अवयवी में अवयव प्रतिष्ठित होते हैं, जैसे शाखा-काण्ड-मूल-स्कंधादि वृक्ष में प्रतिष्ठित कहे जाते हैं। अन्तःप्रतिष्ठितत्व का उपपादन अन्य प्रकार से किया जाता है–"अथवा यः प्रकृतः परमात्मा"। अन्तःप्रतिष्ठितत्व का वाक्यार्थ है—मध्यस्थत्व, मध्यस्तत्व के द्वारा साक्षित्व उपलक्षित होता है। सारांश यह है कि वैश्वानरसंज्ञक परमात्मा समस्त चराचरात्मक प्रपञ्च के व्यवहार का

दिवत्। अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयणेन परमात्मविषय एव भविष्यति। गार्हपत्यादिकल्पनं प्राणाहुत्यधिकरणत्वं च परमात्मनोऽपि सर्वात्मत्वादुपपद्यते ॥२८॥

कथं पुनः परमेश्वरपरिग्रहे प्रादेशमात्रश्रुतिरुपपद्यत इति तां व्याख्यातुमारभते -

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अतिमात्रस्यापि परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यात्। अभिव्यज्यते किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वर उपासकानां कृते। प्रदेशविशेषेषु वा हृदयादिषूपलब्धिस्थानेषु विशेषेणाभिव्यज्यते। यतः परमेश्वरेऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरभिव्यक्तेरुपपद्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

प्रादेशमात्रहृदयप्रतिष्ठेन वाऽयं मनसाऽनुस्मर्यते तेन प्रादेशमात्र इत्युच्यते। यथा प्रस्थमिता यवाः प्रस्था इत्युच्यन्ते, तद्वत्। यद्यपि च यवेषु स्वगतमेव परिमाणं प्रस्थसंबन्धाद्व्यज्यते। तथापि प्रयुक्तायाः प्रादेशमात्रश्रुतेः सम्भवति यथाकथंचिदनुस्मरणमालम्बनमित्युच्यते। प्रादेशमात्रत्वेन वायमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेशमात्रश्रुत्यर्थवत्तायै। एवमनुस्मृतिनिमित्ता परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिरिति बादरिराचार्यो मन्यते ॥ ३० ॥

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३१ ॥

संपत्तिनिमित्ता वा स्यात्प्रादेशमात्रश्रुतिः। कुतः ? तथा हि—समानप्रकरणं वाजसनेयिब्राह्मणं द्युप्रभृतीन्पृथिवीपर्यन्तांस्त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्यावयवानध्यात्म-

---

भामती

वाऽऽत्मानोऽस्य तादात्म्येनेति ॥ २८ ॥

साकल्येनोपलम्भासम्भवादुपासकानामनुग्रहायानन्तोऽपि परमेश्वरः प्रादेशमात्रमात्मानमभिव्यनक्तीत्याह ॐ अतिमात्रस्यापि इति ॐ। अतिक्रान्तो मात्रां परिमाणमतिमात्रः। ॐ उपासकानां कृते ॐ उपासकार्थमिति यावत्। व्याख्यान्तरमाह ॐ प्रदेशविशेषेषु वा इति ॐ ॥ २९, ३० ॥

मूर्धानमुपक्रम्य चुबुकान्तो हि कायप्रदेशः प्रदेशमात्रः। तत्रैव त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्यावयवान् सम्पादयन् प्रादेशमात्रं वैश्वानरं दर्शयति ॥ ३१ ॥

भामती—व्याख्या

साक्षी है। अथवा 'विश्वे नरा जीवा आत्मानोऽस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'वैश्वानर' शब्द का अर्थ सर्व जीव-तदात्म्यापन्न ब्रह्म॥ २८ ॥

आचार्य आश्मरथ्य का कहना है कि ब्रह्म का साकल्येन उपलम्भ सम्भव नहीं, अतः वह अनन्त और अपरिमित होते हुए भी अपने उपासकों पर अनुग्रह करने के लिए अपने प्रादेशमात्र (प्रदेश के समान स्वल्प स्थान में रहने वाले) आंशिक स्वरूप को प्रकट कर देता है। 'अतिमात्र' शब्द का अर्थ अपरिमित या प्रमाणातीत है—'अतिक्रान्तो मात्रामिति अतिमात्रः'। 'उपासकानां कृते' का अर्थ है—उपासकानुग्रहार्थम्। 'प्रादेशमात्र' शब्द की अन्य व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि 'प्रदेशेषु हृदयादिषु अभिव्यज्यते' अर्थात् उस व्यापक अनन्त परमात्मा की अभिव्यक्ति हृदयादि रूप प्रदेशमात्र स्थानों में होती है, अतः उसे प्रादेशमात्र कह दिया गया है ॥ २९, ३० ॥

मस्तक से लेकर चुबुक-पर्यन्त वह काय-भाग प्रदेशमात्र है, इसी में त्रैलोक्यात्मक

मूर्धप्रभृतिषु चुबुकपर्यन्तेषु देहावयवेषु संपादयत्प्रादेशमात्रसंपत्तिं परमेश्वरस्य दर्शयति—'प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसंपन्नास्तथा तु व एतान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसंपादयिष्यामीति । स होवाच मूर्धानमुपदिशन्नुवाचैष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति । चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति । नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति । मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष बहुलो वैश्वानर इति । मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति । चुबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति' । चुबुकमित्यधरं मुखफलकमुच्यते । यद्यपि वाजसनेयके द्यौरतिष्ठात्वगुणा समाम्नायत आदित्यश्च सुतेजस्त्वगुणः । छान्दोग्ये पुनर्द्यौः सुतेजस्त्वगुणा समाम्नायत आदित्यश्च विश्वरूपत्वगुणः । तथापि नैतावता विशेषेण किंचिद्धीयते, प्रादेशमात्रश्रुतेरविशेषात् । सर्वशाखाप्रत्ययत्वाच्च । संपत्तिनिमित्तां प्रादेशमात्रश्रुतिं युक्ततरां जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन् मूर्धचुबुकान्तराले जाबालाः—'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति । सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति' (जाबाल. १) । तत्र चेमामेव नासिकां या सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि वारयतीति सा वरणा, सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयतीति सा नासीति वरणा नासीति निरुच्य पुनरप्यामनन्ति—'कतमच्चास्य स्थानं भवतीति । भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्युलोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति' (जाबा. १) । तस्मादुपपन्ना परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिः । अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया । प्रत्यगात्मतया सर्वैः प्राणिभिरभिविमीयत इत्यभिविमानः । अभिगतो वाऽयं प्रत्यगात्मत्वाद्विमानश्च मानवियोगादित्यभिविमानः । अभिविमिमीते वा सर्वं जगत्कारणत्वादित्यभिविमानः । तस्मात्परमेश्वरो

भामती

अत्रैव जाबालश्रुतिसंवादमाह सूत्रकारः—* आमनन्ति चैनमस्मिन् अविमुक्ते * अविद्योपाधिकल्पितावच्छेदे जीवात्मनि स खल्वविमुक्तः, तस्मिन् प्रतिष्ठितः परमात्मा तादात्म्यात् । अत एव हि श्रुतिः—अनेन जीवेनात्मनेति । अविद्याकल्पितत्वेन भेदमाश्रित्याधाराधेयभावः । वरणा भ्रूः । शेष-

भामती-व्याख्या

वैश्वानर के अवयवों का आरोप करके वैश्वानर में प्रादेशमात्रता का गौण व्यवहार महर्षि जैमिनि मानते हैं ॥ ३१ ॥

जाबालोपनिषत् में आए एक संवाद के द्वारा भी सूत्रकार प्रादेशमात्रता का उपपादन करते हैं—"आमनन्ति चैनमस्मिन्" । "एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठितः"—यहाँ जीव को अविमुक्त इस लिए कह दिया है कि वह अविद्यारूप उपाधि के द्वारा उपहित या परिच्छिन्न है । उस अविमुक्त (जीव) में तादात्म्येन परमात्मा अवस्थित है, इसी लिए परमेश्वर के वैसे ही संकल्प का प्रदर्शन श्रुति करती है—"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छां. ६।३।२) । यद्यपि जीव और ब्रह्म का वास्तविक भेद न होने के कारण 'एषोऽनन्तः अविमुक्ते प्रतिष्ठितः'—इस प्रकार का आधार-आधेयभाव सम्भव नहीं, तथापि अविद्या-कल्पित भेद को लेकर जीव को आधार और ब्रह्म को आधेय कह दिया गया है। उक्त श्रुति में आए 'वरणा' शब्द का सांकेतिक अर्थ भ्रू (भौं) है। शेष भाष्य सुगम और

वैश्वानर इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

भामती

मतिरोहितार्थम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्यविभागे भामत्यां
प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः

भामती–व्याख्या

स्पष्टार्थक है ॥ ३२ ॥

भामतीव्याख्यायां प्रथमाध्यायस्य
द्वितीयः पादः समाप्तः

प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ।

[अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गानां प्रायो ज्ञेयब्रह्मविषयाणां विचारः]

(१ द्युभ्वाद्यधिकरणम् । सू० १–७)

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

इदं श्रूयते—'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' (मुण्ड० २।२।५) इति । अत्र यदेतद् द्युप्रभृतीनामोतत्ववचनादायतनं किंचिदवगम्यते, तत्किं परं ब्रह्म स्याद्, आहोस्विदर्थान्तरमिति संदिह्यते । तत्रार्थान्तरं किमप्यायतनं स्यादिति प्राप्तम्, कस्मात्? 'अमृतस्यैष सेतुः' इति श्रवणात् । पारवान्हि लोके सेतुः प्रख्यातः । न च परस्य ब्रह्मणः पारवत्त्वं शक्यमभ्युपगन्तुम्, 'अनन्तमपारम्' (बृह० २।४।१२) इति श्रवणात् ।

भामती

इह ज्ञेयत्वेन ब्रह्मोपक्षिप्यते । तत्र

पारवत्त्वेन सेतुत्वाद्भेदे षष्ठ्याः प्रयोगतः ।
द्युभ्वाद्यायतनं युक्तं नामृतं ब्रह्म कर्हिचित् ॥

पारावारमध्यपाती हि सेतुः ताभ्यामवच्छिद्यमानो जलविधारको लोके दृष्टः, न तु बन्धहेतुमात्रम्, हडिनिगडादिष्वपि प्रयोगप्रसङ्गात् । न चानवच्छिन्नं ब्रह्म सेतुभावमनुभवति । न चामृतं सद् ब्रह्मामृतस्य सेतुरिति युज्यते । न च ब्रह्मणोऽन्यदमृतमस्ति, यस्य तत्सेतुः, स्यात् । न चाभेदे षष्ठ्याः प्रयोगो दृष्टपूर्वः । तदिदमुक्तम् * अमृतस्यैष सेतुरिति श्रवणाद् इति * । अमृतस्येति श्रवणात्,

भामती–व्याख्या

इस पाद में ज्ञेय ब्रह्म का विचार प्रस्तुत है। इस अधिकरण के विषयादि इस प्रकार हैं—

विषय—"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥ (मुण्ड. २।२।५) अर्थात् जिस परम तत्त्व में द्युलोक पृथिवी, आकाश, मन और सब इन्द्रियाँ अवस्थित है। उसी आधार तत्त्व को आत्मा समझो और अनात्मा (अपर विद्या) के प्रतिपादक वचनों का परित्याग करो। इसी एक तत्त्व का ज्ञान अमृत (मोक्ष) का सेतु (संसार सागर का पारगामी बाँध) है।

संशय—उक्त श्रुति के द्वारा प्रतिपादित द्युलोकादि का आधार तत्त्व क्या ब्रह्म से भिन्न कोई अन्य पदार्थ है ? अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—

पारवत्त्वेन सेतुत्वाद् भेदे षष्ठ्याः प्रयोगतः ।
द्युभ्वाद्यायतनं युक्तं नामृतं ब्रह्म कर्हिचित् ॥

अर्थात् द्युलोकादि का आधार ब्रह्म से भिन्न कोई अन्य पदार्थ ही होगा, क्योंकि लोक में ऐसे बन्धे को सेतु कहा जाता है, जो सागर, नदी या तालाब के मध्य में मिट्टी या पत्थर से बाँधा गया हो एवं इस पार और उस पार के दोनों तटों के बीच में अवस्थित हो। 'षिञ् बन्धने' धातु से निष्पन्न 'सेतु' शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ को छोड़ कर केवल बन्धन के साधन में नहीं होता, अन्यथा हडि [प्राचीन कारागारों में जिस बड़े काठ में छेद करके चोरादि का पैर फँसा दिया जाता था, जिसके आधार पर 'काठ मारना', 'काठ में पैर देना' आदि कहावतें प्रचलित हैं, उस काठ की बेड़ी को हडि कहते हैं] और निगड़ (लोहे की साँकल या हथकड़ी) आदि बन्धन-साधनों में 'सेतु' शब्द का प्रयोग प्रसक्त होगा। अनवच्छिन्न ब्रह्म सर्वथा अवच्छेद-

अर्थान्तरे चायतने परिगृह्यमाणे स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानं परिग्रहीतव्यं, तस्य कारणत्वा-

भामती

सेतुरिति श्रवणाद् – इति योजना। तत्रामृतस्येति श्रवणादिपि विशदतया न व्याख्यातम्। सेतुरिति श्रवणादिति व्याचष्टे ® पारवान् इति ®। तथा च पारवत्यमृतव्यतिरिक्ते सेतावनुश्रीयमाणे प्रधानं वा सांख्यपरिकल्पितं भवेत्। तत् खलु स्वकार्य्योपहितमर्य्यादतया पुरुषं यावदगच्छद्भवति पारवत्, भवति च द्युभ्वाद्यायतनं तत्प्रकृतित्वात्, प्रकृत्यायतनत्वाच्च विकाराणां भवति चात्माऽऽत्मशब्दस्य स्वभाववचनत्वात्, प्रकाशात्मा प्रदीप इतिवत्। भवति चास्य ज्ञानमपवर्गोपयोगि, तदभावे प्रधानाद्विवेकेन पुरुषस्यानवधारणादपवर्गानुपपत्तेः। यदि त्वस्मिन् प्रमाणाभावेन न परितुष्यति, अस्तु तर्हि नामरूपबीजशक्तिभूतमव्याकृतं भूतसूक्ष्मं द्युभ्वाद्यायतनं, तस्मिन् प्रामाणिके सर्वस्योक्तस्योपपत्तेः। एतदपि प्रधानोपन्यासेन

भामती–व्याख्या

विनिर्मुक्त होने के कारण सेतु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अमृत का सेतु अमृत का प्रापक होता है. ब्रह्म स्वयं अमृतरूप है, किसी अन्य अमृत का प्रापक नहीं। ब्रह्म से भिन्न और कोई अमृत तत्त्व नहीं होता, जिसका प्रापक ब्रह्म हो सके। ब्रह्म से भिन्न यदि कोई अमृत नहीं, ब्रह्म ही अमृत है, तब उसके लिए जैसे 'ब्रह्म ब्रह्मणः सेतुः' – ऐसा प्रयोग नहीं होता, वैसे ही 'ब्रह्म अमृतस्य सेतुः'—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग अभेद में नहीं, भेद में ही होता है। भाष्यकार यही कह रहे हैं—"अमृतस्यैष सेतुरिति श्रवणात्।" यहाँ 'अमृतस्येति श्रवणात्' और 'एष सेतुरिति श्रवणात्'– ऐसा अन्वय विवक्षित है, इस प्रकार पूर्व पक्षी अपने पक्ष की सिद्धि में दो हेतुओं का प्रदर्शन करना चाहता है—(१) भेदार्थक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग और (२) परिच्छिन्नार्थ-बोधक 'सेतु' शब्द का ग्रहण। इन दो हेतुओं में प्रथम हेतु अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता, अतः द्वितीय हेतु 'सेतुरिति श्रवणात्' की व्याख्या की जा रही है—"पारवान् हि लोके सेतुः प्रख्यातः"। इस प्रकार परवान् [जिस पदार्थ को पार किया जा सके, ऐसे देशतः परिच्छिन्न] और अमृत (ब्रह्म) से भिन्न किसी सेतु पदार्थ का अनुसन्धान होने पर वह सांख्य-परिकल्पित प्रधान (प्रकृति) तत्त्व हो सकता है। वह यद्यपि सांख्य-मतानुसार नित्य (कालतः अपरिच्छिन्न) और व्यापक (देशतः अपरिच्छिन्न) माना गया है, तथापि वस्तु-परिच्छेद-रूप पार से युक्त (पारवान्) है, क्योंकि प्रकृति अपने प्राकृत कार्य-वर्ग से मर्यादित है अर्थात् वह अपने महदादि परिणाम को ही अपने क्रोड (तादात्म्य) में ले सकती है, पुरुष-पर्यन्त नहीं जा सकती, पुरुष-तादात्म्यापत्ति को वस्तुतः प्राप्त नहीं कर सकती, जैसा कि श्रुति कहती है—"अव्यक्तात् पुरुषः परः, (कठो. ३।११)। अत एव अमृत पुरुष से भिन्न और द्युभ्वादि का आयतन है, क्योंकि वह द्युभ्वादि की प्रकृति (उपादान कारण) है और समस्त विकार-वर्ग प्रकृत्यायतनक (प्रकृत्याश्रित) होता है। "तमेव जानथ आत्मानम्" (मुण्ड. २।२।५) इस वाक्य में कथित आत्मा भी प्रधान तत्त्व है, क्योंकि यहाँ 'आत्मा' शब्द स्वभाव का वाचक है, जैसे कहा जाता है—'प्रकाशात्मा प्रदीपः', वैसे ही प्रधान भी त्रिगुणात्मा है। अमृत (मोक्ष) का सेतु (प्रापक) भी प्रधान है, क्योंकि उसका ज्ञान मोक्ष का उपयोगी है, प्रधान के ज्ञान का अभाव होने पर प्रधान और पुरुष का विवेक-ग्रह न हो सकेगा, तब अपवर्ग की प्राप्ति क्योंकर होगी ? यदि सांख्य-सम्मत प्रधान की अशाब्दता (अप्रामाणिकता) के कारण प्रधान-पक्ष में परितोष नहीं, तब वेदान्त-सम्मत अव्यक्त (भूतसूक्ष्म) को द्युभ्वादि का आयतन माना जा सकता है, वह प्रामाणिक है, उसमें अपरितोष का कोई कारण नहीं। प्रधान-पक्ष-परिग्रह के द्वारा ही भाष्यकार ने अव्यक्त-पक्ष भी सूचित कर दिया है।

दायतनत्वोपपत्तेः। श्रुतिप्रसिद्धो वा वायुः स्यात्, 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' (बृह० ३।७।२ इति वायोरपि विधारणत्वश्रवणात्। शारीरो वा स्यात्, तस्यापि भोक्तृत्वाद्भोग्यं प्रपञ्चं प्रत्यायतनत्वोपपत्तेरित्येवं प्राप्त इदमाह- द्युभ्वाद्यायतनमिति। द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ, द्युभुवावादी यस्य तदिदं द्युभ्वादि। यदेतदस्मिन्वाक्ये

भामती

सूचितम्। अथ तु साक्षाच्छ्रुत्युक्तं द्युभ्वाद्यायतनमाद्रियसे, ततो वायुरेवास्तु। 'वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' इति श्रुतेः। यदि त्वात्मशब्दाभिधेयत्वं न विद्यत इति न परितुष्यसि, भवतु तर्हि शारीरस्तस्य भोक्तुर्भोग्यान् द्युप्रभृतीन् प्रत्यायतनत्वात्। यदि पुनरस्य द्युभ्वाद्यायतनस्य सर्वज्ञश्रुतेरत्रापि न परितुष्यसि, भवतु ततो हिरण्यगर्भ एव भगवान् सर्वज्ञः सूत्रात्मा द्युभ्वाद्यायतनम्। तस्य हि कार्यत्वेन पारवत्त्वं चामृतात्परब्रह्मणो भेदश्चेत्यादि सर्वमुपपद्यते। अयमपि वायुना वै गौतम सूत्रेणेति श्रुतिमुपन्यस्यता सूचितः। तस्मादयं द्युप्रभृतीनामायतनमिति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते। द्युभ्वाद्यायतनं परब्रह्मैव, न प्रधानाव्याकृतवायुशारीरहिरण्यगर्भाः। कुतः? स्वशब्दात्।

धारणाद्वाऽमृतत्वस्य साधनाद्वाऽस्य सेतुता।
पूर्वपक्षेऽपि मुख्यार्थः सेतुशब्दो हि नेष्यते॥

नहि मृद्दारुमयो मूर्त्तः पारावारमध्यवर्ती पाथसां विधारको लोकसिद्धः सेतुः प्रधानं वाऽव्याकृतं

भामती–व्याख्या

यदि साक्षात् श्रुति-प्रतिपादित पदार्थ को ही द्युभ्वादि का आयतन मानना अभीष्ट है, तब वायु का ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि श्रुति स्पष्ट कहती है—"वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः पारश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति" (बृह० उ० ३।७।१)। अर्थात् वायु ही वह एक सूत्र (धागा) है, जिसमें सभी लोक, और भूत गुंथे हुए हैं।

यदि वायु को 'आत्मा' शब्द का अभिधेय नहीं माना जा सकता, तब शारीर (जीवात्मा) को द्युभ्वादि का आयतन कहा जा सकता है, क्योंकि वह भोक्ता होने के कारण भोग्यरूप द्युलोकादि का आयतन हो सकता है [जीव अपने अदृष्टों के द्वारा जगत् का स्रष्टा (उपादान कारण) और ब्रह्म से भिन्न होने के कारण अमृत (ब्रह्म) का सेतु (प्रापक) भी है। यदि द्युभ्वादि के आयतन पदार्थ में "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मुण्ड. २।२७) इस प्रकार श्रुत सर्वज्ञत्व की जीव में उपपत्ति नहीं हो सकती, तब सर्वज्ञ भगवान् हिरण्यगर्भ को द्युभ्वादि का आयतन मान सकते हैं, क्योंकि वह विराट् शरीरावच्छिन्न होने के कारण कार्य (परिच्छिन्न) है, अतः पारवान् एवं अमृतरूप परब्रह्म से भिन्न होने के कारण अमृत का सेतु (प्रापक) है—इस प्रकार सभी विशेषणों का सामञ्जस्य हिरण्यगर्भ में हो जाता है। "वायुना वै गौतम सूत्रेण" (बृह० उ० ३।७।२) इस श्रुति का उल्लेख करके भाष्यकार ने यह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का पक्ष भी सूचित किया है।

सिद्धान्त—द्युभ्वादि का आयतन परब्रह्म ही है, प्रधानादि (प्रधान, अव्याकृत, वायु, जीव और हिरण्यगर्भ) नहीं, क्योंकि स्वकीय (स्वोपस्थापक) आत्मादि शब्दों के द्वारा यहाँ पर ब्रह्म ही आयतनत्वेन उपस्थित है एवं

धारणाद्वाऽमृतत्वस्य साधनाद्वाऽस्य सेतुता।
पूर्वपक्षेऽपि मुख्यार्थः सेतुशब्दो हि नेष्यते॥

'सेतु' शब्द का मुख्य अर्थ जो लोक में प्रसिद्ध है—'मिट्टी या लकड़ी का बाँध', वह तो

द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्मकं जगदोतत्वेन निर्दिष्टं तस्यायतनं परं ब्रह्म भवितुमर्हति। कुतः ? स्वशब्दात्, आत्मशब्दादित्यर्थः। आत्मशब्दो हीह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति। आत्मशब्दश्च परमात्मपरिग्रहे सम्यगवकल्पते, नार्थान्तरपरिग्रहे। क्वचिच्च स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते—'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६।८।४) इति। स्वशब्देनैव चेह पुरस्तादुपरिष्टाच्च ब्रह्म संकीर्त्यते—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' इति। 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण (मुण्ड० २।२।११) इति च।

भामती

वा वायुर्वा जीवो वा सूत्रात्मा वाऽभ्युपेयते। किन्तु पारवत्तामात्रपरो लाक्षणिकः सेतुशब्दोऽभ्युपेयः। सोऽस्माकं पारवत्तावर्जं विधारणत्वमात्रेण योगमात्राद्रूढिं परित्यज्य प्रवर्त्स्यति। जीवानाममृतत्वपदप्राप्तिसाधनत्वं वात्मज्ञानस्य पारवत एव लक्षयिष्यति। अमृतशब्दश्च भावप्रधानः, यथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इत्यत्र द्वित्वैकत्वे द्व्येकशब्दार्थौ, अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यात्। तदिदमुक्तं भाष्यकृता ❀ अमृतत्वसाधनत्वाद् इति ❀। तथा चामृतस्येति च सेतुरिति च ब्रह्मणि द्युभ्वाद्यायतन उपपत्स्येते। अत्र च स्वशब्दादिति तन्त्रोच्चरितमात्मशब्दादिति च सदायतना इति सच्छब्दादिति च ब्रह्मशब्दादिति च सूचयति। सर्वे ह्येतेऽस्य स्वशब्दाः।

भामती—व्याख्या

पूर्वपक्ष में भी नहीं अपनाया जा सकता, क्योंकि वैसा पदार्थ प्रधान, अव्याकृत, वायु, जीव और हिरण्यगर्भ में से कोई भी नहीं। हाँ, पारवत्ता (परिच्छिन्नता) मात्र में 'सेतु' शब्द की लक्षणा अवश्य की जा सकती है, वैसा तो हमारे (सिद्धान्ती के) पक्ष में भी सम्भव है अर्थात् पारवत्ता (परिच्छिन्नता) को छोड़ कर विधारणत्वमात्र की विवक्षा की जा सकती, अतः 'षिञ् बन्धने' धातु से निष्पन्न 'सेतु' शब्द अपने लोक-प्रसिद्ध रूढ अर्थ का परित्याग करके धारणरूप (बन्धनात्मक) योगार्थ को लेकर प्रवृत्त हो जायगा, अतः 'अमृतस्य सेतुः' का अर्थ अमृतत्वस्य धारकं ब्रह्म'—ऐसा अर्थ सम्पन्न हो जायगा। अथवा 'अमृतत्वस्य (जीवानां मोक्षस्य) साधनं ब्रह्मज्ञानम्—ऐसे अर्थ में लक्षणा की जा सकती है। 'अमृत' शब्द अमृतत्वरूप भावार्थपरक वैसे ही माना जा सकता है, जैसे "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" (पा० सू० १।४।२२) यहाँ 'द्वि' और 'एक' शब्द से द्वित्व और एकत्व विवक्षित होता है, अत एव द्वित्व और एकत्व पदार्थों के दो होने के कारण 'द्व्येकयोः' यहाँ द्विवचन सम्पन्न हो जाता है, अन्यथा दो और एक को मिलाने पर बहुत संख्या हो जाती है, अतः 'द्व्येकेषु'—इस प्रकार का प्रयोग होना चाहिए। इस वस्तु-स्थिति को ध्यान में रख कर भाष्यकार ने कहा है—"यमृतत्वसाधनत्वात्"। इस प्रकार 'अमृतस्य' और सेतु'—ये दोनों निर्देश ब्रह्म को द्युभ्वादि का आयतन मान लेने पर उपपन्न हो जाते हैं। यहाँ 'स्वशब्दात्'—यह तन्त्रोच्चरित 'स्वशब्द' का एक बार उच्चारण किया गया है [तन्त्र और प्रसङ्ग का लक्षण श्री भाष्यकार ने किया है—

साधारणं भवेत् तन्त्रं परार्थे त्वप्रयोजकः।
एवमेव प्रसङ्गः स्याद् विद्यमाने स्वके विधौ॥ (शा० भा० पृ० २०९६)

अनेक प्रधान कर्मों का उपकार जिस अङ्ग कर्म के एक बार के अनुष्ठान से ही सम्पन्न हो जाता है, उस अङ्ग कर्म को तन्त्रानुष्ठित और अनेक अर्थों का बोध कराने के लिए सकृत् उच्चरित शब्द को तन्त्रोच्चरित कहा जाता है। अन्यार्थ-प्रयुक्त कर्म का प्रसङ्गतः अन्यार्थ-साधन प्रसङ्ग कहलाता है, जैसे आमिक्षा की निष्पत्ति के लिए तपे दूध में दधि डालना

तत्र त्वायतनायतनवद्भावश्रवणात्। सर्वं ब्रह्मेति च सामानाधिकरण्यात्। यथानेकात्मको वृक्षः शाखा स्कन्धो मूलं चेत्येवं नानारसो विचित्र आत्मेत्याशङ्का सम्भवति, तां निवर्तयितुं सावधारणमाह 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति। एतदुक्तं भवति—न कार्यप्रपञ्चविशिष्टो विचित्र आत्मा विज्ञेयः। किं तर्हि? अविद्याकृतं कार्यप्रपंचं विद्यया प्रविलापयन्तस्तमेवैकमायतनभूतमात्मानं जानथैकरसमिति। यथा यस्मिन्नास्ते देवदत्तस्तदानयेत्युक्त आसनमेवानयति न देवदत्तम्, तद्वदायतनभूतस्यैवैकरसस्यात्मनो विज्ञेयत्वमुपदिश्यते। विकारानृताभिसन्धस्य चापवादः श्रूयते—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति (का० २।४।११) इति। सर्वं ब्रह्मेति तु सामानाधिकरण्यं प्रपञ्चविलापनार्थं, नानेकरसताप्रतिपादनार्थम्। 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृह० ४।५।१३) इत्येकरसताश्रवणात्। तस्माद् द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म। यत्तूक्तं—सेतुश्रुतेः सेतोश्च पारवत्त्वोपपत्तेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भवि-

भामती

स्यादेतत्—आयतनायतनवद्भावः सर्वं ब्रह्मेति च सामानाधिकरण्यं हिरण्यगर्भेऽप्युपपद्यते। तथा च स एवात्रास्त्वमृतत्वस्य सेतुरित्याशङ्क्य श्रुतिवाक्येन सावधारणेनोत्तरमाह ❀ तत्रायतनायतनवद्भावश्रवणाद् इति ❀। विकाररूपेऽनृतेऽनिर्वाच्येऽभिसन्धोऽभिसन्धानं यस्य स तथोक्तः। भेदप्रपञ्चं सत्यमभिमन्यमान इति यावत्। तस्यापवादो दोषः श्रूयते—"मृत्योः" इति। "सर्वं ब्रह्मेति तु" इति। यत्सर्वमविद्यारोपितं तत्सर्वं परामार्थतो ब्रह्म, न तु यद् ब्रह्म तत्सर्वमित्यर्थः।

भामती–व्याख्या

प्रसङ्गतः वाजिन द्रव्य का भी निष्पादक माना जाता है]। जिन अनेक शब्दों का बोध कराने के लिए 'स्वशब्द' तन्त्रोच्चरित है, वे हैं—आत्मशब्द, 'सत् शब्द' और 'ब्रह्म शब्द'। "तमेवैकं जानथ आत्मानम्" (मुण्ड० २।२।५), "सन्मूला सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः" (छां० ६।८४), "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" (मुण्ड० २।२।११) इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त आत्मादि शब्द साक्षात् ब्रह्म के जगदायतनत्वेन उपस्थापक हैं। आत्मादि सभी शब्द ब्रह्म के स्वशब्द (स्वकीय शब्द) हैं।

यह जो शङ्का होती है कि "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्" (मुण्ड० २।२।५) इत्यादि वाक्यों में जगत् और आत्मा का आयतन-आयतनीभाव (आधाराधेयभाव) एवं "ब्रह्मैवेदं विश्वम्" (मुण्ड० २।२।११) इस प्रकार सामानाधिकरण्य श्रुत है, वह हिरण्यगर्भ में भी उपपन्न हो जाता है, अतः वह यहाँ अमृतत्व का सेतु क्यों नहीं माना जा सकता? उस शङ्का को दूर करने के लिए भाष्यकार ने श्रुतिगत अवधारण को प्रस्तुत किया है—'तां निवर्तयितुं सावधारणमाह—तमेवैकं जानथ आत्मानम्"। एवकाररूप अवधारण के द्वारा अन्य-योग (कार्य-प्रपञ्च का वैशिष्ट्य) हटा कर शुद्ध ब्रह्म को ज्ञेय माना गया है, वह सकल भेद-रहित एक मात्र ब्रह्मतत्त्व ही है। "विकारानृताभिसन्धस्य चापवादः श्रूयते"—इस भाष्य का अर्थ यह है कि विकाररूप अनृत प्रपञ्च में जिस (अज्ञानी का अभिसन्ध (अभिमान) है अर्थात् मिथ्या भेद-प्रपञ्च में जो सत्यत्व का अभिमान करता है, उसके लिए अपवाद (दोष) का अभिधान किया गया है—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"। जो शाखा, स्कन्ध, मूलाद्यात्मक नानारूप वृक्ष के समान जगत् के आयतन को नानारस मानता है, वह जन्म-मरण के प्रवाह में ही पड़ा रहता है। "सर्वं ब्रह्मेति तु सामानाधिकरण्यं प्रपञ्च प्रविलापनार्थम्"। "यश्चौरः, स स्थाणुः"—इस प्रकार बाधित-सामानाधिकरण्य के समान ही

तव्यमिति । अत्रोच्यते—विधारणत्वमात्रमत्र सेतुश्रुत्या विवक्ष्यते, न पारवत्त्वादि । नहि मृद्दारुमयो लोके सेतुर्दृष्ट इत्यत्रापि मृद्दारुमय एव सेतुरभ्युपगम्यते । सेतुशब्दार्थोऽपि विधारणत्वमात्रमेव न पारवत्त्वादि, षिञो बन्धनकर्मणः सेतुशब्दव्युत्पत्तेः ।

अपर आह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति यदेतत्संकीर्तितमात्मज्ञानं, यच्चैतत् 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति वाग्विमोचनं, तदत्रामृतत्वसाधनत्वात् 'अमृतस्यैष सेतुः' इति सेतुश्रुत्या संकीर्त्यते, न तु द्युभ्वाद्यायतनम् । तत्र यदुक्तं सेतुश्रुतेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भाव्यमित्येतदयुक्तम् ॥ १ ॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

इतश्च परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम् । यस्मान्मुक्तोपसृप्यताऽस्य व्यपदिश्यमाना

भामती

॥अपर आह इति॥ । नात्र द्युभ्वाद्यायतनस्य सेतुतोच्यते येन पारवत्ता स्यात् , किन्तु जानथेति यज्ज्ञानं कीर्तितं, यश्च वाचो विमुञ्चथेति वाग्विमोकः, तस्यामृतत्वसाधनत्वेन सेतुतोच्यते । तच्चोभयमपि पारवदेव । न च प्राधान्यादेष इति सर्वनाम्ना द्युभ्वाद्यायतनमात्मैव परामृश्यते, न तु तज्ज्ञानवाग्विमोचने इति साम्प्रतम् , वाग्विमोचनात्मज्ञानभावनयोरेव विधेयत्वेन प्राधान्यात् । आत्मनस्तु द्रव्यस्याव्यापारतयाऽविधेयत्वात् । विधेयस्य व्यापारस्यैव व्यापारवतोऽमृतत्वसाधनत्वात् । न चेदमैकान्तिकं यत्प्रधानमेव सर्वनाम्ना परामृश्यते । क्वचिदयोग्यतया प्रधानमुत्सृज्य योग्यतया गुणोऽपि परामृश्यते ॥ १ ॥

भामती–व्याख्या

'यत्सर्वमिदमारोपितम्, तत्सर्वं परमार्थतो ब्रह्म'—ऐसी ही प्रतीति विवक्षित है, 'यद् ब्रह्म तत्सर्वम्'—ऐसी नहीं, क्योंकि बाध सामानाधिकरण्यस्थल पर बाध्यमान पदार्थ का बाध मन में रख कर सामानाधिकरण्य-व्यवहार होता है, अतः 'यत्सर्वं कल्पितम्'—इस प्रकार बाधित प्रपञ्च का ही निर्देश यत्पद के द्वारा होता है, ब्रह्म का नहीं, अन्यथा ब्रह्म का बाध एवं "कार्यप्रपञ्चं प्रविलापयन्तः"—इस भाष्य का विरोध प्रसक्त होगा ।

अन्य विचारकों का कहना है कि उक्त श्रुति में द्युभ्वादि के आयतन में सेतुरूपता विवक्षित नहीं कि ब्रह्म में पारवत्ता (परिच्छिन्नता) प्रसक्त हो, किन्तु 'जानथ' पद के द्वारा कीर्तित ज्ञान और "अन्या वाचो विमुञ्चथ"—इस वाक्य से निर्दिष्ट अपर विद्या के त्याग में सेतुता (मोक्ष-हेतुता) विवक्षित है, क्योंकि "ज्ञात्वा देवं मुच्यते" (श्वेता. १।८) और "त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" (कै. ३) इत्यादि श्रुतियों में ज्ञान और त्याग को ही मोक्ष का साधन माना गया है । ज्ञान और त्याग—दोनों ही पारवान् होने से सेतु पदार्थ हो सकते हैं। यदि कहा जाय कि "अमृतस्यैष सेतुः"—यहाँ पर 'एषः'—इस सर्वनाम पद के द्वारा प्रधानभूत आत्मा का परामर्श करके उसमें ही सेतुता विहित है, उसके ज्ञान और अन्यार्थ के त्याग में नहीं । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकृत में आत्मज्ञान और अन्यवाग्विमोचन ही विधेय होने के कारण प्रधान हैं । क्रिया का ही विधान होता है, आत्मा द्रव्य है, व्यापार (क्रिया) नहीं, अतः विधेय नहीं हो सकता । विधेयरूप प्रधान कर्म (ज्ञान) ही अपने सहायक व्यापारों (विवेकादि अङ्ग कर्मों) से युक्त होकर अमृतत्व का साधन होता है । दूसरी बात यह भी है कि सर्वनाम पदों के द्वारा प्रधानभूत अर्थ का ही परामर्श होता है—ऐसा कोई अकाट्य नियम नहीं, क्योंकि कहीं-कहीं अयोग्य होने के कारण प्रधानार्थ को छोड़ कर गौणीभूत योग्य पदार्थ का परामर्श होता है, जैसे कि "तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेव्यामिक्षा"—इत्यादि स्थलों पर शब्दतः अप्रधानभूत पयः पदार्थ का परामर्श किया जाता है, फलतः प्रकृत में 'एष' पद के द्वारा ब्रह्म के बोध का परामर्श किया जा सकता है ॥ १ ॥

दृश्यते। मुक्तैरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यम्। देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तत्पूजनादौ रागस्तत्परिभवादौ द्वेषस्तदुच्छेददर्शनाद्भयं मोहश्चेत्येवमयमनन्तभेदोऽनर्थव्रातः संततः सर्वेषां नः प्रत्यक्षः। तद्विपर्ययेणाविद्यारागद्वेषादिदोषमुक्तैरुपसृप्यं गम्यमेतदिति द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य व्यपदेशो भवति। कथम्? 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।२।८) इत्युक्त्वा ब्रवीति—'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्ड० ३।२।८) इति। ब्रह्मणश्च मुक्तोपसृप्यत्वं प्रसिद्धं शास्त्रे—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' (बृह० ४।४।७) इत्येवमादौ। प्रधानादीनां तु न क्वचिन्मुक्तोपसृप्यत्वमस्ति प्रसिद्धम्। अपि च 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' इति वाग्विमोकपूर्वकं विज्ञेयत्वमिह द्युभ्वाद्यायतनस्योच्यते। तच्च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणो दृष्टम्—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृह० ४।४।२१) इति। तस्मादपि द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म ॥ २ ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः

भामती

द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्याविद्यादिदोषमुक्तैरुपसृप्यं व्यपदिश्यते 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादिना। तेन तद् द्युभ्वाद्यायतनविषयमेव। ब्रह्मणश्च मुक्तोपसृप्यत्वं 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते' इत्यादौ श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धम्। तस्मान्मुक्तोपसृप्यत्वाद् द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मेति निश्चीयते। हृदयग्रन्थिश्चाविद्यारागद्वेषभयमोहाः। मोहश्च विषादः शोकः, परं हिरण्यगर्भाद्यवरं यस्य तद् ब्रह्म तथोक्तम्, तस्मिन् ब्रह्मणि यद् दृष्टं दर्शनं तस्मिन् तदर्थमिति यावत्; यथा 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इति चर्मार्थमिति गम्यते। नामरूपादित्यप्यविद्याभिप्रायम्। 'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' इति कामा इत्यविद्यामुपलक्षयति ॥ २ ॥

नानुमानमित्युपलक्षणं, नाव्याकृतमित्यपि द्रष्टव्यं, हेतोरुभयत्रापि साम्यात् ॥ ३ ॥

भामती-व्याख्या

प्रक्रान्त द्यु और भू आदि प्रपञ्च के आयतन में अविद्यादि दोषों से मुक्त पुरुषों के द्वारा उपसृप्यता (प्राप्यता) का प्रतिपादन किया गया है—"विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मुण्ड. ३।२।८)। मुक्त पुरुषों के द्वारा ब्रह्म ही प्राप्य है, ऐसा अन्य श्रुतियों में प्रसिद्ध है—"मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (बृह. उ. ४।४।७)। फलतः मुक्तोपसृप्य होने के कारण द्युलोकादि का आयतन ब्रह्म ही है—ऐसा निश्चित हो जाता है। उक्त श्रुति में 'ग्रन्थि' पद के द्वारा अविद्या, राग, द्वेष, भय और मोह का ग्रहण किया गया है। मोह नाम है—विषाद का, जिसे शोक भी कहते हैं। "तस्मिन् दृष्टे परावरे"—यहाँ 'परावर' पद का अर्थ है—'परं हिरण्यगर्भादि अवरं (निकृष्टं) यस्मात्, तत्' किन्तु भाष्यकार ने कहा है—"परं च कारणात्मनाऽवरं च कार्यात्मना, तस्मिन् परावरे" (मुण्ड. पृ. ३१)। 'तस्मिन् दृष्टे'—यहाँ पर निमित्तार्थक सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त है। जैसे 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति'—इस वाक्य का अर्थ होता है—'चर्मार्थं द्वीपिनं हन्ति', वैसे ही 'तस्मिन् दृष्टे' का अर्थ है—'तदर्थम्'। "नामरूपाद् विमुक्तः"—यहाँ पर अविद्या का बोध कराने के लिए 'नामरूप' का प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः"—यहाँ 'काम' पद भी अविद्या का उपलक्षक है॥ २॥

"नानुमानम्"—यहाँ प्रधानार्थक 'अनुमान' पद 'अव्याकृत' का भी उपलक्षक है, अतः

प्रतिपादकोऽस्तीत्याह—नानुमानिकं सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम्। कस्मात्? अतच्छब्दात्। तस्याचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः शब्दस्तच्छब्दः, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः। न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनाचेतनं प्रधानं कारणत्वेनायतनत्वेन वाऽवगम्येत। तद्विपरीतस्य चेतनस्य प्रतिपादकशब्दोऽत्रास्ति—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९) इत्यादिः। अत एव न वायुरपीह द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रीयते ॥ ३ ॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

यद्यपि प्राणभृतो विज्ञानात्मन आत्मत्वं चेतनत्वं च संभवति तथाप्युपाधिपरिच्छिन्नज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाद्यसंभवे सत्यस्मादेवातच्छब्दात्प्राणभृदपि न द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः। न चोपाधिपरिच्छिन्नस्याविभोः प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वमपि सम्यक्संभवति। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ॥ ४ ॥

कुतश्च न प्राणभृद् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

भेदव्यपदेशश्चेह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन। तत्र प्राणभृत्तावन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता, परिशेषादात्मशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनमिति गम्यते, न प्राणभृत् ॥ ५ ॥

भामती

चेनातच्छब्दत्वं हेतुरनुकृष्यते। स्वयञ्च भाष्यकृद्धेतुमाह * न चोपाधिपरिच्छिन्नस्य इति *। *न सम्यक् सम्भवति* नाञ्जसमित्यर्थः। भोग्यत्वेन हि आयतनत्वमतिक्लिष्टम्। स्यादेतत्—यद्यतच्छब्दत्वादित्यत्रापि हेतुरनुकृष्टव्यः, हन्त कस्मात् पृथग्योगकरणं, यावता न प्राणभृदनुमाने इत्येक एव योगः कस्मान्न कृत इत्यत आह * पृथग् इति *। भेदव्यपदेशादित्यादिना हि प्राणभृदेव निषिध्यते, न प्रधानं, तच्चैकयोगकरणे दुर्विज्ञानं स्यादिति ॥ ४–५ ॥

भामती–व्याख्या

'नाव्यक्तम्'—ऐसा भी निरास किया जा सकता है, क्योंकि प्रधान और अव्यक्त—इन दोनों के निराकरण में समान हेतुओं का उपन्यास किया जाता है ॥ ३ ॥

"प्राणभृत् च"–इस सूत्र में प्रयुक्त चकार के द्वारा पूर्व सूत्र में अवस्थित 'अतच्छब्दात्'– इस हेतु की अनुवृत्ति की जाती है, जैसा कि स्वयं भाष्यकार कहते हैं—अस्मादेवातच्छब्दात् प्राणभृदपि न द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः" अर्थात् "यस्मिन् द्यौः पृथिवी"—यहाँ पर जैसे प्रधान का वाचक कोई शब्द न होने के कारण प्रधान को द्युलोकादि का आयतन नहीं माना जा सकता, वैसे ही प्राणभृत् (जीव) का भी वाचक शब्द न होने के कारण जीव को भी द्युभ्वादि का आयतन नहीं माना जा सकता। "प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वमपि न सम्यक् सम्भवति"—यहाँ प्रयुक्त सम्यक् पद के द्वारा सहजभाव से आयतनत्व के उपपादन का जीव में निषेध किया गया है, अतः भोग्य प्रपञ्च का भोक्ता होने के कारण जो जीव को द्युभ्वादि का आयतन कहा गया था, वह क्लिष्ट कल्पनामात्र है। यदि प्रधान और जीव—दोनों का निषेध विवक्षित है, तब दोनों सूत्रों को मिला कर "नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च"—ऐसा एक ही सूत्र बनाना चाहिए, प्राणभृच्च—ऐसा पृथक् सूत्र क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि "भेदव्यपदेशात्"—इस उत्तर सूत्र में निर्दिष्ट हेतु के द्वारा केवल प्राणभृत् (जीव) का निषेध किया गया है, प्रधानादि का नहीं, अतः योग-विभाग किया गया कि उत्तर सूत्र के साथ प्रधानादि का भी अन्वय प्रसक्त न हो ॥ ४–५ ॥

कुतश्च न प्राणभृद् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

प्रकरणं चेदं परमात्मनः, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणात्। परमात्मनि हि सर्वात्मके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यान्न केवले प्राणभृति ॥ ६ ॥

कुतश्च न प्राणभृद् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः' (मु० ३।१।१) इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनम्, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते। यदि चेश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितस्ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनमवकल्पते। अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकमसंबद्धं स्यात्। ननु तवापि क्षेत्रज्ञस्येश्वरात्पृथग्वचनमाकस्मिकमेव प्रसज्येत। न, तस्याविवक्षितत्वात्। क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसंबद्धो लोकत एव प्रसिद्धो नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते। ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याकस्मिकं वचनं युक्तम्। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि'

भामती

न खलु हिरण्यगर्भादिषु ज्ञातेषु सर्वं ज्ञातं भवति किन्तु ब्रह्मण्येवेति ।। ६ ॥

यदि जीवो हिरण्यगर्भो वा द्युभ्वाद्यायतनं भवेत्, ततस्तत्प्रकरणेऽनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति परमात्माभिधानमाकस्मिकं प्रसज्येत। न च हिरण्यगर्भ उदासीनः तस्यापि भोक्तृत्वात्। न च जीवात्मैव द्युभ्वाद्यायतनं, तथा सति स एवात्र कथ्यते तत्कथनाय च ब्रह्मापि कथ्यते, अन्यथा सिद्धान्तेऽपि जीवात्मकथनमाकस्मिकं स्यादिति वाच्यम्। यतोऽनधिगतार्थावबोधनस्वरसेनाम्नायेन प्राणभृन्मात्रप्रसिद्धजीवात्मा

भामती-व्याख्या

आयतन तत्त्व के प्रकरण में ही कहा गया है—कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (मुण्ड० १।१।३)। इससे यह नितान्त स्पष्ट है कि जिस एक तत्त्व के ज्ञान से सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, वही द्युलोकादि का आयतन है। प्रधान, अव्यक्त, जीव या हिरण्यगर्भादि के ज्ञान से समस्त जगत् ज्ञात नहीं होता, अपितु ब्रह्म के ज्ञान से ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है, अतः ब्रह्म ही जगत् का आयतन सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

यदि जीव या हिरण्यगर्भ को द्युलोकादि का आयतन माना जाता है, तब उसके प्रकरण में "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"—इस प्रकार परब्रह्म का अभिधान आकस्मिक और अप्रासङ्गिक हो जायगा। हिरण्यगर्भ को उदासीन (अभोक्ता) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भी भोक्ता ही है।

शङ्का—यदि जीवात्मा को ही द्युलोकादि का आयतन माना जाता है, तब उसी का ज्ञान कराने के लिए ब्रह्म की चर्चा माननी होगी, अन्यथा जीव का उल्लेख अप्रासङ्गिक हो जायगा।

समाधान—शास्त्रों का प्रामाण्य अज्ञातार्थ के बोधन में ही निहित होता है, जीव तो लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध है, अतः उसके बोधन से शास्त्रों में प्रामाण्य ही नहीं आता, तब उसका ज्ञान कराने के लिए ही ब्रह्म चर्चित है—ऐसा कहना सम्भव नहीं, भाष्यकार ने यही कहा है—"तस्याविवक्षितत्वात्"।

(ब्र० १।२।११।३) इत्यत्राप्येतद्दर्शितं 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचीश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति। यदापि पैङ्ग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेनास्यामृचि सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते, तदापि न विरोधः कश्चित्। कथम्? प्राणभृद्धीह घटादिच्छिद्रवत्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानित्वेन प्रतिशरीरं गृह्यमाणो द्युभ्वाद्यायतनं न भवतीति निषिध्यते। यस्तु सर्वशरीरेषूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते, परमात्मैव स भवति। यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरुपाधिभिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाश एव भवन्ति, तद्वत् प्राणभृतः परस्मादन्यत्वानुपपत्तेः प्रतिषेधो नोपपद्यते। तस्मात्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानिन एव द्युभ्वाद्यायतनत्वप्रतिषेधः। तस्मात्परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। तदेतद् 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' (ब्र० १।२।२१।६) इत्यनेनैव सिद्धम्। तस्यैव हि भूतयोनिवाक्यस्य मध्य इदं पठितम्। 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्' इति। प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम् ॥ ७॥

(२ भूमाधिकरणम्। सू० ८-९)

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८॥

इदं समामनन्ति—'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास

भामती

विगमायात्यन्तानवगतमलौकिकं ब्रह्मावबोध्यत इति सुभाषितम्। *यदापि पैङ्ग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेन इति*। तत्र ह्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति जीव उपाधिरहितेन रूपेण ब्रह्मस्वभाव उदासीनोऽभोक्ता दर्शितः। तदर्थमेवाचेतनस्य बुद्धिसत्त्वस्यापारमार्थिकं भोक्तृत्वमुक्तम्। तथा चैवम्भूतं जीवं कथयतानेन मन्त्रवर्णेन द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव कथितं भवति, उपाध्यवच्छिन्नश्च जीवः प्रतिषिद्धो भवतीति न पैङ्गिब्राह्मणविरोध इत्यर्थः। *प्रपञ्चार्थम् इति*। तन्मध्ये न पठितमिति कृत्वाचिन्तयेदमधिकरणं प्रवृत्तमित्यर्थः ॥ ७॥

भामती-व्याख्या

भाष्यकार ने जो कहा है कि "यदापि पैङ्ग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेनास्यामृचि सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते, तदापि न विरोधः"। पैङ्गी उपनिषत् में यह कहा गया है कि "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति—इस ऋचा-खण्ड के द्वारा जीव को उपाधि-रहित ब्रह्मावस्था में अभोक्ता कहा गया, उसका उपपादन करने के लिए ही अचेतन बुद्धि-तत्त्व में अपारमार्थिक भोक्तृत्व कहा गया है।" इस प्रकार जीव के स्वरूप का कथन करनेवाले उक्त मन्त्र के द्वारा ब्रह्म में ही द्युभ्वादि की आयतनता प्रतिपादित होती है और उपाधि से अवच्छिन्न जीव में आयतनत्व का निषेध हो जाता है, अतः पैङ्गी-ब्राह्मण के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं आता।

यद्यपि द्युभ्वादि की आयतनता ब्रह्म में "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" (ब्र. सू. १।२।२१) इस सूत्र के द्वारा ही सिद्ध हो जाती है, क्योंकि उसी भूत-वर्ग की ब्रह्मगत कारणता-प्रतिपादन के प्रकरण में ही "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्" (मुण्ड. २।२।५) यह वाक्य भी पठित है। तथापि उसी अधिकरण का विस्तार करने के लिए पुनः वाक्यान्तर के माध्यम से वही विचार प्रस्तुत किया गया है। अथवा कृत्वाचिन्ता-न्याय से [अर्थात् "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्"—यह वाक्य ब्रह्मगत जगत्कारणता-प्रतिपादन के प्रकरण में पठित नहीं—ऐसा समझ कर] उसी सिद्धान्त का पुनः प्रतिपादन किया गया है ॥ ७॥

विषय—अग्निहोत्रादि कर्म-विद्या में निपुण होने पर भी आत्मज्ञान से वञ्चित होने के

इति। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्य-न्यद्विजानाति तदल्पम्' (छा० ७।२३,२४) इत्यादि ।

तत्र संशयः—किं प्राणो भूमा स्यात्, आहोस्वित्परमात्मेति । कुतः संशयः ?

भामती

नारदः खलु देवर्षिः कर्मविदनात्मवित्तया शोच्यमात्मानं मन्यमानो भगवन्तमात्मज्ञमाजानसिद्धं महायोगिनं सनत्कुमारमुपससाद । उपसद्य चोवाच—भगवन्ननात्मज्ञताजनितशोकसागरपारमुत्तारयतु मां भगवानिति । तदनुपश्रुत्य सनत्कुमारेण नामब्रह्मेत्युपास्स्वेत्युक्ते नारदेन पृष्टं किं नाम्नोऽस्ति भूय इति । तत्र सनत्कुमारस्य प्रतिवचनं वाग्वाव नाम्नो भूयसी । तदेवं नारदसनत्कुमारयोर्भूयसि प्रश्नोत्तरे वागिन्द्रियमुपक्रम्य मनःसङ्कल्पचित्तध्यानविज्ञानबलान्नतोयवायुसहिततेजोनभःस्मराशाप्राणेषु पर्य्यवसिते । कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकः सङ्कल्पः, तस्य कारणं पूर्वापरविषयनिमित्तप्रयोजननिरूपणं चित्तम् । स्मरः, स्मरणम् : प्राणस्य च समस्तक्रियाकारकफलभेदेन पित्राद्यात्मत्वेन च रथारनाभिदृष्टान्तेन सर्वप्रतिष्ठत्वेन च प्राणभूयस्त्वदर्शिनोऽतिवादित्वेन च नामादिप्रपञ्चादाशान्ताद् भूयस्त्वमुक्त्वाऽपृष्ट एव नारदेन सनत्कुमार एकग्रन्थेन 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदतीति सत्यादीन् कृतिपर्य्यन्तानुक्त्वोपदिदेश, 'सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' इति । तदुपश्रुत्य नारदेन सुखं भगवो विजिज्ञास इत्युक्ते सनत्कुमारो यो वै भूमा तत् सुखमित्युपक्रम्य भूमानं व्युत्पादयाम्बभूव, यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिना । तदीदृशे विषये विचार आरभ्यते । तत्र संशयः—किं प्राणो भूमा स्यादाहो परमात्मेति । भावभवित्रोस्तादात्म्यविवक्षया सामानाधिकरण्यं

भामती–व्याख्या

कारण शोकाकुल देवर्षि नारद ने महायोगी ब्रह्मवेत्ता भगवान् सनत्कुमार की शरण में जाकर प्रार्थना की—भगवन् ! मैं अनात्मज्ञ होने के कारण शोक-सागर में डूब रहा हूँ, कृपया आप इस दीन जन का उद्धार करें । नारद की प्रार्थना सुनकर भगवान् सनत्कुमार ने पहले कहा—"नाम ब्रह्मेत्युपास्स्व" (छां. ७।१।४) । अर्थात् 'जैसे प्रतिमा की विष्णु-बुद्धया उपासना की जाती है, वैसे ही नाम (शब्द) की ब्रह्म-भावना से उपासना करनी चाहिए । ऐसा सुन कर श्री नारद ने पूछा—"अस्ति भगवो नाम्नो भूयः" (छां. ७।१।५) अर्थात् क्या नाम से भी बढ़ कर कोई अधिक उपयुक्त माध्यम है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् सनत्कुमार ने दिया—"वाग्वाव नाम्नो भूयसी" (छां. ७।२।१) । इस प्रकार नारद और सनत्कुमार की लम्बी प्रश्नोत्तर-परम्परा में 'वाक्' इन्द्रिय से लेकर मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, (मानस सामर्थ्य), अन्न, जल, वायु-सहित तेज, आकाश, स्मर, आशा (अभिलाषा) और प्राण की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता कही गई । उनमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक संकल्प पदार्थ है, उसका कारण है—चित्त (अतीतादि विषयों के द्वारा साध्य प्रयोजन का ज्ञान) । 'स्मर' पद का अर्थ स्मरण है । अन्त में प्राण तत्त्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जैसे पहिए की नाभि में अर (नाभि और नेमि को जोड़नेवाली लम्बी लकड़ी) प्रविष्ट होती है, वैसे ही इस प्राण तत्त्व में सब कुछ अवस्थित है । प्राण ही सकल कारक, करण और क्रियारूप है, प्राण ही पिता, माता, स्वसा और आचार्य है । प्राण में सर्वतः भूयस्त्व-दर्शी को अतिवादी (उत्कृष्टवादी) कह कर उसी प्रकरण में सनत्कुमार ने नारद के बिना पूछे ही "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति"—इस प्रकार सत्यादि से लेकर कृति (प्रयत्न) पर्यन्त पदार्थों की चर्चा की और अन्त में "सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्"—ऐसा उपदेश दिया । उसको सुन कर नारद ने प्रार्थना की कि तब भगवन् सुख तत्त्व का उपदेश करें । श्री सनत्कुमार ने कहा—"यो वै भूमा तत्सुखम्" (छां. ७।२३।१) और भूमा पदार्थ का व्युत्पादन किया—"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति, स भूमा" (छां. ७।२४।१) । इस अधिकरण का यही विचारणीय विषय है ।

भूमेति तावद् बहुत्वमभिधीयते, 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (पा० ६।४।१५८) इति भूमशब्दस्य भावप्रत्ययान्ततास्मरणात्। किमात्मकं पुनस्तद्बहुत्वमिति विशेषाकाङ्क्षायां 'प्राणो वा आशाया भूयान्' (छा० ७।१५।१) इति संनिधानात्प्राणो भूमेति प्रतिभाति। तथा 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७।१।३) इति प्रकरणोत्थानात्परमात्मा भूमेत्यपि प्रतिभाति। तत्र कस्योपादानं न्याय्यं, कस्य वा हानमिति भवति संशयः।

किं तावत्प्राप्तम् ? प्राणो भूमेति। कस्मात् ? भूयःप्रश्नप्रतिवचनपरम्पराऽदर्शनात्। यथा हि 'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' इति, 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति। तथा 'अस्ति भगवो वाचो भूयः' इति, 'मनो वाव वाचो भूयः' इति च नामादिभ्यो ह्या प्राणाद् भूयःप्रश्नप्रतिवचनप्रवाहः प्रवृत्तः। नैवं प्राणात्परं भूयःप्रश्नप्रतिवचनं दृश्यते—अस्ति भगवः प्राणाद् भूय इति, अदो वाव प्राणाद् भूय इति। प्राणमेव तु नामादिभ्य

भामती

संशयस्य बीजमुक्तं भाष्यकृता। तत्र

एतस्मिन् ग्रन्थसन्दर्भे यदुक्ताद् भूयसोऽन्यतः।
उच्यमानं तु तद् भूय उच्यते प्रश्नपूर्वकम्॥

न च प्राणात् किं भूय इति पृष्टं, नापि भूमा वाऽस्माद् भूयानिति प्रत्युक्तम्। तस्मात्प्राणभूयस्त्वाभिधानानन्तरमपृष्टेन भूमोच्यमानः प्राणस्यैव भवितुमर्हति। अपि च भूमेति भावो न भवितारमन्तरेण शक्यो निरूपयितुमिति भवितारमपेक्षमाणः प्राणस्यानन्तर्येण बुद्धिसंनिधानात्तमेव भवितारं प्राप्य निर्वृणोति। यस्योभयं हविरार्तिमार्छेदित्यत्रार्तिरिवार्तं हविः। यथाहुः—'मुख्यायेहे हविषा विशेषणम्'

भामती-व्याख्या

संशय—उक्त श्रुति में क्या प्राण ही भूमा पदार्थ है ? अथवा ब्रह्म भूमा है ?

पूर्वपक्ष—

एतस्मिन् ग्रन्थसन्दर्भे यदुक्ताद् भूयसोऽन्यतः।
उच्यमानं तु तद् भूय उच्यते प्रश्नपूर्वकम्॥

[इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार है—'उक्तात् अन्यतो भूयसः भूय उच्यमानं यत्, तद् भूयः प्रश्नपूर्वकमुच्यते' अर्थात् नामादि की अपेक्षा जिन प्राण से अन्य वागादि पदार्थों को उत्तरोत्तर भूयः कहा गया है, उन वागादि की अपेक्षा जिस प्राण तत्त्व को भूयः कहा गया, वही भूयः पदार्थ यहाँ प्रश्नपूर्वक प्रतिपादित है, फलतः प्राण ही यहाँ भूयः पदार्थ है, ब्रह्म नहीं]। प्राण से भिन्न किसी भूयः पदार्थ का न तो प्रश्न उठाया गया है और न उसका उत्तर दिया गया है कि 'इदं प्राणाद् भूयः'। अतः प्राणगत भूयस्त्वाभिधान के अनन्तर बिना प्रश्न के कहा गया भूयः पदार्थ प्राण ही हो सकता है। दूसरी बात यह है कि 'बहु' पद से भावार्थक 'इमनिच्' प्रत्यय "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" (पा. सू. ५।१।१२२) इस सूत्र के द्वारा होता है और 'बहोर्लोपो भू च बहोः" (पा. सू. ६।४।१५८) इस सूत्र के द्वारा 'इमनिच्' प्रत्यय के इकार का लोप एवं 'बहु' के स्थान में 'भू' का आदेश होकर 'भूमा' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—'बहोर्भाव भूमा' अर्थात् 'बहु' शब्द के भाव (बहुत्व) को 'भूमा' शब्द कहता है। भाव एक ऐसा धर्म है, जो भवितारूप धर्मी के बिना नहीं रह सकता, अतः वह अपने भविता की नियमतः अपेक्षा करता है। पूर्व वाक्य में प्राण तत्त्व चर्चित हैं, अतः बुद्धि में सन्निहित होने के कारण प्राण को ही अपने भविता के रूप में वैसे ही वरण (स्वीकार) कर लेता है, जैसे "यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत्यैन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्" (तै. ब्रा. ३।७।१।७) यहाँ पर

आशान्तेभ्यो भूयांसं 'प्राणो वा आशाया भूयान्' इत्यादिना सप्रपञ्चमुक्त्वा प्राणदर्शिनश्चातिवादित्वम्—'अतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत' इत्यभ्यनुज्ञाय

भामती

इति। न चात्मनः प्रकरणादात्मैव बुद्धिस्थ इति तस्यैव भूमा स्यादिति युक्तम्, सनत्कुमारस्य नामब्रह्मेत्युपास्वेति प्रतीकोपदेशरूपेणोत्तरेण नारदप्रश्नस्यापि तद्विषयत्वेन परमात्मोपदेशप्रकरणस्यानुत्थानात्। अतद्विषयत्वे चोत्तरस्य प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्येन विप्रतिपत्तेरप्रामाण्यप्रसङ्गात्। तस्मादसति प्रकरणे प्राणस्यानन्तर्यात्तस्यैव भूमेति युक्तम्। तदेतत् संशयबीजं दर्शयता भाष्यकारेण सूचितं पूर्वपक्षसाधनमिति न पुनरुक्तम्। न च भूयोभूयः प्रश्नात्परमात्मैव नारदेन जिज्ञासित इति युक्तम्, प्राणोपदेशानन्तरं तस्योपरमात्तदेवं प्राण एव भूमेति स्थिते यद्यत्तद्विरोध्यापाततः प्रतिभाति तत्तदनुगुणतया नेयं, नीतं च भाष्यकृता। स्यादेतत्—एष तु वातिवदतीति तुशब्देन प्राणदर्शिनोऽतिवादिनो व्यवच्छिद्य सत्येनातिवादिनं वदन् कथं प्राणस्य भूमानमभिदधीतेत्यत आह *प्राणमेव तु इति*। *प्राणदर्शिनश्चातिवादित्वम् इति*।

भामती–व्याख्या

आर्ति (नाश) रूप भावार्थ भवितारूप (नश्यमान) हवि की अपेक्षा करता है, जैसा कि शबरस्वामी ने कहा है—"मृष्यामहे हविषा विशेषणम्" (शा. भा. पृ. १४३६)। [दर्शपूर्णमास के प्रकरण में श्रुत 'यस्योभयमार्तिमार्च्छेदैन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्"—इस वाक्य पर विचार करते हुए सन्देह किया गया है कि क्या सायं प्रातःकालीन उभय हवि की आर्ति (नाश) इस नैमित्तिक कर्म का निमित्त है ? अथवा अन्यतर हवि की आर्ति ? पूर्वपक्षी ने कहा—"यथाश्रुतिरिति चेत्" (जै. सू. ६।४।२२) अर्थात् यथाश्रुत उभय हवि की आर्ति ही निमित्त है। सिद्धान्ती ने कहा— "न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम्" (जै. सू. ६।४।२३)। अर्थात् केवल आर्ति को निमित्त न मानकर आर्ति-विशिष्ट हविरूप द्रव्य को निमित्त मानना होगा, क्योंकि निर्विशेष या निष्प्रतियोगिक आर्ति (नाश) तो अत्यन्त अप्रसिद्ध है, अतः हवि के द्वारा आर्ति को विशेषित करना होगा, फलतः हविरार्ति (हवि के नाश) को उक्त नैमित्तिक कर्म का निमित्त मानना होगा, वह चाहे उभय हवि की आर्ति हो या एक हवि की, दोनों अवस्थाओं में नैमित्तिक कर्म करना होगा]।

यदि कहा जाय कि 'परमात्मा' के प्रकरण में 'भूमा' पठित है, अतः परमात्मा में ही भूमरूपता पर्यवसित होती है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि भगवान् सनत्कुमार ने "नाम ब्रह्मेत्युपास्स्व"—ऐसा प्रतीकोपासना का उपदेश जिस प्रश्न के उत्तर में दिया, वह नारदीय प्रश्न भी तद्विषयक ही सिद्ध होता है, अतः परमात्मोपदेश का प्रकरण उठ ही नहीं सकता। यदि उत्तर वाक्य के विषय को प्रश्न-वाक्य का विषय नहीं माना जाता, तब प्रश्न और उत्तर का वैयधिकरण्य प्रसक्त होता है, भिन्नविषयक प्रश्नोत्तर-सन्दर्भ परस्पर व्याहतार्थक होने के कारण प्रमाणात्मक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार प्राण-प्रकरण के सुलभ न होने के कारण सन्निधिरूप स्थान प्रमाण के आधार पर प्राण तत्त्व में ही भूमरूपता प्राप्त होती है। यद्यपि यह परमात्मा के प्रकरण का अनुत्थान पूर्व पक्ष का साधक है, अतः भाष्यकार को पूर्वपक्ष-प्रदर्शन के अवसर पर इसका उद्भावन करना चाहिए था। तथापि जब भाष्यकारने "प्रकरणोत्थानात् परमात्मा भूमेत्यपि प्रतिभाति"—इस प्रकार प्रकरणोत्थान को संशय का कारण बताते हुए प्रकरणानुत्थान में पूर्वपक्ष की साधनता सूचित कर दी है, तब पूर्वपक्ष-प्रदर्शन के अवसर पर पुनः उसे कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। भूयस्त्वविषयक प्रश्न के द्वारा नारद ने परमात्मा की जिज्ञासा प्रकट की—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्राणोपदेश के अनन्तर नारद आगे प्रश्न करने से उपरत ही हो जाता है। इस प्रकार प्राण ही भूमा है—ऐसा स्थिर हो जाने पर जो

'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति प्राणव्रतमतिवादित्वमनुकृष्यापरित्यज्यैव प्राणं सत्यादिपरम्परया भूमानमवतारयन्प्राणमेव भूमानं मन्यत इति गम्यते। कथं पुनः प्राणे भूमनि व्याख्यायमाने 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतद् भूम्नो लक्षणपरं वचनं व्याख्यायेतेति ? उच्यते—सुषुप्त्यवस्थायां प्राणग्रस्तेषु करणेषु दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिदर्शनात्संभवति प्राणस्यापि 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतल्लक्षणम्। तथा च श्रुतिः 'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिना सर्वकरणव्यापारप्रत्यस्तमयरूपां सुषुप्त्यवस्थामुक्त्वा 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति' (प्र० ४।२।३) इति तस्यामेवावस्थायां पञ्चवृत्तेः प्राणस्य जागरणं ब्रुवती प्राणप्रधानां सुषुप्त्यवस्थां दर्शयति। यच्चैतद् भूम्नः सुखत्वं श्रुतम्—'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७।२३) इति, तदप्यविरुद्धम्, 'अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ यदेतस्मिन् शरीरे सुखं भवति' (प्र० ४।६) इति सुषुप्त्यवस्थायामेव सुखश्रवणात्। यच्च 'यो वै भूमा तदमृतम्' (छा० ७।२४।१) इति,

---

भामती

नामाद्याशान्तमतीत्य वदनशीलत्वमित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—नायंतुशब्दः प्राणातिवादित्वाद् व्यवच्छिनत्ति, अपि तु तदतिवादित्वमपरित्यज्य प्रत्युत तदनुकृष्य तस्यैव प्राणस्य सत्यस्य श्रवणमननश्रद्धानिष्ठाकृतिभिर्विज्ञानाय निश्चयाय सत्येनातिवदतीति प्राणव्रतमेवातिवादित्वमुच्यते। तुशब्दो नामाद्यतिवादित्वाद्व्यवच्छिनत्ति। न नामाद्याशान्तवाद्यतिवादो, अपि तु सत्यप्राणवाद्यतिवादीत्यर्थः। अत्र चागमाचार्योपदेशाभ्यां सत्यस्य श्रवणम्, अथागमाविरोधिन्यायनिवेशनं मननं, मत्वा च गुरुशिष्यसब्रह्मचारिभिरनुसूयुभिः सह संवाद्य तत्त्वं श्रद्धत्ते। श्रद्धानन्तरं च विषयान्तरदर्शी विरक्तस्ततो व्यावृत्तः तत्त्वज्ञानाभ्यासं करोति, सेयमस्य कृतिः प्रयत्नः। अथ तत्त्वज्ञानाभ्यासनिष्ठा भवति, यदनन्तरमेव तत्त्वविज्ञानमनुभवः प्रादुर्भवति।

भामती–व्याख्या

वाक्य उसके विरुद्ध प्रतीत होते हैं, वैसे सभी वाक्यों का अन्यथा नयन कर लेना चाहिए, भाष्यकार ने उसका दिग्दर्शन कर दिया है।

यह जो शङ्का होती है कि ''एष तु वा अतिवदति, यः सत्येनातिवदति'' (छां. ७।१६।१) इस वाक्य में प्रयुक्त 'तु' शब्द के द्वारा प्राण-दर्शी की अतिवादिता का विच्छेद करके सत्यार्थदर्शी की अतिवादिता का कथन किया है, अतः प्राण में सत्यस्वरूप भूमरूपता क्योंकर सिद्ध होगी ? उस शङ्का का निरास करने के लिए भाष्यकार कहते हैं–''प्राणमेव तु नामादिभ्य आशान्तेभ्यो भूयांसमुक्त्वा प्राणदर्शिनश्चातिवादित्वमिति वदति''। अतिवादित्व का अर्थ है—'नाम से लेकर आशा पर्यन्त पदार्थों का अतिक्रमण करके वदनशीलत्व। सारांश यह है कि ''एष तु''—यहाँ पर 'तु' शब्द प्राण-दर्शी की अतिवादिता का विच्छेद नहीं करता, अपि तु प्राण-दर्शी की अतिवादिता का परित्याग न कर उसी की अनुवृत्ति करते हुए सत्यात्मक प्राण का साक्षात्कार करने के लिए श्रवण, मनन, श्रद्धा, निष्ठा और कृति का व्रत-पालनरूप अतिवादित्व प्रतिपादित है। 'तु' शब्द नामादि की अतिवादिता से इस अतिवादिता-व्रत का विच्छेद करता है कि नामादिवादी अतिवादी नहीं, अपि तु सत्यसंज्ञक प्राण-वादी अतिवादी है। यहाँ आगम और आचार्य के उपदेश से उसी सत्य का श्रवण, आगमाविरोधी न्यायों के द्वारा मनन, गुरु-शिष्य-सहाध्यायी आदि ईर्ष्या-रहित व्यक्तियों के द्वारा विचार करके अधिकारी पुरुष उस तत्त्व पर श्रद्धा का लाभ करता है। श्रद्धा के अनन्तर विषयान्तर में दोष-दर्शन कर उससे विरक्त होकर उसी तत्त्व पर ध्यानाभ्यास करता है—यही है इसी (अधिकारी व्यक्ति) की कृति (प्रयत्न)। उस तत्त्व के ध्यानाभ्यास से उसमें वह निष्ठा (एकतानता) उत्पन्न होती है, जिसके अनन्तर ही तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। इस तथ्य को बौद्ध-जैसे अवैदिक दार्शनिकों ने भी स्वीकार

तदपि प्राणस्याविरुद्धं, 'प्राणो वा अमृतम्' (कौ० ३।२) इति श्रुतेः। कथं पुनः प्राणं भूमानं मन्यमानस्य 'तरति शोकमात्मविद्' इत्यात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपद्यते ? प्राण एवेहात्मा विवक्षित इति ब्रूमः। तथा हि—'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः' (छा० ७।१५।१) इति प्राणमेव सर्वात्मानं करोति। यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्' इति च सर्वात्मत्वारनाभिनिदर्शनाभ्यां च संभवति वैपुल्यात्मिका भूमरूपता प्राणस्य। तस्मात्प्राणो भूमेत्येवं प्राप्तम्।

तत इदमुच्यते—परमात्मैवेह भूमा भवितुमर्हति, न प्राणः। कस्मात् ? संप्रसादादध्युपदेशात्। संप्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमुच्यते, सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति निर्वचनात्। बृहदारण्यके च स्वप्नजागरितस्थानाभ्यां सह पाठात्, तस्यां च संप्रसादावस्थायां प्राणो जागर्तीति प्राणोऽत्र संप्रसादोऽभिप्रेयते; प्राणादूर्ध्वं भूम्न उपदिश्यमानत्वादित्यर्थः। प्राण एव चेद् भूमा स्यात्स एव तस्मादूर्ध्वमुपदिश्येतेत्यश्लिष्टमेवैतत्

भामती

तदेतद्वाह्या अप्याहुः—'भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्' इति। भावनाप्रकर्षपर्यन्तो निष्ठा तस्माज्जायते तत्त्वानुभव इति। तस्य तस्मात्प्राण एव भूमेति प्राप्तेऽभिधीयते—एष तु वाऽतिवदति यः सत्येनातिवदतीत्युक्त्वा भूमोच्यते, तत्र सत्यशब्दः परमार्थे निरूढवृत्तिः श्रुत्या परमार्थमाह। परमार्थश्च परमात्मैव। अतो ह्यन्यत्सर्वं विकारजातमनृतं कयाचिदपेक्षया कथञ्चित्सत्यमुच्यते। तथा चैष तु वाऽतिवदति यः सत्येनातिवदतीति ब्रह्मणोऽतिवादित्वं श्रुत्याऽन्यनिरपेक्षया लिङ्गादिभ्यो बलीयस्याऽवगमितं कथमिव सन्निधानमात्रात् श्रुत्याद्यपेक्षादतिदुर्बलात्कथञ्चित्प्राणविषयत्वेन शक्यं व्याख्यातुम् ? एवं च प्राणादूर्ध्वं ब्रह्मणि भूमावगम्यमानो न प्राणविषयो भवितुमर्हति, किन्तु सत्यस्य परमात्मन एव। एवं चानात्मविद आत्मानं विविदिषोर्नारदस्य प्रश्ने परमात्मानमेवास्मै व्याख्यास्यामीत्यभिसन्धिमान् सनत्कुमारः सोपाना-

भामती–व्याख्या

करते हुए कहा है—"भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्" (न्या० विन्दु० १।११) अर्थात् भूतार्थ (सत्य अर्थ) का ध्यान करते-करते उसमें जो पर्यन्तता (पूर्णकल्पता या निष्ठा) का लाभ होता है, उससे योगी को तत्त्व-साक्षात्कार प्रादुर्भूत होता है। फलतः प्राण तत्त्व ही यहाँ भूमा निश्चित होता है।

सिद्धान्त—"एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति"—ऐसा कह कर तुरन्त भूमा का उल्लेख किया गया है। श्रुतिगत 'सत्य' शब्द परमार्थ में रूढ़ होने के कारण श्रवणमात्र से जिस परमार्थ तत्त्व का बोध कराता है, वह परमार्थ तत्त्व एकमात्र है—परमात्मा। उस परमात्मा से भिन्न समस्त प्राणादि प्रपञ्च वस्तुतः असत्य है। हाँ, व्यावहारिक दृष्टि से उस प्रपञ्च को आपेक्षिकरूप से सत्य कह दिया जाता है। अतः "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनाभिवदति"—यह श्रुति परमात्मदर्शी (ब्रह्मदर्शी) को ही अतिवादी कहती है। श्रुति प्रमाण लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्यारूप पाँचों प्रमाणों से निरपेक्ष एवं प्रबल माना जाता है। सन्निधानरूप स्थान प्रमाण अपने पूर्ववर्ती प्रकरण, वाक्य और लिङ्ग के द्वारा श्रुति का कल्पक होने के कारण श्रुति-सापेक्ष माना जाता है। अत एव वह अत्यन्त दुर्बल होने के कारण 'सत्य' शब्द को प्राणपरक क्योंकर सिद्ध कर सकेगा ? इस प्रकार प्राण-प्रकरण का विच्छेद एवं ब्रह्म-प्रकरण का आरम्भ हो जाता है, उसी ब्रह्म-प्रकरण में निर्दिष्ट 'भूमा' शब्द कभी भी प्राणविषयक नहीं हो सकता किन्तु वह ब्रह्मपरक ही स्थिर होता है। इस प्रकार अनात्मज्ञ एवं आत्मतत्त्व के जिज्ञासु नारद को जिज्ञासित परमात्म तत्त्व का ही

स्यात् । नहि नामेव नाम्नो भूय इति नाम्न ऊर्ध्वमुपदिष्टम् । किं तर्हि ? नाम्नोऽन्यदर्थान्तरमुपदिष्टं वागाख्यम् 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति । तथा वागादिभ्योऽप्या प्राणादर्थान्तरमेव तत्र तत्रोर्ध्वमुपदिष्टम् , तद्वत्प्राणादूर्ध्वमुपदिश्यमानो भूमा प्राणादर्थान्तरभूतो भवितुमर्हति । नन्विह नास्ति प्रश्नः - 'अस्ति भगवः प्राणाद् भूयः' इति । नापि प्रतिवचनमस्ति प्राणाद्वाव भूयोऽस्तीति, कथं प्राणादधि भूमोपदिश्यत इत्युच्यते ? प्राणविषयमेव चातिवादित्वमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं पश्यामः—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति । तस्मान्नास्ति प्राणादध्युपदेश इति । अत्रोच्यते—न तावत्प्राणविषयस्यैवातिवादित्वस्यैतदनुकर्षणमिति शक्यं वक्तुं, विशेषवादाद् 'यः सत्येनातिवदति' इति । ननु विशेषवादोऽप्ययं प्राणविषय एव भविष्यति । कथम् ? यथैषोऽग्निहोत्री यः सत्यं वदतीत्युक्ते न सत्यवदनेनाग्निहोत्रित्वं, केन तर्हि ? अग्निहोत्रेणैव, तत्सत्यवदनं त्वग्निहोत्रिणो विशेष उच्यते । तथा 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इत्युक्ते, न सत्यवदनेनातिवादित्वम् । केन तर्हि ? प्रकृतेन प्राणविज्ञानेनैव । सत्यवदनं तु प्राणविदो विशेषो विवक्ष्यत इति । नेति ब्रूमः, श्रुत्यर्थपरित्यागप्रसङ्गात् । श्रुत्या ह्यत्र सत्यवदनेनातिवादित्वं प्रतीयते 'यः सत्येनातिवदति सोऽतिवदति' इति । नात्र प्राणविज्ञानस्य संकीर्तनमस्ति । प्रकरणात्तु प्राणविज्ञानं संबध्येत । तत्र प्रकरणानुरोधेन श्रुतिः परित्यक्ता स्यात् । प्रकृतव्यावृत्त्यर्थश्च तुशब्दो न संगच्छेत 'एष तु वा अतिवदति' इति । 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ७।१६) इति च प्रयत्नान्तरकरणमर्थान्तरविवक्षां सूचयति । तस्माद्यथैकवेदप्रशंसायां प्रकृतायामेष तु महाब्राह्मणो यश्चतुरो वेदानधीत इत्येकवेदेभ्योऽर्थान्तरभूतश्चतुर्वेदः प्रशस्यते, तादृगेतद् द्रष्टव्यम् । न च प्रश्नप्रतिवचनरूपयैवार्थान्तरविवक्षया भवितव्यमिति नियमोऽस्ति, प्रकृतसंबन्धासंभवकारितत्वादर्थान्तरविवक्षायाः । तत्र प्राणान्तमनुशासनं श्रुत्वा तूष्णींभूतं नारदं स्वयमेव सनत्कुमारो व्युत्पादयति—यत्प्राणविज्ञा-

भामती

रोहणन्यायेन स्थूलादारभ्य तत्तद्भूमव्युत्पादनक्रमेण भूमानमतिदुर्ज्ञानतया परमसूक्ष्मं व्युत्पादयामास । न च प्रश्नपूर्वताप्रवाहपतितेनोत्तरेण सर्वेण प्रश्नपूर्वेणैव भवितव्यमिति नियमोऽस्तीत्यतिसुगमेन भाष्येण व्युत्पादितम् । विज्ञानादिसाधनपरम्परा मननश्रद्धादिः, प्राणान्ते चानुशासने तावन्मात्रेणैव प्रकरणसमाप्तेर्न प्राणस्यात्माधीनतोच्येत । तदभिधाने हि सापेक्षत्वेन न प्रकरणं समाप्येत । तस्मान्नेदं प्राणस्य प्रकरणमपि तु यदायत्तः प्राणस्तस्य, स चात्मेत्यात्मन एव प्रकरणम् ।

भामती–व्याख्या

उपदेश करूँगा—ऐसा मन में सोचकर भगवान् सनत्कुमार ने नारद को एक सीढ़ी से दूसरी और दूसरी से तीसरी पर—इस प्रकार ऊपर ऊपर चढ़ाने के लिए नामादि से लेकर प्राण-पर्यन्त स्थूल पदार्थों में भूमरूपता का उपदेश कर अत्यन्त दुर्ज्ञेय ब्रह्म तत्त्व तक पहुँचाया। सभी प्रतिपादन प्रश्नपूर्वक ही होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, जिज्ञासु का कल्याण करने के लिए बिना उसके पूछे भी शास्त्रों और आचार्यों के द्वारा उपदेश किया जाता है—इसका विस्तार से प्रदर्शन भाष्यकार ने अपने नितान्त सुगम भाष्य के द्वारा किया है।

यदि विज्ञानादि साधन-परम्परा से मनन-श्रद्धादि का कथन और प्राण-पर्यन्त उपदेश मात्र से प्रकरण की समाप्ति हो जाती, तब प्राण में "आत्मतः प्राणः" (छां० ७।२६।१) इस प्रकार आत्माधीनता प्रदर्शित न होती, किन्तु आत्माधीनता के प्रतिपादन से प्रकरण की समाप्ति नहीं मानी जा सकती, अतः यह प्राण का प्रकरण न होकर जिस आत्मतत्त्व की आश्रितता प्राण में प्रतिपादित है, उसी आत्मतत्त्व का प्रकरण निश्चित होता है।

नेन विकारानृतविषयेणातिवादित्वमनतिवादित्वमेव तत् 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति। तत्र सत्यमिति परं ब्रह्मोच्यते, परमार्थरूपत्वात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २।१) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा व्युत्पादिताय नारदाय 'सोऽयं भगवः सत्येनातिवदानि' इत्येवं प्रवृत्ताय विज्ञानादिसाधनपरम्परया भूमानमुपदिशति। तत्र यत्प्राणादधि सत्यं वक्तव्यं प्रतिज्ञातम्, तदेवेह भूमेत्युच्यत इति गम्यते। तस्मादस्ति प्राणादधि भूम्न उपदेश इत्यतः प्राणादन्यः परमात्मा भूमा भवितुमर्हति। एवं चेहात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपन्नं भविष्यति। प्राण एवेहात्मा विवक्षित इत्येतदपि नोपपद्यते। न हि प्राणस्य मुख्यया वृत्त्याऽऽत्मत्वमस्ति। न चान्यत्र परमात्मज्ञानाच्छोकविनिवृत्तिरस्ति, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे० ६।१५) इति श्रुत्यन्तरात्। 'तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७।१।३) इति चोपक्रम्योपसंहरति—'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' (छा० ७।२६।२) इति। तम इति शोकादिकारणमविद्योच्यते। प्राणान्ते चानुशासने न प्राणस्यान्यायत्ततोच्येत। 'आत्मतः प्राणः' (छा० ७।२६।१) इति च ब्राह्मणम्। प्रकरणान्ते परमात्मविवक्षा भविष्यति, भूमा तु प्राण एवेति चेत्—न, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इत्यादिना भूम्न एवा प्रकरणसमाप्तेरनुकर्षणात्। वैपुल्यात्मिका च भूमरूपता सर्वकारणत्वात्परमात्मनः सुतरामुपपद्यते॥ ८॥

धर्मोपपत्तेश्च॥ ९॥

अपि च ये भूम्नि श्रूयन्ते धर्मास्ते परमात्मन्युपपद्यन्ते। 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति दर्शनादिव्यवहाराभावो भूमन्यवगमयति। परमात्मनि चायं दर्शनादिव्यवहाराभावोऽवगतः, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन

भामती

शङ्कते *प्रकरणान्ते इति*। प्राणस्य प्रकरणसमाप्तावित्यर्थः। निराकरोति *न, स भगवः इति*। सन्दंशन्यायेन हि भूम्न एतत्प्रकरणं, स चेद् भूमा प्राणः प्राणस्यैतत्प्रकरणं भवेत्। तच्चायुक्तमित्युक्तम्॥ ८॥

न केवलं श्रुतेर्भूमात्मता परमात्मनः, लिङ्गादपीत्याह सूत्रकारः *धर्मोपपत्तेश्च*।

भामती-व्याख्या

शङ्कावादी शङ्का करता है—"प्रकरणान्ते परमात्मविवक्षा भविष्यति, भूमा तु प्राण एव"। अर्थात् प्राण का प्रकरण समाप्त हो जाने पर ही परमात्मा की विवक्षा हो सकेगी, किन्तु प्राण का प्रकरण समाप्त नहीं हुआ, अतः भूमा प्राण ही है। उक्त शङ्का का निराकरण किया जाता है—"न, स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" (छा. ७।२४।१) इत्यादिना भूम्न एवाप्रकरणसमाप्तेरनुकर्षणात्"। आशय यह है कि भूमा-निर्देश से पूर्व "यः सत्येनातिवदति"—इस प्रकार सत्यरूप परमात्मा का उल्लेख है और भूमा-निर्देश के पश्चात् "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः"—इस प्रकार परमात्मा का उल्लेख है, अतः परमात्मा के उल्लेख से संदंशित होने के कारण भूमा की परमात्मरूपता निश्चित होती है। वह भूमा यदि प्राण होता, तब यह प्रकरण प्राण का ही माना जाता, किन्तु प्राण का भूमा होना युक्त नहीं—यह कहा जा चुका है॥ ८॥

केवल श्रुति प्रमाण के आधार पर ही परमात्मा में भूमरूपता निश्चित नहीं होती, अपितु लिङ्ग प्रमाण से भी वह निश्चित होती है—ऐसा सूत्रकार ने कहा है—"धर्मोपपत्तेश्च"।

कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । योऽप्यसौ सुषुप्तावस्थायां दर्शनादिव्यवहाराभाव उक्तः सोऽप्यात्मन एवासङ्गत्वविवक्षयोक्तो न प्राणस्वभावविवक्षया, परमात्मप्रकरणात् । यदपि तस्यामवस्थायां सुखमुक्तं, तदप्यात्मन एव सुखरूपत्वविवक्षयोक्तम् । यत आह—'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४।३।३२) इति । इहापि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्' इति सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति । 'यो वै भूमा तदमृतम्' इत्यमृतत्वमपीह श्रूयमाणं परमकारणं गमयति । विकाराणाममृतत्वस्यापेक्षिकत्वात् , 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति च श्रुत्यन्तरात् । तथा च सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूयमाणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते, नान्यत्र । तस्माद् भूमा परमात्मेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

(३ अक्षराधिकरणम् । सू० १०–१२)

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।७,८) इत्यादि श्रूयते ।

तत्र संशयः–किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यते, किंवा परमेश्वर इति । 'तत्राक्षरसमाम्नाय' इत्यादावक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वात् , प्रसिद्धयतिक्रमस्य चायुक्तत्वात् , 'ॐकार एवेदं सर्वम्' (छा० २।२३।३) इत्यादौ च श्रुत्यन्तरे वर्णस्याप्युपास्यत्वेन सर्वात्मकत्वावधारणाद् , वर्ण एवाक्षरशब्द इति ।

भामती

यदपि पूर्वपक्षिणा कथञ्चिन्नीतं तदनुभाष्य भाष्यकारो दूषयति *योऽप्यसौ सुषुप्तावस्थायाम् इति* । सुषुप्तावस्थायामिन्द्रियाद्यसङ्गात्मैव । न प्राणः, *परमात्मप्रकरणात्* । "अन्यदार्तं" विनश्वरमित्यर्थः । अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ ९ ॥

अक्षरशब्दः समुदायप्रसिद्धया वर्णेषु रूढः, परमात्मनि चावयवप्रसिद्धया यौगिकः । अवयवप्रसिद्धेश्च समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसीति वर्णा एवाक्षरम् । न च वर्णेष्वाकाशस्योतत्वप्रोतत्वे नोपपद्येते,

भामती–व्याख्या

पूर्वपक्षी ने जो कथित धर्मों की उपपत्ति अन्यथा की, उसका अनुवाद करके भाष्यकार खण्डन करते हैं—"योऽप्यसौ सुषुप्तावस्थायां दर्शनादिव्यवहाराभाव उक्तः सोऽप्यात्मन एवासङ्गत्वविवक्षयोक्तः" । अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियादि से असङ्ग रहनेवाला परिमात्मा ही है, प्राण नहीं, क्योंकि परमात्मा का ही यह प्रकरण है । "अन्यदार्तम्"—यहाँ 'आर्तम्' का अर्थ है – विनश्वरम् । शेष भाष्य स्पष्टार्थक है ॥ ९ ॥

विषय—"स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि" (बृह. उ. ३।८।७) यहाँ 'अक्षर' शब्द विचारणीय है ।

संशय—उक्त श्रुति में 'अक्षर' शब्द स्वर-व्यञ्जनात्मक वर्ण का वाचक है ? अथवा ब्रह्म का ?

पूर्वपक्ष—'अक्षर' शब्द समुदाय शक्ति (रूढि) को लेकर अकारादि वर्णों में प्रयुक्त होता है और अवयव-शक्ति को लेकर 'न क्षरः अक्षरः'—इस प्रकार परमात्मा में यौगिकरूप

भामती

सर्वस्यैव रूपधेयस्य नामधेयात्मकत्वात् । सर्वं हि रूपधेयं नामधेयसम्भिन्नमनुभूयते, गौरयं वृक्षोऽयमिति । न चोपायत्वात्तत्सम्भेदसम्भवः । नहि धूमोपाया वह्निधीर्धूमसम्भिन्नं वह्निमवगाहते, धूमोऽयं वह्निरिति, किन्तु वैयधिकरण्येन धूमाद् वह्निरिति । भवति तु नामधेयसम्भिन्नो रूपधेयप्रत्ययो डित्थोऽयमिति । अपि च शब्दानुपायेऽपि रूपधेयप्रत्यये लिङ्गेन्द्रियजन्मनि नामसम्भेदो दृष्टः । तस्मान्नामसम्भिन्नाः पृथिव्यादयोऽम्बरान्ता नाम्ना ग्रथिताश्च विद्धाश्च, नामानि चोङ्कारात्मकानि तद्व्याप्तत्वात् । तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि एवमोङ्कारेण सर्वा वागिति श्रुतेः । अत ॐकारात्मकाः पृथिव्यादयोऽम्बरान्ता इति वर्णा एवाक्षरं न परमात्मेति प्राप्तम् ।

भामती-व्याख्या

से प्रयुक्त होता है। 'योगाद् रूढिर्बलीयसी'—इस न्याय के अनुसार यहाँ 'अक्षर' शब्द अकारादि वर्णों का ही बोधक है। श्रुति ने जो यह कहा है कि "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । स होवाचैतद्वै तदक्षरम्" (बृह उ. ३।८।७) अर्थात् उस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है। वह श्रुति का कहना भी वर्णात्मक अक्षर में घट जाता है, क्योंकि नामधेय (शब्द) और रूपधेय ["भागरूपनामभ्यो धेयः" (वार्तिक ५।४।३५) के द्वारा विहित स्वार्थार्थक धेय प्रत्ययान्त 'रूपधेय' शब्द से विवक्षित] पदार्थ मात्र में तादात्म्य प्रतिपादित है—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छां. ६।१।६)। अत एव सभी रूपधेय (अभिधेय प्रपञ्च) नामधेय (शब्द) से सम्भिन्न (तादात्म्यापन्न) ही प्रतीत होता है—गौरयम् [यह चतुष्पात् पिण्ड गौः है अर्थात् गकार, अकार और विसर्गरूप शब्दात्मक है। आचार्य भर्तृहरि ने प्रपञ्च को शब्द का विवर्त या परिणाम माना है—

> अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
> विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ (वाक्यप. १।१)
> शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः ॥ (वाक्यप. १।२०)

स्वयं ग्रन्थकार ने विवर्त का स्वरूप बताते हुए कहा है—"एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः, स्वप्नविषयप्रतिभासवत्" (वाक्यप. पृ. ५) इस प्रकार अक्षर (शब्द) में आकाशादि पदार्थों का ओत-प्रोत होना उपपन्न हो जाता है] ।

यदि कहा जाय कि शब्द विषय-विशिष्ट ज्ञान का उपाय (जनक) होने के कारण विषय और ज्ञान से सम्भिन्न प्रतीत होता है, वस्तुतः अर्थरूप शब्द नहीं होता। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि धूम अग्नि-विशिष्ट ज्ञान का उपाय होने पर भी 'धूमोऽग्निः'—इस प्रकार विषय से तादात्म्यापन्न प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत 'धूमाद् अग्निः'—इस प्रकार वैयधिकरण्य-व्यवहार ही होता है। अतः शब्द और अर्थ का अधिष्ठान और अध्यस्तभाव होने के कारण ही सम्भेद (तादात्म्य) व्यवहार मानना होगा—'डित्थोऽयम्'। दूसरी बात यह भी है कि जो रूपधेय-प्रत्यय (अर्थविशिष्ट-ज्ञान) शब्द के द्वारा उत्पन्न न होकर प्रत्यक्ष या अनुमानादि के द्वारा उत्पादित होता है, वहाँ भी शब्द और अर्थ का सामानाधिकरण्य देखा जाता है। अतः शब्द में अर्थ अध्यस्त होने के कारण शब्द के द्वारा अर्थ ग्रथित अनुविद्ध या तादात्म्यसात् किया जाता है। "तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णानि, एवमोंकारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा, ओंकार एवेदं सर्वम्" (छां. २।२३।३) इस श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि जैसे किसी शंकु में सभी पत्ते पिरोए होते हैं, उसी प्रकार ओंकार में सभी शब्द गुँथे हैं, सभी शब्दों में व्याप्त होने के कारण ओंकार सर्वशब्दात्मक है, और समस्त पृथिव्यादि प्रपञ्च ओंकारात्मक है, अतः पृथिवी से लेकर अम्बर (आकाश) पर्यन्त सकल पदार्थ वर्णात्मक अक्षर में ओत-प्रोत होने के कारण उक्त श्रुति में 'अक्षर' पद से ओंकारादि वर्ण विवक्षित हैं,

एवं प्राप्त उच्यते— पर एवात्माऽक्षरशब्दवाच्यः। कस्मात्? अम्बरान्तधृतेः— पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात्। तत्र हि पृथिव्यादेः समस्तविकारजातस्य कालत्रयविभक्तस्य 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्यनेन प्रश्नेनेदमक्षरमवतारितम्। तथा चोपसंहृतम् –'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति। न चेयमम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति। यदपि 'ॐकार एवेदं सर्वम्' इति, तदपि ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वात् स्तुत्यर्थं द्रष्टव्यम्। तस्मान्न क्षरत्यश्नुते चेति नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामक्षरं परमेव ब्रह्म ॥ १० ॥

भामती

एवं प्राहेऽभिधीयते अक्षरं परमात्मैव, न तु वर्णाः। कुतः? अम्बरान्तधृतेः। न खल्वम्बरान्तानि पृथिव्यादीनि वर्णा धारयितुमर्हन्ति, किन्तु परमात्मैव। तेषां परमात्मविकारत्वात्। न च नामधेयात्मकं रूपधेयमिति युक्तम्। स्वरूपभेदादुपायभेदादर्थक्रियाभेदाच्च। तथाहि— शब्दत्वसामान्यात्मकानि श्रोत्रग्राह्याण्यभिधेयप्रत्ययार्थक्रियाणि नामधेयान्यनुभूयन्ते। रूपधेयानि तु घटपटादीनि घटत्वपटत्वादिसामान्यात्मकानि चक्षुरादीन्द्रियग्राह्याणि मधुधारणप्रावरणाद्यर्थक्रियाणि च भेदेनानुभूयन्ते इति कुतो नामसम्भेदः? न च डित्थोऽयमिति शब्दसामानाधिकरण्यप्रत्ययः। न खलु शब्दात्मकोऽयं पिण्ड इत्यनुभवः, किन्तु यो नानादेशकालसंप्लुतः पिण्डः सोऽयं सन्निहितदेशकाल इत्यर्थः।

भामती–व्याख्या

परमात्मा नहीं—यह पर्यवसित हो जाता है।

सिद्धान्त—अवयव शक्ति के आधार पर 'अक्षर' शब्द परमात्मा का ही बोधक है, वर्ण का नहीं, क्योंकि यहाँ 'अक्षर' शब्द से वही तत्त्व विवक्षित है, जिसने अम्बर-पर्यन्त (पृथिवी से लेकर आकाश तक सभी) जगत् को अपने में धारण कर रखा है। अम्बरान्त विश्व का धारण वर्ण कभी नहीं कर सकते, किन्तु परमात्मा ही प्रपञ्च को धारण कर सकता है, क्योंकि निखिल जगत् परमात्मा का ही विकार (विवर्त) है। प्रकृति और विकार में स्वरूप, उपाय (प्रमाण) अर्थक्रिया का भेद नहीं होता, किन्तु शब्द और अर्थ में स्वरूपादि का विस्पष्ट भेद पाया जाता है—शब्द का स्वरूप वर्णात्मक, उपाय (ग्राहक प्रमाण) श्रोत्र और अर्थक्रिया (प्रयोजन या उपयोग) विषयावबोधन है किन्तु अभिधेय अर्थ का स्वरूप घट-पटाद्यात्मक, ग्राहक प्रमाण चक्षुरादि इन्द्रिय और अर्थक्रिया जलादि का धारण है। इस प्रकार अत्यन्त भिन्न-भिन्न परिलक्षित होनेवाले नाम (शब्द) और रूप (अर्थ) का तादात्म्य सम्भव नहीं हो सकता। यह जो कहा जाता है कि 'डित्थोऽयम्'—यहाँ पर शब्द और अर्थ का तादात्म्य प्रतीत होता है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि डित्थोऽयम्'—इस प्रतीति का 'डित्थात्मकोऽयं पिण्डः' ऐसा अभिप्राय नहीं, किन्तु 'डित्थ' जिस पदार्थ की संज्ञा है, ऐसा विविध देश और काल में जो स्मर्यमाण पिण्ड होता है, वही यह दिखाई दे रहा है—इसी भाव का पुरातन पद्य मिश्रजी ने तात्पर्य टीका (पृ० २३०) में उद्धृत किया है—

देवदत्तादिशब्देन हृदयस्थेन यः स्मृतः।
चक्षुषापि स एवायं सम्प्रति दृश्यते ॥

स्मर्यमाण संज्ञा शब्द का आपाततः सम्बन्ध दृश्यमान पिण्ड के साथ अवश्य अवभासित होता है, किन्तु वह उपलक्षक के रूप में तटस्थ ही होता है, विकल्प ज्ञान में समाविष्ट नहीं होता, जैसा कि मिश्रजी ने ही अन्यत्र (ता० टी० पृ० २३० में) कहा है—"शब्दस्तु सम्पातायातो न निवेशयत्यात्मानम् इन्द्रियजे विकल्पे।" [इस प्रकार आभोग पृ० २१० के पाद-टिप्पण में

भामती

संज्ञा तु गृहीतसम्बन्धैरत्यन्ताभ्यासात् पिण्डाऽनिवेशिन्येव संस्कारोद्बोधसम्पातायाता स्मर्यते । यथाहुः—

'यत्संज्ञास्मरणं तत्र न तदप्यन्यहेतुकम् ।
पिण्ड एव हि दृष्टः सन् संज्ञां स्मारयितुं क्षमः ॥
संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते ।
संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा ॥' इति ।

न च वर्णातिरिक्ते स्फोटात्मनि अलौकिकेऽक्षरपदप्रसिद्धिरस्ति लोके । न चैष प्रामाणिक इत्युपरिष्टात् प्रवेदयिष्यते । निरूपितं चास्माभिस्तत्त्वबिन्दौ । तस्माच्छ्रोत्रग्राह्याणां वर्णानामम्बरान्तधृतेरनुपपत्तेः समुदायप्रसिद्धिबाधनाद् अवयवप्रसिद्ध्या परमात्मैवाक्षरमिति सिद्धम् । ये तु प्रधानं पूर्वपक्षयित्वाऽ-

भामती–व्याख्या

जो सम्पादक ने लिखा है—"संज्ञा तु पिण्डाभिनिवेशिन्येव– इत्यत्र पिण्डानिवेशिन्येव इति युक्तमाभाति"। वह अत्यन्त युक्ति-युक्त है, क्योंकि न्यायवार्तिक की तात्पर्यटीका में वैसा ही सन्दर्भ उपलब्ध है]। पिण्ड को देखकर उसकी संज्ञा का स्मरण उन व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है, जिन्होंने संज्ञा और संज्ञी की सङ्गति का ग्रहण पहले कर रखा है। इस सङ्गति-ग्रहण से जनित संस्कार जब-जब उद्बुद्ध होते हैं, तब-तब संज्ञा का स्मरण होता रहता है, अत एव संज्ञीरूप पिण्ड को ही वृद्ध न्यायाचार्यों ने संज्ञा का स्मारक माना है—

यत् संज्ञास्मरणं तत्र न तदप्यन्यहेतुकम् ।
पिण्ड एव हि दृष्टः सन् संज्ञां स्मारयितुं क्षमः ॥
संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते ।
संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा ॥

[किसी पिण्ड को देखकर जो उसकी संज्ञा (वाचक शब्द) का स्मरण होता है, वह भी पिण्डगत शब्द-तादात्म्यापत्तिरूप हेतु से जनित नहीं होता कि उसका गमक हो जाता। सन्निहित पिण्ड ही प्रत्यक्ष होकर उस संज्ञा का स्मरण कराने में सक्षम होता है। स्मर्यमाण संज्ञा पिण्ड की प्रत्यक्षता का बाधक नहीं, संज्ञा तटस्थ (विषय में निविष्ट न) होने के कारण विषय के स्वरूप की आच्छादिका (व्यवसायिका) नहीं होती । फलतः पिण्डविषयक सविकल्पक में भी अभिलाप-संसर्ग-विषयकत्वरूप पारिभाषिक कल्पना का अभाव होने के कारण प्रस्तुत लक्षण घट जाता है, जो कि बौद्धों के लिए अनिष्ट और नैयायिकादि के लिए अभीष्ट है]।

वर्णों से अतिरिक्त स्फोटनाम के अलौकिक शब्द के लिए तो लोक में कहीं भी 'अक्षर' पद का व्यवहार नहीं होता और स्फोट कोई प्रामाणिक पदार्थ भी नहीं—यह आगे चलकर कहा जायगा और हम (वाचस्पति मिश्र) ने तत्त्वबिन्दु में स्फोट की अप्रामाणिकता पर पुष्कल प्रकाश डाला है—

मीयमानपरित्यागो बाधके नासति स्फुटे।
दृष्टात् कार्योपपत्तौ नादृष्टपरिकल्पना ॥ (त० बिन्दु० पृ० ८)

[अर्थात् जब तक कोई प्रबल बाधक उपलब्ध न हो, तब तक प्रमीयमान् (प्रमाण-सिद्ध) वर्णात्मक शब्द का परित्याग नहीं किया जा सकता। अनुभव-सिद्ध वर्णरूप दृष्ट साधन से ही जब अर्थावबोधरूप कार्य सम्पन्न हो जाता है, तब स्फोटरूप अदृष्ट (अननुभूयमान) पदार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती]। परिशेषतः श्रोत्र के द्वारा गृहीत होनेवाले वर्णात्मक अक्षर में पृथिव्यादि आकाशान्त भूत-वर्ग का धारण सम्भव नहीं, एवं 'अक्षर' पद का समुदाय-प्रसिद्ध

स्यादेतत्—कार्यस्य चेत्कारणाधीनत्वमम्बरान्तधृतिरभ्युपगम्यते, प्रधानकारणवादिनोऽपीयमुपपद्यते। कथमम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिरिति ? अत उत्तरं पठति—

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

सा चाम्बरान्तधृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म। कस्मात् ? प्रशासनात्। प्रशासनं

भामती

नेन सूत्रेण परमात्मैवाक्षरमिति सिद्धान्तयन्ति, तैरम्बरान्तधृतेरित्यनेन कथं प्रधानं निराक्रियत इति वाच्यम्। अथ नाधिकरणत्वमात्रं धृतिः अपि तु प्रशासनाधिकरणता। तथा च श्रुतिः— एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इति। तथाप्यम्बरान्तधृतेरित्यनर्थकम्, एतावद्वक्तव्यम्— अक्षरं प्रशासनादिति। एतावतैव प्रधाननिराकरणसिद्धेः। तस्माद्वर्णाक्षरतानिराक्रियैवास्यार्थः। न च स्थूलादीनां वर्णेष्वप्राप्तेरस्थूलमित्यादिनिषेधानुपपत्तेर्वर्णेषु शङ्कैव नास्तीति वाच्यम्, नह्यवश्यं प्राप्तिपूर्वका एव प्रतिषेधा भवन्ति, अप्राप्तेष्वपि नित्यानुवादानां दर्शनात्। यथा नान्तरिक्षे न दिवीत्यग्निचयननिषेधानुवादः। तस्माद् यत्किञ्चिदेतत् ॥ १० ॥

प्रशासनमाज्ञा चेतनधर्मो नाचेतने प्रधाने वाऽव्याकृते वा सम्भवति। न च मुख्यार्थसम्भवे कूलं

भामती—व्याख्या

(रूढ़) कोई अर्थ लोक में प्रसिद्ध नहीं, अतः 'न क्षरति'—इस प्रकार योगार्थरूप परब्रह्म ही विश्व का आधार सिद्ध होता है।

श्री भास्कराचार्य ने इस अधिकरण में शांकर मतानुसार किए गए पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए प्रधान (प्रकृति) तत्त्व को पूर्वपक्ष में प्रस्तुत किया है—"केचिदक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वादक्षरमोंकार इति पूर्वपक्षयन्ति वैयाकरणदर्शनं च स्फोटशब्द इत्यवतार्य गकारादि वर्णा एव शब्दा इति व्यवस्थापयन्ति। तदेतदधिकरणेनासम्बद्धम्। प्रधानस्य तु युज्यत, विकारधर्मिणां कारणप्रसक्तेः" (भास्कर० पृ० ५४)। वह भास्करीय प्रस्तुतीकरण उचित नहीं, क्योंकि 'अम्बरान्तधृतेः'—इस हेतु के द्वारा प्रधानतत्त्व का निराकरण क्योंकर होगा ? क्योंकि अम्बरान्त भूत-वर्ग की धारकता प्रधान में भी उपपन्न है।

भास्कराचार्य ने जो "सा च प्रशासनात्" (ब्र. सू. १।३।११) इस सूत्र के द्वारा प्रधान का निराकरण करते हुए कहा है—"एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः (बृह. उ. ३।८।९) इति प्रशासनमाज्ञापयितृत्वं चेतनधर्मः"। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार अम्बरान्तधृति का अर्थ यदि प्रशासनाधिकरणता मान लिया जाता है, तब भी "अम्बरान्तधृतेः"—यह सूत्रांश अनर्थक हो जाता है. तब तो "अक्षरं प्रशासनात्"—ऐसा एक सूत्र बना देना चाहिए था, इतनेमात्र से प्रधान-तत्त्व का निराकरण सम्पन्न हो जाता। अतः वर्णात्मक अक्षर का निराकरण करना ही यहाँ उचित है, प्रधान का नहीं।

भास्कराचार्य ने जो कहा है कि "अस्थूलादि च तस्मिन्नुपपत्तेः" अर्थात् वर्णात्मक अक्षर में स्थूलत्वादि प्रसक्त (प्राप्त) ही नहीं, तब 'अस्थूलमनणु" (बृह. उ. ३।८।८) इत्यादि वाक्यों के द्वारा वर्णात्मक अक्षर में स्थूलत्वादि का प्रतिषेध अप्रसक्त-प्रतिषेध होने के कारण अनुपपन्न है। वह कहना भी उचित नहीं क्योंकि निषेध सदैव प्राप्तिपूर्वक ही होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, अप्राप्त-स्थल पर भी प्राप्त नित्य निषेध का अनुवाद देखा जाता है. जैसे कि इष्टिका-चयन के सन्दर्भ में कहा गया है—"नान्तरिक्षे न दिवि" अर्थात् अग्निचयन कर्म के लिए जो श्येन पक्षी के आकार का स्थण्डिल बनाया जाता है, उसके लिए 'अन्तरिक्ष (आकाश) और द्यु में ईंट की चुनाई नहीं करनी चाहिए'—ऐसा निषेध अप्रसक्त-प्रतिषेध

हीह श्रूयते—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९) इत्यादि । प्रशासनं च पारमेश्वरं कर्म । नाचेतनस्य प्रधानस्य प्रशासनं भवति । न ह्यचेतनानां घटादिकारणानां मृदादीनां घटादिविषयं प्रशासनमस्ति ॥११॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद् ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम् । तस्यैवाम्बरान्तधृतिः कर्म नान्यस्य कस्यचित् । किमिदमन्यभावव्यावृत्तेरिति ? अन्यस्य भावोऽन्यभावः, तस्माद् व्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिरिति । एतदुक्तं भवति—यदन्यद् ब्रह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाशङ्क्यते तद्भावादिदमम्बरान्तविधारणमक्षरं व्यावर्तयति श्रुतिः—'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३।८।११) इति । तत्रादृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्यापि संभवति, द्रष्टृत्वादिव्यपदेशस्तु न संभवति, अचेतनत्वात् । तथा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यात्मभेदप्रतिषेधात् न शारीरस्याप्युपाधिमतोऽक्षरशब्दवाच्यत्वम्, 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३।८।८) इति चोपाधिमत्ताप्रतिषेधात् । न हि

भामती

पिपतिषतीतिवद्भाक्तत्वमुचितमिति भावः ॥ ११ ॥

अम्बरान्तविधरणस्याक्षरस्येश्वराद्यदन्यद्वर्णा वा प्रधानं वाऽव्याकृतं वा तेषामन्येषां भावोऽन्यभावस्तमत्यन्तं व्यावर्त्तयति श्रुतिः—तद्वा एतदक्षरं गार्गीत्यादिका । अनेनैव सूत्रेण जीवस्याप्यक्षरता निषिद्धेत्यत आह ॐ तथा इति ॐ । नान्यदित्यादिकया हि श्रुत्याऽऽत्मभेदः प्रतिषिध्यते । तथा चोपाधिभेदभिन्ना जीवा निषिद्धा भवन्त्यभेदाभिधानादित्यर्थः । इतोऽपि न शारीरस्याक्षरशब्दतेत्याह ॐ अचक्षुष्कम् इति ॐ । अक्षरस्य चक्षुराद्युपाधिं वारयन्ती श्रुतिरौपाधिकस्य जीवस्याक्षरतां निषेधतीत्यर्थः । तस्माद्वर्ण-

भामती-व्याख्या

है, क्योंकि आकाश में निराधार ईंटों का चयन कभी सम्भव ही नहीं, अतः आकाश में स्वतः सिद्ध चयनाभाव का अनुवादमात्र उक्त वाक्य के द्वारा किया जाता है । फलतः भास्करीय आलोचना निराधार है ॥ १० ॥

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" (बृह. उ. ३।८।९) इस श्रुति में प्रतिपादित प्रशासन चेतन का धर्म है, अतः प्रधान और अव्यक्तादि अचेतन पदार्थों में नहीं रह सकता । यद्यपि "कूलं पिपतिषति"—इत्यादि प्रयोगों के आधार पर इच्छादि चेतन-धर्मों का गौणरूपेण व्यवहार जड़ पदार्थों में भी हो जाता है। तथापि मुख्यार्थ के सुलभ होने पर गौणार्थ का ग्रहण नहीं किया जाता, अतः प्रक्रान्त प्रशासक परमात्मा ही सिद्ध होता है, वर्ण, प्रधान या अव्यक्त नहीं ॥ ११ ॥

आकाशान्त पदार्थों के विधारक ब्रह्मरूप अक्षर तत्त्व से भिन्न जो वर्ण (शब्द), प्रधान (प्रकृति) या अव्यक्तरूप भाव पदार्थ आशङ्कित हैं, उन भाव पदार्थों से इस सिद्धान्तित ब्रह्मरूप अक्षरतत्त्व को श्रुति भिन्न कर रही है—"तद्वा एतदक्षरं गार्गि अदृष्टं द्रष्टृ" (बृह. उ. ३।८।११) । अर्थात् यह ब्रह्मरूप अक्षर तत्त्व शब्दादि जड़ पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि यह द्रष्टा है, प्रधानादि जड़ पदार्थों को द्रष्टा नहीं कह सकते । इसी सूत्र के द्वारा जीव में भी अभिमत अक्षरत्व का निरास हो जाता है, क्योंकि अन्यभाव (अन्यत्व या भेद) की व्यावृत्ति श्रुति कर रही है—"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृह उ. ३।७।२३) अर्थात् इस अक्षर तत्त्व से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं । इस लिए भी शारीर (जीव) में अक्षरात्मकता नहीं, क्योंकि अभिमत अक्षर तत्त्व "अचक्षुष्कम्" (चक्षुरादि उपाधियों से रहित) है, किन्तु जीव चक्षुरादि

निरुपाधिकः शारीरो नाम भवति । तस्मात्परमेव ब्रह्माक्षरमिति निश्चयः ॥ १२ ॥

(४ ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरणम् । सू० १३)

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ १३ ॥

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति प्रकृत्य श्रूयते – 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० ५।२,५) इति ।

किमस्मिन्वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यते आहोस्विदपरमिति । एतेनैवायतनेन परमपरं वैकतरमन्वेतीति प्रकृतत्वात्संशयः ।

तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम् । कस्मात् ? 'स तेजसि सूर्ये संपन्नः', 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमानत्वात् । नहि परब्रह्मविद्देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम् , सर्वगतत्वात्परस्य ब्रह्मणः । नन्वपरब्रह्मपरिग्रहे परं पुरुषमिति विशेषणं नोपपद्यते । नैष दोषः, पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्तेः ।

भामती

प्रधानाव्याकृतजीवानामसम्भवात् सम्भवाच्च परमात्मनः परमात्मैवाक्षरमिति सिद्धम् ॥ १२ ॥

कार्यब्रह्म जनप्राप्तिफलत्वादर्थभेदतः ।
दर्शनध्यानयोर्ध्येयमपरं ब्रह्म गम्यते ॥

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति श्रुतेः सर्वगतपरब्रह्मवेदने तद्भावापत्तौ स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकमिति न देशविशेषप्राप्तिरुपपद्यते । तस्मादपरमेव ब्रह्मेह ध्येयत्वेन चोद्यते । न चेक्षणस्य लोके तत्त्वविष-

भामती-व्याख्या

उपाधियों से युक्त है, अतः वह अम्बरान्त जगत् का विधारक अक्षर तत्त्व कदापि नहीं हो सकता । फलतः वर्ण (अक्षर), प्रधान, अव्याकृत और जीव में अक्षररूपता सम्भव न होने के कारण परमात्मा ही अभीष्ट अक्षर तत्त्व सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

विषय— 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत'' (प्र. उ. ५।५) अर्थात् 'जो व्यक्ति इस परम पुरुष का तीन मात्रावाले 'ओम्' अक्षर के माध्यम से ध्यान करता है, वह ब्रह्मलोक में जाकर परब्रह्म का दर्शन कर लेता है'—इस श्रुति में 'परं पुरुष' विचारणीय है ।

संशय—क्या उक्त वाक्य में अपर ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) का ध्यान विहित है ? अथवा पर ब्रह्म का ?

पूर्वपक्ष—

कार्यब्रह्म जनप्राप्तिफलत्वादर्थभेदतः ।
दर्शनध्यानयोर्ध्येयमपरं ब्रह्म गम्यते ॥

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड. ३।२।९) इस श्रुति में कथित पर ब्रह्म का ही यदि उक्त श्रुति में 'परम पुरुष' पद से ग्रहण किया जाता है, तब उसके दर्शन से ब्रह्मरूपता की प्राप्ति हो जाने के कारण उक्त स्थल पर "स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्" (प्रश्न. ५।५) इस प्रकार ब्रह्मलोकरूप विशेष देश की प्राप्ति सम्भव नहीं रह जाती, अतः यहाँ अपर ब्रह्म (हिरण्यगर्भ)

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते परमेव ब्रह्मेहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते। कस्मात् ? ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्। ईक्षतिर्दर्शनम्। दर्शनव्याप्यमीक्षतिकर्म। ईक्षतिकर्मत्वेनास्याभिध्यातव्यस्य पुरुषस्य वाक्यशेषे व्यपदेशो भवति–'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति। तत्राभिध्यायतेरतथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति; मनोरथकल्पितस्याप्यभिध्यायतिकर्मत्वात्। ईक्षतेस्तु तथाभूतमेव वस्तु लोके कर्म दृष्टमित्यतः परमा-

भामती

त्वेन प्रसिद्धेः परस्यैव ब्रह्मणस्तथाभावाद् ध्यायतेश्च तेन समानविषयत्वात्परब्रह्मविषयमेव ध्यानमिति साम्प्रतम्, समानविषयत्वस्यैवाऽसिद्धेः परो हि पुरुषो ध्यानविषयः, परात्परस्तु दर्शनविषयः। न च तत्त्वविषयमेव सर्वत्र दर्शनम्, अनृतविषयस्यापि तस्य दर्शनात्। न च मननं दर्शनं, तच्च तत्त्वविषयमेवेति साम्प्रतम्, मननाद्भेदेन तत्र तत्र दर्शनस्य निर्देशात्। न च मननमपि तर्कापरनामावश्यं तत्त्वविषयम्, यथाहुः—'तर्कोऽप्रतिष्ठः' इति। तस्मादपरमेव ब्रह्मेह ध्येयम्। तस्य च परत्वं शरीरापेक्षयेति।

एवं प्राप्ते उच्यते।

ईक्षणध्यानयोरेकः कार्य्यकारणभूतयोः।
अर्थ औत्सर्गिकं तत्त्वविषयत्वं तथेक्षतेः॥

ध्यानस्य हि साक्षात्कारः फलम्। साक्षात्कारश्चौत्सर्गिकतस्तत्त्वविषयः। क्वचित्तु बाधकोपनिपाते

भामती–व्याख्या

का ही ध्यान विहित है, उसका ही फल ब्रह्मलोक है।

शङ्का—उक्त वाक्य के अन्त में कहा है–"एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते"। ईक्षण (दर्शन) लोक में परमार्थ विषयक ही प्रसिद्ध है, अतः परब्रह्म का ही ईक्षण न्याय-प्राप्त है, उसी ईक्षणीय ब्रह्म का ही वाक्य के आरम्भ में ध्यान-विधान मानना होगा।

समाधान—ईक्षण और ध्यान में यह समानविषयता सम्भव नहीं, अपितु अर्थ-भेद (विषय-भेद) है, क्योंकि पर पुरुष (हिरण्यगर्भ) ध्यान का विषय और परात्पर ब्रह्म ईक्षण (दर्शन) का विषय होता है, अतः वाक्य के उपसंहार में दर्शनविषयत्वेन परब्रह्म का प्रतिपादन होने पर भी आरम्भ में ध्यान-विषयत्वेन अपर ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) का ही ग्रहण करना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि 'सत्यार्थविषयक ही सर्वत्र दर्शन विहित होता है'—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" (श्वेता. १।३) इत्यादि वाक्यों में प्रकृति-जैसे अनृत (असत्य या बाधित) विषय का भी दर्शन अभिहित है। दर्शन के हेतुभूत मनन-ध्यानादि का भी तत्त्वविषयक होना अनिवार्य नहीं, क्योंकि मनन नाम है तर्क का और तर्क के विषय में कहा गया है—"तर्कोऽप्रतिष्ठः" (म. भा. ३।३१३।११७) अर्थात् तर्क अतत्त्वविषयक भी होता है, अत उसे एक विषय पर प्रतिष्ठित नहीं कहा जाता। यह जो कहा गया है कि "परं पुरुषमभिध्यायीत"—वहाँ हिरण्यगर्भरूप ध्येय ब्रह्म में भी परत्व का सामञ्जस्य इस प्रकार हो जाता है कि हिरण्यगर्भरूप सूत्रात्मा स्थूल शरीर (विराट्) की अपेक्षा पर है। शरीर की अपेक्षा प्राण पर है और हिरण्यगर्भ समष्टि प्राण का अभिमानी है।

सिद्धान्त—

ईक्षणध्यानयोरेकः कार्यकारणभूतयोः।
अर्थ औत्सर्गिकं तत्त्वविषयत्वं तथेक्षतेः॥

ईक्षण (साक्षात्कार) और ध्यान का कार्यकारणभाव माना जाता है। ध्यान कारण

त्मैवायं सम्यग्दर्शनविषयभूत ईक्षतिकर्मत्वेन व्यपदिष्ट इति गम्यते। स एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिज्ञायते। नन्वभिध्याने परः पुरुष उक्तः, ईक्षणे तु परात्परः, कथमितर इतरत्र प्रत्यभिज्ञायत इति? अत्रोच्यते—परपुरुषशब्दौ तावदुभयत्र साधारणौ। नचात्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते, येन तस्मात्परात्परोऽयमीक्षितव्यः पुरुषोऽन्यः स्यात्। कस्तर्हि जीवघन इति? उच्यते—घनो मूर्तिः। जीवलक्षणो घनो जीवघनः। सैन्धवखिल्यवद्यः परमात्मनो जीवरूपः खिल्यभाव उपाधिकृतः परश्च विषयेन्द्रियेभ्यः सोऽत्र जीवघन इति।

अपर आह—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इत्यतीतानन्तरवाक्यनिर्दिष्टो यो ब्रह्मलोकः परश्च लोकान्तरेभ्यः सोऽत्र जीवघन इत्युच्यते। जीवानां हि सर्वेषां करणप-

भामती

समारोपितगोचरो भवेत्। न चासत्यपवादे शक्य उत्सर्गस्त्यक्तुम्। तथा चास्य तत्त्वविषयत्वात्तत्कारणस्य ध्यानस्यापि तत्त्वविषयत्वम्। अपि च वाक्यशेषेणैकवाक्यत्वसम्भवे न वाक्यभेदो युज्यते। सम्भवति च परपुरुषविषयत्वेनार्थप्रत्यभिज्ञानात् समभिव्याहाराच्चैकवाक्यता। तदनुरोधेन च परात् पर इत्यत्र परादिति जीवघनविषयं द्रष्टव्यम्। तस्मात् तु परः पुरुषो ध्यातव्यश्च द्रष्टव्यश्च भवति। तदिदमुक्तम् ❀ न चात्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते ❀। किन्तु जीवघनात् परात् परो यो ध्यातव्यो द्रष्टव्यश्च तमेव कथयितुं जीवघनो जीवः खिल्यभावमुपाधिवशादापन्नः स उच्यते। स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकमित्यनन्तरवाक्यनिर्दिष्टो ब्रह्मलोको वा जीवघनः। स हि समस्तकरणात्मनः सूत्रात्मनो

भामती—व्याख्या

है और साक्षात्कार ध्यान का फल है। यह जो कहा जाता है कि साक्षात्कार तात्त्विक वस्तु को विषय करता है, वह एक औत्सर्गिक (सामान्य) नियम है, कहीं-कहीं बाधक प्रमाण के उपस्थित हो जाने पर उस नियम का अपवाद भी हो जाने से साक्षात्कार अतत्त्वविषयक (समारोपित-विषयक) भी हो जाता है किन्तु अपवाद के न होने पर औत्सर्गिक नियम का त्याग नहीं किया जा सकता। प्रकृत में कोई बाधक उपलब्ध नहीं, अतः साक्षात्कार (ईक्षण) सत्य वस्तु (निर्गुण ब्रह्म) को विषय करता है, अतः साक्षात्कार का कारणीभूत ध्यान भी तत्त्वविषयक ही होगा।

दूसरी बात यह भी है कि किसी वाक्य की अपने वाक्य-शेष के साथ एकवाक्यता के सम्भव होने पर वाक्य-भेद युक्ति-युक्त नहीं माना जाता। ईक्षण और अभिध्यान में परमपुरुष-विषयकत्व की प्रत्यभिज्ञा हो रही है एवं ईक्षण और ध्यान का समभिव्याहार (एक वाक्य में निर्देश) भी है। कथित विषय-प्रत्यभिज्ञान एवं ईक्षण और ध्यान के समभिव्याहार के अनुरोध से 'परात्परम्'—यहाँ पर 'परात्' का अर्थ 'जीवघनात्' ऐसा ही पर्यवसित होता है, क्योंकि वाक्यशेष में कहा है—'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परम्'। फलतः परमपुरुष (निर्गुण ब्रह्म) ही यहाँ ध्यातव्य और द्रष्टव्यरूप से प्रस्तुत किया गया है। भाष्यकार ने यही कहा है—"न चात्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते।" अर्थात् यहाँ 'जीवघन' शब्द के द्वारा प्रकृत ध्यातव्य पुरुष का ग्रहण नहीं किया गया कि द्रष्टव्य पुरुष उस (ध्यातव्य) से भिन्न सिद्ध होता। किन्तु जो जीवघन इन्द्रियादि से पर है, उससे भी परे ध्यातव्य और द्रष्टव्य तत्त्व का निर्देश करने के लिए जीवघन को ध्यातव्य वस्तु (ब्रह्म) के खिल्यभाव (अल्परूप या अंशात्मक) कहा गया है। उपाधि के द्वारा जीव में खिल्यभाव (स्वल्पीभाव) प्राप्त हुआ है। अथवा "स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्"—इस पूर्ववर्ती वाक्य निर्दिष्ट ब्रह्मलोक को 'जीवघन' कहा है, क्योंकि वह (ब्रह्मलोक) लोकान्तर से पर एवं

रिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलोको जीवघनः। तस्मात्परो यः परमात्मेक्षणकर्मभूतः स एवाभिध्यानेऽपि कर्मभूत इति गम्यते। परं पुरुषमिति च विशेषणं परमात्मपरिग्रह एवावकल्पते। परो हि पुरुषः परमात्मैव भवति, यस्मात्परं किंचिदन्यन्नास्ति; 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' इति च श्रुत्यन्तरात्। 'परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इति च विभज्य, अनन्तरमोकारेण परं पुरुषमभिध्यातव्यं ब्रुवन्परमेव ब्रह्म परं पुरुषं गमयति। 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः' इति पाप्मविनिर्मोकफलवचनं परमात्मानमिहाभिध्यातव्यं सूचयति। अथ यदुक्तं—परमात्माभिध्यायिनो न देशपरिच्छिन्नफलं युज्यत इति, अत्रोच्यते-त्रिमात्रेणोंकारेणालम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः, क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतद्भविष्यतीत्यदोषः ॥ १३ ॥

(५ दहराधिकरणम् । सू० १४–२१)

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ८।१।१) इत्यादिवाक्यं समाम्ना-

---

भामती

हिरण्यगर्भस्य भगवतो निवासभूमितया करणपरिवृतानां जीवानां तत्र सङ्घात इति भवति जीवघनः। तदेवं त्रिमात्रोङ्कारायतनं परमेव ब्रह्मोपास्यम्। अत एव चास्य देशविशेषाधिगतिः फलमुपाधिमत्त्वात्, क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तौ मुक्तिः। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति तु निरुपाधिब्रह्मवेदनविषया श्रुतिः। अपरं तु ब्रह्मैकैकमात्रायतनमुपास्यमिति मन्तव्यम् ॥ १३ ॥

"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं सूक्ष्मं गुहाप्रायं पुण्डरीकसन्निवेशं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्"। आगमाचार्योपदेशाभ्यां श्रवणं तदविरोधिना तर्केण मननं च, तदन्वेषणं तत्पूर्वकेण चादरनैरन्तर्यदीर्घकालासेवितेन ध्यानाभ्यासपरिपाकेण साक्षात्कारो विज्ञानम्।

भामती–व्याख्या

'जीवानां घनो यस्मिन्'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर व्यष्टिकरणाभिमानी समस्तजीवों के घनरूप (समष्टिभूत हिरण्यगर्भ) का निवासस्थान ब्रह्मलोक है। इस प्रकार त्रिमात्रक ओंकार का आयतन परब्रह्म ही उपास्य है, अत एव उपासक को ब्रह्मलोकरूप देशविशेष की प्राप्ति और वहाँ ब्रह्मदर्शनपूर्वक मुक्ति का लाभ होता है। "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"—यह श्रुति निरुपाधिक ब्रह्म के दर्शन को विषय करती है और अपर ब्रह्म एक-एक मात्रा का आयतन होने से उपास्य होता है ॥ १३ ॥

विषय—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" (छां० ८।१।१) यहाँ ब्रह्मपुर नाम है—स्थूल शरीर का, क्योंकि ब्रह्म की उपलब्धि इसी में होती है। 'दहर' शब्द का अर्थ सूक्ष्म कमल के आकार की गुफा (हृदय) है। उसमें अवस्थित जो छोटा-सा आकाश है, उसमें जो तत्त्व रहता है, उसका अन्वेषण करना चाहिए। श्रवण और मनन यहाँ 'अन्वेषण' पद से विवक्षित हैं। आगम और आचार्य के उपदेश से तत्त्वार्थ का बोध श्रवण और तदनुकूल तर्क

यते। तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः स किं भूताकाशः, अथवा विज्ञानात्मा, अथवा परमात्मेति संशय्यते। कुतः संशयः? आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम्। आकाशशब्दो ह्ययं भूताकाशे परस्मिंश्च प्रयुज्यमानो दृश्यते। तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्, किंवा पर इति संशयः। तथा ब्रह्मपुरमिति—किं जीवोऽत्र ब्रह्मनामा तस्येदं पुरं शरीरं ब्रह्मपुरम्, अथवा परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति। तत्र जीवस्य परस्य वाऽन्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः।

तत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद् भूताकाश एव च दहरशब्द इति प्राप्तम्। तस्य च दहरायतनापेक्षया दहरत्वम्। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति च बाह्याभ्यन्तरभावकृतभेदस्योपमानोपमेयभावः, द्यावापृथिव्यादि च तस्मिन्नन्तः समाहितम्; अवकाशात्मनाकाशस्यैकत्वात्, अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्; ब्रह्मपुरशब्दात्। जीवस्य हीदं पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते; तस्य स्वकर्म-

भामती

विशिष्टं हि तज्ज्ञानं पूर्वेभ्यः। तदिच्छा विजिज्ञासनम्।

अत्र संशयमाह * तत्र इति *। तत्र प्रथमं तावदेव संशयः—किं दहराकाशादन्यदेव किञ्चिदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च उत दहराकाश इति। यद्यपि दहराकाशोऽन्वेष्टव्यस्तथापि किं भूताकाश आहो शारीर आत्मा, किं वा परमात्मेति। संशयहेतुं पृच्छति * कुतः इति *। तद्धेतुमाह * आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम् इति *। तत्र प्रथमं तावद् भूताकाश एव दहर इति पूर्वपक्षयति * तत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद् इति *। एष तु बहुतरोत्तरसंदर्भविरोधात्तुच्छः पूर्वपक्ष इत्यपरितोषेण पक्षान्तरमालम्बते पूर्वपक्षी * अथ वा जीवो दहर इति *। प्राप्तं युक्तमित्यर्थः। तत्र—

आधेयत्वाद्विशेषाच्च पुरं जीवस्य युज्यते।
देहो न ब्रह्मणो युक्तो हेतुद्वयवियोगतः॥

भामती-व्याख्या

के द्वारा अर्थावधारण मनन कहलाता है। श्रवण और मनन के द्वारा अवगत पदार्थ का निरन्तर श्रद्धापूर्वक चिरध्यान करते-करते जो साक्षात्कार होता है, वही विजिज्ञासितव्यार्थ-घटक विज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञान श्रवण और मनन से विशिष्ट है। विशिष्ट ज्ञान की इच्छा ही विजिज्ञासन पदार्थ है।

संशय—उक्त स्थल पर सर्व-प्रथम यह संशय होता है कि क्या दहराकाश से भिन्न कोई पदार्थ अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य है? अथवा दहराकाश ही विचारणीय है? दहराकाश-पक्ष में क्या भूताकाश? या शारीर (जीव)? अथवा परमात्मा (ब्रह्म) अन्वेष्टव्य है? संशय का कारण पूछा जाता है—"कुतः"। उसका उत्तर है—"आकाशब्रह्मपुर-शब्दाभ्याम्"।

पूर्वपक्ष—प्रथमतः पूर्वपक्षी भूताकाश को ही दहराकाश बता रहा है—"तत्राकाश-शब्दस्य भूताकाशे रूढत्वात्"। यह पूर्वपक्ष अपने उत्तरवर्ती बहुत वाक्यों से विरुद्ध होने के कारण अत्यन्त तुच्छ है, इस अपरितोष के कारण पूर्वपक्षी पक्षान्तर प्रस्तुत करता है—"अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्"। प्राप्तम् का अर्थ है—युक्तम्।

आधेयत्वाद् विशेषाच्च पुरं जीवस्य युज्यते।
देहो न ब्रह्मणो युक्तो हेतुद्वयवियोगतः॥

'दहर' पद से जीव का ग्रहण करना ही युक्ति-युक्त है, क्योंकि जीव को गौणी वृत्ति (ब्रह्मगत चैतन्यादि गुण के योग) से ब्रह्म कहा जाता है और जीव के इस शरीर को 'ब्रह्मपुर' कहते हैं,

णोपार्जितत्वात्। भक्त्या च तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वम्। नहि परस्य ब्रह्मणः शरीरेण स्वस्वामिभावः संबन्धोऽस्ति। तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्थानं दृष्टं, यथा राज्ञः।

भामती

असाधारणेन हि व्यपदेशा भवन्ति। तद्यथा क्षितिजलपवनबीजादिसामग्रीसमवधानजन्माऽप्यङ्कुरः शालिबीजेन व्यपदिश्यते शाल्यङ्कुर इति। न तु क्षित्यादिभिः, तेषां कार्य्यान्तरेष्वपि साधारण्यात्। तदिह शरीरं ब्रह्मविकारोऽपि न ब्रह्मणा व्यपदेष्टव्यम्। ब्रह्मणः सर्वोत्पत्तिकारकारणत्वेनातिसाधारण्यात्। जीवभेदधर्माधर्मोपार्जित तदित्यसाधारणकारणत्वाज्जीवेन व्यपदिश्यत इति युक्तम्। अपि च ब्रह्मपुर इति सप्तम्यधिकरणे स्मर्यते, तेनाधेयेनानेन सम्बद्धव्यम्। न च ब्रह्मणः स्वे महिम्नि व्यवस्थितस्यानाधेयस्याधारसम्बन्धः कल्पते। जीवस्त्वाराग्रमात्र इत्याधेयो भवति। तस्मात् ब्रह्मशब्दो रूढिं परित्यज्य देहादिबृंहणतया जीवे यौगिको वा भाक्तो वा व्याख्येयः। चैतन्यं च भक्तिः। उपधानानुपधाने तु विशेषः। ⊛ वाच्यत्वं ⊛ गम्यत्वम्। स्यादेतत्—जीवस्य पुरं भवतु शरीरं, पुण्डरीकदहरगोचरता त्वन्यस्य भविष्यति, वत्सराजस्य पुर इवोज्जयिन्यां मैत्रस्य सद्मेत्यत आह ⊛ तत्र पुरस्वामिन इति ⊛।

भामती-व्याख्या

क्योंकि जीव परिच्छिन्न होने से आधेय और शरीर उसका अधिकरण है एवं जीव में ही यह विशेषता है कि वह अपने अदृष्टों के द्वारा इस शरीर का उपार्जन करता है। इसके विपरीत इस शरीर के साथ ब्रह्म का स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि ब्रह्म न तो परिच्छिन्न है और न अपने अदृष्टों के द्वारा शरीर का उपार्जक। दूसरी बात यह भी है कि जीव शरीर का विशेष सम्बन्धी है और ब्रह्म साधारण सम्बन्धी, 'असाधारण्येन व्यपदेशा भवन्ति'—इस न्याय के अनुसार जैसे शालीअंकुर (धान के अंकुर) के साथ शाली का विशेष सम्बन्ध होने के कारण उस अंकुर को 'शाल्यंकुरः' कहते हैं, 'क्षित्यंकुरः' या 'सलिलांकुरः' नहीं, क्योंकि क्षित्यादि के साथ उसका साधारण सम्बन्ध होता है, असाधारण नहीं। वैसे ही यह शरीर ब्रह्म का विकार (कार्य) होने पर भी 'ब्रह्मणः शरीरम्'—ऐसा नहीं कहला सकता, क्योंकि ब्रह्म समस्त विकार का साधारण कारण है किन्तु जीव इस शरीर का विशेष सम्बन्धी है, क्योंकि इस शरीर में रहनेवाले जीव ने इस शरीर का अपने अदृष्टों के द्वारा उपार्जन किया है. अतः इस शरीर को 'जीवशरीरम्' कहने के लिए 'ब्रह्मपुरम्' कह दिया गया है। दूसरी बात यह भी है कि 'ब्रह्मपुरे' यहाँ पर सप्तमी विभक्ति अधिकरणार्थ में विहित है, अतः आधेयरूप जीव के साथ ही इसका सम्बन्ध होना चाहिए, ब्रह्म के साथ नहीं, क्योंकि ब्रह्म स्वमहिमा में अवस्थित होने से किसी का आधेय नहीं। जीव का स्वरूप आरा की नोक के समान परिच्छिन्न कहा गया है, अतः वह आधेय हो सकता है, अतः 'ब्रह्मपुरे' यहाँ 'ब्रह्म' शब्द अपने रूढ अर्थ का परित्याग करके जीव में बृंहणकर्तृत्वेन यौगिक अथवा गौण मानना उचित है, ब्रह्म का चैतन्यरूप ही वह भक्ति (गुण) है, जिसके सम्बन्ध से जीव को ब्रह्म कह दिया गया है। ब्रह्म और जीव में चैतन्य की समानता होने पर भी निरुपाधित्व और सोपाधिकत्व की विशेषता है, अतः निरुपाधिक परतत्त्व का वाचक 'ब्रह्म' शब्द गौणी वृत्ति से जीव का बोधकमात्र है, वाचक नहीं। भाष्यकार ने जो कहा है—"तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वम्"। वहाँ वाच्यत्व का तात्पर्य बोध्यत्व में ही है।

शङ्का—इस शरीर को भले ही जीव का पुर (नगर) मान लिया जाय और इसकी संज्ञा 'ब्रह्मपुरम्' रख दी जाय किन्तु हृदय कमलगत 'दहराकाश' शब्द से जीव से भिन्न ब्रह्म का ही ग्रहण किया जायगा, क्योंकि जैसे महाराज वत्सराज के उज्जयिनी नगर में वत्सराज से भिन्न मैत्रादि का महल होता है, वैसे ही जीव के शरीररूप पुर (नगर) में जीव से भिन्न

मनउपाधिकश्च जीवः, मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यैवेदं हृदयेऽन्तरव-स्थानं स्यात्। दहरत्वमपि तस्यैव आराग्रोपमितत्वादवकल्पते। आकाशोपमितत्वादि च ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यति। न चात्र दहरस्याकाशस्यान्वेष्यत्वं विजिज्ञासित-व्यत्वं च श्रूयते। 'तस्मिन्यदन्तः' इति परविशेषणत्वेनोपादानादिति।

अत उत्तरं ब्रूमः- परमेश्वर एवात्र दहराकाशो भवितुमर्हति, न भूताकाशो जीवो वा। कस्मात्? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः। तथाहि अन्वेष्टव्यतया-भिहितस्य दहरस्याकाशस्य 'तं चेद् ब्रूयुः' इत्युपक्रम्य किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम् इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमाधानवचनं भवति-'स ब्रूयाद्या-वान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्यादि। तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्याकाशस्य

भामती

अयमर्थः वेश्म खल्वधिकरणमनिर्दिष्टाधेयमाधेयविशेषापेक्षायां पुरस्वामिनः प्रकृतत्वात्तेनैवाधेयेन सम्बद्धं सदनपेक्षं नाधेयान्तरेण सम्बन्धं कल्पयति। ननु तथापि शरीरमेवास्य भोगायतनमिति को हृदयपुण्डरी-केऽस्य विशेषो यत्तद्वेवास्य सद्मोच्यत आह ❀मन उपाधिकश्च जीवः इति❀। ननु मनोऽपि चलतया सकलदेहवृत्ति पर्यायेणेत्यत आह ❀ मनश्च प्रायेण इति ❀। आकाशशब्दश्चारूपत्वादिना सामान्येन जीवे भाक्तः। अस्तु वा भूताकाश एवायमाकाशशब्दो दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति, तथाप्यदोष इत्याह ❀ न चात्र दहरस्य आकाशस्य अन्वेष्यत्वम् इति ❀।

एवं प्राप्ते उच्यते—भूताकाशस्य तावन्न दहरत्वं यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश इत्युपमानविरोधात्। तथाहि —

भामती-व्याख्या

ब्रह्म का वेश्म (महल) पुण्डरीक-दहर हो सकता है।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए भाष्यकार कह रहे हैं—"तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्थानं दृष्टम्"। आशय यह है कि उक्त श्रुति में निर्दिष्ट 'वेश्म' शब्द एक ऐसे आधार को उपस्थित कर रहा है, जो अपने आधेय की अपेक्षा करता है, पुर-स्वामी के रूप में जीव प्रस्तुत है, अतः जीवरूप आधेय से जुड़ कर वेश्मरूप आधार अन्य (ब्रह्मरूप) आधेय का कल्पक नहीं हो सकता। यह जो प्रश्न उठता है कि शरीर तो जीव का भोगायतन है, अतः शरीररूप पुर के साथ उसका सम्बन्ध सम्भव है किन्तु हृदयपुण्डरीक के साथ उसका क्या संबंध? उस प्रश्न का उत्तर है-"मन उपाधिकश्च जीवः, मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितम्"। यद्यपि मन चलायमान है, शरीर के कोने-कोने में घूमता रहता है, तथापि हृदय में उसका अधिक निवास रहता है। 'दहर' पद तो परिच्छिन्न जीव का निसर्गतः बोधक है और 'आकाश' शब्द भी स्ववाच्य (भूताकाश) में वर्तमान अरूपत्वादि गुण के योग से जीव का गमक हो सकता है। अथवा "दहरेऽस्मिन्नन्तराकाशः"—यहाँ पर 'आकाश' शब्द भूताकाश का ही वाचक है, फिर भी कोई दोष नहीं, क्योंकि वहाँ दहराकाश को अन्वेष्टव्य नहीं माना गया है कि उससे ब्रह्म की उपस्थिति करानी आवश्यक हो, किन्तु उस भूताकाश के अन्तःस्थित तत्त्व को अन्वेष्टव्य कहा गया है, वह उससे भिन्न हो सकता है।

सिद्धान्त-सर्वप्रथम भूताकाश में दहरत्व ही नहीं बनता, क्योंकि "यावान् वा अयमाकाशः, तावान् एषोऽन्तर्हृदये आकाशः" (छां० ८।१।३) इस श्रुति में उसको व्यापक उपमान के रूप में वर्णित किया गया है, अतः उसे दहर (परिच्छिन्न या अव्यापक) कहना विरुद्धाभिधान हो जाता है। अर्थात्—

प्रसिद्धाकाशोपम्येन दहरत्वं निवर्तयन्भूताकाशत्वं दहरस्याकाशस्य निवर्तयतीति गम्यते। यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढः, तथापि तेनैव तस्योपमा नोपपद्यत इति भूताकाशशङ्का निवर्तिता भवति। नन्वेकस्याप्याकाशस्य बाह्याभ्यन्तरत्वकल्पितेन भेदेनोपमानोपमेयभावः संभवतीत्युक्तम्। नैवं संभवति, अगतिका हीयं गतिः, यत्काल्पनिकभेदाश्रयणम्। अपि च कल्पयित्वापि भेदमुपमानोपमेयभावं वर्णयतः परिच्छिन्नत्वादभ्यन्तराकाशस्य न बाह्याकाशपरिमाणत्वमुपपद्येत। ननु परमेश्वरस्यापि 'ज्यायानाकाशात्' (शत० ब्रा० १०।६।३।२) इति श्रुत्यन्तरान्नैवाकाशपरिमाणत्वमुपपद्यते। नैष दोषः, पुण्डरीकवेष्टनप्राप्तदहरत्वनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य न तावत्त्वप्रतिपादनपरत्वम्। उभयप्रतिपादने हि वाक्यं भिद्येत। नच कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्टित आका-

भामती

तेन तस्योपमेयत्वं रामरावणयुद्धवत्।
अगत्या भेदमारोप्य गतौ सत्यां न युज्यते॥

अस्ति तु दहराकाशस्य ब्रह्मत्वेन भूताकाशाद्भेदेनोपमानस्य गतिः। न चानवच्छिन्नपरिमाणमवच्छिन्नं भवति। तथा सत्यवच्छेदानुपपत्तेः। न भूताकाशमानत्वं ब्रह्मणोऽत्र विधीयते, येन ज्यायानाकाशादिति श्रुतिविरोधः स्यात्, अपि तु भूताकाशोपमानेन पुण्डरीकोपाधिप्राप्तं दहरत्वं निवर्त्यते। अपि च सर्व एवोत्तरे हेतवो दहराकाशस्य भूताकाशत्वं व्यासेधन्तीत्याह ॐ न च कल्पितभेद इति ॐ। नापि

भामती—व्याख्या

तेन तस्योपमेयत्वं रामरावणयुद्धवत्।
अगत्या भेदमारोप्य गतौ सत्यां न युज्यते॥

यदि दहराकाश भूताकाश ही है, तब 'यावान् वाऽयमाकाशः, तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाशः'—इस प्रकार एक ही भूताकाश में उपमान-उपमेयभाव सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि उपमान और उपमेय का भेद होना आवश्यक माना जाता है—"साधर्म्यमुपमा भेदे" (काव्य प्र. पृ० ४४३)। अत एव—

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥

इत्यादि स्थलों पर देश-कालादि उपाधियों के द्वारा गगनादि का भेद आरोपित कर उपमानोपमेयभाव का जो सङ्गमन किया जाता है, वह अगतिक गति है किन्तु प्रकृत में गत्यन्तर सम्भव है कि दहराकाशरूप ब्रह्म उपमेय और भूताकाश को उपमान माना जा सकता है।

शङ्का—यदि कहा जाय कि दहराकाश यदि ब्रह्म माना जाता है, तब भी वह हृदय-पुण्डरीकावच्छिन्न ही अभिहित है, अतः उसके लिए निरवच्छिन्न भूताकाश की उपमा क्योंकर संगत होगी ? क्योंकि निरवच्छिन्न कभी सावच्छिन्न नहीं होता और यदि निरवच्छिन्न भूताकाश कभी सावच्छिन्न पदार्थ का उपमान नहीं हो सकता और निरवच्छिन्न भूताकाश के उपमेय में हृदयादि को अवच्छेदक नहीं माना जा सकता।

समाधान—यहाँ भूताकाश की उपमा के द्वारा ब्रह्म में आकाशगत परिमाण का विधान नहीं किया जाता, अन्यथा "ज्यायानाकाशात्" (शत० ब्रा० १०।६।३।२) इत्यादि श्रुतियों से विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि इन श्रुतियों में ब्रह्म को भूताकाश से भी अधिक परिमाण का बताया गया है। यहाँ वस्तु-स्थिति यह है कि ब्रह्म में हृदयपुण्डरीकरूप उपाधि के द्वारा जो सावच्छिन्नत्वरूप दहरत्व प्राप्त (प्रतिपादित) है, उस की निवृत्ति भूताकाश की उपमा से की जाती है, अन्य किसी परिमाण का विधान नहीं किया जाता। केवल भूताकाश

शैकदेशे द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाधानमुपपद्यते। 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति चात्मत्वापहतपाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे संभवन्ति। यद्यप्यात्मशब्दो जीवे संभवति, तथापीतरेभ्यः कारणेभ्यो जीवाशङ्कापि निवर्तिता भवति। न ह्युपाधिपरिच्छिन्नस्याराग्रोपमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्टनकृतं दहरत्वं शक्यं निवर्तयितुम्। ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येतेति चेत्,—यदात्मतया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येत, तस्यैव ब्रह्मणः साक्षात्सर्वगतत्वादि विवक्ष्यतामिति युक्तम्। यदप्युक्तं—ब्रह्मपुरमिति जीवेन पुरस्योपलक्षितत्वाद्राज्ञ इव जीवस्यैवेदं पुरस्वामिनः पुरैकदेशवर्तित्वमस्त्विति। अत्र ब्रूमः—परस्यैवेदं ब्रह्मणः पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते; ब्रह्मशब्दस्य तस्मिन्मुख्यत्वात्। तस्याप्यस्ति पुरेणानेन संबन्धः; उपलब्ध्यधिष्ठानत्वात्। 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र० ५।५) 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' (बृ० २।५।१८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवा,—जीवपुर एवास्मिन् ब्रह्म संनिहितमुपलक्ष्यते। यथा शालग्रामे विष्णुः संनिहित इति, तद्वत्। 'तद्यथेह

भामती

दहराकाशो जीव इत्याह ❀ यद्यप्यात्मशब्द इति ❀।

उपलब्धेरधिष्ठानं ब्रह्मणो देह इष्यते।
तेनासाधारणत्वेन देहो ब्रह्मपुरं भवेत्॥

देहे हि ब्रह्मोपलभ्यते इत्यसाधारणतया देहो ब्रह्मपुरमिति व्यपदिश्यते, न तु ब्रह्मविकारतया। तथा च ब्रह्मशब्दार्थो मुख्यो भवति। अस्तु वा ब्रह्मपुरं जीवपुरं, तथापि यथा वत्सराजस्य पुरे उज्जयिन्यां मैत्रस्य सद्म भवति, एवं जीवस्य पुरे हृत्पुण्डरीकं ब्रह्मसदनं भविष्यति, उत्तरेभ्यो ब्रह्मलिङ्गेभ्यो ब्रह्मणोऽवधारणात्। ब्रह्मणो हि बाधके प्रमाणे बलीयसि जीवस्य च साधके प्रमाणे सति ब्रह्मलिङ्गानि

भामती-व्याख्या

की उपमा से ही ब्रह्म में दहरत्व (सावच्छिन्नत्व) का निषेध नहीं किया जाता, अपितु उत्तरवर्ती वाक्यों से प्रतिपादित द्यावापृथिव्यादि-समाहितत्वादि हेतुओं के द्वारा भी दहरत्व का प्रतिषेध किया जाता है—"न च कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्टिते आकाशैकदेशे द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाधानमुपपद्यते"।

दहराकाश को जीवरूप भी नहीं मान सकते, क्योंकि यद्यप्यात्मशब्द जीव का बोधक है, तथापि उत्तर वाक्य-प्रतिपादित ब्रह्म के असाधारण धर्मों का समन्वय जीव में नहीं हो सकता।

उपलब्धेरधिष्ठानं ब्रह्मणो देह इष्यते।
तेनासाधारणत्वेन देहो ब्रह्मपुरं भवेत्॥

देह में ही ब्रह्म की उपलब्धि होती है, अतः देह को ब्रह्मपुर कहा जाता है, ब्रह्म का विकार होने से देह को ब्रह्मपुर नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म निर्विकार है। इस प्रकार 'ब्रह्मपुर' शब्द का घटकीभूत 'ब्रह्म' पद मुख्यार्थक सम्भव हो जाता है। अथवा 'ब्रह्म' पद गौणी वृत्ति के द्वारा जीव का बोधक मानकर इस शरीररूप जीवपुर को ब्रह्मपुर कहा जा सकता है। तथापि जैसे महाराज वत्सराज के पुर (नगर) उज्जयिनी के किसी भाग में मैत्रादि का महल होता है, वैसे ही इस शरीर का हृदय पुण्डरीक ब्रह्म का सदन (उपलब्धि-स्थल) कहा जा सकता है। हृदयपुण्डरीक को ब्रह्म का ही सदन मानना होगा, क्योंकि उत्तरवर्ती ब्रह्म-गमक लिङ्गों (असाधारण धर्मों) के द्वारा वहाँ ब्रह्म का ही होना निश्चित

कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा० ८।१।६) इति च कर्मणामन्तवत्फलत्वमुक्त्वा 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्यानन्तफलत्वं वदन् परमात्मत्वमस्य सूचयति। यदप्येतदुक्तं,-न दहरस्याकाशस्यान्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रुतं; परविशेषणत्वेनोपादानादिति, अत्र ब्रूमः - यद्याकाशो नान्वेष्टव्यत्वेनोक्तः स्यात् 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्याद्याकाशस्वरूपप्रदर्शनं नोपयुज्येत। नन्वेतदप्यन्तर्वर्तिवस्तुसद्भावप्रदर्शनायैव प्रदर्श्यते। 'तं

भामती

कथञ्चिदभेदविवक्षया जीवे व्याख्यायन्ते। न चेह ब्रह्मणो बाधकं प्रमाणं साधकं वाऽस्ति जीवस्य। ब्रह्मपुरव्यपदेशश्चोपपादितो ब्रह्मोपलब्धिस्थानतया। अर्भकौकस्त्वं चोक्तम्। तस्मात् सति सम्भवे ब्रह्मणि तल्लिङ्गानां नाब्रह्मणि व्याख्यानमुचितमिति ब्रह्मैव दहराकाशो न जीवभूताकाशाविति। श्रवणमननानुविद्य ब्रह्मानुभूय चरणं चारस्तेषां कामेषु चरणं भवतीत्यर्थः। स्यादेतद् - दहराकाशस्यान्वेष्यत्वे सिद्धे तत्र विचारो युज्यते, न तु तदन्वेष्टव्यम्, अपि तु तदाधारमन्यदेव किञ्चिदित्युक्तमित्यनुभाषते। ※ यदप्येतद् इति ※। अनुभाषितं दूषयति ※ अत्र ब्रूमः इति ※। यद्याकाशाधारमन्यदन्वेष्टव्यं भवेत्तदेवोपरि

भामती-व्याख्या

होता है। ब्रह्म के असाधारण धर्मों का जीव में किसी-न-किसी प्रकार तब समन्वय किया जा सकता था, जब कि यहाँ ब्रह्म का कोई प्रबल बाधक और जीव का साधक प्रमाण उपलब्ध होता, किन्तु यहाँ कोई वैसा प्रमाण उपलब्ध नहीं। 'ब्रह्मपुर' शब्द का ब्रह्मोपलब्धिपरत्वेन उपपादन किया जा चुका है। दहराकाश के समान एक स्वल्प या संकुल स्थान में ब्रह्म के रहने का भी उपपादन पहले "अर्भकौकस्त्वात्" (ब्र. सू. १।२।७) इस सूत्र में कहा जा चुका है। ब्रह्म के असाधारण धर्मों का समन्वय जब ब्रह्म में हो सकता है, तब ब्रह्म से भिन्न जीवादि में किसी-न-किसी प्रकार आयोजन उचित नहीं, फलतः ब्रह्म ही दहराकाश है, भूताकाश या जीव नहीं।

दहराकाश की उपासना का अनन्त फल श्रुत है—"अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ति, एतांश्च सत्यान् कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छां. ८।१।६)। अनुविद्य का अर्थ है—'अनु पश्चाद् विदित्वा' अर्थात् श्रवण और मनन के पश्चात् ब्रह्मात्मत्व का अनुभव (साक्षात्कार) करके। भाष्यकार ने भी ऐसा ही कहा है—"शास्त्राचार्योपदेशमनुविद्य स्वात्मसंवेद्यतामापाद्य" (छां. भा. पृ. ४४६)। 'कामचारः' का अर्थ है- कामेषु [काम्येषु (विषयेषु) चारः (उपलब्धिः)] अर्थात् यथेष्ट विषय की प्राप्ति या स्वातन्त्र्य।

शङ्का—दहराकाश में अन्वेषणीयत्व सिद्ध हो जाने पर ही उसके विषय में विचार करना उचित था किन्तु दहराकाश में अन्वेष्टव्यत्व प्रतिपादित न होकर उससे भिन्न उसमें रहनेवाले किसी अन्य तत्त्व को अन्वेष्टव्य और विजिज्ञास्य कहा गया है—"तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितव्यम्"।

समाधान—उक्त शङ्का का अनुवाद करके भाष्यकार "यदप्येतद्"—इत्यादि वाक्य से अनुवाद करके निरास कर रहे हैं—"अत्र ब्रूमः"। अर्थात् दहराकाश ही अन्वेष्टव्य है, उससे अन्य नहीं, क्योंकि यदि अन्य कोई तत्त्व अन्वेषणीय होता, तब आगे चलकर श्रुति उसका व्युत्पादन करती, किन्तु व्युत्पादन किया गया है दहराकाश का—"यावान् वा अयमाकाशः, तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः"। यह दहराकाश का निरूपण यह सिद्ध कर रहा है कि यही विचारणीय है।

चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्याक्षिप्य परिहारावसर आकाशौपम्योपक्रमेण द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाहितत्वदर्शनात्। नैतदेवम्; एवं हि सति यदन्तःसमाहितं द्यावापृथिव्यादि तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चोक्तं स्यात्, तत्र वाक्यशेषो नोपपद्येत।

भामती

व्युत्पादनीयमाकाशव्युत्पादनं तु क्वोपयुज्यते इत्यर्थः। चोदयति ॐ न त्वेतदपि इति ॐ। आकाशकथनमपि तदन्तर्वर्तिवस्तुसद्भावप्रदर्शनायैव। अथाकाशपरमेव कस्मान्न भवतीत्यत आह ॐ तं चेद् ब्रूयुः इति ॐ। आचार्येण हि दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमित्युपदिष्टेऽन्तेवासिनाऽऽक्षिप्तं, किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम्? पुण्डरीकमेव तावत् सूक्ष्मतरं तदवरुद्धमाकाशं सूक्ष्मतमम्, तस्मिन् सूक्ष्मतमे किमपरमस्ति? नास्त्येवेत्यर्थः। तत् किमन्वेष्टव्यमिति। तदस्मिन्नाक्षेपे परिसमाप्ते समाधानावसर आचार्यस्याकाशोपमानोपक्रमं वचः, उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी समाहिते इति। तस्मात् पुण्डरीकावरुद्धाकाशाश्रये द्यावापृथिव्यावेवान्वेष्टव्ये उपदिष्टे, नाकाश इत्यर्थः। परिहरति ॐ नैतदेवम् ॐ। ॐ एवं हि इति ॐ। स्यादेतद्—एवमेवैतन्नो खल्वभ्युपगमा एव दोषत्वेन चोद्यन्त इत्यत आह ॐ तत्र वाक्यशेषे इति ॐ। वाक्यशेषो हि दहराकाशात्मवेदनस्य फलवत्त्वं ब्रूते, यच्च फलवत् तत् कर्तव्यतया चोद्यते, यच्च कर्तव्यं तदिच्छतीति तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति दहराकाशविषयमवतिष्ठते। स्यादेतद्—द्यावापृथिव्यावेवात्मानो भविष्यतः, ताभ्यामेवात्मा लक्षयिष्यते, आकाशशब्दवत्। ततश्चाकाशा-

भामती-व्याख्या

शङ्का—विचारणीय तो दहराकाशगत अन्य पदार्थ ही है किन्तु उसका आधार होने के कारण दहराकाश का निरूपण किया गया है, अन्यथा तदन्तर्भूत वस्तु का सद्भाव क्योंकर सिद्ध होगा?

यदि दहराकाश के अन्तर्वर्ती किसी अन्य पदार्थ का सद्भाव नहीं माना जाता, तब उत्तरवर्ती आक्षेप और उसका परिहार—दोनों असंगत हो जाते हैं, क्योंकि आचार्य का "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्"—ऐसा उपदेश सुन कर शिष्य आक्षेप करता है—"किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम्?" अर्थात् पहले तो हृत्पुण्डरीक ही सूक्ष्मतर है और तद्गत आकाश तो उससे भी सूक्ष्मतम है, उस सूक्ष्मतम आकाश में अन्य पदार्थ क्या है? कुछ भी नहीं। तब वह अन्वेष्टव्य क्योंकर होगा?

उक्त आक्षेप के समाप्त हो जाने पर आचार्य ने आकाश की उपमा देकर दहराकाश का निरूपण करते हुए कहा है—"उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी समाहिते"। इस प्रकार पुण्डरीकावच्छिन्न आकाश के आश्रित द्यु और पृथिवी को ही अन्वेष्टव्य कहा है, आकाश को नहीं।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"नैतदेवम्"। यदि थोड़ी देर के लिए दहराकाशगत द्युलोकादि की अन्वेष्टव्यता को स्वीकार कर लिया जाता है, तब यद्यपि इष्टापादन कोई दोष नहीं माना जाता, तथापि वैसा स्वीकार कर लेने पर वाक्य-शेष में दहराकाश की आत्मरूपता का अभिसूचन अनुपपन्न हो जाता है, क्योंकि "अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्, तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"—यह वाक्यशेष दहराकाश में आत्मरूपता के वेदन (उपासना) का फल बता रहा है। जिस पदार्थ का फल अभिहित होता है, वह पदार्थ कर्तव्य (अनुष्ठेय) होता है और जो अनुष्ठेय होता है, उसी की इच्छा की जाती है—"तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्"। फलतः दहराकाशगत आत्मरूपता ही विचारणीय सिद्ध होती है।

'अस्मिन्कामाः समाहिताः', 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इति हि प्रकृतं द्यावापृथिव्यादि समाधानाधारमाकाशमाकृष्य 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्' इति समुच्चयार्थेन चशब्देनात्मानं कामाधारमाश्रितांश्च कामान्विज्ञेयान्वाक्यशेषो दर्शयति। तस्माद्वाक्योपक्रमेऽपि दहर एवाकाशो हृदयपुण्डरीकाधिष्ठानः सहान्तःस्थैः समाहितैः पृथिव्यादिभिः सत्यैश्च कामैर्विज्ञेय उक्त इति गम्यते। स चोक्तेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वर इति ॥ १४ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

दहरः परमेश्वर उत्तरेभ्यो हेतुभ्य इत्युक्तम्। त एवोत्तरे हेतव इदानी प्रपञ्च्यन्ते। इतश्च परमेश्वर एव दहरः, यस्माद् दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादकौ गतिशब्दौ भवतः—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति'

भामती

धारौ तावेव परामृश्येते इत्यत आह ॐ अस्मिन् कामाः समाहिताः ॐ प्रतिष्ठिताः। ॐ एष आत्मापहतपाप्मा इति ॐ। ॐ अनेन प्रकृतं द्यावापृथिवीसमाधानाधारमाकाशमाकृष्य ॐ। द्यावापृथिव्याद्यभिधानव्यवहितमपीति शेषः। ननु सत्यकामज्ञानस्यैतत् फलं, तदनन्तरं निर्देशात्, न तु दहराकाशवेदनस्येत्यत आह ॐ समुच्चयार्थेन चशब्देन इति ॐ। अस्मिन् कामा इति च एष इति चैकवचनान्तं न द्वे द्यावापृथिव्यौ परामृष्टुमर्हतीति दहराकाश एव परामृश्य इति समुदायार्थः। तदनेन क्रमेण तस्मिन्यदन्तरित्यत्र तच्छब्दोऽनन्तरमप्याकाशमतिलङ्घ्य हृत्पुण्डरीकं परामृशतीत्युक्तं भवति। तस्मिन् हृत्पुण्डरीके यदन्तराकाशं तदन्वेष्टव्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

उत्तरेभ्य इत्यस्य प्रपञ्चः। एतमेव दहराकाशं प्रक्रम्य बताहो कष्टमिदं वर्त्तते जन्तूनां तत्त्वावबोधविकलानां यदेभिः स्वाधीनमपि ब्रह्म न प्राप्यते। तद्यथा चिरन्तननिरूढनिबिडमलपिहितानां कलधौतशकलानां पथि पतितानामुपर्य्युपरि सञ्चरद्भिरपि पान्थैर्धनायद्भिर्प्राकखण्डनिवहविभ्रमेणैतानि नोपादीयन्त

भामती-व्याख्या

यह जो कहा गया कि द्युलोक और पृथिवी में ही आत्मरूपता पर्यवसित होगी, अतः इन्हीं के द्वारा आत्मा वैसे ही अभिलक्षित होगा, जैसे आकाश शब्द के द्वारा। इस प्रकार आकाश में आवृत द्यु और पृथिवी ही 'आकाश' पद से परामृष्ट (गृहीत) होंगे। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि "अस्मिन् कामाः समाहिताः" (इसी दहराकाश में समस्त कामनाएँ लगी हैं)। यह आत्मा निष्पाप है, इसी में स्वर्ग से लेकर पृथिवी तक के समस्त लोक अवस्थित हैं। द्यु पृथिव्यादि के इस निरूपण का व्यवधान होने पर भी उनके आधारभूत दहराकाश की अनुवृत्ति कर "एतांश्च सत्यान् कामान्" इस वाक्य में प्रयुक्त समुच्चयार्थक 'च' शब्द के द्वारा आत्मा और आत्माश्रित कामनाओं की विज्ञेयता प्रतिपादित की गई है। तात्पर्य यह है कि उक्त श्रुति मे प्रयुक्त 'अस्मिन्' और 'एषः'- इन एकवचनान्त शब्दों के द्वारा द्यु और पृथिवी—इन दो पदार्थों का परामर्श सम्भव नहीं, अतः दहराकाश ही ग्राह्य है। इस प्रकार 'तस्मिन्' यहाँ 'तत्' पद अनन्तरोक्त आकाश को छोड़ कर पुण्डरीक का उपस्थापक है, अतः उस (हृत्पुण्डरीक) में अवस्थित आकाश (दहराकाश) ही अन्वेष्टव्य सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

चौदहवें सूत्र में उपन्यस्त 'उत्तरेभ्यः'—इस पद का व्याख्या-प्रपञ्च ही "गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च"—इस सूत्र के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी दहराकाश को इङ्गित करते हुए कहा गया है कि 'अत्यन्त खेद है कि तत्त्वज्ञान से वञ्चित अज्ञानी जीवों के द्वारा स्वरूपभूत ब्रह्म की प्राप्ति वैसे ही नहीं की जाती, जैसे कि चिरन्तन मल की मोटी पर्त में

(छा० ८।३।२) इति। तत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्देनाभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानामभिधीयमाना दहरस्य ब्रह्मतां गमयति। तथा ह्यहरहर्जीवानां सुषुप्तावस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टं श्रुत्यन्तरे 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इत्येवमादौ। लोकेऽपि किल गाढं सुषुप्तमाचक्षते-'ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गतः' इति। तथा ब्रह्मलोकशब्दोऽपि प्रकृते दहरे प्रयुज्यमानो जीवभूताकाशशङ्कां निवर्तयन्ब्रह्मतामस्य गमयति। ननु कमलासनलोकमपि ब्रह्मलोकशब्दो गमयेत्। गमयेद्यदि ब्रह्मणो लोक इति षष्ठीसमासवृत्त्या व्युत्पाद्येत, सामानाधिकरण्यवृत्त्या

भामती

इत्यभिसन्धिमती साकूतमिव सखेदमिव श्रुतिः प्रवर्तते—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' इति। स्वापकाले हि सर्व एवायं विद्वानविद्वांश्च जीवलोको हृत्पुण्डरीकाश्रयं दहराकाशाख्यं ब्रह्मलोकं प्राप्तोऽप्यनाद्यविद्यातमःपटलविहितदृष्टितया ब्रह्मभूयमापन्नोऽहमस्मीति न वेद सोऽयं ब्रह्मलोकशब्दस्तद्गतिश्च प्रत्यहं जीवलोकस्य दहराकाशस्यैव ब्रह्मरूपलोकतामाहतुः। तदेतदाह भाष्यकारः ❀ इतश्च परमेश्वर एव दहरो यस्माद्दहरवाक्यशेषः इति ❀। तदनेन गतिशब्दौ व्याख्यातौ 'तथाहि दृष्टम्' इति सूत्रावयवं व्याचष्टे ❀ तथाह्यहरहर्जीवानाम् इति ❀। वेदे च लोके च ❀ दृष्टम् ❀। यद्यपि सुषुप्तस्य ब्रह्मभावे लौकिकं न प्रमाणान्तरमस्ति, तथापि वैदिकीमेव प्रसिद्धिं स्थापयितुमुच्यते ❀ इदृशी नामेयं वैदिकी प्रसिद्धिर्यल्लोकेऽपि गीयते इति ❀ः यथा श्रुत्यन्तरे यथा च लोके तथेह ब्रह्मलोकशब्दोऽपीति योजना। 'लिङ्गं च' इति सूत्रावयवव्याख्यानं चोद्यमुखेनावतारयति ❀ ननु कमलासनलोकमपि इति ❀। परिहरति ❀ गमयेद्यदि ब्रह्मणो लोकः इति ❀। अत्र तावन्निषादस्थपतिन्यायेन षष्ठीसमासात् कर्मधारयो बलीयानिति स्थितमेव, तथापीह षष्ठीसमासनिराकरणेन कर्मधारयस्थापनाय लिङ्गमप्यधिक-

भामती-व्याख्या

वेष्ठित सुवर्ण-खण्डों के ऊपर-ऊपर विचरते हुए भी पत्थर के टुकड़े समझ कर उनका ग्रहण नहीं कर पाते—ऐसा श्रुति कहती है "इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति" (छां. ८।३।१)। यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में यह (विद्वान् से लेकर अविद्वान् तक) समग्र जीव-वर्ग प्रत्येक दिन हृदय कमल में अवस्थित दहराकाशसंज्ञक ब्रह्म को प्राप्त करके भी अनादि अविद्यारूप तमःपटल से दृष्टि अवरुद्ध होने के कारण 'अहं ब्रह्म'—इस प्रकार का ज्ञान नहीं कर पाता। 'ब्रह्मलोक' शब्द एवं 'ब्रह्मलोक की प्राप्ति' ये दोनों दहराकाश को ही ब्रह्मलोक सिद्ध कर रहे हैं, भाष्यकार का यही कहना है—"इतश्च परमेश्वर एव दहरो यस्माद् दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादकौ गतिशब्दौ भवतः" इस भाष्य के द्वारा सूत्रस्थ गति (ब्रह्मलोक-प्राप्ति) और शब्द ('ब्रह्मलोक' शब्द) की व्याख्या की गई, अब 'तथा हि दृष्टम्'—इसकी व्याख्या की जाती है—"तथा ह्यहरहर्जीवानां सुषुप्त्यवस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टम्"। अर्थात् लोक और वेद में वैसा ही देखा जाता है। यद्यपि सुषुप्त जीव की ब्रह्मरूपता में लौकिक कोई प्रमाणान्तर उपलब्ध नहीं, तथापि वैदिक प्रसिद्धि की स्थापना में कहा जाता है कि यह वैदिक प्रसिद्ध है कि लोक में भी वैसा ही माना जाता है। जैसा अन्य श्रुतियों और लोक में प्रसिद्ध है, वैसा ही यह 'ब्रह्मलोक' शब्द भी दहराकाश के लिए प्रयुक्त होकर उसकी जीवरूपता का निराकरण करता है। सूत्र के 'लिङ्गं च'—इस शब्द की व्याख्या आक्षेपपूर्वक प्रस्तुत की जा रही है—"ननु कमलासनलोकमपि ब्रह्मलोकशब्दो गमयेत्।" इस आक्षेप का परिहार किया जाता है—"गमयेद् यदि ब्रह्मणो लोक इति षष्ठीसमासवृत्त्या व्युत्पाद्येत"। "स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात्" (जै. सू. ६।१।५१) इस सूत्र में यह स्थिर किया गया है कि 'निषादानां स्थपतिः'—इस प्रकार षष्ठी-तत्पुरुष की अपेक्षा

तु व्युत्पाद्यमानो ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परमेव ब्रह्म गमयिष्यति । एवदेव चाहरहर्ब्रह्मलोकगमनं दृष्टं ब्रह्मलोकशब्दस्य सामानाधिकरण्यवृत्तिपरिग्रहे लिङ्गम् । न ह्यहरहरिमाः प्रजाः कार्यब्रह्मलोकं सत्यलोकाख्यं गच्छन्तीति शक्यं कल्पयितुम् ॥ १५ ॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः । कथम् ? 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति हि प्रकृत्याकाशौपम्यपूर्वकं तस्मिन्सर्वसमाधानमुक्त्वा तस्मिन्नेव चात्मशब्दं प्रयुज्यापहतपाप्मत्वादिगुणयोगं चोपदिश्य तमेवानतिवृत्तप्रकरणं निर्दिशति—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय' छा० ८।४।१) इति । तत्र विधृतिरित्यात्मशब्दसामानाधिकरण्याद्विधारयितोच्यते; क्तिचः कर्तरि स्मरणात् । यथोदकसंतानस्य विधारयिता लोके सेतुः क्षेत्रसंपदामसंभेदाय, एवमयमात्मैषामध्यात्मादिभेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादीनां च विधारयिता सेतुरसंभेदायासंकरायेति । एवमिह प्रकृते दहरे विधारणलक्षणं महिमानं दर्शयति । अयं च महिमा परमेश्वर एव श्रुत्यन्तरादुपलभ्यते 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादेः । तथान्यत्रापि निश्चिते परमेश्वरवाक्ये श्रूयते 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' इति । एवं धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः ॥ १६ ॥

भामती

मस्तीति तदप्युक्तं सूत्रकारेण । तथाहि लोकवेदप्रसिद्धाहरहर्ब्रह्मलोकप्राप्त्यभिधानमेव लिङ्गं कमलासनलोकप्राप्तेर्विपक्षादसम्भवाद्व्यावर्त्तमानं षष्ठीसमासाशङ्कां व्यावर्त्तयद्दहराकाशप्राप्तावेवावतिष्ठते, न च दहराकाशो ब्रह्मणो लोकः, किन्तु तद्ब्रह्मेति । ब्रह्म च तल्लोकश्चेति कर्मधारयः सिद्धो भवति । लोक्यत इति लोकः । हृत्पुण्डरीकस्थः खल्वयं लोक्यते । यत् खलु पुण्डरीकस्थमन्तःकरणं तस्मिन्विशुद्धे प्रत्याहृतेतरकरणानां योगिनां निर्मल इवोदके चन्द्रमसो बिम्बमतिस्वच्छं चैतन्यं ज्योतिःस्वरूपं ब्रह्मावलोक्यत इति ॥ १५ ॥

सौत्रो धृतिशब्दो भाववचनः । धृतेश्च परमेश्वर एव दहराकाशः । कुतः ? अस्य धारणलक्षणस्य महिम्नोऽस्मिन्नेवेश्वर एव श्रुत्यन्तरेषूपलब्धेः । निगदव्याख्यानमस्य भाष्यम् ॥ १६ ॥

भामती–व्याख्या

'निषादश्चासौ स्थपतिः'—इस प्रकार कर्मधारय समास मानना उचित है । 'ब्रह्मलोक' शब्द में भी 'ब्रह्मणः लोको ब्रह्मलोकः'– ऐसा षष्ठी-तत्पुरुष समास न मान कर ब्रह्म च तल्लोकश्च ब्रह्मलोकः'–ऐसा कर्मधारय ही मानना न्याय-संगत है । इसी न्याय का उपोद्बलक लिङ्ग प्रमाण सूत्रकार ने प्रस्तुत किया है कि अहरहर्ब्रह्मलोक-गमन यह सिद्ध कर रहा है कि यहाँ 'ब्रह्मलोक' शब्द से कर्मधारयमूलक ब्रह्मरूप लोक का ग्रहण किया गया है । 'लोक्यत इति लोकः'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म को भी 'लोक' शब्द से अभिहित किया जा सकता है, क्योंकि वह हृत्पुण्डरीक में आलोकित है । हृदय कमल में जो अवस्थित अन्तःकरण है, उसके विशुद्ध हो जाने पर जो लोग बाह्य करणों (इन्द्रियों) को उनके विषय से हटाकर आत्मप्रवण कर लेते हैं, ऐसे योगिजनों के द्वारा निर्मल एवं स्थिर जल में स्वच्छ चन्द्र-प्रतिबिम्ब के समान अपने अन्तःकरण में चैतन्य-ज्योतिस्वरूप ब्रह्म अवलोकित होता है ॥ १५ ॥

''धृतेश्च महिम्नः'' इस सूत्र में प्रयुक्त 'धृति' शब्द 'धृञ् धारणे' धातु से ''स्त्रियां क्तिन्'' (पा. सू. ३।३।९४) इस सूत्र के द्वारा भावार्थक 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है । दहराकाश में द्यु और पृथिव्यादि की धृति (वृत्तिता) दहराकाश को परमेश्वर

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

इतश्च परमेश्वर एव 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्युच्यते। यस्कारणमाकाशशब्दः परमेश्वरे प्रसिद्धः। 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८।१४), 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छा० १।९।१), इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। जीवे तु न कचिदाकाशशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते। भूताकाशस्तु सत्यामप्याकाशशब्दप्रसिद्धावुपमानोपमेयभावाद्यसंभवान्न ग्रहीतव्य इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

भामती

न चेयमाकाशशब्दस्य ब्रह्मणि लक्ष्यमाणविभुत्वादिगुणयोगाद् वृत्तिः साम्प्रतिकी। यथा रथाङ्गनामा चक्रवाक इति लक्षणा, किन्त्वत्यन्तनिरूढेति सूत्रार्थः। ये त्वाकाशशब्दो ब्रह्मण्यपि मुख्य एव नभोवदित्याचक्षते, तैरन्यायश्चानेकार्थत्वमिति चानन्यलभ्यः शब्दार्थं इति च मीमांसकानां मुद्राभेदः कृतः। लभ्यते ह्याकाशशब्दाद्विभुत्वादिगुणयोगेनापि ब्रह्म। न च ब्रह्मण्येव मुख्यो नभसि तु तेनैव गुणयोगेन वर्त्स्यतीति वाच्यम्। लोकाधीनावधारणत्वेन शब्दार्थसम्बन्धस्य वैदिकपदार्थप्रत्ययस्य तत्पूर्वकत्वात्। ननु 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति व्यतिरेकनिर्देशान्न लक्षणा युक्ता। न हि

भामती–व्याख्या

सिद्ध कर रही है, क्योंकि विश्व की धृति परमेश्वर में ही प्रतिपादित है—"एतस्य वा प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" (बृह. उ. ३।८।९)। शेष भाष्य अत्यन्त सुगम है ॥१६॥

सूत्रकार ने जो 'आकाश' शब्द की प्रसिद्धि ब्रह्म में बताई है, वहाँ 'प्रसिद्धि' शब्द का अर्थ लक्षणा है। लक्षणा भी दो प्रकार की होती है—(१) साम्प्रतिकी और (२) निरूढ लक्षणा। जैसे 'रथाङ्ग' शब्द की चक्रवाक पक्षी में लक्ष्यमाण 'चक्र' शब्द से अविनाभूत चक्रवाक शब्द के योग से साम्प्रतिकी (आधुनिकी) लक्षणा होती है, वैसे ही 'आकाश' शब्द की स्वाभिधेय आकाशगत विभुत्व गुण के योग से ब्रह्म में आधुनिक लक्षणा नहीं, अपितु अनादि तात्पर्यावगाहिनी निरूढ लक्षणा मानी जाती है।

जिन आचार्यों का कहना है कि 'आकाश' पद की नभ में जैसे मुख्य (अभिधा) वृत्ति होती है, वैसे ही ब्रह्म में भी मानी जाती है। वे आचार्य मीमांसकों की इन अनुल्लङ्घनीय मर्यादाओं का स्पष्ट उल्लङ्घन कर डालते हैं कि अन्यायश्चानेकार्थत्वम्' (अनेक अर्थों में एक शब्द की मुख्य वृत्ति मानना अनुचित है) और "अनन्यलभ्यः शब्दार्थः" [शाबर भा. पृ. ९२१ पर भाष्यकार ने कहा है कि जो अर्थ लक्षणादि अन्य वृत्तियों से लब्ध हो जाता है, उस अर्थ में अभिधा वृत्ति नहीं मानी जाती] आकाश की लक्षणा वृत्ति से ब्रह्म का बोध हो जाता है, क्योंकि लक्षणा का नियामक आकाशवृत्तिविभुत्ववत्त्वरूप शक्य-सम्बन्ध ब्रह्म में विद्यमान है, अतः ब्रह्म में 'आकाश' पद की अभिधा वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं। 'आकाश' पद की ब्रह्म में ही मुख्य वृत्ति और नभ में ब्रह्मवृत्ति विभुत्व गुण के योग से लक्षणा वृत्ति क्यों न मान ली जाय ? इस प्रश्न का भी मण्डन मिश्र के शब्दों में इस प्रकार है—"लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः (ब्र. सि. पृ.)। लोक-व्यवहार में 'आकाश' शब्द कभी भी ब्रह्म का अभिधायक नहीं माना जाता, अतः 'आकाश' शब्द की मुख्य वृत्ति ब्रह्म में क्योंकर बनेगी ?

शङ्का—'गङ्गायां घोषः'—इत्यादि स्थलों पर गङ्गा और तट पदार्थ का 'गङ्गा इव गङ्गा'—इस प्रकार सादृश्यमूलक भेद निर्दिष्ट न होने के कारण 'गङ्गा' पद की तट में लक्षणा हो जाती है, किन्तु दहराकाश में आकाश का भेदमूलक सादृश्य दिखाया गया है—"यावान् वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः"। अतः दहराकाशरूप ब्रह्म में आकाश का व्यतिरेक

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥ १८ ॥

यदि वाक्यशेषबलेन दहर इति परमेश्वरः परिगृह्येतास्तीतरस्यापि जीवस्य वाक्यशेषे परामर्शः—'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ८।३।४) इति। अत्र हि संप्रसाद-शब्दः श्रुत्यन्तरे सुषुप्तावस्थायां दृष्टत्वात्तदवस्थावन्तं जीवं शक्नोत्युपस्थापयितुं नार्था-

भामती

भवति गङ्गायाः कूले विवक्षिते गङ्गाया गङ्गेति प्रयोगः। तत्किमिदानीं पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेता-मावास्यायाममावास्ययेत्यसाधुर्वैदिकः प्रयोगः? न च पौर्णमास्यमावास्याशब्दावाग्नेयादिषु मुख्यौ। यच्चोक्तं यत्र शब्दादनधिगतार्थप्रतीतिस्तत्र लक्षणा, यत्र पुनरन्यतोऽर्थे निश्चिते शब्दप्रयोगस्तत्र वाचकत्वमेवेति। तदयुक्तम्, उभयस्यापि व्यभिचारात्—सोमेन यजेतेति शब्दादर्थः प्रतीयते, न चात्र कस्यचिल्लाक्षणिकत्वमृते वाक्यार्थात्। न च 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते य एवं विद्वानमावास्याम्' इत्यत्र पौर्णमास्य-मावास्याशब्दौ न लाक्षणिकौ। तस्मान्नास्किंचिदेतदिति ॥ १७ ॥

सम्यक् प्रसीदत्यस्मिन् जीवो विषयेन्द्रियसंयोगजनितं कालुष्यं जहातीति सुषुप्तिः। सम्प्रसादो जीवस्यावस्थाभेदः न ब्रह्मणः। तथा शरीरात्समुत्थानमपि शरीराश्रयस्य जीवस्य, न त्वनाश्रयस्य ब्रह्मणः। तस्माद्यथा पूर्वोक्तैर्वाक्यशेषगतैर्लिङ्गैर्ब्रह्मावगम्यते दहराकाशः, एवं वाक्यशेषगताभ्यामेव सम्प्र-

भामती–व्याख्या

(भेद) प्रदर्शित हो जाने से ब्रह्म में 'आकाश' पद की लक्षणा कैसे हो सकेगी?

समाधान—'सर्वत्र लक्षणा-स्थल पर लक्ष्यार्थ का पृथक् निर्देश नहीं होना चाहिए'—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"—यहाँ पर एक 'आग्नेय' और दो 'ऐन्द्र'—इन तीन यागों के लिए 'दर्श' पद और आग्नेय, उपांशु एवं अग्नीषोमीय—इन तीन कर्मों के लिए 'पूर्णमास' शब्द लक्षणा वृत्ति से प्रयुक्त है। "अमावास्यायामावस्यया यजेत" (आप. प. २।१९) और "पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत"—यहाँ पर 'अमावास्या' पद की अमावास्या काल-सम्बन्ध और 'पौर्णमास' पद की पौर्णमास काल-सम्बन्ध में जो लक्षणा की जाती है, वह उपपन्न न हो सकेगी, क्योंकि अमावास्या और पौर्णमासी शब्दों के द्वारा उक्त काल-सम्बन्ध पृथक् निर्दिष्ट है। फलतः 'आकाश' पद की ब्रह्म में लक्षणा वृत्ति का कोई बाधक सम्भव नहीं।

यह जो कहा जाता है कि जहाँ पर शब्द के द्वारा अनधिगत अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ लक्षणा और जहाँ अन्य प्रमाण से अवगत अर्थ में शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ वाचकता (मुख्य वृत्ति) होती है। वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि उक्त दोनों नियमों में व्यभिचार उपलब्ध होता है—"सोमेन यजेत" (तै. सं. ३।२।२) इत्यादि स्थलों पर सोमलतारूप अनधिगत अर्थ की प्रतीति होने पर भी किसी पद को लाक्षणिक नहीं माना जाता, केवल वाक्यार्थ ही लक्ष्यमाण होता है। "य एवंविद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवंविद्वानमावास्यां यजते" (तै. सं. १।६।६।१) इत्यादि स्थलों पर "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" (तै. सं. २।६।३।३) इत्यादि वाक्यों के द्वारा अधिगत आग्नेयादि कर्मों में भी लक्षणा ही मानी जाती है, वाच्यता या मुख्य वृत्ति नहीं ॥ १७ ॥

'सम्यक् प्रसीदत्यस्मिन् जीवः'—ऐसी व्युत्पत्ति के द्वारा 'सम्प्रसाद' शब्द जीव की ही सुषुप्ति अवस्था का वाचक है, ब्रह्म की नहीं। शरीर से समुत्थान (विवेकज्ञान) भी जीव को ही होता है, अनाश्रयभूत ब्रह्म का नहीं। अतः जैसे पूर्वोक्त वाक्यशेषों के द्वारा दहराकाश की ब्रह्मरूपता अवगत होती है, वैसे ही वाक्यशेषावगत सम्प्रसाद और समुत्थान के द्वारा

न्तरम्। तथा शरीरव्यपाश्रयस्यैव जीवस्य शरीरात्समुत्थानं संभवति। यथाकाशव्यपाश्रयाणां वाय्वादीनामाकाशात्समुत्थानं, तद्वत्। यथा चादृष्टोऽपि लोके परमेश्वरविषय आकाशशब्दः परमेश्वरधर्मसमभिव्याहारात् 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्येवमादौ परमेश्वरविषयोऽभ्युपगतः, एवं जीवविषयोऽपि भविष्यति। तस्मादितरपरामर्शात् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इत्यत्र स एव जीव उच्यत इति चेत्, नैतदेवं स्यात्; कस्मात्? असंभवात्। नहि जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी सन्नाकाशेनोपमीयेत। नचोपाधिधर्माननभिमन्यमानस्यापहतपाप्मत्वादयो धर्माः संभवन्ति। प्रपञ्चितं चैतत्प्रथमसूत्रे। अतिरेकाशङ्कापरिहारायात्र तु पुनरुपन्यस्तम्। पठिष्यति चोपरिष्टात् 'अन्यार्थश्च परामर्शः' (ब्र० १।३।२०) इति ॥ १८ ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

इतरपरामर्शाद्या जीवाशङ्का जाता साऽसंभवान्निराकृता। अथेदानीं मृतस्येवामृतसेकात्पुनः समुत्थानं जीवाशङ्कायाः क्रियते— उत्तरस्मात्प्राजापत्याद्वाक्यात्। तत्र हि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च प्रतिज्ञाय 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' (छा० ८।७।४)

भामती

सादसमुत्थानाभ्यां दहराकाशो जीवः कस्मान्नावगम्यते? तस्मान्नास्ति विनिगमनेति शङ्कार्थः। ॐनासम्भवात्ॐ। सम्प्रसादसमुत्थानाभ्यां हि जीवपरामर्शो न जीवपरः, किन्तु तदीयतात्त्विकरूपब्रह्मभावपरः। तथा चैष परामर्शो ब्रह्मण एवेति न सम्प्रसादसमुत्थाने जीवलिङ्गम्, अपि तु ब्रह्मण एव तादर्थ्यादित्यग्रे वक्ष्यते। आकाशोपमानादयस्तु ब्रह्माव्यभिचारिणश्च ब्रह्मपराश्चेत्यस्ति विनिगमनेत्यर्थः ॥ १८ ॥

दहराकाशमेव प्रकृत्योपाख्यायते - यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् तमात्मानं विविदिषन्तौ सुरासुरराजाविन्द्रविरोचनौ समित्पाणी प्रजापतिं वरिवसितुमाजग्मतुः। आगत्य च द्वात्रिंशतं वर्षाणि तत्परिचरणपरौ ब्रह्मचर्यमूषतुः। अथैतौ प्रजापतिरुवाच—किं कामाविहस्थौ युवामिति। तावूचतुः—य आत्माऽपहतपाप्मा तमावां विविदिषाव इति। ततः प्रजापतिरुवाच—य एषोऽक्षिणि

भामती-व्याख्या

दहराकाश की जीवरूपता ज्ञात होती है। किसी एक पक्ष को सिद्ध करनेवाली विनिगमक युक्ति उपलब्ध नहीं—यह सूत्र में प्रदर्शित शङ्का का अर्थ है।

उक्त शङ्का का निरास करते हुए सूत्रकार ने कहा है—"न, असम्भवात्"। इसका आशय यह है कि सम्प्रसाद और समुत्थान के द्वारा जो जीव का परामर्श किया जाता है, वह उसके सोपाधिक स्वरूप का बोध कराने के लिए नहीं, अपितु उसकी तात्त्विक ब्रह्मरूपता का ज्ञान कराने के लिए ही है। फलतः सम्प्रसाद और समुत्थान का निर्देश ब्रह्मपरक ही है, क्योंकि ब्रह्म की अवगति में ही उसका पर्यवसान है—यह आगे कहा जायगा। आकाशोपमादि का निर्देश दहराकाश की ब्रह्मरूपता में विनिगमक है ॥ १८ ॥

दहराकाश के प्रकरण में ही कहा गया है —"यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् तमात्मानं विविदिषन्तौ सुरासुरराजौ इन्द्रविरोचनौ समित्पाणी प्रजापतिं वरिवसितुमाजग्मतुः" (छां. ८।७।२) अर्थात् जिस आत्मा के ज्ञान से सभी लोकों और सभी कामों (फलों) की प्राप्ति होती है, उस आत्मा की विविदिषा से सुरराज इन्द्र और असुरराज विरोचन दोनों अपने हाथों में समधादि उपहार लेकर प्रजापति की सेवा में पहुँचे। प्रजापति के चरणों में बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते रहे। एक दिन प्रजापति ने पूछ लिया कि आपलोग किस कामना से यहाँ हमारी सेवा कर रहे हैं? तब वे दोनों बोले कि जो आत्मा समस्त पापों से विनिर्मुक्त है, उसको हम जानना चाहते हैं। प्रजापति ने उत्तर में

भामती

पुरुषो दृश्यते एष आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुणः, यद्विज्ञानात्सर्वलोककामावाप्तिः। एतदमृतमभयम्। अथैतच्छ्रुत्वैतावप्रक्षीणकल्मषावरणतया छायापुरुषं जगृहतुः। प्रजापतिञ्च पप्रच्छतुः—अथ योऽयं भगवोऽप्सु दृश्यते यश्चादर्शे यश्च खड्गादौ कतम एतेष्वसावथ वैक एव सर्वेष्विति ? तमेतयोः श्रुत्वा प्रश्नं प्रजापतिर्बताहो सुदूरमुद्भ्रान्तावेतौ, अस्माभिरक्षिस्थान आत्मोपदिष्टः, एतौ च छायापुरुषं प्रतिपन्नौ, तद्यदि वयं भ्रान्तौ स्थ इति ब्रूमस्ततः स्वात्मनि समारोपितपाण्डित्यबहुमानौ विमानितौ सन्तौ दौर्मनस्येन यथावदुपदेशं न गृह्णीयाताम्, इत्यनयोराशयमनुरुध्य यथार्थं ग्राहयिष्याम इत्यभिसन्धिमान् प्रत्युवाच। उदशराव आत्मानमवेक्षेथामस्मिन्यत्पश्यथस्तत्तद्ब्रूतमिति। तौ च दृष्ट्वा सन्तुष्टहृदयौ नाब्रूताम्। अथ प्रजापतिरेतौ विपरीतग्राहिणौ मा भूतामित्याशयवानपप्रच्छ—किमत्रापश्यतमिति। तौ होचतुः। यथैवावामतिचिरब्रह्मचर्यचरणसमुपजातायतनखलोमादिमन्तावेवमावयोः प्रतिरूपकं नखलोमादिमदुदशरावेऽपश्यावेति। पुनरेतयोश्छायात्मविभ्रममपनिनीषुर्यथैव हि छायापुरुष उपजनापायधर्मा भेदेनावगम्यमान आत्मलक्षणविरहान्नात्मैवमेवेदं शरीरं नात्मा, किन्तु ततो भिन्नमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेतौ जानीयातामित्याशयवान् प्रजापतिरुवाच। साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वा पुनरुदशरावे पश्यतमात्मानम्, यच्चात्र पश्यथस्तद् ब्रूतमिति। तौ च साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ छिन्ननखलोमानौ भूत्वा तथैव चक्रतुः।

भामती—व्याख्या

कहा—"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" अर्थात् यह जो आँख में प्रतिबिम्ब पुरुष दिखाई देता है, यह वह निष्पाप आत्मा है, जिसके ज्ञान से सभी लोकों की प्राप्ति होती है, यह अमृत और अभय पद है। प्रजापति के उस उपदेश के अनुसार इन्द्र और विरोचन दोनों ने उस छायापुरुष को आत्मा मान लिया और प्रजापति से फिर पूछा कि 'भगवन् यह जो जल में, आदर्श (दर्पण) में और जो खड्गादि स्वच्छ पदार्थों में छायापुरुष दिखाई देता है, इन सबमें कोई एक ही वह आत्मा है ? अथवा सभी में एक ही है ?' उन दोनों के इस प्रश्न को सुनकर प्रजापति ने अपने मन में कहा कि बड़े खेद की बात है कि ये दोनों भ्रम में पड़ कर लक्ष्य से दूर चले गये। हमने अक्षिरूप उपाधि के माध्यम से आत्मा का उपदेश किया था, किन्तु ये लोग तो छाया पुरुष को ही आत्मा मान बैठे। अब इनको हम यदि यह कहते हैं कि आपलोग भ्रान्त हो गए। तब इन लोगों ने जो अपने में पाण्डित्य और बहुमान का आरोप (अभिमान) कर रखा है, उसको ठेस पहुँचती है और हममें दौर्मनस्य (हीन भावना या अश्रद्धा) उत्पन्न हो जाने के कारण ये हमारा कोई भी उपदेश न सुनेंगे। अतः इनके आशय के अनुरूप ही यथार्थ लक्ष्य का ग्रहण कराएँगे। ऐसा गुप्त भाव मन में रख कर प्रजापति ने उनको सुनाकर कहा—आप लोग जल से भरे प्याले में आत्मा को देखें, वहाँ क्या दिखाई देता है ? कहिए। उन दोनों ने जल में जो देखा, उसमें ही सन्तुष्ट थे, अतः वे कुछ नहीं बोले। प्रजापति ने सोचा कि कहीं ये कुछ विपरीत हो न समझ बैठें, अतः पूछा—जल में क्या देखा ? उत्तर में वे दोनों बोले—जैसे हम लोग बहुत समय तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते-करते बड़े-बड़े नख और बालों वाले हो गए हैं, वैसा ही जल में प्रतिबिम्ब देख रहे हैं। प्रजापति ने पुनः छाया में आत्मत्व-भ्रम को दूर करने की इच्छा से मन में सोचा कि जैसे छायापुरुष उत्पत्ति-विनाशशाली धर्मों के भेद से भिन्न प्रतीयमान होने के कारण आत्मा नहीं, वैसे ही यह शरीर भी आत्मा नहीं, अपितु उससे भिन्न है—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ये (इन्द्र और विरोचन) दोनों वास्तविक आत्मा को जान लें—ऐसी शुभाशंसा मन में रख कर प्रजापति ने कहा—यदि कोई दो युवा पुरुष बढ़े नख और लोमादि कटा कर अपने को बहुमूल्य अलङ्कारों से अलंकृत एवं सज-ध दर्पण के सामने खड़े होकर अपना प्रतिबिम्ब देखें, तो वे क्या देखेंगे ? इसका उत्तर उन दो.

इति ब्रुवन्नक्षिस्थं द्रष्टारं जीवमात्मानं निर्दिशति । 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) इति च तमेव पुनः पुनः परामृश्य 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा' (छा० ८।१०।१) इति 'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा' (छा० ८।११।१) इति च जीवमेवावस्थान्तरगतं व्याचष्टे । तस्यैव चापहतपा-

भामती

पुनश्च प्रजापतिना पृष्टौ तामेव छायामात्मन ऊचतुः । तदुपश्रुत्य प्रजापतिरहो बताद्यापि न प्रशान्त एनयोर्विभ्रमः, तद्यथाभिमतमेवात्मतत्त्वं कथयामि तावत् । कालेन कल्मषे क्षीणेऽस्मद्वचनसन्दर्भपौर्वा-पर्य्यालोचनयाऽऽत्मतत्त्वं प्रतिपत्स्येते स्वयमेवेति मत्वोवाच—एष आत्मैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति । तयो-र्विरोचनो देहानुपातित्वाच्छायाया देह एवात्मतत्त्वमिति मत्वा निजसदनमागत्य तथैवासुराननुपदिदेश । देवेन्द्रस्त्वप्राप्तनिजसदनोऽध्वन्येव किञ्चिद्विरलकल्मषतया छायात्मनि शरीरगुणदोषानुविधायिनि तं तं दोषं परिभावयन् नाहमत्र छायात्मदर्शने भोग्यं पश्यामीति प्रजापतिसमीपं समित्पाणिः पुनरेवेयाय । आगतश्च प्रजापतिनाऽऽगमनकारणं पृष्टः पथि परिभावितं जगाद । प्रजापतिस्तु सुव्याख्यातमप्यात्मतत्त्व-मक्षीणकल्मषावरणतया नाग्रहीस्तत् पुनरपि तत्प्रक्षयाय चरापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमथ प्रक्षीणकल्मषाय ते अहमेतमेवात्मानं भूयोऽनुव्याख्यास्यामीत्यवोचत् । स च तथा चरितब्रह्मचर्यः सुरेन्द्रः प्रजापतिमुपससाद । उपसन्नाय चास्मै प्रजापतिर्व्याचष्टे, य आत्माऽपहतपाप्मादिलक्षणोऽक्षिणि दर्शितः

भामती–व्याख्या

ने दिया कि भली-भाँति परिष्कृत और अलंकृत व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब भी वैसा ही देखेंगे। उस उत्तर को सुन कर प्रजापति ने अपने मन में कहा कि बड़े खेद का विषय है कि अभी भी इन दोनों का भ्रम दूर नहीं हुआ, अतः फिर प्रयत्न करना चाहिए कि अभिमत आत्मतत्त्व को जान लें। इनका कल्मष (ज्ञान-प्रतिबन्धक पाप) निवृत्त होने पर स्वयं ही हमारे उपदेश के पूर्वापर सन्दर्भ की आलोचना कर आत्मज्ञान प्राप्त कर लेंगे—ऐसा सोच कर प्रजापति ने कहा—"एष आत्मा, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति"। इस उपदेश को दोनों ने सुना। उनमें से विरोचन ने छाया में देह का अनुवर्तन देख कर देह को ही आत्मतत्त्व मान लिया और अपने घर लौट कर अपनी असुर प्रजा को वैसा ही उपदेश दिया किन्तु देवराज इन्द्र का अपने घर पहुँचने से पहले मार्ग में ही प्रजापति के उपदेश की अनुचिन्तना करते-करते कुछ अन्तःकालुष्य क्षीण हो गया, उसने छायात्मा में शरीर के गुण-दोषों का अनुविधान देखा और उस पक्ष में दोषों की उद्भावना प्रबल हो गई और अन्तःप्रेरणा हुई कि छायापुरुष का पक्ष कल्याणप्रद नहीं, अतः पुनः प्रजापति की सेवा में समित्पाणि होकर इन्द्र उपस्थित हो गया। प्रजापति के द्वारा पुनः आगमन का कारण पूछे जाने पर इन्द्र ने मार्ग में अपनी समस्त उधेड़-बुन की पूरी गाथा कह सुनाई। प्रजापति ने कहा कि आपका ज्ञान-प्रतिबन्धकीभूत अन्तः कालुष्य निवृत्त न होने के कारण आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके, अतः उस पाप का क्षय करने के लिए फिर और बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करें। प्रतिबन्धकीभूत पाप की निवृत्ति हो जाने पर पुनः आत्मतत्त्व का उपदेश करेंगे। इन्द्र ने वैसा ही किया। प्रजापति ने अपनी शरण में आए हुए इन्द्र को उपदेश दिया कि 'जो निष्पापादिरूप परमात्मा नेत्र में दिखाया था, वही स्वप्न में अपने विस्तृत पुत्र, पौत्र और स्त्री के साथ स्वप्नोचित भोग भोगता हुआ विहरण करता है।' प्रजापति के द्वारा निर्दिष्ट स्वप्न-पुरुष को भी आत्मा समझने में इन्द्र को भय बना रहा। यद्यपि यह (स्वप्नपुरुष) छायापुरुष के समान शरीर के धर्मों का अनुवर्तन नहीं करता, तथापि शोक-भयादि विविध बाधाओं से वह भी उन्मुक्त नहीं—ऐसा इन्द्र के कहने पर प्रजापति ने कहा—यदि अब भी आप को ज्ञान नहीं हुआ, तब और

भामती

सोऽयं य एष स्वप्ने महीयमानो वनितादिभिरनेकधा स्वप्नोपभोगान् भुञ्जानो विहरतीति । अस्मिन्नपि देवेन्द्रो भयं ददर्श । यद्यप्ययं छायापुरुषवन्न शरीरधर्माननुपतति, तथापि शोकभयादिविविधबाधानुभवान्न तत्राप्यस्ति स्वस्तिप्राप्तिरित्युक्तवति मघवति पुनरपराणि चर द्वात्रिंशतं वर्षाणि स्वच्छं ब्रह्मचर्यमिदानीमप्यक्षीणकल्मषोऽसीत्यूचे प्रजापतिः । अथास्मिन्नेवङ्कारमुपसन्ने मघवति प्रजापतिरुवाच—य एष आत्माऽपहतपाप्मादिगुणो दर्शितोऽक्षिणि च स्वप्ने च स एव यो विषयेन्द्रियसंयोगविरहात्प्रसन्नः सुषुप्तावस्थायामिति । अत्रापि नेन्द्रो निर्ववार । यथा हि जाग्रद्वा स्वप्नगतो वाऽयमहमस्मीति इमानि भूतानि चेति विजानाति नैवं सुषुप्तः किञ्चिदपि वेदयते तदा खल्वयमचेतयमानोऽभावं प्राप्त इव भवति । तदिह का निर्वृत्तिरिति । एवमुक्तवति मघवति वताद्यापि न ते कल्मषक्षयोऽभूत् । तत् पुनरपराणि चर पञ्च वर्षाणि ब्रह्मचर्यमित्यवोचत्प्रजापतिः । तदेवमस्य मघोनस्त्रिभिः पर्यायैर्व्यतीयुः षण्णवतिर्वर्षाणि । चतुर्थे च पर्याये पञ्च वर्षाणीत्येकोत्तरं शतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यं चरतः सहस्राक्षस्य सम्पेदिरे । अथास्मै ब्रह्मचर्यसंपदुन्मृदितकल्मषाय मघवते य एषोऽक्षिणि यश्च स्वप्ने यश्च सुषुप्तावनुस्यूत एष आत्माऽपहतपाप्मादिगुणो दर्शितः तमेव मघवन् मर्त्यं वै शरीरमित्यादिना विस्पष्टं व्याचष्ट प्रजापतिः ।

अयमस्याभिसन्धिः—यावत् किञ्चित् सुखं दुःखमागमापायि तत् सर्वं शरीरेन्द्रियान्तःकरणसम्बन्धि, न त्वात्मनः । स पुनरेतानेव शरीरादीन् अनाद्यविद्यावासनावशादात्मत्वेनाभिप्रतीतस्तद्गतेन सुखदुःखेन तद्वन्तमात्मानमनुमन्यमानोऽनुतप्यते । तदा स्वयमपहतपाप्मादिलक्षणमुदासीनमात्मानं देहादिभ्यो विविक्तमनुभवति, अथास्य शरीरवतोऽप्यशरीरस्य न देहादिधर्मसुखदुःखप्रसङ्गोऽस्तीति नानुतप्यते,

भामती—व्याख्या

बत्तीस वर्ष का ब्रह्मचर्य-वास धारण करें, क्योंकि आपके अन्तस्तल का मल और विक्षेप अभी तक निवृत्त नहीं हुआ है। इन्द्र ने वैसा ही किया। विधिवत् उपसन्न (शरणागत) इन्द्र को प्रजापति ने उपदेश दिया कि जो अपहतपाप्मत्वादि गुणों से युक्त आत्मा आँख (जाग्रत् अवस्था) में और स्वप्न अवस्था में प्रदर्शित किया गया, वही यह आत्मा सुषुप्ति अवस्था में विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से रहित हो जाने के कारण सुप्रसन्न हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था की इस साधारण जन-सुलभ अनुभूति से भी इन्द्र को निर्वृत्ति (सुख-शान्ति) नहीं हुई। उसने कहा –'जैसे जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में 'अहमस्मि' एवं 'इमानि भूतानि'— ऐसी अनुभूति होती है, सुषुप्ति अवस्था में तो वह भी अनुभूत नहीं होती, क्योंकि इस अवस्था में पुरुष खो जाता विलुप्त-सा हो जाता है, तब यहाँ क्या सुख-शान्ति है?' ऐसा सुनकर प्रजापति ने कहा कि 'महान् खेद है कि अभी भी आपका कल्मष (पाप) समाप्त नहीं हुआ, अतः और पाँच वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत धारण करें। इस प्रकार पहले तीन पर्यायों में इन्द्र के ३२ × ३ = ९६ छानवे वर्ष बीत चुके थे, चौथे पर्याय में पाँच वर्ष, सब मिला कर एक सौ एक वर्ष हो गए। तब जाकर उसके सकल कल्मष (प्रतिबन्धक पाप) प्रक्षीण हुए, प्रजापति का उपदेशामृत पान किया—'जो आत्मा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में अपहतपाप्मत्वादि गुणों से युक्त सर्वत्र अनुस्यूत प्रतीत होता है, हे इन्द्र ! ''मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'' (छां. ८।१२।१)। तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी सुख और दुःख आगमपायी (आने-जानेवाला विनश्वर) है, वह सब शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से ही सम्बन्धित है, आत्मा से नहीं। वह आत्मा अनादि अविद्या-वासनाओं के आधार पर शरीरादि अनात्म पदार्थों को अपना ही स्वरूप मान कर शरीरादि के सुख-दुःखों को अपना ही सुख-दुःख मान कर सन्तप्त होता रहता है। वही आत्मा जब अपने को अपहतपाप्मत्वादि-स्वरूप उदासीन (तटस्थ) और देहादि से असङ्ग अनुभव

पमत्वादि दर्शयति—'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' इति। नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' (छा० ८।११।१,२) इति च सुषुप्तावस्थायां दोषमुपलभ्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इति चोपक्रम्य, शरीरसंबन्धनिन्दापूर्वकं 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः' इति जीवमेव शरीरात्समुत्थितमुत्तमपुरुषं दर्शयति। तस्मादस्ति संभवो जीवे पारमेश्वराणां धर्माणाम्। अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति जीव एवोक्त इति चेत्कश्चिद् ब्रूयात्। तं प्रति ब्रूयात् 'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इति।

भामती

केवलमयं निजे चैतन्यानन्दघने रूपे व्यवस्थितः समस्तलोककामान् प्राप्तो भवति। एतस्यैव हि परमानन्दस्य मात्राः सर्वे कामाः, दुःखं त्वविद्यानिर्माणमिति न विद्वानाप्नोति। अशीलितोपनिषदां व्यामोह इव जायते, तेषामनुग्रहायैवमुपाख्यानमवर्तयम् ॥ एवं व्यवस्थित उत्तराद्वाक्यसन्दर्भात् प्राजापत्यादक्षिणि च स्वप्ने च सुषुप्ते च चतुर्थे च पर्याये एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरादुत्थायेति जीवात्मैवापहतपाप्मादिगुणः श्रुत्योच्यते। नो खलु परस्याक्षिस्थानं सम्भवति, नापि स्वप्नाद्यवस्थायोगः, नापि शरीरात् समुत्थानम्। तस्माद्यस्यैतत् सर्वं सोऽपहतपाप्मादिगुणः श्रुत्योक्तः। जीवस्य चैतत् सर्वमिति स एवापहतपाप्मादिगुणः श्रुत्योक्त इति नापहतपाप्मादिभिः परं ब्रह्म गम्यते। ननु जीवस्यापहतपाप्मत्वादयो न सम्भवन्तीत्युक्तम्। वचनाद्भविष्यन्ति। किमिव वचनं न कुर्यात्? नास्ति वचनस्यातिभारः। न च मानान्तरविरोधः। नहि जीवः पाप्मादिस्वभावः, किन्तु वाग्बुद्धिशरीरारम्भसम्भवोऽस्य पाप्मादिः शरीराद्यभावे न भवति धूम इव धूमध्वजाभाव इति शङ्कार्थः।

भामती–व्याख्या

करता है, वह शरीर रहते हुए भी अशरीर होकर देहादि के सुख-दुःखों से रहित और विविक्त मानता और सन्ताप से उन्मुक्त हो जाता है। वह अपने विशुद्ध चैतन्यानन्द स्वरूप में व्यवस्थित होकर समस्त लोकों और फलों को पा लेता है। इस परमानन्दघन की ही सुख-कणिकाएँ निखिल कर्मों और उपासनाओं से जनित फलों में उपलब्ध होती है। दुःख अविद्या का कार्य होने के कारण विद्वान् पुरुष का स्पर्श नहीं कर सकता।

अशीलितोपनिषदां व्यामोह इह जायते।
तेषामनुग्रहायैदमुपाख्यानमवर्तयम् ॥

'श्रुत्युक्त इन्द्र, विरोचनादि का उपाख्यान सरल शब्दों में इस लिए हम (वाचस्पति मिश्र) ने कह दिया है कि जो लोग उपनिषत् ग्रन्थों का समुचित अनुशीलन नहीं कर पाते, उन्हें कई स्थलों पर व्यामोह (भ्रम) हो जाता है, जिससे वे वास्तविक रहस्य तक नहीं पहुँच पाते।'

पूर्वपक्षी का आशय यह है कि अक्षि, स्वप्न और सुषुप्ति में जिस आत्मतत्त्व का वर्णन कर "एष सम्प्रसादो शरीरात् समुत्थाय"—इत्यादि वाक्यों से जिसकी विशेषताएँ वर्णित की हैं, वह जीवात्मा ही अपहतपाप्मादि गुणोंवाला श्रुति-प्रतिपादित है, परमात्मा नहीं, क्योंकि परमात्मा का न तो अक्षिस्थान हो सकता है, न स्वप्नादि अवस्था से सम्बन्ध और न शरीर से समुत्थान। फलतः अपहतपाप्मत्वादि गुणों के द्वारा परब्रह्म की अवगति नहीं हो सकती। 'जीव में अपहतपाप्मत्वादि गुण समञ्जस क्योंकर होंगे?' ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि श्रुति वचन के द्वारा उसका जीव में सामञ्जस्य हो जायगा। प्रमाण वचन क्या नहीं कर सकता 'नास्ति वचनस्यातिभारः' शब्द की प्रतिपादन और उपपादन की शक्ति असीम है, उसके लिए कुछ असम्भव नहीं। जीव में अपहतपाप्मत्वादि गुणों के प्रतिपादन का कोई प्रमाणान्तर विरोधी भी नहीं, क्योंकि किसी प्रमाण के द्वारा जीव में पाप्मादिस्वभावता सिद्ध

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवस्याशङ्का संभवतीत्यर्थः। कस्मात्? यतस्तत्राप्याविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते। आविर्भूतं स्वरूपमस्येत्याविर्भूतस्वरूपः। भूतपूर्वगत्या जीववचनम्। एतदुक्तं भवति – 'य एषोऽक्षिणि' इत्यक्षिलक्षितं द्रष्टारं निर्दिश्योदशरावब्राह्मणेनैनं शरीरात्मताया व्युत्थाप्य 'एतं त्वेव ते' इति पुनःपुनः तमेव व्याख्येयत्वेनाकृष्य स्वप्नसुप्तोपन्यासक्रमेण 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति यदस्य पारमार्थिकं स्वरूपं परं ब्रह्म तद्रूपतयैनं जीवं व्याचष्टे, न जैवेन रूपेण। यत्तत्परं ज्योतिरुपसंपत्तव्यं श्रुतं तत्परं ब्रह्म। तच्चापहतपाप्मत्वादिधर्मकं, तदेव च जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूपं 'तत्त्वमसि' इत्यादिशास्त्रेभ्यः, नेतरदुपाधिकल्पितम्। यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन्कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते, तावज्जीवस्य जीवत्वम्। यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघाताद् व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते, नासि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातः, नासि संसारी, किं तर्हि? तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपस्तत्त्वमसीति, तदा कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्यास्माच्छरीराद्यभि-

भामती

निराकरोति ॐ तं प्रतिब्रूयात्, आविर्भूतस्वरूपस्तु ॐ। अयमभिसन्धिः—पौर्वापर्यपर्यालोचनया तावदुपनिषदां शुद्धबुद्धमुक्तमेकमप्रपञ्चं ब्रह्म तद्व्यतिरिक्तं च सर्वं तद्विवर्त्तो रज्जोरिव भुजङ्ग इत्यत्र तात्पर्यमवगम्यते। तथा च जीवोऽप्यविद्याकल्पितदेहेन्द्रियाद्युपहितं रूपं ब्रह्मणो न तु स्वाभाविकः। एवं च नापहतपाप्मत्वादयस्तस्मिन्नविद्योपाधौ सम्भविनः। आविर्भूतब्रह्मरूपे तु निरुपाधौ सम्भवन्तो ब्रह्मण एव न जीवस्य। एवञ्च ब्रह्मैवापहतपाप्मादिगुणं श्रुत्युक्तमिति तदेव दहराकाशो न जीव इति। स्यादेतत्—स्वरूपाविर्भावः चेत् ब्रह्मैव न जीवः, तर्हि विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते, जीव आविर्भूतस्वरूप इत्यत आह ॐ भूतपूर्वगत्या इति ॐ। ॐ उदशरावब्राह्मणेन इति ॐ। यथैव हि मघोनः प्रतिबिम्बान्युदशराव उपजनापायधर्मकाण्यात्मलक्षणविरहान्नात्मा, एवं देहेन्द्रियाद्यप्युपजनापायधर्मकं नात्मेत्युदशरावदृष्टान्तेन

भामती–व्याख्या

नहीं की गई, पाप्मादि तो जीव के वाक्, बुद्धि और शरीर की क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं, शरीरादि का अभाव हो जाने पर पाप्मादि का भी अभाव हो जाता है।

पूर्वपक्ष का निराकरण किया जाता है—"तं प्रति ब्रूयात्, आविर्भूतस्वरूपस्तु"। आशय यह है कि पूर्वापरवाक्यों की आलोचना से उपनिषत् ग्रन्थों का तात्पर्य यही निश्चित होता है कि एकमात्र ब्रह्म शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और निष्प्रपञ्चैकस्वभाव सत्य है। उससे भिन्न समस्त प्रपञ्च ब्रह्म का वैसे ही विवर्त है, जैसे रज्जु का सर्प। जीव भी अविद्या-कल्पित देह, इन्द्रियादि उपाधियों से संवलित ब्रह्म का रूप है, स्वाभाविक नहीं, अतः उस अविद्योपाधिक जीव में अपहतपाप्मत्वादि गुण सम्भव नहीं। जब जीव अविद्या-रहित होकर ब्रह्म के रूप में अविभूँत हो जाता है, तब वे गुण सम्भावित होकर ब्रह्म के ही कहे जाते हैं, जीव के नहीं। श्रुति ने अपहतपाप्मत्वादि गुण ब्रह्म के ही बताए हैं, अतः ब्रह्म ही दहराकाश है, जीव नहीं।

'आविभूतस्वरूपः' का अर्थ है–आविर्भूतं स्वरूपं यस्य, स आविर्भूतस्वरूपः—इस प्रकार अन्य पदार्थ ब्रह्म या परमेश्वर सिद्ध होता है, अतः 'आविभूतस्वरूपः परमेश्वरः'—ऐसा कहना था, किन्तु 'आविर्भूतस्वरूपो जीवः'—ऐसा क्यों कहा? इस प्रश्न का उत्तर है—"भूतपूर्वगत्या जीववचनम्"। ब्रह्म ही अपनी पूर्व (अविद्यावत्ता की) अवस्था में जीव कहलाता है, अतः ब्रह्म को ही पूर्वावस्थापत्ति के दृष्टिकोण से जीव कह दिया गया है। भाष्यकार ने जो कहा है कि "उदशरावब्राह्मनेनैनं शरीरात्मताया व्युत्थाप्य"। उसका आशय यह है कि इन्द्र को उदकादिगत प्रतिबिम्ब दिखा कर यह समझाया गया कि जैसे

मानात्समुत्तिष्ठन्स एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति, 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तदेव चास्य पारमार्थिकं स्वरूपं येन शरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत इति संभवति कूटस्थनित्यस्य ? सुवर्णादीनां तु द्रव्यान्तरसंपर्कादभिभूतस्वरूपाणामनभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां क्षारप्रक्षेपादिभिः शोध्यमानानां स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्। तथा नक्षत्रादीनामहन्यभिभूतप्रकाशानामभिभावकवियोगे रात्रौ स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्। न तु तथात्मचैतन्यज्योतिषो नित्यस्य केनचिदभिभवः संभवत्यसंसर्गित्वाद् व्योम्न इव, दृष्टविरोधाच्च। दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम्। तच्च शरीरादसमुत्थितस्यापि जीवस्य सदा निष्पन्नमेव दृश्यते। सर्वो हि जीवः पश्यञ्छृण्वन्मन्वानो विजानन् व्यवहरति; अन्यथा व्यवहारानुपपत्तेः। तच्चेच्छरीरात्समुत्थितस्य निष्पद्येत, प्राक्समुत्थानाद् दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत। अतः किमात्मकमिदं शरीरात्समुत्थानं, किमात्मिका वा स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरिति ?

अत्रोच्यते,—प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिःस्वरूपं भवति। यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छ्यं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति।

भामती

शरीरात्मताया व्युत्थानं बाध इति। चोदयति ® कथं पुनः स्वञ्च रूपम् इति ®। द्रव्यान्तरसंसृष्टं हि तेनाभिभूतं तस्माद्विविच्यमानं व्यज्यते हेमतारकादि, कूटस्थनित्यस्य पुनरन्येना—संसृष्टस्य कुतो विवेचनादभिव्यक्तिः। न च संसारावस्थायां जीवोऽनभिव्यक्तः, दृष्ट्यादयो ह्यस्य स्वरूपं, ते च संसारावस्थायां भासन्त इति कथं जीवरूपं न भासत इत्यर्थः। परिहरति ® प्राग्विवेकज्ञानोत्पत्तेः इति ®। अयमर्थः। यद्यप्यस्य कूटस्थनित्यस्यान्यसंसर्गो न वस्तुतोऽस्ति। यद्यपि च संसारावस्थायामस्य दृष्ट्यादिरूपञ्चकोऽस्ति, तथाप्यनिर्वाच्यानाद्यविद्यावशादविद्याकल्पितैरेव देहेन्द्रियादिभिरसंसृष्टमपि संसृष्टमिव विविक्तमप्यविविक्त-

भामती-व्याख्या

प्रतिबिम्ब पदार्थ उत्पत्ति-विनाशशील होने के कारण आत्मा नहीं, वैसे ही देह, इन्द्रियादि भी उत्पाद और विनाशरूप धर्मवाले होने के कारण आत्मा नहीं माने जा सकते—इस प्रकार शरीरगत आत्मत्व की धारणा से इन्द्र को व्युत्थित किया (ऊपर उठाया) गया।

आक्षेपवादी आक्षेप करता है—"कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव निष्पद्यते ?" आक्षेपवादी का अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ किसी द्रव्यान्तर से वेष्ठित या संसृष्ट होकर अन्यथा प्रतीत होता हैं, वह द्रव्यान्तर से विविक्त (पृथक) हो कर अपने रूप में आविर्भूत कहा जाता है, जैसे स्वर्ण खण्ड मिट्टी से एवं नक्षत्र सौर्य तेज से वियुक्त होकर अपने स्वरूप में आविर्भुत माने जाते है, किन्तु कूटस्थ नित्य असङ्ग आत्मा का द्रव्यान्तर से सङ्ग वा संसर्ग ही नहीं होता, किसके वियोग में आविर्भूत या अभिव्यक्त होगा ? संसारावस्था में जीव अनभिव्यक्त है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि चाक्षुषादि वृत्तियों में अभिव्यक्त चैतन्यरूप दृष्टि, श्रुति और विज्ञाप्ति आदि ही तो जीव का स्वरूप है। संसारावस्था में भी जीव उस रूप से अवभासित ही होता है, अनभिव्यक्त नहीं।

उक्त आक्षेप का परिहार किया जाता है—"प्राग् विवेकज्ञानोत्पत्तेः"। सारांश यह है कि यद्यपि इस कूटस्थ, नित्य, असङ्ग आत्मा का वस्तुतः अन्य द्रव्य से संसर्ग नहीं होता एवं संसारावस्था में वह दृष्ट्यादि-रूप से अवभासित भी है। तथापि अनिर्वचनीय अनादि अविद्या के सम्बन्ध से एवं अविद्या-द्वारा कल्पित देहेन्द्रियादि से संसृष्ट-जैसा, शुद्ध होता हुआ भी अशुद्ध-

प्रमाणजनितविवेकग्रहणात्तु पराचीनः स्फटिकः स्वाच्छ्येन शौक्ल्येन च स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव सन्। तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो

भामती

मिव दृष्ट्यादिरूपमस्य प्रथते। तथा च देहेन्द्रियादिगतैस्तापादिभिस्तापादिमद्विव भवतीति। उपपादितञ्चैतद्विस्तरेणाध्यासभाष्य इति नेहोपपाद्यते। यद्यपि स्फटिकादयो जपाकुसुमादिसन्निहिताः, सन्निधानञ्च संयुक्तसंयोगात्मकम्, तथा च संयुक्ताः, तथापि न साक्षाज्जपादिकुसुमसंयोगिन इत्येतावता दृष्टान्तता इति। ● वेदनाः ● हर्षभयशोकादयः। दार्ष्टान्तिके योजयति ● तथा देहादि इति ●। सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्येतद्विभजते ● श्रुतिकृतं विवेकविज्ञानम् इति ●। तदनेन श्रवणमननध्यानाभ्यासाद्विवेकज्ञानमुक्त्वा तस्य विवेकविज्ञानस्य फलं केवलात्मरूपसाक्षात्कारः, स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः। स च साक्षात्कारो वृत्तिरूपः प्रपञ्चमात्रं प्रविलापयन् स्वयमपि प्रपञ्चरूपत्वात् कतकफलवत् प्रलीयते। तथा च निर्मृष्टनिखिलप्रपञ्चजालमनुपसंसर्गमपराधीनप्रकाशमात्मज्योतिः सिद्धं भवति। तदिदमुक्तं ● परं ज्योतिरुपसम्पद्य इति ●। अत्र चोपसम्पत्तावुत्तरकालायामपि

भामती-व्याख्या

जैसा प्रतीत होता है। फलतः देहेन्द्रियादिगत ताप के द्वारा संतप्त-जैसा हो जाता है। अध्यासभाष्य में इस विषय का उपपादन विस्तार से किया जा चुका है, अतः यहाँ उसका पिष्ट-पेषण नहीं किया जाता।

यद्यपि स्फटिकादि पदार्थ जपाकुसुमादि उपाधियों से सन्निहित हैं और सन्निधान है—संयुक्तसंयोगात्मक [जपाकुसुम साक्षात् स्फटिक से जुड़ा नहीं, अपितु जिस भूतल पर स्फटिक है, उसके समीप है, अतः स्फटिक-संयुक्त भूतल का संयोग जपाकुसुम के साथ है]। यद्यपि असंसृष्ट आत्मा की पररूपापत्ति और स्वरूपाभिव्यक्ति में जो दृष्टान्त दिया गया है—स्फटिकादि, वह जपाकुसुमादि से संसृष्ट (संयुक्त) होकर ही रक्त और जपाकुसुम के हट जाने पर अपने स्वच्छ शुक्लरूप में अभिव्यक्त होता है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की एकरूपता उपपन्न नहीं होती। तथापि स्फटिक का जपाकुसुम के साथ स्वसंयुक्तसंयोगरूप परम्परा सम्बन्ध होने पर भी साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण स्फटिक भी साक्षात् असंसृष्ट है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में असंसृष्टता का समन्वय हो जाता है। 'वेदना' पद से विवक्षित हैं–हर्ष, भय और शोकादि। दृष्टान्त-प्रदर्शन का दार्ष्टान्त में समन्वय किया जाता है—"तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो जीवस्य"। "सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छां. ८।१२।३) इस श्रुति से प्रतिपादित विवेक-विज्ञान को ही शरीर से समुत्थान कहा गया है—"श्रुत्युक्तं विवेकविज्ञानं शरीरात् समुत्थानम्"। इसका निष्कर्ष यह है कि श्रवण, मनन और ध्यान का अभ्यास करने से जो विवेक-विज्ञान उत्पन्न होता है, उसका ही फल है –केवलात्मसाक्षात्कार या स्वरूपेण अभिनिष्पत्ति। वह वृत्तिरूप साक्षात्कार समस्त प्रपञ्च का प्रविलापन करता हुआ स्वयं भी प्रपञ्चान्तर्गत होने के कारण वैसे ही समाप्त हो जाता है, जैसे कतक-रज (रीठे के फल का चूर्ण) जलगत पार्थिव कणों को नीचे बिठाता हुआ स्वयं बैठ जाता है। इस प्रकार निखिल प्रपञ्च से रहित सर्वथा अनासक्त, स्वयंप्रकाश ब्रह्मज्योति उपसम्पन्न हो जाती है—यही श्रुति कह रही है—"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणभिनिष्पद्यते" (छां. ८।१२।३)। यद्यपि स्वरूपाभिनिष्पत्तिरूप मानस वृत्ति के द्वारा आत्मगत आवरण की निवृत्ति हो जाने के पश्चात् ज्योति की उपसम्पत्ति होती है, अतः 'उपसम्पद्य अभिनिष्पद्यते'—ऐसा विपरीताभिधान उचित नहीं। तथापि 'क्त्वा' प्रत्यय का यहाँ केवल समानकर्तृता में ही वैसा ही प्रयोग किया गया है, जैसा कि 'मुखं

जीवस्य श्रुतिकृतं विवेकविज्ञानं शरीरात्समुत्थानम्, विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः। तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च, मन्त्रवर्णात् 'अशरीरं शरीरेषु' (का० १।२।२२) इति, 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गी० १३।३१) इति च सशरीरत्वाशरीरत्वविशेषाभावस्मरणात्। तस्माद्विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन्विवेकविज्ञानादाविर्भूतस्वरूप इत्युच्यते, नत्वन्यादृशावाविर्भावानाविर्भावौ स्वरूपस्य संभवतः स्वरूपत्वादेव। एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः, व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात्। कुतश्चैतदेवं प्रतिपत्तव्यम्? यतो 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्युपदिश्य 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' इत्युपदिशति। योऽक्षिणि प्रसिद्धो द्रष्टा द्रष्टृत्वेन विभाव्यते सोऽमृताभयलक्षणाद् ब्रह्मणोऽन्यश्चेत्स्यात्, ततोऽमृताभयब्रह्मसामानाधिकरण्यं न स्यात्। नापि प्रतिच्छायात्माऽयमक्षिलक्षितो निर्दिश्यते, प्रजापतेर्मृषावादित्वप्रसङ्गात्। तथा द्वितीय-

भामती

क्त्वाप्रयोगो मुखं व्यादाय स्वपितीतिवन्मन्तव्यः। यदा च विवेकसाक्षात्कारः शरीरात् समुत्थानं, न तु शरीरापादानकं गमनम्, तदा तत्सशरीरस्यापि सम्भवति प्रारब्धकार्यकर्मक्षयस्य पुरस्तादित्याह ⊛ तथा विवेकाविवेकमात्रेण इति ⊛। न केवलं 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिभ्यो जीवस्य परमात्मनोऽभेदः, प्राजापत्यवाक्यसन्दर्भपर्यालोचनयाप्येवमेव प्रतिपत्तव्यमित्याह ⊛ कुतश्चैतदेवं प्रतिपत्तव्यम् इति ⊛। स्यादेतत्—प्रतिच्छायात्मवज्जीवं परमात्मनो वस्तुतो भिन्नमप्यमृताभयात्मत्वेन ग्राहयित्वा पश्चाद् परमात्मानममृताभयादिमन्तं प्रजापतिर्ग्राहयति, न स्वयं जीवस्य परमात्मभावमाचष्टे छायात्मन इवेत्यत आह ⊛ नापि प्रतिच्छायात्मायमक्षिलक्षितः इति ⊛। अक्षिलक्षितोऽप्यात्मैवोपदिश्यते

भामती—व्याख्या

व्यादाय स्वपिति।' [वाचस्पति मिश्र ने ही न्यायकणिका पृ ४१४ पर कहा है—"स्वापोत्तरकालं हि मुखव्यादानम्। समानकर्तृकतैवाव्यभिचारिणी क्त्वाप्रत्ययार्थः, समानकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाच्च धातोर्विधीयमानं य एव पूर्वं प्रयुज्यते तत्रैव क्त्वाप्रत्ययं प्रयुञ्जते लौकिकाः, यथा प्रयोगं चार्थप्रत्ययो भवति"]।

'शरीरात् समुत्थानं' का जो शब्दार्थ होता है—शरीरापादानक (शरीरमपादानं यस्य गमनस्य अर्थात् शरीर को छोड़ कर) उत्क्रमण, वह शरीर में रहते हुए आत्मा नहीं कर सकता, किन्तु जब विवेक-साक्षात्कार (शरीरादिभ्यो भिन्नोऽहम्—ऐसे निश्चय) को समुत्थान पदार्थ माना जाता है, तब शरीर के रहते हुए भी आत्मा शरीर से समुत्थित या अशरीर तब तक कहा जाता रहेगा, जब तक प्रारब्ध कर्म शेष है—"तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च"। केवल "स ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड. ३।२।९) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ही जीव और ब्रह्म की अभेद-प्रतिपत्ति नहीं होती, अपितु प्रजापति के वाक्य-सन्दर्भों के पौर्वापर्य की आलोचना से भी वैसी प्रतिपत्ति की जा सकती है, इस प्रकार भाष्यकार कहते हैं—"कुतश्चैवं प्रतिपत्तव्यम्"।

शङ्का—पहले अक्षिपुरुष के रूप में छाया (प्रतिबिम्ब) एवं छाया में अमृताभयरूपता का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार आगे चल कर स्वप्नपुरुष के रूप में ब्रह्म-भिन्न द्रष्टा (जीव) एवं जीव में अमृताभयरूपता का अनुमान प्रस्तुत किया गया है—स्वप्नद्रष्टा अमृताभयस्वरूपः, परमात्मभिन्नत्वात्, अक्षिगतछायावत्। यदि प्रथम पर्याय में अक्षिगत छाया का निर्देश नहीं माना जाता, तब द्वितीय पर्याय-प्रदर्शित स्वप्न-द्रष्टा में अमृताभयरूपता किस दृष्टान्त से सिद्ध होगी?

येऽपि पर्याये 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' इति न प्रथमपर्यायनिर्दिष्टादक्षिपुरुषाद् द्रष्टुरन्यो निर्दिष्टः, एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इत्युपक्रमात्। किञ्चाहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं, नेदानीं तं पश्यामीति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्याचष्टे, द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति 'य एवाहं स्वप्नमद्राक्षं स एवाहं जागरितं पश्यामि' इति। तथा तृतीयेऽपि पर्याये 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' इति सुषुप्तावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमेव दर्शयति, न विज्ञातारं प्रतिषेधति।

भामती

न छायात्मा। तस्मादसिद्धो दृष्टान्त इत्यर्थः। किञ्च द्वितीयादिष्वपि पर्यायेष्वेतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामीत्युपक्रमात् प्रथमपर्यायनिर्दिष्टो न छायापुरुषोऽपि तु ततोऽन्यो द्रष्टात्मेति दर्शयत्यन्यथा प्रजापतेः प्रतारकत्वप्रसङ्गादित्यत आह ❀ तथा द्वितीयेऽपि इति ❀। अथ छायापुरुष एव जीवः कस्मान्न भवति? तथा च छायापुरुष एवैतमिति परामृश्यत इत्यत आह ❀ किञ्चाहमद्य स्वप्ने हस्तिनम् इति ❀। ❀ किञ्च इति ❀। समुच्चयाभिधानं पूर्वोपपत्तिसाहित्यं ब्रूते, तच्च शङ्कानिराकरणद्वारेण। छायापुरुषोऽस्थायी स्थायी चायमात्मा चकास्ति, प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः। ❀ नाह खल्वयमेव इति ❀। अयं सुषुप्तः। ❀सम्प्रति❀ सुषुप्तावस्थायाम। अहमात्मानमहंकारास्पदमात्मानम्। न जानाति। केन प्रकारेण न जानातीत्यत आह ❀ अयमहमस्मीमानि भूतानि च इति ❀। ❀ यथा जागृति स्वप्ने च इति ❀। न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वादित्यनेनाविनाशित्वं सिद्धवद्धेतुं कुर्वता सुप्तोत्थितस्यात्म-

भामती–व्याख्या

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"नापि प्रतिच्छायात्माऽयमक्षिलक्षितो निर्दिश्यते"। आशय यह है कि अक्षिपुरुष के रूप में आत्मा का ही निर्देश किया गया है, छाया (प्रतिबिम्ब) का नहीं, अतः छाया में दृष्टान्तता सिद्ध नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि द्वितीयादि पर्यायों में पूर्व-निर्दिष्ट वस्तु के निर्देश की प्रतिज्ञा की गई है—"एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि"। द्वितीयादि पर्यायों में आत्मा का पुनः निर्देश तभी उपपन्न होगा, जब कि प्रथम पर्याय में भी अक्षिपुरुष के रूप में आत्मा का ही निर्देश माना जाय, छाया का नहीं। छाया से भिन्न आत्मा का निर्देश यदि अक्षि में नहीं माना जाता, अपितु प्रजापति के द्वारा छाया को ही आत्मा बताया जाता है, तब प्रजापति में वञ्चकत्व प्रसक्त होता है, क्योंकि आत्मा के जिज्ञासुओं को छायारूप अनात्म पदार्थ में आत्मत्व का उपदेश निरी वञ्चना है, भाष्यकार कहते हैं—"अन्यथा प्रजापतेर्मृषावादित्वप्रसङ्गात्"। 'छायापुरुष को जीव और उसी का 'एतम्' पद के द्वारा परामर्श क्यों न मान लिया जाय? इस प्रश्न का उत्तर है—किञ्चाहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं नेदानीं तं पश्यामीति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्याचष्टे द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानीते"। 'किञ्च' पद का वहीं प्रयोग किया जाता है, जहाँ पूर्व-दर्शित उपपत्ति के साथ उपपत्त्यन्तर का समुच्चयाभिधान किया जाय। प्रथम उपपत्ति है—शङ्कापूर्वक छाया-निर्देश का निरास और दूसरी उपपत्ति है—प्रत्यभिज्ञा। छाया-पुरुष अस्थायी है, किन्तु यह आत्मा प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के द्वारा स्थायी सिद्ध होता है। "नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानाति—अयमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि"—इस श्रुति का अर्थ यह है कि 'अयं सुषुप्तः, सम्प्रति सुषुप्तावस्थायाम्, अहमात्मानमहंकारास्पदमात्मानं न जानाति' अर्थात् यह सुषुप्त पुरुष सुषुप्ति अवस्था में अहङ्कारास्पद आत्मा को नहीं जानता। आत्मा को कैसा नहीं जानते? इस प्रश्न का उत्तर है—"अयमहमस्मि इमानि भूतानि च" अर्थात् जागरण और स्वप्न की अवस्थाओं में जैसा ज्ञान आत्मा और अनात्मा का होता है, सुषुप्ति में वैसा ज्ञान नहीं होता। "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्"—

यत्तु तत्र 'विनाशमेवापीतो भवति' इति तदपि विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्, 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ० ४।३।३०) इति श्रुत्यन्तरात्। तथा चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इत्युपक्रम्य 'मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरम्' इत्यादिना प्रपञ्चेन शरीराद्युपाधिसंबन्धप्रत्याख्यानेन संप्रसादशब्दोदितं जीवं 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति ब्रह्मस्वरूपापन्नं दर्शयन्न परस्माद् ब्रह्मणोऽमृताभयस्वरूपादन्यं जीवं दर्शयति।

केचित्तु—परमात्मविवक्षायां 'एतं त्वेव ते' इति जीवाकर्षणमन्याय्यं मन्यमाना एतमेव वाक्योपक्रमसूचितमपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति—कल्पयन्ति। तेषामेतमिति संनिहितावलम्बिनी सर्वनामश्रुतिर्विप्रकृष्येत। भूयःश्रुतिश्चोपरुध्येत, पर्यायान्तराभिहितस्य पर्यायान्तरेऽनभिधीयमानत्वात्। 'एतं त्वेव ते' इति प्रतिज्ञाय प्राक्चतुर्थात्पर्यायादन्यमन्यं व्याचक्षाणस्य प्रजापतेः प्रतारकत्वं प्रसज्येत। तस्माद्यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृभोक्तृरागद्वेषादिदोषकलुषितमनेकानर्थयोगि तद्विलयनेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपद्यते, सर्पादिविलयनेनेव रज्ज्वादीन्। अपरे तु वादिनः पारमार्थि-

भामती

प्रत्यभिज्ञानमुक्तम्। य एवाहं जागरित्वा सुप्तः स एवैतर्हि जागर्मीति। आचार्यदेशीयमतमाह ॐ केचित्तु इति ॐ। यदि ह्येतमित्यनेनानन्तरोक्तं चक्षुरधिष्ठानं पुरुषं परामृश्य तस्यात्मत्वमुच्येत ततो न भवेच्छायापुरुषः, न त्वेतदस्ति। वाक्योपक्रमसूचितस्य परमात्मनः परामर्शात्, न खलु जीवात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिगुणसम्भव इत्यर्थः। तदेतद् दूषयति ॐ तेषामेतम् इति ॐ। सुबोधम्। मतान्तरमाह ॐ अपरे तु वादिनः इति ॐ। यदि न जीवः कर्ता भोक्ता च वस्तुतो भवेत्, ततस्तदाश्रयाः कर्मविधय उपरुध्येरन्। सूत्रकारवचनं च नासम्भवादिति कुप्येत। तत् खलु ब्रह्मणो गुणानां जीवेऽसम्भवमाह। न चाभेदं

भामती—व्याख्या

इस श्रुति के द्वारा अविनाशित्व हेतु को सिद्धवत् मानकर सुषुप्ति से उठे व्यक्ति की यह प्रत्यभिज्ञा प्रस्तुत की गई है कि 'जो मैं जागते-जागते सुषुप्ति में चला गया था, वही मैं फिर जाग गया हूँ'।

वेदान्त के किसी एकदेशी आचार्य का मत दिखाया जाता है—"केचित् तु"। अक्षिपुरुष-निर्देश के अनन्तर पठित "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि"—इस श्रुति में 'एतं' पद के द्वारा उपक्रमस्थ और बुभुत्सित परमात्मा का ही परामर्श करना चाहिए, अक्षिपुरुषरूप जीव का नहीं, क्योंकि यदि अव्यवहित पूर्व-कथित चक्षुराधिष्ठानक पुरुष का परामर्श करके उसमें आत्मत्व का अभिधान करते, तब छायापुरुष का अभिधान न होता, किन्तु व्यवहितरूपेण वाक्य के उपक्रम में ही निर्दिष्ट परमात्मा का 'एतं' पद से परामर्श किया गया है, जीवात्मा का नहीं, क्योंकि जीवात्मा में अपहतपाप्मत्वादि गुण सम्भव नहीं। कथित एकदेशी आचार्य के मत में दोषाभिधान किया जाता है—"तेषामेतमिति सन्निहितावलम्बिनी सर्वनामश्रुतिर्विप्रकृष्येत।" 'एतत्' पद समीपतर पदार्थ का परामर्शक होता है, व्यवहित या विप्रकृष्ट पदार्थ का 'एतं' पद से परामर्श सर्वथा अनुचित है।

मतान्तर का प्रदर्शन किया जाता है—"अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्ते"। इन आचार्यों का आशय यह है कि यदि जीव वस्तुतः कर्ता और भोक्ता नहीं होता, तब जीवात्मा के लिए समस्त कर्म-विधान निरर्थक हो जायगा और वेदान्त-सूत्र में जो

कमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्। तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिबोधायेदं शारीरकमारब्धम्। एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति। यत्त्विदं परमेश्वरवाक्ये जीवमाशङ्क्य प्रतिषेधति सूत्रकारः 'नासंभवान्' ब्र० १।३।१८) इत्यादिना। तत्रायमभिप्रायः—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम्। तदात्मैकत्वप्रतिपादनपरैर्वाक्यैर्न्यायोपेतैर्द्वैतवादप्रतिषेधैश्चापनेष्यामीति परमात्मनो जीवादन्यत्वं द्रढयति। जीवस्य तु न परस्मादन्यत्वं प्रतिपिपादयिषति किं त्वनुवदत्येवाविद्याकल्पितं लोकप्रसिद्धं जीवभेदम्। एवं हि स्वाभाविककर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादेन प्रवृत्ताः कर्मविधयो न विरुध्यन्त इति मन्यते। प्रतिपाद्यं तु शास्त्रार्थमात्मैकत्वमेव दर्शयति—'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० १।१।३०) इत्यादिना। वर्णितश्चास्माभिर्विद्वदविद्वद्भेदेन कर्मविधिविरोधपरिहारः ॥ १९ ॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

अथ यो दहरवाक्यशेषे जीवपरामर्शो दर्शितः—'अथ य एष संप्रसादः' (छा० ८।३।४) इत्यादिः, स दहरे परमेश्वरे व्याख्यायमाने न जीवोपासनोपदेशो न प्रकृत-

भामती

ब्रह्मणो जीवानां ब्रह्मगुणानामसम्भवो जीवेष्विति तेषामभिप्रायः। तेषां वादिनां शारीरकेणैवोत्तरं दत्तम्, तथा हि—पौर्वापर्यपर्यालोचनया वेदान्तानामेकमद्वयमात्मतत्त्वं, जीवास्त्वविद्योपधानकल्पिता इत्यत्र तात्पर्यमवगम्यते। न च वस्तुसतो ब्रह्मणो गुणाः समारोपितेषु जीवेषु सम्भवन्ति। नो खलु वस्तुसत्या रज्ज्वा धर्माः सेव्यत्वादयः समारोपिते भुजङ्गे सम्भविनः। न च समारोपितो भुजङ्गो रज्ज्वा भिन्नः। तस्मान्न सूत्रव्याकोपः। अविद्याकल्पितञ्च कर्तृत्वभोक्तृत्वं यथा लोकसिद्धमुपाश्रित्य कर्मविधयः प्रवृत्ताः श्येनादिविषय इव निषिद्धेऽपि 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति साध्यांशेऽभिचारेऽतिक्रान्तनिषेधं पुरुषमाश्रित्याविद्यावत्पुरुषाश्रयत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तम्। तदिदमाह ❀ तेषां सर्वेषाम् इति ❀ ॥१९॥ ननु ब्रह्म चेदत्र

भामती–व्याख्या

कहा गया है—"नासम्भवात्" (ब्र. सू. १।३।१८)। वह भी असंगत हो जायगा, क्योंकि इस सूत्र-खण्ड के द्वारा ब्रह्म के अकर्तृत्वादि धर्मों का जीव में असम्भव प्रतिपादित है। ब्रह्म से जीवों का अभेद मानने पर ब्रह्म के गुणों का जीव में असंभव नहीं हो सकता। इस मत का निराकरण करते हुए कहा गया है—"तेषां प्रतिबोधाय शारीरकमारब्धम्"। सारांश यह है कि वेदान्त-वाक्यों के पौर्वापर्य की आलोचन करने पर उनका तात्पर्य एक, अद्वय आत्मतत्त्व में स्थिर होता है और अविद्यारूप उपाधि के द्वारा उसी में जीवभाव की कल्पना हो जाती है। ब्रह्म के वास्तविक गुणों का समन्वय काल्पनिक जीव में सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि रज्जु के वास्तविक ग्राह्यत्वादि गुण आरोपित सर्प में सम्भव नहीं होते। अनारोपित रज्जु से भिन्न भी नहीं होता, अतः 'नासम्भवात्'—इस सूत्रांश का विरोध उपस्थित नहीं होता। अविद्या-कल्पित कर्तृत्व-भोक्तृत्व को लेकर लोक-प्रसिद्ध आत्मा के लिए कर्म-विधानों का वैसे ही औचित्य हो जाता है, जैसे "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" (कूर्मपु. उत्तर. १६।) इत्यादि वाक्यों के द्वारा निषिद्ध साध्यरूप हिंसा के साधन-विधान—"श्येनेनाभिचरन् यजेत" (षड्विंश. १।८) इत्यादि। विधि-शास्त्रों की प्रवृत्ति तो अज्ञानी पुरुषों को लेकर मानी गई है—"अविद्यावद्विषयाणि शास्त्राणि च" (शां. भा. १।१।१)॥ १९॥

यदि ब्रह्म ही दहराकाश है, तब 'सम्प्रसाद' पद के द्वारा जीव का परामर्श किस

विशेषोपदेश इत्यनर्थकत्वं प्राप्नोतीति, अत आह—अन्यार्थोऽयं जीवपरामर्शो न जीवस्वरूपपर्यवसायी। किं तर्हि ? परमेश्वरस्वरूपपर्यवसायी। कथम् ? संप्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा तद्वासनानिर्मितांश्च स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय श्रान्तः शरणं प्रेप्सुरुभयरूपादपि शरीराभिमानात्समुत्थाय सुषुप्तावस्थायां परं ज्योतिराकाशशब्दितं परं ब्रह्मोपसंपद्य विशेषविज्ञानत्वं च परित्यज्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। यदस्योपसंपत्तव्यं परं ज्योतिर्येन स्वेन रूपेणायमभिनिष्पद्यते स एष आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुण उपास्य इत्येवमर्थोऽयं जीवपरामर्शः परमेश्वरवादिनोऽप्युपपद्यते ॥ २० ॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

यदप्युक्तम् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्याकाशस्याल्पत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे नोपपद्यते, जीवस्य त्वाराग्रोपमितस्याल्पत्वमवकल्पत इति, तस्य परिहारो वक्तव्यः। उक्तो ह्यस्य परिहारः परमेश्वरस्यापेक्षिकमल्पत्वमवकल्पत इति 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' (ब्र० १।२।७) इत्यत्र। स एवेह परिहारोऽनुसंधातव्य इति सूचयति। श्रुत्यैव चेदमल्पत्वं प्रत्युक्तं प्रसिद्धेनाकाशेनोपमिमानया 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति ॥ २१ ॥

(६ अनुकृत्यधिकरणम् । सू० २२–२३)

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० २।२।१०) इति समामनन्ति। तत्र यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति, स किं तेजोधातुः कश्चि-

भामिती

वक्तव्यं कृतं जीवपरामर्शेनेत्युक्तमित्यत आह—अन्यार्थश्च परामर्शः जीवस्योपाधिकल्पितस्य ब्रह्मभाव उपदेष्टव्यः, न चासौ जीवमपरामृश्य शक्य उपदेष्टुमिति तिसृष्ववस्थासु जीवः परामृष्टस्तद्भावप्रविलयनं तस्य पारमार्थिकं ब्रह्मभावं दर्शयितुमित्यर्थः ॥ २० ॥ निगदव्याख्यातेन भाष्येण व्याख्यातम् ॥ २१ ॥

भामती–व्याख्या

लिए ? इस प्रश्न का उत्तर है—"अन्यार्थश्च परामर्शः"। उपाधि-कल्पित जीव में ब्रह्मरूपता का उपदेश तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि जीव का परामर्श न किया जाय, अतः जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में जीव का परामर्श किया गया है कि जीवभाव का प्रविलयन और पारमार्थिक ब्रह्मभाव का सामञ्जस्य किया जा सके ॥ २० ॥

यह जो कहा गया है कि "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः"—इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित दहरत्व (अल्पत्व) का समन्वय ब्रह्म में क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है—"अर्भकौकस्त्वात् तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न, निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च" (ब्र. सू. १।२।७) अर्थात् व्यापकीभूत ब्रह्म का उपलब्धि हृदय अल्प है ॥ २१ ॥

विषय—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्, नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्नि। तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" (मुण्ड. २।२।१०)।

सन्देह—उक्त श्रुति से प्रतिपादित भासक पदार्थ क्या सूर्यादि से भिन्न कोई तेजोधातु है ? अथवा ब्रह्मज्योति ?

दुत प्राज्ञ आत्मेति विचिकित्सायां तेजोधातुरिति तावत्प्राप्तम्। कुतः? तेजोधातूनामेव सूर्यादीनां भानप्रतिषेधात्। तेजःस्वभावकं हि चन्द्रतारकादि तेजःस्वभावक एव सूर्ये भासमानेऽहनि न भासत इति प्रसिद्धम्। तथा सह सूर्येण सर्वमिदं चन्द्रतारकादि यस्मिन्न भासते, सोऽपि तेजःस्वभाव एव कश्चिदित्यवगम्यते। अनुभानमपि तेजःस्वभावक एवोपपद्यते, समानस्वभावकेष्वनुकारदर्शनात्, गच्छन्तमनुगच्छतीतिवत्। तस्मात्तेजोधातुः कश्चित्।

भामती

अभानं तेजसो दृष्टं सति तेजोऽन्तरे यतः।
तेजो धात्वन्तरं तस्मादनुकाराच्च गम्यते॥

बलीयसा हि सौर्येण तेजसा मन्दं तेजश्चन्द्रतारकाद्यभिभूयमानं दृष्टं, न तु तेजसोऽन्येन। येऽपि पिधायकाः प्रदीपस्य गृहघटादयो न ते स्वभासा प्रदीपं भासयितुमीशते। श्रूयते च 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति। सर्वशब्दः प्रकृतसूर्याद्यपेक्षः। न चातुल्यरूपेऽनुभानमित्यनुकारः सम्भवति। नहि गावो वहराहनुधावन्तीति कृष्णविहङ्गानुधावनमुपपद्यते गवाम्, अपि तु तादृशसूकरानुधावनम्। तस्माद्यद्यपि 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' इति ब्रह्म प्रकृतं, तथाप्यभिभवानुकारसामर्थ्यलक्षणेन लिङ्गेन प्रकरणबाधया तेजो धातुरवगम्यते, न तु ब्रह्म, लिङ्गानुपपत्तेः। तत्र तं तस्येति च सर्वनामपदानि प्रदर्शनीयमेवावचक्ष्यन्ति। न च तच्छब्दः पूर्वोक्तपरामर्शीति नियमः समस्ति। न हि 'तेन रक्तं रागात्' 'तस्यापत्यम्' इत्यादौ पूर्वोक्तं किञ्चिदस्ति। तस्मात्प्रमाणान्तराप्रतीतमपि तेजोऽन्तरमलौकिकं शब्दादुपास्यत्वेन गम्यत।

भामती–व्याख्या

पूर्वपक्ष—

अभानं तेजसो दृष्टं सति तेजोऽन्तरे यतः।
तेजोधात्वन्तरं तस्मादनुकाराच्च गम्यते॥

चन्द्र, नक्षत्रादि का अभिभव तज्जातीय सूर्यरूप तेज से ही देखा जाता है, अन्यजातीय धातु से नहीं। प्रदीपादि प्रकाश के आवरक जो गृह, घटादि पदार्थ देखे जाते हैं, वे अपने प्रकाश से प्रदीपादि का प्रकाश नहीं करते, किन्तु प्रकृत में "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"—ऐसा कहा गया है। यहाँ 'सर्व' पद के द्वारा लोक-प्रसिद्ध सूर्यादि समस्त भासक पदार्थों का संग्रह किया गया है। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्"—यहाँ जिस मूल भासक ज्योति का अनुभान या अनुकरण सूर्यादि में प्रतिपादित है, वह भास्यभूत सूर्यादि का समानरूप (सजातीय) ही होना चाहिए, विरूप (विजातीय) नहीं, जैसे कि एक गौ दूसरी गौ या वराहादि का ही अनुगम कर सकती है, काले पक्षियों का नहीं। अतः यद्यपि "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्" (मुण्ड. २।२।५) इस वाक्य से प्रतिपादित ब्रह्म प्रक्रान्त है, तथापि अभिभव और अनुभानात्मक सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण के द्वारा प्रकरण का बाध करके सजातीय भासक तेजो धातु की ही अवगति होती है, ब्रह्म की नहीं। अन्यथा लिङ्ग प्रमाण की अनुपपत्ति हो जायगी। 'तत्र', 'तं' और 'तस्य'—ये सर्वनाम पद भी प्रदर्शनीय तेजो धातु के ही परामर्शक हो जाएँगे। 'तत्' शब्द पूर्वोक्त का ही परामर्शी होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि "तेन रक्तं रागात्" (पा. सू. ४।२।२) और "तस्यापत्यम्" (पा. सू. ४।१।९२) इत्यादि सूत्रों में प्रयुक्त 'तत्' पद के द्वारा किसी पूर्व-चर्चित पदार्थ का ग्रहण नहीं किया जाता। अतः किसी प्रमाणान्तर से अप्रतीत भी अलौकिक तेजोऽन्तर उपास्यत्वेन तदादि शब्दों के द्वारा अवगमित है।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—प्राज्ञ एवात्मा भवितुमर्हति । कस्मात्? अनुकृतेः । अनुकरणमनुकृतिः । यदेतत् 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यनुभानं, तत्प्राज्ञपरिग्रहेऽवकल्पते । 'भारूपः सत्यसंकल्पः' (छा० ३।१४।२) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति । न तु तेजोधातुं कंचित्सूर्यादयोऽनुभान्तीति प्रसिद्धम् । समत्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षास्ति, यं भान्तमनुभायुः । नहि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति ।

यदप्युक्तं—समानस्वभावकेष्वनुकारो दृश्यत इति । नायमेकान्तो नियमः,

भामती

इति प्राप्ते । उच्यते -

ब्रह्मण्येव हि तल्लिङ्गं न तु तेजस्यलौकिके ।
तस्माच्च तदुपास्यत्वं ब्रह्म ज्ञेयं तु गम्यते ॥

तमेव भान्तमित्यत्र किमलौकिकं तेजः कल्पयित्वा सूर्यादीनामनुभानमुपपाद्यताम् , किंवा भारूपः सत्यसङ्कल्प इति श्रुत्यन्तरसिद्धेन ब्रह्मणो भानेन सूर्यादीनां भानमुपपाद्यतामिति विशये न श्रुतसम्भवेऽश्रुतस्य कल्पना युज्यत इत्यप्रसिद्धं नालौकिकमुपास्यं तेजो युज्यते, अपि तु श्रुतिप्रसिद्धं ब्रह्मैव ज्ञेयमिति, तदेतदाह ❀ प्राज्ञ एवात्मा भवितुमर्हति ❀ । विरोधमाह ❀ समत्वाच्च इति ❀ । ननु स्वप्रतिभाने सूर्यादयश्चाक्षुषं तेजोऽपेक्षन्ते, नह्यन्धेनैते दृश्यन्ते । तथा तदेव चाक्षुषं तेजो बाह्यसौर्यादितेजआप्यायितं रूपादि प्रकाशयति नानाप्यायितम्, अन्धकारेऽपि रूपदर्शनप्रसङ्गादित्यत आह ❀यं भान्तमनुभायुर इति❀ । न हि तेजोऽन्तरस्य तेजोऽन्तरापेक्षां ब्यासेधामः, किन्तु तद्भानमनुभानम् । न च लोचनभानमनुभान्ति सूर्यादयस्तदिदमुक्तम् ❀ नहि प्रदीप इति ❀ । पूर्वपक्षमनुभाष्य व्यभिचारमाह ❀ यदप्युक्तम् इति ❀ ।

भामती-व्याख्या

सिद्धान्त—

ब्रह्मण्येव हि तल्लिङ्गं न तु तेजस्यलौकिके ।
तस्मान्न तदुपास्यत्वं ब्रह्म ज्ञेयं तु गम्यते ॥

"तमेव भान्तम्"—यहाँ क्या अलौकिक तेज की कल्पना करके सूर्यादिगत अनुभाव का उपपादन किया जाय? अथवा "भारूपः सत्यसङ्कल्पः" (छां. ३।१४।२) इत्यादि अन्य श्रुतियों में प्रसिद्ध ब्रह्म के भान का ही सूर्यादि में अनुभान सम्पन्न किया जाय? इस प्रकार का सन्देह उपस्थित होने पर श्रुत (श्रुति-प्रतिपादित) पदार्थ की उपलब्धि सम्भव होते हुए अश्रुत पदार्थ की कल्पना उचित नहीं मानी जाती, अतः यहाँ अत्यन्त अप्रसिद्ध अलौकिक तेजो धातु को उपास्य मानना उचित नहीं, अपितु श्रुति-प्रसिद्ध ब्रह्म-ज्योति ही ज्ञेय है, यही भाष्यकार ने कहा है—"प्राज्ञ एवात्मा भवितुमर्हति" । अर्थात् जगत् की मौलिक भासक ब्रह्म ज्योति ही है, क्योंकि "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्"—इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित अनुकरणीय भान की उपपत्ति उसी में ही सम्भव है। ब्रह्म ज्योति से ही अनुप्राणित होकर सूर्यादि जगत् के अनुभासक माने जाते हैं। अलौकि तेजोऽन्तर के द्वारा सूर्यादि अनुप्राणित नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों समान तैजस पदार्थ हैं, अतः कौन किसकी अपेक्षा करेगा—इसमें विनिगमना सम्भव नहीं, भाष्यकार कहते हैं—"समत्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षाऽस्ति" ।

यह जो शङ्का होती है कि सूर्यादि को अपना प्रतिभान कराने में चक्षुरादिरूप तेजोऽन्तर की अपेक्षा देखी जाती है, क्योंकि अन्धे व्यक्ति सूर्यादि को नहीं देख सकते। उसी प्रकार चाक्षुष तेज भी बाह्य सूर्यादि प्रकाशों की सहायता से ही रूपादि का प्रकाशक होता

भिन्नस्वभावकेष्वपि ह्यनुकारो दृश्यते। यथा सुतप्तोऽयःपिण्डोऽग्न्यनुकृतिरग्निं दहन्तमनुदहति, भौमं वा रजो वायुं वहन्तमनुवहतीति। 'अनुकृतेः' इत्यनुभानमसूसुचत्। 'तस्य च' इति चतुर्थं पादमस्य श्लोकस्य सूचयति। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति, तद्धेतुकं भानं सूर्यादेरुच्यमानं प्राज्ञमात्मानं गमयति। 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४।४।१६) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति, तेजोऽन्तरेण सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धं विरुद्धं च, तेजोऽन्तरेण तेजोऽन्तरस्य प्रतिघातात्। अथवा—न सूर्यादीनामेव श्लोकपरिपठितानामिदं तद्धेतुकं विभानमुच्यते। किं तर्हि ? 'सर्वमिदम्' इत्यविशेषश्रुतेः सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य याऽभिव्यक्तिः सा ब्रह्मज्योतिःसत्तानिमित्ता। यथा सूर्यादिज्योतिःसत्तानिमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याभिव्यक्तिस्तद्वत्। 'न तत्र सूर्यो भाति' इति च 'तत्र'शब्दमाहरन्प्रकृतग्रहणं दर्शयति।

भामती

एतदुक्तं भवति —यदि स्वरूपसाम्याभावमभिप्रेत्यानुकारो निराक्रियते, तदा व्यभिचारः। अथ क्रियासाम्याभावं, सोऽसिद्धः। अस्ति हि वायुरजसोः स्वरूपविसदृशयोरपि नियतदिग्देशवहनक्रियासाम्यम्। वह्निपयःपिण्डयोस्तु यद्यपि वहनक्रिया न भिद्यते तथापि द्रव्यभेदेन क्रियाभेदं कल्पयित्वा क्रियासादृश्यं व्याख्येयम्। तदेवमनुकृतेरिति विभज्य तस्य चेति सूत्रावयवं विभजते ॐ तस्य च इति ॐ। ॐ चतुर्थम् इति ॐ। ॐ ज्योतिषाम् ॐ सूर्यादीनाम्। ॐ ब्रह्म ज्योतिः ॐ प्रकाशकमित्यर्थः। तेजोऽन्तरेणानिन्द्रियभावमापन्नेन सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धम्। सर्वशब्दस्य हि स्वरसतो निःशेषाभिधानं वृत्तिः। सा तेजोधातावलौकिके रूपमात्रप्रकाशके सङ्कुचेत्। ब्रह्मणि तु निःशेषजगदवभासके न सर्वशब्दस्य वृत्तिः सङ्कुचतीति। ॐ तत्र शब्दमाहरन् इति ॐ। सर्वत्र खल्वयं तच्छब्दः पूर्वोक्तपरामर्शी। 'तेन रक्तं रागाद्'

भामती-व्याख्या

है, अन्यथा अन्धकार में भी चक्षु के द्वारा रूप-दर्शन क्यों नहीं होता ? उस शङ्का का निरास किया जाता है—"यं भान्तमनुभायुः"। यहाँ तेजोऽन्तर को तेजोऽन्तर की अपेक्षा का निरास नहीं किया जाता, अपितु उसके भान और अनुभान का। आँखों के भासकत्व का अनुकरण (अनुभासकत्व) सूर्यादि में उपलब्ध नहीं होता, यही भाष्यकार कहते हैं—"न हि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति"। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित नियम में व्यभिचार प्रदर्शित करते हैं—"यदप्युक्तं समानस्वभावकेष्वनुकारो दृश्यते इति, नायमेकान्तो नियमः"। आशय यह है कि स्वरूप-साम्य न होने के कारण अनुकरण का निराकरण किया जाता है, तब व्यभिचार है और यदि क्रिया का साम्याभाव होने के कारण विश्व के पदार्थों में अनुकार का निरास किया जाता है, तब असिद्धि है, क्योंकि वायु और धूलिकणों में वैसा सादृश्य न रहने पर भी क्रियासाम्य उपलब्ध होता है। अग्नि और अयःपिण्ड में यद्यपि दहन क्रिया भिन्न नहीं, तथापि द्रव्य के भेद से क्रियाभेद की कल्पना करके क्रिया-साम्य की व्याख्या की जा सकती है।

'अनुकृतेः'—इस सूत्र-खण्ड की व्याख्या करके 'तस्य च'—इस सूत्रांश की व्याख्या की जाती है—"तस्य चेति चतुर्थं पादमस्य श्लोकस्य सूचयति।" "ज्योतिषां ज्योतिः"—इस श्रुति-वाक्य का अर्थ है—सूर्यादि ज्योतियों की प्रकाशक ब्रह्मज्योति है। भाष्यकार ने जो कहा है—"तेजोऽन्तरेण सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धम्"। वहाँ तेजोऽन्तरेण का 'इन्द्रियत्वमनापन्नेन'—ऐसा विशेषण लगाना आवश्यक है, क्योंकि इन्द्रियभावापन्न चक्षुरूप तेजोऽन्तर से सूर्यादि तेजोऽन्तर का विभान लोक-प्रसिद्ध है। अलौकिक तेजोधातु का ग्रहण करने पर निःशेषार्थाभिधायक 'सर्व' शब्द का रूपमात्र-प्रकाशक अर्थ में सङ्कोच करना पड़ता है, किन्तु ब्रह्म का उपादान करने पर 'सर्व' शब्द की वृत्ति में किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं करना

प्रकृतं च ब्रह्म 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' (मु० २।२।५) इत्यादिना। अनन्तरं च 'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः' इति। कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्यत इदमुत्थितम्—'न तत्र सूर्यो भाति' इति। यदप्युक्तं सूर्यादीनां तेजसां भानप्रतिषेधस्तेजोधातावेवान्यस्मिन्नवकल्पते सूर्य इवेतरेषामिति। तत्र तु स एव तेजोधातुरन्यो न संभवतीत्युपपादितम्। ब्रह्मण्यपि चैषां भानप्रतिषेधोऽवकल्पते। यतः यदुपलभ्यते तत्सर्वं ब्रह्मणैव ज्योतिषो-

भामिती

इत्यादावपि प्रकृते परस्मिन् प्रत्ययेऽर्थभेदेऽन्वाख्यायमाने प्रातिपदिकप्रकृत्यर्थस्य पूर्ववृत्तत्वमस्तीति। तेनेति तत्परामर्शान्न व्यभिचारः। तथा च सर्वनामश्रुतिरेव ब्रह्मोपस्थापयति। तेन भवतु नाम प्रकरणाल्लिङ्गं बलीयः, श्रुतिस्तु लिङ्गाद् बलीयसीति। श्रौतमिह ब्रह्मैव गम्यत इति। अपि चापेक्षितानपेक्षिताभिधानयोरपेक्षिताभिधानं युक्तं, दृष्टार्थत्वादित्याह ॐअनन्तरं च हिरण्मये परे कोशे इति॥। अस्मिन् वाक्ये ज्योतिषां ज्योतिरित्युक्तं, तत्र कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्यपेक्षायामिदमुपतिष्ठते ॐन तत्र सूर्य्य इति॥। स्वातन्त्र्येण तूच्यमानेऽनपेक्षितं स्याददृष्टार्थमिति ॐ ब्रह्मण्यपि चैषां भानप्रतिषेधोऽवकल्पत इति ॐ। अयमभिप्रायः—

भामती—व्याख्या

पड़ता ऐसा भाष्यकार कह रहे हैं—"तत्र शब्दमाहरन् प्रकृतग्रहणं दर्शयति, प्राकृतं च ब्रह्म"। यह 'तत्' शब्द सर्वत्र पूर्वोक्त का ही परामर्शक होता है, "तेन रक्तं रागात्" (पा० सू० ४।२।१) इत्यादि स्थलों पर भी प्रकृति से पर-प्रयुक्त प्रत्यय के अर्थ-विशेष का अन्वाख्यान करते समय प्रातिपदिक रूप प्रकृति का अर्थ पूर्वोक्त है, अतः 'तेन' पद के द्वारा उसी रागादि का ग्रहण किया जाता है, अतः उक्त नियम में किसी प्रकार का व्यभिचार सम्भव नहीं। फलतः तदादि सर्वनाम शब्द ही ब्रह्म के उपस्थापक है। निरपेक्ष शब्द को ही श्रुति प्रमाण कहा जाता है। पहले यह समझा जाता था कि ब्रह्म का प्रकरण होने के कारण प्रकरण प्रमाण ब्रह्म का उपस्थापक है, किन्तु भान-अनुभानरूप शब्द-सामर्थ्यात्मक लिङ्ग प्रमाण से अलौकिक तेजोधातु की कल्पना की जाती है। प्रकरण प्रमाण से पूर्वभावी होने के कारण लिङ्ग प्रमाण प्रकरण का बाधक होता है, अतः अलौकिक तेजोऽन्तर धातु को ही जगत् का भासक मानना होगा। अब यह निष्कर्ष निकाला जा सका है कि प्रकृत में परमेश्वर का प्रापक प्रकरण प्रमाण नहीं, अपितु श्रुति प्रमाण है अर्थात् "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्", "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"—इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त 'तम्' और 'तस्य' इत्यादि सर्वनाम शब्द ही परमेश्वर के बोधक हैं, निरपेक्ष शब्द ही श्रुतिप्रमाण कहे जाते हैं। अतः लिङ्ग प्रमाण प्रकरण से प्रबल होने पर भी श्रुति से दुर्बल है, अतः श्रुति प्रमाण-प्रापित ब्रह्म ही वह तेज है, जिसके प्रकाश से समस्त जगत् प्रकाशित है।

दूसरी बात यह भी है कि "न तत्र सूर्यो भाति" (मुण्ड० २।२।१०) इस वाक्य से पूर्व "हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कल. तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः" (मुण्ड० २।२।९) इस वाक्य में जो ब्रह्म को ज्योतियों की ज्योति कहा गया है, उसमें आकाङ्क्षा होती है कि 'कथं ज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्म ?' इस आकांक्षा को शान्त करने के लिए "न तत्र सूर्यो भाति"—यह कहा गया है। अब यदि इस वाक्य के द्वारा अलौकिक तेजोधातु का अभिधान किया जाता है, तब वह पूर्व वाक्य में अपेक्षित या आकांक्षित नहीं और यदि ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है, तब वह आकांक्षिताभिधान है। अपेक्षित (आकांक्षित) और अनपेक्षित (अनाकांक्षित) में अपेक्षित का अभिधान न्यायोचित और दृष्टार्थक होने के कारण ग्राह्य है किन्तु अलौकिक तेजोधातु का अभिधान अदृष्टार्थक होने के कारण अग्राह्य है। "ब्रह्मण्यपि तेषां भान-

पलभ्यते, ब्रह्म तु नान्येन ज्योतिषोपलभ्यते, स्वयंज्योतिःस्वरूपत्वाद् ; येन सूर्यादयस्तस्मिन्भायुः। ब्रह्म ह्यन्यद्व्यनक्ति, नतु ब्रह्मान्येन व्यज्यते, 'आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते' (बृ० ४।३।६), 'अगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ४।२।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २२ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

अपि चेदृग्रूपत्वं प्राज्ञस्यैवात्मनः स्मर्यते भगवद्गीतासु—"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥" (गी० १५।६) इति, 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' (गी० १५।१२) इति च ॥ २३ ॥

(७ प्रमिताधिकरणम् । सू० २४–२५)

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

भामती

न तत्र सूर्य्यो भातीति नेयं सतिसप्तमी, यतः सूर्य्यादीनां तस्मिन् सत्यभिभवः प्रतीयेत। अपि तु विषयसप्तमी। तेन न तत्र ब्रह्मणि प्रकाशयितव्ये सूर्य्यादयः प्रकाशकतया भान्ति, किन्तु ब्रह्मैव सूर्य्यादिषु प्रकाशयितव्येषु प्रकाशकत्वेन भाति, तच्च स्वयम्प्रकाशम् * अगृह्यो नहि गृह्यत इत्यादिश्रुतिभ्यः इति * ॥ २२ ॥

* न तद्भासयते इति * । ब्रह्मणोऽग्राह्यत्वमुक्तं, * यदादित्यगतम् * इत्यनेन तस्यैव ग्राहकत्वमुक्तमिति ॥ २३ ॥

नाञ्जसा मानभेदोऽस्ति परस्मिन् मानवर्जिते ।
भूतभव्येशिता जीवे नाञ्जसी तेन संशयः ॥

भामती-व्याख्या

प्रतिषेधोऽवकल्पते"—इस भाष्य का अभिप्राय यह है कि—"न तत्र सूर्यो भाति"। इस श्रुति के 'तत्र' पद में "सप्तम्याः त्रल्" (पा० सू०५।३।१०) इस सूत्र के द्वारा सप्तमी विभक्ति के स्थान में 'त्रल्' प्रत्यय विहित है। यहाँ सप्तमी विभक्ति यदि सति सप्तमी होती, तब 'तस्मिन् अलौकिके भौतिके तेजसि) 'सति सूर्यो न भाति' अर्थात् उस पूर्वपक्षोक्त अलौकिक तेज के रहने पर सूर्यादि प्रकाशित नहीं होते, अपितु दिन में तारों के समान अभिभूत हो जाते हैं—ऐसा अर्थ करके अलौकिक तेजोऽन्तर की कल्पना की जा सकती थी। किन्तु वहाँ सति सप्तमी प्रकरण के अनुकूल नहीं, अतः विषयसप्तमी मानने पर तत्र (ब्रह्मणि) अर्थात् ब्रह्मरूप विषय का प्रकाशक सूर्य नहीं हो सकता, ब्रह्मप्रकाशकत्वेन सूर्यादि का भान सम्भव नहीं, प्रत्युत सूर्यादि ज्योतियों का ब्रह्म ही प्रकाशक है और वह (ब्रह्म) स्वयंप्रकाश है, किसी अन्य प्रकाश के द्वारा प्रकाशित नहीं, श्रुति कहती है—'अगृह्यो न हि गृह्यते" (बृ० उ० ४।२।४) ॥२२॥

भाष्यकार ने इस तेईसवें सूत्र में भगवद्गीता के जो दो वाक्य उद्धृत किए हैं, उनमें "न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः"—इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म में अग्राह्यत्व (अप्रकाश्यत्व) और 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयते"—इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म में ग्राहकत्व (प्रकाशकत्व) प्रतिपादित है ॥ २३ ॥

विषय—"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति" (कठो० ४।१२), अङ्गुष्ठमात्रः

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते । तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' (का० २।४।१३) इति च । तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते, स किं विज्ञानात्मा, किंवा परमात्मेति संशयः । तत्र परिमाणोपदेशात्तावद्विज्ञानात्मेति प्राप्तम् । न ह्यनन्तायामविस्तारस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणमुपपद्यते । विज्ञानात्मनस्तूपाधिमत्त्वात्संभवति कयाचित्क-

भामती

किमङ्गुष्ठमात्रश्रुत्यनुग्रहाय जीवोपासनापरमेतद्वाक्यमस्तु, तदनुरोधेन चेशानश्रुतिः कथञ्चिद्व्या-ख्यायताम्, आहोस्विदीशानश्रुत्यनुग्रहाय ब्रह्मपरमेतदस्तु, तदनुरोधेनाङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः कथञ्चिन्नीयताम् , तत्रान्यतरस्यान्यतरानुरोधविषये प्रथमानुरोधो न्याय्य इत्यङ्गुष्ठश्रुत्यनुरोधेनेशानश्रुतिर्नेतव्या । अपि च युक्तं हृत्पुण्डरीकदहरस्थानत्वं परमात्मनः, स्थानभेदनिर्देशात् । तद्धि तस्योपलब्धिस्थानं शालग्राम इव कमल-नाभस्य भगवतः । न च तथेहाङ्गुष्ठमात्रश्रुत्या स्थानभेदो निर्दिष्टः, परिमाणमात्रनिर्देशात् । न च मध्य आत्मनीत्यत्र स्थानभेदोऽवगम्यते । आत्मशब्दो ह्ययं स्वभाववचनो वा जीववचनो वा ब्रह्मवचनो वा स्यात् । तत्र स्वभावस्य स्वभवित्रधीननिरूपणतया स्वस्य च भवितुरनिर्देशान्न ज्ञायते कस्य मध्य इति । न च जीव-परयोरस्ति मध्यमञ्जसेति नैव स्थाननिर्देशो विस्पष्टः, स्पष्टस्तु परिमाणनिर्देशः । परिमाणभेदश्च परस्मिन्

भामती-व्याख्या

पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः" (कठो० २।४।१३) इत्यादि श्रुतियों में 'अङ्गुष्ठमात्र' शब्द का अर्थ विचारणीय है ।

संशय—उक्त श्रुतियों में जीवात्मा और परमात्मा का संशय इसलिए हो गया कि—

नाञ्जसा मानभेदोऽस्ति परस्मिन् मानवर्जिते ।
भूतभव्येशिता जीवे नाञ्जसी तेन संशयः ॥

अर्थात् यदि यहाँ परमात्मा (ब्रह्म) का ग्रहण किया जाता है, तब उसमें श्रुति-प्रतिपादित अङ्गुष्ठमात्रता रूप परिमाण विशेष का सामंजस्य नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म को परिमाणातीत माना जाता है और यदि जीव का ग्रहण किया जाता है, तब उसमें "ईशानो भूतभव्यस्य"—इस प्रकार कथित भूत-भावी सकल प्रपञ्च की ईशिता (शासकता) नहीं घटती । अतः यहाँ सन्देह हो जाता है कि क्या उक्त श्रुति-वाक्यों में कथित अङ्गुष्ठमात्र परिमाण के बल पर जीव का उपास्यत्वेन प्रतिपादन मानकर जीव में भूत-भावी जगत् की ईशिता का कथञ्चित् समन्वय किया जाय ? अथवा मुख्य ईशितृत्व के अनुरोध पर ब्रह्म का प्रतिपादन मानकर ब्रह्म में औपाधिक रूप से अङ्गुष्ठमात्रता का समन्वय किया जाय ?

पूर्वपक्ष—जहाँ दो वाक्यों में परस्पर अनुरोध की अपेक्षा होती है, वहाँ प्रथम वाक्य का अनुरोध पहले न्यायोचित माना जाता है, अतः अङ्गुष्ठमात्रता का मुख्यरूप से सामञ्जस्य करने के लिए जीव का प्रतिपादन मान कर भूत-भावी प्रपञ्च की ईशिता का जीव में ही समन्वय किया जाना उचिततर है । इतना ही नहीं, यहाँ परमात्मा का प्रतिपादन मानने पर विगत दहराधिकरण से पुनरुक्ति भी हो जाती है, क्योंकि जैसे दहर (स्वल्प) परिमाण के हृदय में उपलब्ध होने के कारण ब्रह्म को दहराकाश कहा जा सकता है, वैसे ही अङ्गुष्ठमात्र परिमाण के हृदय में उपास्य होने के कारण ब्रह्म को 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' कहा जा सकता है, उपलब्धि-स्थान में उपलभ्यमान का व्यवहार शालग्राम में विष्णु-व्यवहार के समान लोक-प्रसिद्ध है ।

प्रकृत में 'अंगुष्ठमात्र' शब्द के द्वारा किसी उपलब्धि-स्थान का निर्देश नहीं, अपितु परिमाण-विशेष का उल्लेख किया गया है । 'मध्य आत्मनि'—इस वाक्य के द्वारा भी किसी

रूपनयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वम्। स्मृतेश्च—'अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं गतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥' (म० भा० ३।२९७।१७) इति। नहि परमेश्वरो बलाद्यमेन निष्कष्टुं शक्यः। तेन तत्र संसार्यङ्गुष्ठमात्रो निश्चितः, स एवेहापीत्येवं

भामती

सम्भवतीति जीवात्मैवाङ्गुष्ठमात्रः, स खल्वन्तःकरणाद्युपाधिकल्पितो भागः परमात्मनः अन्तःकरणञ्च प्रायेण हृत्कमलकोशस्थानं, हृत्कमलकोशश्च मनुष्याणामङ्गुष्ठमात्र इति तदवच्छिन्नो जीवात्माऽप्यङ्गुष्ठमात्रो नभ इव वंशपर्वावच्छिन्नमरत्निमात्रम्। अपि च जीवात्मनः स्पष्टमङ्गुष्ठमात्रत्वं स्मर्यते—'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्।' इति। नहि सर्वेशस्य ब्रह्मणो यमेन बलान्निष्कर्षः कल्पते। यमो हि जगौ—'हरिगुरुवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः' इति। तेनाङ्गुष्ठमात्रत्वस्य जीवे निश्चयात् आपेक्षिकं किञ्चिद् भूतभव्यं प्रति जीवस्येशानत्वं व्याख्येयम्। एतद्वै तदिति च प्रत्यक्षजीवरूपं परामृशतीति। तस्माज्जीवात्मैवात्रोपास्य इति प्राप्तेऽभिधीयते—

भामती-व्याख्या

स्थान विशेष की अवगति नहीं होती, क्योंकि वहाँ 'आत्म' शब्द या तो स्वभावार्थक होगा, या जीवार्थक. अथवा ब्रह्माभिधायी। उनमें स्वस्य भाव, स्वभावः'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वभाव एक ऐसा धर्म है, जो कि 'स्व' शब्द से अभिमत धर्मी (भविता) की अपेक्षा करता है, किन्तु किसी धर्मी का निर्देश न होने के कारण यह नहीं जाना जा सकता कि 'मध्ये स्वभावे'—यहाँ किसके भाव का मध्य विवक्षित है ? जीवात्मा और परमात्मा दोनों निरंश हैं. अतः उनमें मध्यता (मध्यभागता) का सामञ्जस्य नहीं हो सकता। फलतः 'मध्ये आत्मनि'—इस वाक्य के द्वारा किसी स्थान (उपलब्धि-केन्द्र) का निर्देश नहीं हो सकता। हाँ, 'अंगुष्ठमात्रः' पद के द्वारा परिमाणविशेष का उल्लेख अत्यन्त स्पष्ट है। अंगुष्ठमात्रतारूप परिमाणविशेष परमात्मा का सम्भव नहीं, अतः जीवात्मा ही 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' कहा गया है, क्योंकि वह (जीव) ब्रह्म का अन्तःकरणरूप उपाधि से कल्पित (अवच्छिन्न) एक भाग है। अन्तःकरणरूप आन्तर इन्द्रिय का हृदय गोलक है और मनुष्यों का हृदय प्रायः उनके अंगूठे के परिमाण का होता है, अतः उस (हृदय-कमलस्थ अन्तःकरण) से अवच्छिन्न जीव भी अंगुष्ठमात्र वैसे ही कहा जाता है, जैसे अरत्नि मात्र (कनिष्ठिका को सीधा रखते हुए मुट्ठि-बन्धे हाथ के परिणामवाली) बाँस की पोरी से अवच्छिन्न आकाश को अरत्निमात्र।

इतना ही नहीं महाभारतगत सत्यवान् के उपाख्यान् में जीवात्मा को स्पष्टरूप से अंगुष्ठमात्र कहा गया है—

ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतः।
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥ (म. भार. ३।१९७।१७)

अर्थात् यमराज ने पाश में बन्धे हुए सत्यवान् के शरीर से अंगूठे मात्र के जीवात्मा को बलपूर्वक खींच कर निकाल लिया। ब्रह्म का किसी शरीर से खींच कर निकालना सम्भव नहीं, क्योंकि वहाँ यमराज ने ही कहा है—"प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः" (　　) अर्थात् परमेश्वर तो हमारा (यम का) भी नियमन करता है, वह किसी के भी नियन्त्रण में नहीं, सर्वथा स्वतन्त्र है। फलतः अंगुष्ठमात्रता जीव में ही पर्यवसित होती है, उसके अनुरोध पर यत्किञ्चित् भूतादि पदार्थों की ईशानता (शासकता) जीव में घटाई जा सकती है या ध्यान के लिए सर्वेशिता का निर्देश माना जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि "एतद्वै तत्" (कठो. २।४।१३) इस वाक्य के द्वारा प्रत्यक्षतः जीव का परामर्श किया गया है, क्योंकि उसके पूर्व "येयं प्रेते विचिकित्सा"—इस प्रकार जीव के विषय में ही सन्देह प्रस्तुत किया गया है।

प्राप्ते ब्रूमः परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति। कस्मात्? शब्दात्, 'ईशानो भूतभव्यस्य' इति। नह्यन्यः परमेश्वराद् भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता। 'एतद्वै तत्' इति च प्रकृतं पृष्टमिहानुसंदधाति। एतद्वै तद्यत्पृष्टं ब्रह्मेत्यर्थः। पृष्टं चेह ब्रह्म 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' (का० १।२।१४) इति। शब्दादेवेति, अभिधानश्रुतेरेवेशान इति परमेश्वरोऽयं गम्यत इत्यर्थः॥ २४॥

कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इत्यत्र ब्रूमः—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

सर्वगतस्यापि परमात्मनो हृदयेऽवस्थानमपेक्ष्याङ्गुष्ठमात्रत्वमिदमुच्यते।

भामती

प्रश्नोत्तरत्वादीशानश्रवणस्याविशेषतः।

जीवस्य ब्रह्मरूपत्वप्रत्यायनपरं वचः॥

इह हि भूतभव्यमात्रं प्रति निरङ्कुशमीशानत्वं प्रतीयते। प्राक् पृष्टं चात्र ब्रह्म, अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादित्यादिना। तदनन्तरस्य सन्दर्भस्य तत्प्रतिवचनतोचितेति एतद्वै तदिति ब्रह्माभिधानं युक्तम्। तथा चाङ्गुष्ठमात्रतया यद्यपि जीवोऽवगम्यते, तथापि न तत्परमेतद्वाक्यं, किन्त्वङ्गुष्ठमात्रस्य जीवस्य ब्रह्मरूपताप्रतिपादनपरम्। एवं निरङ्कुशमीशानत्वं न सङ्कोचयितव्यम्। न च ब्रह्मप्रश्नोत्तरता हातव्या, तेन यथा तत्त्वमसीति विज्ञानात्मनस्त्वम्पदार्थस्य तदिति परमात्मनैकत्वं प्रतिपाद्यते, तथेहाप्यङ्गुष्ठपरिमितस्य विज्ञानात्मन ईशानश्रुत्या ब्रह्मभावः प्रतिपाद्यत इति युक्तम्॥ २४॥

ॐ सर्वगतस्यापि परब्रह्मणो हृदयेऽवस्थानमपेक्ष्य इति ॐ। जीवाभिप्रायम्। न चान्यः परमात्मन

भामती–व्याख्या

सिद्धान्त—'अंगुष्ठमात्र' शब्द के द्वारा ब्रह्म का ही निर्देश मानना चाहिए, क्योंकि—

प्रश्नोत्तरत्वाद् ईशानश्रवणस्याविशेषतः।

जीवस्य ब्रह्मरूपत्वप्रत्यायनपरं वचः॥

"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृताद्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद् वद" (कठो० १।२।१४) इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्॥" (कठो० २।४।१३)। अर्थात् जिस अतीतानादि समस्त प्रपञ्च के नियन्ता परमेश्वर के विषय में प्रश्न किया गया है, वह निर्धूम ज्योति के समान देदीप्यमान अंगुष्ठमात्र हृदय में उपलब्ध होनेवाला यह पर ब्रह्म ही है—इस प्रकार प्रश्नोत्तररूप में प्रतिपादित ब्रह्म ही अंगुष्ठमात्र पुरुष है, क्योंकि उसमें ही निखिल प्रपञ्च का निरंकुश शासकत्व है और ब्रह्मविषयक प्रश्न के उत्तर वाक्य के द्वारा प्रतिपादित है। ब्रह्मविषयक प्रश्न के उत्तर में ब्रह्म का ही प्रतिपादन उचिततर है। यद्यपि 'अंगुष्ठमात्र' शब्द के द्वारा सहजतः जीव प्रतीत होता है, तथापि यहाँ 'अंगुष्ठमात्र' शब्द जीवपरक नहीं, किन्तु अंगुष्ठमात्रक जीव की ब्रह्मरूपता के प्रतिपादन में उसका तात्पर्य निश्चित होता है। इस प्रकार न तो निरंकुश ईशानता का संकोच करने की आवश्यकता रह जाती है और न प्रश्न और उत्तर वाक्यों की ब्रह्मपरता का परित्याग करना पड़ता है। अतः जैसे "तत्त्वमसि"—इस वाक्य के द्वारा त्वं पदार्थभूत जीव और तत्पदार्थरूप ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया जाता है, वैसे ही यहाँ भी अंगुष्ठ परिमाण के जीव की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन "ईशानो भूतभव्यस्य"—इस वाक्य के द्वारा किया जाना युक्ति-युक्त है॥ २४॥

"सर्वगतस्यापि परब्रह्मणो हृदयेऽवस्थानमपेक्ष्य"—इस भाष्य में सर्वगत ब्रह्म का

आकाशस्येव 'वंशपर्वापेक्षमरत्निमात्रत्वम्'। नह्यञ्जसाऽतिमात्रस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते। न चान्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हतीशानशब्दादिभ्य इत्युक्तम्। ननु प्रतिप्राणिभेदं हृदयानामनवस्थितत्वात्तदपेक्षमप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं नोपपद्यत इत्यत उत्तरमुच्यते—मनुष्याधिकारत्वादिति। शास्त्रं ह्यविशेषप्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाधिकरोति, शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वादुपनयनादिशास्त्राच्चेति वर्णितमेतदधिकारलक्षणे (जै० ६।१)। मनुष्याणां च नियतपरिमाणः कायः। औचित्येन नियतपरिमाणमेव चैषामङ्गुष्ठमात्रं हृदयम्। अतो मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः। यदप्युक्तं—परिमाणोपदेशात्स्मृतेश्च संसार्येवायमङ्गुष्ठमात्रः प्रत्येतव्य इति, तत्प्रत्युच्यते—'स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादिवत्संसारिण एव सतोऽ-

भामती

इह ग्रहणमर्हतीति न जीवपरमेतद्वाक्यमित्यर्थः। ॐ मनुष्यानेव इति ॐ त्रैवर्णिकानेवेति। ॐ अर्थित्वाद् इति ॐ अन्तःसंज्ञानां मोक्षमाणानां च काम्येषु कर्मस्वधिकारं निषेधति। ॐ शक्तत्वाद् इति ॐ तिर्यग्देवर्षीणामशक्तानामधिकारं निवर्त्तयति ॐ उपनयनादिशास्त्राच्च इति ॐ शूद्राणामनधिकारितां दर्शयति ॐ यदप्युक्तं परिमाणोपदेशात् स्मृतेश्च इति ॐ। यद्येतत्परमात्मपरं किमिति तर्हि जीव इहोच्यते। ननु परमात्मैवोच्यताम्, उच्यते च जीवः, तस्माज्जीवपरमेवेति भावः। परिहरति ॐ तत्प्रत्युच्यते

भामती-व्याख्या

जो हृदय में अवस्थान कहा है, वह जीवभावापन्न ब्रह्म के अभिप्राय से कहा है, अन्यथा 'सर्वगतस्य हृदयेऽवस्थानम्'—ऐसा कहना परस्पर विरुद्ध पड़ जाता है, अतः यहाँ 'सर्वगतं यद् ब्रह्म जीवभावापन्नस्य तस्य हृदयेऽवस्थानम्'—ऐसी योजना विवक्षित है। "न चान्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हति"—इस भाष्य का अर्थ है—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' एतद्वाक्यं जीवपरं न भवति", अर्थात् उक्त वाक्य के घटकीभूत 'अंगुष्ठमात्र' पद के द्वारा जीव का निर्देश होने पर भी पूरा वाक्य जीवपरक नहीं हो सकता, क्योंकि 'सर्वेशानत्व का जीव में सामञ्जस्य नहीं होता। "शास्त्रं मनुष्यानेवाधिकरोति"—इस भाष्य में 'मनुष्य' पद केवल त्रैवर्णिकपरक है; क्योंकि अपशूद्राधिकरण (जै. सू. ६।१।२५) में निश्चय किया गया है कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इत्यादि विधि वाक्यों का ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य'—इन तीन वर्णों को ही अधिकारी माना गया है। श्रौत कर्म के अधिकारी व्यक्ति के (१) अर्थित्व (कामनातत्त्व) (२) शक्तत्व, (३) अनिषिद्धत्व, (४) उपनयनादि संस्कार-युक्तत्व—ये चार विशेषण माने गए हैं। उनमें अर्थित्व विशेषण के द्वारा अन्तःसंज्ञक (स्थावरादि एवं निष्काम मुमुक्षु पुरुषों का काम्य कर्मों में अधिकार निवृत्त (निषिद्ध) किया गया है, शक्तत्व विशेषण के द्वारा तिर्यक् (पशु-पक्ष्यादि), देवगण एवं ऋषिगणों का कर्म में अधिकार वर्जित किया गया है, क्योंकि जैसे मनुष्य इन्द्रादि देवों के उद्देश्य से हविरादिगत स्वत्व का त्याग (याग) कर सकते हैं, वैसे इन्द्रादि देवगण अपने उद्देश्य से स्वत्व का त्याग और परस्वत्वापादन नहीं कर सकते। वसिष्ठादि ऋषिगण भी आर्षेयवरण के अवसर पर अपने से भिन्न वसिष्ठादि का वरण नहीं कर सकते। उपनयनादि संस्कारों द्वारा शूद्रादि असंस्कृत मनुष्यों का कर्म में अधिकार समाप्त किया गया है। जैमिनि-सूत्रों के छठे अध्याय में अधिकार की विस्तृत चर्चा की गई है।

"यदप्युक्तं परिमाणोपदेशात्"—इस भाष्य के द्वारा जो इस शङ्का का अनुवाद किया गया है कि 'यदि उक्त वाक्य ब्रह्मपरक है, तब उसमें जीव का निर्देश क्यों किया गया? ब्रह्म का ही निर्देश करना चाहिए था, किन्तु जीव का निर्देश अंगुष्ठमात्र' शब्द के द्वारा किया

ङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मत्वमिदमुपदिश्यत इति। द्विरूपं हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः, कचित्परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा, कचिद्विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा। तदत्र विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वमुपदिश्यते, नाङ्गुष्ठमात्रत्वं कस्यचित्। एवमेवार्थं परेण स्फुटीकरिष्यति—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतम्' (का० २।६।१७) इति ॥२५॥

(८ देवताधिकरणम् । सू० २६—३३)

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षा मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तं, तत्प्रसङ्गेनेदमुच्यते। बाढम्, मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्, नतु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञाने नियमोऽस्ति। तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद्ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति बादरायण आचार्यो मन्यते। कस्मात्? संभवात्। संभवति हि तेषामप्यर्थित्वाद्यधिकारकारणम्। तत्रार्थित्वं तावन्मोक्षविषयं देवादीनामपि संभवति विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालोचनादिनिमित्तम्। तथा सामर्थ्यमपि तेषां संभवति, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो

भामती

इति *। जीवस्य हि तत्त्वं परमात्मभावः, तद्वक्तव्यम्, न च तज्जीवमनभिधाय शक्यं वक्तुमिति जीव उच्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

देवर्षीणां ब्रह्मविज्ञानाधिकारचिन्ता समन्वयलक्षणेऽसङ्गतेत्यस्याः प्रासङ्गिकीं सङ्गतिं दर्शयितुं प्रसङ्गमाह * अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः इति *। स्यादेतद्—देवादीनां विविधविचित्रानन्दभोगभागिनां वैराग्याभावान्नार्थित्वं ब्रह्मविद्यायामित्यत आह * तत्रार्थित्वं तावन्मोक्षविषयम् इति *। क्षयातिशययोगस्य स्वर्गाद्युपभोगेऽपि भावादस्ति वैराग्यमित्यर्थः। ननु देवादीनां विग्रहाद्यभावेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षजायाः प्रमाणाविवृत्तेरनुपपत्तेरविद्वत्तया सामर्थ्याभावेन नाधिकार इत्यत आह * तथा सामर्थ्यमपि तेषाम्

भामती-व्याख्या

जाता है, अतः उक्त वाक्य जीवपरक ही है, ब्रह्मपरक नहीं।' उस शङ्का का परिहार किया जाता है—"तत्प्रत्युच्यते"। आशय यह है कि जीव के ब्रह्मस्वरूप वास्तविक स्वरूप का उपदेश विवक्षित है, वह जीव के स्वरूप का अभिधान न करके नहीं किया जा सकता, अतः 'अङ्गुष्ठमात्र' शब्द के द्वारा जीव का अभिधान किया गया है ॥ २५ ॥

'इन्द्रादि देवताओं को भी ब्रह्मज्ञान में अधिकार है'—यह विचार यद्यपि इस समन्वयाध्याय में संगत नहीं, तथापि प्रासङ्गिक संगति को लेकर वह विचार किया गया है—ऐसा भाष्यकार कह रहे हैं—"अंगुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षया, मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तम्, तत्प्रसङ्गेनेदमुच्यते।" 'देवगण स्वर्ग के विविध आनन्दप्रद भोगों में लिप्त हैं, उन्हें उससे वैराग्य न होने के कारण ब्रह्मविद्या में प्रवृत्ति क्योंकर होगी?' इस शङ्का का समाधान है—"तत्रार्थित्वं तावत् मोक्षविषयं देवादीनामपि सम्भवति"। अर्थात् स्वर्ग-सुखादि में भी क्षयित्व और उत्कर्षापकर्षभाव (न्यूनाधिकरूपता) आदि दोषों के कारण वैराग्य हो जाता है, वैराग्य हो जाने पर मोक्षार्थिता सम्भव हो जाती है। 'देवगणों का शरीरादि न होने के कारण इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-सापेक्ष प्रमाणादि व्यवहार क्योंकर होगा? एवं वेदाध्ययनादि सामर्थ्य का अभाव होने के कारण ज्ञान में भी अधिकार कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर है—"तथा

विग्रहवत्त्वाद्यवगमात्। न च तेषां कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति। नचोपनयनशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत, उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात्। तेषां च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात्। अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति—'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' (छा० ८।११।३), 'भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्म' (तै० ३।१) इत्यादि। यदपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्—'न देवानां देवतान्तराभावात्' (जै० ६।१।६) इति, 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' (जै० ६।१।७) इति। न तद्विद्यास्वस्ति। न हीन्द्रादीनां विद्यास्वधिक्रियमाणानामिन्द्राद्युद्देशेन किंचित्कृत्यमस्ति। न च भृग्वादीनां भृग्वादिसगोत्रतया। तस्माद्देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते? देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्यते॥ २६॥

भामती

इति ॐ। यथा च मन्त्रादिभ्यस्तदवगमस्तथोपरिष्टादुपपादयिष्यते। ननु शूद्रवदुपनयनासम्भवेनाध्ययनाभावात्तेषामनधिकार इत्यत आह ॐन चोपनयनशास्त्रेण इतिॐ। न खलु विधिवद् गुरुमुखाद्गृह्यमाणो वेदः फलवत्कर्मब्रह्मावबोधहेतुः, अपि त्वध्ययनोत्तरकालं निगमनिरुक्त-व्याकरणादिविदितपदतदर्थसङ्गतेरधिगतशाब्दन्यायतत्त्वस्य पुंसः स्मर्य्यमाणः स च मनुष्याणामिह जन्मनीव देवादीनां प्राचि भवे विधिवदधीतानाम् आम्नाय इह जन्मनि स्मर्य्यमाणोऽत एव स्वयं प्रतिभातो वेदः सम्भवतीत्यर्थः। न च कर्मानधिकारे ब्रह्मविद्यानधिकारो भवतीत्याह ॐ यदपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम् इति ॐ। वस्वादीनां हि न वस्वाद्यन्तरमस्ति, नापि भृग्वादीनां भृग्वाद्यन्तरमस्ति। प्राचां वसुभृगुप्रभृतीनां क्षीणाधिकारत्वेनेदानीं देवर्षित्वाभावादित्यर्थः॥ २६॥

भामती—व्याख्या

सामर्थ्यमपि तेषां सम्भवति, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वावगमात्"। मन्त्रादि के द्वारा देवों के विग्रहादि का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक आगे किया जा रहा है। उपनयनादि संस्कारों की आवश्यकता देवताओं को नहीं, क्योंकि वेदाध्ययन के लिए ब्राह्मणादि का उपनयन किया जाता है किन्तु वेदाध्ययन के बिना ही देवताओं को स्वभावतः वेदार्थ-ज्ञान होता है—'तेषां च स्वयं प्रतिभातवेदत्वात्"। आशय यह है कि सविधि गुरु-मुख से वेद का अध्ययन कर लेनेमात्र से वेदार्थ का पूर्ण ज्ञान नहीं होता, अपितु अध्ययन के पश्चात् निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि की सहायता से जिस व्यक्ति ने पद-पदार्थ-संगति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उस पुरुष के द्वारा स्मर्यमाण वेद अभिलषित वेदार्थरूप कार्य का यथावत् ज्ञान उत्पन्न करता है। वह स्मर्यमाण वेद-मनुष्यों का तो इसी जन्म में अधीत होता है, किन्तु देवताओं का पूर्वजन्म में अधीत वेद इस जन्म में स्मर्यमाण होकर कर्मावबोधक होता है। इसीलिए देवताओं का वेद स्वयं प्रतिभात कहा जाता है। कर्म में अधिकार न होने के कारण ज्ञान में भी अधिकार नहीं होता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि भाष्यकार कहते हैं—'यदपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्—'न देवानां देवतान्तराभावात्' (जै० सू० ६।१।६)। इति न तद्विद्यास्वस्ति"। अर्थात् जैसे कर्म में इन्द्रादि देवताओं के लिए ऐन्द्रादि कर्मों में अपने से भिन्न इन्द्रादि देवताओं की अपेक्षा होती है, वैसे ज्ञान में किसी प्रकार की वैसी अपेक्षा नहीं होती। वस्वादि देवों को वसुदेवताक कर्म में अधिकार इसलिए नहीं कि उनसे भिन्न वस्वादि देवताओं की सत्ता नहीं मानी जाती, किन्तु ज्ञान में सभी देवताओं को अधिकार निराबाध है॥ २६॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

स्यादेतद्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्येत। विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत। तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्। नहीन्द्रादीनां स्वरूपसंनिधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते। नच संभवति; बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसंनिधानतानुपपत्तेरिति चेत्, नायमस्ति विरोधः, कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः। एकस्यापि देवतात्मनो युगपदनेक-

भामती

मन्त्रादिपदसमन्वयात्प्रतीयमानोऽर्थः प्रमाणान्तराविरोधे सत्युपेयः, न तु विरोधे। प्रमाणान्तर-विरुद्धं चेदं विग्रहवत्त्वादिदेवतायाः, तस्माद्यजमानः प्रस्तर इत्यादिवदुपचरितार्थो मन्त्रादिर्व्याख्येयः। तथा च विग्रहाद्यभावाच्छब्दोपहितार्थोऽर्थोपहितो वा शब्दो देवतेत्यचेतनत्वान्नैतस्याः क्वचिदप्यधिकार इति शङ्कार्थः।

निराकरोति *न, कस्माद्? अनेकरूपप्रतिपत्तेः*। सैव कुत इत्यत आह *दर्शनात्*। श्रुतिषु स्मृतिषु च। तथा ह्येकस्यानेककायनिर्माणमदर्शनाद्वा न युज्यते, बाधदर्शनाद्वा? तत्रादर्शनमसिद्धं, श्रुति-स्मृतिभ्यां दर्शनात्। न हि लौकिकेन प्रमाणेनादृष्टत्वादागमेन दृष्टमदृष्टं भवति। मा भूद्यागादीनामपि स्व-र्गादिसाधनत्वमदृष्टमिति। मनुष्यशरीरस्य मातापितृसंयोगजत्वनियमात् असति पित्रोः संयोगे कुतः संभवः?

भामती—व्याख्या

शङ्का—मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणादि के घटकीभूत पदों के द्वारा प्रतीयमान वस्तु-तत्त्व को तभी स्वीकृत किया जा सकता है, जब कि किसी अन्य प्रमाण का विरोध न होता हो, किन्तु देवताओं के शरीरादि का प्रतिपादन प्रमाणान्तर से विरुद्ध है, अतः देव-विग्रहादि के प्रतिपादक वाक्यों को वैसे ही अर्थवादमात्र मानना होगा, जैसे—"यजमानः प्रस्तरः" (तै. सं. २।६।५।३) यह वाक्य। [भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है—"यच्चोक्तं स्मृत्युप-चारान्यार्थदर्शनैर्विग्रहवती भुङ्क्ते चेति। तन्न, स्मृतेर्मन्त्रार्थवादमूलत्वात्" (शाबरभाष्य पृ. १६५३)] शरीरादि से रहित देवता का स्वरूप केवल इन्द्रादि शब्द अथवा उसका यौगिक अर्थ ही माना जा सकता है, जो कि चेतन नहीं, जड़मात्र है, अतः कर्म या ज्ञान में कहीं भी उसको अधिकार नहीं।

समाधान—उक्त शङ्का निराकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं—"नायमस्ति विरोधः, कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः"। एक देवता का समानकालिक अनेक कर्मों में उपस्थित हो जाना प्रमाण-विरुद्ध नहीं, क्योंकि एक देवता अनेक रूप धारण कर सकता है, वैसा ही श्रुतियों और स्मृतियों में देखा जाता है। आशय यह है कि एक देवता की अनेकरूपापत्ति क्या योगिजनों के अनेक काय-निर्माण का अदर्शन होने के कारण नहीं मानी जा सकती? अथवा अनेकरूपापत्ति में कोई प्रबल बाधक उपलब्ध होता है? प्रथम हेतु योगियों के अनेक-शरीर-निर्माण का अदर्शन असिद्ध है, क्योंकि श्रुतियों से लेकर स्मृतियों तक योगियों के अनेक शरीर-निर्माण की गाथाएँ प्रसिद्ध हैं। जो पदार्थ आगम प्रमाण से सिद्ध है, वह केवल लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुमोदित न होने के कारण असिद्ध नहीं हो जाता, जैसे कि आगमप्रमाण से प्रमाणित यागादिगत स्वर्ग-साधनता प्रत्यक्षतः अदृष्ट होनेमात्र से निवृत्त नहीं होती।

शङ्का—एक देवता की अनेकरूपापत्ति में बाधक उपलब्ध होने के कारण वह सम्भव नहीं। अनेकरूपापत्ति की बाधक युक्ति यह है कि जो शरीर माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होता है, वह शरीर माता-पिता के संयोग के बिना कैसे बन जायगा? यदि वह अपनी

स्वरूपप्रतिपत्तिः संभवति। कथमेतदवगम्यते ? दर्शनात्। तथा हि—'कति देवाः' इत्युपक्रम्य 'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' इति निरुच्य 'कतमे ते' इत्यस्यां

भामती

सम्भवे वाऽनग्नितोऽपि धूमः स्यादिति बाधदर्शनमिति चेत्, हन्त किं शरीरत्वेन हेतुना देवादिशरीरमपि मातापितृसंयोगजं सिषाधयिषसि। तथा चानेकान्तो हेत्वाभासः। स्वेदजोद्भिज्जानां शरीराणामतद्धेतुत्वात्। इच्छामात्रनिर्माणत्वं देहादीनामदृष्टचरमिति चेत्, न, भूतोपादानत्वेनेच्छामात्रनिर्माणत्वासिद्धेः। भूतवशिनां हि देवादीनां नानाकायचिकीर्षावशाद्भूतक्रियोत्पत्तौ भूतानां परस्परसंयोगेन नानाकायसमुत्पादात्। दृष्टा च वशिनं इच्छावशाद्वश्ये क्रिया, यथा विषविद्याविद इच्छामात्रेण विषशकलप्रेरणम्। न च विषविद्याविदो दर्शनेनाधिष्ठानदर्शनाद्व्यवहितविप्रकृष्टभूतादर्शनाद्देवादीनां कथमधिष्ठानमिति वाच्यम्। काचाभ्रपटलपिहितस्य विप्रकृष्टस्य च भौमशनैश्चरादेर्दर्शनेन व्यभिचारात्। अस्मदाद्य दृष्टयो देवादीनां काचाभ्रपटलादिवन्महीमहीधरादिभिर्न व्यवधीयन्ते। न चास्मदादिवत्तेषां शरीरित्वेन व्यवहितविप्रकृष्टादिदर्शनासम्भवोऽनुमीयत इति वाच्यम्। आगमविरोधिनोऽनुमानस्योत्पादायोगात्। अन्तर्धानं चाञ्जनादिना मनुजादीनामिव तेषां प्रभवतामुपपद्यते, तेन सन्निहितानामपि न क्रतुदेशे दर्शनं भविष्यति। तस्मात् सूक्तमनेकप्रतिपत्तेरिति। ❀ तथाहि कति देवा इत्युपक्रम्य इति ❀। वेदवद्देवतास्त्रस्य

भामती—व्याख्या

कारण-सम्पत्ति के बिना ही बन सकता है, तब बिना अग्नि के धूम और शब्दादि के बिना ही शाब्दबोधादि कार्य होना चाहिए, किन्तु नहीं होता। इसी प्रकार अपनी सामग्री के बिना अनेक शरीरों की रचना नहीं हो सकती।

समाधान—देवता के शरीर में यदि शरीरत्वरूप हेतु के द्वारा माता-पितृसंयोगजन्यत्व सिद्ध किया जाता है, तो वैसा सम्भव नहीं, क्योंकि "यत्र यत्र शरीरत्वम्, तत्र तत्र मातापितृजन्यत्वम्"—यह नियम व्यभिचरित है, जैसे कि जुआँ आदि स्वेदज और वृक्षादि उद्भिज्ज शरीरों में शरीरत्व रहने पर भी मातापितृसंयोगजन्यत्व नहीं होता। फिर भी उपादानकारणीभूत पृथिव्यादि भूतों के बिना इच्छामात्र के द्वारा भौतिक शरीर का निर्माण क्योंकर होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि योगिजनों की इच्छा 'भूतजातमन्तरा शरीरं जायताम्'—ऐसी नहीं होती अपितु भूतवर्ग उनके वश में होते हैं, अतः उनका भूतों को सीधा आदेश होता है कि 'भूतानि शरीरमारभन्ताम्', फलतः परस्पर संयुक्त पाँच भूतों के द्वारा अभीष्ट शरीरों की रचना वैसे ही हो जाती है, जैसे सर्पादि के विष को उतारनेवाले मान्त्रिक की इच्छा से विष के परमाणु सक्रिय होकर नीचे उतरने लग जाते हैं। मान्त्रिक को जैसे रोगी के शरीर में विष की तरङ्ग दिखाई देती है, अतः वह उसका अधिष्ठाता (सञ्चालक) हो जाता है, वैसे ही योगियों और देवताओं के द्वारा सभी भूत सञ्चालित हो जाते हैं। जैसे शीशा, अभ्रक और मेघादि पारदर्शक-पदार्थों को मानवीय दृष्टि पार कर जाती है, वैसे ही योगियों और देवताओं की दृष्टि पर्वतादि को भी पार कर दूर-दूर तक फैल जाती है। उनकी दृष्टि किसी भी पदार्थ से अवरुद्ध नहीं होती। जब कि साधारण दृष्टि मंगल, बुध और शनैश्चरादि ग्रहों तक पहुँच जाती है, तब योगिजनों की दृष्टि व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों को क्यों न ग्रहण कर लेगी? 'देवादीनां शरीरं न व्यवहितं गृह्णाति, शरीरत्वाद्, अस्मदादिशरीरवत्'—यह अनुमान देवशरीर-प्रतिपादक आगम प्रमाण से बाधित है, अतः इसके द्वारा व्यवहितादि पदार्थों के अदर्शन का अनुमान नहीं किया जा सकता। यागादि-स्थल पर देवता दिखाई इस लिए नहीं देते कि उनमें अन्तर्धान हो जाने की शक्ति वैसे ही होती है, जैसे नेत्र में अभिमन्त्रित अञ्जनादि के प्रयोग से मनुष्यों में अन्तर्धान की शक्ति आ जाती है।

पृच्छायाम् 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः' (बृ० ३।९।१,२) इति निर्ब्रुवती श्रुतिरेकैकस्य देवतात्मनो युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडन्तर्भावक्रमेण 'कतम एको देव इति प्राणः' इति प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन्ती तस्यै-

भामती

हि निविदि कति देवा इत्युपक्रम्य निविदैवोत्तरं दत्तं शाकल्याय याज्ञवल्क्येन ॐ त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा इति ॐ। निविन्नाम शस्यमानदेवतासंख्यावाचकानि मन्त्रपदानि। एतदुक्तं भवति—वैश्वदेवस्य निविदि कति देवाः शस्यमानाः प्रसंख्याता इति शाकल्येन पृष्टे याज्ञवल्क्यस्योत्तरं त्रयश्च त्री च शतेत्यादि। यावत्संख्याका वैश्वदेवनिविदि संख्याता देवास्त एतावन्त इति। पुनश्च शाकल्येन कतमे त इति संख्येयेषु पृष्टेषु याज्ञवल्क्यस्योत्तरं महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इन्द्रश्च प्रजापतिश्चेति त्रयस्त्रिंशद्देवाः। तत्राग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चेति वसवः। एते हि प्राणिनां कर्मफलाश्रयेण कार्यकारणसङ्घातरूपेण परिणमन्तो जगदिदं सर्वं वासयन्ति, तस्माद्वसवः। कतमे रुद्रा इति दशमे पुरुषे प्राणाः। बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि दश, एकादशं च मन इति। तदेतानि प्राणाः, तद्वृत्तित्वात्। ते हि प्रायणकाल उत्क्रामन्तः पुरुषं रोदयन्तीति रुद्राः। कतम आदित्या इति द्वादशमासाः संवत्सरस्यावयवाः पुनःपुनः परिवर्तमानाः प्राणभृतामायूंषि च कर्मफलोपभोगं चादाय यन्तीत्यादित्याः। अशनिरिन्द्रः स हि बलं सा हीन्द्रस्य परमा ईशता तया हि सर्वान् प्राणिनः प्रमापयति तेन स्तनयित्नुरशनिरिन्द्रः। यज्ञः प्रजापतिरिति, यज्ञसाधनं च यज्ञरूपं च पशवः प्रजापतिः। एत एव त्रयस्त्रिंशद्देवाः षण्णामग्निपृथिवीवाय्वन्तरिक्षादित्यदिवां महिमानो न ततो भिद्यन्ते। षडेव तु देवाः। ते तु षडग्निं पृथिवीं चैकीकृत्यान्तरिक्षं वायुं चैकीकृत्य दिवं चादित्यं चैकीकृत्य त्रयो लोकास्त्रय एव देवा भवन्ति। एत एव च त्रयोऽन्नप्राणयोरन्तर्भवन्तोऽन्नप्राणौ द्वौ देवौ भवतः। तावप्यध्यर्द्धो देव एकः। कतमोऽध्यर्द्धः। योऽयं वायुः पवते। कथमयमेक

भामती—व्याख्या

श्रुतियों के द्वारा देवताओं का अनेकरूप धारण करना प्रतिपादित है—"अनेकप्रतिपत्तेः"। वैश्वदेवदेवताक शस्त्र (अप्रगीत स्तोत्र) के निवित्संज्ञक मन्त्र में "कति देवाः"—ऐसा प्रश्न उठा कर उत्तर दिया गया है कि "त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च सहस्रा" अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः। शाकल्य ने फिर प्रश्न उठाया—"कतमे ते ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"महिमानः एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः" (बृह उ. ३।९।२)। अर्थात् यह तो देवशरीरों का विस्तार है, वस्तुतः देवता तैंतीस ही है—आठ वसु [(१) अग्नि, (२) पृथिवी, (३) वायु, (४) अन्तरिक्ष, (५) आदित्य, (६) द्यु, (७) चन्द्रमा और (८) नक्षत्र], ग्याहर रुद्र (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन), बारह आदित्य (१२ मास), इन्द्र और प्रजापति। अग्नि आदि आठों तत्त्व प्राणों को अपने में बसाते या वास के योग्य बनाते हैं, अतः उन्हें वसु कहते हैं। कथित एकादश इन्द्रिय महाप्रयाण के समय जीव को रुलाते (रोदन कराते) हैं, अतः वे रुद्र शब्द से अभिहित किए गए हैं। बारह मास पुरुष की आयु का आदान (क्षय) करने के कारण आदित्य कहे जाते हैं। अशनि (वज्र) ही यहाँ इन्द्र है, क्योंकि वह इन्द्र का वह महान् ऐश्वर्य (बल) है, जिसके द्वारा इन्द्र सभी प्राणियों की मृत्यु कर देता है। यज्ञ एवं यज्ञ के साधनीभूत पशु ही प्रजापति हैं।

ऊपर चर्चित तैंतीस देवता जिन छः देवताओं के अन्तर्गत होते हैं, वे आठ वसुओं में से अग्नि और पृथिवी एवं अन्तरिक्ष और वायु को एक में मिला देने से छः सम्पन्न होते हैं। उन छहों में से भी अग्नि और पृथिवी, अन्तरिक्ष और वायु, द्यु और आदित्य का एकीकरण कर देने से तीन ही देवता रह जाते हैं। ये तीनों भी अन्न और प्राण—इन दोनों में

वैकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा स्मृतिरपि—'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ॥ योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥ प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्॥ संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥' इत्येवंजातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति, किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां देवानाम्? अनेकरूपप्रतिपत्तिसंभवाच्चैकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभावं गच्छतीति। परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिक्रियायोगादित्युपपद्यते। अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यस्यापरा व्याख्या—विग्रहवतामपि कर्माङ्गभावचोदनास्वनेका प्रतिपत्तिर्दृश्यते। क्वचिदेकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं न गच्छति, यथा बहुभिर्भोजयद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद् भोज्यते। क्वचिच्चैकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको

भामती

एताध्यर्द्धः, यदस्मिन् सति सर्वमिदमध्यर्द्धाद्वृद्धिं प्राप्नोतीति। तेनाध्यर्द्ध इति। कतम एक इति, स एवाध्यर्द्धः प्राण एको ब्रह्म। सर्वदेवात्मत्वेन बृहत्त्वाद्ब्रह्म तदेव त्यदित्याचक्षते परोक्षाभिधायकेन शब्देन, तस्मादेकस्यैव देवस्य महिमवशाद्युगपदनेकदैवरूपतामाह श्रुतिः। स्मृतिश्च निगदव्याख्याता। अपि च पृथग्जनानामप्युपायानुष्ठानवशात्प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां युगपन्नानाकायनिर्माणं श्रूयते, तत्र कैव कथा देवानां स्वभावसिद्धानामित्याह ❀ प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनाम् इति ❀। अणिमा लघिमा महिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायितेत्यैश्वर्याणि। ❀ अपरा व्याख्या इति ❀। अनेकत्र कर्मणि युगपदङ्गभावप्रतिपत्तिरङ्गभावगमनं, तस्य दर्शनात्। तदेव परिस्फुटं दर्शयितुं व्यतिरेकं तावदाह ❀ क्वचिदेकः इति ❀। न खलु बहुषु श्राद्धेष्वेको ब्राह्मणो युगपदङ्गभावं गन्तुमर्हति। एकस्यानेकत्र

भामती-व्याख्या

अन्तुर्भुक्त हो जाने पर दो देवता और उन दोनों का एकीकरण करने पर एक ही प्राणरूप देवता रहता है, जिसे अध्यर्ध (वृद्धिगत, बृहत् अथवा बृहंयिता) हो जाने के कारण ब्रह्म है एवं परोक्षार्थक 'त्यत्' पद के द्वारा अभिहित होता है। इस प्रकार श्रुति एक देवता की अनेकरूपता का प्रतिपादन करती है। स्मृतिकारों ने तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि योगिगण अपने योग बल के द्वारा अपने अनेक शरीर धारण कर सम्पूर्ण पृथिवी पर विचरने लगते हैं। कतिपय शरीरों के माध्यम से विषयोपभोग और कतिपय शरीरों से उग्र तपश्चरण करते हैं। अन्त में योगी अपने उन सभी शरीरों का वैसे ही उपसंहार कर लेता है, जैसे सायं काल में सूर्य अपनी समस्त रश्मियों को समेट लेता है।

(१) अणिमा (अपने शरीर को अत्यन्त सूक्ष्म कर लेना), (२) महिमा (शरीर को विशाल बना लेना), (३) लघिमा (शरीर को रुई से भी हल्का बना लेना), (४) प्राप्ति (पृथिवी पर बैठे-बैठे हाथ को इतना लम्बा कर देना कि चन्द्रादि को भी छू ले), (५) ईशिता (सृष्टि और प्रलय की शक्ति का लाभ), (६) वशिता (समस्त जगत् के नियमन का सामर्थ्य), (७) प्राकाम्य (इच्छा का अनभिघात) और (८) यत्र कामावसायिता (संकल्पित वस्तु का तुरन्त लाभ) इत्यादि सिद्धियाँ जब कि एक साधारण मनुष्य को भी योगबल से मिल जाती हैं, तब आजान-सिद्ध देवताओं के लिए कहना ही क्या?

"अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्"—इस सूत्रांश की अन्य व्याख्या प्रस्तुत की जाती है—'अपरा व्याख्या"। शरीरधारी प्राणियों में भी विविधता पाई जाती है कि कोई व्यक्ति एक ही समय अनेक कर्मों का अङ्ग नहीं बनता, जैसे विभिन्न स्थानों में अनेक यजमानों के द्वारा दिए जानेवाले ब्रह्म-भोजों में एक ब्राह्मण सर्वत्र भाग नहीं ले सकता और कहीं एक ही

ब्राह्मणो युगपन्नमस्क्रियते। तद्वदिहोद्देशपरित्यागात्मकत्वाद्यागस्य विग्रहवतीमप्येकां देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं युगपत्परित्यक्ष्यन्तीति विग्रहवत्त्वेऽपि देवतानां न किंचित्कर्मणि विरुध्यते ॥ २७ ॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥

मा नाम विग्रहवत्त्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोधः प्रसञ्जि। शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत। कथम्? औत्पत्तिकं हि शब्दस्यार्थेन संबन्धमाश्रित्य 'अनपेक्षत्वात्' इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम्। इदानीं तु विग्रहवती देवताऽभ्युपगम्यमाना यद्यप्यैश्वर्ययोगाद्युगपदनेककर्मसंबन्धीनि हवींषि भुञ्जीत, तथापि विग्रहयोगादस्मदादिवज्जननमरणवती सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्ये संबन्धे प्रतीय-

---

भामती

युगपदङ्गभावमाह * क्वचिच्चैक इति *। यथैकं ब्राह्मणमुद्दिश्य युगपन्नमस्कारः क्रियते बहुभिस्तथा स्वस्थानस्थितामेकां देवतामुद्दिश्य बहुभिर्यजमानैर्नानादेशावस्थितैर्युगपद्धविस्त्यज्यते, तस्याश्च तत्रासन्निहिताया अप्यङ्गभावो भवति। अस्ति हि तस्या युगपद्विप्रकृष्टानेकार्थोपलम्भसामर्थ्यमित्युपपादितम् ॥२७॥

गोत्वादिवत्पूर्वापरामर्शाभावादुपाधेरप्येकस्याप्रतीतेः पाचकादिवद् आकाशादिशब्दवद् व्यक्तिवचना एव वस्वादिशब्दाः तस्याश्च नित्यत्वात्तया सह सम्बन्धो नित्यो भवेत्। विग्रहादियोगे तु सावयवत्वेन वस्वादीनामनित्यत्वात्ततः पूर्वं वस्वादिशब्दो न स्वार्थेन सम्बद्ध आसीत् स्वार्थस्यैवाभावात्। ततश्चोत्पन्ने वस्वादौ वस्वादिशब्दसम्बन्धः प्रादुर्भवन् देवदत्तादिशब्दसम्बन्धवत्पुरुषबुद्धिप्रभव इति तत्पूर्वको वाक्यार्थप्रत्ययोऽपि पुरुषबुद्ध्यधीनः स्यात्। पुरुषबुद्धिश्च मानान्तराधीनजन्मेति मानान्तरापेक्षया प्रामाण्यं

भामती–व्याख्या

ब्राह्मण अनेक देश-काल में किए जानेवाले कर्मों का अङ्ग बन जाता है, जैसे विभिन्न देशों में एक ही समय किये जानेवाले नमस्कार कर्मों का एक ही ब्राह्मण अङ्ग (उद्देश्य) बन जाता है। ठीक उसी प्रकार अपने नियत स्थान में अवस्थित एक ही देवता के उद्देश्य से विभिन्न यजमानों के द्वारा विविध देशों में अनेक यागों का अनुष्ठान किया जा सकता है, क्योंकि देवता के उद्देश्य से द्रव्य (हवि) का त्याग ही याग कहलाता है, उसके लिए देवता का यजमान के सन्निहित होना आवश्यक नहीं, "असन्निहित देवता भी उस त्यागात्मक याग का अङ्ग (उद्देश्य या सम्प्रदान कारक) बन जाता है। देवता में यह सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है कि वह अपने एक ही स्थान में अवस्थित होकर भी अनेक विप्रकृष्ट (दूर-दूर) देशों में किए जानेवाले यागों का साक्षात्कार कर त्यज्यमान हवि को स्वीकार कर ले—ऐसा ऊपर कहा जा चुका है ॥ २७ ॥

इस सूत्र में शङ्कावादी का आशय यह है कि इन्द्रादि देवगण एक-एक व्यक्त्यात्मक होने के कारण उनमें 'अयं गौः–अयं गौः'—इस प्रकार गोत्व जाति के समान न कोई इन्द्रत्वादि जाति का परामर्श होता है और न आकाशत्वादि के समान किसी अखण्ड उपाधि का भान होता है कि 'आकृत्यधिकरण (जै. सू. १।३।३३) के अनुसार इन्द्रत्वादिजातिरूप नित्य अर्थ के साथ इन्द्रादि शब्दों का नित्य सम्बन्ध उपपन्न होकर अनपेक्षत्वहेतुक प्रामाण्य व्यवस्थित हो जाता, जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् (जै. सू. १।१।५)। अर्थात् शब्द का अपने वाच्यार्थ के साथ औत्पत्तिक (नित्य) सम्बन्ध होता है, इसीलिए उपदेशात्मक वेद धर्म का ज्ञापक है, क्योंकि वैदिक वाक्यों को धर्म का बोध कराने में अन्य किसी भी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु यदि मनुष्य के समान

माने यद्वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्यादिति चेत्,—नायमप्यस्ति विरोधः। कस्मात्? अतः प्रभवात्। अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकं जगत्प्रभवति। ननु 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १.१.२) इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितं, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते? अपि च यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः, कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृतः? यावता वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येतेऽर्था अनित्या एवोत्पत्तिमत्त्वात्। तदनित्यत्वे च तद्वाचिनां वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते? प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यज्ञदत्त इति तस्य नाम क्रियत इति। तस्माद्विरोध एव शब्द इति चेत्, न, गवादिशब्दार्थसंबन्धनित्यत्वदर्शनात्। न हि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते, नाकृतयः। आकृतिभिश्च शब्दानां संबन्धः, न व्यक्तिभिः, व्यक्तीनामानन्त्यात्संबन्धग्रहणानुपपत्तेः। व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते। तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम्। आकृतिविशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्यः। स्थानविशेषसंबन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत्। ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधिरोहति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति। न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणाभिप्रायेणोच्यते। कथं तर्हि? स्थिते वाचकात्मना नित्ये

भामती

वेदस्य व्याहन्येतेति शङ्कार्थः। उत्तरम्'–'न'', ''अतः प्रभवात्'' वसुत्वादिजातिवाचकाच्छब्दात्तज्जातीयां व्यक्तिं चिकीर्षितां बुद्धावालिख्य तस्याः प्रभवनम्। तदिदं तत्प्रभवत्वम्। एतदुक्तं भवति—यद्यपि न शब्द उपादनकारणं वस्वादीनां ब्रह्मोपादानत्वात्, तथापि निमित्तकारणमुक्तेन क्रमेण। न चैतावता शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यत्वं वसुत्वादिजातेर्वा तदुपाधेर्वा यया कयाचिदाकृत्याऽच्छिन्नस्य नित्यत्वादिति।

भामती–व्याख्या

ही देवता का कोई उत्पत्ति-विनाशशील शरीर माना जाता है, तब मनुष्य के समान ही सावयव होने के कारण वसु-रुद्रादि देवता भी अनित्य हो जाते हैं, उनके साथ वसु आदि शब्दों का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध भी अनित्य हो जायगा, क्योंकि वसु आदि की उत्पत्ति से पूर्व प्रयुक्त वसु आदि शब्दों का सम्बन्ध अपने अविद्यमान अर्थ के साथ सम्बन्धित न हो सकेगा और वसु आदि के उत्पन्न हो जाने पर उनके साथ वसु आदि शब्दों का सम्बन्ध उत्पन्न होता हुआ देवदत्तादि शब्दों के समान योजयिता पुरुष की बुद्धि से प्रसूत होगा। इस प्रकार वसु आदि शब्द-घटित वाक्य से जनित ज्ञान भी पुरुष-बुद्धि के अधीन हो जायगा। पुरुष की बुद्धि सदैव प्रमाणान्तर के द्वारा ही उत्पन्न होती है, अतः वैदिक वाक्यों का निरपेक्षत्वात्मक प्रामाण्य क्योंकर सुरक्षित रह सकेगा

उक्त शङ्का का उत्तर दिया गया है—"न, अतः प्रभवात्"। 'अतः' शब्द का अर्थ है—वैदिकात् शब्दात्। वसु आदि शब्दों का सम्बन्ध जिन नित्यभूत वसुत्वादि जातियों के साथ है, उनकी अभिव्यक्ति के लिए वसु आदि शब्दों का उच्चारण करके प्रजापति वसु आदि शरीरों को उत्पन्न करता है, अतः व्यक्तिगत शब्द-प्रभवत्व ही जाति में उपचरित है, उसका अर्थ शब्दप्रभव-व्यञ्जत्व अभिप्रेत है। यद्यपि यहाँ शब्दप्रभवत्व का अर्थ शब्दोपादानकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि देवादि प्रपञ्च का उपादान कारण ब्रह्म है। तथापि शब्द निमित्त कारण माना जाता है—"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे" (मनु० १।२१)। वैदिक

शब्दे नित्यार्थसंबन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्पत्तिः। 'अतः प्रभवः' इत्युच्यते, कथं पुनरवगम्यते शब्दात्प्रभवति जगदिति? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्। ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः। 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄँस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति श्रुतिः। तथाऽन्यत्रापि 'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (बृ० १।२।४) इत्यादिना तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते। स्मृतिरपि—'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥' इति। उत्सर्गोऽप्ययं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः, अनादिनिधनाया अन्यादृशस्योत्सर्गस्या-

भामती

इममेवार्थमाक्षेपसमाधानाभ्यां विभजते ❀ ननु जन्माद्यस्य यतः इति ❀। ते निगदव्याख्याते।

किमिदानीं स्वयम्भुवा वाङ् निर्मिता कालिदासादिभिरिव कुमारसम्भवादि, तथा च तदेव प्रमाणान्तरापेक्षवाक्यत्वादप्रामाण्यमापतितमित्यत आह ❀ उत्सर्गोऽप्ययं वाचः सम्प्रदायप्रवर्त्तनात्मक इति ❀। सम्प्रदायो गुरुशिष्यपरम्परयाऽध्ययनम्। एतदुक्तं भवति—स्वयम्भुवो वेदकर्तृत्वेऽपि न कालिदासादिवत्

भामती–व्याख्या

शब्द सदातन हैं, उनके द्वारा तत्तज्जातीय पदार्थों का आकार जो प्रजापति की बुद्धि में अवतरित होता है, वैसे पदार्थ की सृष्टि वह करता है। वसु आदि देवताओं की रचना मान लेने पर भी शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध अनित्य नहीं प्रसक्त होता, क्योंकि वसुत्वादि जाति या उपाधि के साथ वसु आदि शब्दों का सम्बन्ध नित्य ही रहता है। पाचकत्वादि उपाधियाँ भी पाकत्वरूप नित्य धर्म से अवच्छिन्न होकर नित्य ही मानी जाती हैं। इसी बात की अभिव्यक्ति आक्षेप समाधानपूर्वक की जाती है—"ननु जन्माद्यस्य यतः"। [अर्थात् जगत् में शब्द-प्रभवत्व को सुनकर आक्षेपवादी ने कहा कि पहले जन्मादि-सूत्र में विश्व को ब्रह्म से प्रभूत बताया गया है, तब उसमें शब्दप्रभवत्व क्योंकर बनेगा? दूसरी बात यह भी है कि वसु आदि देवताओं को शब्द-जन्य मान लेने पर कथित विरोध का परिहार क्योंकर होगा? इस आक्षेप के समाधान में कहा गया है कि घटादि के समान वसु आदि शरीरों की उत्पत्ति मान लेते पर भी घटत्वादि जातियों के साथ जैसे घटादि शब्दों का सम्बन्ध नित्य ही रहता है, वैसे ही वसुत्वादि जातियों के साथ 'वसु' आदि शब्दों का सम्बन्ध नित्य ही बन जाता है। वसुत्वादि जातियों का प्रतिपादन मन्त्र, अर्थवादादि वाक्यों के द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार देवादि जगत् में शब्दप्रभवत्व का प्रतिपादन पूर्वोक्त ब्रह्मप्रभवत्व का विरोधी नहीं, क्योंकि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और शब्दादि निमित्त कारण माने जाते हैं, उपादान कारण नहीं। वाचकात्मक, शब्द नित्य स्थिर है, उसके अनुरूप जाति की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्तियों का निर्माण किया जाना असंगत नहीं]।

शङ्का—यह जो वेदों के विषय में कहा गया है कि "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥" यहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या प्रजापति ने वेदों की रचना वैसे ही की जैसे कालिदासादि महाकवियों ने कुमारसम्भवादि ग्रन्थों की रचना की? यदि ऐसा ही है तब वेदों में अनपेक्षत्वरूप प्रामाण्य नहीं रहता—'वेदा न प्रमाणम्, प्रमाणान्तरसापेक्षवाक्यत्वात्, कुमारसम्भवादिवत्'।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करने के लिए भाष्यकार कहते हैं—"उत्सर्गोऽप्ययं वाचः सम्प्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः"। अर्थात् स्वयम्भु भगवान् के द्वारा जो वेदों का

संभवात् । तथा 'नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥' (मनु० १।२१) इति । 'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥' इति च । अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् । तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान्ससर्जेति गम्यते । तथा च श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरन्स भूमिमसृजत' (तै० ब्रा० २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान्सृष्टान्दर्शयति । किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते ? स्फोट-

भामती

स्वतन्त्रत्वमपि तु पूर्वसृष्ट्यनुसारेण । एतच्चास्माभिरुपपादितम्, उपपादयिष्यति चाग्रे भाष्यकारः । अपि चाद्यत्वेऽप्येतद् दृश्यते तद्दर्शनात् प्राचामपि कर्तॄणां तथाभावोऽनुमीयत इत्याह ॐअपि च चिकीर्षितमितिॐ ।

आक्षिपति ॐ किमात्मकं पुनः इति ॐ । अयमभिसन्धिः—वाचकशब्दप्रभवत्वं हि देवानामभ्युपेतव्यम्, अवाचकेन तेषां बुद्धावनालेखनात् । तत्र न तावद् वस्वादीनां वकारादयो वर्णा वाचकास्तेषां प्रत्युच्चारणमन्यत्वेनाशक्यसङ्गतिग्रहत्वात् , अगृहीतसङ्गतेश्च वाचकत्वेऽतिप्रसङ्गात् ।

अपि चैते प्रत्येकं वा वाक्यार्थमभिदधीरन् मिलिता वा ? न तावत् प्रत्येकम्, एकवर्णोच्चारणानन्तरमर्थप्रत्ययादर्शनात् , वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गाच्च । नापि मिलिताः, तेषामेकवक्तृप्रयुज्यमानानां

भामती–व्याख्या

उत्सर्ग (सृष्टि या रचना) प्रतिपादित है, वह कुमारसम्भवादि के समान नूतन रचना नहीं, अपितु सर्वज्ञ प्रजापति ने पूर्व कल्प में अनादि प्रचलित वेदों का स्मरण करके ऋषियों को अध्ययन कराया, उन्होंने उत्तरभावी गुरु-शिष्य-परम्परारूप सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया । इस रहस्य का उपपादन हम (वाचस्पति मिश्र) ने कर दिया है और भाष्यकार भी आगे चलकर करेंगे ।

आज-कल भी शब्द-स्मरणपूर्वक घटादि की रचना देख कर पूर्वकाल में भी वैसा ही अनुमान किया जा सकता है—"अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षम्" । अर्थात् 'घटं कुरु'—ऐसा कुलाल सुनता है और 'घट' शब्द के द्वारा उसके वाच्यभूत घटजातीय पदार्थों का स्मरण कर घटादि को मूर्तरूप देता है । इसी प्रकार सृष्टि के समय प्रजापति के मन में वैदिक शब्द प्रादुर्भूत होते हैं, उनके अनुरूप पदार्थों की रचना होती है, जैसा कि श्रुति कहती है—"स भूरिति व्याहरन् भूमिमसृजत" (तै. ब्रा. २।२।४।२) ।

शब्द में अवाचकत्व की शङ्का—जगत् में जो शब्द प्रभवत्व का प्रतिपादन किया गया है, वह किस प्रकार के शब्द को ध्यान में रखकर कहा गया है ? देवताओं में उनके वाचक शब्दों की जन्यता माननी होगी । अवाचक शब्दों के द्वारा उनके आकार का बुद्धि में उल्लेख सम्भव नहीं । वसु आदि देवताओं के जो वाचक वकारादि वर्ण हैं प्रत्येक उच्चारण में उनका भेद हो जाने के कारण उनका किसी अर्थ के साथ सङ्गति ग्रहण सम्भव नहीं । जिस शब्द का जिस अर्थ के साथ सङ्गति-ग्रहण नहीं होता उसके द्वारा उसका स्मरण करने में अतिप्रसङ्ग उपस्थित होता है । दूसरी जिज्ञासा यह भी होती है कि क्या वर्ण-समूह में प्रत्येक वर्ण वाक्यार्थ का अभिधायक होता है अथवा मिलकर ? प्रत्येक वर्ण के उच्चारण के अनन्तर वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं देखी जाती, अन्यथा अन्य वर्णों का उच्चारण व्यर्थ हो जाता है । वर्णों का एक काल में समूहित होना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्येक क्षण में उत्पन्न और विनष्ट

भामती

रूपतो व्यक्तितो वा प्रतिक्षणमपवर्गवतां मिथः साहित्यसम्भवाभावात् । न च प्रत्येकसमुदायाभ्यामन्यः प्रकारः सम्भवति । न च स्वरूपसाहित्याभावेऽपि वर्णानामाग्नेयादीनामिव संस्कारद्वारकमस्ति साहित्यमिति साम्प्रतं, विकल्पासहत्वात् । को नु खल्वयं संस्कारोऽभिमतः, किमपूर्वं नामाग्नेयादिजन्यमिव, किंवा भावनापरनामा स्मृतिप्रसवबीजम् । न तावत् प्रथमः कल्पः, नहि शब्दः स्वरूपतोऽङ्गतो वाऽविदितोऽविदितसङ्गतिरर्थधीहेतुरिन्द्रियवत् । उच्चरितस्य बधिरेणागृहीतस्य गृहीतस्य वाऽगृहीतसङ्गतेरप्रत्यायकत्वात् । तस्माद्विदितो विदितसङ्गतिर्विदितसमस्तज्ञापनाङ्गश्च शब्दो धूमादिवत् प्रत्यायकोऽभ्युपेयः । तथा चापूर्वाभिधानोऽस्य संस्कारः प्रत्यायनाङ्गमित्यर्थप्रत्ययात्प्रागवगन्तव्यः । न च तदा तस्यावगमोपायोऽस्ति । अर्थप्रत्ययात्तु तदवगमं समर्थयमानो दुरुत्तरमितरेतराश्रयमावहति—संस्कारावसायादर्थप्रत्ययः, ततश्च तदवसाय इति । भावनाभिधानस्तु संस्कारः स्मृतिप्रसवसामर्थ्यमात्मनो, न च तदेवार्थप्रत्ययप्रसवसामर्थ्यमपि भवितुमर्हति । नापि तस्यैव सामर्थ्यस्य सामर्थ्यान्तरम् । न हि यैव वह्नेर्दहनशक्तिः सैव तस्य प्रकाशनशक्तिः । नापि दहनशक्तेः प्रकाशनशक्तिः । अपि च व्युत्क्रमेणोच्चरितेभ्यो वर्णेभ्यः सैवास्ति स्मृतिबीजं वासनेत्यर्थप्रत्ययः प्रसज्येत, न चास्ति । तस्मान्न कथञ्चिदपि वर्णा

भामती-व्याख्या

होनेवाले वर्णों का परस्पर मिलन सम्भव नहीं, प्रत्येक या मिलकर इन दो प्रकारों को छोड़कर वर्णों की बोधकता का कोई अन्य प्रकार सम्भव नहीं, जैसे दशपूर्णमासगत आग्नेय आदि कर्मों में अपने जनित संस्कारों के माध्यम से समूहीकरण या मिलन होता है, वैसा वर्णों का मिलित होना सम्भावित नहीं, क्योंकि कथित संस्कार के विषय में यह जिज्ञासा होती है कि उसका स्वरूप क्या है ? क्या वह आग्नेय आदि कर्मों से जनित अदृष्ट के समान कोई संस्कार पदार्थ है ? अथवा स्मृति-जनक भावनासंज्ञक संस्कार ? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि [अदृष्टरूप संस्कारों की उत्पत्ति वहाँ ही मानी जाती है, जहाँ मुख्य कार्य की उत्पत्ति से पहले हीं अवगत कारणत्व अन्यथा अनुपपन्न हो, जैसे "यजेत स्वर्गकामः"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा यागगत स्वर्ग-साधनता स्वर्गोत्पत्ति के पूर्व ही अवगत है, क्षणिक याग में कालान्तर-भावी स्वर्ग की साधनता उपपन्न नहीं हो सकती, अतः याग-जन्य अदृष्टरूप संस्कार की कल्पना की जाती है, किन्तु] शब्द, शब्द के सहायक अङ्ग-कलाप एवं शब्द की संगति का जब तक ज्ञान न हो, तब तक शब्द में शाब्द-बोधरूप मुख्य कार्य की साधनता का ज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि किसी बधिर व्यक्ति के द्वारा अगृहीत शब्द एवं अगृहीतसंगतिक शब्द शाब्द ज्ञान का जनक नहीं होता, फलतः शाब्द बोध की उत्पत्ति से पूर्व शब्द में उसकी साधनता एवं अदृष्टात्मक संस्कार में अङ्गता का ज्ञान नहीं हो सकता । शाब्द बोध की उत्पत्ति के द्वारा उसमें अङ्गता का ज्ञान मानने पर अन्योऽन्याश्रयता प्रसक्त होती है कि अदृष्टात्मक संस्कार के द्वारा शाब्द बोध और शाब्द बोध के द्वारा संस्कारों का ज्ञान होगा ।

द्वितीय कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि भावनात्मक संस्कार स्मृति का जनक और आत्मा का गुण माना जाता है, वह शाब्द-बोधादिरूप अनुभवों से जनित होता है, उनका जनक नहीं हो सकता । द्रव्य में अनेक शक्तियाँ होती हैं, किन्तु एक शक्ति से दूसरा कार्य नहीं हो सकता, जैसे अग्नि में दहन-शक्ति और प्रकाशन-शक्ति—ये दोनों शक्तियाँ हैं, किन्तु दहन-शक्ति से प्रकाशन और प्रकाशन-शक्ति से दहन की उत्पत्ति नहीं मानी जाती, ऐसे ही स्मृति की जनक भावना शक्ति से अनुभव की उत्पत्ति नहीं हो सकती । दूसरी बात यह भी है कि व्युत्क्रम से उच्चरित वर्णों के द्वारा भी वही (स्मृति-जनक) संस्कार उत्पन्न होता देखा जाता है, तब उससे भी शाब्द बोध की उत्पत्ति होनी चाहिए, किन्तु होती नहीं । अतः गकारादि वर्णरूप शब्द कभी भी अर्थ-ज्ञान का जनक नहीं हो सकता ।

मित्याह । वर्णपक्षे हि तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वान्नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यनुपपन्नं स्यात् । उत्पन्नध्वंसिनश्च वर्णाः, प्रत्युच्चारणमन्यथा चान्यथा च प्रतीयमान-

भामती

अर्थधीहेतवः, नापि तदतिरिक्तः स्फोटात्मा, तस्यानुभवानारोहात् । अर्थधियस्तु कार्य्यात्तदवगमे परस्पराश्रयप्रसङ्ग इत्युक्तप्रायम् । सत्तामात्रेण तु तस्य नित्यस्यार्थधीहेतुभावे सर्वदाऽर्थप्रत्ययोत्पादप्रसङ्गो निरपेक्षस्य हेतोः सदातनत्वात् । तस्माद्वाचकाच्छब्दाद्वाच्योत्पाद इत्यनुपपन्नमिति ।

अत्राचार्य्यदेशीयमतमाह ® स्फोटमित्याह इति ® । मृष्यामहे न वर्णाः प्रत्यायका इति, न स्फोट इति तु न मृष्यामः । तदनुभवानन्तरं विदितसङ्गतेरर्थधीसमुत्पादात् । न च वर्णातिरिक्तस्य तस्यानुभवो नास्ति । गौरित्येकं पदं गामानय शुक्लामित्येकं वाक्यमिति नानावर्णपदातिरिक्तैकपदवाक्यावगतेः सर्वजनीनत्वात् । न चायमसति बाधके एकपदवाक्यानुभवः शक्यो मिथ्येति वक्तुम् । नाप्यौपाधिकः । उपाधिः खल्वेकधीग्राह्यता वा स्यात् , एकार्थधीहेतुता वा ? न तावदेकधीगोचराणां धवखदिरपलाशानामेकनिर्भासः प्रत्ययः समस्ति । तथा सति धवखदिरपलाशा इति न जातु स्यात् । नाप्येकार्थधीहेतुता, तद्धेतुत्वस्य वर्णेषु व्यासेधात् । तद्धेतुत्वेन तु साहित्यकल्पनेऽन्योन्याश्रयप्रसङ्गः—साहित्यात्तद्धेतुत्वं तद्धेतुत्वाच्च साहित्यमिति । तस्मादयमबाधितोऽनुपाधिश्च पदवाक्यगोचर एकनिर्भासो वर्णातिरिक्तं वाचकमेकमवलम्बते स स्फोट इति, तं च ध्वनयः प्रत्येकं व्यञ्जयन्तोऽपि न द्रागित्येव विशदयन्ति, येन द्रागर्थधीः

भामती–व्याख्या

वर्णों से अतिरिक्त स्फोटात्मक शब्द भी अर्थ-ज्ञान का उत्पादक नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा कोई शब्द अनुभव में नहीं आता । अर्थ-ज्ञानरूप कार्य के द्वारा स्फोट का ज्ञान मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है । अज्ञायमान स्फोट को सत्तामात्र से अर्थ-ज्ञान का जनक मानने पर सर्वदा अर्थज्ञान होना चाहिए, क्योंकि स्फोट की नित्य सत्ता मानी जाती है और अर्थ-ज्ञान की उत्पत्ति में अन्य किसी सामग्री की अपेक्षा भी नहीं मानी जाती । फलतः वाचक शब्द के द्वारा वाच्यार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति उपपन्न (तर्क-संगत) नहीं ।

स्फोटवाद—उक्त शङ्का के समाधान में "स्फोटमित्याह" । उसका कहना है कि यह तो सत्य ही है कि वर्णात्मक शब्द अर्थ-बोध-जनक नहीं किन्तु 'स्फोटात्मक शब्द अर्थ-बोधक नहीं'—यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्फोट का अनुभव होने के अनन्तर ही उस व्यक्ति को तुरन्त शाब्द-बोध हो जाता है, जिसको शब्द और अर्थ का संगति-ग्रह हो चुका होता है । यह जो कहा गया कि वर्णों से अतिरिक्त स्फोटरूप शब्द अनुभव में नहीं आता । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि नाना वर्णों से अतिरिक्त 'गौरित्येकं पदम्'—इस प्रकार एक पद और 'गामानय शुक्लामित्येकं वाक्यम्'—इस प्रकार एक वाक्य की अनुभूति तो सर्वमत-सिद्ध है । जब तक कि कोई बाधक प्रमाण उपलब्ध न हो, तब तक इस एक पद और एक वाक्य की अनुभूति का अपलाप नहीं किया जा सकता । 'एक ज्ञान की विषयता या मुख्य एक अर्थ के ज्ञान की जनकता होने के कारण वर्णों में ही एकपदता और एकवाक्यता की औपाधिक प्रतीति होती है, वर्णों से अतिरिक्त एकपद या एकवाक्य की कोई सत्ता सम्भव नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे धव, खदिर और पलाश नाम के अनेक वृक्षों में एकता का निर्भास नहीं होता, अन्यथा 'धवखदिरपलाशाः'—इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग संगत न हो सकेगा । वैसे ही गकार, अकार और विसर्गरूप अनेक वर्णों में एकता का भान नहीं होता । एकार्थ-ज्ञान की हेतुता तो वर्णों में स्फोटवादी ही नहीं मानता । एकार्थ-ज्ञान की हेतुता के द्वारा एकता की कल्पना करने पर अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त होता है । इस प्रकार अबाधित और अनौपाधिक एकपदतादि की प्रतीति ही वर्णों से अतिरिक्त स्फोटात्मक शब्द को सिद्ध

स्यात्। तथा हि—अदृश्यमानोऽपि पुरुषविशेषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते—देवदत्तोऽयमधीते यज्ञदत्तोऽयमधीते इति। न चायं वर्णविषयोऽन्यथात्व-प्रत्ययो मिथ्याज्ञानं, बाधकप्रत्ययाभावात्। नच वर्णेभ्योऽर्थावगतिर्युक्ता। न ह्येकैको वर्णोऽर्थं प्रत्याययेत्, व्यभिचारात्। नच वर्णसमुदायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवर्तित्वाद्व-र्णानाम्। पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति यद्युच्येत। तन्न। संबन्धग्रहणापेक्षो हि शब्दः स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेत्, धूमादिवत्। नच पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति; अप्रत्यक्षत्वात्संस्काराणाम्। कार्यप्रत्यायितैः संस्कारैः सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत्,—न; संस्कारकार्यस्यापि स्मरणस्य क्रमवर्तित्वात्। तस्मा-त्स्फोट एव शब्दः। स 'चैकैकवर्णप्रत्ययाहितसंस्कारबीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितप-रिपाके प्रत्ययिन्येकप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते। न चायमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः; वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः। तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम्, भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वात्। तस्मान्नित्याच्छब्दात्

भामती

स्यात्। अपि तु रत्नतत्त्वज्ञानवद् यथास्वं द्वित्रिचतुष्पञ्चषड्दर्शनजनितसंस्कारपरिपाकसचिवचेतोलब्ध-जन्मनि चरमे चेतसि चकास्ति विशदं पदवाक्यतत्त्वमिति प्रागुत्पन्नायास्तदनन्तरमर्थधिय उदय इति नोत्तरेषामानर्थक्यं ध्वनीनाम्। नापि प्राचां, तदभावे तज्जनितसंस्कारतत्परिपाकाभावेनानुग्रहाभावात्। अन्त्यस्य चेतसः केवलस्याजनकत्वात्। न च पदप्रत्ययवत् प्रत्येकमव्यक्तामर्थधियमाधास्यन्ति प्राञ्चो वर्णाः, चरमस्तु तत्सचिवः स्फुटतरामिति युक्तम्। व्यक्ताव्यक्तावभासितायाः प्रत्यक्षज्ञाननियमात्। स्फोटज्ञानस्य च प्रत्यक्षत्वात्। अर्थधियस्त्वप्रत्यक्षाया मानान्तरजन्मनो व्यक्त एवोपजनो न वा स्यान्न पुनरस्फुट इति न समः समाधिः। तस्मान्नित्यः स्फोट एव वाचको न वर्णा इति।

भामती–व्याख्या

कर रही है। उस स्फोट को पद या वाक्य का घटकीभूत प्रत्येक वर्ण अभिव्यक्त करता है किन्तु एक वर्ण सद्यः स्फुटरूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकता कि एक वर्ण के उच्चारण मात्र से अभिव्यक्त स्फोट अभिलषित अर्थ का बोधक हो जाता। अपितु जैसे रत्न तत्त्व अनेक बार के निरीक्षण और परीक्षण से निखरता है, वैसे ही पदतत्त्व और वाक्यतत्त्व नाम का स्फोट भी। यथावसर दो, तीन, चार, पाँच या छः वर्णों के उच्चारण से जनित संस्कारों से युक्त अन्तिम वर्ण के उच्चारण की परिपाटी ही उक्त स्फोट को वह अन्तिम निखार देती है, जिसके अनन्तर अर्थावबोध का उदय होता है, अतः पद के द्वितीयादि वर्णों का उच्चारण निरर्थक नहीं होता। इस प्रकार पूर्व वर्ण भी व्यर्थ नहीं होते, क्योंकि पूर्व-पूर्व वर्ण के उच्चारण से जनित संस्काररूप सहायक के बिना उक्त स्फोट का परिपाक ही निष्पन्न नहीं होता, अतः केवल अन्तिम वर्ण की अनुभूति उस स्फोट को अभिव्यक्त नहीं कर सकती।

शङ्का—जैसे पदादि के घटकीभूत वर्ण क्रमशः स्फोट की उत्तरोत्तर स्फुटाभिव्यक्ति करते हैं, वैसे ही सीधे-सीधे अर्थावबोध की उत्तरोत्तर स्फुटोत्पत्ति कर सकते हैं, अतः मध्यपाती स्फोट की कल्पना व्यर्थ है।

समाधान—स्फोट तत्त्व प्रत्यक्ष है और अर्थ-ज्ञान अप्रत्यक्ष [जैसा कि शबरस्वामी ने कहा है—"अप्रत्यक्षा बुद्धिः" (शाबर. पृ. ३४)]। उत्तरोत्तर स्फुटता प्रत्यक्षभूत पदार्थ पर ही अनुभूत होती है, परोक्ष पदार्थ पर नहीं, अतः वर्णोच्चारण के द्वारा अभिव्यक्त स्फोट ही अर्थ-ज्ञान का जनक होता है, वर्ण नहीं। इस प्रकार वाच्यार्थ की वाचकता स्फोटात्मक

स्फोटरूपादभिधायकात्क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति ।

'वर्णा एव तु शब्दः' इति भगवानुपवर्षः । नन्तूत्पन्नप्रध्वंसित्वं वर्णानामुक्तं, तन्न, त एवेति प्रत्यभिज्ञानात् । सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं केशादिष्विवेति चेत्, न; प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः । प्रत्यभिज्ञानमाकृतिनिमित्तमिति चेत्—न, व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात् । यदि हि प्रत्युच्चारणं गवादिव्यक्तिवदन्या अन्या वर्णव्यक्तयः प्रतीयेरंस्तत आकृतिनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानं स्यात्, नत्वेतदस्ति, वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते । द्विर्गोशब्द उच्चारित इति हि प्रतिपत्तिर्न तु द्वौ गोशब्दा-

भामती

तदेतदाचार्य्यदेशीयमतं स्वमतमुपपादयन्नपाकरोति ※ वर्णा एव तु शब्दः इति ※ । एवं हि वर्णातिरिक्तः स्फोटोऽभ्युपेयेत, यदि वर्णानां वाचकत्वं न सम्भवेत्, स चानुभवपद्धतिमध्यासीत । द्विधा चावाचकत्वं वर्णानां, क्षणिकत्वेनाशक्यसङ्गतिग्रहत्वाद्वा, व्यस्तसमस्तप्रकारद्वयाभावाद्वाऽऽस्थीयते । न तावत्प्रथमः कल्पः, वर्णानां क्षणिकत्वे मानाभावात् । ननु वर्णानां प्रत्युच्चारणमन्यत्वं सर्वजनप्रसिद्धम् । न, प्रत्यभिज्ञानानुभवविरोधात् । न चासत्यप्येकत्वे ज्वालादिवत्सादृश्यनिबन्धनमेतत् प्रत्यभिज्ञानमिति साम्प्रतम् । सादृश्यनिबन्धनत्वमस्य बलवद्बाधकोपनिपाताद्वाऽऽस्थीयेत, क्वचिज्ज्वालादौ व्यभिचारदर्शनाद्वा ? तत्र क्वचिद्व्यभिचारदर्शनेन तदुत्प्रेक्षायामुच्यते वृद्धैः स्वतःप्रामाण्यवादिभिः—

उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादज्ञातमपि बाधनम् ।
स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत् ॥ इति ।

प्रपञ्चितं चैतदस्माभिर्न्यायकणिकायाम् । न चेदं प्रत्यभिज्ञानं गत्वादिजातिविषयं, न गादिव्यक्तिविषयं, तासां प्रतिनरं भेदोपलम्भात् । अत एव शब्दभेदोपलम्भाद्वक्तृभेद उन्नीयते—सोमशर्माऽधीते न

भामती-व्याख्या

शब्द में ही पर्यवसित होती है ।

सिद्धान्त और स्फोटवाद का निरास—मीमांसा-सूत्रों के वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष का कहना है कि "वर्णा एव तु शब्दः" । वर्णों से अतिरिक्त स्फोट का अभ्युपगम तब किया जा सकता था, जब कि वर्णों में अर्थ की वाचकता सम्भव न होती । वर्णों की अवाचकता से ही स्फोट का कथञ्चित् अनुमान किया जा सकता था । वर्णों में अवाचकता का उपपादन तीन प्रकार से किया जा सकता था—(१) वर्णों में क्षणिकत्व होने या (२) वर्णों का अर्थ के साथ संगतिग्रह न हो सकने अथवा (३) व्यस्त (प्रत्येक) वर्ण और समस्त (मिलित सभी) वर्ण में वाचकता सम्भव न हो सकने के कारण । इनमें प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि वर्णों की क्षणिकता में कोई प्रमाण नहीं । प्रत्येक उच्चारण के भेद से गकारादि वर्णों का भेद नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'सोऽयं गकारः'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा वर्ण के अभेद को सिद्ध कर रही है । जैसे दीप-शिखा क्षण-भेद से भिन्न होने पर भी सभी ज्वाला-सन्तानों में सादृश्य होने के कारण 'सेयं दीपज्वाला'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा उपपन्न हो जाती है, वैसे ही गकारादि का भेद होने पर भी उनमें 'सोऽयं गकारः'—ऐसी प्रत्यभिज्ञा उपपन्न क्यों न हो जायगी ? इस शङ्का का समाधान करते हुए श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

उत्प्रेक्षते च यो मोहादज्ञातमपि बाधनम् ।
स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत् ॥ (   )

अर्थात् दीप-ज्वालादि के समान वर्णों में भी सादृश्यमूलक प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति करने पर आत्मादि नित्य पदार्थों में भी प्रत्यभिज्ञा का अन्यथा-नयन हो जायगा, तब आत्मनित्यत्वादि में संशय हो जायेगा और गीता की यह उक्ति लागू हो जायगी—"संशयात्मा विनश्यति"

चिति । ननु वर्णा अप्युच्चारणभेदेन भिन्नाः प्रतीयन्ते देवदत्तयज्ञदत्तयोरध्ययनध्वनिश्रवणादेव भेदप्रतीतेरित्युक्तम् । अत्राभिधीयते,—सति वर्णविषये निश्चिते प्रत्यभिज्ञाने संयोगविभागाभिव्यङ्ग्यत्वाद्वर्णानामभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्तः। अपि च वर्णव्यक्तिभेदवादिनापि प्रत्यभिज्ञानसिद्धये वर्णाकृतयः कल्पयितव्याः। तासु च परोपाधिको भेदप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तद्वरं वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्ययः स्वरूपनिमित्तं च प्रत्यभिज्ञानमिति कल्पनालाघवम्। एष एव च वर्णविषयस्य भेदप्रत्ययस्य बाधकः प्रत्ययो यत्प्रत्य-

---

भामती

विष्णुशर्मेति युक्तम । यतो बहुषु गकारमुच्चारयत्सु निपुणमनुभवः परीक्ष्यताम् । यथा कालाक्षीं च स्वस्तिमतीं चेक्षमाणस्य व्यक्तिभेदप्रथायां सत्यामेव तदनुगतमेकं सामान्यं प्रथते, तथा किं गकारादिषु भेदेन प्रथमानेष्वेव गत्वमेकं तदनुगतं चकास्ति, किं वा यथा गोत्वमाजानत एकं भिन्नदेशपरिमाणसंस्थानव्यक्त्युपधानभेदाद्भिन्नदेशमिवाल्पमिव महदिव दीर्घमिव वामनमिव तथा गव्यक्तिराजानत एकाऽपि व्यञ्जकभेदात्तद्धर्मानुपातिनीव प्रथत इति भवन्त एव विदाङ्कुर्वन्तु । तत्र गव्यक्तिभेदमङ्गीकृत्यापि यो गत्वस्यैकस्य परोपधानभेदकल्पनाप्रयासः स वरं गव्यक्तावेवास्तु किमन्तर्गडुना गत्वेनाभ्युपेतेन । यथाहुः—

तेन यत्प्रार्थ्यते जातेस्तद्वर्णादेव लभ्यते ।
व्यक्तिलभ्यं तु नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा ॥

भामती–व्याख्या

(गी० ४।४०) । इस विषय का विस्तार से वर्णन न्यायकणिका में (पृ० १६७ पर) किया गया है ।

शङ्का—यद्यपि गकार वर्ण नाना हैं, तथापि उनमें 'गत्व' जाति एक होने के कारण उक्त प्रत्यभिज्ञा हो जाती है । गकारादि व्यक्तियों में भेद उच्चारयिता पुरुषों के भेद से स्पष्ट उपलब्ध होता है, अत एव अध्येता पुरुषों का भेद प्रतिलक्षित होता है—'सोमशर्माऽधीते न विष्णु शर्मा' ।

समाधान जहाँ बहुत व्यक्ति एक ही गकार का उच्चारण कर रहे हों, वहाँ यह गंभीर विचार करना है कि जैसे कालाक्षी और स्वस्तिमती नाम की गो व्यक्तियों में भेद प्रतीत होने पर भी उनमें अनुगत एक 'गोत्व' जाति प्रथित होती है । वैसे ही क्या गकार व्यक्तियों का भेद होने पर भी 'गत्व' नाम की एक जाति प्रतीत होती है ? अथवा जैसे 'आकाशत्व' जाति की ऊहा से शून्य व्यक्ति को घट, मट, मठादि उपाधियों के भेद से एक ही आकाश व्यक्ति नाना रूपों में अवभात होता है, वैसे ही 'गोत्व' जाति की कल्पना से रहित व्यक्ति एक ही गकार व्यक्ति में व्यञ्जक नाना उपाधियों के भेद से भेद का भान करता है ? इस प्रश्न का ठीक उत्तर तो आप (विचारकगण) ही जानें, हमारा तो यह कहना है कि गकार व्यक्तियों का भेद मानकर उनमें कल्पित 'गत्व' जाति में जो एकत्व माना जाता है, वह एकत्व गकार व्यक्ति में ही मान लेना चाहिए, मध्य में 'गत्व' की कल्पना से क्या लाभ ? श्री कुमारिल भट्ट भी यही कहते हैं—

तेन यत्प्रार्थ्यते जातेः तद् वर्णादेव लभ्यते ।
व्यक्तिलभ्यं च नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा ॥ (श्लो० वा० पृ० ५१६)

अर्थात् गत्वादि जाति की कल्पना से जो प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति की जाती है, वह वर्ण व्यक्ति की एकता से ही उपपन्न हो जाती है और व्यक्तियों में जो भेद अवभासित होता है, वह नाद (वायवीय संयोग-विभागरूप उच्चारण) के भेद से निभ जाता है, जैसा कि महर्षि जैमिनि

भिज्ञानम् । कथं ह्येकस्मिन्काले बहूनामुच्चारयतामेक एव सन्गकारो युगपदनेकरूपः

भामती

न च स्वस्तिमत्यादिवद् गव्यक्तिभेदप्रत्ययः स्फुटः प्रत्युच्चारणमस्ति। तथा सति दश गकारानुच्चारयच्चैत्र इति प्रत्ययः स्यात्, न स्याद् दशकृत्व उदचारयद् गकारमिति। न चैष जात्यभिप्रायोऽभ्यासो यथा शतकृत्वस्तित्तिरीनुपायुङ्क्त देवदत्त इति। अत्र हि सोरस्ताडं क्रन्दतोऽपि गकारादिव्यक्तौ लोकस्योच्चारणाभ्यासप्रत्ययस्याविनिवृत्तेः। चोदकः प्रत्यभिज्ञानबाधकमुत्थापयति ⊛ कथं ह्येकस्मिन् काले बहूनामुच्चारयताम् इति ⊛। यद्युगपद्विरुद्धधर्मसंसर्गवत् तन्नाना। यथा गवाश्वाविद्विशफैकशफकेशरगलकम्बलादिमान्। युगपदुदात्तानुदात्तादिविरुद्धधर्मसंसर्गवांश्चायं वर्णः, तस्मान्नाना भवितुमर्हति। न चोदात्तादयो व्यञ्जकधर्माः, न वर्णधर्मा इति साम्प्रतम्। व्यञ्जका ह्यस्य वायवः। तेषामश्रावणत्वे कथं तद्धर्माः श्रावणाः स्युः। इदं तावदत्र वक्तव्यं, न हि गुणगोचरमिन्द्रियं गुणिनमपि गोचरयति, मा भूवन् घ्राणरसनश्रोत्राणां गन्धरसशब्दगोचराणां तद्वन्तः पृथिव्युदकाकाशा गोचराः। एवं च मा नाम भूद्वायु-

भामती-व्याख्या

कहते हैं—"नादवृद्धिपरा" (जै० सू० १।१।१७)। अतः गत्वादि जाति की कल्पना व्यर्थ है। जैसे स्वस्तिमती आदि गोव्यक्तियों का भेद-भान नितान्त स्फुट है, वैसा गकारादि व्यक्तियों का प्रत्येक उच्चारण में भेद स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। गकारादि व्यक्तियों का भेद मानने पर 'दश गकारानुदचारयत् चैत्रः'—ऐसा अनुभव होना चाहिए किन्तु वहाँ जो 'दशकृत्व उदचारयद् गकारम्'—ऐसा अनुभव होता है, वह नहीं होना चाहिए था। उच्चारणगत अभ्यास (आवृत्ति) के द्वारा उच्चार्यमाण गकार व्यक्ति की एकता अक्षुण्ण रहती है। गत्व जाति के माध्यम से यह उच्चारणाभ्यास सम्पन्न क्यों नहीं हो सकता, जैसे 'दशकृत्वः तित्तिरीमुपायुङ्क्त देवदत्तः'—यहाँ पर एक तित्तिरि व्यक्ति का कई बार उपयोग नहीं हो सकता, अतः तित्तिरिजातीय पक्षियों का उपयोग माना जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रथमतः उच्चारण शब्द का ही होता है, जात्यादिका नहीं। दूसरी बात यह है कि कितना भी छाती पीट-पीट कर रोना-धोना कर लिया जाय किन्तु वर्णोच्चारण की आवृत्ति का अनुभव निवृत्त नहीं किया जा सकता।

आक्षेपवादी वर्णगत एकत्व की साधिका प्रत्यभिज्ञा का बाध प्रस्तुत करता है—"कथं ह्येकस्मिन् काले बहूनामुच्चारयतामेक एव सन् गकारो युगपदनेकरूपः स्यात्"। आशय यह है कि जो पदार्थ एक ही समय विरोधी धर्मों का सम्बन्धी होता है, वह नाना (अनेक) होता है, जैसे गो और अश्व क्रमशः द्विशफ (कटे खुरवाले) और एकशफ, केशर (सटा) और गल-कम्बल (सास्ना) आदि विरुद्ध धर्मों के सम्बन्धी होने के कारण परस्पर भिन्न हैं। वर्ण भी उदात्त और अनुदात्तादि विरुद्ध धर्मवान् होने के कारण अनेक होते हैं। 'उदात्तादि धर्म वर्ण के न होकर उसके व्यञ्जकीभूत ध्वनि के धर्म हैं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वर्णों की व्यञ्जक जो ध्वनि है, वह वायुरूप है, वायु का श्रोत्र से ग्रहण नहीं होता, अतः वायु के धर्मभूत उदात्तादि का श्रावण प्रत्यक्ष क्योंकर होगा ? परिशेषतः उदात्तादि विरुद्ध धर्मों को वर्ण का ही धर्म मानना होगा, अतः गकारादि वर्ण अनेक होते हैं, एक नहीं।

सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि किसी गुण का विषय करनेवाले करण (इन्द्रिय) से उस गुण के आधारभूत द्रव्य का नियमतः ग्रहण नहीं होता, जैसे कि घ्राण, रसन और श्रोत्र के क्रमशः गन्ध, रस और शब्दरूप गुण ही विषय होते हैं, उन गुणों के आधारभूत पृथिवी, जल और आकाश द्रव्य नहीं, उसी प्रकार वायवीय ध्वनि के धर्मभूत उदात्तादि धर्मों का श्रोत्र के द्वारा ग्रहण होने पर उसके धर्मीभूत वायुद्रव्य का ग्रहण न होना अनुचित नहीं।

स्यात् ? उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च सानुनासिकश्च निरनुनासिकश्चेति। अथवा,— ध्वनिकृतोऽयं प्रत्ययभेदो न वर्णकृत इत्यदोषः। कः पुनरयं ध्वनिर्नाम ? यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति। प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः,

भामती

गोचरं श्रोत्रम्। तद्गुणांस्तूदात्तादीन् गोचरयिष्यति। ते च शब्दासंसर्गाग्रहात् शब्दधर्मत्वेनाध्यवसीयन्ते। न च शब्दस्य प्रत्यभिज्ञानावधृतैकत्वस्य स्वरूपत उदात्तादयो धर्माः परस्परविरोधिनोऽपर्यायेण सम्भवन्ति। तस्माद्यथा मुखस्यैकस्य मणिकृपाणदर्पणाद्युपधानवशान्नानादेशपरिमाणसंस्थानभेदविभ्रमः, एवमेकस्यापि वर्णस्य व्यञ्जकध्वनिनिबन्धनोऽयं विरुद्धनानाधर्मसंसर्गविभ्रमः, न तु स्वाभाविको नानाधर्मसंसर्गः, इति स्थितेऽभ्युपेत्य परिहारमाह भाष्यकारः ॐ अथवा ध्वनिकृतः इति ॐ। अथवेति पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति। भवेतां नाम गुणगुणिनावेकेन्द्रियग्राह्यौ, तथाप्यदोषः। ध्वनीनामपि शब्दवच्छ्रावणत्वात्। ध्वनिस्वरूपं प्रश्नपूर्वकं वर्णेभ्यो निष्कर्षयति ॐ कः पुनरयम् इति ॐ। न चायमनिर्द्धारितविशेषवर्णत्वसामान्यमात्रप्रत्ययो न तु वर्णातिरिक्ततदभिव्यञ्जकध्वनिप्रत्यय इति साम्प्रतम्। तस्यानुनासिकत्वादिभेदभिन्नस्य गादिव्यक्तिवत्प्रत्यभिज्ञानाभावादप्रत्यभिज्ञायमानस्य चैकत्वाभावेन सामान्यभावानुपपत्तेः। तस्मादवर्णात्मको वैष शब्दः शब्दातिरिक्तो वा ध्वनिः शब्दव्यञ्जकः श्रावणोऽभ्युपेयः। उभयथापि चाक्षु व्यञ्जनेषु च तत्तद्ध्वनिभेदोपधानेनानुनासिकत्वादयोऽवगम्यमानास्तद्धर्मा एव शब्दे प्रतीयन्ते न तु स्वतः शब्दस्य धर्माः। तथा च येषामनुनासिकत्वादयो धर्माः परस्परविरुद्धा भासन्ते भवतु तेषां ध्वनीनामनित्यता।

भामती–व्याख्या

वायु के धर्मभूत उदात्तादि का ही शब्द में समारोप हो जाता है। उदात्तादि विरुद्ध धर्म वर्णरूप शब्द के स्वाभाविक धर्म न होने के कारण वर्णगत नानात्व सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष प्रमाण से वर्ण में एकत्व निश्चित है। अतः जैसे एक ही मुखरूप बिम्ब का मणि, कृपाण, दर्पणादि उपाधियों में प्रतिफलित विविध आकार के प्रतिबिम्बों के भेद से भेद अवभासित होता है, वैसे ही व्यङ्ग्यभूत वर्ण में व्यंजकीभूत ध्वनिगत उदात्तादि विरुद्ध धर्मों का विभ्रम मात्र हो जाता है—ऐसा समाधान प्रस्फुरित होने पर भी भाष्यकार आक्षेपवादी के आक्षेप को मान कर भी उक्त आक्षेप का परिहार कर रहे हैं—"अथवा ध्वनिकृतोऽयं प्रत्ययभेदो न वर्णकृत इत्यदोषः"। 'अथवा' शब्द के द्वारा पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए भाष्यकार का आशय यह है कि यदि गुण और गुणी द्रव्य का एक ही इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण मान भी लिया जाता है, तब भी प्रकृत में कोई दोष नहीं, क्योंकि शब्द की व्यंजकीभूत ध्वनियाँ भी शब्द के समान ही श्रावण होती हैं। प्रश्नोत्तर के रूप में वर्णों से अतिरिक्त ध्वनि का स्वरूप आविष्कृत करते हैं—"कः पुनरयं ध्वनिर्नाम ? यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति"। यदि कहा जाय कि ध्वनि भी वर्णात्मक है, इस दोष के कारण व्यक्तिविशेष स्फुटित नहीं होती, केवल वर्णत्व जाति की ही वहाँ प्रतीति होती है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि ध्वनियों में अनुनासिकत्वादि के भेद से अनेकत्व होता है. अतः गकारादि वर्णों के समान उनमें प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, अतः एकत्व सिद्ध न हो सकने के कारण ध्वनियों में शब्दत्व ही उपपन्न नहीं होता। अतः ध्वनि या तो अवर्णात्मक शब्द है, अथवा शब्द से भिन्न ही है फिर भी शब्द की व्यंजक और श्रावण है। दोनों रीति से 'अच्' प्रत्याहार-घटक अकारादि स्वरों और हकारादि व्यंजनों में उनकी व्यंजकीभूत ध्वनियों के अनुनासिकत्वादि धर्म ही प्रतीत होते हैं, शब्द में वे स्वाभाविक (अनौपाधिक) नहीं होते। अनुनासिकत्वादि परस्पर-विरुद्ध धर्म जिस ध्वनि तत्त्व के

वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। एवं च सति सालम्बना उदात्तादिप्रत्यया भविष्यन्ति। इतरथा हि वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां निर्भेदत्वात्संयोगविभागकृता उदात्तादिविशेषाः कल्पेरन्। संयोगविभागानां चाप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषा वर्णेष्वध्यवसातुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः। अपि च नैवैतदभिनिवेष्टव्यमुदात्तादिभेदेन वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेदिति। न ह्यन्यस्य भेदेनान्यस्याभिद्यमानस्य भेदो भवितुमर्हति। नहि व्यक्तिभेदेन जातिं भिन्नां मन्यन्ते। वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः संभवात्स्फोटकल्पनाऽनर्थिका। न कल्पयाम्यहं स्फोटम्, प्रत्यक्षमेव त्वेनमवगच्छामि, एकैकवर्णग्रहणाहितसंस्कारायां बुद्धौ झटिति प्रत्यवभासनादिति चेत्—न, अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात्। एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका

भामती

नहि तेषु प्रत्यभिज्ञानमस्ति। येषु तु वर्णेषु प्रत्यभिज्ञानं न तेषामनुनासिकत्वादयो धर्मा इति नानित्याः। ※ एवं च सति सालम्बना इति ※। यद्येव परस्याग्रहो धर्मिण्यगृह्यमाणे तद्धर्मा न शक्या ग्रहीतुमिति। एवं नामास्तु तथा तुष्यतु परस्तथाप्यदोष इत्यर्थः। तदनेन प्रबन्धेन क्षणिकत्वेन वर्णानामशक्यसङ्गतिग्रहतया यदवाचकत्वमापादितं वर्णानां तदपाकृतम्। व्यस्तसमस्तप्रकारद्वयासम्भवेन तु यदासञ्जितं तन्निराचिकीर्षुराह ※ वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः इति ※। कल्पनामसृष्यमाण एकदेश्याह ※ न कल्पयामि इति ※। निराकरोति ※ न, अस्या अपि बुद्धेः इति ※। निरूपयतु तावद् गौरित्येकं पदमिति धियमायुष्मान्। किमियं पूर्वानुभूतान् गकारादीनेव सामस्त्येनावगाहते, किं वा गकाराद्यतिरिक्तं गवयमिव वराहादिभ्यो विलक्षणम्? यदि गकारादिविलक्षणमवभासयेत्, गकाराद्यनुरूषितः प्रत्ययो न स्यात्। न हि वराहधीर्महिषरूषितं वराहमवगाहते। पदतत्त्वमेकं प्रत्येकमभिव्यञ्जयन्तो ध्वनयः प्रयत्नभेदभिन्नाः

भामती—व्याख्या

स्वाभाविक हैं, उन्हें अनित्य और नाना माना जाता है। ध्वनियों में एकत्व-साधनी प्रत्यभिज्ञा का उदय ही नहीं होता, जिन (वर्णों) में प्रत्यभिज्ञा होती है, उनके अनुनासिकत्वादि धर्म नहीं माने जाते, अतः वे अनित्य नहीं होते।

"एवं च सति सालम्बना एवैते उदात्तादिप्रत्ययाः"—इस भाष्य का आशय यह है कि यदि वादी का यह आग्रह मान भी लिया जाय कि वायुरूप धर्मी का श्रोत्र से ग्रहण न हो सकने पर उसके अनुनासिकत्वादि धर्मों का श्रोत्र से ग्रहण नहीं हो सकता। तथापि प्रकृत में कोई दोष नहीं, क्योंकि ध्वनि तत्त्व को अवर्णात्मक शब्द और श्रावण ही माना जाता है, अतः ध्वनिगत धर्मों की प्रतीति सालम्बन हो जाती है। भाष्यकार ने इस प्रबन्ध के द्वारा वर्णों में आरोपित क्षणिकत्व-प्रयुक्त संगतिग्रहाभाव का अपाकरण कर दिया है। वर्णों में व्यस्त और समस्त—इन दो प्रकारों के सम्भव न हो सकने के कारण जो अवाचकत्व प्रसक्त किया गया, उसका निराकरण किया जाता है—"वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः संभवात् स्फोटकल्पनाऽनर्थिका"। स्फोटवादी कहता है कि "न कल्पयामि स्फोटम्, प्रत्यक्षं त्वेनमवगच्छामि"। सिद्धान्ती उसका निराकरण करता है—"न, अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात्"। स्फोटवादी से पूछा जाता है कि आप जो निरूपित करते हैं—"गौरित्येकं पदम्"। यह प्रतीति क्या पूर्वानुभूत गकारादि वर्णों को सामूहिकरूप से ग्रहण करती है? अथवा जैसे वराह से भिन्न गवय का 'गवयोऽयम्'—यह प्रतीति ग्रहण करती है, वैसे ही पूर्वोक्त प्रतीति क्या गकारादि वर्णों से अतिरिक्त किसी स्फोट तत्त्व का? यदि गकारादि से भिन्न किसी अन्य तत्त्व का अवगाहन करती है, तब उस प्रतीति में गकारादि वर्णों का भान नहीं होना चाहिए, क्योंकि महिष से भिन्न वराह को विषय करनेवाली प्रतीति में महिष का भान नहीं होता।

बुद्धिर्गौरिति समस्तवर्णविषया, नार्थान्तरविषया। कथमेतदवगम्यते ? यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते, न तु दकारादयः। यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात्ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन्, नतु तथास्ति। तस्मादियमेकबुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः। नन्वनेकत्वाद्वर्णानां नैकबुद्धिविषयतोपपद्यत इत्युक्तं - तत्प्रतिब्रूमः—संभवत्यनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वम्, पङ्क्तिर्वनं सेना शतं सहस्रमित्यादिदर्शनात्। या तु गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिः, सा बहुष्वेव वर्णेष्वेकार्थावच्छेदनिबन्धनौपचारिकी वनसेनादिबुद्धिवदेव। अत्राह – यदि

भामती

तुल्यस्थानकरणनिष्पाद्यतयाऽन्योन्यविसदृशतत्तत्पदव्यञ्जकध्वनिसादृश्येन स्वव्यञ्जनीयस्यैकस्य पदतत्त्वस्य मिथो विसदृशानेकपदसादृश्यान्यापादयन्तः सादृश्योपधानभेदादेकमप्यभागमपि नानेव भागवदिव भासयन्ति मुखमिवैकं नियतवर्णपरिमाणस्थानसंस्थानभेदमपि मणिकृपाणदर्पणादयोऽनेकमनेकवर्णपरिमाणस्थानसंस्थानभेदम्। एवञ्च कल्पिता एवास्य भागा वर्णा इति चेत्, तत्किमिदानीं वर्णभेदानसत्यपि बाधके मिथ्येति वक्तुमध्यवसितोऽसि ? एकधीरेव नानात्वस्य बाधिकेति चेत्, हन्तास्यां नाना वर्णाः प्रथन्त इति नानात्वावभास एवैकत्वं कस्मान्न बाधते। अथवा वनसेनादिबुद्धिवदेकत्वनानात्वे न विरुद्धे। नो खलु सेनावनबुद्धी गजपदातितुरगादीनां चम्पकाशोककिंशुकादीनाञ्च भेदमपबाधमाने उदीयेते, अपि तु भिन्नानामेव सतां केनचिदेकेनोपाधिनाऽवच्छिन्नानामेकत्वमापादयतः। न चौपाधिकेनैकत्वेन स्वाभाविकं नानात्वं विरुध्यते, नह्यौपचारिकमग्नित्वं माणवकस्य स्वाभाविकनरत्वविरोधि। तस्मात्प्रत्येकवर्णानुभवजनित-

भामती—व्याख्या

शङ्का—प्रत्येक ध्वनि एक पदतत्त्व की अभिव्यक्ति करती हुई उसे अनेक और सावयवरूप में दर्शाती है, क्योंकि ध्वनियाँ स्वयं बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्न के भेद से भिन्न होती हैं। 'गङ्गा, औष्ण्यम्, वृक्षः' के समान विसदृश (विजातीय) पदों की व्यञ्जकीभूत ध्वनियों के सदृश होने पर भी तात्वादि तुल्य स्थान एवं वायुरूप समान करण से निष्पाद्य होती हैं। अत एव वे (ध्वनियाँ) अपने व्यञ्जनीय पदतत्त्व में परस्पर विसदृश अनेक पदों की सदृशताएँ आरोपित करती हैं, सादृश्यरूप उपाधि के भेद से भिन्न प्रतीत होती हैं। जैसे मणि, कृपाण, दर्पणादि उपाधियाँ नियत वर्ण, परिमाण और संस्थान विशेषवाले एक ही मुख को अनेक वर्ण, परिमाण और संस्थान के भेद से भिन्न-जैसा झलकाती हैं, वैसे ही कथित व्यञ्जकीभूत ध्वनियाँ एक ही पदतत्त्व को अनेक रूपों में अभिव्यञ्जित करती हैं। इस प्रकार अखण्ड स्फोट तत्त्व के वर्णरूप अवयव कल्पितमात्र हैं, उनके आधार पर ही स्फोट की प्रतीति वर्णरूपित होती है।

समाधान—तब क्या किसी बाधक प्रमाण के न होने पर भी अनुभूयमान वर्णों को मिथ्या कहने पर आप (स्फोटवादी) तुले हुए हैं ? पदादिगत एकत्व-प्रतीति को ही नानात्व की बाधिका मानने पर वर्णगत नानात्व की प्रतीति को एकत्व का बाधक क्यों नहीं मान लिया जाता ?

अथवा जैसे वन और सेना आदि की प्रतीतियों में औपाधिक और अनौपाधिकरूप से एकत्व और नानात्व का समन्वय देखा जाता है, वैसा ही वर्णों की प्रतीति में भी सम्भव है, क्योंकि 'एकं वनम्, एका सेना'—ये दोनों बुद्धियाँ क्रमशः गज, वाजी और पदाति (पैदल) के नानात्व एवं चम्पक, अशोक और किंशुकादि वृक्षों के भेद (नानात्व) का बाध करके उत्पन्न नहीं होती हैं। अपितु उनके नानात्व को अक्षुण्ण रखती हुई किसी एक उपाधि से अवच्छिन्न गजादि और चम्पकादि नाना पदार्थों में एकत्व का आपादन करती हैं। न तो

वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युस्ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात्। त एव हि वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति। अत्र वदामः - सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पंक्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति। तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते। वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीता गृहीतार्थविशेषसंबन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्यां बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना, स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानि-

---

भामती

भावनानिचयलब्धजन्मनि निखिलवर्णावगाहिनि स्मृतिज्ञान एकस्मिन् भासमानानां वर्णानां तदेकविज्ञानविषयतया चैकार्थधीहेतुतया चैकत्वमौपचारिकमवगन्तव्यम्। न चैकार्थधीहेतुत्वेनैकत्वमेकत्वेन चैकार्थधीहेतुभाव इति परस्पराश्रयम्। नह्यर्थप्रत्ययात् पूर्वमेतावन्तो वर्णा एकस्मृतिसमारोहिणो न प्रथन्ते। न च तत्प्रथानन्तरं वृद्धस्यार्थधीर्नोन्नीयते, तदुन्नयनाच्च तेषामेकार्थधियं प्रति कारकत्वमेकमवगम्यैकपदत्वाध्यवसानमिति नान्योन्याश्रयम्। न चैकस्मृतिसमारोहिणां क्रमाक्रमविपरीतक्रमप्रयुक्तानामभेदो वर्णानामिति यथाकथञ्चित् प्रयुक्तेभ्य एतेभ्योऽर्थप्रत्ययप्रसङ्ग इति वाच्यम्, उक्तं हि—

यावन्तो यादृशा ये च पदार्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥ इति।

ननु पङ्क्तिबुद्धावेकस्यामक्रमायामपि वास्तवी शालादीनामस्ति पङ्क्तिरिति तथैव प्रथा युक्ता,

---

भामती—व्याख्या

औपाधिक एकत्व स्वाभाविक नानात्व का विरोधी होता है और न माणवक में गौण अग्नित्व धर्म स्वाभाविक मनुष्यत्व का ही बाधक होता है। फलतः प्रत्येक वर्ण के अनुभव से जनित संस्कारों के द्वारा उत्पादित समस्तवर्णावगाहिनी एक ही स्मृति में भासमान नाना वर्णों में स्मृतिरूप एक ज्ञान की विषयता अथवा एकार्थज्ञान की हेतुता होने के कारण एकत्व का औपचारिक भान मानना चाहिए। वर्णों में एकार्थज्ञान-हेतुत्वेन एकत्व और एकत्व के द्वारा एकार्थज्ञान-हेतुत्व की कल्पना से अन्योऽन्याश्रयता की जो प्रसक्ति दी गई, वह उचित नहीं, क्योंकि एकार्थज्ञान-हेतुत्व के बिना ही वर्णों में स्मृतिरूप एकज्ञान की विषयता के द्वारा एकत्व का भान हो जाता है। नाना वर्णों का भान होने पर गृहीतसंगतिक वृद्ध पुरुषों के द्वारा अर्थावबोध उन्नीत नहीं होता - ऐसा नहीं, किन्तु होता है, अतः एकार्थज्ञान की वर्णों में एक कारणता का बोध करके एकपदत्व का अध्यवसान (निश्चय) होता है, अतः किसी प्रकार का अन्योऽन्याश्रय प्रसक्त नहीं होता।

शङ्का—वाक्य के घटकीभूत नाना वर्णों की एक स्मृति हो सकती है, किन्तु उनका क्रम एक ही रहे—यह आवश्यक नहीं, व्युत्क्रम भी हो सकता है, अतः व्युत्क्रम से स्मर्यमाण वर्णों के द्वारा भी अभिलषित अर्थावबोध होना चाहिए।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करते हुए श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

यावन्तो यादृशा ये च पदार्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्याः ते तथैवावबोधकाः॥ (श्लो. वा. पृ. ५२७)

अर्थात् संगति-ग्रहण-काल में जिस क्रम विशेष से युक्त वर्ण अर्थ प्रत्यायन में समर्थ माने जाते हैं, वे उसी क्रम से युक्त होकर अवबोधक माने जाते हैं, व्युत्क्रम से नहीं।

शङ्का—बहुत-से शाल वृक्षों की पंक्ति एक है। यद्यपि उक्त पंक्ति में स्वतः कोई क्रम

रदृष्टकल्पना च, वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति

भामती

न च तथेह वर्णानां नित्यानां विभूनां चास्ति वास्तवः क्रमः, प्रत्ययोपाधिस्तु भवेत्, स चैक इति कुतस्त्यः क्रम एषामिति चेत्, न; एकस्यामपि स्मृतौ वर्णरूपवत्क्रमवत्पूर्वानुभूततापरामर्शात्। तथाहि—जारा-राजेति पदयोः प्रथयन्त्योः स्मृतिधियोस्तत्त्वेऽपि वर्णानां क्रमभेदात्पदभेदः स्फुटतरं चकास्ति। तथा च नाक्रमविपरीतक्रमप्रयुक्तानामविशेषः स्मृतिबुद्धावेकस्यां वर्णानां क्रमप्रयुक्तानाम्। यथाहुः—

पदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः।

क्रमन्यूनातिरिक्तत्वस्वरवाक्यश्रुतिस्मृतीः॥ इति।

शेषमतिरोहितार्थम्। दिङ्मात्रमत्र सूचितं, विस्तरस्तु तत्त्वबिन्दावववगन्तव्य इति। अलं वा

भामती-व्याख्या

नहीं, तथापि उस पंक्ति के घटकीभूत शाल वृक्ष अनेक अनित्य और अविभु हैं, अतः उनमें क्रम अवश्य है, उनकी उसी क्रम से पंक्ति-बुद्धि में प्रथा (भान) भी उचित है। किन्तु वर्ण नित्य हैं, अतः उनका कालिक और विभु हैं, अतः उनका दैशिक क्रम सम्भव नहीं। उनका स्वाभाविक क्रम न होने पर भी प्रतीतिरूप उपाधि का क्रम माना जा सकता था, किन्तु स्मृति-रूप प्रतीति भी एक ही मानी जाती है, तब वर्णों में क्रम का भान क्योंकर होगा ?

समाधान—यद्यपि उनकी स्मृतिरूप प्रतीति एक है, तथापि अनुभूतियाँ नाना और क्रमिक हैं, अतः स्मरण ज्ञान में जैसे वर्णों के समान ही उनके क्रम की अनुभूतता परामृष्ट होती है, जैसे—'जारा' और 'राजा' इन दोनों पदों की स्मृतियाँ दो हैं, उनमें वर्णों का क्रम अवश्य स्मृतिजनकीभूत अनुभव के सम्पर्क से प्रतिभात होता है, अत एव उन दोनों पदों का भेद अत्यन्त स्फुटरूप में प्रस्फुरित होता है। उन दोनों पदों का भेद केवल क्रम-भेद पर ही आधृत है, वर्ण-भेद पर नहीं, क्योंकि वर्णों का कोई भेद नहीं। फलतः स्मृति एक होने पर भी अनुक्रम और विक्रम से उच्चरित वर्णोंवाले पदों में अविशेषता न रह कर विशेषता आ जाती है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—

पदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः।

क्रमन्यूनातिरिक्तत्वस्वरवाक्यस्मृतिश्रुतीः॥ (श्लो. वा. पृ. ८९६)

[वर्णों का भेद न होने पर भी पदो का भेद क्योंकर होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि 'जारा', 'राजा'—इत्यादि पदों के भेद-बोधक बहुत-से उपाय होते हैं, जैसे—(१) अश्व-अश्वकर्णादि में क्रम का न्यूनाधिकभाव, (२) 'इन्द्रशत्रुः' इत्यादि स्थल पर बहुव्रीहि समास है ? अथवा षष्ठी तत्पुरुष ? इस संशय का निर्णायक स्वर-भेद है, क्योंकि बहुव्रीहि और तत्पुरुषादि समासों के स्वर-भेद का प्रतिपादन व्याकरण में किया गया है। (३) 'पचते' इत्यादि पद सुबन्त (चतुर्थ्यन्त) हैं ? अथवा क्रिया-पद ? इस प्रश्न के उत्तर में वाक्य 'एकवाक्यतापन्न पदान्तर के प्रयोग) को निर्णायक माना है, अर्थात् 'पचते दक्षिणां देहि'—ऐसे वाक्यों में 'पचते' पद चतुर्थ्यन्त और 'ओदनं पचते'—इत्यादि वाक्यों में क्रिया-पद है। (४) 'अश्वस्त्वं देवदत्त' इत्यादि स्थलों पर 'अश्वः' पद घोड़े का वाचक न होकर क्रिया-पद कैसे बना ? इस प्रश्न का उत्तर स्मृति (व्याकरणरूप स्मृति प्रमाण) से दिया जाता है कि 'टुओश्वि गतिवृध्योः' धातु का लुङ् लकार में मध्यमैकवचनान्त प्रयोग है। (५) 'उद्भिदा यजेत'—इत्यादि स्थलों पर 'उद्भिदा यागेन' इस प्रकार सामानाधिकरण्य श्रुति के द्वारा 'उद्भित्' पद में याग-वाचकता निर्णीत होती है]। शेष भाष्य सुगम है। पूर्वोत्तर मीमांसा-सम्मत शब्दतत्त्व का यहाँ दिग्दर्शनमात्र किया गया है, इस विषय का विस्तार तत्त्वबिन्दु

गरीयसी कल्पना स्यात्। अथापि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि प्रत्यभिज्ञालम्बनभावेन वर्णसामान्यानामवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद्या वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया रचिता सा सामान्येषु संचारयितव्या। ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम् ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभिः स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशङ्क्य 'अतः प्रभवाद्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति—अत एव च नित्यत्वमिति। अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद्वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम्। तथा च मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' (ऋ० सं० १०।७१।३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति। वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—'युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा' इति ॥ २९ ॥

भामती

नैयायिकैर्विवादेन, सन्त्वनित्या एव वर्णास्तथापि गत्वाद्यवच्छेदेनैव सङ्गतिग्रहोऽनादिश्च व्यवहारः सेत्स्यतीत्याह ❀ अथापि नाम इति ❀ ॥ २८ ॥

ननु प्राच्यामेव मीमांसायां वेदस्य नित्यत्वं सिद्धं तत् किं पुनः साध्यत इत्यत आह ❀ स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादेव हि स्थिते वेदस्य नित्यत्वे इति ❀। नह्यनित्याऽजगदुत्पत्तुमर्हति तस्याप्युत्पत्तिमत्त्वेन सापेक्षत्वात्। तस्मान्नित्यो वेदो जगदुत्पत्तिहेतुत्वाद्, ईश्वरवदिति सिद्धमेव नित्यत्वमनेन दृढीकृतम्। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ २९ ॥

भामती—व्याख्या

के आरम्भ में ही किया गया है। नैयायिकों के साथ विवाद न करके यदि वर्णात्मक शब्द को अनित्य भी मान लिया जाय, तब भी कोई दोष नहीं, क्योंकि गकारादि वर्णों में प्रत्यभिज्ञायमान गत्वादि जातियों को सभी नित्य मानते हैं। उन्हीं जातियों में गोत्वादि की वाचकता या वाचकतावच्छेदकता मान कर अनादि व्यवहार का निर्वाह किया जा सकता है—ऐसा भाष्यकार कह रहे हैं—"अथापि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि या वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया रचिता, सा सामान्येषु सञ्चारयितव्या" ॥ २८ ॥

श्री शबरस्वामी ने कहा है—"यच्चैते पदसंघाताः पुरुषकृता दृश्यन्ते इति। परिहृतं तदस्मरणादिभिः" (शाबर. पृ. ९९) इस भाष्य को ध्यान में रख कर कहा गया है—'स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिति स्थिते वेदस्य नित्यत्वे"। अर्थात् पूर्व मीमांसा के वेदापौरुषेयत्वाधिकरण में ही वेदों की नित्यता सिद्ध कर दी गई थी, इस उत्तर मीमांसा के देवताधिकरण में पूर्वपक्षी की ओर से वेद-नित्यत्व का विरोध उठाते हुए कहा गया कि जिन विग्रहधारी देवताओं को ज्ञान में अधिकार दिया जाता है, वे अनित्य हैं और उनकी उत्पत्ति वैदिक शब्दों से मानी गई है, कादाचित्क कार्य का कारण भी कादाचित्क या अनित्य ही होता है, अतः वेदों को नित्य मानना तर्क-संगत नहीं। इस विरोध का परिहार करते हुए सिद्धान्ती ने कहा—"अतः प्रभवात्"। अर्थात् जातिरूप नित्य शब्द से व्यक्तिरूप अनित्य देवताओं का प्रभव (जन्म) माना जाता है। अनित्य कार्य का कारण भी अनित्य होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि अनित्य शब्द का कारण आकाश एवं अनित्य जगत् का कारण ईश्वर नित्य ही माना गया है। प्रत्युत यह नियम अवश्य है कि अनित्य कारण से जगत् की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, अन्यथा उत्पादक-परम्परा-कल्पना-प्रयुक्त अनवस्था प्रसक्त होगी।

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

अथापि स्यात्—यदि पश्वादिव्यक्तिवद्देवादिव्यक्तयोऽपि संतत्यैवोत्पद्येरन्निरुध्येरंश्च ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात्संबन्धनित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत । यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते, प्रभवति चाभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति, तदा कथमविरोध इति ? तत्रेदमभिधीयते—समाननामरूपत्वादिति । तदापि संसारस्यानादित्वं तावदभ्युपगन्तव्यम् । प्रतिपाद-

भामती

शङ्कापवोत्तरत्वात् सूत्रस्य शङ्कापदानि पठति ॐअथापि स्याद् इतिॐ । अभिधानाभिधेयाविच्छेदे हि सम्बन्धनित्यत्वं भवेत् । एवमध्यापकाध्येतृपरम्पराविच्छेदे वेदस्य नित्यत्वं स्यात् । निरन्वयस्य तु तु जगतः प्रविलयेऽत्यन्तासतश्चापूर्वस्योत्पादेऽभिधानाभिधेयावत्यन्तमुच्छिन्नाविति किमाश्रयः सम्बन्धः स्यात् ? अध्यापकाध्येतृसन्तानविच्छेदे च किमाश्रयो वेदः स्यात् ? न च जीवास्तद्वासनावासिताः सन्तीति वाच्यम्, अन्तःकरणाद्युपाधिकल्पिता हि ते तद्विच्छेदे न स्थातुमर्हन्ति । न च ब्रह्मणस्तद्वासना, तस्य विद्यात्मनः शुद्धस्वभावस्य तदयोगात् । ब्रह्मणश्च सृष्ट्यादावन्तःकरणादयस्तदवच्छिन्नाश्च जीवाः प्रादुर्भवन्तो न पूर्वकर्माविद्यावासनावन्तो भवितुमर्हन्ति, अपूर्वत्वात् । तस्माद्विरुद्धमिदं शब्दार्थसम्बन्धवेदनित्यत्वं सृष्टिप्रलयाभ्युपगमेनेति । अभिधातृग्रहणेनाध्यापकाध्येतारावुक्तौ । शङ्कां निराकर्तुं सूत्रमवतारयति ॐ तत्रेदमभिधीयते समाननामरूपत्वाद् इति ॐ, यद्यपि महाप्रलयसमये नान्तःकरणादयः समुदाचरद्वृत्तयः सन्ति, तथापि स्वकारणेऽनिर्वाच्यायामविद्यायां लीनाः सूक्ष्मेण शक्तिरूपेण कर्मविक्षेपकाविद्यावासनाभिः सहावतिष्ठन्त एव । तथा च स्मृतिः—

भामती–व्याख्या

फलतः जगत्प्रभवत्वरूप हेतु के द्वारा केवल कथित विरोध का परिहार ही नहीं किया जाता, अपितु प्रसाधित वेद-नित्यत्व का दृढीकरण भी किया जाता है—"अत एव च नित्यत्वम्"। इससे यह अनुमान पर्यवसित होता है—'नित्यो वेदः, जगदुत्पत्तिहेतुत्वाद्', ईश्वरवत्' ॥२९॥

यह तीसवाँ सूत्र जिस शङ्का का समाधान है, वह शङ्का प्रस्तुत की जाती है—"अथापि स्यात्"। यदि वाचक और वाच्य—दोनों अविच्छिन्न हैं, तब उनका सम्बन्ध भी नित्य होगा। इसी प्रकार अध्यापक और अध्येताओं की परम्परा का अविच्छेद होने पर वेद में नित्यत्व रहेगा। यदि बौद्ध-सिद्धान्त के अनुसार जगत् का निरन्वय विनाश, अत्यन्त असत् जगत् का उत्पाद एवं वाचक और वाच्य दोनों का अत्यन्त उच्छेद माना जाता है, तब वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध का आधार क्या रहेगा ? अध्यापक और अध्येताओं की परम्परा का विच्छेद मानने पर वेद का आश्रय कौन रहेगा ? अध्ययनवासनाओं से युक्त जीवों की सत्ता भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जीव तो अन्तःकरणरूप उपाधि से कल्पित होते हैं, अन्तःकरण का अभाव होने पर वे क्योंकर अवस्थित रह सकेंगे ? ब्रह्म में भी वे अध्ययन-संस्कार नहीं रह सकते, क्योंकि नित्य, शुद्ध, बुद्ध और असङ्ग ब्रह्म में उनके अवस्थान की सम्भावना ही नहीं। ब्रह्म से सृष्टि के आरम्भ में नूतन अन्तःकरणादि उपाधियाँ उत्पन्न होती है, उनसे अवच्छिन्न होकर उत्पन्न होते हुए जीव पूर्व कर्मार्जित वासनाओं से युक्त नहीं हो सकते, क्योंकि वे नूतन हैं, पूर्व जन्म में थे ही नहीं। फलतः शब्दार्थ-सम्बन्ध और वेद का नित्यत्व मानना सृष्टि-प्रलय की प्रक्रिया से अत्यन्त विरुद्ध ही है। भाष्य में 'अभिधातृ' शब्द के द्वारा अध्यापक और अध्येता—इन दोनों का ग्रहण किया गया है।

उक्त शङ्का का निराकरण करने के लिए अग्रिम सूत्र का अवतरण किया जाता है—"तत्रेदमभिधीयते समाननामरूपत्वादिति"। यद्यपि महाप्रलय में अन्तःकरणादि सक्रिय नहीं

यिष्यति चाचार्यः संसारस्यानादित्वम्—'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र० २।१।३६) इति । अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तर-प्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः एवं कल्पान्तरप्रभवप्रलययोरपीति द्रष्टव्यम् । स्वापप्रबोधयोश्च प्रलयप्रभवौ श्रूयेते—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्व-लतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं

भामती

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ इति ।

ते चावधिं प्राप्य परमेश्वरेच्छाप्रचोदिताः, यथा कूर्मदेहनिलीनान्यङ्गानि ततो निःसरन्ति, यथा वा वर्षापाये प्राप्तमृद्भावानि मण्डूकशरीराणि तद्वासनावासिततया घनघनाघनासारावसेकसुहितानि पुनर्मण्डूकदेहभावमनुभवन्ति । तथा पूर्ववासनावशात्पूर्वसमाननामरूपाण्युत्पद्यन्ते । एतदुक्तं भवति—यद्यपीश्वरात्प्रभवः संसारमण्डलस्य, तथापीश्वरः प्राणभृत्कर्माविद्यासहकारी तदनुरूपमेव सृजति । न च सर्गप्रलयप्रवाहस्यानादितामन्तरेणैतदुपपद्यते इति सर्गप्रलयाभ्युपगमेऽपि संसारानादिता न विरुध्यत इति । तदिदमुक्तम् ⊛ उपपद्यते, चाप्युपलभ्यते च आगमत इति ⊛ । स्यादेतत् —भवत्वनादिता संसारस्य, तथापि महाप्रलयान्तरिते कुतः स्मरणं वेदानामित्यत आह ⊛ अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः इति ⊛ । यद्यपि प्राणमात्रावशेषतातन्निःशेषते सुषुप्तप्रलयावस्थयोर्विशेषः, तथापि कर्मविक्षेपसंस्कार-

---

भामती—व्याख्या

होते, तथापि अपने कारणीभूत अनादि और अनिर्वचनीय अविद्या में कर्म-प्रवर्तक भ्रान्तिज वासनाओं के साथ सूक्ष्मरूपेण अवस्थित रहते ही हैं, जैसा कि स्मृतिकारों ने कहा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनु. १।५)

[अर्थात् यह समस्त जगत् अपने मूल कारण तमोरूप अज्ञान में विलीन, अप्रज्ञात (अप्रत्यक्ष), अलक्षण (अननुमेय), तर्क की पहुँच से बाहर, शब्द के द्वारा भी अज्ञेय और प्रसुप्त (कार्याक्षम) के समान था]। वे (प्रसुप्त जगत् के घटकीभूत अन्तःकरणादि पदार्थ) अपनी प्रसुप्तावस्था की अवधि (सीमा) पार कर परमेश्वर की इच्छा से अनुप्राणित हो सृष्टिकालीन नाम-रूप के समान नाम-रूप में वैसे ही प्रकट हो जाते हैं, जैसे कछुए के शरीर में सिमटे अङ्ग समय पाकर शरीर से बाहर निकल आते हैं, अथवा वर्षा के समाप्त होने पर मेढकों के सूखे एवं पृथिवी की दरारों में चिपके शरीर घनघोर वर्षा के समय सजीव से होकर टरटराने लगते हैं। आशय यह है कि यद्यपि इस संसार-मण्डल का प्रभव ईश्वर से होता है, तथा ईश्वर प्राणियों की अविद्या, कामना और वासनाओं की सहायता से संसार की प्रत्येक इकाई को वही नाम और रूप देता है, जो विगत कल्प में प्रचलित नाम-रूप के समान ही होता है। सृष्टि-प्रलय-प्रवाह की अनादिता के विना यह सब कुछ सम्भव नहीं, अतः संसार की सृष्टि एवं प्रलय मान लेने पर भी अनादिता विरुद्ध नहीं, केवल इतना ही नहीं, "उपपद्यते चाप्युपलभ्यते चागमतः"। मान लेते हैं—संसार की अनादिता, किन्तु महाप्रलय का मध्य में व्यवधान आ जाने पर पूर्वाधीत वेदों का स्मरण क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः"। यद्यपि सुषुप्ति में केवल प्राण रहता है और प्रलय में वह भी नहीं, तथापि कर्म-विक्षेपक संस्कारों से युक्त अविद्या का अवस्थान सुषुप्ति और प्रलय-

विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः (कौ० ३।३) इति। स्यादेतत्—स्वापे पुरुषान्तरव्यवहाराविच्छेदात्स्वयं च सुप्तप्रबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्यवहारानुसंधानसंभवाद-विरुद्धम्। महाप्रलये तु सर्वव्यवहारोच्छेदाज्जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यव-हारस्यानुसंधातुमशक्यत्वाद्वैषम्यमिति। नैष दोषः, सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानो-पपत्तेः। यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो न जन्मान्तरव्यवहारमनुसंदधाना दृश्यन्त इति, तथापि न प्राकृतवदीश्वराणां भवितव्यम्। यथा हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादि-स्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः परेण परेण भूयान्भवन्दृश्यते, तथा मनुष्यादि-

भामती

सहितलयलक्षणाविद्यावशेषतासाम्येन स्वापप्रलयावस्थयोरभेद इति द्रष्टव्यम्। ननु नापर्य्यायेण सर्वेषां सुषुप्तावस्था, केषाञ्चित्तदा प्रबोधात्, तेभ्यश्च सुप्तोत्थितानां ग्रहणसम्भवात् प्रायणकालविप्रकर्षयोश्च वासनो-च्छेदकारणयोरभावेन सत्यां वासनायां स्मरणोपपत्तेः शब्दार्थसम्बन्धवेदव्यवहारानुच्छेदो युज्यते। महा-प्रलयस्त्वपर्य्यायेण प्राणभृन्मात्रवर्ती प्रायणकालविप्रकर्षौ च तत्र संस्कारमात्रोच्छेदहेतू स्तः, इति कुतः सुषुप्तवत्पूर्वप्रबोधव्यवहारवदुत्तरप्रबोधव्यवहार इति चोदयति ❀ स्यादेतत् स्वापः इति ❀। परिहरति ❀ नैष दोषः। सत्यपि व्यवहारोच्छेदिनि इति ❀। अयमभिसन्धिः—न तावत्प्रायणकालविप्रकर्षौ सर्वसंस्कारोच्छेदकौ, पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुसन्धानाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः। मनुष्यजन्मवासनानां चानेकजात्यन्तरसहस्रव्यवहितानां पुनर्मनुष्यजातिसंवर्तकेन कर्मणाऽभिव्यक्त्यभावप्रसङ्गात्। तस्मान्निकृ-ष्टधियामपि यत्र सत्यपि प्रायणकालविप्रकर्षादौ पूर्ववासनानुवृत्तिः, तत्र कैव कथा परमेश्वरानुग्रहेण धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्यातिशयसम्पन्नानां हिरण्यगर्भप्रभृतीनां महाधियाम्। यथा वा आ च मनुष्येभ्य आ च कृमिभ्यो ज्ञानादीनामनुभूयते निकर्षः। एवमा मनुष्येभ्य एवा च भगवतो हिरण्यगर्भाज्ज्ञानादीनां

भामती—व्याख्या

दोनों में समानरूप से रहता है, इसी समानता को लेकर स्वाप और प्रलय का अभेद व्यवहृत हुआ है।

शङ्का—खण्ड प्रलय में एक ही समय सभी प्राणियों की सुषुप्ति अवस्था नहीं आती, किन्तु कुछ प्राणियों की सुषुप्ति में भी अन्य प्राणी जागते रहते हैं, उनसे ही सुप्तोत्थित प्राणी वेदों का ग्रहण कर सकते हैं, वासनाओं के नाशक काल का व्यवधान न होने के कारण संस्कार और स्मरण की परम्परा विच्छिन्न नहीं होती, शब्दार्थ-सम्बन्धरूप वेद-व्यवहार का अनुच्छेद रह जाता है किन्तु महाप्रलय में सभी प्राणियों का एक साथ प्रायण हो जाने के कारण संस्कार-मात्र का उच्छेद हो जाता है, अतः प्रलय से पूर्व जैसी स्वाप-प्रबोध की धारा थी, वैसी प्रलय के पश्चात् क्योंकर सम्भव होगी? भाष्य के शब्दों में वही शङ्का है—"स्यादेतत् स्वापे पुरुषान्तरव्यवहारानुच्छेदात्"।

समाधान—उक्त शङ्का का परिहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"नैष दोषः"। सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहाद् हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहा-रानुसन्धानोपपत्तेः"। अभिप्राय यह है कि प्रायण (मृत्यु) और काल का व्यवधान—ये दोनों समस्त संस्कारों के उच्छेदक नहीं होते, अन्यथा योगसूत्रोक्त पुनः मनुष्यजाति-संवर्तक कर्मों के द्वारा संस्कारों की अभिव्यक्ति क्योंकर होगी? जब कि निकृष्ट योनी के प्राणियों के मरण और प्रलय का व्यधान रहने पर भी संस्कार अक्षुण्ण रहता है, तब ईश्वर के कृपापात्र धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूप अतिशय से युक्त हिरण्यगर्भादि महान् आत्माओं की बात ही क्या? अथवा जैसे मनुष्यों से लेकर कीट-पतङ्गादि निकृष्ट प्राणियों में ज्ञान का निकर्ष

ष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रु-तिस्मृतिवादेष्वसकृदनुश्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम्। ततश्चातीतकल्पानुष्ठित-प्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरा-नुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत्कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तिः। तथा च श्रुतिः— 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वे० ६।१८) इति। स्मरन्ति च शौनकादयः 'मधुच्छन्दः-प्रभृतिभिर्ऋषिभिर्दाशतय्यो दृष्टाः' इति। प्रतिवेदं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते। श्रुतिरप्यृषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैव-तब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' (सर्वानु० परि०) इत्युपक्रम्य 'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्याद्' इति। प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते। दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते। दृष्टानुश्रविकसुखदुः-

भामती

प्रकर्षोऽपि सम्भाव्यते। तथा च तदभिवदन्तो वेदस्मृतिवादाः प्रामाण्यमप्रत्यूहमश्नुवते। एवं चात्र भवतां हिरण्यगर्भादीनां परमेश्वरानुगृहीतानामुपपद्यते कल्पान्तरसम्बन्धिनिखिलव्यवहारानुसन्धानमिति। सुगममन्यत्।

स्यादेतत्—अस्तु कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानं तेषामस्यां तु सृष्टावन्य एव वेदाः, अन्य एव वेदार्थाः, अन्य एव वर्णाश्रमाः। धर्माच्चानर्थोऽर्थश्चाधर्मात्। अनर्थश्चेप्सितोऽर्थश्चानीप्सितोऽपूर्वत्वात् सर्गस्य। तस्मात्कृतमत्र कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानेन, अकिञ्चित्करत्वात्। तथा च पूर्वव्यवहारोच्छेदा-च्छब्दार्थसम्बन्धस्य वेदस्य चानित्यौ प्रसज्येयातामित्यत आह ❀ प्राणिनां च सुखप्राप्तये इति ❀। यथावस्तु-स्वभावसामर्थ्यं हि सर्गः प्रवर्तते, न तु स्वभावसामर्थ्यमन्यथयितुमर्हति। न हि जातु सुखं तत्त्वेन जिहा-स्यते, दुःखं चोपादित्स्यते। न च जातु धर्माधर्मयोः सामर्थ्यविपर्ययो भवति, न हि मृत्पिण्डात् पटः,

भामती-व्याख्या

(न्यूनत्व) देखा जाता है, वैसे ही मनुष्यों से लेकर भगवान् हिरण्यगर्भ तक उत्तरोत्तर ज्ञान का प्रकर्ष भी सम्भावित है, अतः श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में असकृत् श्रूयमाण उत्तरोत्तर ज्ञानादि का प्रकर्ष मानकर वेद-सम्प्रदाय का प्रामाण्य व्यवस्थित किया जा सकता है।

शङ्का—मान लेते हैं कि कल्पान्तराधीत वेद का स्मरण हिरण्यगर्भादि को होता है किन्तु इस वर्तमान सृष्टि में वेद और उनके अर्थ अन्य ही है, वर्णाश्रमादि भी भिन्न हैं, धर्म से पाप और अधर्म से पुण्य का प्रसव होता है। आज हिंसादि अनर्थभूत कर्म अभीष्ट और श्रौत-स्मार्त कर्मरूप उपादेय पदार्थ भी अनिष्ट और अनुपादेय माने जाते है। सृष्टि की विलक्षणता नितान्त प्रसिद्ध है। अतः कल्पान्तराधीत वेद का स्मरण यहाँ किस काम का? इस प्रकार पूर्वप्रचलित व्यवहार का उच्छेद हो जाने से शब्दार्थ-सम्बन्ध एवं वेद—दोनों अनित्य क्यों न होंगे?

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि "प्राणिनां सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते, दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते"। आशय यह है कि वस्तुओं के स्वभाव और सामर्थ्य के अनुरूप ही सृष्टि प्रवृत्त होती है। वस्तु के स्वभाव और सामर्थ्य का अन्यथाकरण कभी नहीं किया जा सकता, क्योंकि सुख को सुखरूपेण त्याज्य और दुःख को दुःखरूपेण कभी उपादेय नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार धर्म और अधर्म भी अपने स्वभाव और सामर्थ्य के विपरीत नहीं किए जा सकते। क्या कभी मृत्तिका-पिण्ड से पट और

अविषयौ च रागद्वेषौ भवतः, न विलक्षणविषयावित्यतो धर्माधर्मफलभूतोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिसदृश्येव निष्पद्यते। स्मृतिश्च भवति—

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥ (म.भा. शां. १२।८५)
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते॥' (म.भा.शां. २५।७) इति।

प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते। शक्तिमूलमेव च प्रभवति; इतरथाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। न चानेकाकाराः शक्तयः शक्याः कल्पयितुम्। ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याप्युद्भवतां भूरादिलोकप्रवाहाणां, देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां च प्राणिनिकायप्रवाहाणां, वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चानादौ संसारे नियतत्वमिन्द्रियविषयसंबन्धनियतत्ववत्प्रत्येतव्यम्। न ह्येन्द्रियविषयसंबन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्। अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात्कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति। समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः। समाननामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ० सं० १०।१९०।३) इति। यथा पूर्वस्मिन्कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत्क्लृप्तं तथास्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः। तथा 'अग्निर्वा अकामयत। अन्नादो देवानां स्यामिति। स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति नक्षत्रेष्टिविधौ योऽग्निर्निरवपद्यस्मै वाऽग्नय निरवपत्तयोः समाननामरूपतां दर्शयतीत्येवंजातीयका श्रुतिरिहोदाहर्तव्या।

भामती

घटश्च तन्तुभ्यो जायते। तथा सति वस्तुसामर्थ्यनियमाभावात् सर्वं सर्वस्माद्भवेदिति पिपासुरपि वह्निमाहृत्य पिपासामुपशमयेत्, शीतार्तो वा तोयमाहृत्य शीतार्तिमिति। तेन सृष्ट्यन्तरेऽपि ब्रह्महत्याविरमर्थहेतुरेवार्थहेतुश्च यागादिरित्यानुपूर्व्यं सिद्धम्।

एवं च य एव वेदा अस्मिन् कल्पे त एव कल्पान्तरे त एव चैषामर्थास्त एव च वर्णाश्रमाः। दृष्टसाधर्म्यसम्भवे तद्वैधर्म्यकल्पनमनुमानागमविरुद्धम्।

आगमाश्चेह भूयांसो भाष्यकारेण दर्शिताः।
श्रुतिस्मृतिपुराणाख्यास्तद्व्याकोपोऽन्यथा भवेत्॥

भामती-व्याख्या

तन्तुओं से घट उत्पन्न होता है? यदि हो जाय, तब वस्तुओं के सामर्थ्य का कोई नियम नहीं रह जाता, फिर तो अग्नि से प्यास और हिम से ठिठुरन दूर होनी चाहिए। फलतः अन्य सृष्टियों के समान ही इस सृष्टि में भी ब्रह्महत्यादि कर्म अनर्थ के एवं अश्वमेधादि याग अर्थ के ही जनक होते हैं—यह सिद्ध हो जाता है। जो वेद कल्पान्तर में प्रचलित था, वही इस कल्प में भी है, वे ही उनके अर्थ और वे ही वर्णाश्रम हैं। दृष्ट पदार्थों की समानधर्मता जब अदृष्ट पदार्थों में बाधित नहीं, तब उनके वैधर्म्य की कल्पना अनुमान और आगमादि प्रमाणों से बाधित हो जाती है।

आगमाश्च भूयांसो भाष्यकारेण दर्शिताः।
श्रुतिस्मृतिपुराणाख्याः तद्व्याकोपोऽन्यथा भवेत्॥

स्मृतिरपि—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते सांप्रतैरिह।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥' (वायुपु. ९।५७-६५)

इत्येवंजातीयका द्रष्टव्या॥ ३०॥

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः॥ ३१॥

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्रतिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते। देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते। कस्मात्? मध्वादिष्वसंभवात्। ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत। न चैवं संभवति। कथम्? 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३।१।१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन्। देवादिषु ह्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वादित्यः कमन्यमादित्यमुपासीत? पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य वसवो रुद्रा

भामती

तस्मात् सुष्ठूक्तं ॐ समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि अविरोध इति ॐ। 'अग्निर्वा अकामयत' इति भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य यजमान एवाग्निरुच्यते। नह्यग्नेर्देवतान्तरमग्निरस्ति॥ ३०॥

ब्रह्मविद्यास्वधिकारं देवर्षीणां ब्रुवाणः प्रष्टव्यो जायते—किं सर्वासु ब्रह्मविद्यास्वविशेषेण सर्वेषां किंवा कासुचिदेव केषाञ्चित्? यद्यविशेषेण सर्वासु, ततो मध्वादिविद्यास्वसम्भवः। ॐ कथम्? असौ वाऽऽदित्यो देवमध्वित्यत्र हि मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन् ॐ। उपास्योपासकभावो हि भेदाधिष्ठानो न स्वात्मन्यादित्यस्य देवतायाः सम्भवति। न चादित्यान्तरमस्ति। प्राचामादित्यानामस्मिन् कल्पे क्षीणाधिकारत्वात्। ॐ पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्युपक्रम्य इति ॐ। अयमर्थः—असौ वा आदित्यो

भामती-व्याख्या

यह जो कहा गया है कि "अग्निर्वा अकामयत।" यहाँ अग्नि देवता के उस भावी जन्म को ध्यान में रख कर कहा गया है कि जब अग्नि देवता अपने भावी जन्म में अग्नि नाम का यजमान बनता है, तब वह उक्त कामना एवं कामना के अनुरूप कर्म करता है, जिसमें देवता उस यजमान से भिन्न होता हुआ भी अग्नि नामवाला ही होता है॥ ३०॥

जो वादी ब्रह्मविद्या में देवताओं और ऋषियों को अधिकार प्रदान कर रहा है, उससे यह पूछा जाना चाहिए कि क्या सभी प्रकार की ब्रह्म-विद्याओं में सभी को अधिकार है? अथवा किसी ब्रह्म-विद्या में ही किसी को ही अधिकार है? यदि सभी में सभी को अधिकार है, तब मध्वादि-विद्याओं में असम्भव हो जाता है, क्योंकि "असौ वा आदित्यो देवमधु" (छां. ३।१।१) यहाँ मनुष्य तो आदित्य देवता की मधु-बुद्धि से उपासना कर सकता है, किन्तु स्वयं आदित्य देवता किस अन्य आदित्य की उपासना करेगा? उपास्योपासकभाव सदैव उपास्य और उपासक के भेद की अपेक्षा करता है, अतः आदित्य देवता ही उपासक और वही उपास्य क्योंकर होगा? उपास्यभूत आदित्य से भिन्न और कोई आदित्य देवता है ही नहीं। पूर्व कल्प के जो आदित्यादि देवता इस समय मनुष्यरूप में हैं, वे देवतारूपता का अधिकार खो बैठे हैं, वे देवता ही नहीं माने जा सकते।

"पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य"—इत्यादि भाष्य ग्रन्थ

आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्तीत्युपदिश्य 'स य

भामती

देवमध्विति देवानां मोदनान्मध्विव मधु। भ्रामरमधुसारूप्यमाहास्य श्रुतिः। 'तस्य मधुनो द्यौरेव तिरश्चीनवंशः। अन्तरिक्षं मध्वपूपः'। आदित्यस्य हि मधुनोऽपूपः पटलमन्तरिक्षमाकाशं तत्रावस्थानात्। यानि च सोमाज्यपयःप्रभृतीन्यग्नौ हूयन्ते तान्यादित्यरश्मिभिरग्निसंवलितैरत्यन्तपाकान्यमृतीभावमापन्नान्यादित्यमण्डलमृङ्मन्त्रमधुपैर्नीयन्ते। यथा हि भ्रमराः पुष्पेभ्य आहृत्य मकरन्दं स्वस्थानमानयन्त्येवमृङ्मन्त्रभ्रमराः प्रयोगसमवेतार्थस्मारणादिभिर्ऋग्वेदविहितेभ्यः कर्मकुसुमेभ्य आहृत्य तन्निष्पन्नमकरन्दमादित्यमण्डलं लोहिताभिरस्य प्राचीनरश्मिनाडीभिरानयन्ति, तदमृतं वसव उपजीवन्ति। अथास्यादित्यमधुनो दक्षिणाभिः रश्मिनाडीभिः शुक्लाभिर्यजुर्वेदविहितकर्मकुसुमेभ्य आहृत्याग्नौ हुतं सोमादि पूर्ववदमृतभावमापन्नं यजुर्वेदमन्त्रभ्रमरा आदित्यमण्डलमानयन्ति, तदेतदमृतं रुद्रा उपजीवन्ति। तथास्यादित्यमधुनः प्रतीचीभी रश्मिनाडीभिः कृष्णाभिः सामवेदविहितकर्मकुसुमेभ्य आहृत्याग्नौ हुतं सोमादि पूर्ववदमृतभावमापन्नं साममन्त्रस्तोत्रभ्रमरा आदित्यमण्डलमानयन्ति, तदमृतमादित्या उपजीवन्ति। अथास्यादित्यमधुन उदीचीभिरतिकृष्णाभिः रश्मिनाडीभिरथर्ववेदविहितेभ्यः कर्मकुसुमेभ्य आहृत्याग्नौ हुतं सोमादिपूर्ववदमृतभावमापन्नमथर्वाङ्गिरसमन्त्रभ्रमरा, तथाश्वमेधवाचः स्तोमकर्मकुसुमादितिहासपुराणमन्त्रभ्रमरा आदित्यमण्डलमानयन्ति। अश्वमेधे वाचःस्तोमे च पारिप्लवं शंसन्तीति श्रवणादितिहासपुराणमन्त्राणामप्यस्ति प्रयोगः। तदमृतं मरुत उपजीवन्ति। अथास्य या आदित्यमधुन ऊर्ध्वा रश्मिनाड्यो गोप्यास्ताभिरुपासनभ्रमराः प्रणवकुसुमादाहृत्यादित्यमण्डल-

भामती—व्याख्या

का आशय यह है कि "असौ वादित्यो देवमधु"—इस वाक्य के द्वारा आदित्य को देवताओं का मधु इस लिए कहा गया है कि वह देवताओं के मोद का हेतु है, जैसा कि इस वाक्य का भाष्य करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"देवानां मोदनान्मध्विव मधु असौ आदित्यः" (छां. पृ. १३२)। भ्रामर [भ्रमर अर्थात् मधु-मक्खियों के बनाए गए शहद] की समानता श्रुति ने दिखाई है—तस्य मधुनो द्यौरेव तिरश्चीनवंशः, अन्तरिक्षं मध्वपूपः"। अर्थात् जैसे किसी तिरछे बाँसादि के सहारे मधु-मक्खियाँ अपना शहद का छत्ता लगाती है, ऐसे स्वर्गरूप तिरछे बाँस में लगा हुआ यह अन्तरिक्ष (आकाश) मधु का अपूप (छत्ता) और उसमें अवस्थित आदित्य शहद है। जितने भी सोम-रस, आज्य (घृत) और दुग्धादि हवि द्रव्य अग्नि में आहुत होते हैं, वे अमृतरूप से परिणत होकर रश्मिरूपी मधुपों (मधु-सञ्चय करने वाली मक्खियों) के द्वारा आदित्य-मण्डल में पहुँचाए जाते हैं। जैसे शहद की मक्खियाँ फूलों से मकरन्द (पुष्प-रस) लाकर शहद के छत्ते में सञ्चित करती है, वैसे ही ऋचारूपी मक्खियाँ कर्मरूपी पुष्पों से कर्म-फलरूप अमृत लाकर आदित्य-मण्डल में सञ्चित करती हैं। मन्त्रों का लक्षण किया जाता है—"प्रयोगसमवेतार्थस्मारकाः मन्त्राः", अतः कर्म के प्रयोग (अनुष्ठान) में विनियुक्त आदित्यादि देवताओं का मन्त्र ही स्मरण दिलाते हैं, [जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—"मन्त्रस्य हि एतत् प्रयोजनं यत् स्मारयति क्रियां साधनं वा" (शाबर. पृ. १४१८)]। आदित्य-मण्डल की (१) पूर्व दिशा में अवस्थित लाल रश्मियों के द्वारा सञ्चित अमृत का उपभोग वसुसंज्ञक देवगण, (२) दक्षिण दिशा की श्वेत किरणों के द्वारा आनीत यजुर्वेदीय कर्म-फलरूप अमृत का उपभोग रुद्रगण, (३) पश्चिम दिशा की कृष्ण किरणों के द्वारा आहृत सामवेदीय कर्मों के फलरूप अमृत का सेवन आदित्यगण एवं (४) उत्तर दिशा की अत्यन्त कृष्ण रश्मियों के द्वारा आनीत अथर्ववेदीय कर्म के फलरूप अमृत एवं इतिहास पुराणादिरूप रश्मियों के द्वारा आनीत अश्वमेध और वाचस्तोमसंज्ञक कर्मों के फलरूप अमृत का आसेवन मरुद्गण करते हैं। अश्वमेध और वाचःस्तोम नाम के एकाह क्रतु में "पारिप्लवं

एतदेवामृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' इत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृतानि विजानतां वस्वादिमहिमप्राप्तिं दर्शयति। वस्वादयस्तु कानन्यान्वस्वादीनमृतोपजीविनो विजानीयुः? कं वाऽन्यं वस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः? तथा 'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः' (छा० ३।१८।२), 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४।३।१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधिकारः संभवति। तथा 'इमावेव गोतमभरद्वाजो अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः (बृ० २।२।४) इत्यादिष्वृषिसंबन्धेषूपासनेषु न तेषामेवर्षीणामधिकारः संभवति ॥ ३१ ॥

कुतश्च देवादीनामनधिकारः?

भामती

मानयन्ति, तदमृतमुपजीवन्ति साध्याः। ता एता आदित्यव्यपाश्रयाः पञ्च रोहितादयो रश्मिनाड्य ऋगादिसम्बद्धाः क्रमेणोपदिश्येति योजना। एतदेवामृतं दृष्ट्वोपलभ्य यथास्वं समस्तैः करणैर्यद्यस्तेज-इन्द्रियसाकल्यवीर्य्यान्नाद्यान्यमृतं तदुपलभ्यादित्ये तृप्यन्ति। तेन खल्वमृतेन देवानां वस्वादीनां मोदनं विदधदादित्यो मधुः। एतदुक्तं भवति—न केवलमुपास्योपासकभाव एकस्मिन् विरुध्यते, अपितु ज्ञातृज्ञेय-भावश्च प्राप्यप्रापकभावश्चेति। * तथाग्निः पादः इति *। अधिदैवतं खल्वाकाशो ब्रह्मदृष्टिविधानार्थ-मुक्तम्। आकाशस्य हि सर्वगतत्वं रूपादिविहीनत्वं च ब्रह्मणा सारूप्यं, तस्य चैतस्याकाशस्य ब्रह्मणश्च-त्वारः पादा अग्न्यादयोऽग्निः पाद इत्यादिना दर्शिताः। यथा हि गोः पादा न गवा वियुज्यन्ते, एवम-ग्न्यादयोऽपि नाकाशेन सर्वगतेनेत्याकाशस्य पादास्तदेवमाकाशस्य चतुष्पदो ब्रह्मदृष्टिं विधाय स्वरूपेण वायुं संवर्गगुणकमुपास्यं विधातुं महीकरोति। * वायुर्वाव संवर्गः * तथा स्वरूपेणैवादित्यं ब्रह्मदृष्ट्योपास्यं विधातुं महीकरोति * आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः * उपदेशः। अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ ३१ ॥

भामती-व्याख्या

शंसन्ति" का विधान किया गया है, अर्थात् जब तक उस कर्म का समय पूरा न हो, तब तक वेद, पुराण धर्मशास्त्र और इतिहासादि जो भी कण्ठस्थ हो निरन्तर पारिप्लव (अव्यवस्थित) रूप से बोलते रहना चाहिए। इस प्रकार कर्मानुष्ठान-काल में वेद-मन्त्रों के समान इतिहास और पुराणादि के वाक्य भी विनियुक्त हैं। आदित्यरूप मधु की गोप्य ऊर्ध्वगामी रश्मियों के द्वारा जो प्रणवरूपी फूलों से जो अमृत लाया जाता है, उसका साध्यगण उपभोग करते हैं। इस प्रकार आदित्य की पाँच प्रकार की ऋगादि-सम्बन्वित रश्मियों के द्वारा आनीत अमृत वसु आदि देवगणों को मुदित करता है, अतः अमृत के आधारभूत आदित्य गोलक को देव-मधु कहा जाना सर्वथा उचित है। कहने का अभिप्राय यह है कि केवल उपास्य-उपासकभाव ही एक तत्त्व में विरुद्ध नहीं होता, [अपितु ज्ञातृ-ज्ञेयभाव और प्राप्य-प्रापकभाव भी विरुद्ध होता है। अर्थात् आदित्य-मण्डल में वसु आदि देवताओं के द्वारा जो मधुरूपता का ध्यान किया जाता है, उसका फल बताया गया है—वसु आदि देवताओं के स्वरूप की प्राप्ति, किन्तु वसु आदि देवता ही उपासक और उपास्य एवं प्रापक और प्राप्य नहीं हो सकते]।

उसी प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य और दिशा में आकाशरूप ब्रह्म के पादों की भावना का इस लिए ध्यान विहित है कि जैसे गौ के पाद गौ से बाहर नहीं होते, वैसे ही अग्नि आदि पदार्थ भी आकाश से बाहर नहीं। वायु में संवर्गरूपता की और आदित्य में ब्रह्म की भावना का उपदेश किया गया है। यहाँ भी उन्हीं उपास्यभूत देवताओं को अधिकार क्योंकर होगा? "इमावेव गोतमभरद्वाजो अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः" (बृह. उ. २।२।४) यहाँ पर दो कर्ण, दो नेत्र, दो नासिका और एक वाणी—इन सात इन्द्रियों में सप्त ऋषियों का

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जगदवभासयति, तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते। लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च। न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयाऽर्थित्वादिना वा योगोऽवगन्तुं शक्यते, मृदादिवदचेतनत्वावगमात्। एतेनाग्न्यादयो व्याख्याताः। स्यादेतत्,—

भामती

यद्युच्येत नाविशेषेण सर्वेषां देवर्षीणां सर्वासु ब्रह्मविद्यास्वधिकारः किन्तु यथासम्भवमिति। तत्रेदमुपतिष्ठते ज्योतिषि भावाच्च लौकिकौ ह्यादित्यादिशब्दप्रयोगप्रत्ययौ ज्योतिर्मण्डलादिषु दृष्टौ न चैतेषामस्ति चैतन्यं, नह्येतेषु देवदत्तादिवत्तदनुरूपा दृश्यन्ते चेष्टाः। ॐस्यादेतन्मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्य इतिॐ। तत्र जगृभ्माते दक्षिणमिन्द्रहस्तमिति च, काशिरिन्द्र इविति च। काशिर्मुष्टिः। तथा 'तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते' इति विग्रहवत्त्वं देवताया मन्त्रार्थवादा अभिवदन्ति। तथा हविर्भोजनं देवताया दर्शयन्ति। अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्येत्यादयः। तथेशनाम्—'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्। इन्द्रो वृधाम् इन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः' इति। तथा 'ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुष' इति। तथा वरिवसितारं प्रति देवतायाः

भामती–व्याख्या

ध्यान विहित है। इस ऋषि-सम्बन्धी उपासना में उन्हीं ऋषियों को अधिकार कैसे हो सकेगा ? ॥ ३१ ॥

'सामान्यतः सभी देवताओं और सभी ऋषियों को सभी प्रकार की ब्रह्म-विद्याओं में अधिकार नहीं, किन्तु यथासम्भव उपास्य और उपासक का जहाँ भेद है, वहाँ ही अधिकार दिया जा सकता है—"ज्योतिषि भावाच्च"। अर्थात् प्रत्यक्षतः अनुभूयमान ज्योतिर्मण्डल को ही आदित्य नाम से अभिहित किया जाता है, 'आदित्य' शब्द से जनित प्रतीति भी उसी लौकिक ज्योतिर्मण्डल को ही विषय करती है किन्तु यह ज्योतिर्मण्डल चेतन नहीं जड़मात्र है। इसमें देवदत्तादि के समान किसी प्रकार की चेष्टा नहीं पाई जाती। यह किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कर्म नहीं कर सकता।

शङ्का—मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोक-प्रसिद्धि के द्वारा देवताओं में विग्रहवत्त्व और चैतन्यादि का प्रतिपादन किया गया है, जैसे कि "जगृभ्माते दक्षिणमिन्द्रहस्तम्" (ऋ. सं. १०।४७।१) अर्थात् हे इन्द्र ! हमने आपका दक्षिण हाथ पकड़ा है। "इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत् संगृभ्णा मघवन् काशिरित् ते।" (ऋ. सं. ३।३०।५) अर्थात् हे मघवन् ! तू यदि इन द्यु और पृथिवी को पकड़ता है, तब ये तेरी मुट्ठी में समा जाते हैं। "तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते" (ऋ. सं. ८।१७।८) अर्थात् स्थूल ग्रीवा, मोटे पेट और विशाल बाहुवाले इन्द्र ने सोमरस से मद-मत्त होकर वृत्रासुर का बध कर डाला। ये मन्त्र देवताओं के विग्रह का प्रतिपादन करते हैं। हवि का भक्षण भी वे कहते हैं—"अद्धीन्द्र। पिब च प्रस्थितस्य" (ऋ. सं. १०।११६।७) अर्थात् हे इन्द्र ! प्रस्थित (यजमान के द्वारा प्रदत्त) सोमरस का पान करो। देवताओं का ऐश्वर्य भी प्रतिपादित है—"इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम्। इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥" (ऋ. सं. १०।८९।१०)। अर्थात् इन्द्र स्वर्ग, पाताल, वृधा (स्थावर) मेधिर (जङ्गम) के योग-क्षेम में समर्थ है, अतः इन्द्र हवि-समर्पित करने के योग्य है। इसी "ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः" (ऋ. सं. ७।३२।२२)। अर्थात् हे इन्द्र ! आप इस स्थावर और जङ्गम जगत् के शासक और

मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमादयमदोष इति, नेत्युच्यते, नहि तावल्लोको नाम किंचित्स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति। प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यविचारितविशेषेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिद्ध्यन्नर्थो लोकात्प्रसिध्यतीत्युच्यते। न चात्र प्रत्यक्षादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति। इतिहासपुराणमपि पौरुषेयत्वात्प्रमाण-

भामती

प्रसादं प्रसन्नायाश्च फलदानं दर्शयति आहुतिभिरेव देवान् हुतादः प्रीणाति तस्मै प्रीता इषमूर्जं च यच्छन्ति' इति। 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति' इति च। धर्मशास्त्रकारा अप्याहुः—

ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः। इति।

पुराणवचांसि च भूयांसि देवताविग्रहादिपञ्चकप्रपञ्चमाचक्षते। लौकिका अपि देवताविग्रहादि-पञ्चकं स्मरन्ति चोपचरन्ति च। तथाहि - यमं दण्डहस्तमालिखन्ति, वरुणं पाशहस्तम्, इन्द्रं वज्रह-स्तम्। कथयन्ति च देवता हविर्भुज इति। तथेशनामिमामाहुः—देवग्रामो देवक्षेत्रमिति। तथास्याः प्रसादं च प्रसन्नायाश्च फलदानमाहुः—प्रसन्नोऽस्य पशुपतिः पुत्रोऽस्य जातः। प्रसन्नोऽस्य धनदो धनमनेन लब्धमिति। तदेतत् पूर्वपक्षी दूषयति * नेत्युच्यते। न हि तावल्लोको नाम इति *। न खलु प्रत्यक्षादिव्यतिरिक्तो लोको नाम प्रमाणान्तरमस्ति, किन्तु प्रत्यक्षादिमूला लोकप्रसिद्धिः सत्यतामश्नुते, तदभावे त्वन्धपरम्परावन्मूलाभावाद्विप्लवते। न चात्र विग्रहादौ प्रत्यक्षादीनामन्यतममस्ति प्रमाणम्। न चेतिहासादिमूलं भवितुमर्हति तस्यापि पौरुषेयत्वेन प्रत्यक्षाद्यपेक्षणात्। प्रत्यक्षादीनां चात्राभावादित्याह * इतिहासपुराणमपि इति *। ननूक्तं मन्त्रार्थवादेभ्यो विग्रहादिपञ्चकप्रसिद्धिरित्यत आह * अर्थवादा

भामती–व्याख्या

स्वर्दृश (दिव्य दृष्टि-सम्पन्न) हैं, हम आप की स्तुति करते हैं। यह मन्त्र भी देवताओं के ऐश्वर्य का प्रकाशक है। देवता अपने उपासक पर प्रसन्न हो वर-प्रदान करता है—"आहुति-भिरेव देवान् हुतादः प्रीणाति तस्मै प्रीता इषमूर्जं च यच्छन्ति" (तै. सं. ५।४।८।१) अर्थात् देवतागण यजमान पर प्रसन्न होकर उसको अन्न और बल प्रदान करते हैं। इसी प्रकार "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति"—यह मन्त्र भी तृप्ति आदि का अभिधायक है।

धर्मशास्त्रों में भी कहा है—"ते तृप्ताः तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः"। पुराणों में तो देवताओं के विग्रहादि-पञ्चक पर पुष्कल प्रकाश डाला गया है। [(१) विग्रह (शरीर), (२) हविर्भक्षण, (३) ऐश्वर्य, (४) प्रसन्नता और (५) फल-दातृत्व—ये देवता के विग्रहादि-पञ्चक कहे जाते हैं]। लौकिक-व्यवहार में भी देवताओं को विग्रहादि से युक्त ही माना जाता है, जैसे कि यमराज का चित्र लोग बनाते हैं—एक विकराल पुरुष आँखे फाड़े खड़ा है, उसके एक हाथ में सुदृढ़ मोटा दण्ड है। वरुण देवता के हाथ में पाश, इन्द्र के हाथ में वज्र दिखाया जाता है। लोग कहते भी हैं कि देवगण हवि का भक्षण करते है। देवता के प्रभुत्व का वर्णन करते हैं—'देवग्रामोऽयम्', 'देवक्षेत्रमिदम्'। इसी प्रकार देवता की प्रसन्नता और फल-दातृता का बखान भी किया जाता है—'प्रसन्नोऽस्य पशुपतिः', 'पुत्रोऽस्य जातः'। प्रसन्नोऽस्य धनदः, धनमनेन लब्धम्'।

पूर्वपक्षी कथित पक्ष पर दोषाभिधान करता है—"नेत्युच्यते, न हि तावल्लोको नाम किञ्चित् स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति"। आशय यह है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर ही टिकी लोक-प्रसिद्धि यथार्थ मानी जाती है, स्वतन्त्र नहीं। जिस लोक-प्रसिद्धि में प्रत्यक्षादि का बल नहीं होता, वह एक अन्ध-परम्परामात्र रह जाती है, इतर प्रमाणों के द्वारा वह विप्लुत (बाधित) हो जाती है। देवता के विग्रहादि में प्रत्यक्षादि प्रमाण सम्भावित नहीं। इतिहासादि को भी देव-विग्रहादि का साधक नहीं मान सकते, क्योंकि इतिहासादि ग्रन्थ पुरुष-रचित होने के कारण प्रत्यक्षादि-सापेक्ष ही होते हैं और विग्रहादि में प्रत्यक्षादि का

न्तरं मूलमाकाङ्क्षति । अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थाः सन्तो न पार्थग्-र्थ्येन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे कारणभावं प्रतिपद्यन्ते । मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनि-युक्ताः प्रयोगसमवायिनोऽभिधानार्था न कस्यचिदर्थस्य प्रमाणमित्याचक्षते । तस्माद-

भामती

अपि इति ॥ । विध्युद्देशेनैकवाक्यतामापद्यमाना अर्थवादा विधिविषयप्राशस्त्यलक्षणापरा न स्वार्थे प्रमाणं भवितुमर्हन्ति । 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हि शाब्दन्यायविदः, प्रमाणान्तरेण तु यत्र स्वार्थोऽपि समर्थ्यते यथा वायोः क्षेपिष्ठत्वम् । तत्र प्रमाणान्तरवशात्सोऽभ्युपेयते न तु शब्दसामर्थ्यात् । यत्र तु न प्रमाणान्तरमस्ति यथा विग्रहादिपञ्चके सोऽर्थः शब्दादेवावगन्तव्यः । अतत्परश्च शब्दो न तदवगमयितुमलमिति तदवगमायास्य तत्रापि तात्पर्यमभ्युपेतव्यम् । न चैकं वाक्यमुभयपरं भवतीति, वाक्यं भिद्येत । न च सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो युज्यते । तस्मात्प्रमाणान्तरानधिगता विग्रहादिमत्ता-न्यपराच्छब्दादवगन्तव्येति मनोरथमात्रमित्यर्थः । मन्त्राश्च व्रीह्यादिवच्छ्रुत्यादिभिस्तत्र तत्र विनियुज्य-मानाः प्रमाणभावाननुप्रवेशिनः कथमुपयुज्यन्तां तेषु तेषु कर्मस्वित्यपेक्षायां दृष्टे प्रकारे सम्भवति नादृष्ट-

भामती—व्याख्या

अभाव है, यही कहा जाता है—"इतिहासपुराणमपि पौरुषेयत्वात् प्रमाणान्तरं मूलमाकांक्षति"। यह जो कहा गया कि मन्त्र और अर्थवाद वाक्यों के द्वारा विग्रहादि-पञ्चक अवगत होता है, उसका खण्डन किया जाता है—"अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थाः"। महर्षि जैमिनि ने अर्थवादवाक्यों के स्वतन्त्र प्रामाण्य का निराकरण करते हुए कहा है—"विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (जै. सू. १।२।७) अर्थात् विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यतापन्न होकर अर्थवाद वाक्य विधेय की प्रशंसा और निषेध्य पदार्थ की निन्दामात्र में पर्यवसित होते हैं, स्वाभिधेय अर्थ में प्रमाण ही नहीं होते, क्योंकि सर्व-सम्मत न्याय है कि "यत्परः शब्दः, स शब्दार्थः"। अर्थात् जिस पदार्थ में जिस शब्द का तात्पर्य अवसित होता है, वह शब्द उसी अर्थ का अभिधान किया करता है, अन्य अर्थ का नहीं। यदि अन्य अर्थ किसी प्रमाणान्तर से समर्थित होता है, तब वह प्रमाणान्तर ही उस अर्थ में प्रमाण माना जाता है, अर्थवाद वाक्य नहीं, जैसे "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (तै. सं. २।१।१) इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा ध्वनित वायु का शीघ्रगामित्व प्रत्यक्ष प्रमाण से समर्थित है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण ही उस अर्थ में प्रमाण माना जाता है, अर्थवाद वाक्य नहीं। किन्तु अर्थवाद के द्वारा ध्वनित जिस विग्रहादि-पञ्चकरूप अर्थ में कोई प्रमाणान्तर भी नहीं, वह अर्थ केवल अर्थवाद-वाक्य से प्रमाणित हो सकता था। जब कि अर्थवाद वाक्य का उसमें तात्पर्य ही नहीं, तब वह उससे प्रमाणित क्योंकर होगा। एक ही अर्थवाद वाक्य विधेयार्थ की प्रशंसा भी करे और विग्रहादि-पञ्चक का प्रतिपादन भी—ऐसा मानने पर वाक्य-भेद हो जाता है—"अर्थभेदाद् वाक्यभेदः" (शाबर. पृ. ७८६)। वाक्य-भेद एक ऐसा दोष है, जिसे यथासम्भव नहीं होने देना चाहिए—"सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते" (श्लो. वा. पृ. १३५)। फलतः देवता में विग्रहादिमत्ता अन्यार्थपरक अर्थवाद वाक्य से प्रमाणित होगी—यह मनोरथ मात्र है।

इसी प्रकार मन्त्र वाक्य भी विग्रहादि को प्रमाणित नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्वयं श्रुति, लिङ्गादि प्रमाणों के द्वारा वैसे ही किसी अर्थ में विनियुक्त होते हैं, जैसे "व्रीहिभिर्य-जेत"—यहाँ तृतीया विभक्तिरूप श्रुति के द्वारा व्रीहि का याग में विनियोग होता है। वे किसी अर्थ में प्रमाण ही नहीं माने जाते। 'मन्त्राः कर्मसु कथं विनियुज्यन्ताम्'—इस प्रकार की कैमर्थ्याकांक्षा में दृष्ट प्रकार सम्भव होने पर अदृष्ट-कल्पना उचित नहीं होती। इस प्रकार तो

भावो देवादीनामधिकारस्य ॥ ३२ ॥

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति। बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते। यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्वसंभवोऽधिकारस्य, तथाप्यस्ति हि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां संभवः। अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य। न च क्वचिदसंभव इत्येतावता यत्र संभवस्तत्राप्यधिकारोऽपोद्येत। मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणादीनां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः संभवति। तत्र यो न्यायः सोऽत्रापि भविष्यति। ब्रह्मविद्यां च प्रकृत्य भवति दर्शनं श्रौतं देवाद्यधिकारस्य सूचकम्—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १।४।१०) इति। 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्' इति। 'इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्' (छा० ८।७।२) इत्यादि च। स्मार्तमपि गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि। यदप्युक्तं—ज्योतिषि भावाच्चेति। अत्र ब्रूमः— ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथाव्यवहारात्। अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद्देवतानां ज्योतिराद्या-

---

भामती

कल्पनोचिता। दृष्टश्च प्रकारः प्रयोगसमवेतार्थस्मरणं, स्मृत्वा चानुतिष्ठन्ति खल्वनुष्ठातारः पदार्थान्। औत्सर्गिकी चार्थपरता पदानामित्यपेक्षितप्रयोगसमवेतार्थस्मरणतात्पर्य्याणां मन्त्राणां नानधिगते विग्रहादावपि तात्पर्यं युज्यत इति न तेभ्योऽपि तत्सिद्धिः। तस्माद् देवताविग्रहवत्तादिभावग्राहकप्रमाणाभावात् प्राप्ता षष्ठप्रमाणगोचरतास्येति प्राप्तम् ॥ ३२ ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—भावन्तु बादरायणोऽस्ति हि—

❀ तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति ❀ इत्यादि, ❀ भूतधातोरादित्यादिष्वचेतनत्वमभ्युपगम्यते ❀ इत्यन्तमतिरोहितार्थम्। ❀ मन्त्रार्थवादादिव्यवहाराद् इति ❀। आदिग्रहणेनेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणि

भामती—व्याख्या

यही है कि मन्त्रों से कर्मानुष्ठान में अपेक्षित क्रिया और उसके साधनीभूत देवतादि का स्मरण करके ही कर्मानुष्ठान सम्भव होता है। पदों में पदार्थपरता का होना एक औत्सर्गिक नियम है, अतः मन्त्र वाक्य का प्रयोग-समवेतार्थ के स्मरण को छोड़ कर विग्रहादि-पञ्चकरूप अनधिगतार्थ में तात्पर्य नहीं माना जा सकता, अतः मन्त्रादि के द्वारा भी देव-विग्रहादि की सिद्धि नहीं हो सकती। फलतः सद्भाव-साधक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों के द्वारा जब विग्रहादि की सिद्धि नहीं हो सकी, तब अनुपलब्धिरूप छठे प्रमाण के द्वारा उनका अभाव ही सिद्ध होता है ॥ ३२ ॥

कथित पूर्व पक्ष का निराकरण किया जाता है—"भावं तु बादरायणोऽस्ति हि"। सूत्रस्थ 'तु' शब्द के द्वारा पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करते हुए आचार्यवर बादरायण का कहना है कि ब्रह्मविद्या में देवताओं के अधिकार का सद्भाव है। यह जो कहा गया कि लोक-प्रसिद्ध ज्योतिर्मण्डल में ही 'आदित्य' पद का प्रयोग होता है, ज्योतिर्मण्डल चेतन नहीं, जड़मात्र है, अतः आदित्य उपासना कर ही नहीं सकता कि उसे अधिकार दिया जाय। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि प्रसिद्ध ज्योतिर्मण्डल को आदित्य न कह कर उसके अधिष्ठातृ देव को आदित्य कहते हैं, वह चेतन है, जड़ नहीं। मन्त्र और अर्थवादादि वाक्यों में वैसा ही व्यवहार देखा जाता है। 'मन्त्रार्थवादादि'—यहाँ 'आदि' शब्द के द्वारा इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र का

त्मभिस्तावस्थातुं, यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। तथा हि श्रूयते सुब्रह्मण्यार्थवादे—मेधातिथेर्मेषेति। 'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंश० ब्रा० १।१) इति। स्मर्यते च—आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति। मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते 'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्' इत्यादिदर्शनात्। ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वचेतनत्वमभ्युपगम्यते। चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मनो मन्त्रार्थवादादिव्यवहारादित्युक्तम्। यदप्युक्तं—मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसामर्थ्यमिति। अत्र ब्रूमः—प्रत्ययाप्रत्ययौ हि सद्भावासद्भावयोः कारणं, नान्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा। तथाह्यन्यार्थमपि प्रस्थितः पथि पतितं तृणपर्णाद्यस्तीत्येव प्रतिपद्यते।

अत्राह—विषम उपन्यासः। तत्र हि तृणपर्णादिविषयं प्रत्यक्षं प्रवृत्तमस्ति, येन तदस्तित्वं प्रतिपद्यते। तत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थेऽर्थवादे न पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याऽध्यवसातुम्। नहि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक्प्रत्यायकत्वमस्ति यथा 'न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वाक्ये पदत्रयसंबन्धात्सुरापानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते, न पुनः सुरां पिबेदिति पदद्वय-

भामती

गृह्यन्ते। मन्त्रादीनां व्यवहारः प्रवृत्तिस्तस्य दर्शनादिति। पूर्वपक्षमनुभाषते। ❀ यदप्युक्तम् इति ❀। एकदेशिमतेन तावत्परिहरति ❀ अत्र ब्रूमः इति ❀। तदेतत् पूर्वपक्षिणमुत्थाप्य दूषयति ❀ अत्राह ❀ पूर्वपक्षी। शाब्दी खल्वियं गतिः। यत्तात्पर्याधीनवृत्तित्वं नाम नह्यन्यपरः शब्दोऽन्यत्र प्रमाणं भवितुमर्हति। नहि श्वित्रिनिर्णेजनपरं श्वेतो धावतीति वाक्यम्, इतः सारमेयवेगवद्गमनं गमयितुमर्हति। न च नञ्वति महावाक्येऽवान्तरवाक्यार्थो विधिरूपः शक्योऽवगन्तुम्। न च प्रत्ययमात्रात्सोऽप्यर्थोऽस्य भवति,

भामती-व्याख्या

ग्रहण किया गया है। 'मन्त्रादि-व्यवहार' का अर्थ है—मन्त्रादि वाक्यों की अर्थ-बोधन में प्रवृत्ति, वह अनुभव-सिद्ध है।

पूर्व-पक्ष का अनुवाद किया जाता है—"यदप्युक्तं मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसामर्थ्यम्"। इस पूर्वपक्ष का वेदान्त के एकदेशी आचार्य के मत से परिहार किया जाता है—"अत्र ब्रूमः"। इस एकदेशी आचार्य के मत का पूर्वपक्षी के माध्यम से खण्डन किया जाता है—"अत्राह पूर्वपक्षी"। यह शाब्दी मर्यादा है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में तात्पर्य है, उस शब्द की उसी अर्थ में वृत्तिता (अभिधेयता) मानी जाती है, अत एव अन्यपरक शब्द अन्य अर्थ में प्रमाण नहीं हो सकता, जैसे कि 'श्वेतो धावति'—इस वाक्य में 'श्वेतः' शब्द के दो अर्थ होते हैं—(१) श्वेत कुष्ठवाला व्यक्ति और (२) 'श्वा इतः'—ऐसा छेद करने पर कुत्ता इधर—ऐसा अर्थ होता है। उसी प्रकार 'धावु गतिशुद्धयोः' धातु से निष्पन्न 'धावति' क्रिया पद के भी दो अर्थ होते हैं (१) धोता है और (२) दौड़ता है। 'श्वेत कुष्ठवाला (श्वित्री) व्यक्ति अपना कुष्ठ धोता है'—इस अर्थ के बोधक 'श्वेतो धावति'—इस वाक्य के द्वारा 'कुत्ता इधर दौड़ रहा है'—ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'—इस महावाक्य का षोडशिग्रहण-कर्त्तव्यतारूप अवान्तर वाक्यार्थ में तात्पर्य पर्यवसित नहीं हो सकता। 'किसी वाक्य को सुनने के अनन्तर किसी अर्थ की जैसे-तैसे प्रतीति हो गई'—एतावता उस अर्थ में उस वाक्य का तात्पर्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रतीति भ्रमात्मक भी हो सकती है। शब्द प्रमाण ही वक्ता के तात्पर्य की अपेक्षा करता है, प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं, क्योंकि जो व्यक्ति जलाहरण के उद्देश्य से

संवन्धात्सुरापानविधिरपीति । अत्रोच्यते—विषम उपन्यासः । युक्तं यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्वयस्यैकत्वादवान्तरवाक्यार्थस्याग्रहणम् । विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवाद-

भामती

तत्प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात् । न पुनः प्रत्यक्षादीनामियं गतिः । नह्युदकाहरणार्थिना घटदर्शनायोन्मीलितं चक्षुर्घटपटौ वा पटं वा केवलं नोपलभते । तदेवमेकदेशिनि पूर्वपक्षिणा दूषिते परमसिद्धान्तवाद्याह ॐअत्रोच्यते । विषम उपन्यासः इति ॐ । अयमभिसन्धिः—लोके विशिष्टार्थप्रत्यायनाय पदानि प्रयुक्तानि तदन्तरेण न स्वार्थमात्रस्मरणे पर्यवस्यन्ति । नहि स्वार्थस्मरणमात्राय लोके पदानां प्रयोगो दृष्टपूर्वः । वाक्यार्थे तु दृश्यते । न चैतान्यस्मारितस्वार्थानि साक्षाद्वाक्यार्थं प्रत्याययितुमीशते इति स्वार्थस्मारणं वाक्यार्थमितयेऽवान्तरव्यापारः कल्पितः पदानाम् । न च यदर्थं यत् तत् तेन विना पर्यवस्यतीति न स्वार्थमात्राभिधानेन पर्यवसानं पदानाम् । न च नञ्वति वाक्ये विधानपर्यवसानम् । तथा सति नञ्पदमनर्थकं स्यात् । यथाहुः—

साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥ इति ।

सेयमेकस्मिन्वाक्ये गतिः । यत्र तु वाक्यस्यैकस्य वाक्यान्तरेण सम्बन्धस्तत्र लोकानुसारतो भूतार्थ-

भामती—व्याख्या

घट देखने के लिए आँख खोलता है, वह पुरोऽवस्थित घट और पट—दोनों या केवल पट को क्या नहीं देखता ?

इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा एकदेशी का खण्डन हो जाने के पश्चात् परम सिद्धान्तवादी कहता है—"अत्रोच्यते विषम उपन्यासः" । अभिप्राय यह है कि लोक में जिस विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराने के लिए पद प्रयुक्त होते हैं, उसके विना पद केवल स्वार्थमात्र के स्मरण में पर्यवसित नहीं होते, क्योंकि केवल (असंसृष्ट) पदार्थ का स्मरण दिलाने के लिए पदों का प्रयोग नहीं देखा जाता, वाक्यार्थरूप विशिष्टार्थ की प्रतीति कराने के लिए तो स्वार्थस्मारकत्वेन पदों का प्रयोग देखा जाता है, क्योंकि पद अपने स्वार्थ का स्मरण न दिला कर साक्षात् वाक्यार्थ का बोध नहीं करा सकते । पदों के ही दो व्यापार माने जाते हैं—(१) पदार्थ स्मारण और (२) स्मृत पदार्थों के द्वारा वाक्यार्थ का अवबोधन । फलतः पदार्थ-स्मारण पदों का अवान्तर व्यापार है । पदों का परम तात्पर्य वाक्यार्थ-बोधन है, उसके विना केवल स्वार्थाभिधानमात्र से पदों का पर्यवसान नहीं माना जाता । नञ्-घटित वाक्य का विधानरूप वाक्यार्थैकदेश में तात्पर्य सम्भव नहीं, अन्यथा नञ् पद का प्रयोग ही निरर्थक हो जाता है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥ (श्लो. वा. पृ. ९४२)

[पद यद्यपि साक्षात् पदार्थों का अभिधान ही करते हैं, तथापि उतने मात्र से उनका तात्पर्य समाप्त नहीं होता, अपितु वाक्यार्थ-बोध कराने के लिए पदों का पदार्थ-प्रतिपादन व्यापार वैसा ही नान्तरीयक (अनिवार्य) है, जैसा कि ओदनादि के पाक का निष्पादन करने के लिए चूल्हे में लगी लकड़ियों का अग्नि प्रज्वलित करना] । यह तो एक वाक्य की प्रक्रिया है ।

स्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्यानन्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते। यथा हि—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां वायव्यादिपदानां विधिना संबन्धः, नैवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्येषामर्थवादगतानां पदानाम्। न हि भवति वायुर्वा आलभेतेति क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेतेत्यादि। वायुस्वभावसंकीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैवं विशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति। तद्यत्र सोऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति, तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्तते। यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन। यत्र तु तदुभयं नास्ति तत्र किं प्रमाणान्तराभा-

भामती

व्युत्पत्तौ च सिद्धायामेकैकस्य वाक्यस्य तत्तद्विशिष्टार्थप्रत्यायनेन पर्यवसितवृत्तिनः पश्चात् कुतश्चिद्धेतोः प्रयोजनान्तरापेक्षायामन्वयः कल्प्यते। यथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्यत्र। इह हि यदि न स्वाध्यायाध्ययनविधिः स्वाध्यायशब्दवाच्यं वेदराशिं पुरुषार्थतामनेष्यत्ततो भूतार्थमात्रपर्यवसितार्थवादा विध्युद्देशेन नैकवाक्यतामगमिष्यन्। तस्मात् स्वाध्यायविधिवशात् कैमर्थ्याकाङ्क्षायां वृत्तान्तविगोचराः सन्तस्तत्प्रत्यायनद्वारेण विधेयप्राशस्त्यं लक्षयन्ति, न पुनरविवक्षितस्वार्था एव तल्लक्षणे प्रभवन्ति; तथा सति लक्षणैव न भवेत्। अभिधेयाविनाभावस्य तद्बीजस्याभावात्। अत एव गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दः स्वार्थसम्बद्धमेव तीरं लक्षयति न तु समुद्रतीरं, तत्कस्य हेतोः, स्वार्थप्रत्यासत्त्यभावात्। न चैतत्सर्वं स्वार्थाविवक्षायां कल्पते। अत एव यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धार्था अर्थवादा दृश्यन्ते, यथादित्यो वै यूपो यजमानः प्रस्तर इत्येवमादयः। तत्र

भामती—व्याख्या

जहाँ एक वाक्य का वाक्यान्तर से सम्बन्ध होता है, वहाँ लोक-व्यवहार के आधार पर सिद्धार्थ-बोधकता को सिद्धवत् मान कर प्रत्येक वाक्य अपने विशिष्टार्थ के अवबोधन में पर्यवसित हो जाता है, किन्तु पश्चात् किसी विशेष आकाङ्क्षा को लेकर एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता है, जैसे 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेनभागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" (तै. सं. २।१।१) यहाँ "वायव्यमालभेत भूतिकामः"—इतना विधि वाक्य और शेष अर्थवाद वाक्य है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (तै. आ. २।१५) यह विधि वाक्य यदि 'स्वाध्याय' पद से अभिहित अर्थवादादि-घटित सकल वेद-राशि में पुरुषार्थ-पर्यवसायिता अवगमित न करता, तब भूतार्थमात्र का प्रतिपादन कर अर्थवाद वाक्य चरितार्थ हो जाते और विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यतापन्न नहीं होते। अतः स्वाध्यायाध्ययन-विधि के द्वारा 'किमर्थमिदमर्थवादवाक्यम् ?' इस प्रकार की उत्थापित कैमर्थ्याकांक्षा में अर्थवादवाक्य एक अपने किसी वृत्तान्तान्वाख्यान के माध्यम से वायुदेवताक कर्मादिरूप विधेयार्थ की प्रशंसा कर देते हैं कि 'प्रशस्तमिदं कर्म, तस्मादवश्यं कर्त्तव्यम्'। अर्थवाद वाक्य अपने अभिधेयार्थ का प्रतिपादन करके ही कथित प्राशस्त्य के लक्षक होते हैं, अन्यथा नहीं, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—'अभिधेयाविनाभूते-प्रतीतिर्लक्षणोच्यते' (तं. वा. पृ. ३५४) अत एव 'गङ्गायां घोषः'—यहाँ पर 'गङ्गा' पद अपने प्रवाहरूप अभिधेय (शक्य) अर्थ से सम्बन्धित तट का ही लक्षक होता है, समुद्र-तटादि का नहीं, ऐसा क्यों ? इस लिए कि समुद्र-तट के साथ गङ्गा के शक्यार्थ का सम्बन्ध नहीं होता। यह सब कुछ स्वार्थ की अविवक्षा करके अर्थवाद वाक्य नहीं कर सकते। अत एव जहाँ अर्थवाद वाक्य प्रमाणान्तर से विरुद्ध अर्थ का अभिधान करते हैं, जैसे—"आदित्यो वै यूपः" (तै. ब्रा. २।१।५), "यजमानः प्रस्तरः" (तै. सं.

भामती

यथा प्रमाणान्तराविरोधः यथा च स्तुत्यर्थता तदुभयसिद्ध्यर्थं गुणवादस्त्विति च तत्सिद्धिरिति चासूत्रयज्जैमिनिः । तस्मादत्र सोऽर्थोऽर्थवादानां प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन प्राशस्त्यलक्षणेति लक्षितलक्षणा । यत्र तु प्रमाणान्तरसंवादस्तत्र प्रमाणान्तरादिवार्थवादादपि सोऽर्थः प्रसिध्यति । द्वयोः परस्परानपेक्षयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिवैकत्रार्थे प्रवृत्तेः । प्रमात्रपेक्षया त्वनुवादकत्वं, प्रमाता ह्यव्युत्पन्नः प्रथमं यथा प्रत्यक्षादिभ्योऽर्थमवगच्छति न तथाम्नायतस्तत्र व्युत्पत्त्याद्यपेक्षत्वात् , न तु प्रमाणापेक्षया द्वयोः स्वार्थे-

भामती-व्याख्या

२।६।५।३) इत्यादि स्थलों पर प्रमाणान्तर के अविरोध एवं विधेयार्थ के प्राशस्त्य का सम्पादन जैसे हो सके, वैसा मार्ग अपनाने के लिए महर्षि जैमिनि ने सङ्केत किया है—"गुणवादस्तु" (जै. सू. १।२।१०), "तत्सिद्धिः" (जै. सू. १।४।२३) अर्थात् प्रमाणान्तर से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले अर्थवाद वाक्यों की गौणी वृत्ति अपनाकर विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता की जा सकती है, जैसे कि प्रस्तर (एक मुट्ठी भर कुशा) को वेदी में बिछाकर उसके ऊपर जुहू आदि पात्र रखे जाते हैं। उस प्रस्तर को यजमान इसलिए कह दिया गया है कि उससे यजमान के कार्य (यागानुष्ठान) की सिद्धि होती है, अतः प्रस्तर उतना ही श्रेष्ठ और उपादेय है, जितना कि यजमान। [जैसे 'सिंहो माणवकः'—यहाँ 'सिंह' पद की स्वशक्यार्थगत शूरत्वरूप गुण के सम्बन्ध से माणवक में वृत्ति (प्रवृत्ति) मानी जाती है, अतः इस वृत्ति का नाम गौणी वृत्ति कहा जाता है। वसे ही 'यजमानः प्रस्तरः'—यहाँ पर यजमान में जो याग-साधनत्व गुण है, उसके सम्बन्ध से 'यजमान' पद की प्रस्तर में प्रवृत्ति का नाम गौणी वृत्ति है। तत्सिद्धि-पेटिका में इतना ही प्रदर्शित किया गया है और अर्थवादाधिकरण में जो अर्थवाद-वाक्यों की विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता सिद्ध की गई है, वह यहाँ लक्षितलक्षणा के द्वारा सम्पन्न होती है, क्योंकि "अभिधेयाविनाभूते प्रतीतिलक्षणोच्यते" (तं० वा० पृ० ३५४) इसके अनुसार 'यजमान' पद का जो अभिधेय (शक्य) अर्थ है—यजमानत्व, उससे अविनाभूत है—याग-साधनत्व और याग-साधनत्व का अविनाभूत प्रशस्तत्व है, जिसकी आधारता यहाँ प्रस्तर में विवक्षित है। "प्रस्तरं बर्हिष उत्तरं सादयति" (तै. सं. २।६।५) इस विधि वाक्य के द्वारा प्रस्तर का विधान किया जाता है, विधेयार्थ की प्रशंसा करके ही अर्थवाद वाक्य विधि वाक्य से एकवाक्यतापन्न होते हैं, अतः यहाँ 'यजमान' पद के द्वारा लक्षित की लक्षणा प्राशस्त्य में होने के कारण लक्षितलक्षणा कही जाती है। वस्तुतः जैसे 'द्विरेफ' पद की लक्षणा दो रकारों से घटित 'भ्रमर' पद में होती है और 'भ्रमर' पद का अभिधेय भौंरा होता है, अतः 'द्विरेफो गुञ्जति'—यहाँ लक्षित-लक्षणा मानी जाती है, वैसे ही प्रायः सर्वत्र अर्थवाद वाक्यों की 'प्रशस्तम्', पद में लक्षणा करके 'प्रशस्तत्वाद् विधेयम्'—ऐसी पदैकवाक्यता विवक्षित होती है, फलतः लक्षितलक्षणा पर्यवसित हो जाती है]।

जहाँ पर अर्थवाद वाक्यों का प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से संवाद (समर्थन) प्राप्त होता है, वहाँ पर विवक्षित पदार्थ में प्रमाणान्तर के समान ही अर्थवाद वाक्य भी प्रमाण माना जा सकता है, क्योंकि किसी-किसी वस्तु की सिद्धि में प्रत्यक्ष और अनुमान—दोनों प्रमाण परस्पर निरपेक्ष होकर जैसे प्रवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही प्रमाणान्तर और अर्थवाद वाक्य—दोनों ही एक ही अर्थ के साधक माने जाते हैं किन्तु प्रमाता की दृष्टि में वैसे स्थल पर अर्थवाद वाक्य को अनुवादक माना जाता है, क्योंकि प्रमाता व्यक्ति जब तक अव्युत्पन्न (अगृहीतशक्तिक) है, तब तक शब्द के द्वारा अर्थावबोध नहीं कर सकता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा वह जैसे पदार्थों की अवगति करता है, वैसे शब्द के द्वारा नहीं, वहाँ

भामती

ऽनपेक्षत्वादित्युक्तम् । नन्वेवं मानान्तरविरोधेऽपि कस्माद् गुणवादो भवति यावता शब्दविरोधे मानान्तरमेव कस्मान्न बाध्यते । वेदान्तैरिवाद्वैतविषयैः प्रत्यक्षादयः प्रपञ्चगोचराः कस्माद्वार्थवादवद्वेदान्ता अपि गुणवादेन न नीयन्ते । अत्रोच्यते—लोकानुसारतो द्विविधो हि विषयः शब्दानाम्, द्वारतश्च तात्पर्यतश्च । यथैकस्मिन् वाक्ये पदानां पदार्था द्वारतो वाक्यार्थश्च तात्पर्यतो विषयः । एवं वाक्यद्वयैकवाक्यतायामपि यथेयं देवदत्तीया गौः क्रेतव्येत्येकं वाक्यमेषा बहुक्षीरेत्यपरं, तदस्य बहुक्षीरत्वप्रतिपादनं द्वारम् । तात्पर्यं तु क्रेतव्येति वाक्यान्तरार्थे । तत्र यद् द्वारतस्तत्प्रमाणान्तरविरोधेऽन्यथा नीयते । यथा विषं भक्षयेति वाक्यं माऽस्य गृहे भुङ्क्ष्वेति वाक्यान्तरार्थपरं सत् । यत्र तु तात्पर्यं तत्र मानान्तरविरोधे पौरुषेयमप्रमाणमेव भवति । वेदान्तास्तु पौर्वापर्यपर्यालोचनया निरस्तसमस्तभेदप्रपञ्चब्रह्मप्रतिपादनपरा अपौरुषेयतया स्वतःसिद्धतात्त्विकप्रमाणभावाः सन्तस्तात्त्विकप्रमाणभावात् प्रत्यक्षादीनि प्रच्याव्य सांव्यावहारिके तस्मिन् व्यवस्थापयन्ति । न चादित्यो वै यूप इति वाक्यमादित्यस्य यूपत्वप्रतिपादनपरमपि तु यूपस्तुतिपरम् । तस्मात्प्रमाणान्तरविरोधे द्वारभूतो विषयो गुणवादेन नीयते, यत्र तु प्रमाणान्तरं विरोधकं नास्ति

भामती–व्याख्या

व्युत्पत्ति की ही अपेक्षा होती है, प्रमाणान्तर की नहीं, क्योंकि दोनों प्रमाण परस्पर निरपेक्ष होकर ही प्रमेय-प्रवण माने जाते हैं, यह कहा जा चुका है ।

शङ्का—प्रमाणान्तर का विरोध रहने पर भी वाक्यों को अत्यन्त अप्रमाण न मानकर गौणी वृत्ति क्यों अपनाई जाती है ? प्रमाणान्तर के विरोध पर शब्द को गौणी वृत्ति अपनाने के लिए क्यों विवश किया जाता है, प्रमाणान्तर का ही विरोधी शब्द के द्वारा वैसे ही बाध क्यों नहीं मान लिया जाता, जैसे अद्वैतविषयक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का बाध होता है ? अथवा प्रमाणान्तर-विरुद्ध अर्थवाद वाक्यों में जैसे गुणवाद माना जाता है, वैसे प्रत्यक्षादि से विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वेदान्त वाक्यों में गुणवाद क्यों नहीं लागू किया जाता ?

समाधान—लौकिक व्यवहार के आधार पर शब्दों की द्विविध प्रवृत्ति मानी जाती है—(१) द्वार (साधन) रूपेण और (२) तात्पर्यतः । जैसे एक ही वाक्य में पदों के पदार्थ और वाक्यार्थ—दोनों ही विषय माने जाते हैं, द्वाररूपेण पदार्थ और तात्पर्यरूपेण वाक्यार्थ । अर्थात् पद अपने पदार्थ-स्मरण के द्वारा वाक्यार्थ के बोधक होते हैं । वैसे ही दो वाक्यों की एकवाक्यता में भी माना जाता है, जैसे—'इयं देवदत्तीया गौः क्रेतव्या' और 'एषा बहुक्षीरा' यहाँ पर बहुक्षीरत्वादि का प्रतिपादन द्वारमात्र है, परमतात्पर्य तो क्रयण की कर्तव्यता में ही होता है । उनमें द्वारभूत पदार्थों का यदि प्रमाणान्तर से विरोध उपस्थित होता है, तब गौणादि वृत्तियों के द्वारा शब्दों का अन्यथा-नयन किया जाता है, 'विषं भक्षय'–इस वाक्य का तात्पर्य 'मा अस्य गृहे भुङ्क्ष्व'—इस वाक्य के विषयीभूत अर्थ में ही प्रमाणान्तर का विरोध उपस्थित होता है, वहाँ पौरुषेय वाक्य तो अत्यन्त अप्रमाण हो जाते हैं, किन्तु वेदान्त-वाक्यों का पौर्वापर्य की आलोचना से द्वैत-प्रपञ्च-रहित ब्रह्म तत्त्व में ही परम तात्पर्य निश्चित होता है । अपौरुषेय होने के कारण वेदान्त वाक्यों का प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है, अतः इस प्रमाणभाव से गिरा कर प्रत्यक्षादि द्वैतविषयक प्रमाण वेदान्त-वाक्यों का अन्यथा-नयन नहीं कर सकते, प्रत्युत वेदान्त के अनुरोध पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का केवल व्यावहारिक सत्ता के बोधन में ही तात्पर्य पर्यवसित होता है । "आदित्यो वै यूपः" (तै. ब्रा. २।१।५) यह वाक्य आदित्य में यूपत्व (यूपरूपता) का विधायक नहीं, अपितु यूप की स्तुति ही करता है कि यूप पर घृत का लेप कर देने से धूप में वह आदित्य के समान तेजस्वी और चमकीला हो जाता है । इस प्रकार प्रमाणान्तर से विरुद्धार्थक अर्थवाद वाक्यों का गौणी वृत्ति के द्वारा

भामती

यथा देवताविग्रहादौ तत्र द्वारतोऽपि विषयः प्रतीयमानो न शक्यस्त्यक्तुम् । न च गुणवादेन नेतुं, को हि मुख्ये सम्भवति गौणमाश्रयेदतिप्रसङ्गात् । तथा सत्यनधिगतं विग्रहमपि प्रतिपादयद् वाक्यं भिद्येतेति चेत् । अद्धा भिन्नमेवैतद्वाक्यं, तथा सति तात्पर्यभेदोऽपीति चेत्, न, द्वारतोऽपि तदवगतौ तात्पर्यान्तरकल्पनाया अयोगात् । न च यत्र यस्य न तात्पर्यं तस्य तत्राप्रामाण्यं तथा सति विशिष्टपरं वाक्यं विशेषणेष्वप्रमाणमिति विशिष्टपरमपि न स्यात्, विशेषणाविषयत्वात् । विशिष्टविषयत्वेन तु तदाक्षेपे परस्पराश्रयत्वम् । आक्षेपाद्विशेषणप्रतिपत्तौ सत्यां विशिष्टविषयत्वं विशिष्टविषयत्वाच्च तदाक्षेपः । तस्माद्विशिष्टप्रत्ययपरेभ्योऽपि पदेभ्यो विशेषणानि प्रतीयमानानि तस्यैव वाक्यस्य विषयत्वेनानिच्छताप्यभ्युपेयानि यथा, तथान्यपरेभ्योऽप्यर्थवादवाक्येभ्यो देवताविग्रहादयः प्रतीयमाना असति प्रमाणान्तरविरोधे न युक्तास्त्यक्तुं, न हि मुख्यार्थसम्भवे गुणवादो युज्यते । न च भूतार्थमप्यपौरुषेयं वचो मानान्तरापेक्षं स्वार्थे येन मानान्तरासम्भवे भवेदप्रमाणमित्युक्तम् ।

स्यादेतत्—तात्पर्यैक्येऽपि यदि वाक्यभेदः कथं तर्ह्यर्थैकत्वादेकं वाक्यम् । न, तत्र तत्र यथास्वं तत्तत्पदार्थविशिष्टैकपदार्थप्रतीतिपर्यवसानसम्भवात् । स तु पदार्थान्तरविशिष्टः पदार्थ एकः क्वचिद् द्वारभूतः क्वचिद् द्वारीत्येतावान् विशेषः ।

भामती–व्याख्या

सामञ्जस्य किया जाता है ।

जहाँ पर अर्थवाद वाक्यों का कोई प्रमाणान्तर विरोधी नहीं होता, वहाँ द्वारभूत अर्थ में भी गौणी वृत्ति नहीं अपनाई जाती, जैसे देवता-विग्रहादि के प्रतिपादक अर्थवाद वाक्य। ऐसे स्थल पर मुख्यार्थ का परित्याग नहीं किया जाता, क्योंकि प्रमाणान्तर-विरोधरूप निमित्त के विना मुख्यार्थ का त्याग कर देने पर अतिप्रसङ्ग उपस्थित होता है। अर्थवाद वाक्य यदि प्रमाणान्तरानधिगत देव-विग्रहादि के भी प्रतिपादक माने जाते हैं, तब वाक्यभेदापत्ति क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ऐसे स्थल पर वाक्य-भेद माना ही जाता है। यदि वाक्य-भेद है, तब उन वाक्यों के तात्पर्य का भी भेद क्यों नहीं ? देवता-विग्रहादि की सिद्धि जब अर्थवादों के द्वारभूत अर्थ के द्वारा हो जाती है, तब उनमें तात्पर्य मानना व्यर्थ है। द्वारभूत अर्थ में जिस वाक्य का तात्पर्य नहीं, उसका उसमें प्रामाण्य नहीं होगा ? यदि यहाँ प्रामाण्य नहीं माना जाता, तब विशिष्टार्थ-परक वाक्य के अविषयीभूत विशेषणात्मक अर्थ में भी प्रामाण्य क्योंकर होगा ? 'विशिष्टार्थपरकं वाक्यं विशेषणविषयकम्, विशिष्टार्थविषयकत्वात्'—ऐसा अनुमान करने पर अन्योऽन्याश्रयता होती है, क्योंकि आक्षेप या अनुमान के द्वारा विशेषण की प्रतिपत्ति होने पर विशिष्टविषयकत्व और विशिष्टविषयकत्व के द्वारा विशेषणविषयकत्व की सिद्धि होती है। अतः विशिष्टार्थपरक वाक्यों के द्वारा प्रतीयमान विशेषणभूत अर्थों में जैसे उन वाक्यों की विषयता मानी जाती है, वैसे ही अन्यपरक अर्थवाद वाक्यों के द्वारा प्रतीयमान विग्रहादि का प्रमाणान्तर से विरोध न होने पर परित्याग नहीं किया जा सकता। मुख्यार्थ की उपपत्ति होने पर गौण अर्थ नहीं अपनाया जाता—यह कहा जा चुका है। भूतार्थविषयक अपौरुषेय वाक्य भी मानान्तर-सापेक्ष नहीं होते कि उनका मानान्तरानपेक्षत्वात्मक प्रामाण्य समाप्त हो जाता।

तात्पर्य की एकता होने पर भी यदि वाक्य-भेद माना जाता है, तब महर्षि जैमिनि ने उनमें जो एकत्व का प्रतिपादन किया है—"अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" (जै. सू. २।१।४६)। वह उपपन्न क्योंकर होगा ? इस शङ्का का समाधान यह है कि वहाँ पर भी तत्तत्पदार्थ-विशिष्ट एकपदार्थ की प्रतीति में पर्यवसान माना जा सकता है। वह पदार्थान्तर से विशिष्ट पदार्थ कहीं द्वारभूत होता है और कहीं द्वारी (मुख्य)—यह अन्य बात है।

वाद् गुणवादः स्यात्, आहोस्वित्प्रमाणान्तराविरोधाद्विद्यमानवाद इति प्रतीतिशरणै-र्विद्यमानवाद आश्रयणीयो न गुणवादः। एतेन मन्त्रो व्याख्यातः। अपि च विधिभिरे-वेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्। न हि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते। नच चेतस्यनारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते। श्रावयति च—'यस्य देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति। नच शब्दमात्रमर्थस्वरूपं संभवति शब्दार्थयोर्भेदात्। तत्र

भामती

नन्वेवं सत्योदनं भुक्त्वा ग्रामं गच्छतीत्यत्रापि वाक्यभेदप्रसङ्गः। अन्यो हि संसर्ग ओदनं भुक्त्वेति, अन्यस्तु ग्रामं गच्छतीति। न एकत्र प्रतीतेरपर्य्यवसानाद्, भुक्त्वेति हि समानकर्त्तृकता पूर्व-कालता च प्रतीयते। न चेयं प्रतीतिरपरकालक्रियान्तरप्रत्ययमन्तरेण पर्य्यवस्यति। तस्माद्यावति पद-समूहे पदाहिताः पदार्थस्मृतयः पर्य्यवस्यन्ति तावदेकं वाक्यम्। अर्थवादवाक्ये चेताः पर्य्यवस्यन्ति, विनैव विधिवाक्यं विशिष्टार्थप्रतीतेः। न च द्वाभ्यां द्वाभ्यां पदाभ्यां विशिष्टार्थप्रत्ययपर्य्यवसानात् पञ्चषट्प-दवति वाक्ये एकस्मिन्नानात्वप्रसङ्गः। नानात्वेऽपि विशेषणानां विशेष्यस्यैकत्वात्, तस्य च सकृच्छ्रुतस्य प्रधानभूतस्य गुणभूतविशेषणानुरोधेनावर्त्तनायोगात्। प्रधानभेदे तु वाक्यभेद एव। तस्माद्विधिवाक्यादर्थ-वादवाक्यमन्यदिति वाक्ययोरेव स्वस्ववाक्यार्थप्रत्ययावसितव्यापारयोः पश्चात् कुतश्चिदपेक्षायां परस्परान्वय इति सिद्धम्।

भामती–व्याख्या

शङ्का—विभिन्नार्थ के प्रतिपादक वाक्यों की एकवाक्यता नहीं मानी जाती है, तब 'ओदनं भुक्त्वा ग्रामं गच्छति'—इत्यादि स्थल पर भी वाक्य-भेद होना चाहिए, क्योंकि 'ओदनं भुक्त्वा'—इसका अर्थ अन्य है और 'ग्रामं गच्छति'—इसका अन्य।

समाधान—उक्त स्थल पर एक अर्थ में प्रतीति का पर्यवसान नहीं होता, क्योंकि 'भुक्त्वा'—ऐसा कहने पर दो क्रियाओं की समानकर्तृता और भोजन क्रिया में पूर्वकालता प्रतीत होती है, जैसा कि आचार्य पाणिनि कहते हैं—"समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा" (पा. सू. ३।४।२१)। अतः यह प्रतीति अन्यकालीन क्रियान्तर की प्रतीति के बिना सम्भव नहीं। फलतः जितने पद-समूह में पदों के द्वारा उपस्थापित पदार्थों की स्मृतियाँ पर्यवसित होती हैं, उतने समूह को एक वाक्य कहते हैं। अर्थवाद वाक्य में उक्त पदार्थ-स्मृतियाँ पर्यवसित हो जाती हैं, क्योंकि विधि-वाक्य के बिना ही विशिष्टार्थ की प्रतीति उपपन्न हो जाती है। 'इस प्रकार तो दो-दो पदों के द्वारा विशिष्टार्थ की प्रतीति पर्यवसित हो जाती है, अतः पाँच-छः पदवाले एक वाक्य में भी नानात्व (वाक्य-भेद) होना चाहिए'—इस आपत्ति का परिहार यह है कि उक्त स्थल पर विशेषणों के अनेक होने पर भी विशेष्य एक ही है। वह प्रधानभूत है, अतः सकृत् श्रुत है, उसकी आवृत्ति गुणीभूत पदार्थों के अनुरोध पर नहीं हो सकती, अपितु 'प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिः'—इस न्याय के आधार पर गुण (अङ्ग) रूप पदार्थों की आवृत्ति होती है, [जैसा कि महर्षि जैमिनि का सङ्केत है—"शेषस्य हि परार्थत्वाद् विधानात् प्रतिप्रधानभावः स्यात्" (जै. सू. ११।१।१४)। भाष्यकार भी कहते हैं—"न च प्रधानं प्रतिगुणं भिद्यते, प्रतिप्रधानं हि गुणो भिद्यते" (शाबर. पृ. ६६७)। वार्तिककार की भी स्पष्ट उक्ति है—

प्रधानं नीयमानं हि तत्राङ्गान्यपकर्षति।
अङ्गमाकृष्यमाणं तु नाङ्गान्तरमसङ्गतेः॥ (तं. वा. पृ. ४८६)]

दो प्रधान पदार्थ एक वाक्य के द्वारा प्रतिपादित नहीं होते, क्योंकि प्रधान पदार्थों का भेद होने

भामिती

*अपि च विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि इति *। देवतामुद्दिश्य हविरवमृश्य च तद्विषयस्वत्वत्याग इति यागशरीरम्। न च चेतस्यनालिखिता देवतोद्देष्टुं शक्या, न च रूपरहिता चेतसि शक्यते आलेखितुमिति यागविधिनैव तद्रूपापेक्षिणा यादृशमन्यपरेभ्योऽपि मन्त्रार्थवादेभ्यस्तद्रूपमवगतं तदभ्युपेयते। रूपान्तरकल्पनायां मानाभावात्। मन्त्रार्थवादयोरत्यन्तपरोक्षवृत्तिप्रसङ्गाच्च। यथा हि 'व्रात्यो व्रात्यस्तोमेन यजेत' इति व्रात्यस्वरूपापेक्षायां 'यस्य पिता पितामहो वा सोमं न पिबेत् स व्रात्य' इति सिद्धवद् व्रात्यस्वरूपमवगतं व्रात्यस्तोमविध्यपेक्षितं सद्विधिप्रमाणकं भवति, यथा वा स्वर्गस्वरूपमलौकिकं स्वर्गकामो यजेतेति विधिनापेक्षितं सदर्थवादतोऽवगम्यमानं विधिप्रमाणकम्, तथा देवतारूपमपि। ननूद्देशो रूपज्ञानमपेक्षते न पुनः रूपसत्तामपि, देवतायाः समारोपेणापि च रूपज्ञानमुपपद्यते इति

भामती-व्याख्या

पर वाक्य-भेद हो ही जाता है। फलतः विधि वाक्य से अर्थवाद वाक्य भिन्न है। विधि और अर्थवादरूप दोनों भिन्न वाक्य अपने-अपने वाक्यार्थों का बोध जब करा चुकते हैं, तब उत्थापित आकाङ्क्षा के द्वारा दोनों का परस्पर अन्वय होता है यह सिद्ध हो गया।

"अपि च विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्"—इस भाष्य का आशय यह है कि देवता के उद्देश्य से द्रव्य (हवि) का निर्देश करते हुए द्रव्यगत स्वत्व का मानस त्याग ही याग कहलाता है। ["यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात्" (जै. सू. ४।२।२७) की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है—"द्रव्यं देवतामुद्दिश्य त्यज्यते, तस्य च क्रिया, यया क्रियया तयोः सम्बन्धो भवति"। वार्तिककार ने याग और होम का स्वरूप बताते हुए कहा है—देवतोद्देशेन स्वत्वत्यागमात्रं यागः, देवतोद्दिश्यत्यज्यमानस्वत्वद्रव्यप्रक्षेपो जुहोतिः" (तं. वा. पृ. ९८१)]। देवता को तभी उद्देश किया जा सकता है, जब कि मन में उसका आलेख (रेखाङ्कन) हो। रूप-रहित पदार्थ का चित्त में आलेख कभी नहीं हो सकता, अतः याग-विधि के द्वारा ही देवता का वह रूप स्वीकृत किया जाता है, जो विधेय-स्तुतिपरक अर्थवाद वाक्यों से अवगत होता है। उससे भिन्न रूपान्तर की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। किसी प्रकार यदि रूपान्तर की कल्पना करते हैं, तब देवता के स्वरूप का रेखाङ्कन करनेवाले मन्त्र और अर्थवाद वाक्य अत्यन्त उपेक्षित और निरर्थक-से हो जाते हैं। जैसे "व्रात्यो वा व्रात्यस्तोमेन यजेत" [अपने कर्मों और संस्कारों से रहित द्विज व्रात्य कहलाता है, उसके लिए प्रायश्चित्त के रूप में व्रात्यस्तोम नाम के एकाह क्रतु का विधान 'लाटचायन' (८।६), 'ताड्य' (१७।२।१) और 'कात्यायन' (१७।४।१) इत्यादि शास्त्रों में किया गया है। सब व्रात्य चार प्रकार के माने गए हैं—(१) हीनाचार, (२) निन्दित, (३) कनिष्ठ और (४) ज्येष्ठ। व्रात्यस्तोम भी चार ही होते हैं। उनमें से प्रथम स्तोम का अधिकारी हीनाचार, द्वितीय का निन्दित, तृतीय का कनिष्ठ और चतुर्थ का ज्येष्ठ अधिकारी माना जाता है]। इन व्रात्यस्तोमों के विधि वाक्य को अपना कर्म-विधान सम्पन्न करने के लिए "यस्य पिता पितामहो वा सोमं न पिबेत्, स व्रात्यः"—इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित व्रात्य के स्वरूप की अपेक्षा है, अतः उस व्रात्य के स्वरूप में विधि-वाक्य ही मौलिक प्रमाण माना जाता है। अथवा जैसे "स्वर्गकामो यजेत"—इस विधि के द्वारा अलौकिक स्वर्ग-स्वरूप अपेक्षित है। वह किसी अर्थवाद से अवगत होने पर भी विधिप्रमाणक ही माना जाता है। वैसे ही अर्थवादादि से अवगत देवता-स्वरूप भी विधिप्रमाणक ही माना जाता है।

शङ्का—यह जो कहा गया कि यागरूप स्वत्व-त्याग किसी देवता के उद्देश्य से किया

यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूपमवगतं न तत्तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम्। इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण संभवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि संभवति—भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरंतनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानींतनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात्। ततश्च राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान्वर्णाश्रमधर्मान्प्रतिजानीते। ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद्धर्मोत्कर्षवशाच्चिरंतना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। अपि च स्मरन्ति—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' (यो० सू० २।४४) इत्यादि।

भामती

समारोपितमेव रूपं देवताया: मन्त्रार्थवादैरुच्यते। सत्यं, रूपज्ञानमपेक्षते। तच्चान्यतोऽसम्भवान्मन्त्रार्थवादेभ्य एव, तस्य तु रूपस्यासति बाधकेऽनुभवारूढं तथाभावं परित्यज्यान्यथात्वमननुभूयमानमसाम्प्रतं कल्पयितुम्। तस्माद्विध्यपेक्षितमन्त्रार्थवादैरन्यपरैरपि देवतारूपं बुद्धावुपनिधीयमानं विधिप्रमाणकमेवेति युक्तम्। स्यादेतत्—विध्यपेक्षायामन्यपरादपि वाक्यादवगतोऽर्थः स्वीक्रियते, तदपेक्षैव तु नास्ति, शब्दरूपस्य देवताभावात्, तस्य च मानान्तरवेद्यत्वादित्यत आह ❀ न च शब्दमात्रम् इति ❀। न केवलं मन्त्रार्थवादतो विग्रहादिसिद्धिरपि त्वितिहासपुराणलोकस्मरणेभ्यो मन्त्रार्थवादमूलेभ्यो वा प्रत्यक्षादिमूलेभ्यो वेत्याह ❀ इतिहास इति ❀। ❀ श्लिष्यते ❀ युज्यते। निगदव्याख्यातमन्यत्। तदेवं मन्त्रार्थ-

भामती-व्याख्या

जाता है, उसके लिए देवता-स्वरूप की अपेक्षा होती है। वहाँ यह शङ्का होती है कि अपेक्षित देवता का स्वरूप वस्तुसत् न होकर भी यदि आरोपित मान लिया जाता है, तब भी देवता के स्वरूप का ज्ञान सम्पन्न हो जाता है, अतः वास्तविक देव-स्वरूप की क्या आवश्यकता?

समाधान— यह ठीक है कि देवता के रूप-ज्ञान की अपेक्षा है, वह ज्ञान अन्य प्रकार से सम्भव न होकर मन्त्र और अर्थवाद वाक्यों से उत्पन्न होता है। मन्त्रादि से प्रकाशित देवता के स्वरूप का जब कोई बाधक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, तब उसे वास्तविक न मान कर आरोपित मानना सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार मन्त्र और अर्थवाद वाक्यों के द्वारा बुद्धि में देव-स्वरूप का जो चित्रण किया जाता है, वह विधिप्रमाणक ही है, अर्थवादादि-प्रमाणक नहीं, क्योंकि अर्थवादादि वाक्यों का तात्पर्य कर्म की प्रशंसा में ही होता है, देवता-स्वरूप-प्रकाशन में नहीं।

यह जो "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेत्" (ऐ. ब्रा. ३।८।१)—इस वाक्य में निर्दिष्ट देवता-ध्यान का स्वरूप बताते हुए देवस्वामी ने कहा है—'देवतासम्बन्धिनः शब्दस्यैव ध्येयत्वम्, श्रुतिसमवायात्। आग्नेयम्, ऐन्द्रमित्यादौ श्रुत्यैव देवताप्रतिपादकस्यैव तद्धितेन ध्येयत्वम्, नार्थे (सङ्कर्ष. पृ. २०५)। इससे शब्दात्मक देवता की ही प्रतीति होती है, उसका निराकरण किया जाता है—"न च शब्दमात्रमर्थस्वरूपं सम्भवति, शब्दार्थयोर्भेदात्"। केवल मन्त्र और अर्थवाद वाक्यों से ही देवता के विग्रहादि की सिद्धि नहीं होती, अपितु इतिहास, पुराण, लोक-प्रसिद्धि से भी होती है—"इतिहास-पुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्"। "चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते"। यहाँ 'श्लिष्यते' का अर्थ है—युज्यते। अर्थात् यह जो प्रसिद्धि है कि व्यासादि महर्षियों में योगज धर्म का इतना उत्कर्ष था कि वे देवगणों

योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति—'पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्' (श्वे० २।१२) इति। ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम्। तस्मात्समूलमितिहासपुराणम्। लोकप्रसिद्धिरपि न सति संभवे निरालम्बनाऽध्यवसातुं युक्ता। तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमः। ततश्चार्थित्वादिसंभवादुपपन्नो देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः। क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते ॥ ३३ ॥

भामती

बाधाविसिद्धे देवताविग्रहादौ गुर्वादिपूजावद् देवतापूजात्मको यागो देवताप्रसादाविहारेण सफलोऽवकल्पते अचेतनस्य तु पूजामप्रतिपाद्यमानस्य तदनुपपत्तिः। न चैवं यज्ञकर्मणो देवतां प्रति गुणभावाद् देवतातः फलोत्पादे यागभावनायाः श्रुतं फलवत्त्वं यागस्य च तां प्रति तत्फलांशं वा प्रति श्रुतं करणत्वं हातव्यम्। यागभावनाया एव हि फलवत्या यागलक्षणस्वकरणावान्तरव्यापारत्वाद् देवताभोजनप्रसादादीनां

भामती-व्याख्या

के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। वह अत्यन्त युक्ति-संगत है। शेष भाष्य अत्यन्त सुबोध है।

इस प्रकार मन्त्र और अर्थवादादि के द्वारा देवता के विग्रहादि-पञ्चक की सिद्धि हो जाने पर गुरु आदि के समान ही देवताओं की विधिवत् जो पूजा की जाती है वही याग है। उससे देवगण प्रसन्न होकर यजमान को फल देते हैं। शब्दात्मक जड़ देवता की पूजा से वह सफलता उपपन्न नहीं हो सकती।

शङ्का—यदि देवता अपना यागरूप पूजा से प्रसन्न होकर फल देता है, तब देवता प्रधान और पूजारूप याग अङ्ग (गौण) हो जाता है, अतः 'यजेत स्वर्गकामः'—यहाँ यागकरणक भावना में जो फल-वत्त्व एवं याग में उस भावना या स्वर्गादि फल का जो करणत्व श्रुत है, वह बाधित हो जाता है [क्योंकि यजिधातुरूप प्रकृति का अर्थ याग और 'त' प्रत्यय का भाट्टमतानुसार अर्थ भावना किया जाता है। कृतिरूप भावना में याग करण और स्वर्गादिफल साध्य या कर्म मान कर यागकरणक स्वर्गादिसाध्यक भावना या यागेन स्वर्गं भावयेत्—ऐसा शाब्द बोध किया जाता है, उसके अनुसार भावना में स्वर्गादि-जनकत्वरूप करणत्व एवं याग में उस भावना या स्वर्गादि को करणता पर्यवसित होती है। देवताओं को स्वर्ग का दाता मान लेने पर वह सब असंगत हो जाता है]।

समाधान—[जैसे 'कुठारेण काष्ठं छिन्द्यात्'—यहाँ पर काष्ठ-छेदनरूप कार्य की करणता या प्रधानता अवगत होती है, करणत्व का अर्थ होता है—जनकत्व, जनकत्व का लक्षण है—अव्यवहितपूर्ववृत्तित्व। यद्यपि कुठार और काष्ठ-छेदन के मध्य में उद्यमन-निपातनरूप व्यापार का व्यवधान आ जाने से कुठार में काष्ठ-छेदन का अव्यवहितपूर्ववृत्तित्व नहीं रहता, तथापि व्यापार को व्यवधायक नहीं माना जाता, क्योंकि सव्यापार कुठारादि में ही करणता मानी जाती है, अतः व्यापार-युक्त कुठारादि में कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तित्व होना चाहिए, वह प्रकृत में उपपन्न हो जाता है। वैसे ही] स्वर्गादि की करणता भावना में और भावना की करणता याग में श्रुत है। स्वर्गोत्पत्ति और भावना के मध्य में परमापूर्व एवं भावना और याग के मध्य में देवता-प्रसन्नतादि का व्यवधान रहने पर भी न तो भावनागत स्वर्गादि-जनकत्वरूप करणता समाप्त होती है और न यागगत भावना-जनकत्वरूप प्रधानता।

(९ अपशूद्राधिकरणम् । सू० ३४—३८)

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

यथा मनुष्याधिकारनियममपोद्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तस्तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितुमिदमधिकरणमारभ्यते। तत्र शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादिति तावत्प्राप्तम्, अर्थित्वसामर्थ्ययोः संभवात्, 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै० सं० ७।१।१।६) इतिवत् 'शूद्रो

भामती

कृषिकर्मण इव तत्तदवान्तरव्यापारस्य सस्याधिगमसाधनत्वम्। आग्नेयादीनामिवोत्पत्तिपरमापूर्वावान्तरव्यापाराणां भवन्मते स्वर्गसाधनत्वम्। तस्मात् कर्मणोऽपूर्वावान्तरव्यापारस्य वा देवताप्रसादावान्तरव्यापारस्य वा फलवत्त्वात् प्रधानत्वमुभयस्मिन्नपि पक्षे समानम्, न तु देवताया विग्रहादिमत्याः प्राधान्यमिति न धर्ममीमांसायाः सूत्रमपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्म प्रधानं गुणत्वे देवताश्रुतिरिति विरुध्यते। तस्मात्सिद्धो देवतानां प्रायेण ब्रह्मविद्यास्वधिकारः॥ ३३॥

अवान्तरसङ्गतिं कुर्वन्नधिकरणतात्पर्यमाह ❀ यथा मनुष्याधिकार इति ❀। शङ्काबीजमाह ❀ तत्र इति ❀। निर्मृष्टनिखिलदुःखानुषङ्गे शाश्वतिक आनन्दे कस्य नाम चेतनस्यार्थिता नास्ति, येनार्थितायाः अभावाच्छूद्रो नाधिक्रियेत। नाप्यस्य ब्रह्मज्ञाने सामर्थ्याभावः। द्विविधं हि सामर्थ्यं निजमागन्तुकं च। तत्र द्विजातीनामिव शूद्राणां श्रवणादिसामर्थ्यं निजमप्रतिहतम्। अध्ययनाधानाभावादाग-

---

भामती-व्याख्या

जैसे कृषिरूप कर्म और हलाकर्षणादि अवान्तर व्यापार के द्वारा सस्याधिगम (अन्नोत्पत्ति) का जनक होता है अथवा जैसे आप (मीमांसकों) के मत में दर्शपूर्णमाससंज्ञक आग्नेयादि छः कर्म उत्पत्ति अपूर्व और परमापूर्व के द्वारा स्वर्गरूप फल के जनक माने जाते हैं। वैसे ही हमारे (वेदान्तियों के) मत में यागरूप कर्म देवता-प्रसन्नता के द्वारा अपने फल का साधन माना जाता है, फलतः दोनों मतों में कर्म की फलोत्पादकता और प्रधानता समानरूप से सुरक्षित है, देवता की प्रधानता यहाँ भी नहीं मानी जाती, अतः पूर्व मीमांसा के "अपि वा शब्दपूर्वत्वाद् यज्ञकर्म प्रधानं गुणत्वे देवताश्रुतिः" (जै. सू. ९।१।९) इस सूत्र का किसी प्रकार का भी विरोध उपस्थित नहीं होता। ["देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद् भोजनस्य तदर्थत्वात्" (जै. सू. ९।१।६) इस सूत्र के द्वारा देवता को कर्म का प्रयोजक मान कर प्रधानता देने की आशङ्का उठाई गई, उसका निराकरण करते हुए सूत्रकार ने कहा—"अपि वा शब्दपूर्वत्वाद यज्ञकर्म प्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुति"। अर्थात् "यजेत स्वर्गकामः"—इस शब्द के द्वारा याग को ही स्वर्गरूप फल का जनक अत एव प्रधान माना गया है, देवतादि अन्य पदार्थ उसी कर्म के अङ्ग या गुण माने जाते हैं। इस सिद्धान्त का विरोध यहाँ तब होता, जब कि देवता को फल का जनक एवं प्रधान माना जाता]। यहाँ तो केवल इतना सिद्ध किया जाता है कि देवताओं का विशुद्ध ब्रह्म-विद्या में पूर्ण अधिकार है॥ ३३॥

संगति—पूर्वाधिकरण से इस अधिकरण की संगति दिखाते हुए इस अधिकरण का प्रयोजन प्रस्तुत किया जाता है—"यथा मनुष्याधिकारनियममपोद्य"।

पूर्वपक्ष—ब्रह्म-विद्या में शूद्रों का अधिकार है–"तत्र शूद्रस्याप्यधिकारः स्यात्"। दुःख का सम्बन्ध जिसमें लेशमात्र भी नहीं, ऐसे विशुद्ध शाश्वतिक आनन्द की कामना किस चेतन पुरुष को नहीं होती? यदि वह शूद्र में न होती, तब अवश्य ब्रह्मविद्या के अधिकार से शूद्र

विद्यायामनवक्लृप्तः' इति च निषेधाश्रवणात्। यच्च कर्मस्वनधिकारकारणं शूद्रस्यानग्नित्वं, न तद्विद्यास्वधिकारस्यापवादकं लिङ्गम्। न ह्याहवनीयादिरहितेन विद्या

भामती

न्तुकसामर्थ्याभावे सत्यनधिकार इति चेत्, हन्ताधानाभावे सत्यग्न्यभावादग्निसाध्ये कर्मणि मा भूदधिकारः, न च ब्रह्मविद्यायामग्निः साधनमिति किमित्यनाहिताग्नयो नाधिक्रियन्ते ? न चाध्ययनाभावात्तत्साधनायामनधिकारो ब्रह्मविद्यायामिति साम्प्रतम्, यतो युक्तं यदाहवनीये जुहोत्याहवनीयस्य होमाधिकरणतया विधानात्तद्रूपस्यालौकिकतयानारभ्याधीतवाक्यविहिताधानवन्यतोऽनधिगमादाधानस्य च द्विजातिसम्बन्धितया विधानात्। तत्साध्योऽग्निरलौकिको न शूद्रस्यास्तीति नाहवनीयादिसाध्ये कर्मणि शूद्रस्याधिकार इति। न च तथा ब्रह्मविद्यायामलौकिकमस्ति साधनं यच्छूद्रस्य न स्यात्। अध्ययननियम इति चेत्। न, विकल्पासहत्वात्—तदध्ययनं पुरुषार्थे वा नियम्येत, यथा धनार्जने प्रतिग्रहादि। क्रत्वर्थे वा, यथा व्रीहीनवहन्तीत्यवघातः। न तावत् क्रत्वर्थे, नहि स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति कञ्चित् क्रतुं प्रकृत्य

भामती-व्याख्या

को वञ्चित रहना पड़ता। शूद्र में ब्रह्म-ज्ञान का सामर्थ्य नहीं—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—(१) स्वाभाविक और (२) आगन्तुक (यत्न-साध्य)। श्रवणादि की स्वाभाविक शक्ति शूद्रों में भी वैसी ही है, जैसे द्विजाति में। 'अध्ययन-साध्य वेद-ग्रहणादि की आगन्तुक शक्ति न होने के कारण शूद्रों को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि गुरुमुखाच्चारणानुच्चारणरूप अध्ययन की शक्ति भी स्वाभाविक है, केवल अग्न्याधान के द्वारा अग्निमत्ता नहीं, अतः शूद्र को अग्नि-साध्य यागादि कर्मों में अधिकार न दिया जाय, किन्तु ब्रह्मविद्या में अग्नि की कोई अपेक्षा नहीं, अतः जिन्होंने अग्नि का आधान नहीं किया, ऐसे शूद्रों का ब्रह्म-विद्या में अधिकार क्यों नहीं ? "यदाहवनीये जुह्वति" (तै. ब्रा. १।१।१०।५) यह वाक्य होमाधिकरणत्वेन अग्नि का विधान करता है, अतः समस्त कर्मकाण्ड में अनाहिताग्नि का अधिकार नहीं—यह तो ठीक है, क्योंकि यह अग्नि लौकिक अग्नि न होकर दृष्टादृष्ट संस्कारात्मक अलौकिक अग्नि है एवं अनारभ्याधीत [किसी एक कर्म के प्रकरण में पठित न होकर सामान्यतः विहित] होने के कारण समस्त कर्मों का अङ्ग है, [जैसा कि भाष्यकार कहते हैं—"सर्वकर्मार्थं आधानम्। सर्वकर्मार्थं यदग्निद्रव्यम्" (शाबर. पृ. १०३८)। वार्तिककार भी कहते हैं—"अनारभ्यवादेनाहवनीयः सर्वहोमार्थ इति तद्रहितकर्मान्तराभावादाहिताग्नेरधिकारः" (तं. वा. पृ. ७९८)]। आधान कर्म का विधान भी तीन वर्णों के लिए ही किया गया है—"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः" (तै. ब्रा. १।१।२।६।७)। इस प्रकार कर्म-कलाप में शूद्र का अधिकार न होने पर भी ब्रह्मविद्या में किसी प्रकार का वैसा अलौकिक पदार्थ अपेक्षित नहीं कि उसमें शूद्र को अधिकार न होता।

शङ्का—विधिपूर्वक अध्ययन में त्रैवर्णिक का ही अधिकार है और अध्ययन के विना वेदार्थ-ज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि 'अध्ययनेनैवार्थज्ञानं भावयेत्'—इस प्रकार नियम स्वीकार किया जाता है, नियम-जन्य अपूर्व भी वेदार्थानुष्ठान का अङ्ग माना जाता है, शूद्र अध्ययन नहीं कर सकता, अतः वह अध्ययन के नियम से जनित अपूर्व से वञ्चित होने के कारण किसी भी वेदार्थ के अनुष्ठान का अधिकारी नहीं माना जा सकता।

समाधान—उक्त नियम का आकार क्या (१) अध्ययनेनैव पुरुषार्थं भवेत्—ऐसा है ? अथवा (२) अध्ययनेनैव यागानुष्ठानं भावयेत्—ऐसा ? जैसे "व्रीहीनवहन्ति"—यहाँ पर अवघातेनैव वैतुष्यं भावयेत्—ऐसा नियम माना जाता है, उस नियम से जन्य अदृष्ट के विना

वेदितुं न शक्यते। भवति च लिङ्गं शूद्राधिकारस्योपोद्बलकम्। संवर्गविद्यायां हि

भामती

पठ्यते, यथा दर्शपूर्णमासं प्रकृत्य व्रीहीनवहन्तीति। न चानारभ्याधीतमप्यव्यभिचरितं क्रतुसम्बन्धितया क्रतुमुपस्थापयति, येन वाक्येनैव क्रतुना सम्बध्येताध्ययनं, न हि यथा जुह्वाद्यव्यभिचरितक्रतुसम्बद्धमेवं स्वाध्याय इति। तस्मान्नैव क्रत्वर्थे नियमो नापि पुरुषार्थे। पुरुषेच्छाधीनप्रवृत्तिर्हि पुरुषार्थो भवति, यथा फलं तदुपायो वा। तदुपायेऽपि हि विधितः प्राक् सामान्यरूपा प्रवृत्तिः पुरुषेच्छानिबन्धनैव। इतिकर्तव्यतासु तु सामान्यतो विशेषतश्च प्रवृत्तिर्विधिपराधीनैव। नह्यनधिगतकरणभेद इतिकर्तव्यतासु घटते। तस्माद्विध्यधीनप्रवृत्तितयाऽङ्गानां क्रत्वर्थता। क्रतुरिति हि विधिविषयेण विधिं परामृशति विषयिणम्। तेनार्थ्यते विषयीक्रियत इति क्रत्वर्थः। न चाध्ययनं वा स्वाध्यायो वा तदर्थज्ञानं वा प्राग् विधेः पुरुषेच्छाधीनप्रवृत्तिर्येन पुरुषार्थः स्यात्। यदि चाध्ययनेनैवार्थावबोधरूपं नियम्येत ततो मानान्तरविरोधः। तद्रूपस्य विनाप्यध्ययनं पुस्तकादिपाठेनाप्यधिगमात्। तस्मात्सुवर्णं भार्यमितिवदध्ययनादेव फलं कल्पनीयम्। तथा चाध्ययनविधेरनियामकत्वाच्छूद्रस्याध्ययनेन वा पुस्तकादिपाठेन वा सामर्थ्यमस्तीति सोऽपि ब्रह्मविद्यायामधिकृतः। मा भूद्वाऽध्ययनाभावात्सर्वत्र ब्रह्मविद्यायामधिकारः, संवर्गविद्यायां तु

भामती–व्याख्या

प्रकृत (दर्शपूर्णमास) कर्म सम्पन्न नहीं होता, क्योंकि "व्रीहीनवहन्ति"–यह वाक्य दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित है, किन्तु "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शत. ब्रा. ११।५।६) यह वाक्य किसी क्रतु के प्रकरण में पठित न होने के कारण किसी क्रतु के लिए अध्ययन का नियम नहीं करा सकता। अनारभ्याधीत अध्ययन भी सामान्यतः क्रतु का उपस्थापक हो सकता था, यदि उसका क्रतु के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध होता, किन्तु "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति" (तै. सं. ३।५।७।२) यहाँ जुहू अनारभ्याधीत होने पर भी क्रतु का अव्यभिचरित सम्बन्धी होने कारण क्रतु का जैसे उपस्थापक है, वैसा अध्ययन नहीं।

पुरुषार्थ में भी अध्ययन का नियम नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'पुरुषार्थ' शब्द से वही पदार्थ अभिहित होता है, जिसमें पुरुष की अपनी इच्छा से प्रवृत्ति हो, जैसे–स्वर्गादि फल और उसका साधन यागादि। यागादिरूप साधन में विधि से पूर्व पुरुष की सामान्यतः प्रवृत्ति होती है। यागादि साधन पदार्थ के इतिकर्तव्यभूत (प्रयाजादि अङ्ग-कलापरूप सहायक) व्यापार में तो प्रवृत्ति विधि के पूर्व नहीं, अपितु विधि के अधीन ही होती है, क्योंकि किस व्यापार का कौन साधन (करण) है—इस प्रकार का विशेष ज्ञान जब तक न हो, तब तक इतिकर्त्तव्य में प्रवृत्ति नहीं होती, वह विशेष ज्ञान विधि वाक्य से ही होता है। अतः अङ्गभूत पदार्थों में विधितः प्रवृत्ति होने के कारण क्रत्वर्थता मानी जाती है। 'क्रत्वर्थता' पद में क्रतु (याग) अपनी विधि का विषय है, अतः विधि के विषयीभूत अङ्ग-कलापरूप विषयों का उपलक्षक है, उसके लिए जो अभ्यर्थित हो, उसे क्रत्वर्थ कहते हैं। अध्ययन या स्वाध्याय अथवा अर्थ-ज्ञान—इनमें से कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जिसमें विधि के पूर्व अपनी इच्छा से पुरुष की प्रवृत्ति होती हो, जिससे कि वह पुरुषार्थ कहा जा सके। यदि "अध्ययनेनैवार्थज्ञानं भावयेत्"—ऐसा नियम माना जाता है, तब प्रमाणान्तर से विरोध आता है, क्योंकि वेदार्थ का ज्ञान विधिपूर्वक अध्ययन के विना अपने-आप पुस्तकों के पढ़ने से भी उपपन्न हो जाता है। फलतः "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस विधि को नियम विधि न मान कर "सुवर्णं भार्यम्" (तै. ब्रा. २।२।४।५) इस विधि के समान अपूर्व विधि मान कर अध्ययन के द्वारा ही अर्थज्ञान-रूप फल की कल्पना करनी होगी। अध्ययन (गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण) का स्वाभाविक सामर्थ्य तो शूद्र में भी है, अतः ब्रह्मविद्या में उसका अधिकार क्यों न होगा ?

जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्रशब्देन परामृशति—'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' (छा० ४।२।३) इति। विदुरप्रभृतयश्च शूद्रायोनिप्रभवा अपि विशिष्टविज्ञानसंपन्नाः स्मर्यन्ते। तस्मादधिक्रियते शूद्रो विद्यास्विति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—न शूद्रस्याधिकारः, वेदाध्ययनाभावात्। अधीतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते। न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य। उपनयनस्य

भामती

भविष्यति। अह हारेत्वा शूद्र इति शूद्रं सम्बोध्य तस्याः प्रवृत्तेः। न चैव शूद्रशब्दः कदाचिदवयवव्युत्पत्त्याऽशूद्रे वर्णनीयः। अवयवप्रसिद्धितः समुदायप्रसिद्धेरनपेक्षतया बलीयस्त्वात्। तस्माद्यथाऽनधीयानस्येष्टौ निषादस्थपतेरधिकारो वचनसामर्थ्यादेवं संवर्गविद्यायां शूद्रस्याधिकारो भविष्यतीति प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न शूद्रस्याधिकारो वेदाध्ययनाभावादिति। अयमभिसन्धिः—यद्यपि स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यध्ययनविधिर्न किञ्चित्फलवत्कर्मारभ्याम्नातः, नाप्यव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धपदार्थगतः, न हि जुह्वादिवत्स्वाध्यायोऽव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धस्तथापि स्वाध्यायस्याध्ययनसंस्कारविधिरध्ययनस्यापेक्षितोपायतामवगमयन् किं पिण्डपितृयज्ञवत् स्वर्गं वा सुवर्णं भार्यमितिवदर्थवादिकं वा फलं कल्पयित्वा विनियोगभङ्गेन स्वाध्यायेनाधीयीतेत्येवमर्थः कल्प्यतां ? किंवा परम्परयाऽप्यन्यतोऽपेक्षितमधिगम्य निर्वृणोत्विति विषये, न दृष्टद्वारेण परम्परयाऽप्यन्यतोऽपेक्षितप्रतिलम्भे च यथाश्रुतिविनियोगोपपत्तौ च सम्भवन्त्यां श्रुतविनियोगभङ्गेनाध्ययनादेवाश्रुतादृष्टफलकल्पनोचिता। दृष्टश्च स्वाध्यायाध्ययनसंस्कारस्तेन हि पुरुषेण

भामती–व्याख्या

यदि अध्ययन न होने के कारण सभी प्रकार की ब्रह्म-विद्या में शूद्र का अधिकार नहीं, तब "वायुर्वाव संवर्गः" (छां. ४।३।१) इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित संवर्ग-विद्या में अधिकार अवश्य होना चाहिए, क्योंकि वहाँ "अह हारेत्वा शूद्र! तवैव सह गोभिरस्तु" (छां. ४।२।३) इस प्रकार रैक्वाचार्य ने जानश्रुति को 'शूद्र' शब्द से सम्बोधित करके कहा है कि 'हे शूद्र! ये सब 'रथ, काञ्चनमय हार एवं गौएँ तू अपने पास ही रख। यह 'शूद्र' शब्द जो 'शुचा द्रवति'—इत्यादि अवयवार्थ के द्वारा क्षत्रियादि वर्णों का बोधक माना जाता है, वह उचित नहीं, क्योंकि अवयव-शक्ति की अपेक्षा समुदाय (रूढ़) शक्ति प्रबल होती है। फलतः जैसे निषाद-स्थपति को अध्ययनादि के विना ही इष्टि-विशेष में विशेष वचन के आधार पर अधिकार है, वैसे ही संवर्ग-विद्या में शूद्र का अधिकार माना जायगा।

सिद्धान्त—उक्त पूर्व-पक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"न शूद्रस्याधिकारः, वेदाध्ययनाभावात्"। आशय यह है कि यद्यपि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—यह अध्ययन-विधि न तो किसी फल के साधनीभूत कर्म के प्रकरण में अधीत है और न अध्ययन का कर्म के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध ही है। तथापि यहाँ एक यह संशय उपस्थित होता है कि क्या यह स्वाध्याय (अपनी शाखा) के अध्ययनरूप संस्कार का विधायक वाक्य अध्ययन में इष्ट-साधनता का बोध कराता हुआ पिण्डपितृयज्ञ अथवा स्वर्ण-धारण-विधि के समान अर्थवाद-प्रतिपादित स्वर्गादि फलों की कल्पना करके अध्ययनेन स्वाध्यायः संस्कार्यः'—ऐसा विनियोग भङ्ग करते हुए 'स्वाध्यायेनाधीयीत"—इस प्रकार के साध्य-साधनभाव का गमक माना जाय ? अथवा परम्परया अन्य युक्तियों के द्वारा अवगत पदार्थ को ही अपना कर निराकाङ्क्ष हो जाय ? अक्षरावाप्ति पदार्थ-व्युत्पत्त्यादि परम्परा के द्वारा पदार्थ-ज्ञानरूप दृष्ट फल का लाभ जब अध्ययन से हो जाता है, तब अध्ययन का स्वर्गादिरूप अदृष्ट फल नहीं माना जा सकता एवं जब "अध्ययनेन स्वाध्यायं भावयेत्"—ऐसा यथाश्रुत साध्य-साधनभाव उपपन्न हो जाता है, तब इस विनियोग का भङ्ग करना भी उचित नहीं। अध्ययन-संस्कार दृष्टफलक इसलिए है

च वर्णत्रयविषयत्वात्। यस्त्वर्थित्वं न तदसति सामर्थ्येऽधिकारकारणं भवति। सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति. शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्यापेक्षितत्वात् , शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्। यच्चेदं 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इति 'तन्न्यायपूर्वकत्वाद्विद्यायामप्यनवक्लृप्तत्वं द्योतयति,

भामती

सम्प्राप्यते प्राप्तश्च फलवत्कर्मब्रह्मावबोधमभ्युदयनिःश्रेयसप्रयोजनमुपजनयति, न तु सुवर्णधारणादौ दृष्टद्वारेण परम्परयाप्यस्त्यपेक्षितं पुरुषस्य, तस्माद्विपरिवृत्य साक्षाद्धारणादेव विनियोगभङ्गेन फलं कल्पते। यदा चाध्ययनसंस्कृतेन स्वाध्यायेन फलवत्कर्मब्रह्मावबोधो भाव्यमानोऽभ्युदयनिःश्रेयसप्रयोजन इति स्थापितं तदा यस्याध्ययनं तस्यैव कर्मब्रह्मावबोधोऽभ्युदयनिःश्रेयसप्रयोजनो नान्यस्य, यस्य चोपनयनसंस्कारस्तस्यैवाध्ययनं, स च द्विजातीनामेवेत्युपनयनाभावेनाध्ययनसंस्काराभावात् पुस्तकादिपठितस्वाध्यायजन्योऽर्थावबोधः शूद्राणां न फलाय कल्पत इति शास्त्रीयसामर्थ्याभावान्न शूद्रो ब्रह्मविद्यायामधिकृत इति सिद्धम्।

® यज्ञेऽनवक्लृप्तः ® इति यज्ञग्रहणमुपलक्षणार्थम्। विद्यायामनवक्लृप्त इत्यपि द्रष्टव्यम्।

भामती–व्याख्या

कि उसके द्वारा पुरुष की अपनी शाखा प्राप्त होती है। [(१) उत्पत्ति, (२) विकृति, (३) संस्कृति और (४) आप्ति—इन चार प्रकारों के जनक कर्म संस्कार कर्म हैं—जैसे आधान संस्कार से अग्नि की उत्पत्ति, अवघात से व्रीहि की विकृति होती है और प्रोक्षण कर्म से व्रीहि संस्कृत होते हैं। वैसे ही अध्ययन संस्कार से स्वाध्याय (अपनी शाखा) की आप्ति (प्राप्ति या कण्ठस्थता) होती है] । प्राप्त स्वाध्याय अभ्युदय के हेतुभूत कर्म (धर्म) के ज्ञान और निःश्रेयस के साधनीभूत ब्रह्म-ज्ञान को जन्म देता है। सुवर्ण-धारणादि कर्म किसी दृष्ट फल के द्वारा पुरुषार्थ का उत्पादन परम्परया भी नहीं करते, अतः 'धारणेन सुवर्णं भावयेत्' ऐसा यथाश्रुत विनियोग भङ्ग करके 'सुवर्णधारणेन भ्रातृव्यस्य दुर्वर्णत्वं भावयेत्'– ऐसा साध्य-साधनभाव माना जाता है, किन्तु प्रकृत में उसकी कोई आवश्यकता नहीं ["सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्" तस्माद् दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति" (तै. ब्रा. २।२।४।६) इस वाक्य के विषय में सन्देह किया गया है कि इस वाक्य के द्वारा विहित सुवर्ण-धारण क्या क्रत्वर्थ है ? अथवा पुरुषार्थ ? सिद्धान्त-सूत्र है—"अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात्" (जै. सू. ३।४।२०)। अर्थात् उक्त वाक्य किसी कर्म के प्रकरण में नहीं अप्रकरण-पठित (अनारभ्याधीत) है, अतः कर्म के प्रकरण में पठित वाक्य की अपेक्षा इस अनारभ्याधीत वाक्य का यह अन्तर है कि इसके द्वारा विहित सुवर्ण-धारण क्रत्वर्थ नहीं, अपितु पुरुषार्थ है, फलतः आर्थवादिक भ्रातृव्य (शत्रु) की दुर्वर्णता ही सुवर्ण-धारण का फल है, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—"तस्माद् दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवतीत्येवमादिना एवंजातीयकानां फलेन सम्बन्धः" (शाबर. पृ. ९५५)]।

जब कि 'अध्ययन के द्वारा संस्कृत (प्राप्त) स्वाध्याय अभ्युदयफलक कर्मावबोध और निःश्रेयसफलक ब्रह्मावबोध का साधन है'– ऐसा स्थापित (निर्णीत) हो गया, तब जिस व्यक्ति ने अध्ययन किया है, उसी को अभ्युदयार्थक कर्मावबोध और निःश्रेयसार्थक ब्रह्मावबोध होगा, अन्य को नहीं। अध्ययन वही कर सकता है, जिसका उपनयनसंस्कार हो गया हो, उपनयन संस्कार केवल त्रैवर्णिक पुरुषों का ही विहित है, अतः उपनयन और अध्ययन से वञ्चित शूद्रों को जो अपने-आप पुस्तकादि के पढ़ लेने मात्र से अर्थावबोध होता है, वह अभीष्ट फल नहीं दे सकता। इस प्रकार आगन्तुक शास्त्रीय सामर्थ्य न होने के कारण शूद्र ब्रह्म-विद्या का अधिकारी नहीं माना जा सकता—यह सिद्ध हो गया।

न्यायस्य साधारणत्वात्। यत्पुनः संवर्गविद्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं मन्यसे, न तल्लिङ्गं, न्यायाभावात्। न्यायोक्ते हि लिङ्गदर्शनं द्योतकं भवति। न चात्र न्यायोऽस्ति। कामं चायं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्, तद्विषयत्वात्, न

भामती

सिद्धवदभिधानस्य न्यायपूर्वकत्वात् न्यायस्य चोभयत्र साम्यात्। द्वितीयं पूर्वपक्षमनुभाषते ⊛ यत् पुनः संवर्गविद्यायाम् इति⊛। दूषयति ⊛ न तल्लिङ्गम् ⊛। कुतः? ⊛न्यायाभावात् ⊛। न तावच्छूद्रः संवर्गविद्यायां साक्षाच्चोद्यते : यथैतया निषादस्थपतिं याजयेदिति निषादस्थपतिः किन्त्वर्थवादगतोऽयं शूद्रशब्दः स चान्यतः सिद्धमर्थमवद्योतयति न तु प्रापयतीत्यध्वरमीमांसकाः। अस्माकं त्वन्यपरादपि वाक्यादसति बाधके प्रमाणान्तरेणार्थोऽवगम्यमानो विधिना चापेक्षितः स्वीक्रियत एव। न्यायश्चास्मिन्नर्थे उक्तो बाधकः। न च विध्यपेक्षाऽस्ति, द्विजात्यधिकारप्रतिलम्भेन विधेः पर्यवसानात्। विध्युद्देशगतत्वे त्वयं न्यायोऽपोद्यते वचनबलान्निषादस्थपतिवन्न त्वेष विध्युद्देशगत इत्युक्तम्। तस्मान्नार्थवादमात्राच्छूद्राधिकारसिद्धिरिति भावः। अपि च किमर्थवादबलाद्विद्यामात्रेऽधिकारः शूद्रस्य कल्प्यतां संवर्गविद्यायां वा? न तावद्विद्यामात्र इत्याह ⊛ कामं चायम् इति ⊛। न हि संवर्गविद्यायामर्थवादः श्रुतो विद्यामात्रेऽधिका-

भामती—व्याख्या

"तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः (असमर्थः)" (तै. सं. ७।१।१।६) इस वाक्य में 'यज्ञ' शब्द ब्रह्म-विद्या का भी उपलक्षक है, अतः 'ब्रह्मविद्यायामनवक्लृप्तः'—ऐसा निषेध-वाक्य भी सम्पन्न हो जाता है, क्योंकि शूद्र की यज्ञानवक्लृप्ति का नियामक जो हेतु है—सामर्थ्याभाव, वह कर्म-विद्या और ब्रह्म-विद्या—दोनों में समान है।

द्वितीय पूर्वपक्ष का अनुवाद किया जा रहा है—"यत्पुनः संवर्गविद्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं मन्यसे"। इस पूर्व पक्ष का भी खण्डन किया जाता है—"न तल्लिङ्गम्, न्यायाभावात्"। दृष्टान्त-साधक युक्ति का दार्ष्टान्त में अभाव है, क्योंकि निषादस्थपति-इष्टि में निषादस्थपति का "एतया निषादस्थपतिं याजयेत्" (मै. सं. २।२।४) इस विधि के द्वारा साक्षात् विधान किया गया है ["वास्तुमध्ये रौद्रं चरुं निर्वपेद्, यत्र रुद्रः प्रजाः शमयेत्"—इस वाक्य के द्वारा विहित रौद्र इष्टि के प्रकरण में कहा गया है—"एतया निषादस्थपतिं याजयेत्"। "स्थपतिर्निषादः स्यात्, शब्दसामर्थ्यात्" (जै. सू. ६।१।५१) इस सूत्र के द्वारा सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि निषाद नाम की शूद्र जाति का स्थपति (राजमिस्त्री) उस इष्टि का अधिकारी है]। संवर्ग-विद्या के प्रकरण में किसी शूद्र का विधि वाक्य प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होता, किन्तु अर्थवाद वाक्य में 'शूद्र' शब्द आया है। वह अन्य प्रमाण से ज्ञात पदार्थ का अवद्योतनमात्र (अनुवादमात्र) करता है, अज्ञात-ज्ञापक या विधायक नहीं—ऐसा धर्म-मीमांसकों का मत है। हमारा (ब्रह्म-मीमांसकों का) यह कहना है कि अन्यार्थक वाक्य के द्वारा अवगत वह पदार्थ भी विधि वाक्य के द्वारा स्वीकृत होता है, जिसका कोई बाधक प्रमाण उपलब्ध न हो। प्रकृत में वैसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि विधि-वाक्य द्विजातिरूप अधिकारियों को लेकर पर्यवसित हो जाता है। यदि साक्षात् विधि वाक्य में 'शूद्र' शब्द का उल्लेख होता, तब प्रत्यक्ष वचन के द्वारा निसर्ग-सिद्ध द्विजाति के अधिकार का अपवाद हो सकता था किन्तु वैसा प्रकृत में कोई वाक्य उपलब्ध नहीं, केवल एक अर्थवाद के आधार पर शूद्राधिकार की सिद्धि नहीं हो सकती।

यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि उक्त अर्थवाद के बल पर समस्त विद्याओं में शूद्राधिकार की कल्पना की जाती है? अथवा केवल संवर्ग-विद्या में? प्रथम कल्प का निरास किया जाता है—"कामं चायं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्, तद्विषयत्वात्,

सर्वासु विद्यासु । अर्थवादस्थत्वात्तु न क्वचिदप्ययं शूद्रमधिकर्तुमुत्सहते । शक्यते चायं शूद्रशब्दोऽधिकृतविषयो योजयितुम् । कथमित्युच्यते ? 'कंवर एनमेतत्सन्तं सयुग्वान-

भामती

रिणमुपनयति, अतिप्रसङ्गात् । अस्तु तर्हि संवर्गविद्यायामेव शूद्रस्याधिकार इत्यत आह ❀ अर्थवादस्थत्वाद् इति ❀ । तत्किमेतच्छूद्रपदं प्रमत्तगीतं, न चैतद् युक्तं तुल्यं हि साम्प्रदायिकमित्यत आह । ❀शक्यते चायं शूद्रशब्द इति ❀ । एवं किलात्रोपाख्यायते—जानश्रुतिः पौत्रायणो बहुदायी श्रद्धादेयो बहुपाक्यः प्रियातिथिर्बभूव । स च तेषु तेषु ग्रामनगरशृङ्गाटकेषु विविधानामन्नपानानां पूर्णानतिथिभ्य आवसथान् कारयामास । सर्वत एत्यैतेष्वावसथेषु ममान्नपानमर्थिन उपयोक्ष्यन्त इति । अथास्य राज्ञो दानशौण्डस्य गुणगरिमसन्तोषिताः सन्तो देवर्षयो हंसरूपमास्थाय तदनुग्रहाय तस्य निदाघसमये दोषा हर्म्यतलस्थस्योपरि मालामाबध्याजग्मुस्तेषामग्रेसरं हंसं सम्बोध्य पृष्ठतो व्रजन्नेकतमो हंसः सादृभुतमभ्युवाच । भल्लाक्ष ! भल्लाक्ष ! जानश्रुतेरस्य पौत्रायणस्य द्युलोक आयतं ज्योतिस्तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा माधाक्षीदिति । तमेवमुक्तवन्तमग्रगामी हंसः प्रत्युवाच--कं वर ! एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ । अयमर्थः-वर इति सोपहासमवरमाह । अथवा वरो वराकोऽयं जानश्रुतिः । कमित्याक्षेपे, यस्मादयं वराकस्तस्मात्कमेनं किम्भूतमेतत्सन्तं प्राणिमात्रं रैक्वमिव सयुग्वानमात्थ । युग्वा गन्त्री शकटी तया सह

भामती—व्याख्या

न सर्वासु विद्यासु" । उक्त अर्थवाद वाक्य केवल संवर्ग-विद्या में श्रुत है, अतः समस्त विद्याओं में अधिकार का प्रयोजक नहीं हो सकता, अन्यथा अतिप्रसङ्ग उपस्थित होता है । वस्तुतः उक्त वाक्य अर्थवाद होने के कारण संवर्ग-विद्या में भी शूद्राधिकार का विधायक नहीं हो सकता—"अर्थवादत्वात्तु न क्वचिदप्ययं शूद्रमधिकर्त्तुमुत्सहते ।" यहाँ 'शूद्र' शब्द यदि किसी विद्या में भी शूद्र के अधिकार का नियामक नहीं हो सकता, तब क्या यह निरर्थक और प्रमत्त-गीतमात्र है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है—'शक्यते चायं शूद्रशब्दोऽधिकृत-विषयो योजयितुम्" । छान्दोग्योपनिषत् में ऐसा उपाख्यान आया है कि पुत्रनाम के राजा का पौत्र और जनश्रुति का पुत्र जानश्रुति राजा था, जो ब्राह्मणों को श्रद्धापूर्वक दान एवं अतिथियों का भोजनादि से पूर्ण सत्कार किया करता था । उसने अपने राज्य के नगरों और गाँवों के चौराहों पर अतिथियों के लिए विविध अन्न-पानादि से परिपूर्ण धर्मशालाएँ बनवाई थीं । अन्न-पानार्थी सभी ओर से आकर उन धर्मशालाओं में अन्न-पानादि का पूर्ण उपयोग किया करते थे । उस दानवीर राजा के सद्गुणों से सन्तुष्ट होकर देवता और ऋषिगण हंसों का रूप धारण कर राजा को अनुगृहीत करने के लिए जब वह गरमियों के समय रात्रि में अपने महल की खुली छत पर सो रहा था, तब आकाश मार्ग से ऊपर-ऊपर उड़ते जा रहे थे । उन हंसो की पंक्ति के आगे उड़नेवाले हंस को पीछे उड़नेवाले हंस ने कहा भो भल्लाक्ष ! ['भल्लाक्ष' शब्द का मूल शब्द है-भद्राक्ष, जिसका अर्थ होता है— स्वस्थनेत्रवाला । यहाँ कटाक्ष-पूर्ण उक्ति या विपरीत-लक्षणा से अन्धे व्यक्ति का बोधक है, इस प्रकार अग्रगामी हंस को पृष्ठगामी हंस कहता कि हे अन्धे !] सामने यह जो द्युलोक को छूता हुआ ज्योतिःस्तम्भ दिखाई दे रहा है, यह महाराज जानश्रुति का यशःपुञ्ज है, इसके बीच से मत निकलना नहीं तो भस्मीभूत हो जाओगे । इसके उत्तर में अग्रगामी हंस ने पृष्ठगामी हंस को कहा—'कंवर ! एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति" ['वर' शब्द भी 'भल्लाक्ष' शब्द के समान कटाक्षपूर्ण सम्बोधन या विपरीत-लक्षणा के द्वारा अवर या 'नीच' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अग्रगामी हंस पृष्ठगामी को वैसा ही उत्तर देता है कि 'हे नीच हंस !] किस ऐसे साधारण राजा की बात करता है ? तूने क्या इसे शकट (बैलगाड़ी) पर चलनेवाला

मिव रैक्वमात्थ' (छा० ४।१।३) इत्यस्माद्धंसवाक्यादात्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत्पेदे, तामृषी रैक्वः शूद्रशब्देनानेन सूचयांबभूवात्मनः परोक्षज्ञताख्या-

भामती

वर्तत इति सयुग्वा रैक्वस्तमिव कथेनं प्राणिमात्रं जानश्रुतिमात्थ। रैक्वस्य हि ज्योतिरसह्यं न त्वेतस्य प्राणिमात्रस्य। तस्य हि भगवतः पुण्यज्ञानसम्पन्नस्य रैक्वस्य ब्रह्मविदो धर्मे त्रैलोक्योदरवर्तिप्राणभृन्मात्र-धर्मोऽन्तर्भवति न पुना रैक्वधर्मकक्षां कस्यचिद्धर्मोऽवगाहत इति। अथैव हंसवचनादात्मनोऽत्यन्तनिकर्ष-मुत्कर्षंकाष्ठां च रैक्वस्योपश्रुत्य विषण्णमानसो जानश्रुतिः कितव इवाक्षपराजितः पौनःपुन्येन निःश्वसन्नु-द्वेलं कथमपि निशीथमतिवाहयाम्बभूव। ततो निशान्तपिशुनमनिभृतवन्दिवृन्दप्रारब्धस्तुतिसहस्रसंवलितं मङ्गलतूर्यनिर्घोषमाकर्ण्य तल्पतलस्थ एव राजैकपदे यन्तारमाहूयादिदेश—वयस्य रैक्वाह्वयं ब्रह्मविदमेकरतिं सयुग्वानमतिविविक्तेषु तेषु येषु विपिननगनिकुञ्जनदीपुलिनादिप्रदेशेष्वन्विष्य प्रयत्नतोऽस्मभ्यमाचक्ष्वेति। स च तत्रान्विष्यन् क्वचिदतिविविक्ते देशे शकटस्याधस्तात् पामानं कण्डूयमानं ब्राह्मणायनमद्राक्षीत्। दृष्ट्वा च रैक्वोऽयं भवितेति प्रतिभावानुपविश्य सविनयमप्राक्षीत् त्वमसि हे भगवन् सयुग्वा रैक्व इति। तस्य च रैक्वभावानुमतिं च तैस्तैरिङ्गितैर्गार्हस्थ्येच्छां धनायां चोन्नीय यन्ता राज्ञे निवेदयामास। राजा तु तं निशम्य गवां षट्शतानि निष्कं च हारं चाश्वतरीरथं चादाय सत्वरं रैक्वं प्रतिचक्रमे। गत्वा चाभ्युवाद हे रैक्व गवां षट्शतानीमानि निष्कश्च हारश्चायमश्वतरीरथ एतदादत्स्व, अनुशाधि मां भगवन्निति। अथैवमुक्तवन्तं प्रति साटोपं च सस्पृहं चोवाच रैक्वः—अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिर-

भामती—व्याख्या

महातेजस्वी रैक्व ऋषि समझ लिया है ? यह रैक्व कैसे हो सकता है ? कहाँ वह ब्रह्मवेत्ताओं का आदर्श महापुरुष पुण्यात्मा महात्मा रैक्व और कहाँ यह एक साधारण राजा ? वस्तुतः आज महर्षि रैक्व के यशः सूर्य की एक रश्मि की भी बराबरी किसी का यशःपुञ्ज नहीं कर सकता। अग्रगामी हंस की उक्ति के द्वारा जानश्रुति ने अपना अपकर्ष और रैक्व का उत्कर्ष सुना, असह्य आघात से जानश्रुति का मन आहत हो गया, रातभर, नींद नहीं आई, बड़े-बड़े निःश्वासों और फूत्कारों के साथ करवटें बदल-बदल कर किसी प्रकार रात बिताई। रात बीतने की सूचना देनेवाले बन्दी और चारणगणों के द्वारा उच्चारित विरुदावलियों के घोष से मिश्रित प्रभाती स्वर-लहरियों को सुन कर राजा ने बिस्तरे पर बैठे-ही-बैठे एकदम सारथी या धावक को बुलाकर आदेश दिया कि मित्रवर ! रैक्व नाम के शकट-धारी (बैलगाड़ीवाले) ब्रह्म-वेत्ता को वन की सघन झाड़ियों, पर्वत-कन्दराओं, नदी के बालुकामय आदि एकान्त प्रान्तों में खोज कर हमें बताओ। सारथि ने खोजते-खोजते देखा कि एक व्यक्ति निर्जन स्थान पर बैलगाड़ी के नीचे बैठा अपने शरीर की खाज खुजाता है। उस ब्राह्मण को देखा 'यही रैक्व होगा'—ऐसी सम्भावना कर के सारथि ने बैठ कर विनयपूर्वक पूछा—हे भगवन् ! शकटधारी रैक्व आप ही हैं ? प्रश्नोत्तर एवं चिह्न-चक्रों से यही, रैक्व है'—ऐसा जान लिया और प्रसङ्गतः यह भी जानकारी प्राप्त कर ली कि रैक्व की गृहस्थ बनने की लालसा एवं धनाया ["अशनायोदन्यधनायाबुभुक्षापिपासागर्धेषु" (पा. सू. ७।४।३४) इस सूत्र के द्वारा निष्पन्न 'धनाया' शब्द का अर्थ—धनिक बनने की इच्छा] है। सारथि ने अपनी यह समस्त जानकारी महाराज को दे दी। राजा ने वह सब सुना और छः सौ गौएँ, एक निष्क (सोने का कण्ठा), एक मोतियों का हार, खच्चर-जुता रथ—यह भेंट-पूजा की सामग्री लेकर रैक्व की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँच कर रैक्व से प्रार्थना की—हे रैक्व ! ये छः सौ गौएँ, एक निष्क, एक हार और खच्चरवाही रथ आप स्वीकार करें और हमें ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश करें। रैक्व ने उत्तर दिया—"अह हारेत्वा शूद्र ! तवैव सह गोभिरस्त्विति"

पनायेति गम्यते, जातिशूद्रस्यानधिकारात् । कथं पुनः शूद्रशब्देन शुगुत्पन्ना सूच्यत इति ? उच्यते—तदाद्रवणात् । शुचमभिदुद्राव, शुचा वाऽभिदुद्रुवे, शुचा वा रैक्वमभिदुद्रावेति शूद्रः, अवयवार्थसंभवाद्रूढ्यर्थस्य चासंभवात् । दृश्यते चायमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम् ॥ ३४ ॥

भामती

स्त्विति । अहेति निपातः साटोपमामन्त्रणे । हारेण युक्ता इत्वा गन्त्री रथः हारेत्वा गोभिः सह तवैवास्तु किमेतन्मात्रेण मम धनेनाकल्पवर्तिनो गार्हस्थ्यस्य निर्वाहानुपयोगिनेति भावः । अहर त्वेति तु पाठोऽनर्थकतया च गोभिः सहेत्यत्र प्रतिसम्बन्ध्यनुपादानेन चाचार्यैर्दूषितः । तदस्यामाख्यायिकायां शक्यः शूद्रशब्देन जानश्रुती राजन्योऽप्यवयवव्युत्पत्त्या वक्तुं, स हि रैक्वः परोक्षज्ञतां चिख्यापयिषुरात्मनो जानश्रुतेः शूद्रेति शुचं सूचयामास । * कथं पुनः शूद्रशब्देन शुगुत्पन्ना सूच्यत इति * । उच्यते ? *तदाद्रवणात्* । तद्व्याचष्टे *शुचमभिदुद्राव* जानश्रुतिः ।शुचं प्राप्तवानित्यर्थः । * शुचा वा * जानश्रुतिः । *द्रुद्रुवे* शुचा प्राप्त इत्यर्थः । अथवा शुचा रैक्वं जानश्रुतिर्दुद्राव, गतवान् । तस्मात्तदाद्रवणादिति तच्छब्देन शुग्वा जानश्रुतिर्वा रैक्वो वा परामृश्यत इत्युक्तम् ॥ ३४ ।

भामती–व्याख्या

(छां. ४।१।३) । अर्थात् हे शोकातुर राजन् ! यह निष्कादि समस्त सामग्री आप के पास ही रहे । यहाँ 'अह' शब्द गर्वपूर्वक सम्बोधन में प्रयुक्त हुआ है । हारेत्वा ('हारेण युक्ता इत्वा इत्वरी' अर्थात् हारादि के साथ यह रथ और गौएँ हम (जानश्रुति) इनको लेकर क्या करेंगे ? गृहस्थ जीवन का निर्वाह इतने से नहीं हो सकता । उक्त श्रुति-वाक्य में जो कहीं 'अहरेत्वा'—ऐसा पाठ उपलब्ध होता है । वहाँ यद्यपि 'अह' और 'रे' दोनों पद सम्बोधनार्थकत्वेन सार्थक हैं, तथापि 'त्वा' पद अनर्थक होने के कारण उक्त श्रुति-वाक्य के भाष्य में भाष्यकार के द्वारा निरस्त कर दिया गया है । दूसरी बात यह भी है कि 'गोभिः'—यह पद भी प्रतिसम्बन्धी का ग्रहण न होने से साकांक्ष रह जाता है और जब वहाँ 'अह हारेत्वा'—ऐसा पाठ मानकर रथार्थक स्त्रीलिङ्ग 'इत्वा' पद का छेद किया जाता है, तब 'गोभिः सह इत्वा तवैव'—ऐसा अन्वय सम्पन्न हो जाने से 'गोभिः' पद साकाङ्क्ष भी नहीं रह जाता । [इस समय उक्त श्रुति-वाक्य के उस भाष्य की आनुपूर्वी ऐसी उपलब्ध होती है—"अहेत्ययं निपातो विनिग्रहार्थीयोऽन्यत्र इह त्वनर्थकः, एवशब्दस्य पृथक्प्रयोगात्" (छां. भा. पृ. २०२) । अर्थात् 'अह' शब्द तिरस्कारपूर्वक सम्बोधन में अन्यत्र प्रयुक्त होकर सार्थक माना जाता है, किन्तु यहाँ वह अनर्थक है, क्योंकि रैक्व ने जो कह दिया है—तवैव । वहाँ एवकार के प्रयोग से ही जानश्रुति का तिरस्कार सिद्ध हो जाता है] ।

इस उपाख्यान में यद्यपि जानश्रुति क्षत्रिय है, तथापि अवयवार्थ को लेकर 'शूद्र' शब्द के द्वारा अभिहित किया जा सकता है, क्योंकि वह रैक्व अपनी परोक्षज्ञता को प्रकट करने के लिए जानश्रुति के शोक की सूचना 'शूद्र' पद के द्वारा देता है । जानश्रुति के हृदय में उत्पन्न शोक 'शूद्र' पद के द्वारा कैसे सूचित होता है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—"तदाद्रवणात्" । उसकी व्याख्या है—"शुचमभिदुद्राव जानश्रुतिः" । अभिदुद्राव का अर्थ है—प्राप्तवान् । या 'शुचा दुद्रुवे जानश्रुतिः' अर्थात् शोक के द्वारा अभिभूत हुआ । अथवा 'शुचा दुद्राव' शोक-सन्तप्त जानश्रुति रैक्व की शरण में गया । इस प्रकार सूत्रकार ने "तदाद्रवणात्"—यहाँ 'तत्' पद के द्वारा शुक् (शोक) या जानश्रुति अथवा रैक्व का ग्रहण किया है । ["शुचेर्दश्च" (उणा. २।१९) इस सूत्र के द्वारा 'शुच शोके' धातु से 'रक्' प्रत्यय, चकार को दकार का आदेश एवं उकार को दीर्घ करने पर 'शूद्र' शब्द की निष्पत्ति पाणिनि ने मानी है, जिसका

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः । यत्कारणं प्रकरणनिरूपणेन क्षत्रियत्वमस्योत्तरत्र चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहाराल्लिङ्गादगम्यते । उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथिरभिप्रतारी क्षत्रियः संकीर्त्यते—'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे' (छा० ४।३।५) इति । चैत्ररथित्वं चाभिप्रतारिणः कापेययोगादवगन्तव्यम् । कापेययोगो हि चित्ररथस्यावगतः 'एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्' (ताण्ड्यब्रा० २०।१२।५) इति । समानान्वयानां च प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति । 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपति-

भामती

❀ इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः यत्कारणं ❀ प्रकरणनिरूपणे क्रियमाणे क्षत्रियत्वमस्य जानश्रुतेरवगम्यते । चैत्ररथेन लिङ्गादिति व्याचक्षाणः प्रकरणं निरूपयति ❀उत्तरत्र❀ संवर्गविद्यावाक्यशेषे । चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा निश्चितक्षत्रियत्वेन समानायां संवर्गविद्यायां समभिव्याहाराल्लिङ्गात् सन्दिग्धक्षत्रियभावो जानश्रुतिः क्षत्रियो निश्चीयते । अथ ह शौनकञ्च कापेयमभिप्रतारिणञ्च काक्षसेनि सूदेन परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्ष इति प्रसिद्धयाजकत्वेन कापेयेनाभिप्रतारिणो योगः प्रतीयते । ब्रह्मचारिभिक्षया चास्याशूद्रत्वमवगम्यते । नहि जातु ब्रह्मचारी शूद्रान्नं भिक्षते । याजकेन च कापेयेन योगाद्याज्योऽभिप्रतारी । क्षत्रियत्वं चास्य चैत्ररथित्वात् । तस्माच्चैत्ररथिनामैकः क्षत्रपतिरजायतेति वचनात् । चैत्ररथित्वं चास्य कापेयेन याजकेन योगात् । ❀ एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्निति❀ छन्दोगानां द्विरात्रे श्रूयते । तेन चित्ररथस्य याजकाः कापेयाः । एष चाभिप्रतारी चित्ररथादन्यः सन्नेव

भामती—व्याख्या

अर्थ है—शोचक या शोक-कर्त्ता । श्री रामानुजाचार्य ने यही व्युत्पत्ति अपनाई है, किन्तु सूत्रकार का आशय वैसा नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'तदाद्रवण' शब्द के द्वारा जो 'शुचाद्रवण' सूचित किया गया है, उसके अनुसार 'तमाद्रवणम्' और 'तेनाद्रवणम्'—ये दो प्रकार सम्भव है । 'तेन'—यह तृतीया कर्त्ता और करण में हो सकती है, इस प्रकार सब तीन रूप सम्पन्न होते हैं—(१) शोकमादुद्राव (प्राप्तवान्) जानश्रुतिः, (२) शुचा कर्त्र्या दुद्रुवे (प्राप्तः) जानश्रुतिः और (३) शुचा करणेन रैक्वं दुद्राव (प्राप्तवान्) जानश्रुतिः । अर्थात् शोककर्मक, या शोककर्तृक अथवा शोककरणक आद्रवण के निमित्त से जानश्रुति को शूद्र कह दिया गया है] । यहाँ कर्म कारक प्रथम प्रकार में शोक, द्वितीय प्रकार में जानश्रुति और तृतीय प्रकार में रैक्व है, अतः 'तं प्रति'—इस अर्थ के द्योतक 'तत्' पद के द्वारा इन्हीं तीनों का ग्रहण किया गया है ॥ ३४ ॥

इस कारण से भी जानश्रुति जातितः शूद्र नहीं सिद्ध होता, कि प्रकरण के आधार पर जानश्रुति में चित्ररथ के समभिव्याहार से क्षत्रियत्व सिद्ध होता है । संवर्ग-विद्या के अन्त में प्रसङ्ग आया है कि—"अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे" (छां. ४।३।५) अर्थात् जब शुनक-पुत्र कापेय और कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी ये दोनों एक साथ भोजन करने बैठे थे, उनके लिए अन्न परोसा जा रहा था, तब एक ब्रह्मचारी ने भिक्षा माँगी । अभिप्रतारी चैत्ररथ के वंश का था, "एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्" (ताण्ड्य. ब्रा. २०।१२।५) । अर्थात् इस द्विरात्र यज्ञ का कापेय गणों ने चैत्ररथ से अनुष्ठान कराया । कापेय याजक और चैत्ररथ यजमान था । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कोई ब्रह्मचारी शूद्र से भिक्षा नहीं माँग सकता, अभिप्रतारी क्षत्रिय था, क्योंकि उसके लिए कहा गया है—"तस्माच्चैत्ररथी नामैकः क्षत्रपतिरजायत" । अभिप्रतारी चैत्ररथी

रजायत' इति च क्षत्रपतित्वावगमात्क्षत्रियत्वमस्यावगन्तव्यम् । तेन क्षत्रियेणाभिप्रतारिणा सह समानायां विद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति । समानानामेव हि प्रायेण समभिव्याहारा भवन्ति । क्षत्तृप्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः । अतो न शूद्रस्याधिकारः ॥ ३५ ॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः, यद्विद्याप्रदेशेषूपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते — 'तं होपनिन्ये' (श० ब्रा० ११।५।३।१३) । 'अधीहि भगव इति होपससाद' (छा० ७।१।१) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः' (प्र० १।१) इति च । 'तान्हानुपनीयैव'

भामती

कापेयानां याज्यो भवति यदि चैत्ररथिः स्यात्, समानान्वयानां हि प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति । तस्माच्चैत्ररथित्वादभिप्रतारी काक्षसेनिः क्षत्रियः । तत्समभिव्याहाराच्च जानश्रुतिः क्षत्रियः सम्भाव्यते । इतश्च क्षत्रियो जानश्रुतिरित्याह * क्षत्तृप्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च * । क्षत्तृप्रेषणे चार्थसम्भारे च तावुभौ तस्य वदान्यप्रहस्यैश्वर्यं प्रायेण क्षत्रियस्य दृष्टं युधिष्ठिरादिवदिति ॥ ३५ ॥

न केवलमुपनीताध्ययनविधिपरामर्शेन न शूद्रस्याधिकारः किन्तु तेषु तेषु विद्योपदेशप्रदेशेषूपनयनसंस्कारपरामर्शात् शूद्रस्य तदभावाभिधानाद् ब्रह्मविद्यायामनधिकार इति । नन्वनुपनीतस्यापि ब्रह्मोपदेशः श्रूयते तान् हानुपनीयैवेति । तथा शूद्रस्यानुपनीतस्यैवाधिकारो भविष्यतीत्यत आह * तान् हानुपनीये-

भामती-व्याख्या

था—यह बात इसके याजक कापेय के सम्बन्ध से अवगत होती है, क्योंकि याजकगण प्रायः अपने समान वंशवालों को यजन कराते हैं। यह अभिप्रतारी चित्ररथ से अन्य होकर ही कापेयगणों का यजमान हो सकता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अभिप्रतारी चैत्ररथी होने के कारण क्षत्रिय था। इसका सम्बन्ध जिस संवर्ग-विद्या से जोड़ा गया है, उसी विद्या से जानश्रुति भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार समभिव्याहाररूप लिङ्ग (सामर्थ्य) प्रमाण के द्वारा जानश्रुति का क्षत्रिय होना निश्चित होता है। केवल इतने से ही नहीं, क्षत्ता (अपने सारथि) को रैक्व के अन्वेषण के लिए भेजता है, युधिष्ठिर के समान सैकड़ों गौएँ, काञ्चन और मणिमय हारों का दान करता है, अतः निश्चितरूप से जानश्रुति क्षत्रिय था—"क्षत्तृप्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः"। फलतः जानश्रुति को 'शूद्र' शब्द गौणी वृत्ति (शोकवत्त्वरूप गुण के सम्बन्ध) से ही कह सकता है, मुख्य वृत्ति से नहीं कि वैदिक विद्या में शूद्र का अधिकार सिद्ध हो जाता ॥ ३५ ॥

"अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत"—इत्यादि वाक्यों से सूचित उपनीत व्यक्ति के अध्ययन-विधान का परामर्श ही शूद्राधिकार का विरोधी नहीं, अपितु अनेकत्र ब्रह्म-विद्या के उपदेश-प्रदेशों में उपनयनादि संस्कारों का परामर्श किया गया है, वे संस्कार शूद्र के होते नहीं, अतः ब्रह्म-विद्या में शूद्र का अधिकार नहीं—"इतश्च न शूद्रस्याधिकारः, यद् विद्याप्रदेशेषूपनयनादयः संकाराः परामृश्यन्ते—"तं होपनिन्ये" (शत. ब्रा. १।५।३।१३). "अधीहि भगव इति होपससाद" (छां. ७।१।१) । तम् उपनिन्ये (उपनीतवान्) यहाँ उपनयन और 'अधीहि भगव'--यहाँ अध्ययनाध्यापन का उल्लेख किया गया है, क्योंकि 'अधीहि'—इस मन्त्र-पद से विवक्षित है—अध्यापय।

शङ्का—उपनयन संस्कार से रहित व्यक्ति को भी ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया गया है—"तान् हानुपनीयैवैतदुवाच" (छां. ५।११।७) अर्थात् महाराज अश्वपति ने प्राचीन-

(छा० ५।११।७) इत्यपि प्रदर्शितैवोपनयनप्राप्तिर्भवति। शूद्रस्य संस्काराभावोऽभिलप्यते, 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु० १०।४) इत्येकजातित्वस्मरणात्। 'न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति' (मनु० १०।१२६) इत्यादिभिश्च ॥ ३६ ॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः। यत्सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतम उपनेतुमनुशासितुं च प्रववृते, 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोपत्वा नेष्ये न सत्यादगाः' (छा० ४।४।५) इति श्रुतिलिङ्गात् ॥ ३७ ॥

भामती

वेत्यपि प्रदर्शितैवोपनयनप्राप्तिः ॐ। प्राप्तिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्य येषामुपनयनं प्राप्तं तेषामेव तन्निषिध्यते। तच्च द्विजातीनामिति द्विजातय एव निषिद्धोपनयना अधिक्रियन्ते न शूद्र इति ॥ ३६ ॥

सत्यकामो ह वै जाबालः प्रमीतपितृकः स्वां मातरं जबालामपृच्छत्। अहमाचार्य्यकुले ब्रह्मचर्य्यं चरिष्यामि, तद् ब्रवीतु भवती किङ्गोत्रोऽहमिति। साऽब्रवीत् – स्वजनकपरिचरणपरतया नाहमज्ञासिषं यद्गोत्रं तवेति। स स्वाचार्य्यं गौतममुपससाद। उपसद्योवाच—हे भगवन् ब्रह्मचर्य्यमुपेयां त्वयीति। स होवाच, नाविज्ञातगोत्र उपनीयत इति किङ्गोत्रोऽसीति। अथोवाच सत्यकामो नाहं वेद स्वं गोत्रं, स्वां मातरं जबालामपृच्छं, सापि न वेदेति। तदुपश्रुत्याभ्यधाद् गौतमः—नाद्विजन्मन आर्जवं युक्तमीदृशं वचस्ते नास्मिन्न शूद्रत्वसम्भावनास्तीति स्वां द्विजातिजन्मानमुपनेष्ये इत्युपनेतुमनुशासितुं च जाबालं गौतमः प्रवृत्तः। तेनापि शूद्रस्य नाधिकार इति विज्ञायते ॐ न सत्यादगाः इति ॐ। न सत्यमतिक्रान्तवानसीति ॥ ३७ ॥

भामती–व्याख्या

शालादि ऋषियों का उपनयन किए बिना ही उन्हें वैश्वानर-विद्या का उपदेश किया। उसी प्रकार उपनयन संस्कार-रहित शूद्र का भी ब्रह्म-विद्या में अधिकार मानना होगा।

समाधान—महाशालादि ब्राह्मण थे, अतः उनका उपनयन प्राप्त था, किन्तु उनकी अपेक्षा राजा की जाति हीन थी, अतः हीन जाति के द्वारा उच्च जाति का उपनयन निषिद्ध माना गया। शूद्र का उपनयन प्राप्त ही नहीं कि उसका निषेध होता, निषेध सदैव प्राप्तिपूर्वक ही होता है। यदि शूद्र का उपनयन प्रसक्त होता, तब भी उसका वहाँ निषेध नहीं होता, क्योंकि शूद्र की अपेक्षा क्षत्रिय जाति हीन नहीं, उन्नत मानी गई है। फलतः ब्रह्म-विद्या में यदि अनुपनीत का अधिकार है, तो द्विजाति का ही, शूद्र का नहीं ॥ ३६ ॥

छान्दोग्य उपनिषत् (४।४।१) में एक उपाख्यान आता है कि सत्यकाम नाम का एक बालक था, उसके पिता का देहान्त हो चुका था। वह अपनी 'जबाला' नाम की माता से कहने लगा कि मैं आचार्य के पास ब्रह्मचर्य धारण करना चाहता हूँ, अतः आप यह बता दें कि मैं किस गोत्र का हूँ। जबाला ने उत्तर दिया कि मैं तुम्हारे पिता की सेवा में तल्लीन रही, तुम्हारा गोत्र न जान सकी। सत्यकाम आचार्य गौतम की शरण में गया और प्रार्थना की कि भगवन् मैं आप से ब्रह्मचर्य-दीक्षा लेना चाहता हूँ। गौतम ने कहा—जिसके गोत्र का ज्ञान नहीं होता, उसका उपनयनादि नहीं किया जाता, अतः तुम्हारा गोत्र क्या है ? सत्यकाम ने उत्तर दिया कि मैं अपना गोत्र नहीं जानता। मैंने अपनी 'जबाला' नाम की माता से पूछा था, वह भी नहीं जानती थी। आचार्य गौतम ने सत्यकाम से कहा कि तुम्हारे-जैसा निश्छल और स्पष्ट वक्ता अब्राह्मण नहीं हो सकता, अतः तुम्हारा उपनयन अवश्य करेंगे। शीघ्र ही आचार्य ने सत्यकाम का उपनयन करके वेदाध्यपन करना आरम्भ कर दिया। इस कथानक से भी यही सिद्ध होता है कि शूद्र का अधिकार वेद-विद्या में नहीं। उक्त श्रुति में जो गौतम

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः। यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति। वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति। 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च। अत एवाध्ययनप्रतिषेधः। यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत? भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अत एव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति, 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च। येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं, ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम् ॥ ३८ ॥

—०—

(१० कम्पनाधिकरणम् । सू० ३९)

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

अवसितः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः। प्रकृतामेवेदानीं वाक्यार्थविचारणां प्रवर्तयिष्यामः। 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (का० २।६।२) इति। एतद्वाक्यं 'एजृ कम्पने' इति धात्वर्थानुगमाल्लक्षितम्। अस्मिन्वाक्ये सर्वमिदं जगत्प्राणाश्रयं स्पन्दते, महच्च किंचिद्भयकारणं वज्रशब्दितमुद्यतं, तद्विज्ञानाच्चामृतत्वप्राप्तिरिति श्रूयते। तत्र कोऽसौ प्राणः, किं तद्भयानकं वज्रमित्यप्रतिपत्तेर्विचारे क्रियमाणे प्राप्तं तावत्प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिर्वायुः प्राण इति। प्रसिद्धेरेव चाशनिर्वज्रं स्यात्। वायोश्चेदं माहात्म्यं संकीर्त्यते। कथम्?

भामती

निगदव्याख्यातेन भाष्येण व्याख्यातम्। अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ ३८ ॥

प्राणवज्रश्रुतिबलाद्वाक्यं प्रकरणं च भङ्क्त्वा वायुः पञ्चवृत्तिराध्यात्मिको बाह्यश्चात्र प्रतिपाद्यः।

भामती—व्याख्या

ने सत्यकाम से कहा है कि "न सत्यादगाः", उसका अर्थ है—हे सत्यकाम! तू ने सत्य का अतिक्रमण नहीं किया ॥ ३७ ॥

इस अड़तीसवें सूत्र में विशेषतः स्मृति-वाक्यों के द्वारा शूद्र के श्रवण, अध्ययन, वेदार्थ-ज्ञान एवं वेदार्थानुष्ठान का निषेध दिखाया गया है, जो कि अत्यन्त स्पष्ट और सुबोध है। शूद्र के लिए कहा गया है कि "पद्युः ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रः"। अर्थात् शूद्र एक पद्युः (पाब-युक्त या चलता-फिरता) श्मशान है ॥ ३८ ॥

विषय—"यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्, महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (कठो० २।६।२)। इस वाक्य में जगत् को कम्पायमान करनेवाला प्राण विचारणीय है।

संशय—उक्त प्राण वज्र है? या वायु? अथवा ईश्वर?

पूर्वपक्ष—'श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या'—इन छः प्रमाणों में

सर्वमिदं जगत्पञ्चवृत्तौ वायौ प्राणशब्दिते प्रतिष्ठायैजति। वायुनिमित्तमेव च महद्भयानकं वज्रमुद्यम्यते, वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्नुवृष्ट्यशनयो विवर्तन्त इत्याचक्षते। वायुविज्ञानादेव चेदममृतत्वम्। तथा हि श्रुत्यन्तरम्—'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' इति। तस्माद्वायुरयमिह प्रतिपत्तव्य इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम्। कुतः? पूर्वोत्तरालोचनात्।

भामती

तथाहि—प्राणशब्दो मुख्यो वायावाध्यात्मिके, वज्रशब्दश्चाशनौ। अशनिश्च वायुपरिणामः। वायुरेव हि बाह्यो धूमज्योतिःसलिलसंवलितः पर्जन्यभावेन परिणतो विद्युत् स्तनयित्नुवृष्ट्यशनिभावेन विवर्त्तते। यद्यपि च सर्वं जगदिति सवायुकं प्रतीयते, तथापि सर्वशब्द आपेक्षिकोऽपि न स्वाभिधेयं जहाति किन्तु सङ्कुचितवृत्तिर्भवति। प्राणवज्रशब्दौ तु ब्रह्मविषयत्वे स्वार्थमेव त्यजतः। तस्मात् स्वार्थत्यागाद्वरं वृत्तिसङ्कोचः, स्वार्थलेशावस्थानात्। अमृतशब्दोऽपि मरणाभाववचनो न सार्वकालिकं तदभावं ब्रूते, ज्योक्जीवितयापि तदुपपत्तेः। यथा अमृता देवा इति। तस्मात् प्राणवज्रश्रुत्यनुरोधाद्वायुरेवात्र विवक्षितो न ब्रह्मेति प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते उच्यते—*कम्पनात्* सवायुकस्य जगतः कम्पनात्, परमात्मैव शब्दात् प्रमित इति मण्डूकप्लुत्यानुषज्यते। ब्रह्मणो हि बिभ्यदेतज्जगत् कृत्स्नं स्वव्यापारे नियमेन प्रवर्त्तते न तु मर्यादामतिवर्त्तते। एतदुक्तं भवति—न श्रुतिसङ्कोचमात्रं श्रुत्यर्थपरित्यागे हेतुरपि तु पूर्वापरवाक्यैकवाक्यताप्रकर-

भामती-व्याख्या

श्रुति प्रमाण सबसे प्रबल माना जाता है, अतः 'प्राण' और 'वज्र'—ये दोनों शब्द श्रुति प्रमाण होने के कारण वाक्य और प्रकरण के बाधक हैं। फलतः यहाँ 'कम्पन' शब्द के द्वारा पञ्चवृत्त्यात्मक प्राण अथवा बाह्य वायु का अभिधान करना उचित है, क्योंकि 'प्राण' शब्द आध्यात्मिक (शरीरान्तर्वर्ती) वायु को मुख्यरूप से कहता है। 'वज्र' शब्द भी अशनि का वाचक है और अशनि वायु का परिणाम है, क्योंकि बाह्य वायु ही धूम, ज्योति और जल से संवलित होकर वर्षा के रूप में परिणत होकर विद्युत्, मेघ, वृष्टि और अशनि के रूप में विवर्तित हो जाती है। यद्यपि 'सर्व जगत्' शब्द के द्वारा वायु-सहित संसार प्रतीत होता है, तथापि 'सर्व' शब्द अपने अभिधेयार्थ का सर्वथा त्याग न करके संकुचित अर्थ का बोधक हो जाता है। 'प्राण' और 'वज्र' शब्द यदि ब्रह्मपरक माने जाते हैं, तब स्वार्थ का सर्वथा त्याग कर डालते हैं। सर्वथा स्वार्थ-त्याग से तो संकुचित अर्थ का बोधन ही अच्छा है, क्योंकि संकुचित अर्थ में स्वार्थ का कुछ भाग अवस्थित ही रहता है। 'अमृत' शब्द भी मरणाभाव का वाचक है किन्तु मरण के सार्वकालिक अभाव को नहीं कहता, कादाचित्क जीवन में भी उसकी उपपत्ति हो जाती है, जैसे कि देवगणों को अमर कहा जाता है, वे सदा अमर नहीं, केवल चिरजीवी होने के कारण ही अमर कह दिए जाते हैं। इस प्रकार 'प्राण' और 'वज्र' इन शब्दों के अनुरोध पर वायु ही उक्त श्रुति में विवक्षित है, ब्रह्म नहीं।

सिद्धान्त—'कम्पनात्' सूत्र के द्वारा वायु-सहित समस्त जगत् का कम्पन विवक्षित है। समस्त जगत् को कँपानेवाला तो परमात्मा ही है। 'कम्पनात्'—यह हेतुवाक्य है, इसका अन्वय इसी पाद के "शब्दादेव प्रमितः"—इस चौबीसवें सूत्र के साथ वैसे ही होता है, जैसे कि एक मेंढक लम्बी छलाँग भर कर अपने दूर बैठे साथी से जा मिलता है। ["इको गुणवृद्धी" (पा. सू. १।१।३) इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है—"यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति, तद्वदधिकारः"। शब्द जड़ होने पर भी आकांक्षा के आधार पर व्यवहितान्वयी हो जाता है, जैसा कि प्रदीपकार ने कहा है—"वृद्धिशब्दस्येहाकांक्षावशादुप-

पूर्वोत्तरयोर्हि ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे। इहैव कथमकस्मादन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि ? पूर्वत्र तावत् 'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' (का० २।६।१) इति ब्रह्म निर्दिष्टं, तदेवेहापि, संनिधानात्, जगत्सर्वं प्राण एजतीति च लोकाश्रयत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते। प्राणशब्दोऽप्ययं परमात्मन्येव प्रयुक्तः, 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) इति दर्शनात्। एजयितृत्वमपीदं परमात्मन एवोपपद्यते न वायुमात्रस्य। तथा चोक्तम्—'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ' (का० २।५।५) इति। उत्तरत्रापि 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' (का० २।६।३) इति ब्रह्मैव निर्देक्ष्यते न वायुः। सवायुकस्य जगतो भयहेतुत्वाभिधानात्। तदेवेहापि सन्निधानात् 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' इति च भयहेतुत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते। वज्रशब्दोऽप्ययं भयहेतुत्वसामान्यात्प्रयुक्तः। यथा हि वज्रमुद्यतं ममैव शिरसि निपतेद्यद्यहमस्य शासनं न कुर्यामित्यनेन भयेन जनो नियमेन राजादिशासने प्रवर्तत एवमिदमग्निवायुसूर्यादिकं जगदस्मादेव ब्रह्मणो बिभ्यन्नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तत इति भयानकं वज्रोपमितं ब्रह्म। तथा च ब्रह्मविषयं श्रुत्यन्तरम्—'भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः' (तै० ८।१) इति। अमृतत्वफलश्रवणादपि ब्रह्मैवेदमिति गम्यते। ब्रह्मज्ञानाद्ध्यमृतत्वप्राप्तिः। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।१५) इति मन्त्रवर्णात्। यत्तु वायुविज्ञानात्क्वचिदमृतत्वमभिहितं, तदापेक्षिकम्। तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन

भामती

णाभ्यां संवलितः श्रुतिसङ्कोचः। तदिदमुक्तं ® पूर्वापरयोर्ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे, इहैव कथमन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि इति®। तदनेन वाक्यैकवाक्यता दर्शिता। ®प्रकरणादपीति® भाष्येण प्रकरणमुक्तम्। यत् खलु पृष्टं तदेव प्रधानं प्रतिवक्तव्यमिति तस्य प्रकरणम्। पृष्टादन्यस्मिंस्तूच्यमाने शास्त्रमप्रमाणं भवेदसम्बद्धप्रलापित्वात्। ®यत्तु वायुविज्ञानात् क्वचिदमृतत्वमभिहितमापेक्षिकं तदिति®। अपपुनर्मृत्युं जयतीति श्रुत्या ह्यपमृत्योर्विजय उक्तो न तु परममृत्युविजय इत्यापेक्षिकत्वं

भामती—व्याख्या

स्थानम्"। हेतु वाक्य को प्रतिज्ञा वाक्य की आकांक्षा होती है, प्रतिज्ञा-वाक्य यदि दूर हो, तब मण्डूकप्लुति-न्याय से हेतु वाक्य उसके साथ जुड़ता है]। इस प्रकार 'शब्दादेव प्रमितः (परमात्मा), कम्पनात्' ऐसा पूरा वाक्य सम्पन्न हो जाता है। ब्रह्म के भय से नियन्त्रित होकर यह जगत् अपने व्यापार में नियमतः प्रवृत्त होता है और अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता। आशय यह है कि केवल श्रुति का संकोच श्रुत्यर्थ के परित्याग का नियामक नहीं, अपितु पूर्वापर की एकवाक्यता और प्रकरण—इन दो प्रमाणों से संवलित श्रुति-सङ्कोच, भाष्यकार ने यही कहा है—"पूर्वापरयोर्ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे, इहैव कथमन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि"। इतने भाष्य के द्वारा वाक्यैकवाक्यता प्रदर्शित की गई है। "प्रकरणादपि"—इस भाष्य से प्रकरण दिखाया है, क्योंकि जो पदार्थ पूछा जाता है, वही प्रधानतया प्रतिपाद्य होता है—यही प्रकरण का स्वरूप है। जिज्ञासित पदार्थ से भिन्न अर्थ का अभिधान करने पर शास्त्र असम्बद्धाभिधायी होने के कारण अप्रमाण हो जायगा। 'यत्तु वायु-विज्ञानात् क्वचिदमृतत्वमभिहितम्, तदापेक्षिकम्।" अर्थात् "वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद"—इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जो वायु के

परमात्मानमभिधाय 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४) इति वाय्वादेरार्तत्वाभिधानात् ।
प्रकरणादन्यत्र परमात्मनिश्चयः, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' (का० १।२।१४) इति परमात्मनः
पृथक्त्वात् ॥ ३९ ॥

(११ ज्योतिरधिकरणम् । सू० ४०)

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभि-
निष्पद्यते' (छा० ८।१२।३) इति श्रूयते । तत्र संशय्यते—किं ज्योतिःशब्दं चक्षुर्विषय-
तमोऽपहं तेजः, किंवा परं ब्रह्मेति । किं तावत्प्राप्तम् ? प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्द-
मिति । कुतः ? तत्र ज्योतिःशब्दस्य रूढत्वात् । 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (ब्र० सू०
१।१।२४) इत्यत्र हि प्रकरणाज्ज्योतिःशब्दः स्वार्थं परित्यज्य ब्रह्मणि वर्तते । न चेह
तद्वत्किंचित्स्वार्थपरित्यागे कारणं दृश्यते । तथा च नाडीखण्डे—'अथ यत्रैतदस्माच्छ-

भामती

तच्च तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन हेतुना । न केवलमपमृत्युत्या तदापेक्षिकमपि तु परमात्मानमभिधायातोऽन्य-
दार्तमिति वाय्वादेरार्तत्वाभिधानात् । नह्यार्तोऽभ्यासादनार्तो भवतीति भावः ॥ ३९ ॥

अत्र हि ज्योतिःशब्दस्य तेजसि मुख्यत्वाद् ब्रह्मणि जघन्यत्वात् प्रकरणाच्च श्रुतेर्बलीयस्त्वात्
पूर्ववच्छ्रुतिसङ्कोचस्य चात्राभावात् , प्रत्युत ब्रह्मज्योतिःपक्षे क्त्वाश्रुतेः पूर्वकालार्थायाः पीडनप्रसङ्गात् ।
समुत्थानश्रुतेश्च तेज एव ज्योतिः । तथाहि—समुत्थानमुद्गमनमुच्यते, न तु विवेकविज्ञानम् । उद्गमनञ्च

भामती-व्याख्या

विज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति बताई है, वह अमृतत्व आपेक्षिक [मनुष्य-लोक की अपेक्षा
वायु-लोक का चिरस्थायित्व मात्र] है, वायु-विज्ञान से केवल अपमृत्यु पर विजय-प्राप्ति का
उल्लेख है, परम मृत्यु पर विजय नहीं, क्योंकि वहीं पर प्रकरणान्तररूप करण (हेतु) के द्वारा
परमात्मा का अभिधान करके वाय्वादि के आर्तत्व (मृतत्व या नश्वरत्व) का अभिधान
किया गया है—"अतोऽन्यदार्तम्" (बृह. उ. ३।४) । ऐसा कभी सम्भव नहीं कि आर्त (मृत)
पदार्थ उपास्यमान (अभ्यस्यमान) होकर अमृत बन जाय ॥ ३९ ॥

विषय—"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणा-
भिनिष्पद्यते" (छां. ८।१२।३) यहाँ ज्योतिःशब्द विचारणीय है ।

संशय—उक्त श्रुति-वाक्य में 'ज्योतिः' पद के द्वारा भौतिक तेज विवक्षित है ? अथवा
पर ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—जोतिःशब्द भौतिक तेज में रूढ या मुख्य और ब्रह्म में गौण माना जाता
है, अतः निरपेक्ष शब्दरूप श्रुति प्रमाण से भौतिक तेज और प्रकरण प्रमाण से ब्रह्म विवक्षित
प्रतीत होता है । प्रकरण प्रमाण से श्रुति-प्रमाण प्रबल होता है, अतः पूर्वाधिकरण के समान
यहाँ श्रुति का संकोच सम्भव नहीं, प्रत्युत ब्रह्मरूप ज्योति का ग्रहण करने पर 'उपसम्पद्य'—
यहाँ पूर्वकालार्थक 'क्त्वा' प्रत्यय बाधित हो जाता है, क्योंकि ब्रह्म ज्योति की प्राप्ति के
अनन्तर अन्य कोई क्रिया होती ही नहीं, किन्तु आदित्यादि ज्योति (अर्चिरादि मार्ग) के
द्वारा ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति के अनन्तर मुक्ति का लाभ होता है ।

रीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता। तस्मात्प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्। कस्मात्? दर्शनात्। तस्य हीह प्रकरणे वक्तव्यत्वेनानुवृत्तिर्दृश्यते, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकस्यात्मनः प्रकरणादावन्वेष्टव्यत्वेन विजिज्ञासितव्यत्वेन च प्रतिज्ञानात्। 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) चानुसंधानात्। 'अशरीरं

भामती

तेजःपक्षेऽर्चिरादिमार्गेणोपपद्यते। आदित्यश्चार्चिराद्यपेक्षया परं ज्योतिर्भवतीति। तदुपसम्पद्य तस्य समीपे भूत्वा स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, कार्यब्रह्मलोकप्राप्तौ क्रमेण मुच्यते। ब्रह्मज्योतिःपक्षे तु ब्रह्म भूत्वा का परा स्वरूपनिष्पत्तिः? न च देहादिविविक्तब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारो वृत्तिरूपोऽभिनिष्पत्तिः। सा हि ब्रह्मभूयात् प्राचीना न तु पराचीना। सेयमुपसम्पद्येति क्त्वाश्रुतेः पीडा। तस्मात्तिसृभिः श्रुतिभिः प्रकरणबाधनात्तेज एवात्र ज्योतिरिति प्राप्तम्। एवं प्राप्तेऽभिधीयते—®परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्। कस्मात्? दर्शनात्। तस्य हीह प्रकरणे अनुवृत्तिर्दृश्यते ®। यत् खलु प्रतिज्ञायते यच्च मध्ये परामृश्यते यच्चोपसंह्रियते स एव प्रधानं प्रकरणार्थः। तदन्तःपातिनस्तु सर्वे तदनुगुणतया नेतव्याः। न तु श्रुत्यनुरोधमात्रेण प्रकरणादपकष्टव्य इति हि लोकस्थितिः। अन्यथोपांशुयाजवाक्ये जामितादोषोपक्रमे तत्प्रतिसमाधानोपसंहारे च तदन्तःपातिनो विष्णुरुपांशु यष्टव्य इत्यादयो विधिश्रुत्यनुरोधेन पृथग् विधयः प्रसज्येरन्।

भामती-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि उक्त श्रुति में जो समुत्थान कहा गया है कि 'अस्मात् शरीरात् समुत्थाय', वह समुत्थान 'ज्योति' पद के द्वारा तेज का ग्रहण करने पर ही उपपन्न हो सकता है, क्योंकि वहाँ समुत्थान का अर्थ उद्गमन ही है, विवेक-विज्ञान नहीं। अर्चिरादि की अपेक्षा आदित्य को परं ज्योति कहा जाता है, अतः जीव का सूक्ष्म शरीर इस स्थूल शरीर का त्याग कर आदित्य की उपसम्पत्ति प्राप्त करता है, उसके पश्चात् स्वरूपाभिनिष्पत्ति (ब्रह्मरूपतापत्ति) होती है। किन्तु 'ज्योति' शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करने पर तत्त्वज्ञानी का शरीर से समुत्थान न हो सकेगा, जैसा कि श्रुति कहती है—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" (बृह. उ. ४।४।६)। इसी प्रकार "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते"—यह ज्योति, रुपसम्पत्ति और स्वरूपाभिनिष्पत्ति का पौर्वापर्यभाव भी संगत नहीं रह जाता, क्योंकि ब्रह्मरूप ज्योति की उपसम्पत्ति भी स्वरूपाभिनिष्पत्ति ही है, अतः 'स्वरूपमभिनिष्पद्य स्वरूपमभिनिष्पद्यते'—ऐसा व्यवहार संगत क्योंकर होगा? देहादि से विविक्त ब्रह्मस्वरूप के वृत्यात्मक साक्षात्कार को अभिनिष्पत्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह ब्रह्मरूपतापत्तिरूप मुक्ति के पूर्व क्षण में होती है, पश्चात् नहीं। फलतः (१) ज्योतिः शब्द, (२) क्त्वा प्रत्यय और (३) समुत्थान शब्द—इन तीन श्रुति प्रमाणों (रूढ शब्दों) के द्वारा प्रकरण प्रमाण का बाध करके भौतिक तेज ही ज्योति पद का अर्थ सिद्ध होता है।

सिद्धान्त—"परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्" अर्थात् परम ब्रह्म ही ज्योतिः शब्द के द्वारा विवक्षित है, क्योंकि इस प्रकरण में उसी की अनुवृत्ति का दर्शन होता है। जो प्रतिज्ञा या प्रकरण के उपक्रम में चर्चित, मध्य में परामृष्ट और उपसंहार में वर्णित होता है, वही प्रकरण का मुख्यार्थ माना जाता है और प्रकरण-पाती अन्य सभी पदार्थ उसी प्रधान के अनुसारी या अङ्ग माने जाते हैं, केवल श्रुति के अनुरोध पर प्रकरण से पृथक् नहीं किए जाते—ऐसी लोकमर्यादा है। अन्यथा उपांशुयाज के प्रकरण में पठित "विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय"—इन तीन वाक्यों

वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१) इति चाशरीरतायै ज्योतिःसम्पत्तेरस्याभिधानात्, ब्रह्मभावाच्चान्यत्राशरीरतानुपपत्तेः, 'परं ज्योतिः', 'स उत्तमः

भामती

तत् किमिदानीं तिस्रः साह्नस्योपसदः कार्या द्वादशाहीनस्येति प्रकरणानुरोधात् समुदायप्रसिद्धिबललब्ध-महर्गणाभिधानं परित्यज्याहीनशब्दः कथमप्यवयवव्युत्पत्त्या साह्नं ज्योतिष्टोममभिधाय तत्रैव द्वादशोपसत्ता विधत्ताम् ? स हि कृत्स्नविधानान्न कुतश्चिदपि हीयते क्रतोरित्यहीनः शक्यो वक्तुम् । नैवम्, अवयव-प्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसीति श्रुत्या प्रकरणबाधनान्न द्वादशोपसत्तामहीनगुणयुक्ते ज्योतिष्टोमे

भामती–व्याख्या

के द्वारा प्रतिपादित तीनों कर्म उपांशुयाज से भिन्न मानने पड़ेंगे। [जैमिनि-दर्शनस्य द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद का चौथा अधिकरण है—उपांशुयाजाधिकरण। शबरस्वामी ने विषय-वाक्य की आनुपूर्वी दिखाई है—"जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशावुपांशुयाज-मन्तरा यजति। विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषो-मावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय"। तैत्तिरीयसंहिता में यजति तक वाक्य मिलता है, विष्णुरुपांशु यष्टव्यः" इत्यादि इस समय उपलब्ध नहीं। तथापि अजामित्वाय-पर्यन्त एकवाक्यता मान कर प्रायः सभी आचार्यों ने यही विचार प्रस्तुत किया है कि उपक्रम और उपसंहारादि में समनुगत पदार्थ को यदि मुख्यार्थ मान कर प्रकरणस्थ अन्यान्य पदार्थों को उसका अङ्ग नहीं माना जाता, तब उपांशुयाज-प्रकरण के उपक्रम (आरम्भ) में जो जामिता (आलस्य या उबा देना) दोष उठा कर उपसंहार में अजामित्वाय कह कर उसकी निवृत्ति बताई गई। उससे ऐसी एकवाक्यता पर्यवसित हो जाती है कि मध्यपाती उक्त तीनों वाक्य स्वतन्त्र कर्म के विधायक न होकर उपांशुयाज के अन्तरा-विधान की प्रशंसामात्र करते माने गए हैं]।

शङ्का—यदि एकवाक्यतापन्न प्रकरण का भङ्ग या बाध किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता, तब ज्योतिष्टोमनामक एकाह कर्म के प्रकरण में जो कहा गया है कि "तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य" (तै. सं. ६।२।५।१)। उपसत् होमविशेष की संज्ञा है। 'ज्योतिष्टोमादि एकाह कर्म में तीन ही उपसत् किए जाएँ और अहीन कर्म में 'द्वादश' [जिस सोमयाग में एक ही दिन सोम का अभिषव किया जाता है, उसे एकाह या साह्न कहते हैं और जिसमें कई दिन सोमरस का अभिषव होता है, वह अहीन या अहर्गण कहलाता है। एकाह और अहीन शब्द अपने अपने उक्त अर्थों में रूढ़ माने जाते हैं]। यह प्रकरण ज्योति-ष्टोमरूप एकाह क्रतु का है, अतः इसके प्रकरण में पठित द्वादश उपसत् भी इसी कर्म में करने पड़ेंगे और 'अहीन' शब्द की अवयवार्थ को लेकर ज्योतिष्टोम-वाचकता भी मानी जा सकती है, जैसा कि शबरस्वामी ने कहा है—"अहीनशब्देन ज्योतिष्टोमं वक्ष्यामः, कुतः ? न हीयते इत्यहीनः। दक्षिणया क्रतुकरणैर्वा फलेन वा न हीयते, तेन ज्योतिष्टोमोऽहीनः" (शाबर. पृ. ८६३)।

समाधान—अवयवार्थ की अपेक्षा रूढार्थ प्रबल माना जाता है। यद्यपि प्रकरण प्रमाण से द्वादश उपसत् ज्योतिष्टोम में प्राप्त हैं, तथापि 'अहीन' शब्दरूप श्रुति प्रमाण के द्वारा प्रकरण का बाध हो जाता है, अतः उक्त वाक्य ज्योतिष्टोम में द्वादश उपसत् का विधान नहीं कर सकता। इस प्रकरण से विच्छिन्न कर देने पर भी उक्त वाक्य अहीन या अहर्गण कर्मों में भी द्वादश उपसत् का विधान नहीं कर सकता, क्योंकि अन्य प्रकरण में पठित वाक्य के द्वारा अन्य कर्म में अङ्गों का विधान न्यायोचित नहीं माना जाता। परिशेषतः 'तिस्र उपसदः कार्याः'—इस विधि की स्तुति में ही "द्वादशाहीनस्य"—इस वाक्य का तात्पर्य

भामती

शक्नोति विधातुम् । नाप्यतोऽपकृष्टः सन्नहर्गणस्य विधत्ते परप्रकरणेऽन्यधर्मविधेरन्याय्यत्वात् । असम्बद्धपदव्यवायविच्छिन्नस्य प्रकरणस्य पुनरनुसन्धानक्लेशात् । तेनानपकृष्टेनैव द्वादशाहीनस्येति वाक्येन साह्नस्य तिस्र उपसदः कार्या इति विधिं स्तोतुं द्वादशाहविहिता द्वादशोपसत्ता तत्प्रकृतित्वेन च सर्वाहीनेषु प्राप्ता निवीतादिवदनूद्यते । तस्मादहीनश्रुत्या प्रकरणबाधेऽपि न द्वादशाहीनस्येति वाक्यस्य प्रकरणादपकर्षो ज्योतिष्टोमप्रकरणाम्नातस्य । पूषाद्यनुमन्त्रणमन्त्रस्य पशुलिङ्गबलात् प्रकरणबाधेनापकर्षः स्तवगत्या, पौष्णादौ च कर्मणि तस्यार्थवत्त्वादिह त्वपकृष्टस्यार्चिरादिमार्गोपदेशे फलस्योपायमार्गप्रतिपादकेऽतिविशदे एष सम्प्रसाद इति वाक्यस्याविशदैकदेशमात्रप्रतिपादकस्य निष्प्रयोजनत्वात् । न च द्वादशाहीनस्येतिवद्योन्कात्मध्यानसाधनानुष्ठानं स्तोतुमेष सम्प्रसाद इति वचनमर्चिरादिमार्गमनुवदतीति युक्तम् , स्तुतिलक्षणायां स्वाभिधेयसंसर्गतात्पर्यपरित्यागप्रसङ्गात् । द्वादशाहीनस्येति तु वाक्ये स्वार्थसंसर्गतात्पर्ये प्रकरणविच्छेदस्य प्राप्तानुवादमात्रस्य चाप्रयोजनत्वमिति स्तुत्यर्थो लभ्यते । न चैतद्दोषभयात्समुदायप्रसिद्धिमुल्लङ्घ्यावयवप्रसिद्धिमुपाश्रित्य साह्नस्यैव द्वादशोपसत्तां विधातुमर्हति, त्रित्वद्वादशत्वयोर्विकल्पप्रसङ्गात् । न च सत्यां गतौ विकल्पो न्याय्यः । साह्नाहीनपदयोश्च प्रकृतज्योतिष्टोमाभिधायिनोरानर्थक्यप्रसङ्गात् । प्रकरणादेव तदवगतेः । इह तु स्वार्थसंसर्गतात्पर्ये नोक्तदोषप्रसङ्ग इति पौर्वापर्यपर्यालोचनया

भामती-व्याख्या

पर्यवसित होता है। द्वादशाहरूप अहीन कर्म में द्वादश उपसत् का विधान किया गया है, सभी अहीन कर्मों की द्वादशाह कर्म प्रकृति है, अतः उसके विकृतिभूत सभी अहीन कर्मों में द्वादश उपसत् 'प्रकृतिवद् विकृतिः कार्या'—इस अतिदेश वाक्य से ही प्राप्त हो जाते हैं, इस लिए भी ज्योतिष्टोम-प्रकरण-पठित वाक्य के द्वारा द्वादश उपसदों का विधान वहाँ अपेक्षित ही नहीं, अतः इसका प्रकरण से अपकर्ष (विच्छेद) भी अनावश्यक है। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित पूषानुमन्त्रण मन्त्रों का उत्कर्ष जो लिङ्ग प्रमाण से प्रकरण का बाध करके किया जाता है, वह अगतिक-गति है. पूषदेवताक कर्मों में उसकी आवश्यकता और सार्थकता भी है। "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय"—इस वाक्य का यहाँ से विच्छेद करके अर्चिरादि मार्ग-प्रतिपादक प्रकरण में उन्नयन सम्भव नहीं, क्योंकि अर्चिरादि का "तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति"—इत्यादि उपदेश जैसा विशद (स्पष्ट) है, वैसा "एष सम्प्रसादः"—यह नहीं, क्योंकि यहाँ तो उस मार्ग के तेजोरूप एकदेश का ही ग्रहण किया गया है, जिसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं।

जैसे "द्वादशाहीनस्य"—यह वाक्य तीन उपसदों के विधान की स्तुति है, वैसे ही आत्मध्यान-भावना की स्तुति करने के लिए "एष सम्प्रसादः" इसका उपयोग भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि वैसा करने पर इस वाक्य को अपने स्वार्थ का सर्वथा त्याग करना पड़ेगा। "द्वादशाहीनस्य"—इस वाक्य का अन्यत्र उन्नयन करने पर द्वादशाह-पठित वाक्य के द्वारा विहित द्वादशोपसत्ता का अनुवादमात्र करना होगा, जो कि निष्प्रयोजन और निरर्थक मात्र है, अतः उसमें स्तुतिपरता अगत्या मानी जाती है। ज्योतिष्टोमगत उपसद् होमों में ही त्रित्व और द्वादशत्व—दोनों का विधान करने पर विकल्प प्राप्त होता है, जो कि मार्गान्तर के सम्भव होने पर उचित नहीं माना जाता। फिर भी त्रित्व और द्वादशत्व—दोनों का विधान करने पर ज्योतिष्टोम के वाचक 'साह्न' और 'अहीन'—दोनों पद निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि केवल प्रकरण के बल पर भी दोनों धर्म प्राप्त हो जाते हैं किन्तु प्रकृत में 'ज्योतिः' पद का ब्रह्मज्योति में तात्पर्य मान लेने पर आनर्थक्य प्रसक्त नहीं होता, पौर्वापर्य की विचारणा से सहकृत प्रकरण प्रमाण के द्वारा पूर्वकालतारूप अर्थ में रूढ़ 'क्त्वा' प्रत्यय का परित्याग करके ब्रह्मज्योति ही ज्योतिपदास्पद निर्णीत होती है।

पुरुषः' (छा० ८।१२।३) इति च विशेषणात् । यत्तूक्तं मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहितेति । नासावात्यन्तिको मोक्षो गत्युत्क्रान्तिसंबन्धात् । न ह्यात्यन्तिके मोक्षे गत्युत्क्रान्ती स्त इति वक्ष्यामः ॥ ४० ॥

—·※·—

(१२ अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरणम् । सू० ४१)

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८।१४।१) इति श्रूयते । तत्किमाकाशशब्दं परं ब्रह्म, किंवा प्रसिद्धमेव भूताका-

---

भामिती

प्रकरणानुरोधाद्रूढिमपि पूर्वकालतामपि परित्यज्य प्रकरणानुगुण्येन ज्योतिः परं ब्रह्म प्रतीयते । यत् तूक्तं मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहितेति, नासावात्यन्तिको मोक्षः, किन्तु कार्यब्रह्मलोकप्राप्तिः । न च क्रममुक्त्य-भिप्रायं स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति वचनं, नह्येतत् प्रकरणोक्तब्रह्मतत्त्वविदुषो गत्युत्क्रान्ती स्तः । तथा च श्रुतिः—'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते' इति । न च तद्द्वारेण क्रममुक्तिः । अचिरा-दिमार्गस्य हि कार्यब्रह्मलोकप्रापकत्वं न तु ब्रह्मभूयहेतुभावः, जीवस्य तु निरुपाधिनित्यशुद्धबुद्धब्रह्मभाव-साक्षात्कारहेतुके मोक्षे कृतमर्चिरादिमार्गेण कार्यब्रह्मलोकप्राप्त्या ? अत्रापि ब्रह्मविदस्तदुपपत्तेः । तस्मान्न ज्योतिरादित्यमुपसम्पद्य सम्प्रसादस्य जीवस्य स्वेन रूपेण पारमार्थिकेन ब्रह्मणाऽभिनिष्पत्तिराञ्जसीति श्रुतेरत्रापि क्लेशः । अपि च परं ज्योतिः स उत्तमः पुरुष इतीहैवोपरिष्टाद्विशेषणात्तेजसो व्यावर्त्यं तुरुष-विषयत्वेनावस्थापनाज्ज्योतिष्पदस्य परमेव ब्रह्म ज्योतिः न तु तेज इति सिद्धम् ॥ ४० ॥

—०—
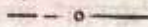
भामती-व्याख्या

भाष्य में जो कहा गया है कि "अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रामति, अथैतैरेव रश्मिभि-रूर्ध्वमाक्रमते" (छां. ८।६।५) इति मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता"। वह अत्यन्तिक मोक्ष नहीं, अपितु हिरण्यगर्भ-लोक-प्राप्तिमात्र है। प्रकृत वाक्य का अभिप्राय क्रम-मुक्ति में नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'—इस वाक्य का स्वारस्य क्रम-मुक्ति में सम्भव नहीं। प्राकरणिक ब्रह्मतत्त्व के वेत्ता पुरुष की न शरीर से उत्क्रान्ति होती है और न लोकान्तर में गति, क्योंकि श्रुति स्पष्ट कहती है—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनी-यन्ते" (बृह. उ. ४।४।६)। अर्चिरादि मार्ग के द्वारा क्रम-मुक्ति होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अर्चिरादि मार्ग केवल हिरण्यगर्भ के लोक का ही प्रापक होता है, ब्रह्मरूपतापत्ति का जनक नहीं होता। जीव को तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर अर्चिरादि मार्ग से कार्य ब्रह्म-लोक-प्राप्ति की क्या आवश्यकता ? ब्रह्म-साक्षात्कार से ही परम मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। कार्य ब्रह्म के लोक में भी ब्रह्मवेत्ता ही मुक्त होता है। फलतः 'आदित्यरूप ज्योति को प्राप्त होकर यह सम्प्रसाद (जीव) ब्रह्मरूपेण अभिनिष्पन्न होता है'—ऐसा मानना समुचित नहीं, क्योंकि वहाँ भी श्रुति की अनुपपन्नता बनी ही है। दूसरी बात यह भी है कि 'परं ज्योतिः', 'स उत्तमः पुरुषः'—ऐसे विशेषणों के द्वारा भौतिक ज्योति की व्यावृत्ति करके ब्रह्म ज्योति का ही निरूपण आगे किया जा रहा है, अतः यहाँ पर ब्रह्म ही विवक्षित ज्योति है, भौतिक तेज नहीं ॥ ४० ॥

—·—

विषय—"आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निवहिता, ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" (छां. ८।१४।१) इस श्रुति में 'आकाश' शब्द विचारणीय है।

शमिति विचारे भूतपरिग्रहो युक्तः, आकाशशब्दस्य तस्मिन्रूढत्वात्, नामरूपनिर्वहणस्य चावकाशदानद्वारेण तस्मिन्योजयितुं शक्यत्वात्, स्रष्टृत्वादेश्च स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्याश्रवणादिति। एवं प्राप्त इदमुच्यते—परमेव ब्रह्मेहाकाशशब्दं भवितुमर्हति। कस्मात्? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्। 'ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' इति हि नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतमाकाशं व्यपदिशति। न च ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तरं संभवति, सर्वस्य विकारजातस्य नामरूपाभ्यामेव व्याकृतत्वात्। नामरूपयोरपि निर्वहणं निरङ्कुशं न ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति, 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-

भामती

यद्यप्याकाशस्तल्लिङ्गादित्यत्र ब्रह्मलिङ्गदर्शनादाकाशः परमात्मेति व्युत्पादितं, तथापि तद्वत्र परमात्मलिङ्गदर्शनाभावान्नामरूपनिर्वहणस्य भूताकाशेऽप्यवकाशदानेनोपपत्तेरकस्माच्च रूढिपरित्यागस्यायोगात्। नामरूपे अन्तरा ब्रह्मेति च नाकाशस्य नामरूपयोर्निर्वहितुरन्तरालत्वमाहापि तु ब्रह्मणस्तेन भूताकाशो नामरूपयोर्निर्वहिता। ब्रह्म चैतयोरन्तरालं मध्यं सारमिति यावत्। न तु निर्वोढैव ब्रह्म अन्तरालं वा निर्वोढृ। तस्मात्प्रसिद्धेर्भूताकाशमेवाकाशो न तु ब्रह्मेति प्राप्तम्। एवं प्राप्त उच्यते—®परमेवाकाशं ब्रह्म कस्मात्? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ®। नामरूपमात्रनिर्वाहकमिहाकाशमुच्यते। भूताकाशश्च विकारत्वेन नामरूपान्तःपाति सत् कथमात्मानमुद्वहेत्। न हि सुशिक्षितोऽपि विज्ञानी स्वेन स्कन्धेनात्मानं वोढुमुत्सहते। न च नामरूपश्रुतिरविशेषतः प्रवृत्ता भूताकाशवर्जं नामरूपान्तरे सङ्कोचयितुं सति सम्भवे युज्यते, न च निर्वाहकत्वं निरङ्कुशमवगतं ब्रह्म लिङ्गं कथञ्चित् क्लेशेन परतन्त्रे नेतुम-

भामती–व्याख्या

संशय—उक्त श्रुति में पठित 'आकाश' शब्द भूताकाश का बोधक है? अथवा ब्रह्म का?

पूर्वपक्ष—यद्यपि "आकाशस्तल्लिङ्गात्" (ब्र. सू. १।१।२२) इस सूत्र में यह निर्णय दे दिया गया है कि उक्त श्रुति में ब्रह्म के संकीर्तित लिङ्गों (धर्मों) के आधार पर 'आकाश' शब्द परमात्मा का बोधक है। तथापि यहाँ वैसा ब्रह्म-लिङ्ग-दर्शन न होने के कारण 'आकाश' शब्द ब्रह्म का गमक नहीं हो सकता। नाम और रूपात्मक प्रपञ्च का निर्वहण भूताकाश में भी सम्भव है, क्योंकि वह समस्त प्रपञ्च को रहने के लिए अवकाश प्रदान करता है। 'आकाश' पद भूताकाश में रूढ़ है, रूढि अर्थ का अकस्मात् (विना किसी कारण के) परित्याग उचित नहीं। 'नामरूप अन्तरा ब्रह्म'—इन शब्दों के द्वारा नाम-रूप के निर्वाहक आकाश की अन्तरालता विवक्षित नहीं, अपितु ब्रह्म की, अर्थात् नाम-रूप का निर्वहिता तो आकाश ही है, ब्रह्म नाम और रूप के अन्तराल (मध्य) में अवस्थित सारभूत वस्तु है। आकाशरूप निर्वोढा निर्वहिता ब्रह्म नहीं और अन्तरालभूत जो ब्रह्म है, वह नाम-रूप का निर्वहिता नहीं। अतः लोक-प्रसिद्धि और रूढि अर्थ के अनुसार 'आकाश' शब्द भूताकाश का ही बोधक है, ब्रह्म का नहीं।

सिद्धान्त—'आकाश' शब्द से यहाँ ब्रह्म ही विवक्षित है, क्योंकि "अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्" अर्थात् नामरूपात्मक समग्र प्रपञ्च की निर्वाहक वस्तु को 'आकाश' शब्द कहता है। भूताकाश तो स्वयं विकाररूप होने के कारण नाम-रूप का अन्तः पाती है, अतः वह अपना निर्वाहक क्योंकर होगा? कितना भी कुशल नट हो वह कभी अपने कन्धे पर अपने-आप को बिठा नहीं सकता। 'नामरूप' शब्द सामान्यतः समस्त 'प्रपंच का बोधक है, आकाशेतर प्रपञ्च में संकुचित नहीं किया जा सकता। जगत्-निर्वाहकत्व एक ऐसा धर्म है, जो ब्रह्म का ही लिङ्ग (धर्म) है, उसे खींच-खाँच कर भी पराश्रित आकाश में घटाना सम्भव नहीं।

वाणि' (छा० ६।३।२) इत्यादिब्रह्मकर्तृकत्वश्रवणात्। ननु जीवस्यापि प्रत्यक्षं नामरूपविषयं निर्वोढृत्वमस्ति। बाढमस्ति, अभेदस्त्विह विवक्षितः। नामरूपनिर्वहणाभिधानादेव च स्रष्टृत्वादि ब्रह्मलिङ्गमभिहितं भवति। 'तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८।१४) इति च ब्रह्मवादस्य लिङ्गानि। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १।१।२२) इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः ॥ ४१ ॥

(सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् । सू० ४२–४३)

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

व्यपदेशादित्यनुवर्तते। बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्रपञ्चः कृतः। तत्किं संसारिस्वरूपमात्रान्वाख्यानपरं वाक्यम्, उतासंसारिस्वरूप-

भामती

चितम्। अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति च तत्स्रष्टृत्वमतिस्पष्टं ब्रह्मरूपतया च जीवस्य व्याकर्तृत्वे ब्रह्मण एव व्याकर्तृत्वमुक्तम्। एवं च निर्वहितुरेवान्तरालतोपपत्तेरन्यो निर्वहिताऽन्यच्चान्तरालमित्यर्थभेदकल्पनापि न युक्ता। तथा च ते नामरूपे यदाकाशमन्तरेऽत्ययमर्थान्तरव्यपदेश उपपन्नो भवत्याकाशस्य। तस्मादर्थान्तरव्यपदेशात्तथा। तद् ब्रह्म तदमृतमिति व्यपदेशाद् ब्रह्मैवाकाशमिति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

आदिमध्यावसानेषु संसारिप्रतिपादनात्।
तत्परे ग्रन्थसन्दर्भे सर्वं तत्रैव योज्यते ॥

संसार्येव तावदात्माऽहङ्कारास्पदं प्राणादिपरीतः सर्वजनसिद्धः। तमेव च योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्वित्यादिश्रुतिसन्दर्भ आदिमध्यावसानेष्वामृशतीति तदनुवादपरो भवितुमर्हति। एवं च संसार्यात्मैव कञ्चिदपेक्ष्य महान्, संसारस्य चानादित्वेनानादित्वादज उच्यते, न तु तदतिरिक्तः कश्चिदत्र नित्य-

भामती—व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छां. ६।३।२) इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित नामरूपात्मक प्रपञ्च का स्रष्टृत्व ब्रह्म का ही लिङ्ग प्रतीत होता है, क्योंकि ब्रह्मरूप जीव में नाम-रूप का व्याकर्तृत्व कहा गया, वह वस्तुतः ब्रह्म में ही है। इस प्रकार नाम-रूप के निर्वाहक ब्रह्म में ही जब अन्तरालता सम्भव हो जाती है, तब निर्वाहक अन्य और अन्तराल अन्य हो—ऐसा मानना युक्ति-युक्त नहीं। इस प्रकार आत्मस्कन्धरूढता-न्याय भी प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि नाम-रूपात्मक प्रपञ्च का निर्वाहक जो ब्रह्माकाश है, वह उससे भिन्न है। अर्थान्तर-व्यपदेश के समान ही "तद् ब्रह्म तदमृतम्'—ऐसा व्यपदेश भी ब्रह्म का ही गमक है ॥ ४१ ॥

विषय—"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" (बृह. उ. ४।३।७) इस श्रुति का 'विज्ञानमय' शब्द विचारणीय है।

संशय—उक्त श्रुति में 'विज्ञानमय' शब्द जीव का बोधक है ? अथवा ब्रह्म का ?

पूर्वपक्ष—

आदिमध्यावसानेषु संसारिप्रतिपादनात्।
तत्परे ग्रन्थसन्दर्भे सर्वं तत्रैव योज्यते ॥

प्रतिपादनपरमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तम्? संसारिस्वरूपमात्रविषयमेवेति । कुतः? उपक्रमोपसंहाराभ्याम् । उपक्रमे 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शारीरलिङ्गात् । उपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति तदपरित्यागात्, मध्येऽपि बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेन तस्यैव प्रपञ्चनादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः, - परमेश्वरोपदेशपरमेवेदं वाक्यं न शारीरमात्रान्वाख्यानपरम् । कस्मात्? सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद्भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात् सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इति शारीराद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति । तत्र पुरुषः शारीरः स्यात्तस्य वेदितृत्वात् ।

भामती

शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः प्रतिपाद्यः । यत्तु सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्त इति भेदं मन्यसे, नासौ भेदः, किन्त्वयमात्मशब्दः स्वभाववचनस्तेन सुषुप्त्युत्क्रान्त्यवस्थायां विशेषविषयाभावात्संपिण्डितप्रज्ञेन प्राज्ञेनात्मना स्वभावेन परिष्वक्तो न किञ्चिद्वेदेत्यभेदेऽपि भेदवदुपचारेण योजनीयम् । यथाहुः—'प्राज्ञः संपिण्डितप्रज्ञः' इति । पत्यादयश्च शब्दाः कार्यकरणसङ्घातात्मकस्य जगतो जीवकर्मार्जिततया तद्भोग्यतया च योजनीयाः तस्मात्संसार्य्येवानूद्यते न तु परमात्मा प्रतिपाद्यत इति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्त उच्यते 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन' व्यपदेशादित्यनुवर्त्तते । अयमभिसन्धिः – किं संसारिणोऽन्यः परमात्मा नास्ति, तस्मात् संसार्य्यात्मपरं योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्विति वाक्यम्? आहोस्विदिह संसारिव्यतिरेकेण परमात्मनोऽसङ्कीर्त्तनात्संसारिणश्चादिमध्यावसानेष्वमर्शात्संसार्य्यात्मपरं? न तावत्संसार्य्यति-

भामती—व्याख्या

आरम्भ में पठित 'विज्ञानमय' शब्द, मध्य में स्वप्नावस्था का वर्णन एवं महानजः का निर्देश—यह सब कुछ जीव में ही घटता है, क्योंकि संसारी आत्मा ही अहङ्कारास्पद और प्राणादि से युक्त लोक-प्रसिद्ध है । "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु"—यह वाक्य उसी संसारी का अनुवादमात्र करता है । वही संसारी आत्मा जड़वर्ग की अपेक्षा महान् एवं संसार के अनादि होने के कारण जीवात्मा भी अनादि और अज है, उससे भिन्न कोई नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप तत्त्व यहाँ प्रतिपाद्य नहीं हो सकता । यह जो सुषुप्ति और उत्क्रान्ति अवस्था में प्राज्ञात्मा से सम्परिष्वक्त (युक्त) कहा गया है, वह उससे भिन्न माना जाता है, वह उचित नहीं, क्योंकि वहाँ 'आत्मा' शब्द स्वभाव का वाचक है । इस प्रकार सुषुप्ति और उत्क्रान्ति की अवस्था में विशेष विषय न रहने के कारण यह जीव घनीभूत प्रज्ञावाले आत्मा (स्वभाव) से युक्त अत एव किञ्चिज्ज्ञ होता है । जीव और उसके स्वभाव का भेद न होने पर भी भेद-जैसा औपचारिक व्यवहार हो जाता है, जैसा कि कहा गया है—"प्राज्ञः सम्पिण्डितप्रज्ञ" । पत्यादि शब्द भी कार्यकारण-संघातात्मक संसारी में ही घट जाते हैं, क्योंकि जीव के कर्मों-द्वारा अर्जित होने के कारण जगत् जीव का भोग्य और जीव उसका पति या भोक्ता होता है । फलतः उक्त वाक्य के द्वारा संसारी आत्मा का ही अनुवाद किया जाता है, परमात्मा का प्रतिपादन नहीं ।

सिद्धान्त—पूर्व सूत्र से 'व्यपदेशात्' पद की अनुवृत्ति करके "सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात्"—ऐसा महावाक्य सम्पन्न होता है । आशय यह है कि क्या संसारी से भिन्न परमात्मा नहीं है, जिससे कि "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु"—यह वाक्य जीवपरक माना जाता है? अथवा यहाँ (प्रकृत में) परमात्मा का संकीर्तन न होने एवं संसारी आत्मा का ही उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार में उल्लेख होने के कारण उक्त वाक्य संसारी आत्मा

बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेधसंभवात्। प्राज्ञः परमेश्वरः, सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात्। तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति' (बृ० ४।३।३५) इति जीवाद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्रापि शारीरो जीवः स्यात्, शारीरस्वामित्वात् प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वरः। तस्मात् सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात्परमेश्वर एवात्र विवक्षित इति गम्यते। यदुक्तमाद्यन्तमध्येषु शारीरलिङ्गात्तत्परत्वमस्य वाक्यस्येति। अत्र ब्रूमः— उपक्रमे तावत् 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति न संसारिस्वरूपं विवक्षितं किं तर्हि ? अनूद्य संसारिस्वरूपं परेण ब्रह्मणाऽस्यैकतां विवक्षति। यतो 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्येवमाद्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिः संसारिधर्मनिराकरणपरा लक्ष्यते। तथोपसंहारेऽपि यथोपक्रममेवोपसंहरति—स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति। योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु संसारी लक्ष्यते स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर एवास्माभिः प्रतिपादित इत्यर्थः। यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात्संसारिस्वरूपविवक्षां मन्यते, स

भामती

रिक्तस्य तस्याभावः तत्प्रतिपादका हि शतश आगमा ईक्षतेर्नाशब्दं गतिसामान्यादित्यादिभिः सूत्रसन्दर्भैरुपपादिताः। न चात्रापि संसार्यतिरिक्तपरमात्मसङ्कीर्तनाभावः, सुषुप्त्युत्क्रान्त्योस्तत्सङ्कीर्तनात्। न च प्राज्ञस्य परमात्मनो जीवाद्भेदेन सङ्कीर्तनं सति सम्भवे राहोः शिर इतिवदौपचारिकं युक्तम्। न च प्राज्ञशब्दः प्रज्ञाप्रकर्षशालिनि निरूढवृत्तिः कथञ्चिदल्पविषयो व्याख्यातुमुचितः। न च प्रज्ञाप्रकर्षोऽसङ्कुचदवृत्तिर्विदितसमस्तवेदितव्यात्सर्वविदोऽन्यत्र सम्भवति। न चेत्थम्भूतो जीवात्मा, तस्मात् सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन जीवात् प्राज्ञस्य परमात्मनो व्यपदेशाद्योऽयं विज्ञानमय इत्यादिना जीवात्मानं लोकसिद्धमनूद्य तस्य परमात्मभावोऽनधिगतः प्रतिपाद्यते। न च जीवात्मानुवादमात्रपराण्येतानि वचांसि। अनधिगतार्थावबोधपरं हि शाब्दं प्रमाणं न त्वनुवादमात्रनिष्ठं भवितुमर्हति। अत एव च संसारिणः परमात्मभावविधानायादिमध्यावसानेष्वनुवाद्यतयाऽवमर्शं उपपद्यते। एवं च महत्त्वं चाजत्वं च सर्वगतस्य नित्यस्यात्मनः सम्भवान्नापेक्षिकं कल्पयिष्यते। यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासादिति नानेनाव-

---

भामती–व्याख्या

का बोधक माना जाता है ? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि जीव से भिन्न परमात्मा के प्रतिपादक सैकड़ों श्रुति वाक्य हैं, जिनका उपपादन "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्र. सू. १।१।५), "गतिसामान्यात्" (ब्र. सू. १।१।१०) इत्यादि सूत्रों में किया गया है। यहाँ (प्रकृत में) भी संसारी से अतिरिक्त परमात्मा के उल्लेख का अभाव नहीं, क्योंकि सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में उसी का उल्लेख किया गया है। जब कि जीव से वस्तुतः भिन्न परमात्मा का प्राज्ञरूप से निरूपण हो सकता है, तब 'राहोः शिरः' के समान कथित अभेद में भेदोपचार की क्या आवश्यकता ? 'प्राज्ञ' शब्द का रूढ़ अर्थ है–प्रकृष्ट ज्ञानवान्, वैसा परमेश्वर ही है, जीव नहीं, क्योंकि जीव में सर्वज्ञता नहीं अल्पज्ञता या अपकृष्ट ज्ञान है। ततः जीव के लिए 'प्राज्ञ' शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं। फलतः "योऽयं विज्ञानमयः"—इस वाक्य के द्वारा लोक-प्रसिद्ध जीव का अनुवाद करके सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में समनुस्यूत प्राज्ञरूपता (परमात्मरूपता) का विधान किया जाता है, क्योंकि जीव की ब्रह्मरूपता अन्य किसी प्रमाण से अधिगत नहीं। आगम प्रमाण का प्रामाण्य अनधिगतार्थ की बोधकता में ही निहित है, केवल अनुवादपरता में शास्त्रों की सार्थकता नहीं हो सकती। परमात्मरूपता का विधान करने के लिए ही प्रकरण के आदि, मध्य और अन्त में जीव का अनुवाद किया जाना अत्यन्त उचित और उपपन्न है। 'महान् अजः'—ऐसा जो जीव के लिए व्यवहार किया गया है, वह

प्राचीमपि दिशं प्रस्थापितः प्रतीचीमपि दिशं प्रतिष्ठेत । यतो न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनावस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षति, किं तर्हि ? अवस्थारहितत्वमसंसारित्वं च । कथमेतदवगम्यते ? यत् 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति पदे पदे पृच्छति । यच्च 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१४,१५) इति पदे पदे प्रतिवक्ति । 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ् शोकान्हृदयस्य भवति' (बृ० ४।३।२२) इति च । तस्मादसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् ॥ ४२ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

इतश्चासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् । यदस्मिन्वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारिस्वरूपप्रतिपादनपराः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाश्च भवन्ति । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इत्येवंजातीयका असंसारिस्वभावप्रतिपादनपराः 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इत्येवंजातीयकाः

भामती

स्थावत्त्वं विवक्ष्यते । अपि त्ववस्थानामुपजनापायधर्मकत्वेन तदतिरिक्तमवस्थारहितं परमात्मानं विवक्षति ❀ उपरितनवाक्यसन्दर्भालोचनाद् इति❀ ॥ ४२ ॥

❀ सर्वस्य वशी ❀ वशः सामर्थ्यं सर्वस्य जगतः प्रभवत्ययम्, व्यूहावस्थानसमर्थ इति । अत एव सर्वस्येशानः सामर्थ्येन ह्ययमुक्तेन सर्वस्येष्टे तदिच्छानुविधानाज्जगतः । अत एव सर्वस्याधिपतिः सर्वस्य नियन्ताऽन्तर्यामीति यावत् । किञ्च स एवम्भूतो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषो विज्ञानमयो न साधुना कर्मणा भूयानुत्कृष्टो भवतीत्येवमाद्याः श्रुतयोऽसंसारिणं परमात्मानमेव प्रतिपादयन्ति । तस्माज्जीवात्मानं मानान्त-

---

भामती–व्याख्या

भी उस परमात्मरूपता का ही उपोद्बलक है। "यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात्"— इत्यादि भाष्य का आशय यह है कि उक्त प्रकरण के मध्य में जो "एवमेवायं पुरुष एतावुभावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च" (बृह. उ० ४।३।१८) इस प्रकार स्वप्न और बुद्ध (जाग्रत) अवस्था का उल्लेख किया गया है, उस से अवस्थावत्ता का प्रतिपादन विवक्षित नहीं, अपि तु जैवी अवस्थाओं की उत्पत्ति-विनाशरूपता के द्वारा जीव से भिन्न अवस्था-रहित परमात्मा विवक्षित है, क्योंकि 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतम् (बृह० उ० ४।३।१३) इत्यादि उत्तरभावी वाक्यसन्दर्भ की आलोचना से वैसा ही सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

"सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः" (बृह० उ० ४।४।२२) इत्यादि वाक्यों के घटकीभूत'अधिपति'—इत्यादि शब्दों के द्वारा भी परमात्मा के प्रतिपादन में तात्पर्य पर्यवसित होता है। 'सर्वस्य वशी' यहाँ 'वश' शब्द का अर्थ है—सामर्थ्य। वह ईश्वर समस्त विश्व का प्रभु है, इस जगत् के व्यूहन् (विभाजन या सर्जन) और अवस्थान (पालन) में समर्थ है। अत एव "सर्वस्येशानः" अर्थात् उक्त सामर्थ्य के आधार पर यह विश्व का शासन करता है। ईश्वर की इच्छा का अनुसरण जगत् का पत्ता-पत्ता करता है। इसी लिए परमात्मा "सर्वस्याधिपतिः" विश्व का नियन्ता या अन्तर्यामी कहा जाता है। इतना सब कुछ करने पर भी वह विज्ञानमय पुरुषोत्तम न तो साधु (पुण्य) कर्म से लेपायमान (उत्कृष्ट) होता है और न असाधु कर्म (पाप) से निकृष्ट होता है। इस प्रकार के श्रुति-वचन संसारातीत परमात्मा का ही प्रतिपादन करते हैं। फलतः "योऽयं विज्ञानमयः"—

संसारिस्वभावप्रतिषेधनाः तस्मादसंसारी परमेश्वर इहोक्त इत्यवगम्यते ॥ ४२ ॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

भामती

प्रसिद्धमनूद्य तस्य ब्रह्मभावप्रतिपादनपरो योऽयं विज्ञानमय इत्यादिर्वाक्यसन्दर्भ इति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्वाचस्पतिमिश्रविरचितशारीरकभगवत्पादभाष्यविभागे भामत्यां

प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

भामती-व्याख्या

इत्यादि वाक्य-सन्दर्भ प्रमाणान्तर से अनधिगत जीव में ब्रह्मरूपता का अवद्योतक सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

भामतीव्याख्यायां तृतीयः पादः समाप्तः

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ।

(१ आनुमानिकाधिकरणम् । सू० १–७)

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम्—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२) इति । तल्लक्षणं प्रधानस्यापि समानमित्याशङ्क्य तदशब्दत्वेन निराकृतम् 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इति । गतिसामान्यं च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति न प्रधानकारणवादं प्रतीति प्रपञ्चितं गतेन ग्रन्थेन ।

इदं त्विदानीमवशिष्टमाशङ्क्यते—यदुक्तं प्रधानस्याशब्दत्वम्, तदसिद्धम्, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां श्रूयमाणत्वात् । अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते;

भामती

स्यादेतद्—ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तं जन्माद्यस्य यत इति, तच्चेदं लक्षणं न प्रधानादौ गतं येन व्यभिचारादलक्षणं स्यात्, किन्तु ब्रह्मण्येवेतीक्षतेर्नाशब्दमिति प्रतिपादितम् । गतिसामान्यञ्च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति विद्यते, न प्रधानकारणवादं प्रतीति प्रपञ्चितमधस्तनेन सूत्रसन्दर्भेण, तत्किमवशिष्यते यदर्थमुत्तरः सन्दर्भ आरभ्यते । न च महतः परमव्यक्तमित्यादीनां प्रधाने समन्वयेऽपि व्यभिचारः । नह्येते प्रधानकारणत्वं जगत आहुः । अपि तु प्रधानसद्भावमात्रम् । न च तत्सद्भावमात्रेण जन्माद्यस्य यत इति ब्रह्मलक्षणस्य किञ्चिद्धीयते । तस्मादनर्थक उत्तरः सन्दर्भ इत्यत आह ॐ ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय इति ॐ । न प्रधानसद्भावमात्रं प्रतिपादयन्ति महतः परमव्यक्तमित्यादयः किन्तु जगत्कारणं प्रधानमिति । महतः परमित्यत्र हि परशब्दोऽविप्रकृष्टपूर्वकालत्वमाह । तथा च कारणत्वम्,

भामती–व्याख्या

संगति—महर्षि बादरायण ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र. सू. १।१।१) इस सूत्र के द्वारा प्रतिज्ञात जिज्ञासा के विषयीभूत ब्रह्म का लक्षण किया—"जन्माद्यस्य यतः" (ब्र. सू. १।१।२) । उक्त लक्षण सांख्याभिमत प्रधानादि अलक्ष्यभूत पदार्थों में अतिप्रसक्त नहीं "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्र. सू. १।१।५) । उसके अनन्तर उसी परीक्षा का विस्तार करते हुए यह सिद्ध किया कि वेदान्त-वाक्यों की गतिसामान्यता (पर्यवसायिता) ब्रह्मकारणतावाद में ही है, प्रधानादिकारणतावाद में नहीं । शास्त्र का समग्र कलेवर है—(१) उद्देश, (२) लक्षण और (३) परीक्षा । तीनों प्रथम अध्याय के तीन पादों के द्वारा ही सुसम्पादित हो चुके, अब और क्या शेष रह गया, जिसके लिए परभावी सूत्रों का महान् आतान-वितान प्रस्तुत किया महर्षि ने ? "महतः परमव्यक्तम्" (कठो. १।३।११) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों का सांख्य-सम्मत प्रधान (प्रकृति) तत्त्व में समन्वय होने पर भी उक्त ब्रह्म-लक्षण की प्रधानादि में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि इन वेदान्त-वाक्यों के द्वारा प्रधानकारणतावाद का प्रतिपादन नहीं किया गया, अपितु प्रधानादि का केवल सद्भाव कथित है । आकाशादि के समान प्रधानादि के सद्भाव से ब्रह्म-लक्षण पर कोई आँच नहीं आती, अतः उत्तरभावी ग्रन्थ (सूत्र-सन्दर्भ) निरर्थक क्यों न मान लिया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार दे रहे हैं— "ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तमित्यादि" । इसका आशय यह है कि "महतः परमव्यक्तम्"—इत्यादि वाक्य केवल प्रधानादि के सद्भावमात्र का प्रतिपादन ही नहीं करते, अपितु उनकी स्पष्ट उद्घोषणा है कि "प्रधानं जगतः कारणम्" । 'महतः परम्'—यहाँ 'पर'

तथावत्तेषां शब्दानामन्यपरत्वं न प्रतिपाद्यते तावत्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादितमप्याकुलीभवेत् । अतस्तेषामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः संदर्भः प्रवर्तते । आनुमानिकमप्यनुमाननिरूपितमपि प्रधानमेकेषां शाखिनां शब्दवदुपलभ्यते । काठके हि पठ्यते—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' (१।३।११) इति । तत्र य एव यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिप्रसिद्धास्त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते । तत्राव्यक्तमिति स्मृतिप्रसिद्धेः, शब्दादिहीनत्वाच्च न व्यक्तमव्यमिति व्युत्पत्तिसंभवात्, स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमभिधीयते । तस्य शब्दवत्त्वादशब्दत्वमनुपपन्नम् । तदेव च जगतः कारणं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्य इति चेत् ।

भामती

अजामेकामित्यादीनां तु कारणत्वाभिधानमतिस्फुटम् । एवञ्च लक्षणव्यभिचारापत्तावऽव्यभिचाराय युक्त उत्तरसूत्रसन्दर्भारम्भ इति ।

पूर्वपक्षयति ⊛ तत्र य एव इति ⊛ । सांख्यप्रवादरूढिमाह ⊛ तत्राव्यक्तम्' इति ⊛ । सांख्यस्मृतिप्रसिद्धेर्न केवलं रूढिरवयवप्रसिद्ध्याप्ययमेवार्थोऽवगम्यत इत्याह "न व्यक्त इति । शान्तघोरमूढशब्दादिहीनत्वाच्चेति । श्रुतिरुक्ता स्मृतिश्च साङ्ख्यीया । न्यायश्च—

भामती–व्याख्या

शब्द अव्यवहितपूर्वकालत्व का बोधक है, अव्यवहितपूर्वकालत्व ही कारणत्वपदार्थ है। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" (श्वेता. ४५) इत्यादि वाक्यों में तो जगत्कारणत्व-प्रतिपादन अत्यन्त स्फुट है। इस प्रकार उक्त ब्रह्म के जगत्कारणत्वरूप लक्षण की अतिव्याप्ति प्रधानादि में अवश्य प्रसक्त है, उसकी निवृत्ति के लिए उत्तरभावी सूत्र-सन्दर्भ नितान्त आवश्यक और सार्थक है।

संशय—"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः" (कठो. १।३।११) इस वाक्य में 'महत्' शब्द प्रधान का वाचक है ? अथवा अस्फुटित शरीरादि कार्य का ?

पूर्वपक्ष—"तत्र य एव यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिप्रसिद्धाः, त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते"—इस भाष्य के द्वारा भाष्यकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सांख्यदर्शनकारों ने जिस नाम और जिस क्रम से अपने मौलिक पदार्थों का प्रतिपादन किया है, वे पदार्थ उसी नाम और क्रम से प्रक्रान्त वेदान्त-वाक्यों में प्रत्यभिज्ञात हो रहे हैं। वे पदार्थ हैं—'महद्', 'अव्यक्त' और 'पुरुष' । 'तत्राव्यक्तमिति स्मृतिप्रसिद्धेः" इस भाष्य के द्वारा 'अव्यक्त' शब्द पर प्रकाश डालते हुए यह कहा गया कि सांख्यमतानुसार 'अव्यक्त' शब्द जिस शब्दादि के मूलकारणीभूत प्रकृतिरूप अर्थ में रूढ़ माना जाता है, वह केवल रूढ़ नहीं यौगिक भी है, क्योंकि 'न व्यक्तम्, अव्यक्तम्' इस प्रकार का अवयवार्थ भी वहाँ घट जाता है, शान्त, घोर और मूढ (स्थूल) शब्दादि रूप प्रपञ्च को व्यक्त (प्रकट) कहते हैं, उसका कारण तत्त्व सूक्ष्म होने से अव्यक्त कहा जाता है । अव्यक्तादि के साधक प्रमाण जो बताए हैं—"श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्यः" । उन में (१) श्रुति के रूप में "महतः परमव्यक्त" (कठो. १।३।११) इस वाक्य को ही यहाँ भाष्यकार ने इङ्गित किया है, क्योंकि वहाँ 'अव्यक्तम्' पद की विशद व्याख्या, प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सत्त्व, रज और तम'—इन तीन गुणों की साम्यावस्था को अव्यक्त इसीलिए कहा जाता है कि उसमें शब्दादि प्रपञ्च व्यक्त (स्थूल) रूप में न होकर अव्यक्त (सूक्ष्म) ही रहता है। (२) स्मृति प्रमाण के रूप में "कारणमस्त्यव्यक्तम्" (सां० का० १६) इत्यादि सांख्यशास्त्र का उल्लेख किया गया है और (३) न्याय (युक्ति) के रूप में उद्धृत किया गया है—

नैतदेवम्; न ह्येतत्काठकं वाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्तयोरस्तित्वपरम्। न ह्यत्र यादृशं स्मृतिप्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं तादृशं प्रत्यभिज्ञायते। शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते। स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिकत्वादन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते। न चायं कस्मिंश्चिद्रूढः। या तु प्रधानवादिनां रूढिः सा तेषामेव पारिभाषिकी सती न वेदार्थनिरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते। न च क्रममात्रसामान्यात्समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने। न ह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति। प्रकरणनिरूपणायां चात्र न परपरिकल्पितं प्रधानं प्रतीयते; शरीरं ह्यत्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते। कुतः? प्रकरणात्परिशेषाच्च। तथा ह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ

भामती

'भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य॥
कारणमस्त्यव्यक्तम्' इति।

न च महतः परमव्यक्तमिति प्रकरणपरिशेषाभ्यामव्यक्तपदं शरीरगोचरम्, शरीरस्य शान्तघोरमूढरूपशब्दाद्यात्मकत्वेनाव्यक्तत्वानुपपत्तेः। तस्मात्प्रधानमेवाव्यक्तमुच्यत इति प्राप्ते, उच्यते—

* नैतदेवं नह्येतत्काठकं वाक्यम् इति *। लौकिकी हि प्रसिद्धी रुढिर्वेदार्थनिर्णये निमित्तं,

---

भामती–व्याख्या

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य॥ (सां० का० १५)

['महदादिविशेषा अव्यक्तकारणकाः, परिमाणात्' इस प्रकार अव्यक्त तत्त्व में जगत् की कारणता सिद्ध की गई है। परिमाणात् का अर्थ परिमितत्वात् या नियतत्वात् है। जैसे घट मृत्तिका से नियत होने के कारण मृत्कारणक होता है, वैसे ही महदादि कार्य अव्यक्त से नियत होने के कारण अव्यक्तकारणक है। इसी प्रकार अव्यक्त का कार्य में अन्वय यह सिद्ध करता है कि समस्त कार्य अव्यक्तकारणक है। मृत्तिका की शक्ति से जनित घटादि कार्य जैसे मृत्कारणक है, वैसे ही अव्यक्त की शक्ति से प्रकट हुआ महदादि कार्य अव्यक्तकारणक है। यह विश्व (महदादि स्थूल जगत्) सृष्टि के समय जिस तत्त्व से विभक्त (आविर्भूत) और प्रलय के समय जिसमें अविभक्त (तिरोहित) हो जाता है, वह अव्यक्त तत्त्व ही है]। "महतः परमव्यक्तम्"—यह वाक्य अपने प्रकरण और वाक्यशेष के आधार पर शरीर का प्रतिपादक है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शरीर भी उस व्यक्तरूप स्थूल कार्य के अन्तर्गत है, जिसे अपने से भिन्न किसी अव्यक्त की अपेक्षा है, अतः शरीर को अव्यक्त नहीं कहा जा सकता।

सिद्धान्त—भाष्यकार ने सूत्रस्थ सिद्धान्त का विशदीकरण किया है—"नैतदेवम्"। न ह्येतत्काठकं वाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्तयोरस्तित्वपरम्"। इस भाष्य का अभिप्राय यह है कि वेदार्थ-निर्णय में अवश्य ही लोक-प्रसिद्धि का यथेष्ट समादर किया गया है, जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः, त एव चैषामर्थाः" (शाबर. पृ. २९१) किन्तु अव्यक्तादि शब्दों की प्रधानादि अर्थों में लौकिकी प्रसिद्धि नहीं, यह तो एक दर्शन के पक्षपाती आचार्यों की अपनी ऊहा है, वह अनादि प्रसिद्धि नहीं, पौरुषेयी कल्पनामात्र है। उसे वेदार्थ निर्णय में वैसे ही निमित्त नहीं माना जाता, जैसे वैद्यों-द्वारा कल्पित औषध-विशेष के बोधक 'चन्द्रप्रभा' आदि शब्द, क्योंकि वह तो एक

आत्मशरीरादीनां रथिरथादिरूपककल्पनां दर्शयति—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥' (का० १।३।३,४) इति ।

भामती

तदुपायत्वात् । यथाहुः—"य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चैषामर्थाः" इति : न तु परीक्षकाणां पारिभाषिकी, पौरुषेयी हि सा न वेदार्थनिर्णयनिबन्धनसिद्धौ निमित्तम् औषधादिप्रसिद्धिवत् । तस्मात् रूढितस्तावन्न प्रधानं प्रतीयते । योगरूढस्त्वन्यत्रापि तुल्यः । तदेवमव्यक्तश्रुतावन्यथासिद्धायां प्रकरणपरिशेषाभ्यां शरीरगोचरोऽयमव्यक्तशब्दः । यथा अस्य तद्गोचरत्वमुपपद्यते, तथाऽग्रे दर्शयिष्यति । तेषु शरीरादिषु मध्ये विषयांस्तद्गोचरान् विद्धि । यथाऽश्वोऽध्वानमालम्ब्य चलति, एवमिन्द्रियहयाः स्वगोचरमालम्ब्येति । आत्मा भोक्तेत्याहुर्मनीषिण । कथम् ? इन्द्रियमनोयुक्तम् योगो यथा भवति ।

भामती—व्याख्या

ऐसी परिभाषा है, जिसे सर्वलोक-प्रसिद्धि नहीं कहा जा सकता, ऐसे ही प्रधान के अर्थ में 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग सांख्याचार्यों की एक अपनी परिभाषा है, उसके आधार पर वैदिक 'अव्यक्त' शब्द की 'प्रधान' अर्थ में रूढ़ि नहीं मानी जा सकती । 'न व्यक्तमव्यक्तम्'—इस प्रकार का योगार्थ तो अन्यत्र (शरीरादि अर्थों में) भी घटाया जा सकता है । इस प्रकार अव्यक्त शब्दरूप श्रुति अन्यथा-सिद्ध हो जाने के कारण निर्णायिका नहीं हो सकती, अतः प्रकरण और परिशेष के द्वारा शरीर की बोधकता 'अव्यक्त' शब्द में निर्णीत होती है—ऐसा भाष्यकार आगे चल कर दिखायेंगे ।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ (कठो. १।३।४)

इस श्रुति में 'तेषु' का अर्थ है—शरीरादिषु मध्ये । रूपादि को चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय इस लिए कहा जाता है कि जैसे अश्व किसी मार्ग का अवलम्बन कर चलता है, वैसे ही इन्द्रियगण रूपादि विषयों का अवलम्बन किया करते हैं, जैसा कि भाष्यकार ने भी कहा है—"गोचरान् मार्गान् रूपादीन् विषयान् विद्धि" (कठो. पृ. ६२) । 'आत्मा विषयों का भोक्ता है'—ऐसा मनीषिगण कहा करते हैं । निष्क्रिय आत्मा में भोग क्रिया का सम्पादन करने के लिए 'इन्द्रियमनोयुक्तं यथा स्यात्तथा'—ऐसा कहा गया है अर्थात् इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध से आत्मा गन्धादि का भोक्ता होता है, [जैसा कि भाष्यकार ने भी प्रकारान्तर से उक्त श्रुति-वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा है—"शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणः । न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति, बुद्धयाद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम् " (कठो. पृ. ६२)] ।

भाष्यकार ने जो कहा है—"शरीरं ह्यत्र परिगृह्यते, कुतः ? प्रकरणात् परिशेषाच्च" । वहाँ प्रकरण का स्वरूप है—'प्रधानस्याकांक्षावतो वचनं प्रकरणम्' । [आकाँक्षावान् व्यक्ति की आकांक्षा प्रश्न के रूप में परिणत होती है, अतः श्री शबरस्वामी ने जैमिनि-सूत्रों के अपने भाष्य (पृ० ८१७) में प्रकरण का लक्षण बताया है—"प्रश्नोपक्रमः प्रकरणम्] । प्रकृत में विष्णु का परम पद अधिगन्तव्य (प्राप्तव्य) प्रधान प्रतिपाद्य वस्तु है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ (कठो. १।३।११)

तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैः संसारमधिगच्छति । संयतैस्त्वध्वनः पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोतीति दर्शयित्वा, किं तदध्वनः विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायां, तेभ्य एव प्रकृतेभ्य इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानमध्वनः पारं विष्णोः परमं पदं दर्शयति— 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥' (का० १।३।१०,११) इति। तत्र य एवेन्द्रियादयः पूर्वस्यां रथरूपककल्पनायामश्वादिभावेन प्रकृतास्त एवेह परिगृह्यन्ते प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियापरिहाराय। तत्रेन्द्रियमनोबुद्धयस्तावत्पूर्वत्रेह च समानशब्दा एव। अर्था ये शब्दादयो विषया इन्द्रियहयगोचरत्वेन निर्दिष्टास्तेषां चेन्द्रियेभ्यः परत्वम्, 'इन्द्रियाणां ग्रहत्वं विषयाणामतिग्रहत्वम्'

भामती

इन्द्रियार्थमनःसन्निकर्षेण ह्यात्मा गन्धादीनां भोक्ता। प्रधानस्याकांक्षावतो वचनं प्रकरणमिति गन्तव्यं विष्णोः परमं पदं प्रधानमिति तदाकांक्षामवतारयति ॐ तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैरिति ॐ। असंयमाभिधानं व्यतिरेकमुखेन संयमावदातीकरणम्। परशब्दः श्रेष्ठवचनः।

नन्वान्तरत्वेन यदि श्रेष्ठत्वं तदेन्द्रियाणामेव बाह्येभ्यो गन्धादिभ्यः श्रेष्ठत्वं स्यादित्यत आह ॐ अर्था ये शब्दादय इति ॐ। नान्तरत्वेन श्रेष्ठत्वमपि तु प्रधानतया, तच्च विवक्षाधीनम्, ग्रहेभ्यश्चेन्द्रियेभ्योऽतिग्रहतयाऽर्थानां प्राधान्यं श्रुत्या विवक्षितमितीन्द्रियेभ्योऽर्थानां प्राधान्यात् परत्वं भवति। प्राणजिह्वावाक्चक्षुःश्रोत्रमनोहस्तत्वचो हीन्द्रियाणि श्रुत्याष्टौ ग्रहा उक्ताः। गृह्णन्ति वशीकुर्वन्ति खल्वेतानि

भामती-व्याख्या

कथित परम पद के विषय में आकांक्षा होती है कि 'कथं तदधिगम्यते ? उसका उत्तर भाष्यकार ने दिया है—"तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैः संसारमधिगच्छति, संयतैस्त्वध्वनः पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोति"। 'इन्द्रियसंयमसत्त्वे परमपदप्राप्तिसत्त्वम्'—इस प्रकार अन्वयसिद्ध संयमगत परमपद-प्राप्ति की हेतुता को विमल (अव्यभिचरित) सिद्ध करने के लिए "असंयतेन्द्रियैः संसारमधिगच्छति"—ऐसा व्यतिरेकोपन्यास किया गया है।

"इन्द्रियेभ्यः परा अर्थाः"—यहाँ 'पर' शब्द श्रेष्ठता का वाचक है. बाह्य पदार्थों की अपेक्षा आन्तरिक पदार्थों की श्रेष्ठता सहज-सिद्ध है, अतः गन्धादि बाह्य विषयों की अपेक्षा घ्राणादि इन्द्रियों को श्रेष्ठ या पर न कह कर "इन्द्रियेभ्यः पराः अर्थाः"—ऐसा क्यों कहा गया ? इस प्रश्न का उत्तर है—"अर्था ये शब्दादय इत्यादि"। आशय यह है कि यहाँ बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक पदार्थ की श्रेष्ठता विवक्षित नहीं, किन्तु अप्रधान पदार्थ की अपेक्षा प्रधान पदार्थ की परता (श्रेष्ठता) श्रुति-सम्मत है। गुण-प्रधानभाव नियत नहीं, अपितु विवक्षा के अधीन होता है [जैसे कि ग्रह और अतिग्रह का प्रसङ्ग उठाते हुए कहा गया है—"कति ग्रहाः कति अतिग्रहा इति। अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति। ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः, कतमे ते इति। (१) प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतः, (२) वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतः; (३) जिह्वा वै ग्रहः, स रसेनातिग्राहेण गृहीतः; (४) चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणतिग्राहेण गृहीतः; (५) श्रोत्रं वै ग्रहः, स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः, (६) मनो वै ग्रहः, स कामेनातिग्राहेण गृहीतः, (७) हस्तो वै ग्रहः, स कर्मणातिग्राहेण गृहीतः, (८) त्वग्वै ग्रहः, स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतः (बृह. उ. ३।२।1-९)। यहाँ 'प्राण' पद से घ्राण और 'अपान' पद से गन्ध का ग्रहण किया गया है, इस प्रकार घ्राणादि आठ इन्द्रियों को ग्रह और गन्धादि आठ विषयों को अतिग्रह कहा गया है। 'ग्रह' का अर्थ है—ग्राहक (आकर्षक या बन्धन)। घ्राणादि इन्द्रियों में जीव की आसक्ति इसी लिए है कि वह गन्धादि विषयों का उपभोग

(बृ० ३।२) इति श्रुतिप्रसिद्धेः । विषयेभ्यश्च मनसः परत्वं, मनोमूलत्वाद्विषयेन्द्रियव्यवहारस्य । मनसस्तु परा बुद्धिः, बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भोक्तारमुपसर्पति । 'बुद्धेरात्मा महान्परः', यः स 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इति रथित्वेनोपक्षिप्तः । कुतः ? आत्मशब्दात् । भोक्तुश्च भोगोपकरणात्परत्वोपपत्तेः । महत्त्वं चास्य स्वामित्वादुपपन्नम् । अथवा –'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः' । प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च

भामती

पुरुषपशुमिति । न चैतानि स्वरूपतो वशीकर्त्तुमीशते, यावदस्मै पुरुषपशवे गन्धरसनामरूपशब्दकामकर्मस्पर्शान्नोपहरन्ति । अत एव गन्धादयोऽष्टावतिग्रहाः, तदुपहारेण ग्रहाणां ग्रहत्वोपपत्तेः । तदिदमुक्तम्— ॐ इन्द्रियाणां ग्रहत्वं विषयाणामतिग्रहत्वमिति श्रुतिप्रसिद्धेरिति ॐ । ग्रहत्वेनेन्द्रियैः साम्येऽपि मनसः स्वगतेन विशेषेणार्थेभ्यः परत्वमाह ॐ विषयेभ्यश्च मनसः परत्वमिति ॐ । कस्मात् पुमान् रथित्वेनोपक्षिप्तो गृह्यते इत्यत आह ॐ आत्मशब्दादिति ॐ । तत्प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । श्रेष्ठत्वे हेतुमाह ॐ भोक्तुश्चेति ॐ । तदनेन जीवात्मा स्वामितया महानुक्तः । अथवा श्रुतिस्मृतिभ्यां हैरण्यगर्भी बुद्धिरात्मशब्देनोच्यत इत्याह ॐ अथवेति ॐ । ॐ पूरिति ॐ । भोग्यजातस्य बुद्धिरधिकरणमिति बुद्धिः पूः, तदेवं सर्वासां बुद्धीनां

भामती-व्याख्या

करता है, अतः विषयों को अतिग्रह (सुदृढ़ या साक्षात् बन्धन) कहा गया है, इस प्रकार] इन्द्रियों की अपेक्षा गन्धादि विषयों का प्राधान्य सिद्ध होता है । प्रधान होने के कारण विषयों को इन्द्रियों की अपेक्षा पर (श्रेष्ठ) कहा है । (१) घ्राण, (२) जिह्वा, (३) वाक्, (४) चक्षु, (५) श्रोत्र, (६) मन, (७) हस्त और (८) त्वक् इन आठ इन्द्रियों को ग्रह इसी लिए कहा है कि 'गृह्णन्ति वशीकुर्वन्ति पुरुषम्'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रियगण जीव को अपने वश में कर लेते हैं । इन्द्रियों में साक्षात् नियोजकता नहीं, अपि तु गन्धादि विषयों का उपहार देकर ही घ्राणादि पुरुष के आसञ्जक या मोहक होते हैं, अत एव गन्धादि आठ विषयों को अतिग्रह ग्रहत्व (बन्धकता) के सम्पादक कहा है । यही भाष्यकारने कहा है—"इन्द्रियाणां ग्रहत्वं विषयाणामतिग्रहत्वमिति श्रुतिप्रसिद्धेः" । मन भी इन्द्रिय होने के कारण अन्य इन्द्रियों के समान ही ग्रह ही है, तथापि विषय की अपेक्षा उस की परता (श्रेष्ठता) का कारण यह है कि "मनोमूलत्वाद् विषयेन्द्रियव्यवहारस्य" । विषय और इन्द्रियों का सन्निकर्षादि मन के ही आधीन है, अतः विषय की अपेक्षा भी मन को पर (श्रेष्ठ) कहा है । मन से बुद्धि पर और बुद्धि से भी श्रेष्ठ जो आत्मा कहा गया है, वह वही भोक्ता आत्मा है, जो कि "आत्मानं रथिनं विद्धि" (कठो० १।३।४) यहाँ पर 'रथी' के रूप में वर्णित है, क्योंकि "आत्मशब्दात्" । अर्थात् "आत्मानं रथिनं विद्धि" और "बुद्धेरात्मा महान् परः'—इन दोनों वाक्यों में एक ही 'आत्म' शब्द का प्रयोग होने से एक ही भोक्ता पुरुष की प्रत्यभिज्ञा होती है । भोक्ता की श्रेष्ठता में हेतु-प्रदर्शन किया जाता है—"भोक्तुश्च भोगोपकरणात् परत्वोपपत्तेश्च" । जीवात्मा भोक्ता है, उसी के लिए सभी भोग्य पदार्थों एवं भोग के साधनों का निर्माण हुआ है, अतः उसका भोग्यादि से श्रेष्ठ होना स्वाभाविक है । इस प्रकार जीवात्मा सभी भोग्य-वर्ग का स्वामी होने के कारण महान् कहा गया है—"बुद्धेरात्मा महान् परः" । अथवा श्रुतियों और स्मृतियों के द्वारा हिरण्यगर्भ की बुद्धि को 'आत्मा' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है—"अथवा सांख्याचार्य 'महानात्मा' शब्द के द्वारा 'महत्तत्त्व' का ग्रहण किया करते हैं, उसमें जैसी महत्ता (व्यापकता) विवक्षित है, वैसी जीव की व्यष्टि बुद्धि में नहीं, अतः हिरण्यगर्भ की समष्टि बुद्धि का ग्रहण करना अधिक न्याय-संगत है, क्योंकि "मनो महान्

परिपठ्यते ॥' इति स्मृतेः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० ६।१८) इति च श्रुतेः,या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासां बुद्धीनां परा प्रतिष्ठा। सेह महानात्मेत्युच्यते। सा च पूर्वत्र बुद्धिग्रहणेनैव गृहीता सती हिरुगिहोपदिश्यते, तस्या अप्यस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोपपत्तेः। एतस्मिंस्तु पक्षे परमात्मविषयेणैव परेण पुरुषग्रहणेन रथिन आत्मनो ग्रहणं द्रष्टव्यम्, परमार्थतः परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदाभावात्। तदेवं शरीरमेवैकं परिशिष्यते। इतराणीन्द्रियादीनि प्रकृतान्येव परमपददिदर्शयिषया समनुक्रामन्परिशिष्यमाणेनेहान्त्येनाव्यक्तशब्देन परिशिष्यमाणं प्रकृतं शरीरं दर्शयतीति गम्यते। शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां रथादिरूपककल्पनया संसारमोक्षगतिनिरूपणेन

भामती

प्रथमजहिरण्यगर्भबुद्धयेकनीडतया हिरण्यगर्भबुद्धेर्महत्त्वं च, आपनावात्मत्वं च। अत एव बुद्धिमात्रात् पृथक्करणमुपपन्नम्। नन्वेतस्मिन् पक्षे हिरण्यगर्भबुद्धेरात्मत्वान्न रथिन आत्मनो भोक्तुरत्रोपादानमिति न रथमात्रं परिशिष्यतेऽपि तु रथवानपीत्यत आह ❀ एतस्मिंस्तु पक्ष इति ❀। यथा हि समारोपितं प्रतिबिम्बं बिम्बान्न वस्तुतो भिद्यते, तथा न परमात्मनो विज्ञानात्मा वस्तुतो भिद्यते इति परमात्मैव रथवानिहोपात्तस्तेन रथमात्रं परिशिष्टमिति। अथ रथादिरूपककल्पनाया शरीरादिषु किं प्रयोजनमित्यत आह ❀ शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य हीति ❀। वेदना सुखाद्यनुभवः। प्रत्यर्थमञ्चतीति प्रत्यगात्मेह जीवोऽभिमतस्तस्य ब्रह्मावगतिः। न च जीवस्य ब्रह्मत्वं मानान्तरसिद्धं, येनात्र नाम्नोऽपेक्ष्ये-

भामती–व्याख्या

मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा संवित् चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते ॥" इस स्मृति-वाक्य के द्वारा उसी में महत्त्व, चैतन्य (आत्मत्व) प्रतिपादित है। इस श्रुति में हिरण्यगर्भ की बुद्धि को 'पूः' इसी लिए कहा है कि उसी में समस्त जीवों की व्यष्टि बुद्धियाँ वैसे ही अवस्थित होती हैं, जैसे पुर या नगर में अनेक घर होते हैं। भोग्य-वर्ग का अधिकरण होने के कारण भी इस बुद्धि को पुरी कहते हैं। यह बुद्धि आपक (व्यापक) है, अतः आत्मा कही जाती है। जीवों की व्यष्टि बुद्धियों से पृथक् और उनका कारण होने से पर (श्रेष्ठ) मानी जाती है। यदि—यही रथरूप बुद्धि आत्मा है, तब इससे भिन्न रथी आत्मा कौन होगा? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—एतस्मिंस्तु पक्षे रथिनः परमात्मनो ग्रहणम्"। भोक्ता पुरुष के रूप में परमात्मा का ग्रहण इस लिए किया जाता है कि जैसे समारोपित प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्ब से भिन्न नहीं होता, वैसे ही परमात्मा से वस्तुत विज्ञानात्मा (जीव) भिन्न नहीं होता, अतः रथवान् (रथी) के रूप में वहाँ परमात्मा का ग्रहण अनुचित नहीं। शरीरादि में रथादि-रूपक की कल्पना का प्रयोजन भाष्यकार कहते हैं—"शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां रथादि रूपककल्पनया प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता"। 'वेदना' शब्द का अर्थ है—सुखादि का अनुभव [बौद्ध साहित्य में वेदना के तीन भेद माने गये हैं—"(१) सुखा वेदना, (२) दुक्खा वेदना, (३) असुखदुक्खा भावना" किसी व्यक्ति को देखकर उसके मित्र को सुख एवं शत्रु को दुःख की अनुभूति होती है, किन्तु एक उदासीन (रागद्वेष-रहित) व्यक्ति को सुख-दुःख से रहित अनुभूति होती है]। 'प्रत्यगात्मा' शब्द से यहाँ जीवात्मा विवक्षित है, शब्द की व्युत्पत्ति है—'अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्, प्रत्यर्थमञ्चति अवगच्छतीति प्रत्यक्, प्रत्यक् चासौ आत्मा प्रत्यगात्मा' [प्रति' शब्द के द्वारा कहीं प्रतीप (विपरीत) अर्थ भी लिया जाता है, यहाँ हिरण्यगर्भ और जीव का व्यष्टि-समष्टिभाव ध्वनित करने के लिए सर्वज्ञता

प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता। तथा च 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।' (का० १।३।१२) इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा तदवगमार्थं योगं दर्शयति—'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥' (का० १।३।१३) इति। एतदुक्तं भवति–वाचं मनसि संयच्छेत् वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत। मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेन ज्ञानशब्दोदितायां बुद्धावध्यवसायस्वभावायां धारयेत्। तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तर्यग्र्यायां वा बुद्धौ सूक्ष्मतापादनेन नियच्छेत्। महान्तं त्वात्मानं शान्त आत्मनि प्रकरणवति परस्मिन्पुरुषे परस्यां काष्ठायां प्रतिष्ठापयेदिति च। तदेवं पूर्वापरालोचनायां नास्त्यत्र परपरिकल्पितस्य प्रधानस्यावकाशः॥ १॥

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्॥ २॥

उक्तमेतत्प्रकरणपरिशेषाभ्यां शरीरमव्यक्तशब्दं न प्रधानमिति। इदमिदानीमाशङ्क्यते—कथमव्यक्तशब्दार्हत्वं शरीरस्य? यावता स्थूलत्वात्स्पष्टतरमिदं शरीरं व्यक्तशब्दार्हमस्पष्टवचनस्त्वव्यक्तशब्द इति। अत उत्तरमुच्यते—सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते, सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः। यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९।४६।४) इति। श्रुतिश्च—

भामती

तत्रैतत आह ❀ तथा चेति ❀। वागिति छान्दसो द्वितीयालोपः। शेषमतिरोहितार्थम्॥ १॥

पूर्वपक्षिणोऽनुशयबीजनिराकरणपरं सूत्रम् ❀ सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ❀। प्रकृतेर्विकाराणामनन्यत्वात् प्रकृतेरव्यक्तत्वं विकार उपचर्यते। यथा गोभिः श्रीणीतेति गोशब्दस्तद्विकारे पयसि। अव्यक्तात् कारणाद् विकाराणामनन्यत्वेनाव्यक्तशब्दार्हत्वे प्रमाणमाह ❀ तथा च श्रुतिः इति ❀। अव्याकृतमव्य-

भामती–व्याख्या

और एकार्थज्ञता या अल्पज्ञता का प्रसङ्ग उपस्थित करने के लिए 'प्रति' शब्द से प्रत्येक, अर्थ का ग्रहण किया गया है]। इसी जीव में ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन यहाँ विवक्षित है। जीव में ब्रह्मत्व का प्रतिपादन किसी प्रमाणान्तर से नहीं किया गया कि यहाँ उसकी विवक्षा न होती यह कहा जा रहा है—"तथा च तदवगमार्थं योगं दर्शयति"। "यच्छेद् वाक् मनसि"—यहाँ पर "यच्छेद वाचं मनसि" -ऐसा प्रयोग होना चाहिए था, किन्तु छान्दस (वैदिक) प्रयोगों की निरङ्कुशता को ध्यान में रखकर द्वितीया विभक्ति का लोप माना जाता है। शेष भाष्य स्पष्टार्थक है॥ १॥

पूर्वपक्षी के हृदय में निहित सिद्धान्ती के वक्तव्यपर असन्तोष का निराकरण करने के लिए सूत्र प्रस्तुत किया जाता है—"सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्"। 'अव्यक्त' शब्द से जो शरीर का ग्रहण किया जाता है, उसमें पूर्व जिज्ञासा करता है कि यह शरीर तो व्यक्त (स्थूल) है, इसको अव्यक्त (सूक्ष्म) क्योंकर कहा जा सकता है? इस जिज्ञासा का उत्तर है—'सूक्ष्मं तु' अर्थात् शरीर के आरम्भक सूक्ष्म भूत वस्तुतः अव्यक्त हैं। वे सूक्ष्म भूत शरीर के आरम्भक या शरीर की प्रकृति एवं शरीर उनका विकार है। प्रकृति और विकार का अभेद माना जाता है। प्रकृति और विकार का अभेद होने के कारण प्रकृति के वाचक शब्द का विकार में भी व्यवहार हो जाता है, अतः सूक्ष्म भूतरूप प्रकृति के वाचक 'अव्यक्त' शब्द का व्यवहार शरीररूप विकार में वैसे ही हो जाता है, जैसे गो के विकारभूत (गव्य) दूध के लिए 'गो'

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १।४।७) इतीदमेव व्याकृतनामरूपविभिन्नं जगत्प्रागवस्थायां परित्यक्तव्याकृतनामरूपं बीजशक्त्यवस्थमव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति ॥ २ ॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

अत्राह—यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिज्ञायेत, स एव तर्हि प्रधानकारणवाद एवं सत्यापद्येत। अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाभ्युपगमादिति। अत्रोच्यते—यदि वयं स्वतन्त्रां, कांचित्प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम्। परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चावश्याभ्युपगन्तव्या। अर्थवती

भामती

क्तमित्यनर्थान्तरम् ॥ नन्वेवं सति प्रधानमेवाभ्युपेतं भवति, सुख-दुःखमोहात्मकं हि जगदेवम्भूतादेव कारणाद्भवितुमर्हति कारणात्मकत्वात्कार्यस्य। यच्च तस्य सुखात्मकत्वं तत्सत्त्वम्, यच्च तस्य दुःखात्मकत्वं तद्रजः, यच्च तस्य मोहात्मकत्वं तत्तमः। तथा चाव्यक्तं प्रधानमेवाभ्युपेतमिति ॥ २ ॥

शङ्कानिराकरणार्थं सूत्रम्—तदधीनत्वादर्थवत्।

प्रधानं हि सांख्यानां सेश्वराणामनीश्वराणां वेश्वरात् क्षेत्रज्ञेभ्यो वा वस्तुतो भिन्नं शक्यं निर्वक्तुम्। ब्रह्मणस्त्वियमविद्या शक्तिर्मायाविशब्दवाच्या न शक्या तत्त्वेनान्यत्वेन वा निर्वक्तुम्। इदमेवास्या अव्यक्तत्वं यदनिर्वाच्यत्वं नाम। सोऽयमव्याकृतवादस्य प्रधानवादाद्भेदः। अविद्याशक्तेरीश्वराधीनत्वं तदाश्रयत्वात्। न च द्रव्यमात्रमशक्तं कार्यायालमिति शक्तेरर्थवत्त्वं, तदिदमुक्तमर्थवदिति। स्यादेतत्—

भामती-व्याख्या

शब्द का व्यवहार—"गोभिः "श्रीणीत मत्सरम्" (ऋ० सं० ९।४६।४) सोम लता के रस को मत्सर कहते है, क्योंकि वह कुछ मद-कारक होता है, उसको दूध में मिलाने का यहाँ विधान किया गया है। यद्यपि 'श्रीञ् पाके' धातु के लोट् लकार के मध्यमपुरुष-बहुवचन में 'श्रीणीत' शब्द बना है, तथापि यहाँ पकाने में 'श्रीञ्' का प्रयोग न होकर मिलाने, (मिश्रण करने) में माना जाता है]। प्रकृति में 'अव्यक्त' शब्द के व्यवहार का प्रमाण प्रस्तुत किया गया है—"श्रुतिश्च" तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतं मासीत् (बृह० उ० १।४।७)। अव्याकृत और अव्यक्त—पद पर्याय हैं ॥ २ ॥

शङ्का—यदि इस स्थूल शरीरादि जगत् की प्राग्भावी (सूक्ष्म) अवस्था को अव्यक्त कहा जाता है, तब यही तो सांख्य-सम्मत प्रधानकारणवाद है अर्थात् सुखदुःखमोहात्मक जगत् उसी प्रकार के प्रधान या प्रकृतितत्व से ही उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि कार्य और कारण का अभेद (एकस्वभावता) निश्चित है। कारणतत्त्व में जो सुखरूपता है, वही सत्त्व गुण है, जो दुःखरूपता है, वही रजोगुण है, और जो उसमें मोहात्मकत्व है, वही तमो गुण है—इस प्रकार कारण तत्त्व त्रिगुणात्मक प्रधान पदार्थ ही मानना होगा।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करने के लिए यह सूत्र रचा गया है—"तदधीनत्वात्" वेदान्त-सिद्धान्त में वह कारण तत्त्व अविद्या शक्ति है, जो कि शक्तिमान् ईश्वर से भिन्न नहीं एवं उस के अधीन है, किन्तु सांख्य चाहे निरीश्वरवादी (कापिल) हो या सेश्वरवादी (पातञ्जल) हो, दोनों के मतों में प्रतिपादित प्रधान तत्त्व ईश्वराधीन नहीं माना जाता, अपि तु जीव और ईश्वर से भिन्न वस्तुसत् और स्वतन्त्र माना जाता है किसी के अधीन नहीं। वेदान्ताभिमत अविद्या शक्ति वह मायापदार्थ है, जिसका न सत्त्वरूप से निर्वचन हो सकता है, न असत्त्वरूप से, अतः वह अनिर्वचनीय है। यही (अनिर्वचनीयत्व

हि सा। न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्धयति, शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। मुक्तानां च पुनरनुत्पत्ति कुतः? विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्।

भामती

यदि ब्रह्मणोऽविद्याशक्त्या संसारः प्रतीयते हन्त मुक्तानामपि पुनरुत्पादप्रसङ्गः, तस्याः प्रधानवत्तादवस्थ्यात्, तद्विनाशे वा समस्तसंसारोच्छेदस्तन्मूलाविद्याशक्तेः समुच्छेदादित्यत आह ॐ मुक्तानाञ्च पुनः ॐ बन्धस्य ॐ अनुत्पत्तिः ॐ। कुतः? ॐ विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात् ॐ। अयमभिसन्धिः—न वयं प्रधानवदविद्यां सर्वजीवेष्वेकामाचक्ष्महे येनैवमुपालभेमहि किन्त्वियं प्रतिजीवं भिद्यते। तेन यस्यैव जीवस्य विद्योत्पन्ना तस्यैवाविद्याऽपनीयते न जीवान्तरस्य, भिन्नाधिकरणयोर्विद्याविद्ययोरविरोधात्, तत्कुतः समस्तसंसारोच्छेदप्रसङ्गः। प्रधानवादिनां त्वेष दोषः। प्रधानस्यैकत्वेन तदुच्छेदे सर्वोच्छेदोऽनुच्छेदे वा न कस्यचिदित्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः। प्रधानभेदेऽपि चेत्तदविवेकख्यातिलक्षणाविद्यासदसत्त्वनिबन्धनौ बन्धमोक्षौ तर्हि कृतं प्रधानेन? अविद्यासदसद्भावाभ्यामेव तदुपपत्तेः। न चाविद्योपाधिभेदाधीनो जीवभेदो जीवभेदाधीनश्चाविद्योपाधिभेद इति परस्पराश्रयादुभयासिद्धिरिति साम्प्रतम्, अनादित्वाद्बीजाङ्कुरवदु-

भामती–व्याख्या

ही) इस का अव्यक्तत्व है। वेदान्त के अव्याकृतकारण वाद से सांख्य के अव्यक्तकारणवाद का यह महान् अन्तर है। 'अविद्या ईश्वर के अधीन है। इसका अर्थ है 'अविद्या ईश्वर के आश्रित' है [यहाँ ईश्वराश्रित का ईश्वरविषयक या ईश्वराधिष्ठित अर्थ है, क्योंकि वाचस्पति मिश्र अविद्या को जीव के आश्रित मानते हैं, जिस का निरूपण पहले ही किया जा चुका है]। स्वतन्त्र जड़ पदार्थ कोई कार्य करने के योग्य नहीं होता, अतः ईश्वराधिष्ठित अविद्या तत्त्व ही अर्थवान् कहा जाता है—"अर्थवत्"।

शङ्का—यदि ब्रह्म की अविद्या शक्ति से संसार का प्रजनन माना जाता है, तब मुक्त पुरुषों का पुनर्जन्म होना चाहिए, क्योंकि प्रधानतत्त्व के समान ही अविद्या तत्त्व भी अक्षुण्ण बना रहता है। यदि विद्या से अविद्या तत्त्व का उच्छेद मान लिया जाता है, तब समस्त संसार का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि संसार के मूलकारणीभूत एक मात्र अविद्या तत्त्व का समुच्छेद हो जाता है।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण भाष्यकार करते हैं—"मुक्तानां पुनरनुत्पत्तिः"। मुक्तानां पुरुषाणां बन्धस्य अनुत्पत्तिः। मुक्त पुरुषों के बन्धन की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि विद्या के द्वारा उस की बीजभूत अविद्याशक्ति नष्ट हो जाती है। आशय यह है कि हम वेदान्तिगण) प्रधान तत्त्व के समान अविद्या को सभी जीवों में एक ही नहीं मानते कि उसके नष्ट हो जाने पर सभी जीवों की एक-साथ मुक्ति प्रसञ्जित होती, किन्तु प्रत्येक जीव में अविद्या भिन्न-भिन्न होती है, अतः जिस जीव में विद्या का उदय होता है, उसी जीव की अविद्या का अपनयन होता है, अन्य जीवों की अविद्या का नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न अधिकरणों में रहनेवाली विद्या और अविद्या का कोई विरोध नहीं होता, तब एक अविद्या का उच्छेद हो जाने पर समस्त संसार का उच्छेद क्योंकर प्रसक्त होगा? यदि कहा जाय कि प्रधानतत्त्व के होने पर भी प्रकृति और पुरुष की अविवेकख्यातिरूप अविद्या की सत्ता और असत्ता पर बन्ध और मोक्ष निर्भर हैं, तब उस प्रधान तत्त्व की क्या आवश्यकता? अविद्या के सदसद्भाव से ही बन्ध और मोक्ष की उपपत्ति हो जाती है।

शङ्का—अविद्यारूप उपाधि का भेद (नानात्व) होने पर जीवों का भेद एवं जीवों का भेद सिद्ध होने पर अविद्या का भेद सिद्ध होगा—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त क्यों न होगा?

अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (बृ॰ ३।८।११) इति श्रुतेः। क्वचिदक्षरशब्दोदितम्, 'अक्षरात्परतः परः' (मु॰ २।१।२) इति श्रुतेः। क्वचिन्मायेति सूचितम्, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे॰ ४।१०) इति मन्त्रवर्णात्। अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्। तदिदं 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तम्, अव्यक्तप्रभवत्वान्महतः, यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्महान्, यदा तु जीवो महान्, तदाप्यव्यक्ताधीनत्वाज्जीवभावस्य 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तम्। अविद्या ह्यव्यक्तम्। अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः संव्यवहारः संततो वर्तते। महतः परत्वमभेदोपचारात्तद्विकारे शरीरे परिकल्प्यते। सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोपचारादव्यक्तशब्देन ग्रहणम्, इन्द्रियादीनां स्वशब्दैरेव गृहीतत्वात्परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य।

भामती

भयसिद्धेः। अविद्यात्वमात्रेण चैकत्वोपचारोऽव्यक्तमिति, चाव्याकृतमिति चेति। नन्वेवमविद्यैव जगद्बीजमिति कृतमीश्वरेणेत्यत आह ❀ परमेश्वराश्रया इति ❀। नह्यचेतनं चेतनानधिष्ठितं कार्याय पर्याप्तमिति स्वकार्यं कर्तुं परमेश्वरं निमित्ततयोपादानतया चाश्रयते, प्रपञ्चविभ्रमस्य हीश्वराधिष्ठानत्वमहिविभ्रमस्येव रज्ज्वधिष्ठानत्वं तेन यथाऽहिविभ्रमो रज्जूपादान एवं प्रपञ्चविभ्रम ईश्वरोपादानस्तस्माज्जीवाधिकरणाप्यविद्या निमित्ततया विषयतया चेश्वरमाश्रयत इतीश्वराश्रयेत्युच्यते, न त्वाधारतया, विद्यास्वभावे ब्रह्मणि तदनुपपत्तेरिति, अत एवाह ❀ यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः इति ❀।

भामती-व्याख्या

समाधान—जिस बीज से जो वृक्ष उत्पन्न होता है, उसी वृक्ष से उसी बीज की उत्पत्ति मानने पर ही अन्योऽन्याश्रयता की प्रसक्ति मानी जाती है, अन्यान्य बीजों से अन्यान्य वृक्षों की उत्पत्ति मानने पर अन्योऽन्याश्रयता नहीं होती, क्योंकि बीज और वृक्ष का अनादि प्रवाह माना जाता है। ठीक उसी प्रकार अविद्या और जीवों का भेद (अनेकत्व) अनादि होने के कारण उभय की सिद्धि सम्भव हो जाती है। [श्री मण्डन मिश्र ने भी इसी प्रकार की अन्योऽन्याश्रयता-प्रसक्ति का समाधान किसी पुरातन आचार्य के मत से किया है—"अन्ये तु अनादित्वादुभयोरविद्याजीवयोर्बीजाङ्कुरसन्तानयोरिव नेतरेतराश्रयत्वमप्रकृतिभावमावहतीति वर्णयन्ति, तथा चोक्तम् अविद्योपादानभेदवादिभिः—"अनादिरप्रयोजना चाविद्या।" (ब्र. सि. पृ. १०)]। यद्यपि अविद्याएँ अनेक हैं, तथापि उन सबका अविद्यात्वेन संग्रह विवक्षित होने के कारण 'अव्यक्तम्'—इस प्रकार एकवचनान्त 'अव्यक्त' पद के द्वारा अभिधान किया गया है। 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ है—अव्याकृत। यदि अविद्या ही जगत् की बीज शक्ति है, तब ईश्वर की क्या आवश्यकता? इस प्रश्न का उत्तर है—"परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः"। ऐसा कभी सम्भव नहीं कि केवल जड़ पदार्थ किसी चेतन से अधिष्ठित (सञ्चालित) न होकर ही समग्र कार्य का सम्पादन कर ले, अतः जड़रूप अविद्या अपना कार्य सम्पादन करने के लिए निमित्त-कारण या उपादानकारण के रूप में परमेश्वर का आश्रय लेती है। प्रपञ्चरूप विभ्रम की अधिष्ठानता ईश्वर में वैसी है, जैसी सर्प-विभ्रम की अधिष्ठानता रज्जू में, अत एव जैसे सर्प-भ्रम का उपादानकारण रज्जू है, वैसे ही प्रपञ्च-विभ्रम का उपादान कारण ईश्वर। फलतः जीवरूप आधार में रहनेवाली अविद्या निमित्त या विषय के रूप में ईश्वर को अपनाने के कारण ही ईश्वराश्रया कही जाती है, ईश्वर वस्तुतः

अन्ये तु वर्णयन्ति– द्विविधं हि शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च। स्थूलं यदिदमुपलभ्यते। सूक्ष्मं यदुत्तरत्र वक्ष्यते– 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (ब्र० ३।१।१) इति। तच्चोभयमपि शरीरमविशेषात्पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितम्। इह तु सूक्ष्ममव्यक्तशब्देन परिगृह्यते, सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। तदधीनत्वाच्च बन्धमोक्षव्यवहारस्य जीवात्तस्य परत्वम्। यथार्थाधीनत्वादिन्द्रियव्यापारस्येन्द्रियेभ्यः परत्वमर्थानामिति।

भामती

यस्यामविद्यायां सत्यां शेरत इति लय उक्तः, संसारिण इति विक्षेप उक्तः। ॐ अव्यक्ताधीनत्वाज्जीवभावस्य इति ॐ। यद्यपि जीवाऽव्यक्तयोरनादित्वेनानियतं पौर्वापर्यं तथाप्यव्यक्तस्य पूर्वत्वं विवक्षित्वेतदुक्तं ॐ सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनाम् इति ॐ। गोबलीवर्दपदवदेतद् द्रष्टव्यम्।

आचार्यदेशीयमतमाह ॐ अन्ये तु इति ॐ। एतद् दूषयति ॐ तेस्तु इति ॐ। प्रकरणपारिशेष्य-

भामती–व्याख्या

अविद्या का आधार नहीं बन सकता, क्योंकि विद्यात्मक ब्रह्म (ईश्वर) में अविद्या का रहना सर्वथा अनुपपन्न है। इसी भाव को ध्वनित करने के लिए भाष्यकार ने कहा है–"यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः"। 'यस्यामविद्यायाम्'–यहाँ सति सप्तमी है, अतः 'जिस अविद्या के रहने पर'–ऐसा अर्थ विवक्षित है। जीवों का जो अपना वास्तविक ब्रह्मरूप है, उसे विस्मरण करके 'शेरते' अर्थात् सुषुप्ति में लीन रहते है– इससे लयावस्था और 'संसारिणः'– इस विशेषण के द्वारा 'विक्षेप' अवस्था का अभिधान किया गया है।

दो अनादि पदार्थों को प्रत्येक में दूसरे की अधीनता विवक्षित होती है, जैसे– 'बीजाधीनो वृक्षः' और 'वृक्षाधीनं बीजम्'। भाष्यकार ने जो कहा है "अव्यक्ताधीनत्वाजीवभावस्य"। वहाँ भी अव्यक्त (अविद्या) और जीवभाव–दोनों अनादि पदार्थ हैं, पौर्वापर्यरूप को लेकर जीवभाव में अव्यक्ताधीनत्व नहीं कहा जा सकता, तथापि अव्यक्त में पूर्वकालत्व की विवक्षा करके जीवभाव में अव्यक्ताधीनत्व कह दिया है। भाष्यकार ने जो कहा है–"सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोपचारादव्यक्तशब्देन ग्रहणम्, इन्द्रियाणां स्वशब्दैरेव गृहीतत्वात्, परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य"। यह सब गोबलीवर्दन्याय को ध्यान में रख कर कहा है [जैसे 'गामानय बलीवर्दं चानय'–ऐसे आज्ञावाक्य को सुन कर श्रोता 'गो' पद के द्वारा नर गौ (बैल) से अतिरिक्त मादा गौओं (गायों) का ग्रहण कर लेता है, क्योंकि यद्यपि 'गो' पद नर और मादा दोनों प्रकार के गोमण्डल को कहता है, तथापि नर गौ का पृथक् 'बलीवर्द' पद से उल्लेख होने के कारण मादा गौएँ ही शेष रहती हैं, अतः 'गामानय'–यहाँ 'गो' पद से मादा गौओं का ग्रहण न्यायोचित है। वैसे ही "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः मनसस्तु परा बुद्धिः, बुद्धेरात्मा महान् परः, महतः परमव्यक्तम्"–यहाँ पर यद्यपि 'अव्यक्त' शब्द शरीर, इन्द्रिय और शब्दादि समस्त विकार-वर्ग का बोधक है। तथापि इन्द्रियादि का पृथक् उल्लेख होने के कारण अवशिष्ट शरीर का ही ग्रहण 'अव्यक्त' पद से करना अत्यन्त संगत है]।

वृत्तिकारादि आचार्यों के मत से उक्त दोनों सूत्रों की व्यवस्था का प्रदर्शन किया जाता है–"अन्ये तु वर्णयन्ति"। [उनका कहना है कि शरीर दो प्रकार का होता है–(१) स्थूल और (२) सूक्ष्म। प्राणियों का यह दृश्यमान शरीर स्थूल शरीर है और सूक्ष्म शरीर आगे चल कर कहा जायगा–"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" (ब्र. सू. ३।१।१) अर्थात् यह जीव देहान्तर की प्राप्ति के अवसर पर भावी स्थूल शरीर

तैस्त्वेतद्वक्तव्यम्— अविशेषेण शरीरद्वयस्य पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितत्वात्समानयोः प्रकृतत्वपरिशिष्टत्वयोः कथं सूक्ष्ममेव शरीरमिह गृह्यते, न पुनः स्थूलमपीति ? आम्नातस्यार्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामः, नाम्नातं पर्यनुयोक्तुम्। आम्नातं चाव्यक्तपदं सूक्ष्ममेव प्रतिपादयितुं शक्नोति नेतरत्, व्यक्तत्वात्तस्येति चेत्, न, एकवाक्यताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः। न हीमे पूर्वोत्तरे आम्नाते एकवाक्यतामनापद्य कंचिदर्थं प्रतिपादयतः, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। न चाकाङ्क्षामन्तरेणैकवाक्यताप्रतिपत्ति-

भामती

योऽभ्यत्र तुल्यत्वान्नैकग्रहणनियमहेतुरस्ति। शङ्कते ⊛ आम्नातस्यार्थम् इति ⊛। अव्यक्तपदमेव स्थूलशरीरव्यावृत्तिहेतुर्व्यक्तत्वात्तस्येति शङ्कार्थः। निराकरोति "नैकवाक्यताधीनत्वात्" इति। प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रियाऽप्रसङ्गेनैकवाक्यत्वे सम्भवति न वाक्यभेदो युज्यते। न चाकाङ्क्षां विनैकवाक्यत्वमुभयञ्च प्रकृतमित्युभयं ग्राह्यत्वेनेहाकाङ्क्षितमित्येकाभिधायकमपि पदं शरीरद्वयपरम्। न च मुख्यया वृत्त्याऽतत्परमित्यौपचारिकं न भवति। यथोपहन्तृमात्रनिराकरणाकाङ्क्षायां काकपदं प्रयुज्यमानं श्वाविसर्वहन्तृपर

भामती–व्याख्या

के आरम्भक सूक्ष्म भूतात्मक सूक्ष्म शरीर से संवलित होकर स्वर्गादि लोकों को जाता है, क्योंकि "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति" (छां. ५।३।३) इस प्रकार के प्रश्न और "पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति" (छां. ५.९।१) इस प्रकार के उत्तर से उसी सूक्ष्म शरीर का वर्णन किया गया है। इन दोनों शरीरों का श्रुति ने रथ के रूप में वर्णन किया है। उन दोनों में सूक्ष्म शरीर का 'अव्यक्त' शब्द के द्वारा ग्रहण किया गया है, क्योंकि वह व्यक्त (स्थूल) नहीं अतः 'अव्यक्त पदास्पद है। इसी सूक्ष्म शरीर के अधीन जीव के बन्ध और मोक्ष हैं, अतः यह जीव की अपेक्षा 'पर' (श्रेष्ठ) है]।

उक्त वृत्तिकार के मत में दोषाभिधान किया जाता है —"तैस्त्वेतद् वक्तव्यम्"। आशय यह है कि प्रकरण और परिशेष दोनों शरीरों के लिए समान हैं, अतः उनमें से किसी एक का ग्रहण क्योंकर होगा ?

शङ्का—श्रुति-घटक 'अव्यक्त' शब्द का समुचित अर्थ हमें करना चाहिए, उस पर 'स्थूल शरीर का अव्यक्त पद के द्वारा अभिधान क्योंकर हो गया ?' ऐसा आक्षेप नहीं किया जा सकता, फलतः 'अव्यक्त' शब्द व्यक्तेतर केवल सूक्ष्म शरीर का ही अभिधायक है।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करने के लिए भाष्यकार ने कहा है—"न, एकवाक्यताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः"। अर्थात् "शरीरं रथमेव तु" (कठो. १।३।३) और महतः परम व्यक्तम्" (कठो. १।३।११) इन पूर्वापरोक्त दोनों वाक्यों की एकवाक्यता के बिना 'अव्यक्त' शब्द का सहसा अर्थ नहीं किया जा सकता। 'अव्यक्त' शब्द का केवल सूक्ष्म शरीर अर्थ करने पर प्रकृत शरीरमात्र (सूल और सूक्ष्म – दोनों शरीरों) का हान (अग्रहण) और अप्रकृत (केवल सूक्ष्म शरीर) का ग्रहण प्रसक्त होता है, अतः ऐसे अप्रसङ्ग (प्रसङ्ग की निवृत्ति) के द्वारा पूर्वोत्तर वाक्यों की जब एकवाक्यता हो सकती है, तब वाक्य-भेद युक्तिसंगत नहीं माना जाता, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—"सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न युज्यते" (श्लो. वा. पृ. १३१)। दो वाक्यों की एकवाक्यता परस्पर की आकांक्षा के बिना नहीं होती, आकांक्षा प्रकृत की होती है और प्रकृत है शरीरमात्र (उभय शरीर), अतः दोनों शरीर ही यहाँ अव्यक्तपदास्पदत्वेन आकांक्षित हैं, फलतः केवल सूक्ष्मशरीर का वाचक 'अव्यक्त' पद दोनों शरीरों का बोधक है। 'अव्यक्त' पद यदि शरीर-द्वय का मुख्य (अभिधा) वृत्ति से वाचक नहीं होता, एतावता औपचारिक (लक्षणा वृत्ति से शरीर-द्वय का बोधक)

स्ति । तत्राविशिष्टायां शरीरद्वयस्य ग्राह्यत्वाकाङ्क्षायां यथाकाङ्क्षं संबन्धेऽनभ्युपगम्यमान एकवाक्यतैव बाधिता भवति, कुत आम्नातस्यार्थप्रतिपत्तिः ? न चैवं मन्तव्यम्—दुःशोधत्वात्सूक्ष्मस्यैव शरीरस्येह ग्रहणं, स्थूलस्य तु दृष्टबीभत्सतया सुशोधत्वादग्रहणमिति । यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद्विवक्ष्यते । न ह्यत्र शोधनविधायि किंचिदाख्यातमस्ति । अनन्तरनिर्दिष्टत्वात्तु किं तद्विष्णोः परमं पदमितीदमिह विवक्ष्यते । तथाहीदमस्मात्परमिदमस्मात्परमित्युक्त्वा 'पुरुषान्न परं किंचिद्' इत्याह । सर्वथापि त्वानुमानिकनिराकरणोपपत्तेस्तथा नामास्तु, न नः किंचिच्छिद्यते ॥ २ ॥

भामती

विज्ञायते । यथाहुः—

काकेभ्यो रक्ष्यतामन्नमिति बालोऽपि नोदितः ।
उपघातप्रधानत्वान्न श्वादिभ्यो न रक्षति ॥ इति ।

ननु न शरीरद्वयस्यात्राकाङ्क्षा, किन्तु दुःशोधत्वात् सूक्ष्मस्यैव शरीरस्य, न तु षाट्कौशिकस्य स्थूलस्य, तद्धि दृष्टबीभत्सतया सुकरं वैराग्यविषयत्वेन शोधयितुमित्यत आह ❀ न चैवं मन्तव्यम् इति ❀ । विष्णोः परमं पदमवगमयितुं परं पदमत्र प्रतिपाद्यत्वेन प्रस्तुतं न तु वैराग्याय शोधनमित्यर्थः । अलं वा विवादेन भवतु सूक्ष्मशरीरं परिशोध्यं तथापि न सांख्याभिमतमत्र प्रधानं परमित्यभ्युपेत्याह । ❀सर्वथापि तु इति❀ ॥ २ ॥

भामती-व्याख्या

भी नहीं हो सकता—ऐसा नहीं, अपितु उपचारतः अशक्यार्थ के संग्राहक पदों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है, जैसे कि अन्न के घातक प्राणीमात्र के निवर्तन की आकांक्षा से प्रयुक्त 'काकेभ्यो रक्ष्यतामन्नम्'—इस वाक्य में 'काक' पद काककुक्कुरादि समस्त अन्नोपघातक प्राणियों का संग्राहक माना जाता है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—

काकेभ्यो रक्ष्यतामन्नमिति बालोऽपि चोदितः ।
उपघातकप्रधानत्वान्न श्वादिभ्यो न रक्षति ॥ (तं. वा. पृ. ७१२)

वाक्यपदीकार भी कहते हैं—

काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरिति बालोऽपि चोदितः ।
उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति ॥ (वाक्य. पृ. ४२)

शङ्का—प्रकृत में दोनों शरीरों की आकांक्षा नहीं, अपितु केवल सूक्ष्म शरीर ही अपेक्षित है। क्योंकि शरीरों का शोधन (अनात्मत्व-निश्चय) ही यहाँ अपेक्षित है, सूक्ष्म शरीर का शोधन या विवेक ही विशेष दुष्कर है, षाट्कौषिक शरीर का शोधन कठिन नहीं [माता से प्राप्त लोम, लोहित और मांस तथा पिता से प्राप्त स्नायु, अस्थि और मज्जा—इन छः पदार्थों को षट्कोश कहते हैं, स्थूल शरीर के ये ही मौलिक पदार्थ हैं, अतः स्थूल शरीर षाट्कौशिक कहा जाता है, इसमें अनात्मत्व-निश्चय सुकर है], क्योंकि यह तो देखने में ही इतना बीभत्स लगता है कि साधारण व्यक्ति को भी इससे वैराग्य एवं इसमें अनात्मत्व का निश्चय सहज में ही हो जाता है ।

समाधान—उक्त शङ्का का निरास करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि "न चैवं मन्तव्यम्, यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद् विवक्ष्यते" । अर्थात् यहाँ पर शरीर-शोधन का कोई प्रसङ्ग ही नहीं और न शोधन का विधायक कोई पद है । सर्वोपरि अवस्थित वैष्णव परम पद का बोध कराने के लिए एक सोपान के रूप में ही शरीर का ग्रहण किया गया है वैराग्योत्पादनार्थ शोधन की यहाँ कोई अपेक्षा नहीं । अथवा इस विवाद को समाप्त करते हुए यदि

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः। न हि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति। क्वचिच्च विभूतिविशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति। न चेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते। पदमात्रं ह्यव्यक्तशब्दः। नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति। न चानुपदिष्टपदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं प्रतिपत्तुम्। तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधानमभिधीयते। अस्माकं तु रथरूपककॢप्तशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम् ॥ ४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

अत्राह सांख्यः—'ज्ञेयत्वावचनात्' इत्यसिद्धम्, कथम्? श्रूयते ह्युत्तरत्राव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥' (का० २।३।१५) इति। अत्र हि यादृशं शब्दादिहीनं प्रधानं महतः परं स्मृतौ निरूपितं, तादृशमेव निचाय्यत्वेन निर्दिष्टं, तस्मात्प्रधानमेवेदं, तदेव चाव्यक्तशब्दनिर्दिष्टमिति। अत्र ब्रूमः—नेह प्रधानं निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्। प्राज्ञो हीह परमात्मा निचाय्यत्वेन निर्दिष्ट इति गम्यते। कुतः? प्रकरणात्। प्राज्ञस्य हि प्रकरणं वितत वर्तते, 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' इत्यादिनिर्देशात्, 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इति च दुर्ज्ञातत्ववचनेन तस्यैव ज्ञेयत्वाकाङ्क्षणात्। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इति च तज्ज्ञानायैव वागादिसंयमस्य विहितत्वात्, मृत्युमुखप्रमोक्षणफलत्वाच्च। नहि प्रधानमात्रं निचाय्य मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति सांख्यैरिष्यते। चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति तेषामभ्युपगमः। सर्वेषु वेदान्तेषु प्राज्ञस्यैवात्मनोऽशब्दादिधर्मत्वमभिलप्यते। तस्मान्न प्रधानस्यात्र ज्ञेयत्वमव्यक्तशब्दनिर्दिष्टत्वं वा ॥ ५ ॥

भामती

इतोऽपि नायमव्यक्तशब्दः सांख्याभिमतप्रधानपरः। सांख्यैः खलु प्रधानाद्विवेकेन पुरुषं निःश्रेयसाय ज्ञातुं वा विभूत्यै वा प्रधानं ज्ञेयत्वेनोपक्षिप्यते, न चेह जानीयादिति वोपासीतेति वा विधिविभक्तिश्रुतिरस्ति, अपि त्वव्यक्तपदमात्रं, न चैतावता सांख्यस्मृतिप्रत्यभिज्ञानं भवतीति भावः ॥ ४ ॥

ज्ञेयत्वावचनस्यासिद्धिमाशङ्क्य तत्सिद्धिप्रदर्शनार्थं सूत्रम्। निगदव्याख्यातमस्य भाष्यम् ॥ ५ ॥

भामती-व्याख्या

यह मान भी लिया जाता है कि परिशोधनीय सूक्ष्म शरीर ही यहाँ अव्यक्त पदास्पद है। तथापि सांख्याभिमत प्रधान तत्त्व सर्वोपरि सिद्ध नहीं होता ॥ ३ ॥

'अव्यक्त' शब्द की सांख्याभिमत प्रधानपरकता के निराकरण में एक युक्ति यह भी है कि जैसे सांख्याचार्य "गुणपुरुषान्तरज्ञानात् कैवल्यम्" इत्यादि वाक्यों के द्वारा त्रिगुणात्मक प्रधान का कहीं मोक्षार्थ-ज्ञेयत्वेन और कहीं ऐश्वर्य प्राप्त्यर्थ-उपास्यत्वेन स्मरण किया करते हैं, किन्तु अव्यक्त पदार्थ का कहीं भी वैसा स्मरण नहीं करते, तब 'अव्यक्त' शब्दमात्र के सुनने से प्रधान तत्त्व की प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती ॥ ४ ॥

अव्यक्तगत ज्ञेयत्व के अवचन (अनभिधान) की आशङ्कित असिद्धि का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहता है—"वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्"। इस सूत्र का भाष्य इतना सुगम है कि पढ़ते ही अर्थावबोध हो जाता है कि "अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

इतश्च न प्रधानस्याव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा । यस्मात्त्रयाणामेव पदार्था-

भामती

वरप्रदानोपक्रमा हि मृत्युनचिकेतःसंवादवाक्यप्रवृत्तिरासमाप्तेः कठवल्लीनां लक्ष्यते । मृत्युर्नचिकेतसे कुपितेन पित्रा प्रहिताय तुष्टस्त्रीन् वरान् प्रददौ, नचिकेतास्तु प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वव्रे, द्वितीयेनाग्निविद्यां, तृतीयेनात्मविद्याम्, वराणामेष वरस्तृतीय इति वचनात् । न तु तत्र वरप्रदाने प्रधानगोचरे स्तः प्रश्नप्रतिवचने । तस्मात्कठवल्लीष्वग्निजीवपरमात्मपरैव वाक्यप्रवृत्तिर्न त्वप्रक्रान्तप्रधान-परा भवितुमर्हतीत्याह ※ इतश्च न प्रधानस्याव्यक्तशब्दवाच्यत्वम् इति ※ । हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं

भामती-व्याख्या

निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते" (कठो० २।३।२५) इत्यादि वाक्यों में जो अव्यक्त तत्त्व का निचाय्यत्वेन (ज्ञेयत्वेन) उल्लेख माना जाता है, वह संगत नहीं, क्योंकि वहाँ प्राज्ञात्मा (परमेश्वर) का प्रकरण है, अतः वही ज्ञेयत्वेन श्रुत है, अव्यक्ततत्त्व नहीं ॥ ५ ॥

इस अधिकरण का विषय-वाक्य जिस उपनिषत् का है, उसकी किसी भी बल्ली (उपाध्याय) में सांख्याभिमत प्रधानतत्त्व का प्रतिपादन उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि समग्र कठ उपनिषत् नचिकेता और यम का संवादात्मक ग्रन्थ है, जिस का आरम्भ यम के द्वारा वर-प्रदान के रूप में होता है—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥

[यम देव ने कहा—हे नचिकेता ? तू बिना कुछ खाए-पिए मेरे द्वार पर तीन रात पड़ा रहा है, अतः तीन रात्रियों के बदले मुझ से तीन वर माँग ले, जिस से कि मैं उऋण हो सकूँ और मेरा कल्याण हो] । यह नचिकेता वही है, जिसकी धृष्टता पर उस का पिता वाजश्रवस (अन्नदानादि में अग्रणी उद्दालक ऋषि) क्रुद्ध होकर उस (नचिकेता) को यमराज के पास प्रेषित कर देता है और यमराज उस पर प्रसन्न होकर वर देता है। नचिकेता पहला वर माँगता है—"शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युर्गौतमः" [मेरे (नचिकेता के) पिता उद्दालक का उद्वेग और क्रोध शान्त हो जाय एवं मेरे (नचिकेता के) प्रति उसका पूर्ववत् सौमनस्य (वत्सलभाव) जागृत हो] । द्वितीय वर के द्वारा अग्नि-विज्ञान माँगता है—'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम् [हे यम ! आप स्वर्ग-प्राप्ति की साधनभूत अग्नि का ज्ञान रखते हैं । मैं श्रद्धा और विनय के साथ प्रार्थना करता हूँ कि वह विज्ञान मुझे प्रदान करें] । तृतीय वर में आत्मविद्या की माँग रखी—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

[मनुष्य के मर जाने पर जो यह सन्देह किया जाता है कि कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा नहीं मरता, अपि तु जन्मान्तर में भी वही बना रहता है और कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य के मर जाने पर कुछ भी शेष नहीं रहता । ऐसे सन्देहास्पद आत्मा का तत्त्वावबोध मुझे कराएँ] । प्रधान (सांख्याभिमत प्रकृति) के विषय में न तो कोई वर-प्रदान ही किया गया है और प्रश्नोत्तर ही उपलब्ध होते हैं, अतः कठोपनिषत् के प्रतिपाद्य तीन ही विषय हैं—अग्नि, जीव और परमात्मा । इन से अतिरिक्त किसी प्रधानादि विषय को लेकर वहाँ वाक्यों की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती—"यस्मात् त्रयाणामेव पदार्थानामग्नि-जीवपरमात्मनां वरप्रदानसामर्थ्यात्" । 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्'

नामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे कठवल्लीषु वरप्रदानसामर्थ्याद्वक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते। तद्विषय एव च प्रश्नः। नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वाऽस्ति। तत्र तावत् 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्' (का० १।१।१३) इत्यग्निविषयः प्रश्नः। 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥' (का० १।१।२०) इति जीवविषयः प्रश्नः। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥' (का० १।२।१४) इति परमात्मविषयः। प्रतिवचनमपि 'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।' (का० १।१।१५) इत्यग्निविषयम्। 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' (का० २।५।६,७) इति। व्यवहितं जीवविषयम्। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (का० १।२।१८) इत्यादिबहुप्रपञ्चं परमात्मविषयम्। नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति, अपृष्टत्वाच्चानुपन्यसनीयत्वं तस्येति। अत्राह—योऽयमात्मविषयः प्रश्नो येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीति, किं स एवायम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद्' इति पुनरनुकृष्यते? किंवा ततोऽन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इति? किंचातः स एवायं प्रश्नः पुनरनुकृष्यत इति यद्युच्येत, द्वयोरात्मविषययोः प्रश्नयोरेकतापत्तेरग्निविषय आत्मविषयश्च द्वावेव प्रश्नावित्यतो न वक्तव्यं त्रयाणां

भामती

ब्रह्म सनातनमित्यनेन व्यवहितं जीवविषयं यथा तु मरणं प्राप्यात्मा भवति गौतमेत्यादिप्रतिवचनमिति योजना। अत्राह चोदकः किं जीवपरमात्मनोरेक एव प्रश्नः किं वाऽन्यो जीवस्य येयं प्रेते मनुष्य इति प्रश्नोऽन्यश्च परमात्मनोऽन्यत्र धर्मादित्यादिः? एकत्वे सूत्रविरोधः 'त्रयाणाम् इति"। भेदे तु सौमनस्यावाप्त्यग्न्यात्मज्ञानविषयवरत्रयप्रदानानन्तर्भावोऽन्यत्र धर्मादित्यादेः प्रश्नस्य। तुरीयवरान्तरकल्पनायां वा

भामती—व्याख्या

(कठो० २।२।६) यह परमात्मपरक वाक्य जीवविषयक प्रश्न और प्रतिवचन का व्यवधायक है, इसका स्पष्टीकरण भाष्यकार करते हैं—"इतिव्यवहितजीवविषयम्"। उसका तात्पर्य यह है कि "इत्यनेन परमात्मविषयकप्रतिवचनस्य प्रतिज्ञावाक्येन व्यवहितं जीवविषयकं प्रतिवचनम्—'यथा तु मरणं प्राप्यात्मा भवति गौतम इत्यादि [अर्थात् पहले जीवविषयक प्रश्न है—"येयं प्रेते विचिकित्सा" (कठो. १।१।२०)। इसके अनन्तर परमात्मविषयक प्रतिवचन का प्रतिज्ञा-वाक्य है—"हन्त ते कथयिष्यामि" (कठो. २।२।६) और इसके पश्चात् है जीवविषयक प्रतिवचन—यथा तु मरणं प्राप्यात्मा भवति गौतम्" (कठो. २।२।६)। इस प्रकार जीवविषयक प्रश्न और प्रतिवचन निरन्तर (अव्यवहित) न होकर सान्तर (व्यवहित) हो जाते है]।

शङ्का—भाष्यकार ने जो कहा है "अत्राह"। वहाँ प्रश्न उठता है—'कः?' उसका उत्तर है—'आक्षेप्ता' अर्थात् आक्षेपवादी शङ्का करता है कि क्या जीवात्मा और परमात्मा को लेकर एक ही प्रश्न किया गया है? अथवा "येयं प्रेते मनुष्य" यह जीवविषयक प्रश्न अन्य है और "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्"—यह परमात्म-विषयक प्रश्न अन्य? यदि अन्य प्रश्न नहीं, अपितु एक ही है, तब नचिकेता के सब मिला कर दो ही प्रश्न बनते हैं, तीन नहीं, फिर तो 'त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः" (ब्र. सू. १।४।६) इस सूत्र का विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि इस सूत्र में तीन प्रश्नों का होना निर्दिष्ट है। यदि आत्मविषयक प्रश्न से परमात्म-

प्रश्नोपन्यासाविति। अथान्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इत्युच्येत, ततो यथैव वर-प्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोषः, एवं प्रश्नव्यतिरेकेणापि प्रधानोपन्यासकल्पनायामदोषः स्यादिति। अत्रोच्यते नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कञ्चित्कल्पयामः, वाक्योपक्रमसामर्थ्यात्। वरप्रदानोपक्रमा हि मृत्युनचिकेतःसंवादरूपा वाक्यप्रवृत्तिरासमाप्तेः कठवल्लीनां लक्ष्यते। मृत्युः किल नचिकेतसे पित्रा प्रहिताय त्रीन्वरान्प्रददौ। नचिकेताः किल तेषां प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वव्रे, द्वितीयेनाग्निविद्याम्, तृतीयेनात्मविद्याम्, 'येयं प्रेते' इति 'वराणामेष वरस्तृतीयः' (का० १।१।२०) इति लिङ्गात्। तत्र यद्यन्यत्र धर्मादित्यन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्येत, ततो वरप्रदानव्यतिरेकेणापि प्रश्नकल्पनाद्वाक्यं बाध्येत। ननु प्रष्टव्यभेदादपूर्वोऽयं प्रश्नो भवितुमर्हति। पूर्वो हि प्रश्नो जीवविषयः, येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति-नास्तीतिविचिकित्साभिधानात्। जीवश्च धर्मादिगोचरत्वान्नान्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति प्राज्ञस्तु धर्माद्यतीतत्वादन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति। प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते, पूर्वस्यास्तित्वनास्तित्वविषयत्वादुत्तरस्य धर्माद्यतीतवस्तुविषयत्वात्। तस्मात्प्रत्यभिज्ञानाभावात्प्रश्नभेदः। न पूर्वस्यैवोत्तरत्रानुकर्षणमिति चेत्, न, जीवप्राज्ञयोरेकत्वाभ्युपगमात्। भवेत्प्रष्टव्यभेदात्प्रश्नभेदो यद्यन्यो जीवः प्राज्ञात्स्यात्। न त्वन्यत्वमस्ति। तत्त्वमसीत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः। इह च 'अन्यत्र धर्माद्' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं 'न जायते म्रियते वा विपश्चिद्' इति जन्ममरणप्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति। सति हि प्रसङ्गे प्रतिषेधो भागी भवति। प्रसङ्गश्च जन्ममरणयोः शरीरसंस्पर्शाच्छारीरस्य भवति, न परमेश्वरस्य। तथा—'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥' (का० २।१।४) इति स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्वविशेषणस्य मननेन शोकविच्छेदं दर्शयन् प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति। प्राज्ञविज्ञानाद्धि

भामती

तृतीय इति श्रुतिबाधप्रसङ्गः। वरप्रदानान्तर्भावे प्रश्नस्य तद्वत् प्रधानाख्यानमप्यनन्तर्भूतं वरप्रदानेऽस्तु महतः परमव्यक्तमित्याक्षेपः।

परिहरति ❀ अत्रोच्यते नैवं वयमिह इति ❀। वस्तुतो जीवपरमात्मनोरभेदात् प्रष्टव्याभेदेनैक एव प्रश्नः। अत एव प्रतिवचनमप्येकं, सूत्रं त्ववास्तवभेदाभिप्रायम्। वास्तवश्च जीवपरमात्मनोरभेदस्तत्र

भामती—व्याख्या

विषयक प्रश्न को भिन्न माना जाता है, तब चार प्रश्न हो जाते हैं, क्योंकि परमात्मविषयक प्रश्न का (१) सौमनस्य-प्राप्ति, (२) अग्नि और (३) जीव—इन तीन विषयों के वर-प्रदान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। परमात्मविषयक ज्ञान को चौथा वर-प्रदान मानने पर "वराणामेष वरस्तृतीयः"—यह श्रुति-वाक्य विरुद्ध या बाधितार्थक हो जाता है। यदि तीन वरों से भिन्न परमात्मविषयक चतुर्थ वर-प्रदान की कल्पना की जाती है, तब उसी प्रकार प्रधान (प्रकृति) के प्रतिपादन को भी उक्त चार वर-प्रदानों से अतिरिक्त पाँचवाँ वर-प्रदान माना जा सकता है। फलतः 'महतः परमव्यक्तम्'—इत्यादि पदावलि का पर्यवसान सांख्याभिमत प्रधान (प्रकृति) तत्त्व के प्रतिपादन में क्यों नहीं माना जा सकता?

समाधान—भाष्यकार उक्त शङ्का का समाधान करते हैं—"अत्रोच्यते नैवं वयमिह वर-प्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कंचित् कल्पयामः"। आशय यह है कि जीव और परमात्मा का वस्तुतः अभेद होने के कारण दोनों का एक ही प्रश्न में समावेश हो जाता है, अत एव

शोकविच्छेद इति वेदान्तसिद्धान्तः। तथाऽग्रे 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥' (का० २।४।१०) इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति। तथा जीवविषयस्यास्तित्वनास्तित्वप्रश्नस्यानन्तरम् 'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व' इत्यारभ्य मृत्युना तैस्तैः कामैः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल, तदैनं मृत्युरभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च 'विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त' (का० १।२।४) इति प्रशस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशंसन्नुवाच—'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥' (का० १।२।१२) इति, तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते। यत्प्रश्ननिमित्तां च प्रशंसां महतीं मृत्योः प्रत्यपद्यत नचिकेताः, यदि तं विहाय प्रशंसानन्तरमन्यमेव प्रश्नमुपक्षिपेदस्थान एव सा सर्वा प्रशंसा प्रसारिता स्यात्। तस्मात् 'येयं प्रेते'

भामती

तत्र श्रुत्युपन्यासेन भगवता भाष्यकारेण दर्शितः। तथा जीवविषयस्यास्तित्वनास्तित्वप्रश्नस्येत्यादि। येयं प्रेत इति हि नचिकेतसः प्रश्नमुपश्रुत्य तत्तत्कामविषयप्रलोभं चास्य प्रतीत्य मृत्युर्विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्य इत्यादिना नचिकेतसं प्रशस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशंसन्नस्मिन् प्रश्ने ब्रह्मैवोत्तरमुवाच। तं दुर्दर्शम् इति। यदि पुनर्जीवात्प्राज्ञो भिद्येत जीवगोचरः प्रश्नः प्राज्ञगोचरं चोत्तरमिति किं केन सङ्गच्छेत? अपि च यद्विषयं प्रश्नमुपश्रुत्य मृत्युनैव प्रशंसितो नचिकेता यदि तमेव भूयः पृच्छेत्तदुत्तरे चावदध्यात् ततः प्रशंसा दृष्टार्था स्यात् प्रश्नान्तरे त्वसावस्थाने प्रसारित सत्यदृष्टार्था स्यादित्याह यत्प्रश्नः इति। यस्मिन् प्रश्नो यत्प्रश्नः। शेषमतिरोहितार्थम्॥ ६॥

भामती—व्याख्या

प्रतिवचन भी एक ही है। सूत्रकार ने जो तीन प्रश्नों का निर्देश किया है, वह जीव और परमात्मा के औपाधिक भेद को मन में रख कर किया है। जीव और परमात्मा का वास्तविक अभेद है—यह भगवान् भाष्यकार ने "तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) इत्यादि श्रुति प्रमाणों का उपन्यास करके सिद्ध किया है। 'तथा जीवविषयस्यास्तित्वप्रश्नस्येत्यादि" भाष्य के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि नचिकेता के "येयं प्रेते विचिकित्सा"—इस प्रश्न को सुन कर यम देव ने चिरजीवन, पुत्रपौत्र, विविध धन-धान्यादि के विविध प्रलोभन दिए "विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये'— इत्यादि वाक्यों के द्वारा नचिकेता की प्रशंसा की, इतना ही नहीं, नचिकेता के जीवविषयक प्रश्न की भी प्रशंसा की और उसके उत्तर में परमात्मा (ब्रह्म) का स्वरूप प्रस्तुत किया—"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्" (कठो. १।२।१२)। यदि जीव से प्राज्ञात्मा (ब्रह्म) भिन्न है, तब जीवविषयक प्रश्न के उत्तर में प्राज्ञ की चर्चा संगत क्योंकर होगी ? दूसरी बात यह भी है कि जिस विषय का प्रश्न सुनकर यम ने नचिकेता की प्रशंसा की यदि उसी विषय का प्रश्न वह दुबारा करता है और उसका उत्तर सुनने की उत्सुकता दिखाता है, तब उसकी प्रशंसा दृष्टार्थक होती है, अन्यथा विषयान्तर का प्रश्न करने पर प्रशंसा अदृष्टार्थक हो जाती है—ऐसा भाष्यकार कह रहे है—यत्प्रश्ननिमित्तां च प्रशंसां महतीं मृत्योः प्रत्यपद्यत नचिकेताः"। 'यत्प्रश्न' पद में सप्तमी समास है—'यस्मिन् (विषये) प्रश्नः यत्प्रश्नः' अर्थात् जिस विषय का प्रश्न सुनकर यमदेव ने नचिकेता की महती प्रशंसा की, उस विषय को छोड़ कर अन्यविषयक प्रश्न की कल्पना की जाती है, तब वह प्रशंसा नितान्त अनुचित हो जाती है। फलतः जीवविषयक 'येयं प्रेते'—इस प्रश्न का ही 'अन्यत्र धर्मात्'—यहाँ अनुवर्तन होता है। शेष भाष्य अत्यन्त सुगम है॥ ६॥

इत्यस्यैव प्रश्नस्यैतदनुकर्षणम् 'अन्यत्र धर्माद्' इति। यत्तु प्रश्नच्छायावैलक्षण्यमुक्तं, तद्दूषणम्, तदीयस्यैव विशेषस्य पुनः पृच्छ्यमानत्वात्। पूर्वत्र हि देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वं पृष्टम्, उत्तरत्र तु तस्यैवासंसारित्वं पृच्छ्यत इति, यावद्धयविद्या न निवर्तते तावद्धर्मादिगोचरत्वं जीवस्य जीवत्वं च न निवर्तते। तन्निवृत्तौ तु प्राज्ञ एव तत्त्वमसीति श्रुत्या प्रत्याय्यते। न चाविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुनः कश्चिद्विशेषोऽस्ति। यथा कश्चित्संतमसे पतितां कांचिद्रज्जुमहिं मन्यमानो भीतो वेपमानः पलायते, तं चापरो ब्रूयान्मा भैषीर्नायमही रज्जुरेवेति। स च तदुपश्रुत्याहिकृतं भयमुत्सृजेद्वेपथुं पलायनं च। न त्वहिबुद्धिकाले तदपगमकाले च वस्तुनः कश्चिद्विशेषः स्यात्। तथैवैतदपि द्रष्टव्यम्। ततश्च 'न जायते म्रियते वा' इत्येवमाद्यपि भवत्यस्तित्वप्रश्नस्य प्रतिवचनम्। सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया योजयितव्यम्। एकत्वेऽपि ह्यात्मविषयस्य प्रश्नस्य प्रायणावस्थायां देहव्यतिरिक्तास्तित्वमात्रविचिकित्सनात् कर्तृत्वादिसंसारस्वभावानपोहनाच्च पूर्वस्य पर्यायस्य जीवविषयत्वमुत्प्रेक्ष्यते। उत्तरस्य तु धर्माद्यत्ययसंकीर्तनात्प्राज्ञविषयत्वमिति। ततश्च युक्ताऽग्निजीवपरमात्मकल्पना। प्रधानकल्पनायां तु न वरप्रदानं न प्रश्नो न प्रतिवचनमिति वैषम्यम् ॥ ६ ॥

महद्वच्च ॥ ७ ॥

यथा महच्छब्दः सांख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वैदिकेऽपि प्रयोगेऽभिधत्ते। 'बुद्धेरात्मा महान्परः' (का० १।३।१०), 'महान्तं विभुमात्मानम्' (का० १।२।२२), 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३।८) इत्येवमादावात्मशब्दप्रयोगादिभ्यो हेतुभ्यः। तथाऽव्यक्तशब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभिधातुमर्हति। अतश्च नास्त्यानुमानिकस्य शब्दवत्त्वम् ॥ ७ ॥

भामती

अनेन सांख्यप्रसिद्धेर्वैदिकप्रसिद्धया विरोधान्न सांख्यप्रसिद्धिर्वेद आवर्तव्येत्युक्तम्। सांख्यानां महत्तत्त्वं सत्तामात्रं पुरुषार्थक्रियाक्षमं सत्तस्य भावः सत्ता तन्मात्रं महत्तत्त्वमिति। या या पुरुषार्थक्रिया शब्दाद्युपभोगलक्षणा च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिलक्षणा च सा सर्वा महति बुद्धौ समाप्यत इति महत्तत्त्वं सत्तामात्रमुच्यत इति ॥ ७ ॥

भामती-व्याख्या

पहले सूत्रों में कहा गया था कि 'अव्यक्त' शब्द की सांख्याचार्य-प्रसिद्ध रूढि वेदान्त में अनुपयुक्त है, और इस सूत्र के द्वारा यह कहा जाता है कि 'अव्यक्त' शब्द की सांख्य-मत-प्रसिद्धि वैसे ही वेदान्त-प्रसिद्धि से बाधित है, जैसे 'महत्' शब्द की [फलतः यह अनुमान यहाँ विवक्षित है—'अव्यक्तशब्दो न सांख्यस्मृतिप्रसिद्धार्थगोचरः, वैदिक शब्दत्वात्, महच्छब्दवत्]। सांख्य दर्शन-प्रयुक्त 'महत्' शब्द का अर्थ है—'सत्तामात्र'। बौद्धदर्शनकारों ने परमार्थसत् का लक्षण करते हुए कहा है—"अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्" (प्र. वा. पृ० १७५)। अर्थक्रिया नाम है प्रयोजन या पुरुषार्थ का, वह सांख्य-दृष्टया भोग और मोक्ष भेद से दो प्रकार का होता है—(१) शब्दादि समस्त विषयों का उपभोग और (२) प्रकृति-पुरुष की विवेक-ख्याति। दोनों प्रकार की अर्थक्रिया बुद्धि ही किया करती है—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ (सां. का. ३६)

(२ चमसाधिकरणम् । सू० ८—१०)

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

पुनरपि प्रधानवादी अशब्दत्वं प्रधानस्यासिद्धमित्याह। कस्मात् ? मन्त्रवर्णात्— 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (श्वे० ४।५) इति। अत्र हि मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णशब्दै रजःसत्त्वतमांस्यभिधीयन्ते। लोहितं रजः, रञ्जनात्मकत्वात्। शुक्लं सत्त्वं, प्रकाशात्मकत्वात्। कृष्णं तमः, आवरणात्मकत्वात्। तेषां साम्यावस्थाऽवयवधर्मैर्व्यपदिश्यते लोहितशुक्लकृष्णेति। न जायत इति चाजा स्यात्, 'मूलप्रकृतिरविकृतिः'

भामती

अजाशब्दो यद्यपि छागायां रूढस्तथाप्यध्यात्मविद्याधिकारान्न तत्र वर्तितुमर्हति। तस्माद्रूढेरसम्भवाद्योगेन वर्तयितव्यः। तत्र किं स्वतन्त्रं प्रधानमनेन मन्त्रवर्णेनानूद्यतामुत पारमेश्वरी मायाशक्तिस्तेजोऽबन्नव्याकियाकारणमुच्यताम् ? किं तावत् प्राप्तं ? प्रधानमेवेति। तथाहि यादृशं प्रधानं सांख्यैः स्मर्यते तादृशमेवास्मिन्नन्यूनानतिरिक्तं प्रतीयते, सा हि प्रधानलक्षणा प्रकृतिर्न जायत इत्यजा च एका च लोहितशुक्लकृष्णा च। यद्यपि लोहितत्वादयो वर्णा न रजःप्रभृतिषु सन्ति, तथापि लोहितं कुसुम्भादि रञ्जयति

भामती—व्याख्या

इस प्रकार सांख्य-सम्मत महत् पदार्थ ही सत् या अर्थक्रियाकारी सिद्ध होता है। यह सत्ता या सत्त्व इस लिए कहलाता है कि वह प्रकृतिगत सत्त्वगुण का विकार है]। किन्तु "बुद्धेरात्मा महान् परः" (कठो० १।३।१०) इत्यादि श्रुति-वाक्यों में 'महत्' पद का अर्थ बुद्धि नहीं अपि तु चैतन्य पुरुष है, क्योंकि 'आत्म' शब्द के प्रयोग का सामञ्जस्य जड़ात्मिका बुद्धि में सम्भव नहीं ॥ ७ ॥

विषय—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (श्वेता० ४।४) इस श्रुति का 'अजा' शब्द विचारणीय है।

संशय—उक्त श्रुति में प्रयुक्त 'अजा' को लेकर सन्देह होता है कि यद्यपि 'अजा' शब्द लोक-वेद-व्यवहारतः छाग (बकरी) में रूढ़ है [लोक और वेद में बकरी के लिए यद्यपि ङीषन्त 'छागी' शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है, तथापि शांखायन (७।१०) और शतपथ (३।३।३।४) आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में टाबन्त 'छागा' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है]। तथापि अध्यात्मविद्या का प्रकरण होने के कारण यहाँ 'अजा' शब्द छागी का बोधक नहीं हो सकता, अतः रूढ़ि का परित्याग कर एवं यौगिक शक्ति का सहारा लेकर किसी अर्थ का आविष्कार करना होगा। तब 'न जायते इत्यजा'—ऐसी व्युत्पत्ति के अनुसार 'अजा' शब्द के द्वारा सांख्यसम्मत प्रधान (प्रकृति) का ग्रहण किया जाय ? अथवा तेज, जल और पृथिवी की संवलितावस्थारूप पारमेश्वरी शक्ति (माया) ?

पूर्वपक्ष—यहाँ 'अजा' शब्द से सांख्य-सम्मत प्रधान तत्त्व का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि सांख्याचार्यों ने प्रधान तत्त्व का जो स्वरूप अपने दर्शन में अभिहित किया है, ज्यों-का-त्यों उक्त श्रुति में प्रतीत होता है। वह प्रधानरूप प्रकृति अनादि है, उत्पन्न नहीं होती, अतः अजा (जन्म-रहिता) कही जाती है, एक है और लोहितशुक्लकृष्णरूपा है। यद्यपि रजोगुणादि में लोहितत्वादि (रक्तत्वादि वर्ण नहीं होते, तथापि जैसे कुसुम्भ (बर्रे का फूल) आदि स्वयं रक्त (लाल) होकर अपने सम्पर्क में आनेवाले वस्त्रादि को अभिरञ्जित कर (लाल बना) देते हैं, वैसे ही रजोगुणादि अपने सम्बन्धित कार्यादि को रजोगुणात्मक बना

इत्यभ्युपगमात्। नन्वजाशब्दश्छागायां रूढः। बाढम्, सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या, विद्याप्रकरणात्। सा च बह्वीः प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति। तां प्रकृतिमज

भामती

रजोऽपि रञ्जयतीति लोहितम्। एवं प्रसन्नं पाथः शुक्लं सत्त्वमपि प्रसन्नमिति शुक्लम्। एवमावरकं मेघादि कृष्णं तमोऽप्यावरकमिति कृष्णम्। परेणापि नाव्याकृतस्य स्वरूपेण लोहितत्वादियोग आस्थेयः, किन्तु तत्कार्य्यस्य तेजोऽबन्नस्य रोहितत्वादि कारण उपचरणीयम्। कार्यसारूप्येण वा कारणे कल्पनीयं तदस्माकमपि तुल्यम्। 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इति स्वात्मभेदश्रवणात् सांख्यस्मृतेरेवात्र मन्त्रवर्णे प्रत्यभिज्ञानं न त्वव्याकृतप्रक्रियायाः। तस्यामैकात्म्याभ्युपगमेनात्मभेदाभावात्। तस्मात् स्वतन्त्रं प्रधानं नाशब्दमिति प्राप्तम्। ॐतेषां साम्यावस्था अवयवधर्मैरितिॐ। अवयवाः प्रधानस्यैकस्य सत्त्वरजस्तमांसि तेषां धर्मा लोहितत्वादयस्तैरिति। ॐ प्रजास्त्रैगुण्यान्विताः इति ॐ। सुखदुःखमोहात्मिकाः। तथाहि—मैत्रदारेषु नर्मदायां मैत्रस्य सुखं तत् कस्य हेतोस्तं प्रति सत्त्वसमुद्भ-

भामती–व्याख्या

देते हैं। जैसे स्वच्छ जल शुक्ल कहलाता है, वैसे सत्त्वगुण भी स्वच्छ होने से शुल्क कहा जाता है। इसी प्रकार प्रकाश के अवरोधक मेघादि को कृष्ण कहते हैं, तमोगुण भी सत्त्वादि का अवरोधक है, अतः कृष्ण कहा गया है। रजोगुणादि में लोहितत्वादि उपचार केवल सांख्याचार्यों को ही नहीं करना पड़ता, अपि तु वेदान्तियों को भी अपनी अव्याकृत माया में लोहितत्वादि का उपचार मानना पड़ता है, क्योंकि माया मे भी स्वरूपतः लोहितत्वादि का योग सम्भव नहीं, अपि तु उसके कार्यभूत तेज, जल और पृथिवी में बर्तमान लोहितत्वादि मायारूप कारण में उपचरित होते हैं। अथवा तेज आदि रूप कार्य (जन्य) पदार्थों में लोहितत्वादि को देखकर उनके जनकीभूत प्रधानतत्त्व में वस्तुतः लोहितत्वादि के सत्त्व की कल्पना (अनुमिति) ही जाती है; क्योंकि उपादान कारण और कार्य का वेदान्त-मत में सारूप्य माना जाता है। यह सब कुछ हम सांख्यवादी भी कर सकते हैं। उक्त श्रुति में वेदान्त-सिद्धान्त की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, क्योंकि वेदान्ती 'आत्मा' एक ही मानते हैं, किन्तु उक्त श्रुति में बद्ध और मुक्त आत्माओं का भेद (आत्मनानात्व) प्रतिपादित है—"अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वेता० ४।५)। अतः उक्त श्रुति में सांख्य-दर्शन का ही प्रत्यभिज्ञान होता है, वेदान्त-सम्मत अव्याकृतवाद का नहीं। फलतः स्वतन्त्र (किसी चेतन तत्त्व से अधिष्ठित न होकर) प्रधान (प्रकृति) ही जगत् का कारण है, ब्रह्म नहीं और 'ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्र० सू० १।१।५) इस सूत्र के द्वारा जो प्रकृति को अशब्द (प्रमाण-रहित) कह कर सांख्य-मत का खण्डन किया गया, वह अनुचित है, क्योंकि उक्त श्रुतिरूप शब्द प्रमाण के द्वारा सांख्य-मत प्रमाणित है।

"तेषां साम्यावस्थाऽवयवधर्मैर्लोहितशुक्लकृष्णेति व्यपदिश्यते"—इस भाष्य का अर्थ यह है कि यद्यपि उक्त श्रुति में प्रधानादि शब्दों के द्वारा प्रकृति का प्रतिपादन नहीं किया गया, तथापि रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, वह एक है उसके रजोगुणादि अवयव हैं। उनके जो लोहितत्वादि धर्म हैं, उनको प्रवृत्ति-निमित्त मानकर प्रकृति का लोहितशुक्लकृष्णा' शब्द के द्वारा अभिधान किया गया है। "सा च बह्वीः त्रैगुण्यान्विता जनयति"। उस अजा (प्रकृति) का प्रत्येक प्रजा (कार्य) सुख, दुःख और मोह—इन तीन गुणों से समन्वित होती है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस दृष्टान्त के द्वारा हो जाता है कि 'मैत्र' नाम के पुरुष की रूपयौवन-सम्पन्न 'नर्मदा' नाम की पत्नी है, उसको देखकर उसका पति सुख-विभोर हो जाता है, क्योंकि अपने पति के लिए वह सुखरूप (सत्त्वात्मक) है।

एकः पुरुषो जुषमाणः प्रीयमाणः सेवमानो वाऽनुशेते। तामेवाविद्ययाऽऽत्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकितया संसरति। अन्यः पुनरजः पुरुष उत्पन्नविवेकज्ञानो विरक्तो जहात्येनां प्रकृतिं भुक्तभोगां कृतभोगापवर्गां परित्यजति, मुच्यत इत्यर्थः। तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादिकल्पना कापिलानामिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—नानेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्वं सांख्यवादस्य शक्यमाश्रयितुम्। न ह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कंचिदपि वादं

भामती

वात्। तथा च तत्सपत्नीनां दुःखं तत्कस्य हेतोस्ताः प्रति रजःसमुद्भवात्। तथा चैत्रस्य तामविन्दतो मोहो विषादः स कस्य हेतोस्तं प्रति तमःसमुद्भवात्। नर्मदया च सर्वे भावा व्याख्याताः। तदिदं त्रैगुण्यान्वितत्वं प्रजानाम्। अनुशेत इति व्याचष्टे ❀ तामेवाविद्यया इति ❀। विषया हि शब्दादयः प्रकृतिविकारास्त्रैगुण्येन सुखदुःखमोहात्मान इन्द्रियमनोऽहङ्कारप्रणालिकया बुद्धिसत्त्वमुपसंक्रामन्ति। तेन तद्बुद्धिसत्त्वं प्रधानविकारः सुखदुःखमोहात्मकं शब्दादिरूपेण परिणमते। चितिशक्तिस्त्वपरिणामिन्यप्रति-संक्रमापि बुद्धिसत्त्वादात्मनो विवेकमबुध्यमाना बुद्धिवृत्त्यैव विपर्यासेनाविद्यया बुद्धिस्थान् सुखादीन् आत्मन्यभिमन्यमाना सुखादिमतीव बभूव। तदिदमुक्तं सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकितया संसरत्येकः। सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिसमुन्मूलितनिखिलवासनाविद्यानुबन्धस्त्वन्यो जहात्येनां प्रकृतिं तदिदमुक्तम् ❀ अन्यः पुनः इति ❀। भुक्तभोगामिति व्याचष्टे ❀कृतभोगापवर्गाम्❀। शब्दाद्युपलब्धिर्भोगः। गुणपुरुषान्यताख्या-तिरपवर्गः। अपवृज्यते हि तया पुरुष इति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते न तावदजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य इत्येतदात्म-

भामती—व्याख्या

उसी को देखकर उसकी सपत्नियाँ दुःखी होती हैं, क्योंकि उनके प्रति वह रजोगुणात्मक है। चैत्रादि पड़ोसी व्यक्तियों को जिन्हें वह स्त्री प्राप्त नहीं होती, दूर से देख-देख कर मोह होता है, क्योंकि उनके प्रति वह तमोरूप होती है। इसी प्रकार प्रत्येक प्राकृत पदार्थ त्रिगुणात्मक है।

श्रुतिगत 'अनुशेते' शब्द की व्याख्या की जा रही है—'तामेवाविद्ययाऽऽत्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकितया संसरति''। अर्थात् प्रकृति के विकारभूत शब्दादि विषय त्रैगुण्यसमन्वित होने के कारण सुख-दुःख-मोहात्मक होते हैं। वे इन्द्रिय, मन और अहंकार के माध्यम से बुद्धिगत सत्त्व में संक्रान्त हो जाते हैं, अतः बुद्धिगत सत्त्व सुख-दुःख-मोह-समन्वित होने के कारण शब्दादिरूपेण परिणत होता है। इसके विपरीत चैतन्य पुरुष सुखादि से असंक्रान्त होने के कारण अपरिणामी होता है फिर भी बुद्धिगत सत्त्व से विवेक-ज्ञान न होने के कारण चिदात्मा बुद्धि-सत्त्व को अपना स्वरूप और उसके सुखादि को अपना ही धर्म मानकर अपने को सुखादिमान् मान लेता है। जो पुरुष सत्त्व और पुरुष की विवेक-ख्याति के द्वारा निखिल वासनाओं से युक्त अविद्या के सम्बन्ध का विच्छेद कर डालता है, वह पुरुष इस प्रकृति का परित्याग कर देता है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—''अन्यः पुनरजः पुरुषः''। श्रुतिगत ''भुक्तभोगाम्''—इस विशेषण की व्याख्या है–''कृतभोगापवर्गाम्''। शब्दादि विषयों की उपलब्धि का नाम भोग एवं सत्त्व और पुरुष की अन्यता (भेद) की ख्याति का नाम अपवर्ग है [यहाँ मोक्षार्थक 'अपवर्ग' पद मोक्ष के साधनीभूत सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के लिए प्रयुक्त हुआ है] क्योंकि इस अन्यताख्याति के द्वारा ही पुरुष अपवृक्त (मुक्त) होता है।

सिद्धान्त—पहली बात तो यह है कि ''अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः''—यह वाक्य आत्मनानात्व का प्रतिपादक नहीं, अपितु लोक-सिद्ध आत्मनानात्व का अनुवाद करके बन्ध और मोक्ष का प्रतिपादन करता है। वह अनूद्यमाव

समर्थयितुमुत्सहते, सर्वत्रापि यया कयाचित्कल्पनयाऽजात्वादिसंपादनोपपत्तेः सांख्यवाद एवेहाभिप्रेत इति विशेषावधारणकारणाभावात्। चमसवत्। यथा हि 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' (बृ० २।२।३) इत्यस्मिन्मन्त्रे स्वातन्त्र्येणायं नामासौ चमसोऽभिप्रेत इति न शक्यते निरूपयितुम्। सर्वत्रापि यथाकथंचिदर्वाग्बिलत्वादिकल्पनोपपत्तेः। एवमिहाप्यविशेषः 'अजामेकाम्' इत्यस्य मन्त्रस्य। नास्मिन्मन्त्रे प्रधानमेवाजाऽभिप्रेतेति शक्यते नियन्तुम् ॥ ८ ॥

तत्र तु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इति वाक्यशेषाच्चमसविशेषप्रतिपत्तिर्भवति। इह पुनः केयमजा प्रतिपत्तव्येति? अत्र ब्रूमः—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या। तुशब्दोऽवधारणार्थः। भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया, न गुणत्रयलक्षणा। कस्मात्? तथा ह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं

भामती

भेदप्रतिपादनपरमपि तु सिद्धमात्मभेदमनूद्य बन्धमोक्षौ प्रतिपादयतीति। स चानूदितो भेदः—

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'

इत्यादिश्रुतिभिरात्मैकत्वप्रतिपादनपराभिर्विरोधात्काल्पनिकोऽवतिष्ठते। तथा च न सांख्यप्रक्रियायाः प्रत्यभिज्ञानमित्यजावाक्यं चमसवाक्यवत्परिप्लवमानं न स्वतन्त्रप्रधाननिश्चयाय पर्याप्तं, तदिदमुक्तं सूत्रकृता—''चमसवदविशेषादिति'' ॥ ८ ॥

उत्तरसूत्रमवतारयितुं शङ्कते ॐतत्र त्विदं तच्छिर इतिॐ। सूत्रमवतारयति ॐअत्र ब्रूमः ॐ। सर्वशाखाप्रत्ययमेकं ब्रह्मेति स्थितौ शाखान्तरोक्तरोहितादिगुणयोगिनी तेजोबन्नरूपा जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जचतुर्विधभूतग्रामप्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या। रोहितशुक्लकृष्णामिति रोहितादिरूपतया तस्या

भामती—व्याख्या

आत्मनानात्व ''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'' (श्वेता. ६।११) इत्यादि आत्मैकत्व-प्रतिपादक श्रुति-वाक्यों से बाधित होकर काल्पनिक मात्र रह जाता है। फलतः उक्त श्रुति में सांख्य-प्रक्रिया का प्रत्यभिज्ञान सम्भव नहीं, अतः अजा-घटित वाक्य चमस-घटित वाक्य के समान अनिश्चितार्थक होने के कारण स्वतन्त्र प्रकृतिवाद का निर्णायक नहीं हो सकता, सूत्रकार यही कर रहे हैं—''चमसवदविशेषात्'' ॥ ८ ॥

उत्तरभावी सूत्र का अवतरण प्रस्तुत करने के लिए सन्देह किया जाता है—''तत्र त्विदं तच्छिर एव ह्यर्वाग्बिलश्चमस उर्ध्वबुध्नः''। अर्थात् दृष्टान्त-स्थल पर वाक्य-शेष के द्वारा शिरःकपालरूप चमस-विशेष का निश्चय किया जाता है किन्तु उक्त श्रुति में 'अजा' पद वेदान्त-सम्मत विशेष अर्थ का समर्पक क्योंकर होगा? उक्त सन्देह के समाधान में उत्तरभावी सूत्र को अवतरित किया जाता है—''अत्र ब्रूमः''। दार्ष्टान्त-स्थल पर निर्णायक ''यदग्ने रोहितं रूपम्'' (छां. ६।४।१) यह वाक्यशेष यद्यपि अन्य शाखा का है, तथापि शाखान्तराधिकरण में कहा गया है—''एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्'' (जै. सू. २।४।२९) अर्थात् विभिन्न शाखाओं के समान-प्रकरण-पठित वाक्यों की एकवाक्यता में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं माना जाता। प्रकृत में सभी शाखाओं का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म वस्तु है। उसी की एक लोहितादि गुण-योगिनी, तेजोजलान्नस्वरूप, जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज नाम के चतुर्विध प्राणियों की जननी ज्योति (माया शक्ति) यहाँ अभिहित है—

तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति, तान्येवेह तेजोबन्नानि प्रत्यभिज्ञायन्ते रोहितादिशब्दसामान्यात्। रोहितादीनां च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वाद्भाक्तत्वाच्च गुणविषयत्वस्य। असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते। तथेहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति। किंकारणं ब्रह्म' (श्वे० १।१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १।३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्। वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' (श्वे० ४।१०,११) इति च तस्या एवावगमान्न

भामती

एव प्रत्यभिज्ञानान्न तु सांख्यपरिकल्पिता प्रकृतिः, तस्या अप्रामाणिकतया श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। रञ्जनादिना च रोहितायुपचारस्य सति मुख्यार्थसम्भवेऽयोगात् तदिदमुक्तं ❀ रोहितादीनां शब्दानाम् इति ❀। अजापदस्य च समुदायप्रसिद्धिपरित्यागेन न जायत इत्यवयवप्रसिद्ध्याश्रयणे दोषप्रसङ्गात्। अत्र तु रूपककल्पनया समुदायप्रसिद्धेरेवानपेक्षायाः स्वीकारात्। अपि चायमपि श्रुतिकलापोऽस्मद्दर्शनानुगुणो न सांख्यस्मृत्यनुगुण इत्याह ❀ तथेहापि इति ❀। ❀ किंकारणं ब्रह्मेत्युपक्रम्य इति ❀। ब्रह्मस्वरूपं तावज्जगत्कारणं न भवति विशुद्धत्वात्तस्य यथाहुः —

पुष्कलस्य च शुद्धस्य नाशुद्धा विकृतिर्भवेत्

इत्याशयवतीयं श्रुतिः : पृच्छति ❀किंकारणं❀ यस्य ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिस्तत् किंकारणं ब्रह्मेत्यर्थः। ते ब्रह्मविदो ध्यानयोगेनात्मानं गताः प्राप्ता अपश्यन्निति योजना। ❀ यो योनिं योनिम् इति ❀। अविद्या

भामती–व्याख्या

लोहितशुक्लकृष्णाम्'' (श्वेता. ४।५)। यदि इस ज्योति को अशब्द या अप्रामाणिक माना जाता है, "तब यदग्ने रोहितं रूपम्" (छां. ६।४।१) इत्यादि वाक्यों में श्रुत तत्त्व का बाध और अश्रुत (प्रधान) तत्त्व की कल्पना करनी पड़ेगी। अग्न्यादि में जब मुख्यतः लोहितत्वादि का समन्वय हो जाता है, तब रञ्जनात्मक रजोगुणादि की कल्पना संगत नहीं कही जा सकती, यही सब कुछ ध्यान में रख कर भाष्यकार कह रहे हैं—"रोहितादीनां शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वात्"। 'अजा' शब्द समुदाय (रूढि) शक्ति के द्वारा इसी मायारूप ज्योति का अभिधायक है, अतः रूढि शक्ति का परित्याग करके अवयव-शक्ति के द्वारा अर्थान्तर का प्रतिपादक नहीं हो सकता। माया रूप रूढ अर्थ का परित्याग करके 'न जायते इत्यजा'—ऐसा अवयवार्थ का आश्रयण करने पर "रूढिर्योगमपहरति"—इस सहज-सिद्ध नियम का उल्लंघन होगा। प्रसिद्ध माया को अजा (छागी) के रूप में प्रस्तुत जो रूपकालङ्कार अभिनीत किया गया है, उसका सामञ्जस्य करने के लिए 'अजा' शब्द के रूढ अर्थ का ग्रहण करना आवश्यक है, क्योंकि रूढ अर्थ अवयवादि की शक्ति से निरपेक्ष होकर शीघ्र उपस्थित हो जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि प्रकरण के अनुरोध पर उक्त सभी श्रुतियों का समन्वय हमारे वेदान्त-दर्शन के अनुरूप ही होता है, यह कहा जा रहा है—"तथेहापि ब्रह्मवादिनो वदन्ति"। निश्चितार्थक वाक्य की सहायता से सन्दिग्धार्थक वाक्य का नयन किया जाता है। प्रकृत में सन्देह किया गया—"किंकारणं ब्रह्म ?" अर्थात् जगत् का कारण जो ब्रह्म कहा जाता है, वह किंकारणकं (किंसहायकं) अर्थात् वह ब्रह्म शुद्ध है, अशुद्ध कार्य का स्वतः कारण नहीं होता, अतः किस तत्त्व की सहायता से अशुद्ध जगत् का कारण बनता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" (श्वेता. १।३)। अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं ने अपने ध्यानरूप योग के द्वारा उस दैवी शक्ति (माया)

स्वतन्त्रा काचित्प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम्। प्रकरणात्तु सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोः प्रागवस्थानेनापि मन्त्रेणाम्नायत इत्युच्यते। तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम् ॥ ९ ॥

कथं पुनस्तेऽजोबन्नात्मना त्रैरूप्येण त्रिरूपाऽजा प्रतिपत्तुं शक्यते? यावता न तावत्तेजोऽबन्नेष्वजाकृतिरस्ति। न च तेजोऽबन्नानां जातिश्रवणादजातिनिमित्तोऽप्यजाशब्दः संभवतीति। अत उत्तरं पठति—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

नायमजाकृतिनिमित्तोऽजाशब्दः। नापि यौगिकः। किं तर्हि? कल्पनोपदेशोऽयम्। अजारूपकक्लृप्तिस्तेजोबन्नलक्षणायाश्चराचरयोनेरुपदिश्यते। यथा हि लोके यदृच्छया काचिदजा रोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद्बहुबर्करा सरूपबर्करा च, तां च कश्चिदजो जुषमाणोऽनुशयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्, एवमियमपि तेजोबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा बहु सरूपं चराचरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते, विदुषा च परित्यज्यत इति। न चेदमाशङ्कितव्यम्—एकः क्षेत्रज्ञोऽ-

भामती

शक्तियोनिः सा च प्रतिजीवं नानेत्युक्तमतो वीप्सोपपन्ना। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ९ ॥

सूत्रान्तरमवतारयितुं शङ्कते ❀ कथं पुनः इति ❀। अजाकृतिर्जातिस्तेजोबन्नेषु नास्ति। न च तेजोबन्नानां जन्मश्रवणादजन्मनिमित्तोऽप्यजाशब्दः सम्भवतीत्याह ❀ न च तेजोऽबन्नानाम् इति ❀।

सूत्रमवतारयति ❀ अत उत्तरं पठति ❀। ननु किं छागा लोहितशुक्लकृष्णैवान्यादृशीनामपि छागानामुपलम्भादित्यत आह ❀ यदृच्छया इति ❀। बहुबर्करा बहुशावा। शेषं निगदव्याख्यातम् ॥ १० ॥

भामती-व्याख्या

का दर्शन किया, जिसका सहयोग पा कर ब्रह्म इस त्रिगुणात्मक प्रपञ्च का कारण बन जाता है। "योनि योनिमधितिष्ठत्येकः" (श्वेता० ४।११) इस श्रुति में 'योनि-योनिम्'—ऐसा वीप्सा का प्रयोग इस लिए किया है कि जो अविद्या शक्ति जगत् की योनि कही जाती है, वह जीव के भेद से भिन्न होती है, एक नहीं। शेष भाष्य सुबोध है ॥ ९ ॥

दसवें सूत्र को अवतरित करने के लिए शङ्का की जाती है—"कथं पुनः"। शङ्कावादी का आशय यह है कि यहाँ 'अजा' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त 'अजात्व' जाति है? अथवा अवयवार्थ? तेज, जल और पृथिवी में 'अजात्व' आकृति (जाति) नहीं रहती, अतः 'अजा' शब्द को 'जातिप्रवृत्ति-निमित्तक नहीं कह सकते। जन्माभावरूप अवयवार्थ भी 'अजा' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त नहीं हो सकता—"न च तेजोऽबन्नानां जातिश्रवणात्"। अर्थात् श्रुतियों के द्वारा तेज आदि की जाति (जन्म) का प्रतिपादन किया है, अतः न जायते'—ऐसा अवयवार्थ भी वहाँ सम्भव नहीं।

उक्त शङ्का का निराकरण सूत्र के द्वारा किया जाता है—"अत उत्तरं पठति—कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः"। अर्थात् यहाँ 'अजा' शब्द न तो जातिप्रवृत्तिनिमित्तक है और न यौगिक, अपितु रूपक-कल्पना के द्वारा प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि लोक में सभी अजाएँ (बकरियाँ) लोहितशुक्लकृष्णात्मक नहीं होतीं, तथापि यदृच्छा से जो बकरी वैसी चित्रा होती है, उसी का प्रकृत में रूपक प्रस्तुत किया गया है। बहुबर्करा का अर्थ है कि बहुत बच्चोंवाली बकरी ॥ १० ॥

नुशेतेऽन्यो जहातीत्यतः क्षेत्रज्ञभेदः पारमार्थिकः परेषामिष्टः प्राप्नोतीति । न ह्ययं क्षेत्रज्ञभेदप्रतिपिपादयिषा, किन्तु बन्धमोक्षव्यवस्थाप्रतिपिपादयिषा त्वेषा । प्रसिद्धं तु भेदमनूद्य बन्धमोक्षव्यवस्था प्रतिपाद्यते । भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिकः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिश्रुतिभ्यः । मध्वादिवत्, यथा आदित्यस्यामधुनो मधुत्वम् (छा० ३।१), वाचश्चाधेनोर्धेनुत्वम् (बृ० ५।८), द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम् (बृ० ८।२।९) इत्येवंजातीयकं कल्प्यते, एवमिदमनजाया अजात्वं कल्प्यत इत्यर्थः । तस्मादविरोधस्तेजोऽबन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य ॥ १० ॥

(३ संख्योपसंग्रहाधिकरणम् । सू० ११–१३)

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात्सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते । 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्' (बृ. ४।४।१७) इति । अस्मिन्मन्त्रे पञ्च पञ्चजना इति पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या श्रूयते, पञ्चशब्दद्वयदर्शनात् । त एते पञ्चपञ्चकाः पञ्चविंशतिः संपद्यन्ते । तथा पञ्च-

---

भामती

अवान्तरसङ्गतिमाह ● एवं परिहृतेऽपि इति ● । पञ्चजना इति हि समासार्थः पञ्चसंख्यया सम्बध्यते । न च दिक्संख्ये संज्ञायामिति समासविधानान्मनुजेषु निरूढोऽयं पञ्चजनशब्द इति वाच्यम्, तथा सति पञ्च मनुजा इति स्यात् । एवं चात्मनि पञ्चमनुजानामाकाशस्य च प्रतिष्ठानमिति निस्तात्पर्यम्, सर्वस्यैव प्रतिष्ठानात् । तस्माद्रूढेरसम्भवात्तत्यागेनात्र योग आस्थेयः । जनशब्दश्च कथञ्चित्तत्वेषु व्याख्येयः । तत्रापि किं पञ्च प्राणादयो वाक्यशेषगता विवक्ष्यन्ते उत तदतिरिक्ता अन्य एव वा केचित् ?

भामती–व्याख्या

अवान्तर संगति—'अजा-मन्त्र' में सांख्य-मतोद्भावन निराकृत हो जाने पर भी अन्य मन्त्र के माध्यम से सांख्य-सिद्धान्त का उद्भावन किया जाता है ।

विषय—"यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" (बृह. उ. ४।४।१७) यह वाक्य विचारणीय है ।

संशय—उक्त श्रुति सांख्याभिमत पञ्चविंशति तत्त्व की प्रतिपादिका है ? अथवा प्राणादि पाँच पदार्थों की ?

पूर्वपक्ष—'पञ्च पञ्चजनाः' यहाँ पर 'जन' शब्द 'मनुष्य' में रूढ न होकर 'जायते इति जनः'—इस प्रकार कार्य मात्र का वाचक है, अतः 'जन' शब्द का स्वार्थ में तात्पर्य न होने के कारण 'पञ्च पञ्चकाः'—इस अर्थ में तात्पर्य पर्यवसित होता है, जिसका अर्थ है पाँच पंचक या पचीस तत्त्व ।

यद्यपि "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" (पा० सू० २।१।५०) इस सूत्र के द्वारा संख्या-वाचक शब्द के साथ संज्ञा (रूढ) शब्दों का ही समास होता है, अतः 'सप्तर्षयः' के समान 'पंचजन' शब्द भी पंचभूत-जनित मनुष्य की संज्ञा ही है, केवल संख्या का वाचक नहीं । तथापि वैसा मानने पर 'पंच पंचजनाः' इस वाक्य का अर्थ होता है—'पंच मनुष्याः' । तब पूरे वाक्य का अर्थ करना होगा—'आत्मा में पाँच मनुष्य और एक आकाश—ये छः पदार्थ ही प्रतिष्ठित हैं । ऐसे अर्थ में श्रुति का कभी तात्पर्य नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा में तो समस्त विश्व

विंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकाङ्क्ष्यन्ते तावन्त्येव च तत्त्वानि सांख्यैः

भामती

तत्र पौर्वापर्यपर्यालोचनया काण्वमाध्यन्दिनवाक्ययोर्विरोधात् । एकत्र हि ज्योतिषा पञ्चत्वमन्नेनेतरत्र । न च षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विकल्पसम्भवः, अनुष्ठानं हि विकल्प्यते न वस्तु । वस्तुतत्त्वकथा चेयं नानुष्ठानकथा, विध्यभावात् । तस्मात्कानिचिदेव तत्त्वानीह पञ्च प्रत्येकं पञ्चसंख्यायोगीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि भवन्ति । सांख्यैश्च प्रकृत्यादीनि पञ्चविंशति तत्त्वानि स्मर्यन्ते इति तान्येवानेन मन्त्रेणोच्यन्त इति नाशब्दं प्रधानादि । न चाधारत्वेनात्मनो व्यवस्थानात् स्वात्मनि चाधाराधेयभावस्य विरोधात् आकाशस्य च व्यतिरेचनात् त्रयोविंशतिर्जना इति स्यान्न पञ्च पञ्चजना इति वाच्यम्, सत्यप्याकाशात्मनोर्व्यतिरेचने मूलप्रकृतिभागैः सत्त्वरजस्तमोभिः पञ्चविंशतिसंख्योपपत्तेः । तथा च सत्याकाशात्मभ्यां सप्तविंशतिसंख्यायां पञ्चविंशति तत्त्वानीति स्वसिद्धान्तव्याकोप इति चेत् । न, मूलप्रकृतित्वमात्रेणैकीकृत्य सत्त्वरजस्तमांसि पञ्चविंशतितत्त्वोपपत्तेः । द्वित्वभावेन तु तेषां सप्तविंशतित्वाविरोधस्तस्मान्नाशब्दी सांख्यस्मृतिरिति

भामती—व्याख्या

प्रतिष्ठित है, केवल छः पदार्थ ही नहीं। फलतः 'पंचजन' शब्द को रूढ न होकर यौगिक ही मानना होगा। 'जन' शब्द को कथंचित् तत्त्वार्थक माना जा सकता है।

फिर भी यदि सन्देह हो कि क्या वाक्य-शेषगत प्राणादि पाँच पदार्थ यहाँ विवक्षित हैं ? अथवा उनसे भिन्न कोई अन्य तत्त्व ? प्राणादि पाँच पदार्थों का ग्रहण करने पर काण्व शाखीय उपनिषत् और माध्यन्दिन शाखीय उपनिषत् के वाक्यों में विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि एक उपनिषत् में ज्योति को लेकर पाँच संख्या की पूर्ति की गई है और दूसरी उपनिषत् में अन्न (पृथिवी) को लेकर [उत्तरभावी सूत्रों में इस का विश्लेषण आ रहा है]। "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" (मै. सं. ४।७।६) "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" (   ) इसके समान दोनों विरोधी अर्थों का विकल्पात्मक समन्वय यहाँ नहीं किया जा सकता, क्योंकि क्रिया या प्रयोग में विकल्प होता है, वस्तु में विकल्प नहीं हो सकता। प्रकृत में वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है, अनुष्ठान का नहीं, क्योंकि अनुष्ठान का बोधक कोई विधि वाक्य यहाँ उपलब्ध नहीं। परिशेषतः कोई ऐसे पाँच तत्त्वों का अभिधान करना होगा, जिनमें प्रत्येक तत्त्व पञ्चात्मक हो। इस प्रकार सब मिलाकर पचीस तत्त्व सम्पन्न हो जाते हैं। सांख्य-दर्शन में प्रकृत्यादि पञ्चविंशति तत्त्व प्रतिपादित हैं। वे ही उक्त श्रुति में अभिहित है, अतः प्रधान (प्रकृति) तत्त्व को अशब्द (अप्रामाणिक) नहीं कहा जा सकता।

शङ्का—'१ मूल प्रकृति + ७ महदादि + १६ विकृति + १ पुरुष या आत्मा' इन सांख्याभिमत पचीस तत्त्वों का प्रतिपादन "यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" (बृह० उ० ४।४।१७) इस श्रुति के द्वारा सम्भव नहीं, क्योंकि इस श्रुति में आत्मा को पचीस तत्त्वों का आधार माना गया है, पचीस तत्त्वों के अन्तर्गत नहीं, क्योंकि आधार-आधेयभाव एक (अभिन्न) तत्त्व में सम्भव नहीं, अतः पचीस आधेय तत्त्वों में से पुरुष या आत्मा को निकाल देने पर चौबीस तत्त्व शेष रहते हैं एवं आकाश को भी पचीस से भिन्न गिनाया गया है, अतः आकाश को भी निकाल देने पर तेईस तत्त्व ही शेष रह जाते हैं, अतः 'पञ्च पञ्चजनाः' का अर्थ तेईस करना होगा, जो कि न तो सम्भव है और न सांख्य-पक्ष का उपस्थापक।

समाधान—आत्मा और आकाश को घटा देने पर भी मूल प्रकृति के स्थान पर सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों की गणना कर लेने पर पचीस तत्त्वों का लाभ हो जाता है। आत्मा और आकाश को आधेय पचीस तत्त्वों से निकाल कर सभी तत्त्वों का आकलन करने पर सब सत्ताईस तत्त्व हो जाते हैं, तब सांख्य-सिद्धान्त से विरोध उपस्थित क्यों नहीं

संख्यायन्ते – 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (सांख्यका० ३) इति। तया श्रुतिप्रसिद्धया पञ्चविंशतिसंख्यया तेषां स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात्प्राप्तं पुनः श्रुतिमत्त्वमेव प्रधानादीनाम्।

ततो ब्रूमः,– न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्त्वं प्रत्याशा कर्त्तव्या।

भामती

प्राप्ते। मूलप्रकृतिः प्रधानम्। नासावन्यस्य विकृतिरपि तु प्रकृतिरेव तदिदमुक्तं ® मूला इति। महदहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि प्रकृतिश्च विकृतिश्च। तथाहि––महत्तत्त्वमहङ्कारस्य तत्त्वान्तरस्य प्रकृतिर्मूलप्रकृतेस्तु विकृतिः। एवमहङ्कारतत्त्वं महतो विकृतिः, प्रकृतिश्च तदेव तामसं सत् पञ्चतन्मात्राणाम्। तदेव सात्त्विकं सत् प्रकृतिरेकादशेन्द्रियाणाम्। पञ्चतन्मात्राणि चाहङ्कारस्य विकृतिराकाशादीनां पञ्चानां प्रकृतिस्तदिदमुक्तं महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारः षोडशसंख्यावच्छिन्नो गणो विकार एव। पञ्चभूतान्यतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणीति षोडशको गणः। यद्यपि पृथिव्यादयो गोघटादीनां प्रकृतिस्तथापि न ते पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरमिति न प्रकृतिः। तत्त्वान्तरोपादानत्वं चेह प्रकृतित्वमभिमतं नोपादानमात्रत्वमित्यविरोधः। पुरुषस्तु कूटस्थनित्योऽपरिणामी न कस्यचित्प्रकृतिर्नापि विकृतिरिति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते –® न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्त्वाशङ्का कर्त्तव्या। कस्मा-

---

भामती–व्याख्या

होता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सत्त्वादि तीन गुणों का मूलप्रकृतित्वेन एकरूप में संग्रह कर लेने पर पचीस तत्त्वों की उपपत्ति हो जाती है, उसके पृथग्भाव की विवक्षा होने पर श्रुति-प्रतिपादित सत्ताईस संख्या की भी उपपत्ति हो जाती है। सांख्याचार्यों ने अपने पचीस तत्त्व इस प्रकार गिनाए हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ (सां० का० ३)

'मूलप्रकृति' शब्द से 'प्रधान' तत्त्व विवक्षित है, जो कि अन्य किसी तत्त्व का विकार नहीं, केवल प्रकृति ही है—यह 'मूल' पद के द्वारा कहा गया है। महत्तत्व, अहंकार, शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ—ये सात तत्त्व किसी की प्रकृति भी हैं और किसी के विकार भी अर्थात् महत्तत्त्व अपने से पृथक् तत्त्वरूप अहंकार की प्रकृति और प्रधानसंज्ञक मूल प्रकृति का विकार है; अहंकार तत्त्व महत्तत्त्व का विकार और ग्यारह इन्द्रियों के सहित पाँच तन्मात्राओं की प्रकृति है, अन्तर केवल इतना है कि तामस अहंकार पाँच तन्मात्राओं एवं सात्त्विक अहंकार इन्द्रियों का जनक होता है; पाँच तन्मात्राएँ अहंकार के विकार एवं आकाशादि पाँच महाभूतों की प्रकृति (जनक) हैं, यह कहा गया—"महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारः"। षोडश संख्या से अवच्छिन्न समूह केवल विकार है, पञ्च महाभूतों और एकादश इन्द्रियों के समूह को 'षोडशकः' कहा गया है। यद्यपि पृथिव्यादि भूत भी घट, पट और वृक्षादि शरीरों के जनक होने से उनकी प्रकृति भी हैं, अतः उन्हें विकृतिमात्र नहीं कहा जा सकता। तथापि घटादि को पृथिव्यादिरूप ही माना जाता है, उनसे भिन्न अन्य तत्त्व नहीं, फलतः पृथिव्यादि भूत अपने से भिन्न किसी तत्त्व की प्रकृति न होने के कारण विकृतिमात्र हैं। यहाँ प्रकृतित्व का लक्षण तत्त्वान्तरोपादानत्व ही विवक्षित है, उपादानत्वमात्र नहीं। पुरुष तत्त्व कूटस्थ, नित्य, अपरिणमी होने के कारण न तो किसी तत्त्व की प्रकृति (परिणामी उपादान कारण) हो सकता है और न किसी की विकृति (परिणाम) यही कहा गया है—"न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः"।

कस्मात् ? नानाभावात्। नाना ह्येतानि पंचविंशतिस्तत्त्वानि। नैषां पंचशः पंचशः साधारणो धर्मोऽस्ति, येन पञ्चविंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्चसंख्या निविशेरन्। न ह्येकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु द्वित्वादिकाः संख्या निविशन्ते। अथोच्येत पञ्चविंशतिसंख्यैवेयमवयवद्वारेण लक्ष्यते, यथा 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः' इति द्वादशवार्षिकीमनावृष्टिं कथयन्ति, तद्वदिति। तदपि नोपपद्यते, अयमेवास्मिन्पक्षे दोषो

भामती

नानाभावात्। नाना ह्येतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणधर्मोऽस्ति ॐ। न खलु सत्त्वरजस्तमोमहदहङ्काराणामेकः क्रिया वा गुणो वा द्रव्यं वा जातिर्वा धर्मः पञ्चतन्मात्रादिभ्यो व्यावृत्तः सत्त्वादिषु चानुगतः कश्चिदस्ति ; नापि पृथिव्यप्तेजोवायुप्राणानां, नापि रसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रवाचां, नापि पाणिपादपायूपस्थमनसां, येनैकेनासाधारणेनोपगृहीताः पञ्च पञ्चका भवितुमर्हन्ति। पूर्वपक्षैकदेशिनमुत्थापयति ॐ अथोच्येत पञ्चविंशतिसंख्यैवेयम् इति ॐ। यद्यपि परस्यां संख्यायामवान्तरसंख्या द्वित्वादिका नास्ति, तथापि तत्पूर्वं तस्याः सम्भवात् पौर्वापर्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या परसंख्योपलक्षणार्थं पूर्वसंख्योपन्यस्यत इति। दूषयति ॐ अयमेवास्मिन् पक्षे दोषः इति ॐ। न च पञ्चशब्दो जनशब्देन समस्तोऽसमस्तः

भामती–व्याख्या

सिद्धान्त—सांख्याभिमत पचीस संख्या का यथाकथञ्चित् उपसंग्रह (लाभ) कर लेने पर भी प्रधानादि पदार्थों में श्रुतिमत्त्व (शाब्दत्व या श्रुतिप्रमाण-सिद्धत्व) सम्भव नहीं, क्योंकि "नानाभावात्" । सारांश यह है कि "पञ्च पञ्चजाः" इस शब्द के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए सांख्यीय पचीस तत्त्वों को इस प्रकार पाँच पञ्चकों में विभाजित करना होगा—(१) सत्त्व, रजः, तमः, महत् अहंकार। (२) पृथिवी, जल, तेज, वायु, प्राण। (३) रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, वाक्। (४) पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, मन। (५) शब्दादि-तन्मात्रा-पञ्चक। किन्तु पञ्चकों के रूप में यह विभाजन तभी सम्भव होगा, जब कि प्रत्येक पंचक के घटकीभूत पाँचों तत्त्वों में रहनेवाला कोई एक साधारण धर्म हो। वह यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि पाँचों तत्त्वों में नाना (अनेक) धर्म रहते हैं, अतः प्रत्येक पंचकता का अवच्छेदकीभूत कोई क्रिया या गुण या द्रव्य या जाति अथवा कोई धर्म ऐसा उपलब्ध नहीं होता, जो दूसरे पंचक के घटक तत्त्वों में अवृत्ति और केवल स्वकीय तत्त्वों में वर्तमान हो। फलतः पंच-पंचकों की उपपत्ति नहीं हो सकती।

पूर्वपक्ष के किसी एकदेशी की ओर से विशेष पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया जाता है—"अथोच्येत पंचविंशति संख्यैवेयमवयवद्वारा लक्ष्यते"। यद्यपि यहाँ पचविंशति संख्या का वाचक पद न होने के कारण मुख्य वृत्ति से महासंख्या का लाभ न होने पर भी अवान्तर संख्या-वाचक पद की महा संख्या में लक्षणा हो जाती है, जैसे—"पंच सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः" इस वाक्य के द्वारा बारह वर्ष की अनावृष्टि का जहाँ प्रतिपादन किया जाता है, वहाँ पंच और सप्तरूप अवान्तर संख्याओं के द्वारा द्वादशरूप महा संख्या का लाभ किया जाता है। वैसे ही "पंच पंचजनाः"—यहाँ पर भी 'पंच-पंच' शब्द की लक्षणा पंचविंशति में की जाती है। यद्यपि शतत्वादि महासंख्या के आधार में द्वित्वादि अवान्तर संख्या नहीं रहती, अतः दोनों सहचरित न होने के कारण उनमें लक्ष्य-लक्षणभाव सम्भव नहीं। तथापि लक्ष्य-लक्षणभाव के लिए नियत सहचार की ही अपेक्षा नहीं, हाँ, कोई सम्बन्ध अवश्य अपेक्षित है। महासंख्या की अवान्तर संख्या कारण होती है, अतः महासंख्या की उत्पत्ति के पूर्व उसी आधार में अवान्तर संख्या अवश्य रहती है, फलतः अवान्तर संख्या से जनित होने के कारण अवान्तर संख्या-वाचक शब्द की महासंख्या में लक्षणा सुकर है।

यल्लक्षणाश्रयणीया स्यात्। परश्चात्र पंचशब्दो जनशब्देन समस्तः पञ्चजना इति, पारिभाषिकेण स्वरेणैकपदत्वनिश्चयात्। प्रयोगान्तरे च 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तै० १।६।२।२) इत्यैकपद्यैकस्वर्यैकविभक्तिकत्वावगमात्। समस्तत्वाच्च न वीप्सा 'पञ्च

भामती

शक्यो वक्तुमित्याह ॐ परश्चात्र पञ्चशब्द इति ॐ। ननु भवतु समासस्तथापि किमित्यत आह ॐ समस्तत्वाच्च इति ॐ। अपि च वीप्सायां पञ्चकद्वयग्रहणे दशैव तत्त्वानीति न सांख्यस्मृतिप्रत्यभिज्ञानमित्यसमासमभ्युपेत्याह ॐ न पञ्चकद्वयग्रहणं पञ्च पञ्च इति ॐ। न चैका पञ्चसंख्या पञ्चसंख्यान्तरेण शक्या विशेष्टुम्। पञ्चशब्दस्य संख्योपसर्जनद्रव्यवचनत्वेन संख्याया उपसर्जनतया विशेषणेनासंयोगादित्याह

भामती–व्याख्या

उक्त पूर्वपक्ष में दोषाभिधान किया जाता है—"अयमेवास्मिन् पक्षे दोषः"। अर्थात् मुख्य वृत्ति का परित्याग कर लक्षणा वृत्ति का आश्रयण भी एक दोष ही है। वस्तुतः यहाँ द्वितीय 'पंच' शब्द स्वतन्त्र नहीं, अपितु 'जन' शब्द के साथ समस्त है–'पंचजनः', अतः 'पंच' और 'पंचजनाः' शब्द समानार्थक न होने के कारण उनके सह प्रयोग को वीप्सा नहीं कह सकते 'समस्तत्वाच्च न वीप्सा। [भाष्यकार ने समास के समर्थन में कहा है—"भाषिकेण स्वरेणैकपदत्वनिश्चयात्"। भाषिक स्वर का स्पष्टीकरण श्रीशबरस्वामी ने प्रश्नोत्तर के द्वारा किया है—"कः पुनर्भाषिकः स्वरः ? उच्यते—

छन्दोगा बह्वृचाश्चैव तथा वाजसनेयिनः।
उच्चनीचस्वरं प्राहुः स वैभाषिक उच्यते॥ (शाबर. पृ. २२६२)

अध्ययन-काल में प्रयुक्त मन्त्र-स्वर को प्रावचनिक स्वर एवं विनियोग-कालीन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयुक्त मन्त्र-स्वर को भाषिक स्वर कहते हैं। श्रीशबरस्वामी का भी यही कहना है कि साम, ऋक् और यजुर्वेद के विनियोगदर्शी वैयाकरणों ने जो उदात्तादि स्वरों का विधान किया है, वही भाषिक स्वर है। उक्त मन्त्र में प्रथम 'पंच' शब्द आद्युदात्त और द्वितीय 'पंच' शब्द सर्वानुदात्त है। 'जनाः' शब्द अन्तोदात्त इस लिए है कि 'पंच' शब्द के साथ उसका समास हुआ है, अतः "समासस्य" (पा. सू. ६।१।२२३) इस सूत्र के द्वारा नकारस्थ आकार में उदात्त स्वर का विधान किया एवं 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (पा. सू. ६।१।१५८) इस सूत्र ने 'पंचजनाः' इस समस्त पद के अन्तिम आकार को छोड़कर शेष सभी स्वरों को अनुदात्त कर दिया। इस प्रकार समास के बिना न तो नकारस्थ आकार उदात्त होता और न समस्यमान द्वितीय 'पंच' शब्द सर्वानुदात्त। समास का घटकीभूत 'पंच' शब्द 'जन' शब्द का विशेषण है, अतः अपने पूर्व-प्रयुक्त 'पंच' शब्द के साथ अन्वित नहीं हो सकता, तब वीप्सा की उपपत्ति क्योंकर होगी ?]

यदि वीप्सा की उपपत्ति किसी प्रकार कर भी ली जाय, तब भी दो पंचकों को मिला देने पर दश ही तत्त्व बनते हैं, अतः पंचविंशति तत्त्ववादी सांख्य के सिद्धान्त की यहाँ प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती—"न च पंचकद्वयग्रहणं पंच पंच"। एक पंच संख्या को अन्य पंच संख्या का विशेषण नहीं बना सकते, क्योंकि संख्यादि गुण द्रव्यादिरूप गुणी पदार्थों के विशेषण होते हैं, परस्पर उनका विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध नहीं होता, जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—"गुणानां परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्" (जै. सू. ३।१।२२)। यद्यपि शुक्लादि शब्दों के समान पंचादि शब्द भी द्रव्यादि के उपस्थापक होते हैं, तथापि संख्योपसर्जनक द्रव्य के ही वाचक माने जाते हैं, अतः उपसर्जनीभूत संख्या को अन्य संख्या का विशेष्य नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि संख्यादि गुण साक्षात् द्रव्य के परिच्छेदक होते

पंच' इति। न च पञ्चकद्वयग्रहणं पंच पंचेति। नच पंचसंख्याया एकस्याः पंचसंख्यया परया विशेषणं पंच पंचका इति, उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात्। नन्वापन्नपञ्चसंख्याका जना एव पुनः पंचसंख्यया विशेष्यमाणाः पंचविंशतिः प्रत्येष्यन्ते। यथा पंच पंचपूल्य इति पंचविंशतिपूलाः प्रतीयन्ते, तद्वत्। नेति ब्रूमः, युक्तं यत्पञ्चपूलीशब्दस्य समाहाराभिप्रायत्वात्कतीति सत्यां भेदाकाङ्क्षायां पञ्च पंचपूल्य इति विशेषणम्, इह तु पंच जना इत्यादित एव भेदोपादानात्कतीत्यसत्यां

भामती

॥ एकस्याः पञ्चसंख्यायाः इति ॥। तदेवं पूर्वपक्षैकदेशिनि दूषिते परमपूर्वपक्षिणमुत्थापयति ॥ नन्वापन्नपञ्चसंख्याका जना एव इति ॥। अत्र तावद्रूढौ सत्यां न योगः सम्भवतीति वक्ष्यते, तथापि यौगिकं पञ्चजनशब्दमभ्युपेत्य दूषयति ॥ युक्तं यत् पञ्चपूलीशब्दस्य इति ॥। पञ्चपूलीत्यत्र यद्यपि पृथक्त्वैकार्थसमवायिनी पञ्चसंख्यावच्छेदिकास्ति तथापीयं समुदायिनोऽवच्छिनत्ति, न समुदायं समासपदगम्यमतस्तस्मिन् कति ते समुदाया इत्यपेक्षायां पदान्तराभिहिता पञ्चसंख्या सम्बध्यते पञ्चेति। पञ्चजना इत्यत्र तु पञ्चसंख्ययोत्पत्तिशिष्टया जनानामवच्छिन्नत्वात्समुदायस्य च पञ्चपूलीवदत्राप्रतीतेर्न पदान्तराभिहिता

भामती-व्याख्या

हैं, क्रिया या गुणादि के नहीं, भाष्यकार शबरस्वामी कहते हैं--''गुणस्तु विशिनष्टि साधनं साक्षाद् द्रव्यं क्रियां प्रति उपकरोति'' (शाबर. पृ. ६९५)। यही भाष्यकार कह रहे हैं—''न एकस्याः पंचसंख्यायाः''।

पूर्वपक्ष के एकदेशी को दूषित करके परम पूर्वपक्ष का उत्थापन किया जाता है—''नन्वापन्नपंचसंख्याका जना एव पुनः पंचसंख्यया विशेष्यमाणाः पंचविंशतिः प्रत्येष्यन्ते''। यद्यपि आगे चल कर 'पंचजन' शब्द को रूढ़ मान कर यौगिक नहीं माना गया है। तथापि यहाँ 'पंचजन' शब्द को यौगिक मान कर पूर्वपक्ष पर दूषणाभिधान किया जाता है—''युक्तं यत् पंचपूलीशब्दस्य समाहाराभिप्रायत्वात्'' ['पंचानां पूलानां समाहारः पंचपूली'। ''द्विगोः'' (पा. सू. ४।१।२१) इस सूत्र के द्वारा अदन्त 'पंचमूल' शब्द से ङीप् का विधान हो जाता है। खेत में पके गेहूँ, जौ आदि को काट-काट कर जो मुट्ठा बाँधते जाते हैं, उसका नाम पूल या पूला है। पाँच मुट्ठों की एक गाँठ का नाम पंचपूली है। वैसी पाँच पंचपूलियों में पचीस मुट्ठे हो जाते हैं]। यहाँ सिद्धान्ती का कहना यह है कि 'पञ्चपूल' और पञ्चजन'—दोनों शब्द अदन्त हैं। यदि दोनों समाहार के वाचक होते, तब पञ्चपूली के समान ही 'पञ्चजनी'—ऐसा प्रयोग होना चाहिए था, किन्तु वैसा नहीं, अतः यह मानना होगा कि 'पञ्चपूली' का अर्थ जैसे पंचपूल-समाहार है, वैसे पञ्चजन का पञ्चजन-समाहार अर्थ नहीं। कति समाहाराः के समान 'कति पंचपूल्यः'—ऐसी आकांक्षा में 'पंच पंचपूल्यः' – ऐसा प्रयोग सम्भव है, क्योंकि समाहार-घटक 'पंच' शब्द समाहार के घटकीभूत पूलों का विशेषण (परिच्छेदक) है, समाहार का नहीं अर्थात् समाहार पदार्थ एक या अपृथक् है और उस समाहार की घटकीभूत प्रत्येक इकाई पृथक् है, अतः उसमें पृथक्त्व और पंचत्व—दोनों रहते हैं। इस प्रकार 'पंचत्व' संख्या पृथक्त्व धर्म के साथ पूलारूप एक ही अर्थ में रहने के कारण पृथक्त्वैकार्थसमवायिनी है, समाहारगत अपृथक्त्वैकार्थसमवायनी नहीं [वैशेषिकादि द्वित्वादि संख्या को पर्याप्ति सम्बन्धेन प्रत्येक में नहीं मानते, किन्तु समवायेन या स्वरूपतः प्रत्येक में अवस्थित मानते हैं]। समाहारगत संख्या की आकांक्षा को पूरा करने के लिए द्वितीय 'पंच' पद का प्रयोग आवश्यक है—'पंच पंचपूल्यः' किन्तु 'पंचजनाः'—यहाँ पर एक ही आकांक्षा है—'कति जनाः ?' उस आकांक्षा की शान्ति तो समास-घटक 'पंच' शब्द से ही हो जाती है,

भेदाकाङ्क्षायां न पंच पंचजना इति विशेषणं भवेत्। भवदपीदं विशेषणं पंचसंख्याया एव भवेत्, तत्र चोक्तो दोषः। तस्मात्पंच पंचजना इति न पंचविंशतितत्त्वाभिप्रायम्।

अतिरेकाच्च न पंचविंशतितत्त्वाभिप्रायम्। अतिरेको हि भवत्यात्माकाशाभ्यां

भामती

संख्या सम्बध्यते। स्यादेतत्—संख्येयानां जनानां मा भूच्छब्दान्तरवाच्यसंख्यावच्छेदः पञ्चसंख्यायास्तु तयावच्छेदो भविष्यति, न हि साप्यवच्छिन्नेत्यत आह ❀ भवदपीदं विशेषणम् इति ❀। उक्तोऽत्र दोषः। नह्युपसर्जनं विशेषणेन युज्यते, पञ्च शब्द एव तावत्संख्येयोपसर्जनसंख्यामाह विशेषतस्तु पञ्चजना इत्यत्र समासे। विशेषणापेक्षायां तु न समासः स्यादसामर्थ्यान्नहि भवति ऋद्धस्य राजपुरुष इति समासोऽपि वृत्तिरेव ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इति सापेक्षत्वेनासामर्थ्यादित्यर्थः। ❀ अतिरेकाच्च इति ❀। अभ्युच्चय·

भामती-व्याख्या

द्वितीय 'पंच' शब्द का प्रयोग क्योंकर होगा ? यद्यपि द्रव्यार्थक पद का विशेषण असमस्त भी होता है और उसके द्वारा अभिहित संख्या भी उस द्रव्य की परिच्छेदिका मानी जाती है। तथापि जनपदार्थ की उत्पत्ति (ज्ञप्ति) के जनकीभूत 'पंचजन'—इस शब्द के पूर्वपद से उपदिष्ट (प्रतिपादित) होने से पंचत्व संख्या समीपतर है, अतः इसी के द्वारा जन पदार्थ का परिच्छेद होगा, पदान्तराभिहित संख्या के द्वारा नहीं [उत्पत्ति-शिष्ट पदार्थ सदैव उत्पन्न-शिष्ट की अपेक्षा प्रबल माना जाता है, जैसे कि चातुर्मास्य नाम की इष्टि के प्रथम पर्व में "तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेवी आमिक्षा"—इस वाक्य के द्वारा आमिक्षाद्रव्यक याग का विधान किया गया। खौलते दूध में दही डाल देने से दूध फट कर दो भागों में विभक्त हो जाता है—(१) पनीर या छेना और (२) पानी। पनीर को 'आमिक्षा' और पानी को 'वाजिन' कहते हैं। आमिक्षा-याग-विधान के अनन्तर "वाजिभ्यो वाजिनम्"—यह वाक्य पठित है, इसमें यह सन्देह है कि इस वाक्य के द्वारा पूर्वोक्त आमिक्षा-याग में वाजिनरूप द्रव्यान्तर का विधान किया गया है ? अथवा इस वाक्य के द्वारा वाजिनद्रव्यक कर्मान्तर का ? सिद्धान्त में वार्तिककार ने कहा है—

आमिक्षोत्पद्यमानेन कर्मणा सह युज्यते।
ततो वाक्यान्तरोपात्तमुत्पन्नेन तु वाजिनम्॥ (तं० वा० पृ० ५३७)

जिस वाक्य में आमिक्षा-याग की उत्पत्ति (विधि) होती है, उसी वाक्य में पूर्वपद के द्वारा आमिक्षा का अभिधान होने से आमिक्षा उत्पत्ति-शिष्ट है और उस वाक्य से उत्पन्न (विहित) कर्म के उद्देश्य से वाक्यान्तर के द्वारा वाजिन द्रव्य का विधान किया जाता है, अतः वाजिन उत्पन्न-शिष्ट है। उत्पत्ति-शिष्ट प्रबल होने से पहले ही कर्म के साथ अन्वित हो जाता है। एक द्रव्य से युक्त कर्म में वाजिनरूप द्रव्यान्तर को अवकाश नहीं मिल पाता, अतः "वाजिभ्यो वाजिनम्"—यह वाक्य कर्मान्तर का विधायक है]।

शङ्का—'पञ्चजन' यहाँ 'पञ्चत्व' संख्या का परिच्छेद्य (संख्येय) जो जनपदार्थ है, वह अन्य (समासाघटक) पद के द्वारा प्रतिपादित संख्या का परिच्छेद्य यदि नहीं हो सकता, तब उसकी परिच्छेदकीभूत पंचत्व संख्या को पदान्तराभिहित पंचत्व संख्या का परिच्छेद्य मान लेना चाहिए, क्योंकि वह किसी संख्यान्तर से परिच्छेद्य नहीं, फलतः पंच पंचकाः'—ऐसा प्रयोग सम्भव हो जाता है।

समाधान—भाष्यकार उक्त शङ्का का अनुवाद करते हुए निराकरण का स्मरण दिला रहे हैं—"भवदपि इदं विशेषणं पंचसंख्याया एव भवेत्, तत्र चोक्तो दोषः"। अर्थात् यह कहा जा चुका है कि "उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात्"। "पंचजनाः'—इस समस्त पद में 'पंच'

पंचविंशतिसंख्यायाः। आत्मा तावदिह प्रतिष्ठां प्रत्याधारत्वेन निर्दिष्टः, यस्मिन्निति सप्तमीसूचितस्य 'तमेव मन्य आत्मानम्' इत्यात्मत्वेनानुकर्षणात्। आत्मा च चेतनः पुरुषः। स च पंचविंशतावन्तर्गत एवेति न तस्यैवाधारत्वमाधेयत्वं च युज्यते। अर्थान्तरपरिग्रहे च तत्त्वसंख्यातिरेकः सिद्धान्तविरुद्धः प्रसज्येत तथा 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्याकाशस्यापि पंचविंशतावन्तर्गतस्य न पृथगुपादानं न्याय्यम्। अर्थान्तरपरिग्रहे चोक्तं दूषणम्। कथं च संख्यामात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पंचविंशतितत्त्वाना मुपसंग्रहः प्रतीयेत? जनशब्दस्य तत्त्वेष्वरूढत्वात्। अर्थान्तरोपसंग्रहेऽपि संख्योपपत्तेः। कथं तर्हि पंच पंचजना इति? उच्यते—'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (पा० सू० २।१।५०) इति विशेषणस्मरणात्संज्ञायामेव पंचशब्दस्य जनशब्देन समासः। ततश्च

भामती

मात्रम्। यदि सत्त्वरजस्तमांसि प्रधानेनैकीकृत्यात्माकाशौ तत्त्वेभ्यो व्यतिरिच्येते, तदा सिद्धान्तव्याकोपः। अथ तु सत्त्वरजस्तमांसि मिथो भेदेन विवक्ष्यन्ते, तथापि वस्तुतत्त्वव्यवस्थापने आधारत्वेनात्मा निष्कृष्यतामाधेयान्तरेभ्यस्त्वाकाशस्याधेयस्य व्यतिरेचनमनर्थकमिति गमयितव्यम्। ॐ कथञ्च संख्यामात्रश्रवणे सति इति ॐ। दिक्संख्ये संज्ञायामिति संज्ञायां समासस्मरणात् पञ्चजनशब्दस्तावदयं क्वचिन्निरूढः। न च रूढौ सत्यामवयवप्रसिद्धेर्ग्रहणं सापेक्षत्वात्, निरपेक्षत्वाच्च रूढेः। तद्यदि रूढौ मुख्योऽर्थः प्राप्यते ततः स एव ग्रहीतव्योऽथ त्वसौ न वाक्ये सम्बन्धार्हः पूर्वापरवाक्यविरोधी वा ततो रूढ्यपरित्यागेनैव वृत्त्यन्तरेणार्थान्तरं कल्पयित्वा वाक्यमुपपादनीयम्। यथा श्येनेनाभिचरन् यजेतेति श्येनशब्दः शकुनि-

---

भामती-व्याख्या

शब्द विशेषण और 'जन' शब्द विशेष्य है। विशेषणीभूत 'पंच' शब्द का अन्य पंच विशेषण से सापेक्ष हो जाता है, सापेक्ष पद असमर्थ माना जाता है और समास सदैव समर्थ पदों में ही होता है, जैसा कि "समर्थः पदविधिः" (पा० सू० २।१।१) इस सूत्र में भाष्यकार ने कहा है—"सापेक्षमसमर्थं भवति" (महाभाष्य० पृ० २।११)। जैसे कि 'ऋद्धस्य राजपुरुषः' यहाँ पर विशेषणीभूत 'राज' शब्द का 'ऋद्ध' विशेषण होने के कारण 'पुरुष' पद के साथ उस का समास नहीं होता, अपि तु ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः'—ऐसा वाक्य ही रह जाता है।

सूत्रस्थ 'नानाभावात्' शब्द की व्याख्या करने के पश्चात् 'अतिरेकात्' पद की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है—"अतिरेकाच्च न पंचविंशतितत्त्वाभिप्रायम्"। यस्मिन् पंच पंचजनाः' आकाशश्च प्रतिष्ठितः" यहाँ 'पंच पंचजनाः' —इस वाक्य के द्वारा पचीस तत्त्वों का ग्रहण करने और आकाश की पृथक् गिनती करने पर अभिमत पचीस संख्या से अतिरिक्त छब्बीस तत्त्व हो जाते हैं और 'यस्मिन्' शब्द से आधारभूत आत्मा का आहित पचीस तत्त्वों से पृथक्करण करने पर सत्ताईस तत्त्व हो जाते हैं। 'अतिरेकात्' यह हेत्वन्तर यहाँ पृथक् प्रयत्न-साध्य नहीं, अपि तु 'नानात्वात्'—इस हेतु की खोज में किए जानेवाले प्रयत्न से ही अतिरेकाच्च' इस का लाभ भी हो जाता है, अतः यह हेतु-प्रयोग केवल अभ्युच्चयमात्र है [एक तथ्य की गवेषणा में अपने-आप अनुनिष्पन्न पदार्थों को अभ्युच्चय कहा गया है—'अभ्युच्चयो यदिदमिह भवतीति विज्ञानेऽपरमपि भवतीति विज्ञानम्" (शाबर पृ० १९९१)]।

"कथं च संख्यामात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पंचविंशतित्वानामुपसंग्रहः प्रतीयेत्" इस भाष्य का आशय यह है कि 'पंचजनाः'—यहाँ पर "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" (पा. सू. २।१:५०) इस सूत्र के द्वारा समास सम्पन्न किया गया है। इन सूत्र का कहना है कि दिशा और संख्या के वाचक शब्दों का उत्तर पदों के साथ तभी समास होता है, जब कि समस्त पद किसी पदार्थ की संज्ञा हो, जैसे—'दक्षिणाग्निः', 'सप्तर्षयः'। इसी प्रकार, पंचजन' शब्द भी किसी

रूढत्वाभिप्रायेणैव केचित्पंचजना नाम विवक्ष्यन्ते, न सांख्यतत्त्वाभिप्रायेण । ते कतीत्यस्यामाकांक्षायां पुनः पंचेति प्रयुज्यते । पंजजना नाम ये केचित्ते च पंचैवेत्यर्थः । सप्तर्षयः सप्तेति यथा ॥ ११ ॥

के पुनस्ते पंचजना नामेति ? तदुच्यते—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यत उत्तरस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः' इति । तेऽत्र वाक्यशेषगताः संनिधानात्पञ्चजना विवक्ष्यन्ते । कथं

भामती

विशेषे निरूढवृत्तिस्तत्परित्यागेनैव निपत्यादानसादृश्येनर्त्थवादिकेन क्रतुविशेषे वर्तते, तथा पञ्चजनशब्दोऽवयवार्थयोगानपेक्ष एकस्मिन्नपि वर्तते यथा सप्तर्षिशब्दो वसिष्ठ एकस्मिन् सप्तसु च वर्तते । न चैव तत्त्वेषु रूढः पंचविंशतिसंख्यानुरोधेन तत्त्वेषु वर्तयितव्यः । रूढौ सत्यां पंचविंशतेरेव संख्याया अभावात् कथं तत्त्वेषु वर्तते ॥ ११ ॥

एवञ्च के ते पञ्चजना इत्यपेक्षायां किं वाक्यशेषगताः प्राणादयो गृह्यन्तामुत पंचविंशतिस्तत्त्वानीति विशये तत्त्वानामप्रामाणिकत्वात् प्राणादीनाञ्च वाक्यशेषे श्रवणात्तत्परित्यागे श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्प्राणादय एव पञ्चजनाः । न च काण्वमाध्यन्दिनयोर्विरोधान्न प्राणादीनां वाक्यशेषगतानामपि ग्रहणमिति साम्प्रतं, विरोधेऽपि तुल्यबलतया षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विकल्पोपपत्तेः ।

भामती-व्याख्या

अर्थ की संज्ञा माननी होगी । संज्ञा शब्द रूढ होता है, यौगिक नहीं, अतः 'जन' शब्द की अवयव-व्युत्पत्ति के द्वारा तत्त्वपरता उचित नहीं, अपितु अवयवार्थ-सापेक्ष यौगिक शब्द की अपेक्षा तन्निरपेक्ष रूढ शब्द के द्वारा किसी मुख्य अर्थ का ग्रहण करना होगा । यदि उस अर्थ का प्रकृत वाक्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बनता, या पूर्वोत्तर वाक्यों से विरोध होता है, तब रूढि शक्ति का परित्याग न करते हुए अन्य वृत्ति के द्वारा अर्थान्तर की कल्पना करके वाक्य का उपपादन करना होगा, जैसे—"श्येनेनाभिचरन् यजेत" (षड्विंश. ३।८) यहाँ 'श्येन' शब्द 'बाज' पक्षी में रूढ है, अतः उस अर्थ का परित्याग न करते हुए "यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपादत्ते" (षड्विंश. ३।८) इस अर्थवाद में प्रतिपादित श्येन के स्वभाव का साम्य अपना कर 'श्येन' शब्द यागविशेष का वाचक माना जाता है । उसी प्रकार 'पंचजन' शब्द भी अवयवार्थ-निरपेक्ष किसी एक अर्थ का भी वाचक वैसे ही हो सकता है, जैसे कि 'सप्तर्षि' शब्द वसिष्ठादि सात ऋषियों का भी बोधक होता है और अकेले वसिष्ठ का भी । 'पञ्चजन' शब्द तत्त्वों में कहीं रूढ नहीं माना जाता कि पञ्चविंशति संख्या के अनुरोध पर वह सांख्याभिमत तत्त्वार्थक मान लिया जाय । 'पंचजन' शब्द जब रूढ है, तब 'पंच' शब्द को पृथक् संख्या-परक नहीं माना जा सकता, तब संख्या के सम्बन्ध से तत्त्वार्थक क्योंकर होगा ॥ ११ ॥

जब कि पंचजन' शब्द तत्त्वार्थक नहीं हो सकता, तब 'के ते पंचजनाः'—ऐसी आकांक्षा होने पर क्या वाक्य-शेषगत प्राणादि का ग्रहण किया जाय ? अथवा सांख्याभिमत पंचविंशति तत्त्वों का ? ऐसा संशय होने पर निर्णय-सूत्र प्रस्तुत किया गया है—"प्राणादयो वाक्यशेषात्" । अर्थात् पंचविंशति तत्त्वों की अप्रामाणिकता स्थिर हो चुकी है और प्राणादि वाक्य-शेष में प्रतिपादित हैं, अतः प्राणादि का परित्याग करने में श्रुत-हानि और तत्त्वों की

पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः ? तत्त्वेषु वा कथं जनशब्दप्रयोगः ? समाने तु प्रसिद्ध्यतिक्रमे वाक्यशेषवशात्प्राणादय एव ग्रहीतव्या भवन्ति। जनसंबन्धाच्च प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति। जनवचनश्च पुरुषशब्दः प्राणेषु प्रयुक्तः—'ते वा एते पंच ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३।१३।६) इत्यत्र। 'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' (छा० ७।१५।१) इत्यादि च ब्राह्मणम्। समासबलाच्च समुदायस्य रूढत्वमविरुद्धम्। कथं पुनरसति

भामती

न चेयं वस्तुस्वरूपकथाऽपि तूपासनानुष्ठानविधिर्मनसैवानुद्रष्टव्यमिति विधिश्रवणात् ॐ कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोग इति ॐ। जनवाचकः शब्दो जनशब्दः, पंचजनशब्द इति यावत्। तस्य कथं प्राणादिष्वजनेषु प्रयोग इति व्याख्येयम्। अन्यथा तु प्रत्यस्तमितावयवार्थे समुदायशब्दार्थे जनशब्दार्थो नास्तीत्यपर्यनुयोग एव। रूढ्यपरित्यागेनैव वृत्त्यन्तरं दर्शयति ॐजनसम्बन्धाच्च इतिॐ। जनशब्दभाजः, पञ्चजनशब्दभाजः। ननु सत्यामवयवप्रसिद्धौ समुदायशक्तिकल्पनमनुपपन्नं, सम्भवति च पञ्चविंशत्यां तत्त्वेष्ववयवप्रसिद्धिरित्यत आह ॐ समासबलाच्च इति ॐ। स्यादेतत्—समासबलाच्चेद्रूढिराश्रीयते, हन्त न

भामती–व्याख्या

कल्पना में अश्रुत कल्पना प्रसक्त होती है, अतः प्राणादि-पंचक का ही 'पञ्चजनाः' शब्द से ग्रहण करना चाहिए। यह जो आक्षेप किया गया था कि काण्व और माध्यन्दिन शाखा के वाक्य-शेषों का परस्पर विरोध है, क्योंकि एक वाक्य-शेष में ज्योति को लेकर पंच संख्या पूरी की गई और दूसरे में अन्न (पृथिवी) को लेकर। उसका समाधान यह है कि समानबलवाले दो वाक्यों का विरोध उपस्थित होने पर विकल्प मान लिया जाता है, जैसे—"अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" (मै० सं० ७६) और "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"—यहाँ षोडशी का ग्रहण किया भी जा सकता है और नहीं भी। दोनों अवस्थाओं में कर्म विगुण नहीं होता। प्रकृत में भी वस्तु-स्वरूप का कथन नहीं कि विकल्प असम्भव हो जाता। यहाँ उपासनानुष्ठान का विधि-वाक्य उपलब्ध होता है—"मनसैवानुद्रष्टव्यम्" (बृह० ४।४।१९)।

"कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः"—इस भाष्य का अर्थ इस प्रकार है—'जनवाचकः शब्दो जनशब्दः अर्थात् 'पञ्चजन' शब्द का यहाँ जनशब्दत्वेन ग्रहण किया गया है। प्रस्तुत प्रश्न की पूरी व्याख्या इस प्रकार हो जाती है कि जो शब्द 'जन' का वाचक है, उसका जन से भिन्न प्राणादि अर्थों में प्रयोग क्यों कर होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता। अन्यथा [भाष्यस्थ 'जन' शब्द से 'पञ्चजन' शब्द ग्रहण न कर केवल उसके अवयवरूप 'जन' शब्द का ग्रहण करने पर] "कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः ?"—यह आक्षेप असंगत या अनुक्तोपालम्भमात्र हो जाता है, क्योंकि सिद्धान्ती की ओर से कभी नहीं कहा गया कि केवल 'जन' शब्द का प्रयोग प्राणादि में होता है, अपि तु सिद्धान्ती ने तो अवयवार्थ का सर्वथा परित्याग करके केवल समुदायभूत 'पञ्चजन' शब्द को प्राणादिपरक माना है, अतः 'प्राणादिरूप समुदायार्थ में अवयवरूप 'जन' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता'—यह आक्षेप पर्यवसित होता है, जो कि अनुचित है। प्रकृत में रूढि शक्ति का परित्याग न करते हुए वृत्त्यन्तर (लक्षणा वृत्ति) का निमित्त प्रदर्शित किया जाता है—"जनसम्बन्धाच्च प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति"। यहाँ भी 'जनशब्दभाजः' का अर्थ 'पञ्चजनशब्दभाजः'—ऐसा ही करना चाहिए।

जब कि पञ्चविंशति तत्त्वों में अवयवार्थता लोक-प्रसिद्ध (क्लृप्त) है, तब समुदाय शक्ति की कल्पना क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है—"समासबलाच्च समुदायस्य रूढत्वमविरुद्धम्"। लोक-प्रसिद्धि की उपेक्षा करके यदि रूढार्थ की कल्पना की जाती है, तब

प्रथमप्रयोगे रूढिः शक्याऽऽश्रयितुम् ? शक्योद्भिदादिवदित्याह – प्रसिद्धार्थसंनिधाने ह्यप्रसिद्धार्थः शब्दः प्रयुज्यमानः समभिव्याहारात्तद्विषयो नियम्यते, यथा 'उद्भिदा यजेत', 'यूपं छिनत्ति', 'वेदिं करोति' इति। तथाऽयमपि पंचजनशब्दः समासान्वाख्यानादवगतसंज्ञाभावः संख्याकांक्षी वाक्यशेषसमभिव्याहृतेषु प्राणादिषु वर्तिष्यते। केचित्तु देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसि च पंच पंचजना व्याख्याताः। अन्यैश्च

भामती

दृष्टस्तर्हि तस्य प्रयोगोऽश्वकर्णादिवद् वृक्षादिषु। तथा च लोकप्रसिद्ध्यभावान्न रूढिरित्याक्षिपति ❀ कथं पुनरसतीति ❀। जनेषु तावत् पञ्चजनशब्दस्य प्रथमः प्रयोगो लोकेषु दृष्ट इत्यसति प्रथमप्रयोग इत्यसिद्धमिति स्ववीयस्तयानभिधायाभ्युपेत्य प्रथमप्रयोगाभावं समाधत्ते ❀ शक्योद्भिदादिवद् इति ❀। आचार्यदेशीयानां मतभेदेष्वपि न पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि सिध्यन्ति। परमार्थतस्तु पञ्चजना वाक्यशेषगता एवेत्याशयवानाह ❀ केचित् तु इति ❀। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ १२-१३ ॥

भामती–व्याख्या

जैसे 'अश्वकर्ण' शब्द की प्रसिद्धि वृक्षादि में होती है, वैसे ही 'पञ्चजन' शब्द की प्रसिद्धि पञ्चविंशति तत्त्वों में क्यों है ? एवं जिस अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग लोकप्रसिद्ध नहीं, उस अर्थ में उस शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि शाब्दिक मर्यादा के प्रखर पारखी आचार्यों का कहना है कि "लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः" (ब्र० सि० पृ. ८२) इस आक्षेप का समाधान कोई आचार्य इस प्रकार करता है—' शक्या उद्भिदादिवत्"। [आशय यह है कि एकमात्र लोक-व्यवहार ही शब्द-शक्ति का निर्णायक नहीं, अपितु प्रसिद्धार्थक पदों का समभिव्याहार या सन्निधान भी तात्पर्य-निश्चायक होता है, जैसा कि महर्षि जैमिनि ने "प्रसिद्धसन्निधानम्" (जै. सू. ९।४।२५) ऐसा कह कर सुचित किया है। शबरस्वामी भी कहते हैं—"प्रसिद्धस्य सन्निधौ यदभिधीयते, तत्तथैव" (शबर० पृ० १७८०) वार्तिककारने भी कहा है—

पदमज्ञातसन्दिग्धं प्रसिद्धैरपृथक्श्रुति।
निर्णीयते निरूढं तु न स्वार्थादपनीयते ॥ (तं. वा. पृ. ३२५)

"उद्भिदा यजेत पशुकामः" (तै० ब्र० १९।७।३) यहाँ सन्देह किया गया है कि 'उद्भित्' पद क्या किसी कर्म की संज्ञा है ? अथवा कर्म के उद्देश्य से किसी साधन (द्रव्य) का समर्पक ? पूर्वपक्षी ने कहा कि लोक-व्यवहार से उद्भित्' पद याग के साधनोभूत किसी द्रव्य में रूढ प्रतीत नहीं होता, अतः 'उद्भिद्यत भूमिरनेन'–इस योग-व्युत्पत्ति से अवगत खनित्र (फावड़ा) आदि द्रव्य का विधान ज्योतिष्टोमनामक कर्म में करना चाहिए। सिद्धान्ती ने कहा कि अप्रसिद्धार्थक पद के अर्थ का निर्णय प्रसिद्धार्थक पद की सन्निधि से होता है। प्रकृत में 'यजेत' शब्द का अर्थ है—'यागेन भावयेत्' अतः पूरा वाक्य 'उद्भिदा यागेन भावयेत्'— ऐसा बनता है। दोनों तृतीयान्त पदों का अभिन्न अर्थ में तात्पर्य पर्यवसित होता है। 'याग' शब्द कर्म में प्रसिद्ध है, अतः 'उद्भित्' पद भी कर्मविशेष की संज्ञा है। जैसे प्रसिद्धार्थक 'याग' पद की सन्निधि से 'उद्भित्' पद कर्म-विशेष का बोधक है, वैसे ही सन्निहित वाक्य शेष के आधार पर 'पञ्चजन' शब्द प्राणादिपरक निर्णीत होता है]। कतिपय आचार्यों ने देव, पितर, गन्धर्व, असुर और राक्षस'—इन पाँचों का ग्रहण 'पंचजन' शब्द से किया है एवं अन्य आचार्यों ने ब्राह्मणादि चार वर्ण और निषाद—इनको पंचजन कहा है। कहीं-कहीं 'पांचजन्यया विशा'' (ऋ. सं. ८।५३।७) इस प्रकार 'प्रजा' का वाचक

चत्वारो वर्णा निषादपंचमाः परिगृहीताः। क्वचिच्च 'यत्पंचजन्यया विशा' (ऋ० सं० ८।५३।७) इति प्रजापरः प्रयोगः पंचजनशब्दस्य दृश्यते। तत्परिग्रहेऽपीह न कश्चिद्विरोधः। आचार्यस्तु न पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामिह प्रतीतिरस्तीत्येवंपरतया 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इति जगाद ॥ १२ ॥

भवेयुस्तावत्प्राणादयः पंचजना माध्यंदिनानाम्, येऽन्नं प्राणादिष्वामनन्ति। काण्वानां तु कथं प्राणादयः पंचजना भवेयुर्येऽन्नं प्राणादिषु नामनन्तीति? अत उत्तरं पठति—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

असत्यपि काण्वानामन्ने ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्यते। तेऽपि हि 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यतः पूर्वस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योतिरधीयते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति। कथं पुनरुभयेषामपि तुल्यवदिदं ज्योतिः पठ्यमानां समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया केषांचिद् गृह्यते केषांचिन्नेति? अपेक्षाभेदादित्याह। माध्यंदिनानां हि समानमन्त्रपठितप्राणादिपञ्चजनलाभान्नास्मिन्मन्त्रान्तरपठिते ज्योतिष्यपेक्षा भवति। तदलाभात्तु काण्वानां भवत्यपेक्षा। अपेक्षाभेदाच्च समानेऽपि मन्त्रे ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे। यथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात्षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे, तद्वत्। तदेवं न तावच्छ्रुतिप्रसिद्धिः काचित्प्रधानविषयास्ति। स्मृतिन्यायप्रसिद्धी तु परिहरिष्येते ॥ १३ ॥

(४ कारणत्वाधिकरणम् । सू० १४–१५)

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणम्। प्रतिपादितं च ब्रह्मविषयं गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानाम्। प्रतिपादितं च प्रधानस्याशब्दत्वम्।

भामती

अथ समन्वयलक्षणे केयमकाण्डे विरोधाविरोधचिन्ता? भविता हि तस्याः स्थानमविरोधलक्षणमित्यत आह * प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणमिति *। अयमर्थः नानेकशाखागततत्तद्वाक्यालोचनया वाक्यार्थावगमे पर्यवसिते सति प्रमाणान्तरविरोधेन वाक्यार्थावगतेरप्रामाण्यमाशङ्क्याविरोधव्युत्पादनेन प्राप्तप्रामाण्यव्यवस्थापनमविरोधलक्षणार्थः, प्रासङ्गिकं तु तत्र सृष्टिविषयाणां वाक्यानां परस्परमविरोधप्रतिपादनम्, न तु लक्षणार्थः। तत्प्रयोजनं च तत्रैव प्रतिपादयिष्यते। इह तु वाक्यानां सृष्टिप्रतिपादकानां परस्प-

---

भामती–व्याख्या

'पञ्चजनाः' शब्द देखा जाता है। इस प्रकार आचार्यजनों का मत-भेद रहने पर भी 'पंचजन' शब्द से पञ्चविंशति तत्त्वों की कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती। परमार्थतः वाक्यशेषगत प्राणादि ही यहाँ पञ्चजन हैं, इस आशय को मन में रख कर कहा है—'कश्चित्तु इत्यादि"। शेष भाष्य सुगम है ॥ १२–१३॥

संगति—इससे पहले (१) ब्रह्म का लक्षण किया गया, (२) सभी वेदान्त-वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय प्रतिपादित हुआ एवं (३) सांख्याभिमत प्रधानतत्त्व की अशब्दता (अनागमिकता) सिद्ध की गई। संस्थापित सिद्धान्तों पर उद्भावित कतिपय विरोधों का समाधान इस अधिकरण में किया जाता है। यहाँ जो यह शङ्का होती है कि इस समन्वयाध्याय के

तत्रेदमपरमाशङ्क्यते—न जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो ब्रह्मविषयं वा गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानां प्रतिपत्तुं शक्यम् । कस्मात् ? विगानदर्शनात् । प्रतिवेदान्तं ह्यन्यान्या सृष्टिरुपलभ्यते, क्रमादिवैचित्र्यात् । तथा हि—क्वचित् 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते । क्वचित्तेजआदिका—'तत्तेजोऽसृजत' इति । क्वचित्प्राणादिका—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६।४) इति क्वचिदक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिराम्नायते—'स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० उ० ४।१।२) इति । तथा क्वचिदसत्पूर्विका सृष्टिः पठ्यते—'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै० २।७) इति । 'असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' (छा० ३।१९।१) इति च । क्वचिदसद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया प्रतिज्ञायते—'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१,२) इति । क्वचित् स्वयंकर्तृकैव व्याक्रिया जगतो निगद्यते—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते' (बृ० १।४।७) इति । एवमनेकधा विप्रतिपत्तेर्वस्तुनि च विकल्पस्यानुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां जगत्कारणावधारणपरता न्याय्या । स्मृतिन्याय-

---

भामती

स्वविरोधे ब्रह्मणि जगद्योनौ न समन्वयः सेद्धुमर्हति । तथा च न जगत्कारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणं, न च तत्र गतिसामान्यम्, न च तत्सिद्धये प्रधानस्याशब्दत्वप्रतिपादनं, तस्माद्वाक्यानां विरोधाविरोधाभ्यामुक्तार्थाक्षेपसमाधानाभ्यां समन्वय एवोपपाद्यत इति समन्वयलक्षणे सङ्गतमिदमधिकरणम् ।

वाक्यानां कारणे कार्ये परस्परविरोधतः ।
समन्वयो जगद्योनौ न सिध्यति परात्मनि ॥

भामती-व्याख्या

साथ इस अधिकरण की संगति क्या ? विरोधाविरोध-चिन्ता के लिए तो द्वितीय अविरोधाध्याय की रचना की गई है । उस शङ्का का निराकरण किया गया है—"प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणमित्यादि" । आशय यह है कि अविरोध लक्षण (द्वितीयाध्याय) का प्रयोजन यह है कि अनेक शाखाओं या एक शाखा के सम्बन्धित वाक्यों की आलोचना से अधिगत वाक्यार्थ पर प्रमाणान्तरों के द्वारा उद्भावित विरोध के माध्यम से जो प्रकृत वाक्यार्थ-ज्ञान में अप्रामाण्य की शङ्का की जाती है, उसका परिहार करते हुए प्रामाण्य व्यवस्थापित करना । वहाँ सृष्टिविषयक वाक्यों का जो परस्पर-अविरोध प्रतिपादित है वह केवल आनुषङ्गिक है, अविरोधाध्याय का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं । किन्तु यहाँ सृष्टि-प्रतिपादक वाक्यों का परस्पर-विरोध होने पर सभी वाक्यों का एक ब्रह्म में समन्वय नहीं सिद्ध होता और ब्रह्म में जगत् की कारणता पर्यवसित नहीं होती । ब्रह्म-लक्षण की अनुपपत्ति के साथ-साथ गति-सामान्य [सभी वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में समन्वय] एवं सांख्याभिमत प्रधानगत अशब्दता की सिद्धि भी नहीं होती । फलतः वाक्यों के विरोधाविरोध या आक्षेप-समाधान की शैली अपना कर समन्वयरूप मुख्य प्रयोजन की जो सिद्धि की जाती है, वह सर्वथा प्रथम (समन्वय) अध्याय से संगत है ।

संशय—परस्पर-विरोधी सृष्टि-वाक्यों का जगत्कारणीभूत ब्रह्म में समन्वय हो सकता है ? अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—

वाक्यानां कारणे कार्ये परस्परविरोधतः ।
समन्वयो जगद्योनौ न सिध्यति परात्मनि ॥

प्रसिद्धिभ्यां तु कारणान्तरपरिग्रहो न्याय्य इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्वाकाशादिषु क्रमादिद्वारके विगाने न स्रष्टरि किंचिद्विगानमस्ति । कुतः ? यथाव्यपदिष्टोक्तेः यथाभूतो ह्येकस्मिन्

भामती

सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यादीनां कारणविषयाणामसद्वा इदमग्र आसीदित्यादिभिर्वाक्यैः कारणविषयैर्विरोधः, कार्यविषयाणामपि विभिन्नक्रमाक्रमोत्पत्तिप्रतिपादकानां विरोधः । तथा कानिचिदन्यकर्तृकां जगदुत्पत्तिमाचक्षते वाक्यानि, कानिचित् स्वयंकर्तृकाम् । सृष्ट्या च तत्कार्येण तत्कारणतया ब्रह्म लक्षितम् । सृष्टिविप्रतिपत्तौ तत्कारणतायां ब्रह्मलक्षणे विप्रतिपत्तौ सत्यां भवति तल्लक्ष्ये ब्रह्मण्यपि विप्रतिपत्तिः । तस्माद् ब्रह्मणि समन्वयाभावान्न समन्वयगम्यं ब्रह्म, वेदान्तास्तु कर्त्रादिप्रतिपादनेन कर्मविधिपरतयोपचरितार्था अविवक्षितार्था वा जपोपयोगिन इति प्राप्तम् । क्रमादीत्यादिग्रहणेनाक्रमो गृह्यते ।

एवं प्राप्त उच्यते—

सर्गक्रमविवादेऽपि न स स्रष्टरि विद्यते ।
सतस्त्वसद्वचो भक्त्या निराकार्यतया क्वचित् ॥

न तावदस्ति सृष्टिक्रमे विगानं, श्रुतीनामविरोधात् । तथाहि—अनेकशिल्पपर्यवदातो देवदत्तः प्रथमं चक्रदण्डादि करोत्यथ तदुपकरणः कुंभं कुंभोपकरणस्त्वाहरत्युदकम्, उदकोपकरणश्च संयवनेन गोधूमकणिकानां करोति पिण्डं, पिण्डोपकरणस्तु पचति घृतपूर्णं, तदस्य देवदत्तस्य सर्वत्रैतस्मिन् कर्तृत्वा-

भामती-व्याख्या

कारणविषयक और कार्यविषयक वाक्यों का परस्पर-विरोध है, जैसे कि "सदेव सोम्य ! इदमग्र आसीत्" (छां. ६।२।१) और "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै. २।७) इत्यादि वाक्य 'सत्' और 'असत्' कारण के प्रतिपादक होने से परस्पर-विरुद्ध हैं । इसी प्रकार कार्य (सृष्टि) के प्रतिपादक वाक्यों की भी एकवाक्यता नहीं, क्योंकि "कुतस्तु खलु सोम्येदं स्यात्" (छां. ६।२।२) इत्यादि वाक्य जगत् को अन्यकर्तृक और "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्, तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते" (बृह. उ. १।४।७) इत्यादि वाक्य जगत् को स्वयंकर्तृक कहते हैं । सृष्टि का क्रम भी विविधरूप में अभिहित है । इसी सृष्टि के द्वारा ब्रह्म का तटस्थ लक्षण किया गया है—"जन्माद्यस्य यतः" (ब्र. सू. १।१।२) । सृष्टि में विप्रतिपत्ति होने पर सृष्टिकारणत्वरूप ब्रह्म-लक्षण में विप्रतिपत्ति और विप्रतिपन्न लक्षण के द्वारा ब्रह्मरूप लक्ष्यार्थ में भी विप्रतिपत्ति हो जाती है । जब ब्रह्म में वेदांत-वाक्यों का समन्वय नहीं होता, तब समन्वय-गम्य ब्रह्म क्योंकर होगा ? वेदान्त-वाक्यों का सार्थक्य तो कर्मकाण्ड में अपेक्षित कर्त्ता-भोक्तारूप जीवात्मा का प्रतिपादन कर कर्म-विधिपरता में अथवा जप की उपयोगिता में हो जाता है । "क्रमादिवैचित्र्यात्" इस भाष्य में आदि' पद के द्वारा अक्रम (यौगपद्य) का ग्रहण किया जाता है ।

समाधान—

सर्गक्रमविवादेऽपि न स स्रष्टरि विद्यते ।
सतस्त्वसद्वचो भक्त्या निराकार्यतया क्वचित् ॥

सृष्टि-क्रम में किसी प्रकार का विगान (विरोध) नहीं, क्योंकि सभी श्रुतियाँ अविरुद्धार्थक हैं । जैसे कि अनेक शिल्पों में कुशल देवदत्त भी पहले दण्ड-चक्रादि साधन पदार्थों का संग्रह करता है, उस सामग्री की सहायता से घट का निर्माण करता है, घट में जल भर लाता है, जल से गेहूँ का आटा गून्ध कर पूड़ी के पेड़े बनाता है, उन्हें बेल कर घी में पूड़ियाँ छानता

वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टस्तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते। तद्यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति। अत्र तावज्ज्ञानशब्देन परेण च तद्विषयेण कामयितृत्ववचनेन चेतनं ब्रह्म न्यरूपयत्,

भामती

च्छक्यं वक्तुं देवदत्ताच्चक्रादि सम्भूतं तस्माच्चक्रादेः कुम्भादीति। शक्यञ्च देवदत्तात् कुम्भः समुद्भूतस्तस्मादुदकाहरणादीत्यादि। नह्यस्त्यसम्भवः सर्वत्रास्मिन् कार्यजाते क्रमवत्यपि देवदत्तस्य साक्षात्कर्तुरनुस्यूतत्वात्तथेहापि। यद्यप्याकाशादिक्रमेणैव सृष्टिस्तथाप्याकाशानलानिलादौ तत्र तत्र साक्षात् परमेश्वरस्य कर्तृत्वाच्छक्यं वक्तुं परमेश्वरादाकाशः सम्भूत इति, शक्यं च वक्तुं परमेश्वरादनलः सम्भूत इत्यादि। यदि त्वाकाशाद्वायुर्वायोस्तेज इत्युक्त्वा तेजसो वायुर्वायोराकाश इति ब्रूयाद्भवेद्विरोधो न चैतदस्ति। तस्मादमूषामविवादः श्रुतीनाम्। एवं 'स इमान् लोकानसृजत' इत्यक्रमाभिधायिन्यपि श्रुतिरविरुद्धा। एषा हि स्वव्यापारमभिधानक्रमेण कुर्वती नाभिधेयानां क्रमं निरुणद्धि, ते तु यथाक्रमावस्थिता एवाक्रमेणोच्यन्ते। यथा क्रमवन्ति ज्ञानानि जानातीति। तदेवमविगानम्। अभ्युपेत्य तु विगानमुच्यते सृष्टौ खल्वेतद्विगानम्। स्रष्टा तु सर्ववेदान्तवाक्येष्वनुस्यूतः परमेश्वरः प्रतीयते नात्र श्रुतिविगानं मात्रयाप्यस्ति। न च सृष्टिविगानं स्रष्टरि तदधीननिरूपणे विगानमावहतीति वाच्यम्, नह्येष स्रष्टृत्वमात्रेणोच्यतेऽपि तु सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिना रूपेणोच्यते स्रष्टा। तच्चास्य रूपं सर्ववेदान्तवाक्यानुगतम्। तज्ज्ञानं च

भामती–व्याख्या

है। इन सभी कार्यों के सम्पादन में देवदत्त कर्त्ता है, अतः यह कह सकते हैं कि देवदत्त से चक्रादि सामग्री और चक्रादि सामग्री से घट सम्भूत (उत्पन्न) हुआ एवं ऐसा भी कहा जा सकता है कि देवदत्त से घट उत्पन्न हुआ और घट से जलाहरण किया जाता है। ऐसा कहना असम्भव कदापि नहीं, क्योंकि समस्त क्रमिक कार्य-कलाप का साक्षात् कर्त्ता देवदत्त सर्वत्र अनुस्यूत है। वैसे ही यहाँ भी सभी प्रकार से कहा जा सकता है। यद्यपि सृष्टि सदैव आकाशादि-क्रम से होती है, तथापि आकाश, वायु और तेज आदि कार्यों का साक्षात् परमेश्वर ही कर्त्ता है, अतः यह कहा जा सकता है 'परमेश्वराद् आकाशः सम्भूतः', परमेश्वराद् वायुः सम्भूतः, परमेश्वरान् तेजः सम्भूतम्'। यदि आकाश से वायु और वायु से तेज संभूत हुआ–ऐसा कह कर तेज से वायु और वायु से आकाश संभूत हुआ–ऐसा कहा जाता, तब अवश्य विरोध उपस्थित होगा। किन्तु ऐसा कहीं नहीं कहा गया है, अतः इन श्रुतियों में किसी प्रकार का विरोध नहीं। इसी प्रकार 'स इमान् लोकानसृजत'—ऐसा उपक्रम कर सर्ग-प्रतिपादिका श्रुति विरुद्ध नहीं मानी जाती, क्योंकि यह श्रुति अभिधान-क्रम से अपना व्यापार करती हुई अभिज्ञान क्रम का विरोध कभी भी नहीं करती। अभिधेय पदार्थ तो यथाक्रम अवस्थित होकर युगपत् वैसे ही कहे जाते हैं, जैसे 'क्रमवन्ति ज्ञानानि जानाति'। इस प्रकार के प्रतिपादन को विगान कदापि नहीं कहा जा सकता।

श्रुतियों के विगान (विरुद्धार्थ-प्रतिपादन) को स्वीकार कर लेने पर भी यह कहा जा सकता है कि यह विगान केवल सृष्टि के विषय में है, स्रष्टा आत्मा तो सभी वेदान्त-वाक्यों में अनुस्यूत परमेश्वर ही है। इसके विषय में श्रुतियों का किसी प्रकार का भी विवाद नहीं। यदि सृष्टि में विवाद या विगान है, तब सृष्टि के अधीन ही जिस स्रष्टा का निरूपण होता है, उस में विवाद क्यों न होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्रष्टा परमेश्वर का निरूपण केवल सृष्टि के अधीन नहीं, क्योंकि तटस्थ लक्षण में सृष्टि की अपेक्षा होने पर भी स्वरूप लक्षण में उसकी कदापि अपेक्षा नहीं—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै० २।१।१) इत्यादि वाक्यों के द्वारा स्वरूपतः परमेश्वर का निरूपण किया जाता है, सृष्टि के माध्यम से नहीं।

अपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरं कारणमब्रवीत् । तद्विषयेणैव परेणात्मशब्देन शरीरादिकोशपरंपरया चान्तरनुप्रवेशनेन सर्वेषामन्तः प्रत्यगात्मानं निरधारयत् । 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति चात्मविषयेण बहुभवनानुशंसनेन सृज्यमानानां विकाराणां स्रष्टुरभेदमभाषत । तथा 'इदं सर्वमसृजत । यदिदं किंच' (तै० २।६) इति समस्तजगत्सृष्टिनिर्देशेन प्राक्सृष्टेरद्वितीयं स्रष्टारमाचष्टे । तदत्र यल्लक्षणं ब्रह्म कारणत्वेन विज्ञातं, तल्लक्षणमेवान्यत्रापि विज्ञायते – 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्', 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।१,३) इति । तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजै' (ऐ० उ० ४।१।१,२) इति च, एवंजातीयकस्य कारणस्वरूपनिरूपणपरस्य वाक्यजातस्य प्रतिवेदान्तमविगीतार्थत्वात् । कार्यविषयं तु विगानं दृश्यते– क्वचिदाकाशादिका सृष्टिः क्वचित्तेजआदिकेत्येवंजातीयकम् । नच कार्यविषयेण विगानेन कारणमपि ब्रह्म सर्ववेदान्तेष्वविगीतमधिगम्यमानमविवक्षितं भवितुमर्हतीति शक्यते वक्तुम् , अतिप्रसङ्गात् । समाधास्यति आचार्यः कार्यविषयमपि विगानं 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१) इत्यारभ्य भवेदपि कार्यस्य विगीतत्वमप्रतिपाद्यत्वात् । न ह्ययं सृष्ट्यादिप्रपंच प्रतिपिपादयिषितः । नहि तत्प्रतिबद्धः कश्चित्पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा । न च कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात् । दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपंचस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम् – 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूल-

भामती

फलवत् , 'ब्रह्मविदाप्नोति परं' 'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रुतेः । सृष्टिज्ञानस्य तु न फलं श्रूयते तेन फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति सृष्टिविज्ञानं स्रष्टृब्रह्मविज्ञानाङ्गं तदनुगुणं सद्ब्रह्मज्ञानावतारोपायतया व्याख्येयम् । तथा च श्रुतिः – 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ' इत्यादिका । शुङ्गेनाग्रेण कार्य्येणेति यावत् । तस्मान्न सृष्टिविप्रतिपत्तिः स्रष्टरि विप्रतिपत्तिमावहति । अपि तु गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति तदनुगुणतया व्याख्येया । यच्च कारणे विगानमसद्वा इदमग्र आसीदिति, तदपि तदप्येव श्लोको भवतीति

भामती–व्याख्या

यह स्वरूप तो सभी वेदान्त वाक्यों में अनुस्यूत है, उसी का ज्ञान पुरुषार्थ का साधन कहा गया है—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० २।१) । "तरति शोकमात्मवित्" (छां० ६।१।७) । सृष्टि के ज्ञान को कहीं भी पुरुषार्थ का साधन नहीं माना गया है, अतः "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्" (जै० सू० ४।४।३४) इस न्याय के अनुसार सृष्टि का ज्ञान स्रष्टारूप ब्रह्म के ज्ञान का अङ्गमात्र है, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान मोक्षफलक और सृष्टि-ज्ञान फल-रहित है, अतः सृष्टि-प्रक्रिया की ऐसी व्याख्या करनी होगी, जिस से ब्रह्म-ज्ञान का अवतार (आविर्भाव) हो, श्रुति ने ऐसा ही कहा है—"अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ" (छां. ६।८।४) । वट वृक्ष या उसके अंकुर भाग को शुङ्ग कहते हैं, यहाँ कार्य (जन्य वस्तु) मात्र का शुङ्ग पद उपलक्षक है । श्रुति का तात्पर्य यही है कि सृष्ट्यादि अङ्गों के द्वारा अङ्गी (ब्रह्म) का ज्ञान करना चाहिए [सृष्टि और प्रलय का निरूपण एक प्रकार से ब्रह्म की व्याख्या माना गया है— "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते" [। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि सृष्टिविषयक विप्रतिपत्ति स्रष्टा के विषय में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति की जनक नहीं, होती, अपि तु "गुणे त्वन्यायकल्पना" (जै० सू० ९।३।१५) इस न्याय के अनुसार सृष्टिरूप गुण (अङ्गभूत) पदार्थों की लक्षणादि अन्याय-कल्पना के द्वारा अङ्गीभूत ब्रह्म के ज्ञान में पर्यवसान करना होगा ।

मन्विच्छ' (छा० ६।८।४) इति। मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाभेदं वदितुं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते। तथाच संप्रदायविद वदन्ति—'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा। उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन॥' (माण्डू० का० ३।१५)। ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१), 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (श्वे० ३।८) इति। प्रत्यक्षावगमं चेदं फलम्, 'तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वव्यावृत्तेः॥ १४॥

यत्पुनः कारणविषयं विगानं दर्शितम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—

समाकर्षात्॥ १५॥

'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७) इति नात्रासन्निरात्मकं कारणत्वेन

भामती

पूर्वप्रकृतं सद्ब्रह्माकृष्यासदेवेदमग्र आसीदित्युच्यमानं त्वसतोऽभिधानेऽसम्बद्धं स्यात्। श्रुत्यन्तरेण च मानान्तरेण च विरोधः। तस्मादौपचारिकं व्याख्येयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदिति तु निराकार्यं तयोपन्यस्तमिति न कारणे विवाद इति। सूत्रे चशब्दस्त्वर्थः पूर्वपक्षं निवर्त्तयति—आकाशादिषु सृज्यमानेषु क्रमविगानेऽपि न स्रष्टरि विगानम्। कुतः? यथैकस्यां श्रुतौ व्यपदिष्टः परमेश्वरः सर्वस्य कर्त्ता तथैव श्रुत्यन्तरेषूक्तेः, केन रूपेण? कारणत्वेन। अपरः कल्पो यथा व्यपदिष्टः क्रम आकाशादिषु, आत्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवीति, तथैव क्रमस्यानपबाधनेन तत्तेजोऽसृजतेत्याविकाया अपि सृष्टेरुक्तेर्न सृष्टावपि विगानम्॥ १४॥

नन्वेकत्रात्मन आकाशकारणत्वेनोक्तिरन्यत्र च तेजःकारणत्वेन तत्कथमविगानमत आह

भामती—व्याख्या

यह जो कारणविषयक विगान का निर्देश करते हुए कहा गया कि किसी श्रुति में जगत् कारण तत्त्व 'सत्' कहा गया और किसी में असत्। वह भी संगत नहीं, क्योंकि श्रुतियों का तात्पर्य सद् ब्रह्मगत जगत्कारणता के प्रतिपादन में ही है, असत्कारणता में नहीं, क्योंकि "तदप्येष श्लोको भवति"— इस प्रकार तत्पद के द्वारा पूर्व-प्रतिपादित 'सद् ब्रह्म' का अनुवर्तन करके "असदेवेदमग्र आसीत्"—इस वाक्य के द्वारा असत् का अभिधान करने पर विरोध और असम्बद्ध-प्रतिपादन प्रसक्त होता है, इतना ही नहीं, अन्य श्रुतियों और प्रमाणों से विरोध भी आता है, अतः 'असत्' पद को औपचारिक मानना होगा, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—"असदिति व्याकृतनामरूपविशेषविपरीतरूपमव्याकृतं ब्रह्मोच्यते, न पुनरत्यन्तमसत्, न ह्यसतः सज्जन्मास्ति" (तै. उ. भा. पृ. ८०)। वस्तुतः असत्कारणवाद निराकरणीय होने के कारण निर्दिष्ट हुआ है—यह सिद्धान्त-श्लोक में सूचित किया गया है—"निराकार्यतया क्वचित्"। "कारणत्वेन चाकाशादिषु"—इस सिद्धान्त-सूत्र में चकार 'तु' के अर्थ में प्रयुक्त होकर पूर्व पक्ष का निवर्तक है। आशय यह है कि आकाशादि पदार्थों के सृष्टि-क्रम में विगान (विप्रतिपादन) होने पर भी स्रष्टा (ब्रह्म) में कोई विवाद नहीं, क्योंकि जैसे एक श्रुति में परमेश्वर जगत्कारणत्वेन निर्दिष्ट है, वैसे ही श्रुत्यन्तर में भी। सूत्रकार ने जो कहा है—"यथा व्यपदिष्टोक्तेः", उसका तात्पर्य भी यही है कि आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इस वाक्य में जो क्रम व्यपदिष्ट है, उस क्रम की विवक्षा न करके "तत् तेजोऽसृजत्"—ऐसा कह दिया गया है, अतः सृष्टि में भी किसी प्रकार का विगान नहीं॥ १४॥

जब कि एक श्रुति में आत्मा का आकाशकारणत्वेन निर्देश है और दूसरी श्रुति में तेजः-

श्राव्यते। यतः 'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यसद्वादापवादेनास्तित्वलक्षणं ब्रह्मान्नमयादिकोशपरम्परया प्रत्यगात्मानं निर्धार्य 'सोऽकामयत' इति तमेव प्रकृतं समाकृष्य सप्रपञ्चां सृष्टिं तस्माच्छ्रावयित्वा 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इति चोपसंहृत्य 'तदप्येष श्लोको भवति' इति तस्मिन्नेव प्रकृतेऽर्थे श्लोकमिममुदाहरति—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति। यदि त्वसन्निरात्मकमस्मिन् श्लोकेऽभिप्रेयेत, ततोऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसंबद्धं वाक्यमापद्येत। तस्मान्नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्मासदिवासीदित्युपचर्यते। एषैव 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१) इत्यत्रापि योजना, 'तत्सदासीत्' इति समाकर्षणात्। अत्यन्ताभावाभ्युपगमे हि 'तत्सदासीत्' इति किं समाकृष्येत ? 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१ इत्यत्रापि न श्रुत्यन्तराभिप्रायेणायमेकीयमतोपन्यासः, क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पस्यासंभवात्। तस्माच्छ्रुतिपरिगृहीतसत्पक्षदार्ढ्यायैवायं मन्दमतिपरिकल्पितस्यासत्पक्षस्योपन्यस्य निरास इति द्रष्टव्यम्। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १।४।७) इत्यत्रापि न निरध्यक्षस्य जगतो व्याकरणं कथ्यते, स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' इत्यध्यक्षस्य व्याकृतकार्यानुप्रवेशित्वेन समाकर्षात्। निरध्यक्षे व्याकरणाभ्युपगमे ह्यनन्तरेण प्रकृतावलम्बिना स इत्यनेन सर्वनाम्ना कः कार्यानुप्रवेशित्वेन समाकृष्येत ? चेतनस्य चायमात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशः श्रूयते। अनुप्रविष्टस्य चेतनत्वश्रवणात्—'पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्छ्रोत्रं मन्वानो मनः' इति। अपि च यादृशमिदमद्यत्वे नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं जगत्साध्यक्षं व्याक्रियत एवमादिसर्गेऽपीति गम्यते, दृष्टविपरीतकल्पनानुपपत्तेः। श्रुत्यन्तरमपि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति साध्यक्षामेव जगतो व्याक्रियां दर्शयति। व्याक्रियत इत्यपि कर्मकर्तरि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्तरि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा लूयते केदारः स्वयमेवेति सत्येव पूर्णके लवितरि। यद्वा,—कर्मण्येवैष लकारोऽर्थाक्षिप्तं कर्तारमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा गम्यते ग्राम इति ॥ १५ ॥

भामती

* कारणत्वेन इति *। हेतौ तृतीया, सर्वत्राकाशानलानिलादौ साक्षात्कारणत्वेनात्मनः। प्रपञ्चितं चैतदधस्तात्। व्याक्रियत इति च कर्मकर्तरि कर्मणि वा रूपम्। न चेतनमतिरिक्तं कर्तारं प्रतिक्षिपति किन्तूपस्थापयति। न हि लूयते केदारः स्वयमेवेति वा लूयते केदार इति वा लवितारं देवदत्तादि प्रतिक्षिपति, अपि तूपस्थापयत्येव; तस्मात्सर्वमवदातम् ॥ १५ ॥

भामती—व्याख्या

कारणत्वेन, तब कारणता में विगान क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—नात्रासन्निरात्मकं कारणत्वेन श्राव्यते"। यहाँ 'कारणत्वेन' में तृतीया विभक्ति हेत्वर्थक है। सर्वत्र आकाश, तेज, वायु आदि में साक्षात् कारणत्वेन आत्मा निर्दिष्ट है। इस का विस्तार पहले किया जा चुका है। 'व्याक्रियते'—यह कर्मकर्त्ता या कर्म में प्रत्यय है। इस पद के द्वारा अतिरिक्त चेतन कर्त्ता का निराकरण नहीं किया जाता, अपि तु उस का उपस्थापन किया जा रहा है, क्योंकि "लूयते केदारः स्वयमेव"—ऐसे प्रयोग के द्वारा लविता (काटनेवाले) पुरुष का निषेध नहीं किया जाता, अपि तु उस का उपस्थापन किया जाता है ॥ १५ ॥

(५ बालाक्यधिकरणम् । सू० १६–१८)

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

कौषीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे श्रूयते–'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः' (कौ० ब्रा० ४।१९) इति । तत्र किं जीवो वेदितव्यत्वेनोपदिश्यते, उत मुख्यः प्राणः, उत परमात्मेति विशयः ।

किं तावत्प्राप्तम् ? प्राण इति । कुतः ? 'यस्य वैतत्कर्म' इति श्रवणात् , परिस्प-

भामती

ननु ब्रह्म ते ब्रवाणीति ब्रह्माभिधानप्रकरणादुपसंहारे च सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषाञ्च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यं पर्येति य एवं वेदेति निरतिशयफलश्रवणाद् ब्रह्मवेदनादन्यस्य तदसम्भवात् । आदित्यचन्द्रादिगतपुरुषकर्तृत्वस्य च यस्य वैतत्कर्मेति चःस्यात्तत्यवच्छेदे सर्वनाम्ना प्रत्यक्षसिद्धस्य जगतः परामर्शेन जगत्कर्तृत्वस्य च ब्रह्मणोऽन्यत्रासम्भवात्कथं जीवमुख्यप्राणाशङ्का ? उच्यते—ब्रह्म ते ब्रवाणीति बालाकिना गार्ग्येण ब्रह्माभिधानं प्रतिज्ञाय तत्तदादित्यादिगताब्रह्मपुरुषाभिधानेन न तावद् ब्रह्मोक्तम् । यस्य चाजातशत्रोर्यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्मेति वाक्यं न तेन ब्रह्माभिधानं प्रतिज्ञातम् । न चान्यदीयेनोपक्रमेणान्यस्य वाक्यं शक्यं नियन्तुम् । तस्मादजातशत्रोर्वाक्यसन्दर्भपौर्वापर्यालोचनया योऽस्यार्थः प्रतिभाति, स एव ग्राह्यः । अत्र च कर्मशब्दस्तावद् व्यापारे निरूढ-

भामती–व्याख्या

विषय—कौषीतकी ब्राह्मणगत बालाकि और अजातशत्रु के संवाद में आया है—"यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता, यस्य वैतत् कर्म, स वै वेदितव्यः" (कौ. ब्रा. ४।१९) इस वाक्य का अर्थ विचारणीय है ।

संशय—उक्त श्रुति में कथित कर्त्ता प्राण है ? या जीव ? अथवा परमात्मा ?

शङ्का—"ब्रह्म ते ब्रवाणि" (बृह. उ. २।१।१) यह प्रकरण-ब्रह्माभिधान का है, उपसंहार में भी कहा गया है—"सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यं पर्येति य एवं वेद" । यहाँ 'स्वाराज्य' के समान निरतिशय फल की प्राप्ति श्रुत है, जो कि ब्रह्म-ज्ञान का ही फल है, उससे भिन्न और किसी वेदनादि का फल नहीं हो सकता, आदित्य और चन्द्रमण्डलादिगत पुरुष का जनकत्व ब्रह्म से अन्यत्र सम्भव नहीं, "यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्यः" (कौ. ब्रा. ४।१९) यहाँ पर यद्यपि कोई अवच्छेद (विशेष प्रकरणादि निर्णायक) नहीं, तथापि 'एतत्' पद के द्वारा जिस प्रत्यक्ष-सिद्ध जगत् का ग्रहण होता है, उसकी कारणता ब्रह्म में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं, अतः यहाँ ब्रह्म से भिन्न जीव और मुख्य प्राण के ग्रहण की शङ्का क्योंकर होगी ?

समाधान—बलाक-पुत्र गार्ग्य ने "ब्रह्म ते ब्रवाणि"—ऐसा प्रतिज्ञा की, उसने आदित्यादिगत ब्रह्मेतर पुरुषों का ही अभिधान किया, ब्रह्म का नहीं और जिस अजातशत्रु का "यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता, यस्य वैतत् कर्म"–यह वाक्य है, उसने ब्रह्माभिधान की प्रतिज्ञा नहीं की । अन्य व्यक्ति के उपक्रम (प्रतिज्ञा) से अन्य व्यक्ति के उपसंहार की एकवाक्यता स्थापित नहीं की जा सकती । परिशेषतः अजातशत्रु के उक्त सन्दर्भ-वाक्य की पौर्वापर्यालोचना से जो उस वाक्य का अर्थ निकलता हो, वही ग्राह्य होगा ।

पूर्वपक्ष—"यस्यैतत् कर्म"–यहाँ पर 'कर्म' पद व्यापार (क्रिया) अर्थ में रूढ है किन्तु 'क्रियते इति कर्म'–ऐसी व्युत्पत्ति के द्वारा कार्यमात्र (जन्य वस्तुमात्र) का बोधक माना जाता है । रूढि शक्ति के अक्षुण्ण रहते-रहते यौगिक व्युत्पत्ति का आश्रयण उचित नहीं माना जा सकता ब्रह्म एक उदासीन और अपरिणामी तत्त्व है, उसका यह व्यापार (जगत् की रचना) नहीं माना

न्दलक्षणस्य च कर्मणः प्राणाश्रयत्वात्, वाक्यशेषे च 'अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इति प्राणशब्ददर्शनात्, प्राणशब्दस्य च मुख्ये प्राणे प्रसिद्धत्वात्। ये चैते पुरस्ताद्बालाकिना 'आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः' इत्येवमादयः पुरुषा निर्दिष्टास्तेषामपि भवति प्राणः कर्त्ता, प्राणावस्थाविशेषत्वादादित्यादिदेवतात्मनाम्—'कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' (बृह० ३।९।९) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः। जीवो वाऽयमिह वेदितव्यतयोपदिश्यते। तस्यापि धर्माधर्मलक्षणं कर्म शक्यते श्रावयितुम्—'यस्य वैतत्कर्म' इति। सोऽपि भोक्तृत्वाद्भोगोपकरणभूतानामेतेषां पुरुषाणां कर्तोपपद्यते। वाक्यशेषे च जीवलिङ्गमवगम्यते। यत्कारणं वेदितव्यतयोपन्यस्तस्य पुरुषाणां कर्तुर्वेदनायोपेतं बालाकिं प्रति बुबोधयिषुरजातशत्रुः सुप्तं पुरुषमामन्त्र्यामन्त्रणशब्दाश्रवणात्प्राणादीनामभोक्तृत्वं प्रतिबोध्य यष्टिघातोत्थानात्प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवं

भामती

वृत्तिः कार्येषु क्रियत इति व्युत्पत्त्या वर्तते। न च रूढौ सत्यां व्युत्पत्तिर्युक्ताश्रयितुम्। न च ब्रह्मण उदासीनस्यापरिणामिनो व्यापारवत्ता। वाक्यशेषे चाथास्मिन् प्राण एवैकधा भवतीति श्रवणात्परिस्पन्दलक्षणस्य च कर्मणो यत्रोपपत्तिः, स एव वेदितव्यतयोपदिश्यते। आदित्यादिगतपुरुषकर्तृत्वं च प्राणस्योपपद्यते हिरण्यगर्भरूपप्राणावस्थाविशेषत्वादादित्यादिदेवतानां कतम एको देवः प्राण इति श्रुतेः। उपक्रमानुरोधेन चोपसंहारे सर्वशब्दः सर्वान् पाप्मन इति च सर्वेषां भूतानामिति चापेक्षिकवृत्तिर्बहून् पाप्मनो बहूनां भूतानामित्येवं परो द्रष्टव्यः। एकस्मिन् वाक्ये उपक्रमानुरोधादुपसंहारो वर्णनीयः। यदि तु दृप्तबालाकिमब्रह्मणि ब्रह्माभिधायिनमपोद्याजातशत्रोर्वचनं ब्रह्मविषयमेवान्यथा तु तदुक्ताद्विशेषं विवक्षोरब्रह्माभिधानमसम्बद्धं स्यादिति मन्यते, तथापि नेदं ब्रह्माभिधानं भवितुमर्हति, अपि तु जीवाभिधानमेव, यत्कारणं वेदितव्यतयोपन्यस्तस्य पुरुषाणां कर्तुर्वेदनायोपेतं बालाकिं प्रति बुबोधयिषुरजातशत्रुः सुप्तं पुरुषमामन्त्र्यामन्त्रणशब्दाश्रवणात् प्राणादीनामभोक्तृत्वमस्वामित्वं प्रतिबोध्य यष्टिघातोत्थानात् प्राणादि-

भामती-व्याख्या

जा सकता।

वाक्यशेष में "अथास्मिन् प्राण एकधा भवति"—ऐसा प्राण श्रुत है, अतः परिस्पन्दनरूप क्रिया जिस पदार्थ में उपपन्न हो सके, वही यहाँ वेदितव्यतया उपदिष्ट माना जायगा। आदित्यादिगत पुरुष की कर्तृता प्राण में उपपन्न हो जाती है, क्योंकि हिरण्यगर्भरूप प्राण के आदित्यादिगत पुरुष (देवता) विकार माने गये हैं, अन्य श्रुतियों में भी कहा गया है—"कतम एको देवः? प्राण इति" (बृह० उ० ३।९।९)। उपक्रम के अनुरोध पर "सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्य पर्येति"—इस उपसंहार-वाक्य में 'सर्व' शब्द पापों और भूतों की आपेक्षिक सर्वता (भूयस्ता) का प्रतिपादक है अर्थात् बहुत-से पापों का अपघात करके बहुत-से भूतों में श्रेष्ठता प्राप्त करता है—ऐसा ही वहाँ अर्थ होगा, क्योंकि महावाक्य में उपक्रम के अनुसार ही उपसंहार का वर्णन करना चाहिए।

यदि 'भ्रान्त बालाकि के अब्रह्म में ब्रह्मत्वाभिधान का निराकरण करके अजातशत्रु ने अपने वाक्य में ब्रह्म का अभिधान किया, अन्यथा बालाकि को अब्रह्माभिधायी कहना संगत क्योंकर होगा? अतः प्राण का प्रतिपादन सम्भव नहीं'—ऐसा माना जाता है, तब भी यह कहा जा सकता है कि यह सन्दर्भ ब्रह्माभिधान का नहीं हो सकता, अपितु जीव का अभिधायक माना जा सकता है, क्योंकि वेदितव्यतया निर्दिष्ट जो आदित्य-पुरुषादि का कर्त्ता आत्मा है, उसके जिज्ञासु बालाकि को उसका बोध कराने की इच्छा से अजातशत्रु बालाकि को साथ लेकर एक सोए हुए व्यक्ति के पास गया—"तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुः" (बृह० उ० २।१।१५)। सोए हुए पुरुष का नाम लेकर अजातशत्रु ने पुकारा—'बृहत्पाण्डरवासा सोमराजन्!'

भोक्तारं प्रतिबोधयति। तथा परस्तादपि जीवलिङ्गमवगम्यते—'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति (कौ० ब्रा० ४।२०) इति। प्राणभृत्त्वाच्च जीवस्योपपन्नं प्राणशब्दत्वम्। तस्माज्जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर इह ग्रहणीयो न परमेश्वरः, तल्लिङ्गानवगमादिति।

भामती

व्यतिरिक्तं जीवं भोक्तारं स्वामिनं प्रतिबोधयति परस्तादपि तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति एवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेते आत्मान एनमात्मानं भुञ्जन्तीति श्रवणात्। यथा श्रेष्ठी प्रधानः पुरुषः स्वैर्भृत्यैः करणभूतैर्विषयान् भुङ्क्ते यथा वा स्वा भृत्याः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति, ते हि श्रेष्ठिनमशनाच्छादनादिग्रहणेन भुञ्जन्ति, एवमेवैष प्रज्ञात्मा जीव एतैरादित्यादिगतैरात्मभिर्विषयान् भुङ्क्ते। ते ह्यादित्यादय आलोकवृष्ट्यादिना साचिव्यमाचरन्तो जीवात्मानं भोजयन्ति, जीवात्मानमपि यजमानं तदुत्सृष्टहविरादानादिनादित्यादयो भुञ्जन्ति, तस्माज्जीवात्मैव ब्रह्मणोऽभेदाद् ब्रह्मेह वेदितव्यतयोपदिश्यते। यस्य वैतत् कर्मेति जीवप्रयुक्तानां देहेन्द्रियादीनां कर्म जीवस्य भवति। कर्मजन्यत्वाद्वा धर्माधर्मयोः कर्मशब्दवाच्यत्वं रूढ्यनुसारात्। तौ च धर्माधर्मौ जीवस्य धर्माधर्माक्षिप्तत्वाच्चादित्यादीनां भोगोपकरणानां तेषु जीवस्य कर्तृत्वमुपपन्नम्। उपपन्नं च प्राणभृत्त्वाज्जीवस्य प्राणशब्दत्वम्। ये च प्रश्नप्रतिवचने क्वैष एतत् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यतीति। अनयोरपि न स्पष्टं ब्रह्माभिधानमुपलभ्यते। जीवव्यतिरेकश्च प्राणात्मनो हिरण्यगर्भस्याप्युपपद्यते, तस्माज्जीवप्राणयो-

भामती—व्याख्या

(बृह. उ. २।१।१५)। वह जब पुकारने पर नहीं उठा, तब अजातशत्रु ने अपनी यष्टि (छड़ी) के इशारे से उसे जगाकर उठाया। सुप्त पुरुष की इस उत्थापन प्रक्रिया से प्राणादि में अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व सूचित कर प्राणादि से भिन्न चेतन पुरुष (जीव) में भोक्तृत्व अवबोधित किया। पश्चाद्भावी उपसंहार-वाक्य में भी एक दृष्टान्त के द्वारा जीव का ज्ञान कराया गया— तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति, एवमेवैष प्रज्ञात्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैते आत्मान एनमात्मानं भुञ्जन्ति'' (कौ. ब्रा. ४।२०) अर्थात् जैसे कोई सेठ (मुखिया पुरुष) अपने भृत्यों के द्वारा उपहृत विषयों का उपभोग करता है। अथवा जैसे भृत्यगण अपने सेठ से वेतनादि लेकर सेठ का उपभोग करते हैं। उसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा (जीव) भी इन आदित्यादि देवों की सहायता से शब्दादि विषयों का उपभोग करता है अथवा आदित्यादि देवगण जीवरूप यजमान के द्वारा त्यक्त हवि का उपभोग करते हैं। अतः जीवात्मा ही यहाँ ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण वेदितव्यतया उपदिष्ट है। 'यस्य वैतत् कर्म'—यहाँ 'कर्म' पद का अर्थ व्यापार या क्रिया ही है, इन्द्रियादि का कर्म जीव का ही समझा जाता है अथवा कर्म से जनित होने के कारण धर्म और अधर्म का 'कर्म' पद से ग्रहण किया गया है, क्योंकि 'कर्म' पद जिन यागादि कर्मों में रूढ है, धर्मादि उन कर्मों से अविनाभूत हैं। धर्मादि के द्वारा आदित्यादि देवों का भी जीव कर्त्ता माना जाता है। जीव प्राणभृत् होने के कारण प्राणपदास्पद भी हो जाता है। क्वैष एतद् बालाके ! पुरुषोऽशयिष्ट ?'' ''यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति'' (कौ. ब्रा. ३।३) इत्यादि जो प्रश्न और उत्तररूप वाक्य हैं, उनका अभिधेय भी स्पष्टरूप से ब्रह्म नहीं प्रतीत होता। 'क' और 'एष'—इस प्रकार सप्तमी और प्रथमा विभक्ति के द्वारा जो जीव का अपने से भिन्न किसी आधार तत्त्व में अवस्थित होने का प्रश्न किया गया है, उससे भी ब्रह्मरूप आधार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'प्राणे' इस सप्तम्यन्त पद से जिस हिरण्यगर्भात्मक प्राण तत्त्व

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवायमेतेषां पुरुषाणां कर्ता स्यात्। कस्मात्? उपक्रमसामर्थ्यात्। इह हि बालाकिरजातशत्रुणा सह 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति संवदितुमुपचक्रमे। स च कतिचिदादित्याद्यधिकरणान्पुरुषानमुख्यब्रह्मदृष्टिभाज उक्त्वा तूष्णीं बभूव। तमजातशत्रुः 'मृषा वै खलु मा संवदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणि' इत्यमुख्यब्रह्मवादितयाऽपोद्य तत्कर्तारमन्यं वेदितव्यतयोपचिक्षेप। यदि सोऽप्यमुख्यब्रह्मदृष्टिभाक् स्यात्, उपक्रमो बाध्येत। तस्मात्परमेश्वर एवायं भवितुमर्हति। कर्तृत्वं

भामती

रन्यतर इह ग्राह्यो न परमेश्वर इति प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते उच्यते—

मृषावादिनमापोद्य बालाकिं ब्रह्मवादिनम्।
राजा कथमसम्बद्धं मिथ्या वा वक्तुमर्हति॥

यथा हि केनचिन्मणिलक्षणज्ञमानिना काचे मणिरेव वेदितव्य इत्युक्ते परस्य काचोऽयं मणिर्न, तल्लक्षणायोगादित्यभिधाय आत्मनो विशेषं जिज्ञापयिषोरतत्त्वाभिधानमसम्बद्धम्। अमणौ मण्यभिधानं न पूर्ववादिनो विशेषमापादयति स्वयमपि मृषाभिधानात्। तस्मादनेनोत्तरवादिना पूर्ववादिनो विशेषमापादयता मणितत्त्वमेव वक्तव्यम्। एवमजातशत्रुणा दृप्तबालाकेरब्रह्मवादिनो विशेषमात्मनो दर्शयता जीवप्राणाभिधाने असम्बद्धमुक्तं स्यात्। तयोर्वाऽब्रह्मणोर्ब्रह्माभिधाने मिथ्याभिहितं स्यात्। तथा च न कश्चिद्विशेषो बालाकेर्गार्ग्यादजातशत्रोर्भवेत्। तस्मादनेन ब्रह्मतत्त्वमभिधातव्यं तथा सत्यस्य न मिथ्यावद्यम्। तस्माद् ब्रह्म ते ब्रवाणीति ब्रह्मणोऽपक्रमात्सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषाञ्च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यं पर्य्येति य एवं वेदेति च सति सम्भवे सर्वश्रुतेरसङ्कोचान्निरतिशयेन फलेनोपसंहाराद् ब्रह्मवेदनादन्यतश्च तदनुपपत्तेरादित्यादिपुरुषकर्तृत्वस्य च स्वातन्त्र्यलक्षणस्य मुख्यस्य ब्रह्मण एव सम्भवादन्येषां हिरण्यगर्भादीनां तत्पारतन्त्र्यात् क्वैष एतद्बालाके इत्यादेर्जीवाधिकरणभवनापादानप्रश्नस्य यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन

भामती-व्याख्या

को आधार बताया गया है, उसमें जीव-व्यतिरेक (जीव का भेद) उपपन्न हो जाता है। फलतः जीव और प्राण—इन दो में से किसी एक का ही यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

सिद्धान्त— मृषावादिनमापोद्य बालाकिं ब्रह्मवादिनम्।
राजा कथमसम्बद्धं मिथ्या वा वक्तुमर्हति॥

जैसे कोई जौहरी का ढोंग बनाकर काच (शीशे) को मणि (हीरादि) कह रहा है। दूसरा व्यक्ति कहता है—"काचोऽयं मणिर्न, तल्लक्षणायोगात्"। इस प्रकार सत्यवादी व्यक्ति का आगे चल कर अतत्त्वाभिधान करना सर्वथा असम्बद्धाभिधान है, क्योंकि अतत्त्वाभिधान करने पर पहले व्यक्ति से दूसरे का कोई अन्तर नहीं रहता, दोनों ही मृषावादी हैं, अतः इस दूसरे व्यक्ति को पहले व्यक्ति से अपना भेद सिद्ध करने के लिए यथार्थाभिधान ही करना होगा। प्रकृत में भी राजा अजातशत्रु को भी भ्रान्त एवं अब्रह्मवादी बालाकि से अपनी विशेषता जताने के लिए सत्य ब्रह्मतत्त्व का ही अभिधान करना होगा, जीव और प्राणरूप अब्रह्म में ब्रह्मत्वाभिधान करने पर असम्बद्धाभिधायी और मृषावादी ही समझा जायगा और बालाकि गार्ग्य से अजातशत्रु का कोई अन्तर नहीं रह जाता। फलतः "ब्रह्म ते ब्रवाणि"—इस प्रकार उपक्रम के आधार पर "सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यं पर्येति य एवं वेद"—इस श्रुति के 'सर्व' शब्द का संकुचित अर्थ न करके सहज-सिद्ध अर्थ करना आवश्यक है। वैसा अर्थ करने पर निरतिशय फल की प्राप्ति में पर्यवसान होता है। यह सब कुछ ब्रह्म-ज्ञान से ही सम्भव हो सकता है, अन्य के ज्ञान से

चैतेषां पुरुषाणां न परमेश्वरादन्यस्य स्वातन्त्र्येणावकल्पते। 'यस्य चैतत्कर्म' इत्यपि नायं परिस्पन्दलक्षणस्य धर्माधर्मलक्षणस्य वा कर्मणो निर्देशः, तयोरन्यतरस्याप्य-

---

भामती

पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति इत्यादेरुत्तरस्य च ब्रह्मण्येवोपपत्तेर्ब्रह्मविषयत्वं निश्चीयते। अथ कस्मान्न भवतो हिरण्यगर्भगोचरे एव प्रश्नोत्तरे तथा च नैताभ्यां ब्रह्मविषयत्वसिद्धिरित्येतन्निराचिकीर्षुः पठति ❀ एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं प्रतिष्ठन्त इति ❀। एतदुक्तं भवति—आत्मैव जीव-प्राणादीनामधिकरणं नान्यदिति। यद्यपि च जीवो नात्मनो भिद्यते तथाप्युपाध्यवच्छिन्नस्य परमात्मनो जीवत्वेनोपाधिभेदाद् भेदमारोप्याधाराधेयभावो द्रष्टव्यः। एवं च जीवभवनाधारत्वमपादानत्वं च परमात्मन उपपन्नम्। तदेवं बालाक्यजातशत्रुसंवादवाक्यसन्दर्भस्य ब्रह्मपरत्वे स्थिते यस्य वैतत्कर्मेति व्यापाराभिधाने न सङ्गच्छत इति कर्मशब्दः कार्याभिधायी भवति, एतदिति सर्वनामपरामृष्टं च तत्कार्यं, सर्वनाम चेदं सन्निहितपरामर्शि, न च किञ्चिदिह शब्दोक्तमस्ति सन्निहितम्। न चादित्यादिपुरुषाः सन्निहिता अपि परामर्शार्हा बहुत्वात् पुंल्लिङ्गत्वाच्च। एतदिति चैकस्य नपुंसकस्याभिधानादेतेषां पुरुषाणां कर्तेत्यनेनैव गतार्थत्वाच्च। तस्मादशब्दोक्तमपि प्रत्यक्षसिद्धं सम्बन्धार्हं जगदेव परामृष्टव्यम्।

भामती-व्याख्या

नहीं। आदित्य-पुरुषादि का कर्तृत्व, निरतिशय स्वातन्त्र्यादि मुख्य ब्रह्म में ही सम्भव हैं, हिरण्यगर्भादि में नहीं, क्योंकि उनमें ब्रह्माधीनत्व ही है. सर्वथा स्वाधीनत्व नहीं। 'क्वैष:'—यह प्रश्न और "यदा सुप्तः न कश्चन स्वप्नं पश्यति"—यह उत्तर भी ब्रह्म में ही उपपन्न होता है, अतः उक्त प्रश्न और उत्तर में ब्रह्मविषयकत्व ही निश्चित होता है। उक्त प्रश्न और उसके उत्तर-वाक्य को हिरण्यगर्भपरक क्यों न मान लिया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए श्रुति कहती है—"एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते" (कौ. ब्रा. ३।३)। सारांश यह है कि जीव और प्राणादि का आधार आत्मा (ब्रह्म) ही है, अन्य नहीं। यद्यपि जीव आत्मा से भिन्न नहीं, तथापि उपाधि-विशेष से अवच्छिन्न परमात्मा को जीव माना गया है, अतः उपाधि-विशेष के भेद से आत्मा में भेद मान कर आधाराधेयभाव कहा गया है। इस प्रकार बालाकि और अजातशत्रु का संवाद ब्रह्मपरक है—ऐसा स्थिर हो जाने पर "यस्य वैतत् कर्म"—यहाँ 'कर्म' पद की व्यापार-वाचकता संगत नहीं होती, अतः 'कर्म' शब्द को कार्य (जन्य) अर्थ का बोधक माना जाता है। वह कार्य 'एतत्'—इस सर्वनाम पद से परामृष्ट है, यह सर्वनाम सदैव सन्निहितार्थ का परामर्शी होता है। यहाँ सन्निहित कोई पदार्थ किसी शब्द के द्वारा अभिहित नहीं। आदित्यादि पुरुष सन्निहित होने पर भी परामर्श के योग्य नहीं, क्योंकि वे बहुत हैं और पुँल्लिङ्ग हैं, अतः उनका 'एतत्' - इस नपुंसक-एकवचन के द्वारा परामर्श क्योंकर होगा ? दूसरी बात यह भी है कि "एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता"—इस वाक्य से ही विवक्षित अर्थ की सिद्धि हो जाती है, 'एतत्' पद के द्वारा उनके परामर्श की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परिशेषतः शब्दानुक्त प्रत्यक्ष-सिद्ध अर्थ (जगत्) ही एतत् पद के द्वारा परामर्शनीय है। ['शब्दः शाब्देनैवान्वेति'—इस नियम के अनुसार तदादि सर्वनाम पद भी किसी शाब्द अर्थ के ही परामर्शी होते हैं, अन्य प्रमाण से सिद्ध अर्थ के नहीं, अन्यथा जहाँ घट का प्रत्यक्ष हो रहा है, वहाँ 'घटोऽस्ति'—ऐसा न कह कर केवल 'अस्ति' कहना ही पर्याप्त होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष-सिद्ध घट के साथ 'अस्ति' पद के द्वारा उपस्थापित सत्ता का अन्वय हो ही जायगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। वैसे ही 'एतत् कर्म'—यहाँ पर भी 'कर्म' पद से उपस्थापित कार्यत्व का अन्वय प्रत्यक्ष-सिद्ध जगत् के साथ नहीं हो सकता, किसी शब्द के द्वारा अभिहित जगत् का ही 'एतत्' पद के द्वारा परामर्श होगा,

प्रकृतत्वात्, असंशब्दितत्वाच्च । नापि पुरुषाणामयं निर्देशः, एतेषां पुरुषाणां कर्तेत्येव तेषां निर्दिष्टत्वात्, लिङ्गवचनविगानाच्च । नापि पुरुषविषयस्य करोत्यर्थस्य क्रियाफलस्य वाऽयं निर्देशः, कर्तृशब्देनैव तयोरुपात्तत्वात् । पारिशेष्यात्प्रत्यक्षसंनिहितं

भामती

एतदुक्तं भवति—अत्यल्पमिदमुच्यते एतेषामादित्यादिगतानां जगदेकदेशभूतानां कर्तेति, किन्तु कृत्स्नमेव जगदस्य कार्यमिति वाशब्देन सूच्यते । जीवप्राणशब्दौ च ब्रह्मपरौ जीवशब्दस्य ब्रह्मोपलक्षणपरत्वात् न पुनर्ब्रह्मशब्दो जीवोपलक्षणपरस्तथा सति हि बह्वसमञ्जसं स्यादित्युक्तम् । न चानधिगतार्थावबोधनस्वरसस्य शब्दस्याधिगतबोधनं युक्तम् । नाप्यनधिगतेनाधिगतोपलक्षणमुपपन्नम् । न च सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न्याय्यः । वाक्यशेषानुरोधेन च जीवप्राणपरमात्मोपासनात्रयविधाने वाक्यत्रयं भवेत्, पौर्वापर्यपर्यालोचनया तु ब्रह्मोपासनपरत्वे एकवाक्यतैव । तस्मान्न जीवप्राणपरत्वमपि तु ब्रह्मपरत्वमेवेति सिद्धम् । स्यादेतत्—निर्दिश्यन्तां पुरुषाः कार्यास्तद्विषया तु कृतिरनिर्दिष्टा तत्फलं वा कार्य-

भामती-व्याख्या

प्रत्यक्ष-सिद्ध का नहीं। किसी शब्द के द्वारा अनभिहित जगत् का कर्मता के साथ अन्वय क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तदादि सर्वनाम पदों की शक्ति बुद्धिविषयतावच्छेदकोपलक्षित पदार्थ में मानी जाती है, यह जगत् भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है, अतः बुद्धिस्थ वस्तु का 'एतत्' पद से परामर्श सम्भव हो जाता है, 'एतत्' शब्द के द्वारा परामृष्ट जगत् पदार्थ भी शब्द होकर 'कर्म' शब्द से उपस्थापित कार्यता के साथ अन्वित हो जायगा]। "यस्य वा एतत्कर्म" यहाँ पर 'वा' शब्द के द्वारा यह ध्वनित किया गया है कि उस महान् ब्रह्म तत्त्व के लिए 'एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता"—ऐसा कहना तो बहुत थोड़ा है, ब्रह्म में उत्कर्षता का आधायक नहीं, क्योंकि जिस ब्रह्म का समस्त विश्व कार्य है, उसके लिए आदित्यादि पुरुषों की कर्तृता कौन-सी बड़ी बात है ? 'जीव' और 'प्राण'—ये दोनों शब्द ब्रह्मपरक हैं। 'जीव' शब्द जैसे ब्रह्म का उपलक्षक है, वैसे 'ब्रह्म' शब्द जीव का उपलक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वेदान्त-सिद्धान्त का बहुत-सा भाग असङ्गत हो जाता है, जैसे वेदान्त-वाक्यों का प्रामाण्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनधिगत अर्थ के अवबोधन में माना जाता है, जीव तो प्रत्यक्षतः अधिगत है, अतः जीवपरता में न तो वेदान्तवाक्यों का प्रामाण्य बनता है और न अनधिगत ब्रह्म अधिगत जीव का उपलक्षक हो सकता है।

प्रकृत वेदान्त-वाक्यों की ब्रह्मपरता में एकवाक्यता बनी रहती किन्तु जीव, मुख्य प्राण और ब्रह्म—इन तीनों की उपासना का प्रतिपादन मानने पर तीन वाक्य पर्यवसित होते हैं, एकवाक्यता भङ्ग हो जाती है। पूर्वापर के वाक्यों की आलोचना से एक ब्रह्म की उपासना में तात्पर्य मानने पर एकवाक्यता सुरक्षित रहती है। अतः जीव और प्राण के प्रतिपादक वाक्यों का परम तात्पर्य ब्रह्म में ही स्थिर होता है—यह पहले "नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्" (ब्र. सू. १।१।३१) इस सूत्र में कहा जा चुका है।

शङ्का—यह जो कहा गया कि "यस्य वा एतत् कर्म"—यहाँ 'कर्म' पद से व्यापार (क्रिया) का अभिधान करने पर पुनरुक्ति हो जाती है, क्योंकि "य एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता"—यहाँ कर्त्ता पद से भी क्रिया का प्रतिपादन होता है। यह कहना संगत नहीं, क्योंकि (१) कार्य (घटादि जन्य पदार्थ), (२) कृति (भावना) और (३) कृति का फल (कार्य की उत्पत्ति) इन तीनों में से केवल कार्य का निर्देश "य एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता"—यहाँ पर किया गया है, कृति और कृति-फल दोनों का निर्देश नहीं किया गया, अतः "यस्य वैतत् कर्म"—यहाँ 'कर्म' पद से उन दोनों का भी निर्देश करने पर पुनरुक्ति क्यों होगी ?

जगत् सर्वनाम्नैतच्छब्देन निर्दिश्यते। क्रियत इति च तदेव जगत्कर्म। ननु जगदप्य-प्रकृतमसंशब्दितं च। सत्यमेतत्, तथाप्यसति विशेषोपादाने साधारणेनार्थेन संनि-हितवस्तुमात्रस्यायं निर्देश इति गम्यते, न विशिष्टस्य कस्यचित्। विशेषसंनिधाना-भावात्। पूर्वत्र च जगदेकदेशभूतानां पुरुषाणां विशेषोपादानादविशेषितं जगदेवेहो-पादीयत इति गम्यते। एतदुक्तं भवति–य एतेषां पुरुषाणां जगदेकदेशभूतानां कर्ता, किमनेन विशेषेण, यस्य कृत्स्नमेव जगदविशेषितं कर्मेति। वाशब्द एकदेशा-वच्छिन्नकर्तृत्वव्यावृत्त्यर्थः। ये बालाकिना ब्रह्मत्वाभिमताः पुरुषाः कीर्तितास्तेषाम-ब्रह्मत्वख्यापनाय विशेषोपादानम्। एवं ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन सामान्यविशेषाभ्यां जगतः कर्ता वेदितव्यतयोपदिश्यते। परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः॥ १६॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम्॥ १७॥

अथ यदुक्तं—वाक्यशेषगताज्जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तयोरेवान्यातर-स्येह ग्रहणं न्याय्यं न परमेश्वरस्येति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—परिहृतं चैतत् 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् (ब्र० सू० १।१।३१) इत्यत्र। त्रिविधं ह्यत्रोपासनमेवं सति प्रसज्येत—जीवोपासनं, मुख्यप्राणोपासनं, ब्रह्मोपासनं चेति। न चैतन्न्याय्यम्। उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि ब्रह्मविषयत्वमस्य वाक्यस्यावगम्यते। तत्रो-पक्रमस्य तावद् ब्रह्मविषयत्वं दर्शितम्। उपसंहारस्यापि निरतिशयफलश्रवणाद् ब्रह्मवि-षयत्वं दृश्यते—'सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद इति। नन्वेवं सति प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनेदमपि वाक्यं निर्णीयते। न निर्णीयते, 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यस्य ब्रह्मविषयत्वेन तत्रानिर्धारितत्वात्। तस्मादत्र जीवमुख्यप्राणशङ्का पुनरुत्पद्यमाना निवर्त्यते। प्राणशब्दोऽपि ब्रह्मविषयो दृष्टः—

भामती

स्योत्पत्तिस्ते यस्येदं कर्मेति निर्देक्ष्येते ततः कुतः पौनरुक्त्यमित्यत आह ❀ नापि पुरुषविषयस्य इति ❀। कर्तृशब्देनैव कर्तारमभिदधता तयोरुपात्तत्वादाक्षिप्तत्वान्नहि कृतिं विना कर्ता भवति नापि कृतिर्भावनाप-राभिधाना भूतिमुत्पत्तिं विनेत्यर्थः। ननु यदीदमा जगत्परामृष्टं ततस्तत्रान्तर्भूताः पुरुषा अपीति य एतेषां पुरुषाणामिति पुनरुक्तमत आह ❀ एतदुक्तं भवति—य एषां पुरुषाणाम् इति ❀॥ १६–१७॥

भामती–व्याख्या

समाधान—उक्त शङ्का का निरास करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"नापि पुरुषविष-यस्य करोत्यर्थस्य क्रियाफलस्य वाऽयं निर्देशः, कर्तृ-शब्देनैव तयोरुपात्तत्वात्"। आशय यह है कि 'कर्त्ता' शब्द मुख्यरूप से 'कृतिमान्' व्यक्ति का वाचक हो कर कृति और कृति-फल इन दोनों का आक्षेपक है, क्योंकि इन दोनों के विना कर्तृत्व उपपन्न नहीं होता। अर्थात् कृति के विना कर्त्ता और कृति-फल के विना कृति उपपन्न नहीं। कृति को ही भाट्ट मतानुसार भावना कहा जाता है, वह कृति की फलभूत भूति (उत्पत्ति) के विना क्योंकर सम्पन्न होगी? वार्तिककार कहते हैं—

तेन भूतिषु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः।
प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः॥ (तं० वा० पृ० ३८२)

यदि 'पुरुष' पद और 'एतत्' पद—इन दोनों के द्वारा कार्य पदार्थ का ही प्रतिपादन है, तब इन दोनों पदों में पुनरुक्ति क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार ने दिया है—"एतदुक्तं भवति"। अर्थात् उक्त दोनों वाक्यों में बाध्य-बाधकभाव है, पुनरुक्ति नहीं॥१६-१७॥

'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२) इत्यत्र । जीवलिङ्गमप्युपक्रमोपसंहार-योर्ब्रह्मविषयत्वादभेदाभिप्रायेण योजयितव्यम् ॥ १७ ॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यम्—जीवप्रधानं वेदं वाक्यं स्याद् , ब्रह्मप्रधानं वेति । यतोऽन्यार्थं जीवपरामर्शं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमस्मिन् वाक्ये जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मात् ? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् । प्रश्नस्तावत्सुप्तपुरुषप्रतिबोधनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबोधिते पुनर्जीवव्यतिरिक्तविषयो दृश्यते—'क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत्कुत एतदागात्' (कौ० ब्रा० ४।१९) इति । प्रतिवचनमपि 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इत्यादि 'एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ब्रा० ४।२०) इति च । सुषुप्तिकाले च परेण ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति । परस्माच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा । तस्माद्यत्रास्य जीवस्य निःसंबोधतास्वच्छतारूपः स्वाप उपाधिजनितविशेषविज्ञानरहितं स्वरूपं, यतस्तद्भ्रंशरूपमागमनं, सोऽत्र

भामती

ननु प्राण एवैकधा भवतीत्यादिकादपि वाक्याज्जीवातिरिक्तः कुतः प्रतीयत इत्यतो वाक्यान्तरं पठति ❀ एतस्मादात्मनः प्राणः इति ❀ । अपि च सर्ववेदान्तसिद्धमेतदित्याह ❀ सुषुप्तिकाले च इति ❀ । वेदान्तप्रक्रियायामेवोपपत्तिमुपसंहारव्याजेनाह ❀ तस्माद्यत्रास्य ❀ । आत्मनो यतो निःसम्बोधोऽतः स्वच्छतारूपमिव रूपमस्येति स्वच्छतारूपो न तु स्वच्छतैव लयविक्षेपसंस्कारयोस्तत्र भावात् समुदाचरद्वृत्तिविक्षेपाभावमात्रेणोपमानम् । एतदेव विभजते ❀ उपाधिभिः ❀ अन्तःकरणादिभिः । ❀ जनितं ❀ यद्विशेषविज्ञानं घटपटादिविज्ञानं तद्रहितं स्वरूपमात्मनः, यदि विज्ञानमित्येवोच्येत ततस्तदविशिष्टमनवच्छिन्नं सद्ब्रह्मैव स्यात्तच्च नित्यमिति नोपाधिजनितं नापि तद्रहितं स्वरूपं ब्रह्मस्वभावस्याप्रहाणात् । अत उक्तं ❀विशेषेति❀ । यदा तु लयलक्षणाविद्योपबृंहितो विक्षेपसंस्कारः समुदाचरति तदा विशेषविज्ञानोत्पादात्

भामती—व्याख्या

आचार्य जैमिनि ने जो कहा है कि प्राणादि का संकीर्तन ब्रह्म की प्रतिपत्ति के लिए है, वहाँ शङ्का होती है कि "प्राणे एवैकधा भवति"—यह वाक्य 'प्राण' शब्द के द्वारा हिरण्यगर्भसंज्ञक जीव का अभिधान करता है, अतः इस वाक्य के द्वारा जीव से अतिरिक्त ब्रह्म की प्रतिपत्ति क्योंकर होगी ? इस शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार प्राण-घटित वाक्यान्तर प्रस्तुत करते हैं—"एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते" (कौ० ब्रा० ४।२०) यहाँ पर 'आत्मा' शब्द ब्रह्म तत्त्व का वाचक है, वह जिस प्राण का विप्रतिष्ठापक है, उसका ज्ञान प्राण के द्वारा क्यों न होगा ? दूसरी बात यह भी है कि यह तो सर्व वेदान्त-सिद्ध है कि सुषुप्ति-काल में जीव ब्रह्म के साथ एकतापन्न हो जाता है और पर ब्रह्म से ही प्राणादि प्रपञ्च उत्पन्न होता है, अतः जिस ब्रह्म में यह जीव सो जाता है, अर्थात् घटादि विषय-विशेषरूप मल से रहित, अत एव स्वच्छ स्वरूप में आविर्भूत होता है और उस स्वापावस्था की निवृत्ति होने पर जीव फिर सोपाधिक विज्ञानावस्थारूप जागरण में आता है, वही स्वच्छ ब्रह्म वेदनीय है। यहाँ भाष्यकार 'विशेष विज्ञान'—ऐसा न कह कर यदि केवल 'विज्ञान' पद का प्रयोग करते, तब ब्रह्मरूप विज्ञान का ग्रहण होता । स्वापावस्था को यदि ब्रह्मरूप माना जाता है, तब नित्यस्वरूप ब्रह्म की निवृत्ति न होने से जागरण सम्भव न होता, अतः भाष्यकार ने कहा—"विशेषविज्ञानरहितम्"। जब कि लयावस्थारूप अविद्या से उपोद्बलित विक्षेप-संस्कार उद्भूत होते हैं, तब विशेष विज्ञानात्मक जागरण होता है।

परमात्मा वेदितव्यतया श्रावित इति गम्यते । अपि चैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमाम्नाय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति —'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागात्' (बृ० २।१।१६) इति प्रश्ने । प्रतिवचनेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते' इति । आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रयुक्तः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः (छा० ८।१।१) इत्यत्र । 'सर्व एत आत्मनो व्युचरन्ति' इति चोपाधिमतामात्मनामन्यतो व्युचरणमामनन्तः परमात्मानमेव कारणत्वेनामनन्तीति गम्यते । प्राणनिराकरणस्यापि सुषुप्तपुरुषोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्तोपदेशोऽभ्युच्चयः ॥ १८ ॥

भामती

स्वप्नजागरावस्थातः परमात्मनो रूपाद् भ्रंशरूपमागमनमिति । न केवलं कौषीतकिब्राह्मणे वाजसनेयेऽप्येवमेव प्रश्नोत्तरयोर्जीवव्यतिरिक्तमामनन्ति परमात्मानमित्याह ⊛ अपि चैवमेक इति ⊛ । नन्वत्राकाशः शयनस्थानं तत् कुतः परमात्मप्रत्यय इत्यत आह ⊛ आकाशशब्दश्च इति ⊛ । न तावन्मुख्यस्याकाशस्यात्माधारत्वसम्भवः । यद्यपि च द्वासप्ततिसहस्रहिताभिधाननाडीसञ्चारेण सुषुप्त्यवस्थायां पुरीतदवस्थानमुक्तं तदप्यन्तःकरणस्य । तस्माद् दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इतिवदाकाशशब्दः परमात्मनि मन्तव्य इति । प्रथमं भाष्यकृता जीवनिराकरणाय सूत्रमिदमवतारितं तत्र मन्दधियां नेदं प्राणनिराकरणायेति बुद्धिर्मा भूदित्याशयवानाह ⊛ प्राणनिराकरणस्यापि इति ⊛ । तौ ह बालाक्यजातशत्रू सुप्तं पुरुषमाजग्मतुस्तमजातशत्रुर्नामभिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहत्पाण्डुरवासः सोमराजन्निति । स आमन्त्र्यमाणो नोत्तस्थौ । तं पाणिनापेषं बोधयाञ्चकार । स होत्तस्थौ स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैव एतत् सुप्तोऽभूदित्यादि, सोऽयं सुप्तपुरुषोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्तोपदेश इति ॥ १८ ॥

भामती-व्याख्या

केवल कौषीतकि ब्राह्मण में ही प्रश्नोत्तर के द्वारा जीव-भिन्न ब्रह्म वर्णित नहीं अपितु वाजसनेयी शाखा की बृहदारण्यक उपनिषत् में भी उसी प्रकार ब्रह्म आम्नात है—"अपि चैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनः" । यहाँ स्वाप का आधार ब्रह्म न होकर आकाश है, अतः परमात्मा की प्रतिपत्ति क्योंकर होगी ? इस प्रश्न का उत्तर है—"आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रयुक्तः" । मुख्याकाश (भूताकाश) आत्मा का आधार कभी नहीं हो सकता । बहत्तर हजार नाड़ियों की चर्चा कर पुरीतति में जो अवस्थान कहा है, वह भी आत्मा का नहीं, अन्तःकरण का है । फलतः "दहरोऽस्मिन्नन्तरकाशः" (छां. ८।१।१) यहाँ जैसे 'आकाश' शब्द परमात्मा का वाचक है, वैसे ही प्रकृत में भी ।

भाष्यकार ने पहले जीव का निराकरण करने के लिए इस सूत्र का अवतरण बताया था, उससे मन्दाधिकारियों को यह भ्रम हो सकता था कि इस सूत्र के द्वारा प्राण का निराकरण नहीं किया गया । वह भ्रम न हो, अतः कहा गया है —"प्राणनिराकरणस्यापि ।" यह कहा जा चुका है कि बालाकि और अजाशत्रु—दोनों सोए हुए पुरुष के पास गये । उस पुरुष को अजातशत्रु ने नाम लेकर पुकारा—बृहत्पाण्डुरवासा सोमराजन् ! वह पुरुष अजातशत्रु का शब्द न तो सुन सका और न उठा । अजातशत्रु ने फिर उसे हाथ लगाकर जगाया तब वह उठा । तब अजातशत्रु ने कहा—"यत्रैव एतत्सुप्तोऽभूत्"—इत्यादि । सुप्त पुरुष के उत्थापन से यह प्रदर्शित किया कि वह पुरुष प्राणादि से भिन्न है ॥ १८ ॥

(६ वाक्यान्वयाधिकरणम् सू० १९—२२)

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणेऽधीयते—'न वा अरे पत्युः कामाय—' इत्युपक्रम्य 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४।५।६) इति, तत्रैतद्विचिकित्स्यते—किं विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यश्रोतव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित्परमात्मेति । कुतः पुनरेषा विचिकित्सा ? प्रियसंसूचितेनात्मना भोक्त्रोपक्रमाद्विज्ञानात्मोपदेश इति प्रतिभाति । तथात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशात्परमात्मोपदेश इति । किं तावत्प्राप्तम्?

भामती

ननु मैत्रेयीब्राह्मणोपक्रमे याज्ञवल्क्येन गार्हस्थ्याश्रमादुत्तमाश्रमं यियासता ज्येष्ठया भार्यायाः कात्यायन्या सहार्थसंविभागकरण उक्ते मैत्रेयी याज्ञवल्क्यं पतिममृतत्वार्थिनी पप्रच्छ—यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथ्वी वित्तेन पूर्णा स्यात्किमहं तेनामृता स्यामुत नेति । तत्र नेति होवाच याज्ञवल्क्यः । यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन । एवं वित्तेनामृतत्वाशा भवेद्यदि वित्तसाध्यानि कर्माण्यमृतत्वाय युज्येरन् । तदेव तु नास्ति, ज्ञानसाध्यत्वादमृतत्वस्य । कर्मणां च ज्ञानविरोधिनां तत्सहभावित्वानुपपत्तेरिति भावः । सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि । अमृतत्वसाधनमिति शेषः । तत्रामृतत्वसाधनज्ञानोपन्यासाय वैराग्य-

भामती-व्याख्या

विषय—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृह० उ० ४।५।६) यह वाक्य विचारणीय है।

सन्देह—उक्त वाक्य में क्या विज्ञानात्मा (जीव) द्रष्टव्यत्वेन उपदिष्ट है ? अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—कर्त्ता-भोक्तारूप जीव का उपक्रम में निर्देश होने के कारण समस्त सन्दर्भ का तात्पर्य जीव के प्रतिपादन में पर्यवसित होता है ।

शङ्का—बृहदारण्यकोपनिषद्गत मैत्रेयी ब्राह्मण के उपक्रम में याज्ञवल्क्य ने स्वयं गृहस्थाश्रम के त्याग एवं सन्यासाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा से अपनी कात्यायनी और मैत्रेयी नाम की दोनों धर्मपत्नियों को धन का बंटवारा करने के लिए बुलाया और धन के बंटवारे का प्रस्ताव रखा । मैत्रेयी नाम की द्वितीय पत्नी ने जो अमृतत्व (मोक्ष) की कामना रखती थी याज्ञवल्क्य से पूछा—"यन्नु म इयं भगोः ! सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो नेति" (बृह० उ० ४।५।३) अर्थात् हे भगोः (भगवन् !) यदि यह समस्त पृथिवी धन से परिपूर्ण कर मुझे दे दी जाय तो क्या इससे मैं अमृत (मुक्त) हो जाऊँगी ? अथवा नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा—कभी नहीं। इससे केवल इतना होगा कि जैसे अशन-वसनादि साधन-सम्पन्न व्यक्तियों का जीवन लौकिक दृष्टया सुखी होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन भी होगा किन्तु "अमृतत्वस्य तु नाशा अस्ति वित्तेन' [मोक्ष-प्राप्ति की धन से कभी आशा नहीं की जा सकती] । इसी प्रकार धन के द्वारा यदि मोक्ष-प्राप्ति की आशा होती तो धन-साध्य यज्ञादि कर्म भी मोक्ष में उपयोगी होते, वह भी नहीं, क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति केवल ब्रह्मज्ञान से होती है। कर्म तो ज्ञान के विरोधी हैं, अतः कर्मों में ज्ञान-सहभावित्व भी नहीं हो सकता। तब मैत्रेयी ने कहा—"येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ? यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि" [जिस साधन के द्वारा मैं मुक्त नहीं हो सकती,

भामती

पूर्वंकत्वात्तस्य रागविषयेषु तेषु तेषु पतिजायादिषु वैराग्यमुत्पादयितुं याज्ञवल्क्यो न वा अरे पत्युः कामायेत्यादिवाक्यसन्दर्भमुवाच । आत्मौपाधिकं हि प्रियत्वमेषां न तु साक्षात् प्रियाण्येतानि, तस्मादेतेभ्यः पतिजायादिभ्यो विरम्य यत्र साक्षात्प्रेम स एवात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । वाशब्दोऽवधारणे । आत्मैव द्रष्टव्यः साक्षात्कर्तव्यः । एतत्साधनानि च श्रवणादीनि विहितानि श्रोतव्य इत्यादिना । कस्मात् ? आत्मनो वारे दर्शनेन श्रवणादिसाधनेनेदं जगत्सर्वं विदितं भवतीति वाक्यशेषः ।

यतो नामरूपात्मकस्य जगतस्तत्त्वं पारमार्थिकं रूपमात्मैव भुजङ्गस्येव समारोपितस्य तत्त्वं रज्जुस्तस्मादात्मनि विदिते सर्वमिदं जगत्तत्त्वं विदितं भवति रज्ज्वामिव विदितायां समारोपितभुजङ्गस्य तत्त्वं विदितं भवति, यतस्तस्मादात्मैव द्रष्टव्यो न तु तदतिरिक्तं जगत् स्वरूपेण द्रष्टव्यम् । कुतः ? यतो ब्रह्म तं परादाद् ब्राह्मणजातिर्ब्राह्मणोऽहमित्यभिमान इति यावत् । परादात्, पराकुर्यात्, अमृतत्वपदात् । कं ? योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म ब्राह्मणजातिं वेद । एवं क्षत्रादिष्वपि द्रष्टव्यम् । आत्मैव जगतस्तत्त्वं न तु तदतिरिक्तं तदित्यत्रैव भगवती श्रुतिरुपपत्तिं दृष्टान्तप्रबन्धेनाह । यत् खलु यद्ग्रहं विना न शक्यते ग्रहीतुं तत्ततो न व्यतिरिच्यते । यथा रजतं शुक्तिकाया भुजङ्गो वा रज्ज्वाः दुन्दुभ्यादिशब्दसामान्याद्वा तत्तच्छब्दभेदाः, न गृह्यन्ते च चिद्रूपग्रहणं विना स्थितिकाले नामरूपाणि, तस्मान्न चिदात्मनो भिद्यन्ते तदिदमुक्तं स यथा

भामती–व्याख्या

उसे लेकर मैं क्या करूँगी, अतः आप (याज्ञवल्क्य) जिस तत्त्व-ज्ञान के प्रभाव से इस धन-धान्यादि से सम्पन्न गृहस्थाश्रम को तुच्छ और हेय समझ रहे हैं, उस तत्त्व का उपदेश करें, जो कि अमृतत्व (मोक्ष) का सच्चा साधन है]। मैत्रेयी की उस प्रार्थना पर याज्ञवल्क्य ने सोचा कि एक सच्चे मुमुक्षु को मोक्ष के साधनीभूत ब्रह्मज्ञान का उपदेश करना है किन्तु उसके लिए सत्पात्र होना चाहिए, वैराग्य ही एकमात्र वह उपाय है, जो कि अपेक्षित सत्पात्रता एवं तत्त्वज्ञान में अपेक्षित परिव्रज्यादि साधन-सम्पत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है, अतः वैराग्य का उत्पादन करने के लिए कहा—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति", (बृह० उ० ४।५।६) अर्थात् पुरुषों को पत्नी आदि और स्त्रियों को पति आदि अनात्म पदार्थ इसलिए प्रिय नहीं होते कि वे स्वरूपतः सुखरूप हैं, अपि तु आनन्दस्वरूप आत्मा की लिप्सा के लिए वे प्यारे लगते हैं । आत्मा में अनौपाधिक प्रियत्व और पत्नी आदि में औपाधिक प्रियत्व है। अतः पति-पत्नी आदि समस्त प्रपञ्च से विरत होकर साक्षात् प्रेमास्पद आत्मा का दर्शन, श्रवण, मननादि करना चाहिए—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृह० उ० ४।५।६) यहाँ 'वा' शब्द अवधारणार्थक है, अतः 'आत्मैव द्रष्टव्यः' यह अर्थ पर्यवसित होता है। आत्म-दर्शन के साधनीभूत श्रवणादि का विधान 'श्रोतव्यः' इत्यादि वाक्य से किया गया है। फलतः श्रवणादिसाधनक आत्म-वेदन सम्पन्न हो जाने पर समस्त जगत् विदित हो जाता है, क्योंकि नाम-रूपात्मक आरोपित जगत् का आत्मा मौलिक तत्त्व वैसे ही है, जैसे कि आरोपित सर्प का रज्जु तत्त्व। रज्जुरूप आधार तत्त्व के विदित हो जाने पर उसमें आरोपित सर्पादि का विदित हो जाना नैसर्गिक है, अतः प्रपञ्च का अधिष्ठानभूत आत्मतत्त्व ही द्रष्टव्य है, उससे अतिरिक्त जगत् स्वरूपेण द्रष्टव्य नहीं, क्योंकि "ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद" (बृह० उ० ४।५।७) अर्थात् जो वही ब्रह्म (ब्राह्मण) उस व्यक्ति को श्रेयोमार्ग से च्युत कर देता है, जो व्यक्ति उस ब्राह्मण को आत्मा से भिन्न स्वरूपेण सत् मानता है [जैसे मिथ्या दृष्ट सर्प ही मिथ्यादर्शी का घातक होता है, वैसे ही प्रत्येक मिथ्या दृष्ट पदार्थ मिथ्यादर्शी का भ्रंशक होता है]। इसी प्रकार क्षत्रियादि भी मिथ्यादर्शी को कल्याण-मार्ग से वञ्चित कर देते हैं। सारांश यह है कि आत्मा

भामती

दुन्दुभेर्हन्यमानस्य इति ॥ दुन्दुभिग्रहणेन तद्गतं शब्दसामान्यमुपलक्षयति । न केवलं स्थितिकाले नामरूपप्रपञ्चश्चिदात्मातिरेकेणाग्रहणाच्चिदात्मनो न व्यतिरिच्यतेऽपि तु नामरूपोत्पत्तेः प्रागपि चिद्रूपावस्थानात् तदुपादानत्वाच्च नामरूपप्रपञ्चस्य तदनतिरेकः, रज्जूपादानस्येव भुजङ्गस्य रज्जोरनतिरेक इत्येतद् दृष्टान्तेन साधयति भगवती श्रुतिः । स यथार्द्रैधोऽग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद इत्यादिना चतुर्विधो मन्त्र उक्तः, इतिहास इत्यादिनाऽष्टविधं ब्राह्मणमुक्तम् ।

एतदुक्तं भवति—यथाग्निमात्रं प्रथममवगम्यते क्षुद्राणां विस्फुलिङ्गानामुपादानम् । अथ ततो विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति न चैतेऽग्नेस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां शक्यन्ते निर्वक्तुम् । एवमृग्वेदादयोऽप्यल्पप्रयत्नात् ब्रह्मणो व्युच्चरन्तो न ततस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां निरुच्यन्ते ऋगादिभिर्नामोपलच्यते, यदा च नामधेय-

भामती-व्याख्या

ही जगत् का एकमात्र तत्त्व है, उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । इसी तथ्य का निगमन भगवती श्रुति ने एक दृष्टान्त के माध्यम से किया है—"स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय, दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः" (बृह० उ० ४।५।८) । जो पदार्थ जिस वस्तु के ग्रहण के बिना गृहीत नहीं होता, वह पदार्थ उस वस्तु से भिन्न नहीं होता, जैसे रजत शुक्ति से, सर्प रज्जु से, शब्द-विशेष दुन्दुभ्यादि शब्द सामान्य से भिन्न गृहीत नहीं होते, वैसे ही नाम-रूपादि प्रपञ्च अपने स्थिति-काल में भी चिद्रूप-ग्रहण के बिना गृहीत नहीं होता, अतः वह चिदात्मा से भिन्न नहीं । श्रुतिगत 'दुन्दुभि' शब्द के द्वारा शब्द-सामान्य उपलक्षित होता है । नामरूपादि प्रपञ्च केवल अपने स्थिति-काल में ही चिदात्म-ग्रहण के विना अगृहीत होकर चिदात्मा से अभिन्न सिद्ध नहीं होता, अपि तु अपनी उत्पत्ति से पहले भी चिद्रूपेण अवस्थित होता है, क्योंकि नामरूपादि कार्य चिदुपादानक होने के कारण उपादान कारण से भिन्न कहाँ अवस्थित होगा ? फलतः नामरूपात्मक प्रपञ्च अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी चिद्रूप आत्मा से भिन्न वैसे ही नहीं, जैसे रज्जूपादनक सर्प रज्जू से भिन्न नहीं होता । प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण से समुद्भूत होता है—"स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि इष्टं हुतमाशितं यामित च लोका परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि" (बृह० उ० ४।५।११) । 'ऋग्वेदः' इत्यादि से ऋचादि चतुर्विध मन्त्र, 'इतिहासः' इत्यादि से आठ प्रकार का ब्राह्मण-वर्ग वर्णित है ["तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" (जं० सू० २।१।३२) । 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३३) इन दोनों सूत्रों में मन्त्र और ब्राह्मण के जो लक्षण किये गये हैं, वे प्रायिक ही बताये गये हैं । इस विषय में वैदिकों के व्यवहार को प्रायः प्रमाण माना गया है । अथर्ववेद के वाक्यों का भी उसी व्यवहार के आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है । वृत्तिकार ने ब्राह्मण वाक्यों का भेद बताते हुए कहा है—

हेतुर्निर्वचन निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु ।
एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥ (शाबर० पृ० ४३६)

इन्हीं विधाओं के अनुसार इतिहासादि रूप वैदिक वाक्यों को ब्राह्मण की संज्ञा दी जा सकती है] । जैसे नन्हीं-नन्ही चिनगारियाँ (विस्फुलिंग) की उपादानकारणभूत अग्नि ही पहले प्रतीत होती है, उसी से चिनगारियाँ फूटती है । चिनगारियाँ वस्तुतः अग्नि से भिन्न न सत् कही जा सकती हैं, न असत् । वैसे ही ऋग्वेदादि पदार्थ ब्रह्म से विना किसी

भामती

स्येयं गतिस्तदा तत्पूर्वकस्य रूपधेयस्य कैव कथेति भावः। न केवलं तदुपादानत्वात्ततो न व्यतिरिच्यते नामरूपप्रपञ्चः, प्रलयसमये च तदनुप्रवेशात्ततो न व्यतिरिच्यते। यथा सामुद्रमेवाम्भः पृथिवीतेजः-सम्पर्कात् काठिन्यमुपगतं सैन्धवखिल्यः, स हि स्वाकरे समुद्रे क्षिप्तोऽम्भ एव भवत्येवं चिदम्भोधौ लीनं जगच्चिदेव भवति न तु ततोऽतिरिच्यत इति। एतद्दृष्टान्तप्रबन्धेनाह ❀स यथा सर्वासामपाम् इत्यादि❀। दृष्टान्तप्रबन्धमुक्त्वा दार्ष्टान्तिके योजयति ❀ एवं वा अरे इदं महद् इति ❀। इदन्त्वेन ब्रह्मोक्तम्। इदं ब्रह्मेत्यर्थः। भूतं सत्यम्, अनन्तं नित्यम्, अपारं सर्वगतं, विज्ञानघनो विज्ञानैकरस इति यावत्। एतेभ्यः कार्यकारणभावेन व्यवस्थितेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय साम्येनोत्थाय कार्यकरणसङ्घातस्य ह्यवच्छेदाद् दुःखित्वशोकित्वादयस्तदवच्छिन्ने चिदात्मनि तद्विपरीतेऽपि प्रतीयन्ते यथोदकप्रतिबिम्बिते चन्द्रमसि तोयगताः कम्पादयस्तदिदं साम्येनोत्थानं, यदा त्वागमाचार्य्योपदेशपूर्वकमनननिदिध्यासनप्रकर्षपर्य्यन्तजोऽस्य ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार उपावर्त्तते, तदा निर्मृष्टनिखिलसवासनाविद्यामलस्य कार्य्यकरणसङ्घातभूतस्य विनाशे तान्येव भूतानि नश्यन्त्यनु तदुपाधिश्चिदात्मनः खिल्यभावो विनश्यति। ततो न प्रेत्य कार्य्यकरणभूतनिवृत्तौ रूपगन्धादिसंज्ञास्तीति।

भामती—व्याख्या

विशेष यत्न के समुद्भूत होकर तत्त्व या अन्यत्वरूप से निरूपित नहीं होते। ऋगादि पदों के द्वारा नामरूपात्मक प्रपञ्च में से 'नाम' उपलक्षित है। जब 'नाम' पदार्थ की यह गति है, तब 'रूप' पदार्थ की बात ही क्या? क्योंकि नाम के माध्यम से ही 'रूप' की सृष्टि प्रतिपादित है—"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे" (मनु. १.२१)। सृष्टि प्रक्रिया के द्वारा ही नाम-रूपात्मक प्रपञ्च अपने उपादानकारणभूत ब्रह्म से भिन्न सिद्ध नहीं होता, प्रलय के समय भी ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाने के कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता। जैसे समुद्र से समुद्भूत नमक पृथिवी आदि के सम्पर्क से कठिन होकर एक घन (डले) के रूप में आ जाता है, और वही सैन्धव-घन अपने आकर (समुद्र) में प्रक्षिप्त होकर समुद्ररूप हो जाता है। वैसे ही नामरूपात्मक प्रपञ्च भी चैतन्य महासागर से भिन्न नहीं, यह रहस्य एक दृष्टान्त के द्वारा प्रकट किया जाता है—"स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्" (बृह. उ. ४।५।१२) दार्ष्टान्त में उसी का समन्वय किया गया है—"एवं वा अरे अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः"। 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" (बृह. उ. २।४।१२) इस श्रुति में 'इदं' शब्द से ब्रह्म का ग्रहण किया गया है, क्योंकि वही महत् (बृहत्) है। 'भूतम्' का अर्थ 'सत्यम्', 'अनन्तम्' का 'नित्यम्' और 'अपारम्' का 'सर्वगतम्' है। 'विज्ञानघनः' का अर्थ विज्ञान से विजातीय पदार्थों के संसर्ग से रहित वा विज्ञानैकरस है [जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—"घनशब्दो जात्यन्तरप्रतिषेधार्थः यथा सुवर्णघनोऽयोघनः]। आशय यह है कि यद्यपि यह जीवात्मा सत्, चित्, अनन्त, जन्म-मरण से रहित शुद्ध ब्रह्मरूप है। तथापि अविद्या-वश कार्य और करण (स्थूल और सूक्ष्म शरीर) के रूप में परिणत आकाशादि भूतों से अपना समुत्थान (साम्यापत्ति या तादात्म्याध्यास अनुभव करता है, उनके दुःखी और सुखी होने पर स्वयं को दुःखी और सुखी समझता है। जैसे जलगत चन्द्र-प्रतिबिम्ब में जल के कम्पनादि धर्म प्रतीत होते हैं, वैसे ही शरीरावच्छिन्न आत्मा में शरीर के कर्तृत्वादि धर्म आरोपित हो जाते हैं।

जब आगम और आचार्य का उपदेश पा कर मानव श्रवण, मनन, निदिध्यासनपूर्वक ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, तब समस्त वासनाओं (संस्कारों) से युक्त अविद्यारूप मल विनष्ट हो जाता है, अविद्या के कार्यभूत शरीरादि उपाधियाँ समाप्त हो जाती है, आत्मा का वह खिल्यभाव (तादात्माध्यास) सदैव के लिए क्षीण हो जाता है, कर्तृत्वादि का भानरूप

विज्ञानात्मोपदेश इति। कस्मात् ? उपक्रमसामर्थ्यात्। पतिजायापुत्रवित्तादिकं हि भोग्यभूतं सर्वं जगदात्मार्थतया प्रियं भवतीति प्रियसंसूचितं भोक्तारमात्मानमुपक्रम्यानन्तरमिदमात्मनो दर्शनाद्युपदिश्यमानं कस्यान्यस्यात्मनः स्यात् ? मध्येऽपि 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन ब्रुवन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयति। तथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहरन्विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्टं दर्शयति। तस्मादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानवचनं भोक्त्रर्थत्वाद्भोग्यजातस्यौपचारिकं द्रष्टव्यमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,–

भामती

न प्रेत्य संज्ञास्तीति संज्ञामात्रनिषेधादात्मा नास्तीति मन्यमाना सा मैत्रेयी होवाच, अत्रैव मा भगवानमूमुहन्मोहितवान् न प्रेत्य संज्ञास्तीति। स होवाच याज्ञवल्क्यः स्वाभिप्रायं द्वैते हि रूपादिविशेषसंज्ञानिबन्धनो दुःखित्वाद्यभिमानः। आनन्दज्ञानैकरसब्रह्माद्वयानुभवे तु तत् केन कं पश्येत् ब्रह्म वा केन विजानीयात् नहि तदास्य कर्मभावोऽस्ति स्वप्रकाशत्वात्। एतदुक्तं भवति—न संज्ञामात्रं मया व्यासेधि किन्तु विशेषसंज्ञेति। तदेवममृतत्वफलेनोपक्रमान्मध्ये चात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तदुपपादनाद्, उपसंहारे च महद्भूतमनन्तमित्यादिना च ब्रह्मरूपाभिधानाद् द्वैतनिन्दया च चाद्वैतगुणकीर्त्तनाद् ब्रह्मैव मैत्रेयीब्राह्मणे प्रतिपाद्यं न जीवात्मेति नास्ति पूर्वपक्ष इत्यनारभ्यमेवेदमधिकरणम्।

अत्रोच्यते—भोक्तृत्वज्ञातृताजीवरूपोत्थानसमाधये मैत्रेयीब्राह्मणे पूर्वपक्षेणोपक्रमः कृतः। पतिजायादिभोग्यसम्बन्धो नाभोक्तुर्ब्रह्मणो युज्यते नापि ज्ञानकर्तृत्वमकर्त्तुः साक्षाच्च महतो भूतस्य विज्ञानात्मभावेन समुत्थानाभिधानं विज्ञानात्मन एव द्रष्टव्यत्वमाह। अन्यथा ब्रह्मणो द्रष्टव्यत्वपरेऽस्मिन् ब्राह्मणे तस्य विज्ञानात्मत्वेन समुत्थानाभिधानमनुपयुक्तं स्यात्तस्य तु द्रष्टव्यत्वमुपयुज्यते इत्युपक्रममात्रं

भामती–व्याख्या

विशेष ज्ञान या संज्ञान कभी नहीं होता। "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इस प्रकार ज्ञानमात्र का अभाव हो जाने पर आत्मा की सत्ता भी समाप्त हो जायगी—ऐसा समझ कर मैत्रेयी बोली—"अत्रैव मा भगवान् अमूमुहत् 'न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीत्यत्र" अर्थात् आप (याज्ञवल्क्य) ने मुझ (मैत्रेयी) को यह कह कर फिर मोह में डाल दिया कि मरने के बाद किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं रहता। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीमि, अलं वा अरे इदं विज्ञानाय यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं जिघ्रति। यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं जिघ्रेत्" (बृ. उ. ४।५।१४)। अर्थात् जिस (अज्ञान की) अवस्था में द्वैत प्रपञ्च की काल्पनिक सत्ता रहती है, तब रूपादि अनुकूल-प्रतिकूल विषय की प्रतीति से आत्मा में सुखित्व-दुःखित्वादि का भान होता है। आनन्दज्ञानैकरस ब्रह्म की साक्षात्कारावस्था में मैं (याज्ञवल्क्य) ने संज्ञानमात्र का निषेध नहीं किया किन्तु विशेष ज्ञान का ही निराकरण किया है। इस प्रकार जहाँ अमृतत्वरूप फल के संकीर्तन से उपक्रम किया गया, मध्य में आत्मविज्ञान के द्वारा सर्व-ज्ञान की प्राप्ति कही गई और उपसंहार में महद्भूतम्—इत्यादि पदों के द्वारा ब्रह्म का अभिधान किया गया। इतना ही नहीं, द्वैत-निन्दा के द्वारा अद्वैत की स्तुति की गई। ऐसे मैत्रेयी ब्राह्मण का प्रतिपाद्य एकमात्र ब्रह्म ही निश्चित होता है, अतः न तो यहाँ जीवात्मा का सन्देह होता है और जीवात्मा के प्रतिपादन का पूर्व पक्ष। फलतः यह अधिकरण निरर्थक-सा है।

समाधान - मैत्रेयी ब्राह्मण जीवपरक है, ऐसा पूर्वपक्ष में प्रस्तावमात्र किया गया है, वह इस लिए कि भोक्तृत्वादि के द्वारा जो जीव-ब्रह्म के भेद की शङ्का की गई है, उसका समाधान हो सके। ब्रह्म अभोक्ता और अकर्ता है, अतः भोग्य-सम्बन्धरूप भोक्तृत्व और ज्ञान-

परमात्मोपदेश एवायम् । कस्मात् ? वाक्यान्वयात् । वाक्यं हीदं पौर्वापर्येणावेक्ष्यमाणं परमात्मानं प्रति अन्वितावयवं लक्ष्यते । कथमिति ? तदुपपाद्यते—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन इति याज्ञवल्क्यादुपश्रुत्य 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' इत्यमृतत्वमाशासानाया मैत्रेय्या याज्ञवल्क्य आत्म-विज्ञानमिदमुपदिशति । न चान्यत्र परमात्मविज्ञानादमृतत्वमस्तीति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति । तथा चात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुच्यमानं नान्यत्र परमकारणविज्ञानान्मुख्य-मवकल्पते । नचैतदौपचारिकमाश्रयितुं शक्यं, यत्कारणमात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायानन्तरेण ग्रन्थेन तदेवोपपादयति—'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादिना । यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगदात्मनोऽन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति तं मिथ्यादर्शिनं तदेव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत्पराकरोतीति भेददृष्टिमपोद्य 'इदं सर्वं यदमात्मा' इति सर्वस्य वस्तुजातस्यात्माव्यतिरेकमवतारयति । दुन्दुभ्यादि-दृष्टान्तैश्च (बृ० ४।५।८) तमेवाव्यतिरेकं द्रढयति 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसि-तमेतदृग्वेदः' (बृ० ४।५।११) इत्यादिना च प्रकृतस्यात्मनो नामरूपकर्मप्रपञ्च-कारणतां व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति । तथैवैकायनप्रक्रियायामपि (बृ० ४।५।-१२) सविषयस्य सेन्द्रियस्य सान्तःकरणस्य प्रपञ्चस्यैकायनमनन्तरमबाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघनं व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति । तस्मात्परमात्मन एवायं दर्शनाद्युप-देश इति गम्यते ॥ १९ ॥

यत्पुनरुक्तं—प्रियसंसूचितोपक्रमाद्विज्ञानात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति, अत्र ब्रूमः,—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

अस्त्यत्र प्रतिज्ञा 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति', 'इदं सर्वं यदय-

---

भामती

पूर्वपक्षः कृतः । *भोक्त्रर्थत्वाच्च भोग्यजातस्येति* तदुपोद्बलनमात्रम् । सिद्धान्तस्तु निगदव्याख्यातेन भाष्येणोक्तः ॥ १९ ॥

तदेवं पौर्वापर्यालोचनया मैत्रेयीब्राह्मणस्य ब्रह्मदर्शनपरत्वे स्थिते भोक्त्रा जीवात्मनोपक्रममा-चार्यदेशीयमतेन तावत्समाधत्ते सूत्रकारः—* प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः * । यथा हि वह्नेर्विकारा व्युच्चरन्तो विस्फुलिङ्गा न वह्नेरत्यन्तं भिद्यन्ते तद्रूपनिरूपणत्वान्नापि ततोऽत्यन्तमभिन्नावह्नेरिव परस्पर-

---

भामती-व्याख्या

जनकत्वरूप कर्तृत्व के प्रतिपादन का ब्रह्म में कोई उपयोग नहीं । व्यापक एवं भूतरूप ब्रह्म के जीवरूप से समुत्थान (जन्म) का प्रतिपादन भी जीव की द्रष्टव्यता सूचित करता है । यदि इस ब्राह्मण में ब्रह्म की द्रष्टव्यता का अभिधान माना जाता है, तब जीवरूप से ब्रह्म की उत्पत्ति का प्रतिपादन अनुपयुक्त हो जाता है और जीव की द्रष्टव्यता का अभिधान मानने पर उक्त समुत्थान का कथन उपयुक्त हो जाता है—इस प्रकार पूर्वपक्षी का उपक्रम मात्र है और "भोक्त्रर्थत्वाच्च भोग्यजातस्य"—ऐसा कहना उस उपक्रम का उपोद्बलक (पोषक) है । फलतः पूर्वपक्ष उपपन्न हो जाता है, जिसके निराकरण में अधिकरण की सार्थकता सिद्ध हो जाती है । सिद्धान्त-भाष्य नितान्त सुबोध ॥ १९ ॥

पौर्वापर्य की आलोचना से मैत्रेयी ब्राह्मण की ब्रह्म-दर्शनपरता निश्चित हो जाने पर जो यह प्रश्न उठता है कि भोक्तारूप जीव का उपक्रम इस ब्राह्मण में क्यों किया गया ?

मात्मा' इति च। तस्याः प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यत्प्रियसंसूचितस्यात्मनो द्रष्टव्यत्वादिसंकीर्तनम्। यदि हि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽन्यः स्यात्ततः परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञात इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं यत्प्रतिज्ञातं तद्धीयेत। तस्मात्प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २० ॥

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातोपाधिसंपर्कात्कलुषीभूतस्य ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् संप्रसन्नस्य देहादिसंघातादुत्क्रमिष्यतः परमात्मैक्योपपत्तेरिदम-

भामती

व्यावृत्त्यभावप्रसङ्गात्, तथा जीवात्मानोऽपि ब्रह्मविकारा न ब्रह्मणोऽत्यन्तं भिद्यन्ते चिद्रूपत्वाभावप्रसङ्गात्, नाप्यत्यन्तं न भिद्यन्ते परस्परं व्यावृत्त्यभावप्रसङ्गात्, सर्वज्ञं प्रत्युपदेशवैयर्थ्याच्च। तस्मात् कथञ्चिद्भेदो जीवात्मनामभेदश्च। तत्र तद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धये विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदमुपादाय परमात्मनि दर्शयितव्ये विज्ञानात्मनोपक्रम इत्याश्मरथ्य आचार्यो मेने ॥ २० ॥

आचार्यदेशीयान्तरमतेन समाधत्ते—उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः। जीवो हि परमात्मनोऽत्यन्तं भिन्न एव सन् देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपधानसम्पर्कात्सर्वदा कलुषस्तस्य च ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् सम्प्रसन्नस्य देहेन्द्रियादिसङ्घातादुत्क्रमिष्यतः परमात्मनैक्योपपत्तेरिदमभेदेनोपक्रमणम्। एतदुक्तं भवति—

भामती-व्याख्या

उसका उत्तर आचार्य आश्मरथ्य की दृष्टि से दिया जाता है—"प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः"। जैसे अग्नि से निकलनेवाली अग्नि की विकारभूत चिनगारियाँ अग्नि से अत्यन्त भिन्न नहीं होतीं, क्योंकि वे भी अग्निरूप ही समझी जाती हैं। इसी प्रकार उन चिनगारियों को अग्नि से अत्यन्त अभिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'अग्नेः विस्फुलिङ्गाः'—यहाँ पर 'अग्नि' पद और 'विस्फुलिङ्ग' पद का परस्पर जो व्यावर्त्य-व्यावर्तकभाव माना जाता है, वह अत्यन्त अभेद में नहीं बन सकेगा [जैसे 'शङ्खस्य शुक्लता'—यहाँ पर 'शङ्ख' पद घट-पटादि द्रव्य का एवं 'शुक्लता' पद निलादि गुणों का व्यावर्तक माना जाता है। वैसे ही 'अग्नेः विस्फुलिङ्गाः' इत्यादि-षष्ठयन्त-प्रयोग या उद्देश्य-विधेयभावस्थल पर प्रायः सर्वत्र परस्पर व्यावर्त्य-व्यावर्तकभाव माना जाता है]। वैसे ही ब्रह्म के विकारभूत जीवात्मा भी ब्रह्म से न तो अत्यन्त भिन्न होते हैं और न अत्यन्त अभिन्न, क्योंकि एक ब्रह्म के विज्ञान से सभी जीवों का ज्ञान तभी हो सकता है, जब कि जीव और ब्रह्म का अभेद हो और 'आत्मायं द्रष्टव्यः' 'अहं ब्रह्म'—इत्यादि स्थलों पर जीवात्मा के उद्देश्य से द्रष्टव्यत्व या ब्रह्मत्व का विधान तभी हो सकता है, जब कि जीव और ब्रह्म का कुछ भेद भी हो। भेदाभेद-पक्ष में ही जीवरूपेण उपक्रम और एक के विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा ये दोनों प्रक्रियाएँ उपपन्न होती हैं—ऐसा आचार्य आश्मरथ्य मानते हैं ॥ २० ॥

आश्मरथ्य के द्वारा उद्भावित पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य औडुलोमि के मत से किया जाता है—"उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः"। आचार्यवर औडुलोमि का कहना है कि जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न है और देह, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिरूप उपाधियों के सम्पर्क से सदैव कलुषित रहता आया है। ज्ञान-ध्यानादि साधनों के अनुष्ठान से विमल होकर देहेन्द्रियादि-संघात से उत्क्रमण करने पर जीव का ब्रह्म से ऐक्य स्थापित हो जाता है, इस भावी ऐक्य (अभेद) को ध्यान में रख कर जीव का उपक्रम किया गया है, अतः एक के विज्ञान से सर्व-विज्ञान का प्रतिपादन विरुद्ध नहीं। संसारावस्थाक भेद भी मोक्षावस्थाक

भेदेनोपक्रमणमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। श्रुतिश्चैवं भवति--'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८।१२।३) इति। क्वचिच्च जीवाश्रयमपि नामरूपं नदीनिदर्शनेन ज्ञापयति--'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्ड० ३।२।८) इति। यथा लोके नद्यः स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय समुद्रमुपयन्त्येवं जीवोऽपि स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय परं पुरुषमुपैतीति हि तत्रार्थः प्रतीयते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यतायै ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदेनोपक्रमण-

---

भामती

भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽप्यभेद उक्तः, यथाहुः पाञ्चरात्रिकाः--

आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च।

मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः॥ इति।

अत्रैव श्रुतिमुपन्यस्यति ❀ श्रुतिश्चैवम् इति ❀। पूर्वं देहेन्द्रियाद्युपाधिकृतं कलुषत्वमात्मन उक्तं, सम्प्रति स्वाभाविकमेव जीवस्य नामरूपप्रपञ्चाश्रयत्वलक्षणं कालुष्यं पार्थिवानामणूनामिव श्यामत्वं केवलं पाकेनेव ज्ञानध्यानादिना तदपनोय जीवः परात्परतरं पुरुषमुपैतीत्याह ❀ क्वचिच्च जीवाश्रयमपि इति ❀। नदीनिदर्शनं यथा सोम्येमा नद्य इति ॥ २१ ॥

तदेवमाचार्यदेशीयमतद्वयमुक्त्वात्रापरितुष्यन्नाचार्यमतमाह सूत्रकारः--अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः। एतद् व्याचष्टे ❀ अस्यैव परमात्मनः इति ❀। न जीव आत्मनोऽन्यो नापि तद्विकारः किन्त्वात्मैवाविद्योपधानकल्पितावच्छेदः, आकाश इव घटमणिकादिकल्पितावच्छेदो घटाकाशो मणिकाकाशो न तु परमा-

---

भामती-व्याख्या

अभेद में पर्यवसित हो जाता है। पाञ्चरात्रिक आचार्यगण कहते हैं--

आमुक्तेर्भेद एवासीज्जीवस्य परस्य च।

मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः॥

इसी मत के समर्थन में श्रुति प्रस्तुत की जाती है-"श्रुतिश्चैवं भवति" एष सम्प्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य" (छां० ८।१२।३)।

पहले देहेन्द्रियादि उपाधियों के द्वारा आहित जीवगत कालुष्य कहा गया, अब जीव में नाम-रूपात्मक प्रपञ्च का आश्रयत्वरूप कालुष्य स्वाभाविक कहा जाता है--"क्वचिच्च जीवाश्रयमपि नामरूपं नदीनिदर्शनेन ज्ञापयति"। नदी का दृष्टान्त इस प्रकार है--"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय" (मुण्ड० ३।२।८)। अर्थात् जैसे नदियाँ अपने स्वाभाविक नाम (गङ्गादि) और रूप (श्वेत प्रवाहादि) का परित्याग करके समुद्र रूप हो जाती हैं, वैसे ही जीव भी अपने स्वाभाविक प्रपञ्चाश्रयत्वरूप कालुष्य को छोड़कर ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ २१ ॥

कथित दोनों आचार्यों के मतों में असन्तोष व्यक्त करते हुए आचार्य काशकृत्स्न का सिद्धान्त सूत्रकार ने प्रस्तुत किया है--"अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः"। इस सूत्र की भाष्यकार व्याख्या कर रहे हैं--"अस्यैव परमात्मनः"। जीव न तो ब्रह्म से भिन्न है और न उसका विकार, किन्तु ब्रह्म ही अविद्यारूप उपाधि के द्वारा कल्पित भेद से वैसे ही भिन्न प्रतीत होता है, जैसे घटादि उपाधियों से परिच्छिन्न होकर 'घटाकाश', 'मणिकाश' इत्यादि। घटाकाशादि भी न तो परमाकाश से भिन्न होते हैं और न उसके विकार। इस प्रकार उक्त श्रुति-सन्दर्भ में

मिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते। तथाच ब्राह्मणम्—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इत्येवंजातीयकं परस्यैवात्मनो जीवभावेनावस्थानं दर्शयति । मन्त्रवर्णश्च —'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७) इत्येवंजातीयकः । न च तेजःप्रभृतीनां सृष्टौ जीवस्य पृथक्सृष्टिः श्रुता, येन परस्मादात्मनोऽन्यस्तद्विकारो जीवः स्यात्। काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्। आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं, तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात्कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते। औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते । तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते, प्रतिपिपादयिषिता-

भामती

काशादन्यस्तद्विकारो वा । ततश्च जीवात्मनोपक्रमः परमात्मनैवोपक्रमस्तस्य ततोऽभेदात् । स्थूलदर्शिलोकप्रतीतिसौकर्यायौपाधिकेनात्मरूपेणोपक्रमः कृतः । अत्रैव श्रुतिं प्रमाणयति ॐ तथा च इति ॐ । अथ विकारः परमात्मनो जीवः कस्मान्न भवत्याकाशादिवदित्याह ॐ न च तेजःप्रभृतीनाम् इति ॐ । नहि यथा तेजःप्रभृतीनामात्मविकारत्वं श्रूयते एवं जीवस्येति । आचार्यत्रयमतं विभजते ॐ काशकृत्स्नस्याचार्यस्य इति ॐ । आत्यन्तिके सत्यभेदे कार्यकारणभावाभावात् अनात्यन्तिकोऽभेद आस्थेयस्तथा च कथञ्चिद् भेदोऽपीति तमास्थाय कार्यकारणभाव इति । कियानपीत्युक्तं मतत्रयमुक्त्वा काशकृत्स्नीयमतं साधुत्वेन निर्द्धारयति ॐ तत्र तेषु मध्ये काशकृत्स्नीयं मतम् इति ॐ । आत्यन्तिके हि जीवपरमात्मनोरभेदे तात्त्विकेऽनाद्यविद्योपाधिकल्पितो भेदस्तत्त्वमसीति जीवात्मनो ब्रह्मभावतत्त्वोपदेशश्रवणमनननिदिध्यासनप्रकर्षपर्यन्तजन्मना साक्षात्कारेण विद्यया शक्यः समूलकाषं कषितुं रज्ज्वामहिविभ्रम इव रज्जुतत्त्वसाक्षात्कारेण, राजपुत्रस्येव च म्लेच्छकुले वर्द्धमानस्यात्मनि समारोपितो म्लेच्छभावो राजपुत्रोऽसीति आप्तोपदेशेन । न तु मृद्विकार-

भामती-व्याख्या

जीव का उपक्रम वस्तुतः ब्रह्म का ही उपक्रम है, क्योंकि जीव का ब्रह्म से अभेद है। स्थूल में दृष्टिवाले लौकिक व्यक्तियों की सुविधा को ध्यान रख कर औपाधिक रूप से आत्मा का उपक्रम किया गया है। इस अर्थ में श्रुति प्रमाण प्रदर्शित करते हैं—"तथा च ब्राह्मणम्"। जीव ब्रह्म का विकार क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—न च तेजः प्रभृतीनां सृष्टौ जीवस्य पृथक् सृष्टिः श्रुतः"। जैसे "तत् तेजोऽसृजत" (छां० ६।२।३) इत्यादि श्रुतियों में तेज आदि की सृष्टि प्रतिपादित है, वैसे जीव की सृष्टि कहीं भी अभिहित नहीं, अतः जीव विकार नहीं हो सकता।

सूचित आचार्य-त्रयी के मतों का सिंहावलोकन किया जाता है—"काशकृत्स्नस्याचार्यस्य"। आशय यह है कि आत्यन्तिक अभेद मानने पर कार्य-कारणभाव नहीं बन सकता, अतः जीव और ब्रह्म का अनात्यन्तिक (कथंचित्) अभेद मानना होगा, तब कथंचित् भेद भी सम्भव हो जाता है, उस (भेद) को लेकर कार्य-कारणभाव उपपन्न हो जाता है, भाष्यकार ने यही कहा है—"कार्यकारणभावः कियानपि अभिप्रेतः"। तीनों का परिचय देकर उनमें काशकृत्स्नीय मत को उपनिषदनुसारी बताया जाता है—'तत्र' अर्थात् 'तेषु मध्ये' "काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते"। सारांश यह है कि जीव और ब्रह्म का आत्यन्तिक अभेद तात्त्विक होने पर भी अनादि अविद्यारूप उपाधि के द्वारा कल्पित जो भेद प्रतीत होता है उसका "तत्त्वमसि"—इत्यादि महावाक्यों के द्वारा जीव में ब्रह्मभाव के तात्त्विक श्रवण, मनन और निदिध्यासन के अनुष्ठान से समुत्पन्न अभेद-साक्षात्कार वैसे ही समूल नाश कर दिया करता है, जैसे रज्जु में समुत्पन्न सर्प-भ्रम को रज्जुतत्त्व का साक्षात्कार। अथवा जैसे म्लेच्छ-कुल में परिपोषित होने के कारण राज-पुत्र में समारोपित

र्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवं च सति तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पते। विकारात्मकत्वे हि जीवस्याभ्युपगम्यमाने विकारस्य प्रकृतिसम्बन्धे प्रलयप्रसङ्गान्न तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पेत। अतश्च स्वाश्रयस्य नामरूपस्यासंभवादुपाध्याश्रयं नामरूपं जीव उपचर्यते। अत एवोत्पत्तिरपि जीवस्य क्वचिदग्निविस्फुलिङ्गोदाहरणेन श्राव्यमाणोपाध्याश्रयैव वेदितव्या। यदप्युक्तं—प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य

भामती

शरावादिः शतशोपि मृन्मृदिति चिन्त्यमानस्तज्जन्मना मृद्भावसाक्षात्कारेण शक्यो निवर्तयितुं, तत् कस्य हेतोः? तस्यापि मृदो भिन्नाभिन्नस्य तात्त्विकत्वात्, वस्तुनस्तु ज्ञानेनोच्छेत्तुमशक्यत्वात्, सोऽयं प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारः। अपि च जीवस्यात्मविकारत्वे तस्य ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् स्वप्रकृतावप्यये सति नामृतत्वस्याशास्तीत्यपुरुषार्थत्वममृतत्वप्राप्तिश्रुतिविरोधश्च। काशकृत्स्नमते त्वेतदुभयं नास्तीत्याह ॐ एवञ्च सति इति ॐ। ननु यदि जीवो न विकारः किन्तु ब्रह्मैव, कथं तर्हि तस्मिन्नामरूपाश्रयत्वश्रुतिः कथञ्च यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा इति ब्रह्मविकारश्रुतिरित्याशङ्कामुपसंहारव्याजेन निराकरोति ॐ अतश्च स्वाश्रयस्य इति ॐ। यतः प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारश्चामृतत्वप्राप्तिश्च विकारपक्षे न सम्भवतः, अतश्चेति योजना। द्वितीयपूर्वपक्षबीजमनयैव त्रिसूत्र्यापाकरोति ॐ यदप्युक्तम् इति ॐ। शेषमतिरोहितार्थं व्याख्या-

भामती–व्याख्या

म्लेच्छभाव को 'राजपुत्रोऽसि'—इस प्रकार के आप्तोपदेश से जनित तत्त्व-साक्षात्कार विनष्ट कर दिया करता है। यदि जीवभाव को ब्रह्म का विकार माना जाता, तब ब्रह्म के साक्षात्कार से उसकी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि मृत्तिका के विकारभूत घट, शराव (कसोरा या परई) आदि का विनाश मृत्तिका का सैकड़ों बार चिन्तन या साक्षात्कार करने पर भी नहीं होता। वह क्यों? इस लिए कि घट-शराब आदि मृत्तिका से भिन्नाभिन्न होने पर भी तात्त्विक होते हैं, काल्पनिक नहीं। कल्पना-प्रसूत पदार्थ ही ज्ञान के द्वारा उच्छिन्न होते हैं, वास्तविक वस्तु-तत्त्व नहीं, अतः काशकृत्स्नीय मत वेदान्त में 'प्रतिपिपादयिषित प्रक्रिया के अनुरूप है। दूसरी बात यह भी है कि जीव को यदि ब्रह्म का विकार माना जाता है, तब वह अपनी प्रकृतिभूत ब्रह्म को अपना स्वरूप मान कर वैसा ही ध्यान का अनुष्ठान करेगा फलतः उसी प्रकृति में लीन हो जायगा। इसे दर्शनकारों ने प्रकृति-लय की संज्ञा देते हुए आत्मा का बन्धन ही माना है, मोक्ष नहीं—"तत्र प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते, तेषां प्राकृतिको बन्धः, यः पुराणे प्रकृतिलयान् प्रत्युच्यते—'पूर्णं शतसहस्रं हि तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः' (सां. त. कौ. पृ. ८६)। प्रकृति-लय से अमृतत्व (मोक्ष) की कोई आशा नहीं, प्रत्युत अमृतत्व-प्राप्ति-बोधक श्रुतियों का विरोध ही उपस्थित होता है। काशकृत्स्नीय मत में अमृतत्व का अभाव और अभेद-श्रुति-विरोध—ये दोनों आपत्तियाँ नहीं हैं—"एवं च सति तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पते"। यदि जीव ब्रह्म का विकार नहीं, अपितु ब्रह्मरूप ही है, तब श्रुति ने जीव में नाम और रूप की आश्रयता क्यों कही है? एवं "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः" (बृह० उ० २।१।२०) इत्यादि श्रुतियों ने जीव को ब्रह्म का विकार क्यों कहा है? इन शङ्काओं का निराकरण करते हुए उपसंहार किया जाता है—अतश्च स्वाश्रयस्य नामरूपस्यासम्भवाद् उपाध्याश्रयं नामरूपं जीवे उपचर्यते"। यहाँ 'अतः' शब्द 'यतः' शब्द की नित्य अपेक्षा करता है, इस लिए 'यतः प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारश्चामृतत्वप्राप्तिश्च विकारपक्षे न सम्भवतः, अतः—ऐसी योजना कर लेनी चाहिए।

[उक्त स्थल पर जीव के द्रष्टव्यताभिधानरूप पूर्व पक्ष में तीन हेतु प्रस्तुत किए गए—(१) सन्दर्भ-श्रुति के उपक्रम में जीव का प्रतिपादन। (२) उत्थान-श्रुति में जीवाभेदा-

भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन दर्शयन् विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयतीति। तत्रापीयमेव त्रिसूत्री योजयितव्या—'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः'। इदमत्र प्रतिज्ञातम्—'आत्मनि विदिते सर्वं विदितं भवति' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृह० २।४।६) इति च। उपपादितं च, सर्वस्य नामरूपकर्मप्रपञ्चस्यैकप्रसवत्वादेकप्रलयत्वाच्च दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च कार्यकारणयोरव्यतिरेकप्रतिपादनात्। तस्या एव प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यन्महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन कथितमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते। अभेदे हि सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातमवकल्पत इति।

'उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः'। उत्क्रमिष्यतो विज्ञानात्मनो ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात् संप्रसन्नस्य परेणात्मनैक्यसंभवादिदमभेदाभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते।

'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः'। अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदाभिधानमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते।

ननूच्छेदाभिधानमेतत् 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृह० २।४।१२) इति, कथमेतदभेदाभिधानम्? नैष दोषः, विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं, नात्मोच्छेदाभिप्रायम्। 'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्याऽर्थान्तरस्य दर्शितत्वात्—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इति। एतदुक्तं भवति—कूटस्थनित्य एवायं विज्ञानघन आत्मा नास्योच्छेदप्रसङ्गोऽस्ति। मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवति। संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावान्न प्रेत्य संज्ञास्तीत्युक्तमिति। यदप्युक्तम्—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहाराद्विज्ञानात्मन

भामती

तार्थञ्च। तृतीयपूर्वपक्षबीजनिरासे काशकृत्स्नीयेनैवेत्यवधारणं तन्मताश्रयणेनैव तस्य, शक्यनिरासत्वात्। ऐकान्तिके ह्यद्वैते आत्मनोऽन्यकर्मकरणे केन कं पश्येदिति आत्मनश्च कर्मत्वं विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति शक्यं निषेद्धुम्। भेदाभेदपक्षे वैकान्तिके वा भेदे सर्वमेतदद्वैताश्रयमशक्यमित्यवधारणस्यार्थः। न केवलं काशकृत्स्नीयदर्शनाश्रयणेन भूतपूर्वगत्या विज्ञातृत्वमपि तु श्रुतिपौर्वापर्यपर्यालोचनयाप्येवमेवेत्याह

भामती—व्याख्या

भिधान और (२) 'विज्ञातृ' शब्द का प्रयोग। इनमें से प्रथम हेतु का निरास जिस त्रिसूत्री के द्वारा किया गया, उसी] त्रिसूत्री के द्वारा द्वितीय हेतु का भी अपाकरण किया जाता है—"यदप्युक्तं प्रकृतस्यैव'''विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयतीति, तत्रापीयमेव त्रिसूत्री योजयितव्या"। शेष भाष्य स्पष्टार्थक है, जिसकी व्याख्या भी प्रायः पहले की जा चुकी है।

पूर्व पक्ष के तृतीय हेतु का अनुवाद करते हुए निरास किया जाता है—"यदप्युक्तं विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति, तदपि काशकृत्स्नीयेनैव दर्शनेन परिहरणीयम्"। यहाँ पर एवकार अवधारणार्थक है अर्थात् महर्षि काशकृत्स्न के मत का आश्रयण करके ही तृतीय हेतु का निरास किया जा सकता है, क्योंकि जीव और ब्रह्म के ऐकान्तिक अभेद-पक्ष में ही 'केन कं पश्येत्' (बृ० उ० २।४।१५) इस प्रकार आत्मा से अन्य कर्म और करण कारकों का एवं 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृह० उ० २।४।१४) इस प्रकार आत्मगत कर्मत्व का निषेध किया जा सकता है, भेदाभेद-पक्ष या ऐकान्तिक भेद-पक्ष में यह सब कुछ नहीं किया

एवेदं द्रष्टव्यत्वमिति तदपि काशकृत्स्नीयेनैव दर्शनेन परिहरणीयम्। अपि च 'यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१३) इत्यारभ्याविद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणं विशेषविज्ञानं प्रपञ्च्य 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिना विद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणस्य विशेषविज्ञानस्याभावमभिदधाति। पुनश्च विषयाभावेऽपि आत्मानं विजानीयाद् इत्याशङ्क्य 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्याह। ततश्च विशेषविज्ञानाभावोपपादनपरत्वाद्वाक्यस्य विज्ञानधातुरेव केवलः सम्भूतपूर्वगत्या कर्तृवचनेन तृचा निर्दिष्ट इति गम्यते। दर्शितं तु पुरस्तात् काशकृत्स्नीयस्य पक्षस्य श्रुतिमत्त्वम्। अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापि-

भामिती

* अपि च यत्र हि इति *। कस्मात् पुनः काशकृत्स्नस्य मतमास्थीयते नेतरेषामाचार्याणामित्यत आह * दर्शितं तु पुरस्ताद् इति। काशकृत्स्नीयस्य मतस्य श्रुतिप्रबन्धोपन्यासेन पुनः श्रुतिमत्त्वं स्मृतिमत्त्वं चोपसंहारोपक्रममाह * अतश्च इति *। क्वचित्पाठ आतश्चेति, तस्याप्ययं चेत्यर्थः। जननजरामरणभीतयो विक्रियास्तासां सर्वासां महानज इत्यादिना प्रतिषेधः, परिणामपक्षेऽन्यस्य चान्यभावपक्षे ऐकान्तिकाद्वैतप्रतिपादनपरा एकमेवाद्वितीयमित्यादयो द्वैतदर्शननिन्दापराश्चान्योऽसावन्योऽहमस्मीत्यादयो जन्मजरादिविक्रियाप्रतिषेधपराश्चैष महानज इत्यादयः श्रुतय उपरुध्येरन्। अपि च यदि जीवपरमात्मनोर्भेदाभेदावास्थीयेयातां ततस्तयोर्मिथो विरोधात्समुच्चयाभावादेकस्य बलीयस्त्वे नात्मनि निरवग्रहं विज्ञानं जायेत, बलीयसैतेन दुर्बलपक्षावलम्बिनो ज्ञानस्य बाधनात्। अथ त्वगृह्यमाणविशेषतया न बलाबलावधारणं, ततः संशये सति न सुनिश्चितार्थमात्मनि ज्ञानं भवेत् सुनिश्चितार्थं च ज्ञानं मोक्षोपायः श्रूयते "वेदान्तविज्ञान-

भामती—व्याख्या

जा सकता—यह उक्त अवधारण का तात्पर्य है। केवल काशकृत्स्नीय दर्शन के अनुरोध पर ही ब्रह्म में विज्ञातृत्व का व्यवहार पूर्वावस्था को लेकर नहीं किया जाता, अपितु पूर्वापर के वाक्यों की आलोचना से भी वही निष्कर्ष निकलता है—"अपि च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति' (बृह० उ० २।४।१३) इत्यादि"। काशकृत्स्नीय मत पर ही इतनी आस्था क्यों? अन्य आचार्यों के मतों पर क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर है—"दर्शितं तु पुरस्तात् काशकृत्स्नीयस्य पक्षस्य श्रुतिमत्त्वम्"। अनेक श्रौत और स्मार्त वाक्यों का साक्ष्य प्रस्तुत कर काशकृत्स्नीय मत का वर्चस्व स्थापित किया जाता है—"अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोः"। 'अतः' के स्थान पर कहीं-कहीं 'आतः' पाठ उपलब्ध होता है, जिसका अर्थ है—'अतश्च'। जनन, जरा मरण और भय—ये विकार हैं, इनका प्रतिषेध "स वा एष महानज आत्मा अजरोऽभयो ब्रह्म" (बृह. उ. ४।४।२५) इस श्रुति से किया गया है। परिणाम या अन्य कारण से अन्य कार्य की उत्पत्तिरूप आरम्भवाद में "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि ऐकान्तिक अभेदपरक "अन्योऽसावन्योऽहमस्मि" इत्यादि द्वैत-दर्शन-निन्दापरक एवं "एष महानजः" इत्यादि जननादि विकार निषेधक श्रुति-वाक्य विरुद्ध पड़ जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि यदि जीव के परमात्मा से भेद और अभेद—दोनों माने जाते हैं, तब कोई भी ज्ञान निर्बाध और असन्दिग्ध न हो सकेगा, क्योंकि भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, एकत्र समुच्चित नहीं रह सकते। उनमें एक को प्रबल और दूसरे को दुर्बल मानना होगा, अतः सबलपक्षीय ज्ञान से निर्बलपक्षीय ज्ञान का बाध (अपवाद) हो जायगा और यदि भेद और अभेद दोनों में बलाबल का निश्चय नहीं होता, तब संशयात्मक ज्ञान होगा निश्चितार्थक आत्मज्ञान न हो सकेगा किन्तु सुनिश्चितार्थक आत्मज्ञान को ही मोक्ष का साधन माना गया है—"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (मुण्ड. ३।२।६)। भाष्यकार

तनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिक इत्येषोऽर्थः सर्वैर्वेदान्तवादिभिरभ्युपगन्तव्यः। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) 'आत्मवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मुण्ड० २।२।११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३।८।११) इत्येवंरूपाभ्यः श्रुतिभ्यः। स्मृतिभ्यश्च 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७।१९), 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३।२), 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी० १३।२८) इत्येवंरूपाभ्यः, भेददर्शनापवादाच्च 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' (बृ० १।४।१०), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इत्येवंजातीयकात्। 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) इति चात्मनि सर्वविक्रियाप्रतिषेधात्, अन्यथा च मुमुक्षूणां निरपवादविज्ञानानुपपत्तेः, सुनिश्चितार्थत्वानुपपत्तेश्च। निरपवादं हि विज्ञानं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमात्मविषयमिष्यते, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मुण्ड० ३।२।६) इति च श्रुतेः। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) इति च। स्थितप्रज्ञलक्षणस्मृतेश्च (गी० २।५४)। स्थिते च

भामती

सुनिश्चितार्थाः'' इति। तदेतदाह ॐ अन्यथा मुमुक्षूणाम् इति ॐ। एकत्वमनुपश्यत इति श्रुतिर्न पुनरेकत्वानेकत्वे अनुपश्यत इति। ननु यदि क्षेत्रज्ञपरमात्मनोरभेदो भाविकः, कथं तर्हि व्यपदेशबुद्धिभेदौ क्षेत्रज्ञः परमात्मेति ? कथञ्च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य भगवतः संसारिता ? अविद्याकृतनामरूपोपाधिवशादिति चेत्, कस्येयमविद्या ? न तावज्जीवस्य, तस्य परमात्मनो व्यतिरेकाभावात्। नापि परमात्मनस्तस्य विद्यैकरसस्याविद्याश्रयत्वानुपपत्तेः। तदत्र संसारित्वासंसारित्वविद्याविद्यावत्त्वरूपविरुद्धधर्मसंसर्गाद् बुद्धिव्यपदेशभेदाच्चास्ति जीवेश्वरयोर्भेदोऽपि भाविक इत्यत आह ॐ स्थिते च परमात्मक्षेत्रज्ञात्मैकत्वे इति ॐ। न तावद्भेदाभेदावेकत्र भाविकौ भवितुमर्हत इति विप्रपञ्चितं प्रथमे पादे। द्वैतदर्शननिन्दया

भामती–व्याख्या

भी यही कह रहे हैं—"अन्यथा च मुमुक्षूणां निरपवादज्ञानं न स्यात्"। "एकत्वमनुपश्यतः" (ई० ७) इस श्रुति के द्वारा एकत्वानेकत्व-दर्शी (भेदाभेद-दर्शी) का भी निरास किया गया है।

शङ्का—यदि क्षेत्रज्ञ (जीव) और परमात्मा का अभेद है, तब उनके वाचक शब्द और उनके ज्ञानों का [क्षेत्रज्ञः, परमात्मा—ऐसा] भेद क्यों ? नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप परमात्मा जीव के रूप में संसारी क्योंकर बनेगा ? यदि कहा जाय कि अविद्या-जनित नाम-रूप उपाधि के द्वारा ब्रह्म में कर्तृत्वादि संसार आरोपित हो जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि वह अविद्या किस की है ? जीव की नहीं हो सकती, क्योंकि वह ब्रह्म से भिन्न नहीं और वह अविद्या परमात्मा को भी नहीं हो सकती, क्योंकि विद्यैकस्वरूप ब्रह्म अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता [आचार्य भास्कर की यही आपत्ति है—"कथं तस्य संसारित्वमिति चेत्, अविद्याकृतनामरूपोधिवशादिति। तत्र ब्रूमः—कस्येयमविद्या ? न तावज्जीवस्य, वस्तुभूतस्य तस्यानभ्युपगमात्। नापीश्वरस्य, नित्यविज्ञानप्रकाशत्वादज्ञानं विरुध्यते" (ब्र. सू. भास्कर पृ० ८२)]।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान भाष्यकार ने किया है—"क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वविषये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमात्मेति नाममात्रभेदात्"। भेद और अभेद दोनों एकत्र नहीं रह सकते—इस तथ्य का विस्तार से वर्णन प्रथम पाद में किया जा चुका है। द्वैतदर्शन की निन्दा और ऐकान्तिक अद्वैत के प्रतिपादन में ही सभी वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्य पूर्वापर की

क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वविषये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमात्मेति नाममात्रभेदात्, क्षेत्रज्ञोऽयं परमात्मनो भिन्नः परमात्माऽयं क्षेत्रज्ञाद्भिन्न इत्येवंजातीयक आत्मभेदविषयो निर्बन्धो निरर्थकः। एको ह्ययमात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाभिधीयत इति। नहि 'सत्यं ज्ञान-

---

भामती

चैकान्तिकाद्वैतप्रतिपादनपराः पौर्वापर्यालोचनया सर्वे वेदान्ताः प्रतीयन्ते। तत्र यथा बिम्बादवदातात्ता-त्त्विके प्रतिबिम्बानामभेदेऽपि नीलमणिकृपाणकाचाद्युपधानभेदात् काल्पनिको जीवानां भेदो बुद्धिव्यपदेश-भेदौ वर्तयति-इदं बिम्बमवदातमिमानि च प्रतिबिम्बानि नीलोत्पलपलाशश्यामलानि वृत्तदीर्घादिभेदभाञ्जि बहूनीति, एवं परमात्मनः शुद्धस्वभावाज्जीवानामभेदे ऐकान्तिकेऽप्यनिर्वचनीयानाद्यविद्योपधानभेदात् काल्पनिको जीवानां भेदो बुद्धिव्यपदेशभेदावयं च परमात्मा शुद्धविज्ञानानन्दस्वभावः, इमे च जीवा अविद्याशोकदुःखाद्युपद्रवभाज इति वर्तयति। अविद्योपधानं च यद्यपि विद्यास्वभावे परमात्मनि न साक्षा-दस्ति, तथापि तत्प्रतिबिम्बकल्पजीवद्वारेण परस्मिन्नुच्यते। न चैवमन्योन्याश्रयो जीवविभागाश्रयाविद्या, अविद्याश्रयश्च जीवविभाग इति, बीजाङ्कुरवदनादित्वात्। अत एव कामुद्दिश्येष ईश्वरो मायामारचयत्य-र्थिकामुद्दिश्यानां सर्गादौ जीवानामभावात्, कथं चात्मानं संसारिणं विविधवेदनाभाजं कुर्यादित्याद्यनुयोगो निरवकाशः : न खल्वादिमान् संसारो नाप्यादिमानविद्याजीवविभागो येनानुयुज्येतेति। अत्र च नाम-ग्रहणेनाविद्यामुपलक्षयति। स्यादेतत् -यदि न जीवाद् ब्रह्म भिद्यते हन्त जीवः स्फुट इति ब्रह्मापि तथा स्यात्तथा च निहितं गुहायामिति नोपपद्यत इत्यत आह ❀ नहि सत्यम् इति ❀। यथा हि बिम्बस्य मणि-

---

भामती-व्याख्या

आलोचना से पर्यवसित होता है। वहाँ जैसे शुभ्र बिम्ब से प्रतिबिम्ब का अभेद होने पर भी नीलमणि, कृपाण काचादि उपाधियों के भेद से बिम्ब और प्रतिबम्ब का काल्पनिक भेद जीवों की दृष्टि में ज्ञान और शब्द का भेद उत्पन्न कर देता है—'इदं 'बिम्बमवदातम्', 'इमानि प्रतिम्बानि' नीलोत्पलपलाशश्यामलानि वृत्तदीर्घादिभेदभाञ्जि बहूनि'। वैसे ही शुद्ध-स्वरूपवाले परमात्मा से जीवों का ऐकान्तिक अभेद होने पर भी अनिर्वचनीय अनादि अविद्या-रूप उपाधि के भेद से जीवों का काल्पनिक भेद ही उनके शब्दों और ज्ञानों का भेद उत्पन्न कर देता है—'अयं परमात्मा विशुद्धविज्ञानानन्दस्वभावः', 'इमे जीवा अविद्याशोकदुःखाद्यु-पद्रवभाजः'। यद्यपि अविद्यारूप उपाधि विद्यात्मक ब्रह्म में साक्षात् नहीं है, तथापि उस के प्रतिबिम्बभूत जीवों के माध्यम से ब्रह्म में उपचरित है। जीवों को अविद्या का आश्रय मानने पर 'जीवविभागाश्रयाऽविद्या, अविद्याश्रयश्च जीवविभागः'—इस प्रकार का अन्योऽन्याश्रयत्व क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—'बीजाङ्कुरवदनादित्वात्'। (१) सृष्टि के आरम्भ में जीवों की सत्ता न होने के कारण किसके उद्देश्य से ईश्वर माया की रचना करता है ? एवं ईश्वर अपने को संसारी और विविध वेदनाओं का आश्रय क्योंकर बनाता है ? इत्यादि प्रश्न भी अत एव निराधार हो जाते हैं कि न तो यह संसार आदिमान् (सादि) है और न अविद्या एवं जीव का विभाग ही आदिमान् है कि यह सादितामूलक आक्षेप हो जाता। "नाममात्र-भेदात्"—इस भाष्य-वाक्य में "नाम' पद अविद्या का उपलक्षक है, अतः जीव और ब्रह्म में आविद्यक या अवस्तुभूत भेद का लाभ होता है।

यदि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं, तब जैसे जीव सभी व्यक्तियों को स्पष्ट अनुभव में आता है, वैसे ही ब्रह्म स्फुट क्यों नहीं ? यदि ब्रह्म भी स्पष्ट अनुभव-गम्य है, तब उसके लिए "निहितं गुहायाम्" (तै० उ० २।१) ऐसा कहना उचित कैसे होगा इस प्रश्न का उत्तर है— "न हि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि"। जैसे एक बिम्ब की मणि, कृपाणादि अनेक गुहाएँ होती हैं, वैसे ही एक ब्रह्म की जीवों के भेद से अनेक अविद्यारूप गुहाएँ हैं। जैसे प्रतिबिम्ब

मनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै० २।६) इति कांचिदेवैकां गुहामधिकृत्यै-तदुक्तम् । न च ब्रह्मणोऽन्यो गुहायां निहितोऽस्ति, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेव प्रवेशश्रवणात् । ये तु निर्बन्धं कुर्वन्ति ते वेदान्तार्थं बाधमानाः श्रेयोद्वारं सम्यग्दर्शनमेव बाधन्ते । कृतकमनित्यं च मोक्षं कल्पयन्ति । न्यायेन च न संगच्छन्त इति ॥ २२ ॥

भामती

कृपाणाख्यो गुहा एवं ब्रह्मणोऽपि प्रतिजीवं भिन्ना अविद्या गुहा इति । यथा प्रतिबिम्बेषु भासमानेषु बिम्बं तदभिन्नमपि गुह्यमेवं जीवेषु भासमानेषु तदभिन्नमपि ब्रह्म गुह्यम् । अस्तु तर्हि ब्रह्मणोऽन्यद् गुह्यमित्यत आह ❀ न च ब्रह्मणोऽन्य: इति ❀ । ये त्वाश्मरथ्यप्रभृतयः ❀ निर्बन्धं कुर्वन्ति ते वेदान्तार्थम् इति ❀ । ब्रह्मणः सर्वात्मना भागशो वा परिणामाभ्युपगमे तस्य कार्यत्वादनित्यत्वाच्च तदाश्रितो मोक्षोऽपि तथा स्यात् । यदि त्वेवमपि मोक्षं नित्यमकृतकं ब्रूयुस्तत्राह ❀ न्यायेन इति ❀ । एवं ये नदीसमुद्रनिदर्शनेनामुक्तेर्भेदं मुक्तस्य चाभेदं जीवस्याऽऽस्थिषत, तेषामपि न्यायेनासङ्गतिः, न जातु घटः पटो भवति । ननूक्तं यथा नदी समुद्रो भवतीति । का पुनर्नद्यभिमताऽऽयुष्मतः । किं पाथःपरमाणव उतैषां संस्थानभेद, आहोस्वित्तदारब्धोऽवयवी ? तत्र संस्थानभेदस्य चाऽवयविनो वा समुद्रनिवेशे विनाशात्, कस्य समुद्रेणैकता ? नदीपाथःपरमाणूनान्तु समुद्रपाथःपरमाणुभ्यः पूर्वावस्थितेभ्यो भेद एव नाभेदः, एवं समुद्रादपि तेषां भेद एव ।

भामती–व्याख्या

पदार्थों के स्फुटरूप में अवभासित होने पर बिम्बवस्तु प्रतिबिम्ब से अभिन्न होकर भी गुह्य [गुहा में अवस्थित अस्फुटरूप से प्रतीयमान] होती है, वैसे ही जीवों के स्फुटरूप में अनुभूत होने पर ब्रह्म जीवाभिन्न होकर भी गुह्य है । ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी पदार्थ को गुह्य क्यों नहीं माना जाता ? इस प्रश्न का उत्तर है—"न च ब्रह्मणोऽन्यो गुहायां निहितोऽस्ति" ।

"ये तु"—यहाँ 'ये' पद से आश्मरथ्यादि भेदवादी आचार्यों का ग्रहण किया गया है । "निर्बन्धं कुर्वन्ति" का अर्थ है आग्रहं कुर्वन्ति । अर्थात् जो भेदवादी आचार्य समग्र या आंशिकरूप से जीव को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं, उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि कार्य (जन्य) और अनित्यभूत जीव के आश्रित मोक्ष पदार्थ भी वैसा (अनित्य) ही है । यदि अनित्यभूत जीव के आश्रित मोक्ष तत्त्व को नित्य और अकृतक माना जाता है, तब "न्यायेन च न सङ्गच्छन्ते" । इसी प्रकार जो औडुलोम्यादि आचार्यगण नदी-समुद्र-दृष्टान्त के आधार पर मुक्ति से पूर्व जीव और ब्रह्म का भेद एवं मुक्तावस्था में अभेद मानते हैं, उनका मत भी न्याय-संगत नहीं, क्योंकि जो पदार्थ वस्तुतः भिन्न है, वह कभी अभिन्न नहीं हो सकता, जैसे अपटरूप घट कभी पटरूप नहीं होता । आचार्य औडुलोमि की ओर से जो कहा गया कि जैसे नदी भिन्न है और समुद्र भिन्न, फिर भी नदी समुद्ररूप हो जाती है, वैसे ही जीव ब्रह्मरूप हो जाता है । वहाँ जिज्ञासा होती है कि 'नदी' पद से आप क्या समझते हैं ? क्या (१) जल के परमाणु ? या जलीय परमाणुओं का विशेष संस्थान (आकार) ? अथवा जलीय परमाणुओं से आरब्ध (जनित) अवयवी द्रव्य ? इनमें संस्थान या अवयवी द्रव्य तो समुद्र में प्रवेश करने पर नष्ट ही हो जाते हैं, वे शेष ही नहीं रहते, समुद्र से एकता किस की कही जाय ? नदी के जलीय परमाणु तो समुद्र के जलीय परमाणुओं से सदैव भिन्न ही रहते हैं, कभी अभिन्न नहीं होते । समुद्ररूप अवयवी से भी उनका भेद ही रहता है ।

कुछ लोगों (भास्कराचार्यादि) ने काशकृत्स्नीय मत मान कर जीव को परमात्मा का अंश कहा है [आचार्य भास्कर कहते हैं—"तदंशो जीवोऽस्ति । अंशशब्दः कारणवाची,

भामती

ये तु काशकृत्स्नीयमेव मतमास्थाय जीवं परमात्मनोऽशमाचख्युस्तेषां कथं 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति न श्रुतिविरोधः ? निष्कलमिति सावयवत्वं व्यासेधति, न तु सांशत्वम् । अंशश्च जीवः परमात्मनो नभस इव कर्णनेमिमण्डलावच्छिन्नं नभः शब्दश्रवणयोग्यं वायोरिव च शरीरावच्छिन्नः पञ्चवृत्तिः प्राण इति चेत्, न तावन्नभो नभसोऽंशस्तस्य तत्त्वात् । कर्णनेमिमण्डलावच्छिन्नमंश इति चेत्, हन्त तर्हि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन कर्णनेमिमण्डलं वा तत्संयोगो वेत्युक्तं भवति । न च कर्णनेमिमण्डलं तस्यांशस्तस्य ततो भेदात् । तत्संयोगो नभोधर्मत्वात्तस्यांश इति चेत्, न, अनुपपत्तेः । नभोधर्मत्वे हि तदनवयवं सर्वत्राभिन्नमिति तत्संयोगः सर्वत्र प्रथेत । नह्यस्ति सम्भवोऽनवयवमव्याप्य वर्त्तत इति । तस्मात्तत्रास्ति चेद्व्याप्यैव, न चेद्व्याप्नोति तत्र नास्त्येव । व्याप्यैवास्ति केवलं प्रतिसम्बन्ध्यधीननिरूपणतया न सर्वत्र निरूप्यत इति चेत्, न नाम निरूप्यताम् । तत्संयुक्तं तु नभः श्रवणयोग्यं सर्वत्रास्तीति सर्वत्र श्रवण-

भामती–व्याख्या

यथा पटस्यांशोऽवयवस्तन्तुरिति । अस्ति च द्रव्यविभागवचनो यथा परिषद्द्रव्ये अंशिनो वयमिहेति । तयोरिह ग्रहणं न भवति, किन्तूपाध्यवच्छिन्नस्यानन्यभूतस्य वाचकोऽयं शब्दः प्रयुक्तो यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गस्य । कथं पुनर्निरवयवस्य परमात्मनोऽशः सम्भवति ? आगमात् तावदवगम्यते—"यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः", यथा चाकाशस्य पार्थिवाधिष्ठानावच्छिन्नं कर्णच्छिद्रं च, यथा च वायोः पञ्चवृत्तिः प्राणः, यथा च मनसः कामादयो वृत्तयः । स च भिन्नाभिन्नस्वरूपः, अभिन्नरूपं स्वाभाविकम्, औपाधिकं तु भिन्नरूपम्, उपाधीनां च बलवत्त्वात्" (ब्र० सू० भास्कर० पृ० १४१)] ।

ऐसे लोगों से पूछा जा सकता है कि "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वेता० ६।१९) इस श्रुति से उनका मत विरुद्ध क्यों नहीं ?

शङ्का—श्रुतिगत 'निष्कलम्' पद सावयवत्व का निषेध करता है, सांशत्व का नहीं । जीव परमात्मा का वैसे ही अंश है, जैसे महाकाश का कर्ण-नेमिमण्डल से अवच्छिन्न श्रोत्ररूप आकाश अथवा जैसे महावायु का शरीरावच्छिन्न प्राणनादि पञ्चविध व्यापार से युक्त प्राण ।

समाधान—दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य है, क्योंकि श्रोत्ररूप आकाश महाकाश का अंश नहीं । प्राप्ताप्राप्त-न्याय के आधार पर आकाश की अंशता किसमें पर्यवसित होती है ? इस प्रश्न का यदि उत्तर खोजा जाय, तब वहाँ या सर्वत्र अवच्छेदकावच्छिन्न-स्थल पर तीन पदार्थ प्रतीत होते हैं—(१) अवच्छेद्य, (२) अवच्छेदक और (३) अवच्छेदक का अवच्छेद्य के साथ सम्बन्ध । प्रकृत में आकाश ही अवच्छेद्य है, वह तो स्वयं अपना अंश हो नहीं सकता, क्योंकि वही अंशी है । कर्ण-नेमि-मण्डलरूप अवच्छेदक भी आकाश का अंश नहीं, क्योंकि वह पार्थिव होने के कारणआकाश से भिन्न और विजातीय है । आकाश के साथ जो कर्ण-नेमि-मण्डल का संयोग है, वह आकाश के समान ही व्यापक ही मानना होगा, क्योंकि आकाश निरवयव है, अतः उसका संयोग किञ्चिदवयवावच्छेदेन या अव्याप्यवृत्ति नहीं हो सकता । फलतः सर्वत्र शब्दोपलब्धि होनी चाहिए : निरवयव-संयोग कभी अव्याप्यवृत्ति नहीं हो सकता, अतः आकाश के साथ यदि कर्ण-नेमि-मण्डल का संयोग है, तब वह व्याप्यवृत्ति ही रहेगा । यदि वह सभी देश को व्याप्त नहीं कर सकता, तब वह है ही नहीं । यदि कहा जाय कि यद्यपि यह सर्वत्र है किन्तु संयोग सदैव अपने प्रतियोगी से निरूपणीय है, प्रतियोगी के सर्वत्र न होने के कारण सर्वत्र निरूपित नहीं हो सकता । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उस संयोग का निरूपण भले ही न हो, स्वरूपतः तो सर्वत्र विद्यमान है, अतः श्रवण-योग्यता के सर्वत्र होने से सर्वत्र शब्द-श्रवण होना चाहिए ।

भामती

प्रसङ्गः । न च भेदाभेदयोरन्यतरेणांशः शक्यो निर्वक्तुम् । न चोभाभ्यां, विरुद्धयोरेकत्रासमवायादित्युक्तम् । तस्मादनिर्वचनीयानाद्यविद्यापरिकल्पित एवांशो नभसो न भाविक इति युक्तम् । न च काल्पनिको ज्ञानमात्रायत्तजीवितः कथमविज्ञायमानोऽस्ति, असंश्चांशः कथं शब्दश्रवणलक्षणाय कार्याय कल्पते ? न जातु रज्ज्वामज्ञायमान उरगो भयकम्पादिकार्याय पर्याप्त इति वाच्यम्, अज्ञातत्वासिद्धेः । कार्यव्यञ्ज्यत्वादस्य । कार्योत्पादात् पूर्वमज्ञातं कथं कार्योत्पादाङ्गमिति चेत् , न, पूर्वपूर्वकार्योत्पादव्यङ्ग्यत्वादसत्यपि ज्ञाने तत्संस्कारानुवृत्तेरनादित्वाच्च कल्पनातत्संस्कारप्रवाहस्य । अस्तु वानुपपत्तिरेव कार्यकारणयोर्मायात्मकत्वात् । अनुपपत्तिर्हि मायामुपोद्बलयति । अनुपपद्यमानार्थत्वान्मायायाः । अपि च भाविकांशवादिनां मते भाविकांशस्य ज्ञानेनोच्छेत्तुमशक्यत्वान्न ज्ञानध्यानसाधनो मोक्षः स्यात् तदेवमाकाशांश इव श्रोत्रमनिर्वचनीयम् । एवं जीवो ब्रह्मणोंऽश इति काशकृत्स्नीयं मतमिति सिद्धम् ॥ २२ ॥

स्यादेतद् —वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वये दर्शिते समाप्तं समन्वयलक्षणमिति किमपरमवशिष्यते

भामती-व्याख्या

अंश अपने अंशी से भिन्न है ? या अभिन्न ? अथवा भिन्नाभिन्न ? इनमें से किसी प्रश्न का भी समुचित उत्तर नहीं बनता—यह विगत पृ० १३६ पर भी विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है, फलतः अनिर्वचनीय अनादि अविद्या के द्वारा आकाशादि निरंश पदार्थों के अंश परिकल्पित मात्र होते हैं, वास्तविक नहीं—एसा मानना ही युक्ति-युक्त है । काल्पनिक पदार्थ ज्ञानैकस्वरूप होते हैं, कभी अज्ञायमान स्वरूप सत् नहीं होते । असद्भूत अंश व्यावहारिक शब्दादि-श्रवण के योग्य क्योंकर होगा ? रज्जु में कल्पित अज्ञायमान सर्प व्यावहारिक भय एवं कम्पादि का जनक क्योंकर होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह अज्ञायमान नहीं, अपि तु ज्ञायमान ही होता है, क्योंकि भय-कम्पादि कार्य ही उसकी ज्ञायमानता के व्यञ्जक होते हैं । यद्यपि वर्तमान कार्य की उत्पत्ति पूर्वतन सर्पादि की ज्ञातता का कल्पक नहीं, तथापि पूर्व-पूर्व कार्यों की उत्पत्ति के द्वारा उसमें ज्ञातत्व की अभिव्यक्ति हो जाती है । यद्यपि वृत्त्यात्मक ज्ञान विनश्वर है, तथापि उसके संस्कार अनुवृत्त रहते हैं, अतः ज्ञान अपने संस्कारों के माध्यम से अनुवृत्त रह कर अपने कल्पित पदार्थ में ज्ञातत्व ध्वनित कर देता है । संस्कारों की सत्ता पूर्व-पूर्व अनुमित के आधार पर होती है, कल्पना और संस्कारों का साध्य-साधनभाव बीज-वृक्ष के समान अनादि माना जाता है, अतः अनवस्थादि दोष प्रसक्त नहीं होते । काल्पनिक कारण से कार्य की उपपत्ति यदि नहीं हो सकती, तब अनुपपत्ति ही सही । मायिक वस्तु के लिए अनुपपत्ति कोई दोष नहीं, क्योंकि आचार्य मण्डन मिश्र कहते हैं—"न हि मायायां काचिदनुपपत्तिः, अनुपपद्यमानार्थैव हि माया" (ब्र० सि० पृ० १०) । दूसरी बात यह भी है कि जो लोग अंश को भाविक (वास्तविक) मानते हैं, वास्तविक पदार्थ का ज्ञान से उच्छेद हो नहीं सकता, अतः ज्ञान-ध्यानादि से बन्धन की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति क्योंकर होगी ? अतः जैसे श्रोत्ररूप आकाश का अंश अनिर्वचनीय है, वैसे ही जीव भी ब्रह्म का अंश है—ऐसा आचार्य काशकृत्स्न का मत स्थिर होता है ॥ २२ ॥

सङ्गति—ब्रह्म में विविध वेदान्त-वाक्यों का समन्वय दिखाया गया । इतने मात्र से इस समन्वयाध्याय का उद्देश्य पूरा हो जाता है, अब और क्या शेष रह गया कि जिसके लिए इस अधिकरण की रचना की गई ? इस शङ्का का निराकरण करने के लिए भाष्यकार

(७ प्रकृत्यधिकरणम् । सू० २३-२७)

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

यथाभ्युदयहेतुत्वाद्धर्मो जिज्ञास्यः, एवं निःश्रेयसहेतुत्वाद् ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्। ब्रह्म च 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२) इति लक्षितम्। तच्च लक्षणं घटरुचकादीनां मृत्सुवर्णादिवत्प्रकृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिवन्निमित्तत्वे च समानमित्यतो भवति विमर्शः किमात्मकं पुनर्ब्रह्मणः कारणत्वं स्यादिति? तत्र निमित्तकारणमेव तावत्केवलं स्यादिति प्रतिभाति। कस्मात्? ईक्षापूर्वककर्तृत्वश्रवणात्। ईक्षापूर्वकं हि ब्रह्मणः कर्तृत्वमवगम्यते 'स ईक्षांचक्रे' (प्र० ६।३)

भामती

यदर्थमिदमारभ्यत इति शङ्कां निराकर्तुं सङ्गतिं दर्शयन् अवशेषमाह ॐ यथाभ्युदय इति ॐ। अत्र च लक्षणस्य सङ्गतिमुक्त्वा लक्षणेनास्याधिकरणस्य सङ्गतिरुक्ता। एतदुक्तं भवति—सत्यं जगत्कारणे ब्रह्मणि वेदान्तानामुक्तः समन्वयस्तत्र कारणभावस्योभयथा दर्शनाज्जगत्कारणत्वं ब्रह्मणः किं निमित्तत्वेनैव, उतोपादानत्वेनापि? तत्र यदि प्रथमः पक्षस्ततः उपादानकारणानुसरणे सांख्यस्मृतिसिद्धं प्रधानमभ्युपेयम्। तथा च जन्माद्यस्य यत इति ब्रह्मलक्षणमसाधु, अतिव्याप्तेः, प्रधानेऽपि गतत्वात्। असम्भवाद्वा। यदि तूत्तरः पक्षस्ततो नातिव्याप्तिर्नाव्यव्याप्तिरिति साधु लक्षणम्। सोऽयमवशेषः। तत्र—

ईक्षापूर्वककर्तृत्वं प्रभुत्वमसरूपता।
निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित् ॥

तदिदमाह ॐ तत्र निमित्तकारणमेव तावद् इति ॐ। आगमस्य कारणमात्रे पर्यवसानादनुमानस्य

भामती–व्याख्या

सङ्गति दिखाते हुए शेष विचारणीय प्रस्तुत करते हैं—"यथाभ्युदयहेतुत्वाद् धर्मो जिज्ञास्य इत्यादि"। यहाँ ब्रह्म-लक्षण की संगति दिखाकर भाष्यकार ने लक्षण-सूत्र के साथ इस अधिकरण की संगति प्रदर्शित की है। आशय यह है कि जगत् के कारणीभूत ब्रह्म में वेदान्त-वाक्यों का समन्वय प्रदर्शित किया गया। कारणता दो प्रकार की देखी जाती है—(१) निमित्तकारणता और उपादानकारणता। ब्रह्म में जगत् की कौन-सी कारणता विवक्षित है? यदि निमित्तकारणता-पक्ष का ग्रहण किया जाता है, तब उपादान कारण किसी और पदार्थ को मानना होगा, फलतः सांख्य-दर्शन-सिद्ध प्रधान (प्रकृति) तत्त्व को स्वीकार करना होगा, तब "जन्माद्यस्य यतः"—यह ब्रह्म का लक्षण सदोष हो जाता है, क्योंकि सांख्य-सम्मत प्रकृति में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है अथवा उपादानत्वरूप लक्षण ब्रह्म में न घटने से असम्भव दोष है। यदि द्वितीय पक्ष [उपादानकारणता भी अर्थात् ब्रह्म में उभयविध कारणत्व) माना जाता है, तब तो न अतिव्याप्ति होती है और न अव्याप्ति, अतः उक्त लक्षण निर्दोष है। यही शेष विचारणीय है, जिसके लिए इस अधिकरण की आवश्यकता है।

पूर्वपक्ष — ईक्षापूर्वककर्तृत्वं प्रभुत्वमसरूपता।
निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित् ॥

यही भाष्यकार ने कहा है—"तत्र निमित्तकारणमेव तावत् केवलं स्यात्"। औपनिषद वाक्यों का तो सामान्य कारणता में पर्यवसान होता है। अनुमान प्रमाण जो 'ईश्वरो जगतो निमित्तकारणम्, ईक्षणपूर्वककर्तृत्वात् कुलालवत्। प्रभुत्वाद् राजवत्'। 'ईश्वरो न जगत उपादानम्, कार्यविरूपत्वात्, कुलालादिवत्'—इस प्रकार निमित्तकारणता का नियमन करते हैं, उनका उक्त औपनिषद वाक्य किसी प्रकार का विरोध नहीं करते, प्रत्युत समर्थन करते

'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः । ईक्षापूर्वकं च कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु दृष्टम् । अनेककारकपूर्विका च क्रियाफलसिद्धिर्लोके दृष्टा । स च न्याय आदिकर्तर्यपि युक्तः संक्रमयितुम्, ईश्वरत्वप्रसिद्धेश्च । ईश्वराणां हि राजवैवस्वतादीनां निमित्तकारणत्वमेव केवलं प्रतीयते, तद्वत्परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वमेव युक्तं प्रतिपत्तुम् । कार्यं चेदं जगत्सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यम्, कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनात् । ब्रह्म च नैवंलक्षणमवगम्यते 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः । पारिशेष्याद् ब्रह्मणोऽन्यदुपादानकारणमशुद्ध्यादिगुणकं स्मृतिप्रसिद्धमभ्युपगन्तव्यम् । ब्रह्मकारणत्वश्रुतेर्निमित्तत्वमात्रे पर्यवसानादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्त-

भामती

तद्विशेषनियममागमो न प्रतिक्षिपत्यपि त्वनुमन्यत एवेत्याह ॐ पारिशेष्याद् ब्रह्मणोऽन्यद् इति ॐ । ब्रह्मोपादानत्वस्य प्रसक्तस्य प्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात्सांख्यस्मृतिप्रसिद्धमानुमानिकं प्रधानं शिष्यत इति । एकविज्ञानेन च सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानम् 'उत तमादेशम्' इत्यादिना यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेनेति च दृष्टान्तः, परमात्मनः प्राधान्यं सूचयतः । यथा सोमशर्मणैकेन ज्ञातेन सर्वे कठा ज्ञाता भवन्ति ।

एवं प्राप्त उच्यते—प्रकृतिश्च । न केवलं ब्रह्म निमित्तकारणं, कुतः? प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरनुपरोधात् । निमित्तकारणत्वमात्रे तु तावुपरुध्येयाताम् तथाहि

न मुख्ये सम्भवत्यर्थे जघन्या वृत्तिरिष्यते ।
स चानुमानिकं युक्तमागमेनापबाधितम् ॥
सर्वे हि तावद्वेदान्ताः पौर्वापर्येण वीक्षिताः ।
ऐकान्तिकाद्वैतपरा द्वैतमात्रनिषेधतः ॥

भामती-व्याख्या

हैं—"स ईक्षांचक्रे" (प्र. ६।३) इत्यादि । इस प्रकार यह आवश्यक हो जाता है कि उपादानकारण कोई और माना जाय—"पारिशेष्याद् ब्रह्मणोऽन्यदुपादानकारणमभ्युपगन्तव्यम्" । पारिशेष्य का स्वरूप बताते हुए न्यायभाष्यकार ने कहा है—"प्रसक्तप्रतिषेधाद् अन्यत्राप्रसङ्गः परिशेषः" (न्या० भा० १।१।५) । उसके अनुसार प्रसक्त (प्राप्त) ब्रह्मगत उपादानकारणता का प्रतिषेध हो जाने पर अन्य किसी वस्तु में उपादान-कारणता प्रसक्त नहीं, परिशेषतः सांख्य-सम्मत प्रधान (प्रकृति) में उपादानता पर्यवसित होती है । "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति" (छां० ६।१।२) इत्यादि वाक्यों के द्वारा जो एक के विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा की है और "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन" (छां० ६।१।४) इत्यादि जो दृष्टान्त दिखाए हैं, वे सभी ब्रह्म की प्रधानता (प्रमुखता) के वैसे ही सूचक हैं, जैसे सोमशर्मा की प्रशंसा में कहा जाय—'सोमशर्मणकेन ज्ञातेन सर्वे कठा ज्ञाता भवन्ति' ।

सिद्धान्त—उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण-सूत्र है—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" । अर्थात् ब्रह्म केवल निमित्तकारण ही नहीं, क्योंकि कथित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का सामञ्जस्य उभयविध कारणता में ही होता है, केवल निमित्तकारणता मानने पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त उपरुद्ध (विरुद्ध या बाधित) हो जाते हैं—

न मुख्ये सम्भवत्यर्थे जघन्या वृत्तिरिष्यते ।
न चानुमानिकं युक्तमागमेनापबाधितम् ॥
सर्वे हि तावद् वेदान्ता पौर्वापर्येण वीक्षिताः ।
ऐकान्तिकाद्वैतपरता द्वैतमात्रनिषेधतः ॥

कारणं च, न केवलं निमित्तकारणमेव । कस्मात्? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । एवं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते । प्रतिज्ञा तावत्—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।२) इति । तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते । तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य । निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति, लोके तक्ष्णः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात् । दृष्टान्तोऽपि—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्युपादानकारणगोचर एवाम्नायते। तथा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' 'एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६।१।४,५,६) इति च । तथान्यत्रापि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।२) इति प्रतिज्ञा। 'यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति' (मुण्ड० १।१।७) इति दृष्टान्तः । तथा 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' इति प्रतिज्ञा ।' स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्शक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' (बृ० ४।५।८,९) इति दृष्टान्तः । एवं यथासंभवं प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ प्रकृतित्वसाधनौ प्रत्येतव्यौ । यत इतीयं पञ्चमी—'यतो वा इमानि

भामती

तदिहापि प्रतिज्ञादृष्टान्तौ मुख्यार्थाविव युक्तौ न तु यजमानः प्रस्तर इतिवद् गुणकल्पनया नेतव्यौ तस्यार्थवादस्यातत्परत्वात् । प्रतिज्ञादृष्टान्तवाक्ययोस्त्वद्वैतपरत्वादुपादानकारणात्मकत्वाच्चोपादेयस्य कार्यजातस्योपादानज्ञानेन तज्ज्ञानोपपत्तेः । निमित्तकारणं तु कार्यादत्यन्तभिन्नमिति न तज्ज्ञाने कार्यज्ञानं भवति । अतो ब्रह्मोपादानकारणं जगतः । न च ब्रह्मणोऽन्यन्निमित्तकारणं जगत इत्यपि युक्तम् । प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोधादेव । नहि तदानीं ब्रह्मणि ज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति । जगन्निमित्तकारणस्य ब्रह्मणोऽन्यस्य सर्वमध्यपातिनस्तज्ज्ञानेनाविज्ञानात् । यत इति च पञ्चमी न कारणमात्रे स्मर्यते, अपि तु प्रकृतौ जनिकर्तुः

भामती–व्याख्या

कथित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के आधार पर जो ब्रह्म में जगत् की उपादानता प्रतिपादित है, वह मुख्य (अभिधा) वृत्ति को लेकर वास्तविक उपादानकारणता ही माननी होगी, यजमानगत गौण प्रस्तररूपता (यज्ञोपकारिता) के समान प्रधानता, (प्रशस्तता या प्रमुखता) रूप गौण उपादानता नहीं, क्योंकि "यजमानः प्रस्तरः" (तै० सं० ३।८।६) यह अर्थवाद प्रस्तररूप मुख्यार्थपरक नहीं, वैसा प्रकृत में नहीं। प्रतिज्ञा और दृष्टान्त-वाक्य अद्वैतपरक ही हैं, अतः समस्त उपादेयभूत जगत् के ज्ञान का उसके उपादान-कारणभूत ब्रह्म के ज्ञान से ही होना न्याय-सिद्ध है। निमित्तकारण तो अपने कार्य-प्रपञ्च से अत्यन्त भिन्न होता है, अतः उसके ज्ञान से समस्त कार्य का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म जगत् का उपादानकारण सिद्ध होता है। 'ब्रह्म से भिन्न और कोई पदार्थ जगत् का निमित्तकारण है'—यह कहना भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि उक्त प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के अनुरोध पर वैसा मानना सम्भव नहीं। सांख्य-सम्मत प्रधानादि तत्त्व तो कार्य-वर्ग में ही आ जाते हैं, अतः उनके ज्ञान से समस्त कार्य का ज्ञान क्योंकर होगा? यह जो कहा गया कि वेदान्त-वाक्य सामान्य कारणता के प्रतिपादक हैं, वह भी उचित नहीं, क्योंकि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै. उ. ३।१) यहाँ 'यतः' पद में जो पञ्चमी विभक्ति है, "जनिकर्तुः प्रकृतिः" (पा. सू. १।४।३०) इस सूत्र के अनुसार जनि (उत्पत्ति) के कर्ता (जायमान वस्तुमात्र)

भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० सू० १।४।३०) इति विशेष स्मरणात्प्रकृतिलक्षण एवापादाने द्रष्टव्या । निमित्तत्वं त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्तव्यम् । यथा हि लोके मृत्सुवर्णादिकमुपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीनधिष्ठातॄनपेक्ष्य प्रवर्तते, नैवं ब्रह्मण उपादानकारणस्य सतोऽन्योऽधिष्ठातापेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेरेकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात् । अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेवोदितो वेदितव्यः । अधिष्ठातरि ह्युपादानादन्यस्मिन्नभ्युपगम्यमाने पुनरप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्यासंभवात् प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोध एव स्यात् । तस्मादधिष्ठात्रन्तराभावादात्मनः कर्तृत्वमुपादानान्तराभावाच्च प्रकृतित्वम् ॥ २३ ॥

कुतश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे ?—

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

अभिध्योपदेश आत्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति, 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति च । तत्राभिध्यानपूर्विकायाः स्वातन्त्र्यप्रवृत्तेः कर्तेति गम्यते । बहु स्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वाद् बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

प्रकृतित्वस्यायमभ्युच्चयः । इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं साक्षाद् ब्रह्मैव कारणमुपादायोभौ प्रभवप्रलयावाम्नायेते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छा० १।९।१) इति । यद्धि यस्मात्प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते, तत्तस्योपादानं प्रसिद्धम् । यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी । 'साक्षात्' इति चोपादानान्तरानुपादानं दर्शयत्याकाशादेवेति । प्रत्यस्तमयश्च नोपादानादन्यत्र

भामती

प्रकृतिरिति । ततोऽपि प्रकृतित्वमवगच्छामः । दुन्दुभिग्रहणं दुन्दुभ्याघातग्रहणं च तद्गतशब्दत्वसामान्योपलक्षणार्थम् ॥ २३ ॥

अनागतेच्छासङ्कल्पोऽभिध्या । एतया खलु स्वातन्त्र्यलक्षणेन कर्तृत्वेन निमित्तत्वं दर्शितम् । बहु स्यामिति च स्वविषयतयोपादानत्वमुक्तम् ॥ २४ ॥

आकाशादेव ब्रह्मण एवेत्यर्थः । साक्षादिति चेति सूत्रावयवमनूद्य तस्यार्थं व्याचष्टे ® आकाशा-

---

भामती—व्याख्या

के उपादानकारण (प्रकृति) की अपादानसंज्ञा की गई और "अपादाने पञ्चमी" (पा. सू. २।३।२८) इस सूत्र से उस पञ्चमी का विधान हुआ, अतः प्रकृति के अर्थ में 'यत्' पद पर्यवसित होता है, कारणमात्र में नहीं। अतः व्याकरण के अनुसार भी ब्रह्म जगत् की प्रकृति (उपादानकारण) ही अधिगत होता है। भाष्यकार ने जो दुन्दुभि-श्रुति का उपन्यास किया है, वहाँ दुन्दुभि या दुन्दुभि के आघात का ग्रहण होने से सभी शब्दों का ग्रहण बताया गया है. किन्तु शब्द का उपादानकरण न तो दुन्दुभि है और न दुन्दुभि का आघात, अतः दुन्दुभि' और 'दुन्दुभ्याघात' पद शब्द-सामान्य का उपलक्षक माना जाता है ॥ २३ ॥

"अभिध्योपदेशाच्च"—इस सूत्र में 'अभिध्या' शब्द का अर्थ है—भावी वस्तु की इच्छा। इस इच्छा के द्वारा निमित्तकारणता प्रदर्शित की गई है और 'बहु स्याम्' - यहाँ ब्रह्म में स्वोपादनक बहुकार्य-सर्जन के द्वारा उपादानकारणता सूचित की गई है ॥ २४ ॥

"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव" (छां. १।९।१) इस श्रुति में आकाशादेव का अर्थ 'ब्रह्मण एव' है। "साक्षाच्चोभयाम्नानात्"—इस सूत्र के अवयवभूत 'साक्षात्' पद

कार्यस्य दृष्टः ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मप्रक्रियायाम् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत'
(तै० २।७) इत्यात्मनः कर्मत्वं च दर्शयति । आत्मानमिति कर्मत्वं, स्वयमकुरुतेति
कर्तृत्वम् । कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं
सम्पादयितुम् ? परिणामादिति ब्रूमः । पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारा-
त्मना परिणमयामासात्मानमिति । विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूप-
लब्धः । स्वयमिति च विशेषणान्निमित्तान्तरानपेक्षत्वमपि प्रतीयते । परिणामादिति
वा पृथक्सूत्रम् । तस्यैषोऽर्थः– इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मण एव विकारात्मना

भामती

देव ॐ इति श्रुतिर्ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमवधारयन्ती उपादानान्तराभावं साक्षादेव दर्शयतीति साक्षादिति
सूत्रावयवेन दर्शितमिति योजना ।। २५ ॥

प्रकृतिग्रहणमुपलक्षणं निमित्तमित्यपि द्रष्टव्य, कर्मत्वेनोपादानत्वात्कर्तृत्वेन च तत्प्रति निमित्त-
त्वात् । ॐ कथं पुनः इति ॐ । सिद्धसाध्ययोरेकत्रासमवायो विरोधादिति । ॐ परिणामादिति ब्रूमः
इति ॐ । पूर्वसिद्धस्याप्यनिर्वचनीयविकारात्मना परिणामोऽनिर्वचनीयत्वाद्भेदेनाभिन्न इवेति सिद्धस्यापि
साध्यत्वमित्यर्थः । एकवाक्यत्वेन व्याख्याय परिणामादित्यवच्छिद्य व्याचष्टे ॐपरिणामादिति वा इति ॐ ।

भामती–व्याख्या

का अनुवाद कर उसका अर्थ किया जाता है—"आकाशादेव" । 'आकाशादेव समुत्पद्यन्ते'—
यह श्रुति ब्रह्म में जगत् की उपादानकारणता का अवधारण करती हुई अन्ययोग-व्यवच्छेदक
एवकार के द्वारा आकाश (ब्रह्म) से भिन्न पदार्थ की उपादानता का जो निषेध करती है,
वही निषेध सूत्रकार ने 'साक्षात्' पद से सूचित किया है। 'श्रुतिगतैवकारसूचितमुपादानान्त-
राभावं साक्षादिति सूत्रावयवेन सूचयति सूत्रकारः'—ऐसी योजना कर लेनी चाहिए ॥ २५ ॥

भाष्यकार ने जो कहा है—"इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म" । यहाँ पर 'प्रकृति' पद निमित्तकारण
का भी उपलक्षक है, क्योंकि आगे चलकर भाष्यकार कहते हैं—"तदात्मानं स्वयमकुरुत
"इत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति" यहाँ 'कर्मत्व' हेतु उपादानता और 'कर्तृत्व' हेतु
निमित्तकारणता का साधक है, अतः प्रतिज्ञा-वाक्य में भी दोनों कारणताओं का निर्देश होना
चाहिये, अतः 'प्रकृति' पद को अजहत्स्वार्थ लक्षणा के द्वारा उभयविध कारणता का बोधक
मानना आवश्यक है। "कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वम्"
इस शङ्का-भाष्य का आशय यह है कि श्रुति ने जो कहा है कि परमात्मा ने अपने आपका
सर्जन किया, वहाँ स्वकर्तृक और स्वकर्मक सर्जन क्रिया प्रतीत होती है, किन्तु किसी क्रिया
के कर्तृत्व और कर्मत्व—दोनों एक पदार्थ में नहीं रह सकते, क्योंकि 'कर्तृत्व' धर्म सिद्ध और
'कर्मत्व' साध्य होता है, अतः दोनों धर्मों का परस्पर विरोध है। "परिणामादिति ब्रूमः"—
इस समाधान-भाष्य का तात्पर्य यह है कि [श्रुति ने स्वयं विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश
बताया है—'सच्च त्यच्चाभवत्' (तै० उ० २।६)। स्वप्न में स्वशिरश्छेदनादि के समान
विरुद्धरूप से प्रतीयमान आरोपित धर्मों का कोई विरोध नहीं होता] एक ही ब्रह्म सद्रूपेण
सिद्ध (कर्ता) है और अनिर्वचनीय परिणामवत्त्वेन साध्य (कर्म) होता है। जैसे अरजत में
रजत का आरोप होता है, वैसे ही अभिन्न में भेद का आरोप।

'आत्मकृतेः' और 'परिणामात्'—इन दोनों पदों की एकवाक्यता-पक्षीयव्याख्या
करके 'परिणामात्'—इस पद को पृथक् करके उसकी व्याख्या की जाती है—"परिणामादिति

परिणामः सामानाधिकरण्येनाम्नायते 'सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च' (तै० २।६) इत्यादिनेति ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्म योनिरित्यपि पठ्यते वेदान्तेषु 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' (मुण्ड० ३।१।३) इति, 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः (मुण्ड० १।१।६) इति च। योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके- पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्' इति। स्त्रीयोनेरप्यस्त्येवावयवद्वारेण गर्भं प्रत्युपादानकारणत्वम्। क्वचित्स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः—'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि' (ऋ० सं० १।१०४।१) इति। वाक्यशेषात्त्वत्र प्रकृतिवचनता परिगृह्यते 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (मु० १।१।७) इत्येवंजातीयकात्। एवं प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम्। यत्पुनरिदमुक्तमीक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु लोके दृष्टं नोपादानेष्वित्यादि, तत्प्रत्युच्यते—न लोकवदिह भवितव्यम्। न ह्ययमनुमानगम्योऽर्थः। शब्दगम्यत्वात्त्वस्यार्थस्य यथाशब्दमिह भवितव्यम्। शब्दश्चेक्षितुरीश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयतीत्यवोचाम। पुनश्चैतत्सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः ॥ २७ ॥

भामती

सच्च त्यच्चेति द्वे ब्रह्मणो रूपे। सच्च सामान्यविशेषेणापरोक्षतया निर्वाच्यं पृथिव्यप्तेजोलक्षणम्। त्यच्च परोक्षमत एवानिर्वाच्यमिदन्तया वाय्वाकाशलक्षणं, कथं च तद्ब्रह्मणो रूपं, यदि तस्य ब्रह्मोपादानं, तस्मात्परिणामाद् ब्रह्म भूतानां प्रकृतिरिति ॥ २६ ॥

पूर्वपक्षिणोऽनुमानमनुभाष्यागमविरोधेन दूषयति ⊛ यत्पुनः इति ⊛। एतदुक्तं भवति। ईश्वरो जगतो निमित्तकारणमेवेक्षापूर्वकजगत्कर्तृत्वात् कुम्भकर्तृकुलालवत्। अत्रेश्वरस्यासिद्धेराश्रयासिद्धो हेतुः पक्षश्चाप्रसिद्धविशेष्यः। यथाहुर्नानुपलब्धे न्यायः प्रवर्तत इति। आगमात्तत्सिद्धिरिति चेत्, हन्त तर्हि यादृशमीश्वरमागमो गमयति तादृशोऽभ्युपगन्तव्यः। स च निमित्तकारणं चोपादानकारणं चेश्वरमवगम-

---

भामती-व्याख्या

वा पृथक् सूत्रम्"। श्रुतिप्रतिपादित 'सत्' और 'त्यत्' दोनों ब्रह्म के रूप हैं। पृथिवीत्वादि विशेष जातियों के द्वारा अपरोक्षतया निरूपित पृथिवी, जल और तेज को सच्च कहा गया है और 'त्यत्' पद से परोक्ष, अत एव अनिर्वचनीय वायु और आकाश का ग्रहण किया गया है। 'सत्' और 'त्यत्' दोनों ब्रह्म के रूप क्योंकर कहे जा सकते हैं, यदि ब्रह्म 'सत्' और 'त्यत्' दोनों का उपादानकारण न हो। फलतः भूतरूपेण परिणत (विवर्तित) होने के कारण ब्रह्म भूत-वर्ग की प्रकृति (उपादानकारण) होता है ॥ २६ ॥

पूर्वपक्षोक्त निमित्तकारणत्वानुमान का अनुवाद करके निराकरण किया जाता है—"यत्पुनरिदमुक्तम्"। सारांश यह है कि—"ईश्वरो जगतो निमित्तकारणमेव, ईक्षापूर्वकजगत्कर्तृत्वात्, कुम्भकर्तृकुलालवत्"—इस अनुमान में ईश्वर की असिद्धि होने के कारण आश्रयासिद्धिरूप हेत्वाभास और अप्रसिद्धविशेष्यासिद्धिरूप पक्षाभास दोष है, क्योंकि जो ईश्वर हेतु का आश्रय और साध्य का विशेष्य है, वह सिद्ध ही नहीं। जैसा कि न्याय-भाष्यकार ने कहा है—"नानुपलब्धे न्यायः प्रवर्तते" (न्या. भा. पृ. ४)। "स ईक्षांचक्रे" इत्यादि आगम प्रमाण के द्वारा ईश्वर की सिद्धि क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि आगम को ईश्वर का साधक माना जाता है, तब आगम जैसे ईश्वर का गमक है, वैसा ईश्वर स्वीकार करना होगा। आगम तो स्पष्टरूप से ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण और उपादानकारण

(८ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् । सू २८)

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५) इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन्प्रतिभान्तीति । स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो

भामती

तीति । विशेष्याश्रयग्राह्यागमविरोधान्नानुमानमुदेतुमर्हतीति, इति कुतस्तेन निमित्तत्वावधारणेत्यर्थः । इयं चोपादानपरिणामादिभाषा न विकाराभिप्रायेणापि तु यथा सर्पस्योपादानं रज्जुरेवं ब्रह्म जगदुपादानं द्रष्टव्यम् । न खलु नित्यस्य निष्कलस्य ब्रह्मणः सर्वात्मनैकदेशेन वा परिणामः सम्भवति नित्यत्वादनेकदेशत्वादित्युक्तम् । न च मृदः शरावादयो भिद्यन्ते न चाभिन्ना न वा भिन्नाभिन्नाः किन्त्वनिर्वचनीया एव । यथाह श्रुतिः "मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति । तस्मादद्वैतोपक्रमादुपसंहाराच्च सर्वं एव वेदान्ता ऐकान्तिकाद्वैतपराः सन्तः साक्षादेव क्वचिदद्वैतमाहुः, क्वचिद् द्वैतनिषेधेन, क्वचिद् ब्रह्मोपादानत्वेन जगतः । एतावतापि तावद्भेदो निषिद्धो भवति, न तूपादानत्वाभिधानमात्रेण विकारग्रह आस्थेयः । नहि वाक्यैकदेशस्यार्थोऽस्तीति ॥ २७ ॥

स्यादेतत्—मा भूत्प्रधानं जगदुपादानं तथापि न ब्रह्मोपादानत्वं सिध्यति, परमाण्वादीनामपि तदुपादानानामुपप्लवमानत्वात्तेषामपि हि किञ्चित् किञ्चिदुपोद्बलकमस्ति वैदिकं लिङ्गमित्याशङ्कामपनेतमाह सूत्रकारः—एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः निगदव्याख्यातेन भाष्येण व्याख्यातं सूत्रम् ।

भामती-व्याख्या

कहता है । साध्य के विशेष्य और हेतु के आश्रयभूत ईश्वर के ग्राहक आगम से विरुद्ध केवल निमित्तकारणता का अनुमान कभी नहीं पनप सकता, अतः उस अनुमान के द्वारा निमित्तकारणता का अवधारण क्योंकर किया जा सकता है ? ईश्वर के लिए 'उपादान' और जगत् के लिए जो 'परिणाम' की भाषा का प्रयोग किया गया है, वह विकार-विकारिभाव को दृष्टि में रख कर नहीं, अपितु जैसे आरोपित सर्प की उपादानकारण रज्जु कही जाती है, वैसे ही ब्रह्म को जगत् का उपादान कहा गया है, क्योंकि कूटस्थ नित्य और निष्कल ब्रह्म का न सर्वात्मना और न एकदेशेन परिणाम बन सकता है—यह विगत पृ० १३७ पर कहा जा चुका है । मृत्तिकादि से घट-शरावादि कार्य न तो भिन्न हैं, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न, किन्तु अनिर्वचनीय हैं, जैसा कि श्रुति कहती है—"मृत्तिकेत्येव सत्यम्" । फलतः कथित श्रुति-सन्दर्भ में अद्वैत-तत्त्व का उपक्रम और उपसंहार सिद्ध कर रहा है कि सभी वेदान्त-वाक्य ऐकान्तिकरूप से अद्वैतपरक होते हुए कहीं साक्षात् अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं, कहीं द्वैत का निषेध और कहीं ब्रह्मोपादानत्वेन जगत् का अभिधान करके अद्वैतावबोधन करते हैं । इससे भी भेद का निषेध हो ही जाता है, उपादानत्व का प्रतिपादनमात्र कर देने से विकार-ग्रह स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि अधूरे वाक्य का अर्थ पर्यवसित अर्थ नहीं माना जाता ॥ २७ ॥

शङ्का—यदि सांख्याभिमत प्रधान तत्त्व जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता तो न सही, फिर भी ब्रह्म में जगत् की उपादानता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि तार्किकादि-सम्मत परमाण्वादि पदार्थ भी जगत् के उपादानकारण माने जाते हैं । उनके भी साधक वैदिक वाक्य इक्के-दुक्के उपलब्ध हो ही जाते हैं ।

समाधान—उक्त शङ्का का अपनयन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—"एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याता" । इस सूत्र का भाष्य अत्यन्त सुगम है ।

वेदान्तवादस्य, देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः, तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो नाण्वादिकारणवादप्रतिषेधे । तेऽपि तु ब्रह्मकारणवादपक्षस्य प्रतिपक्षत्वात्प्रतिषेद्धव्याः । तेषामप्युपोद्बलकं वैदिकं किंचिल्लिङ्गमापातेन मन्दमतीन्प्रतिभायादिति । अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति—एतेन प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेऽण्वादिकारणवादा अपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता वेदितव्याः । तेषामपि प्रधानवदशब्दत्वाच्छब्दविरोधित्वाच्चेति । व्याख्याता व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायेऽव्यक्तादिसंदिग्धपदमात्रसमन्वयाख्यश्चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये समन्वयाख्यः प्रथमोऽध्यायः ॥

भामती

प्रतिज्ञालक्षणं लक्ष्यमाणे पदसमन्वयः ।
वैदिकः स च तत्रैव नान्यत्रेत्यत्र साधितम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्वाचस्पतिमिश्रविरचिते श्रीमच्छारीरकभाष्यविभागे भामत्यां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

सम्पूर्णश्च प्रथमोऽध्यायः ॥

भामती-व्याख्या

प्रतिज्ञालक्षणं लक्ष्यमाणे पदसमन्वयः ।
वैदिकः स च तत्रैव नान्यत्रेत्यत्र साधितम् ॥

इस अध्याय के प्रथम सूत्र में प्रतिज्ञा की गई—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, द्वितीय सूत्र में लक्षण किया गया—"जन्माद्यस्य यतः"। लक्ष्यमाण ब्रह्म में वेदान्त-वाक्यों का समन्वय चतुर्थ सूत्र में कहा—"तत्तु समन्वयात्"। वह (वेदान्त-वाक्य-समन्वय) वहीं (प्रथम, द्वितीय और तृतीय—इन तीनों पादों में ही) वर्णित है, अन्यत्र (चतुर्थ पाद में) नहीं। इस प्रकार इस प्रथम अध्याय में समन्वयार्थ का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है ॥ २८ ॥

रामेऽन्वेति श्रुतिः सर्वा लीलेव च परापरा ।
किमित्यन्वयमीप्सन्ति वेदान्तस्यैव केवलम् ॥ १ ॥
वेदान्ताधिकृते क्षेत्रे कथमन्यद् विचार्यताम् ।
साक्षादन्वयमादाय वेदान्तस्यैव पुरः स्थितिः ॥ २ ॥
स्वरूपाद् यत्परः सर्वो वेदान्तवचसां चयः ।
प्रकृत्या चारु तद् ब्रह्म दिष्टचा रूपं ममैव तत् ॥ ३ ॥
वाक्यादेव गुरोर्यस्य दृष्टिरेषा समुद्गता ।
वन्दे विदितवेद्यं तं करुणावरुणालयम् ॥ ४ ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिश्रीऋषिरामशिष्यस्वामियोगीन्द्रानन्दकृतायां भामतीव्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

प्रथमेऽध्याये

अधिकरणानां सूत्राणां च संख्या

पादसं०	१	२	३	४	योगः
अधिकरणसं०	११	७	१३	८	३९
सूत्रसं०	३१	३२	४३	२८	१३४
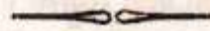
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

द्वितीयोऽध्यायः ।

प्रथमः पादः

[सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः वेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारः]

(१ स्मृत्यधिकरणम् । सू० १—२)

प्रथमेऽध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणम्, मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम्, उत्पन्नस्य जगतो नियन्तृत्वेन स्थितिकारणं, मायावीव मायायाः। प्रसारितस्य च जगतः पुनः स्वात्मन्येवोपसंहारकारणं, अवनिरिव चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य। स एव च सर्वेषां न आत्मेत्येतद्वेदान्तवाक्यसमन्वयप्रतिपादनेन प्रतिपादितम्। प्रधानादिकारणवादाश्चाशब्दत्वेन निराकृताः। इदानीं स्वपक्षे स्मृतिन्यायविरोधपरिहारः, प्रधानादिवादानां च न्यायाभासोपबृंहितत्वं, प्रतिवेदान्तं च सृष्ट्यादिप्रक्रियाया अविगीतत्वमित्यस्यार्थजातस्य प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते। तत्र प्रथमं तावत्स्मृतिविरोधमुपन्यस्य परिहरति —

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

यदुक्तं ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमिति, तदयुक्तम्, कुतः ? स्मृत्यनवकाशदोष-

---

भामती

वृत्तवर्तिष्यमाणयोः समन्वयविरोधपरिहारलक्षणयोः सङ्गतिप्रदर्शनाय च सुखग्रहणाय चैतयोः संक्षेपतस्तात्पर्यार्थमाह ॐ प्रथमेऽध्याये इति ॐ। अनपेक्षवेदान्तवाक्यस्वरससिद्धसमन्वयलक्षणस्य विरोधतत्परिहाराभ्यामाक्षेपसमाधानकरणादनेन लक्षणेनास्ति विषयविषयिभावः सम्बन्धः। पूर्वलक्षणार्थो हि विषयस्तद्गोचरत्वादाक्षेपसमाधानयोरिव च विषयीति। तदेवमध्यायमवतार्य तदवयवमधिकरणमवतारयति। ॐ तत्र प्रथमं तावद् इति ॐ। तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते मोक्षसाधनमनेनेति तन्त्रं, तदेवाख्या यस्याः सा

भामती—व्याख्या

रामो विजयतां राजा वीरः शस्त्रभृतां वरः।
ओरोपितोऽद्य संग्रामो दारुणो दैतिभिः सह ॥

सङ्गति—विगत समन्वयाध्याय और इस विरोधपरिहाराध्याय की सङ्गति दिखाने एवं सुखपूर्वक अधिगति कराने के लिए दोनों अध्यायों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है—"प्रथमेऽध्याये"। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निरपेक्ष वेदान्त का प्रामाण्य सुस्थिर है। वेदान्त-विचारात्मक इस दर्शन के प्रथम अध्याय का इस द्वितीय अध्याय के साथ विषय-विषयिभाव सम्बन्ध है, क्योंकि जो विरोध या आक्षेप और उसका परिहार या समाधान इस अध्याय में वर्णित है, वह पूर्वाध्याय के समन्वय को विषय करता है, जैसे कि इस प्रथम अधिकरण में पूर्वपक्षी का आक्षेप है—सृष्टिविषयक वेदान्त-वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय उचित नहीं और सिद्धान्ती ने उसका परिहार करते हुए उक्त समन्वय को उचित ठहराया है। अध्यायों की संगति दिखाकर अध्याय के अवयवभूत अधिकरण का अवतरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—"तत्र प्रथमं तावत् स्मृतिविरोधमुपन्यस्य परिहरति"।

विषय—सृष्टि-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय।

पूर्वपक्ष—पूर्वाध्याय में सर्वज्ञ ब्रह्मगत जगत्कारणत्व की स्थापना न्याय-संगत नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर प्रधानादि-प्रतिपादक सांख्य-स्मृति अत्यन्त निरवकाश होकर निरर्थक

प्रसङ्गात् । स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता शिष्टपरिगृहीता, अन्याश्च तदनुसारिण्यः स्मृतयः, ता एवं सत्यनवकाशाः प्रसज्येरन् । तासु ह्यचेतनं प्रधानं स्वतन्त्रं जगतः कारणमुपनिबध्यते । मन्वादिस्मृतयस्तावच्चोदनालक्षणेनाग्निहोत्रादिना धर्मजातेनापेक्षितमर्थं समर्पयन्त्यः सावकाशा भवन्ति । अस्य वर्णस्यास्मिन्कालेऽनेन विधानेनोपनयनं, ईदृशश्चाचारः, इत्थं वेदाध्ययनं, इत्थं समावर्तनं, इत्थं सहधर्मचारिणीसंयोग इति । तथा पुरुषार्थांश्च वर्णाश्रमधर्मान्नानाविधान्विदधति । नैवं कपिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति । मोक्षसाधनमेव हि सम्यग्दर्शनमधिकृत्य ताः प्रणीताः । यदि तत्राप्यनवकाशाः स्युरानर्थक्यमेवासां प्रसज्येत । तस्मात्तदविरोधेन वेदान्ता व्याख्यातव्याः । कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमित्यवधारितः श्रुत्यर्थः स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेन पुनराक्षिप्यते ? भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्र-

भामती

स्मृतिस्तन्त्राख्या परमर्षिणा कपिलेनादिविदुषा प्रणीता । अन्याश्चासुरिपञ्चशिखादिप्रणीताः स्मृतयस्तदनुसारिण्यः । न खलु अमूषां स्मृतीनां मन्वादिस्मृतिवदन्योऽवकाशः शक्यो वदितुमृते मोक्षसाधनप्रकाशनात् । तदपि चेन्नाभिवध्युरनवकाशाः सत्योऽप्रमाणं प्रसज्येरन् । तस्मात् तदविरोधेन कथञ्चिद्वेदान्ता व्याख्यातव्या. । पूर्वपक्षमाक्षिपति ❀ कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यः इति ❀ । प्रसाधितं खलु धर्ममीमांसायां 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इत्यत्र, यथा श्रुतिविरुद्धानां स्मृतीनां दुर्बलतयाऽनपेक्षणीयत्वं तस्मान्न दुर्बलानुरोधेन बलीयसीनां श्रुतीनां युक्तमुपवर्णनम् , अपि तु स्वतःसिद्धप्रमाणभावाः श्रुतयो दुर्बलाः स्मृतीर्बाधन्त एवेति युक्तम् । पूर्वपक्षी समाधत्ते । ❀ भवेदयम् इति ❀ । प्रसाधितोऽप्ययमर्थः श्रद्धाजडान्

भामती—व्याख्या

और निष्प्रमाण हो जाती है किन्तु उसकी प्रामाणिकता सिद्ध है, क्योंकि "स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता" । 'तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते मोक्षसाधनमनेन'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'तन्त्र' शब्द का अर्थ दर्शन या शास्त्र है । आदिविद्वान् महर्षि कपिल ने 'तन्त्र' नाम से अपने स्वतन्त्र दर्शन का प्रणयन किया । उसके आधार पर उनकी शिष्य-परम्परा में आसुरि, वार्षगण्य और पञ्चशिखादि आचार्यों ने अनेक शास्त्रों की रचना की [सम्भवतः 'षष्टि तन्त्र' नाम के ग्रन्थ को ध्यान में रखकर 'तन्त्र' शब्द को सांख्य-दर्शन की आख्या (संज्ञा) माना गया है] । वे सभी शास्त्र मोक्ष के साधनीभूत प्रधानादि तत्त्वों के प्रतिपादक हैं । यदि उनके प्रतिपादन में भी उनको कोई अवसर नहीं दिया जाता, उनका प्रामाण स्वीकार नहीं किया जाता, तब वे अत्यन्त निरवकाश निरर्थक और अप्रमाण हो जाते हैं । मन्वादि स्मृतियों का कर्म लेकर ब्रह्म तक का विषय विशाल है, अतः उनको यदि एक स्थान पर अवसर नहीं दिया जाता, तब अन्यत्र उनको अवसर मिल जाता है, किन्तु सांख्य-स्मृति का विषय सीमित है ।

इस अधिकरण का जो पूर्व पक्ष है कि 'सांख्य स्मृति के अनुरोध पर वेदान्त-समन्वय का संकोच करके प्रधान (प्रकृति) तत्त्व को जगत् का कारण माना जाय ।' उस पर कोई आक्षेप करता है—"कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणम्" । आशय यह है कि पूर्व मीमांसा में यह सिद्ध कर दिया गया है कि श्रुति-विरुद्ध स्मृति को प्रमाण नहीं माना जाता, चाहे वह निरवकाश हो या सावकाश । विरुद्ध श्रुति के न होने पर ही स्मृति-वाक्य को श्रुतिमूलकत्वानुमानपूर्वक प्रमाण माना जाता है—"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" (जै० सू० १।३।३) । सांख्यादि स्मृतियाँ दुर्बल हैं, उनकी अपेक्षा वेदान्त-वाक्य स्वतःसिद्धप्रामाण्यक होने से प्रबल हैं, अतः श्रुति-विरुद्ध स्मृति के आधार पर समन्वय-संकोच का आक्षेप क्योंकर हो सकता है ?

प्रज्ञानाम्। परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकासु स्मृतिष्ववलम्बेरन्। तद्बलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन्। अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु। कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५।२) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं संभावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन चैतेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति। तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः।

तस्य समाधिः—नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः

भामती

प्रति पुनः प्रसाध्यत इत्यर्थः। आपाततः समाधानमुक्त्वा परमसमाधानमाह पूर्वपक्षी ❀ कपिलप्रभृतीनां चार्षम् इति ❀। अयमस्याभिसन्धिः—ब्रह्म हि शास्त्रस्य कारणमुक्तं 'शास्त्रयोनित्वाद्' इति, तेनैव वेदराशिर्ब्रह्मप्रभवः सत्याजानसिद्धानावरणभूतार्थमात्रगोचरतद्बुद्धिपूर्वको यथा तथा कपिलादीनामपि श्रुतिस्मृतिप्रथिताजानसिद्धभावानां स्मृतयोऽनावरणसर्वविषयतद्बुद्धिप्रभवा इति न श्रुतिभ्योऽमूषामस्ति कश्चिद्विशेषः। न चैताः स्फुटतरं प्रधानादिप्रतिपादनपराः शक्यन्तेऽन्यथयितुम्। तस्मात् तदनुरोधेन कथञ्चिच्छ्रुतय एव नेतव्याः। अपि च तर्कोऽपि कपिलादिस्मृतीरनुमन्यते, तस्मादप्येतदेव प्राप्तम्।

एवं प्राप्त आह ❀ तस्य समाधिः इति ❀। यथा हि श्रुतीनामविगानं ब्रह्मणि गतिसामान्यात्, नैवं स्मृतीनामविगानमस्ति प्रधाने, तासां भूयसीनां ब्रह्मोपादानत्वप्रतिपादनपराणां तत्र तत्र दर्शनात्।

भामती–व्याख्या

इस आक्षेप का समाधान करते हुए महापूर्वपक्षी कह रहा है—"भवेदयमनाक्षेपः"। अर्थात् जो लोग श्रुतियों का स्वतन्त्र प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, उनकी ओर से उक्त पूर्व पक्ष नहीं किया जा रहा है, अपि तु जिन लोगों की ऐसी धारणा है कि श्रुतियों का स्वतन्त्र अर्थ नहीं किया जा सकता, अपि तु किसी-न-किसी स्मृति के परिप्रेक्ष्य एवं स्मृतिकार के निर्देशन में ही श्रुतियों का सटीक अर्थ किया जा सकता है। महर्षि कपिलादि का ज्ञान अप्रतिहत था—ऐसा स्मृतियों और श्रुतियों ने मुक्त कण्ठ से कहा है—"ऋषिप्रसूतं कपिलं यः तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्" (श्वेता ५।२) सारांश यह है कि ब्रह्म ही सभी वेदों का कारण बताया गया है—"शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र. सू. १।१।४)। कर्ता की बुद्धि ही उसके शास्त्र की प्रतिपाद्य वस्तु को जन्म दिया करती है, जैसे ब्रह्म या ईश्वर की बुद्धि स्वभावतः निरावृत सत्य वस्तु को विषय करती है, अतः वेद भी वैसी ही सत्य वस्तु के बोधक माने जाते हैं। वैसे ही कपिलादि महर्षियों का ज्ञान भी श्रुति-स्मृति-द्वारा आजानसिद्ध यथाभूतवस्तुविषयक ही कहा गया है। फलतः कपिलादि-प्रणीत स्मृतियों का वेदों से कोई अन्तर नहीं रह जाता। ये स्मृतियाँ स्फुट रूप से प्रधानादि का अभिधान करती हैं, इनका अन्यथाकरण कभी नहीं हो सकता, अतः इसके अनुरोध पर श्रुतियों का ही अन्यथानयन करना चाहिए। तर्क भी कपिलादि-प्रणीत स्मृतियों का समर्थक है—"कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्" (सां. का. १४)।

सिद्धान्त—उक्त पूर्व पक्ष का निराकरण करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"तस्य समाधिः"। ब्रह्म में समन्वित होने के लिए श्रुतियों में जैसा अविगान (अविरोध) है, वैसा स्मृतियों में प्रधान (प्रकृति) के साथ समन्वित होने के लिए अविगान नहीं, अपितु विरोध है, क्योंकि अधिकतर श्रुति-सन्दर्भों में ब्रह्मगत जगत् की उपादानता साक्षात् प्रतिपादित है,

प्रसज्येरन्। ता उदाहरिष्यामः –'यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्' इति परं ब्रह्म प्रकृत्य 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह। तथान्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे संप्रलीयते' इत्याह। 'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः। स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः॥' इति पुराणे। भगवद्गीतासु च—'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (भ० गी० ७।६) इति। परमात्मानमेव च प्रकृत्यापस्तम्बः पठति—'तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः' (ध० सू० १।८।२३।२) इति। एवमनेकशः स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते। स्मृतिबलेन प्रत्यवतिष्ठमानस्य स्मृतिबलेनैवोत्तरं वक्ष्यामीत्यतोऽयमन्यस्मृत्यनवकाशदोषोपन्यासः। दर्शितं तु श्रुतीनामीश्वरकारणवादं प्रति तात्पर्यम्। विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम्, अनपेक्ष्या इतराः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे – 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १।३।३) इति। न चातीन्द्रियानर्थाञ्श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभत इति शक्यं संभावयितुम्, निमित्ताभावात्। शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वादिति चेत्—न, सिद्धेरपि सापेक्षत्वात्। धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः। स च धर्मश्चोदना-

भामती

तस्माददविगानाच्छ्रौत एवार्थः आस्थेयो न तु स्मार्तो विगानादिति। तत्किमिदानीं परस्परविगानात् सर्वा एव स्मृतयोऽवहेया इत्यत आह ❀ विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनाम् इति ❀। ❀ न चातीन्द्रियानर्थान् इति ❀ अर्वाग्दृगभिप्रायम्। शङ्कते ❀ शक्यं कपिलादीनाम् इति ❀। निराकरोति। ❀ न सिद्धेरपि इति ❀। न तावत्कपिलादय ईश्वरवदाजानसिद्धाः, किन्तु विनिश्चितवेदप्रामाण्यानां तेषां तदनुष्ठानवतां प्राचि भवेऽस्मिन् जन्मनि सिद्धिरत एवाजानसिद्धा उच्यन्ते। यदस्मिन् जन्मनि न तैः सिद्ध्युपायोऽनुष्ठितः प्राग्भवीयवेदार्थानुष्ठानलब्धजन्मत्वात्सिद्धीनां, तथा चावधृतवेदप्रामाण्यानां तद्विरुद्धार्थाभिधानं तदपबाधितमप्रमाणमेव। अप्रमाणेन च न वेदार्थोऽतिशङ्कितुं युक्तः प्रमाणसिद्धत्वात्तस्य। तदेवं वेदविरोधे

भामती-व्याख्या

अतः यही श्रौत अविगान वेदान्त-समन्वय के लिए ग्राह्य है, स्मार्त अविगान नहीं। 'स्मृतियों में क्वाचित्क विगान-दर्शन के आधार पर क्या सभी स्मृतियाँ हेय हैं?' इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है—"विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरित्यागे"। अर्थात् श्रुति के साथ तालमेल रखनेवाली मन्वादि-स्मृतियों का उपादान और श्रुति-विद्रोहिणी कपिलादि-स्मृतियों का बहिष्कार ही उचित है। भाष्यकार ने जो कहा है—"न चातीन्द्रियानर्थान् श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभते", वह हम लोगों (स्थूलदर्शी व्यक्तियों) को ध्यान में रख कर कहा है, क्योंकि विगत देवताधिकरण में देवताओं, ऋषियों और योगियों को अतीन्द्रयार्थदर्शी माना गया है। कपिलादि की स्मृतियों के द्वारा भी अतीन्द्रियार्थावबोधन की शङ्का की जाती है—"शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वात्"। उक्त शङ्का का निराकरण किया जाता है—"न, सिद्धेरपि सापेक्षत्वात्"। आशय यह है कि कपिलादि वैसे आजान-सिद्ध नहीं, जैसा ईश्वर, किन्तु उन्हें वेदों की प्रमाणता का निश्चय होने के कारण उन्होंने अपने पूर्व जन्म में जो वेदाध्ययन और धर्मानुष्ठान किया था, जिससे इस जन्म में उन्हें सिद्धि (अणिमादि) हो जाती है, अत एव वे आजान-सिद्ध कह दिए जाते हैं। उन्होंने इस जन्म में किसी प्रकार का धर्मानुष्ठान नहीं किया, अतः उनकी सिद्धियों को पूर्वजन्म में कृत धर्मानुष्ठान से जनित माना जाता है। धर्मानुष्ठान के बिना कोई सिद्धि नहीं हो सकती।

लक्षणः। ततश्च पूर्वसिद्धायाश्चोदनाया अर्थो न पश्चिमसिद्धपुरुषवचनवशेनातिशङ्कितुं शक्यते। सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात् सिद्धानां प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृतिविप्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुतिव्यपाश्रयादन्यन्निर्णयकारणमस्ति। परतन्त्रप्रज्ञस्यापि नाकस्मात्स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः, कस्यचित्क्वचित्पक्षपाते सति पुरुषमतिवैश्वरूप्येण तत्त्वाव्यवस्थानप्रसङ्गात्। तस्मात्तस्यापि स्मृतिविप्रतिपत्त्युपन्यासेन श्रुत्यनुसारानुसारविषयविवेचनेन च सन्मार्गे प्रज्ञा संग्रहणीया। या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्। कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात् अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्।

भामती

सिद्धवचनमप्रमाणमुक्त्वा सिद्धानामपि परस्परविरोधे तद्वचनादनाश्वास इति पूर्वोक्तं स्मारयति ॐ सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि इति ॐ। श्रद्धाजडान् बोधयति। ॐ परतन्त्रप्रज्ञस्यापि इति ॐ। ननु श्रुतिश्चेत्कपिलादीनामनावरणभूतार्थगोचरज्ञानातिशयं बोधयति, कथं तेषां वचनमप्रमाणं? तदप्रामाण्ये श्रुतेरप्यप्रामाण्यप्रसङ्गादित्यत आह ॐ या तु श्रुतिः इति ॐ। न तावत्सिद्धानां परस्परविरुद्धानि वचांसि प्रमाणं भवितुमर्हन्ति। न च विकल्पो वस्तुनि, सिद्धे तदनुपपत्तेः। अनुष्ठानमनागतोत्पाद्यं विकल्प्यते, न सिद्धम्। तस्य व्यवस्थानात्। तस्मात् श्रुतिसामान्यमात्रेण भ्रमः सांख्यप्रणेता कपिलः श्रौत इति। स्यादेतत्—

भामती—व्याख्या

मान लेते हैं कि कपिल सिद्ध योगी थे तो क्या उनके श्रुति से विरुद्ध अर्थ के अभिधायक शास्त्रों को भी प्रमाण मान लिया जाय? कभी नहीं। ऐसे शास्त्रों का अप्रामाण्य निश्चित है, वैसे अप्रमाणभूत शास्त्रों से वेदार्थ का बाध कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेदों का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है।

वेद-विरुद्ध सिद्ध-वचनों की अप्रमाणता दिखा कर सिद्ध-वचनों का परस्पर-विरोध देख कर भी उनके वचनों पर अविश्वास हो जाता है—ऐसे पूर्व-कथन का स्मरण दिलाया जाता है—"सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात् सिद्धानाम्"। स्मृति और स्मृतिकारों के जड़ (अन्ध) भक्तों को भी पक्षपात-रहित होकर विचार करना चाहिए—"परतन्त्रप्रज्ञस्यापि नाकस्मात् स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः"। श्रुत्यर्थ-निर्णय में यदि स्मृति का माध्यम आवश्यक है, तब केवल कापिल स्मृति का ही अनुसरण क्यों? मन्वादि स्मृतियों का अनुगमन क्यों नहीं किया जाता? "ऋषिं प्रसूतं कपिलम्" यह श्रुति जब कि कपिल का ज्ञान अनावृतसत्यार्थविषयक बता रही है तब कापिल वचन को अप्रमाण क्योंकर कहा जा सकता है? कपिल-स्मृति की अप्रमाणता से उक्त श्रुति में ही अप्रामाण्य प्रसक्त क्यों न होगा? इस शङ्का का समाधान है—"या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती दर्शिता"। अर्थात् वह श्रुति केवल यह कह रही है कि कपिल सिद्ध थे, किन्तु यह नहीं कहती कि कपिल का श्रुति-विरुद्ध वचन भी प्रमाण माना जाय। बहुत-से सिद्धों के परस्पर विरुद्ध वचन भी प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि उन सबको प्रमाण मानने के लिए षोडशि के ग्रहणाग्रहण के समान स्मृति-गम्य विरुद्ध अर्थों को मानना आवश्यक है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि ग्रहणाग्रहणादि अनुष्ठानों में इस प्रकार का विकल्प माना जा सकता है, सिद्ध अर्थ में नहीं—यह कई बार कहा जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि कथित श्वेताश्वतर-श्रुति ने जो 'कपिल' शब्द का प्रयोग किया है, वह महर्षि कपिल का ही वाचक है—ऐसी बात नहीं, अपितु श्रुतिसामान्य है अर्थात् सामान्य शब्द है, इसका अन्य भी अर्थ हो सकता है, जैसे

भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—'यद्वै किंच मनुरवदत्तद्भेषजम्' (तै० सं० २।२।१०।२) इति। मनुना च 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥' (१२।९१) इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्द्यत इति गम्यते। कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते, आत्मभेदाभ्युपगमात्। महाभारतेऽपि च 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' (शान्ति. ३५०।१) इति विचार्य 'बहवः पुरुषा राजन्सांख्ययोगविचारिणाम्' इति परपक्षमुपन्यस्य तद्व्युदासेन—'बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते। तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥' (शान्ति ३५०।३) इत्युपक्रम्य 'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ॥ विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः। एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥' इति सर्वात्मतैव निर्धारिता। श्रुतिश्च सर्वात्मतायां भवति—'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) इत्येवंविधा। अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि, कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारिमनुवचन-

भामती

कपिल एव श्रौतो नान्ये मन्वादयः। ततश्च तेषां स्मृतिः कपिलस्मृतिविरुद्धाऽवहेयेत्यत आह ॐ भवति चान्या मनोरिति ॐ। तस्याश्चागमान्तरसंवादमाह ॐ महाभारतेऽपि च इति ॐ। न केवलं मनोः स्मृतिः स्मृत्यन्तरसंवादिनी श्रुतिसंवादिन्यपीत्याह ॐ श्रुतिश्च इति ॐ। उपसंहरति ॐ अतः इति ॐ। स्यादेतत्—भवतु वेदविरुद्धं कापिलं वचस्तथापि द्वयोरपि पुरुषबुद्धिप्रभवतया को विनिगमनायां हेतुर्यतो

भामती—व्याख्या

सगर-पुत्रों के दाहक वासुदेवाख्य कपिल [वेदापौरुषेयत्वाधिकरण में पूर्वपक्षी ने वेदों में अनित्य पुरुषों के नामोल्लेख की चर्चा कर आक्षेप किया "अनित्यदर्शनात्" (जै. सू. १।१।२८) अर्थात् "बबरः प्रावाहणिरकामयत" (तै. सं. ५।१।१०) इत्यादि श्रुतियों में प्रवाहण के पुत्र बबरादि का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि वेद सादि हैं, अनादि नहीं। इस आक्षेप का समाधान करते हुए सिद्धान्ती ने कहा है –परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (जै. सू. १।१।३१)। अर्थात् 'बबरादि' शब्द सामान्य अर्थ के बोधक हैं, किसी व्यक्ति विशेष के वाचक नहीं, अतः 'बबर' का अर्थ वायु भी हो सकता है, क्योंकि वेग से चलने पर वायु में बबर-ब्बर शब्द का अनुकरण प्रतीत होता है, वैसे ही प्रकृत में यह आवश्यक नहीं कि 'कपिल' शब्द सांख्य-प्रणेता कपिल को ही कहे, वह किसी अन्य अर्थ का भी बोधक हो सकता है]। यदि कहा जाय कि 'कपिल' का नाम श्रुति में आता है, अतः कपिल-स्मृति के विरोध में मन्वादि-स्मृतियाँ हेय क्यों नहीं? इस शङ्का का समाधान है—"भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—'यद्वै किं च मनुरवदत् तद्भेषजम्' (तै. सं. २।२।१०।२)। मनु ने "सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (मनु. १२।९१) इस प्रकार एकात्मत्व-दर्शन का प्रतिपादन करते हुए कापिल मत की निन्दा की है, क्योंकि कपिल ने आत्म-भेद माना है। मनु के साक्ष्य में महाभारत-वचन प्रस्तुत किया जाता है—"महाभारतेऽपि"। अर्थात् महाभारत में भी "बहूनां पुरुषाणां हि ममैका योनिरुच्यते"। "एक एव चरति भूतेषु"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा सर्वात्मता का ही समर्थन किया है। अन्यान्य श्रुतियाँ भी सर्वात्मता का ही निर्णय देती हैं—"श्रुतिश्च"। कपिल-मत के निराकरण का उपसंहार करते हैं—"अतः सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धम्"। केवल वेद से ही नहीं, मनु-वचन से भी सांख्य-दर्शन विरुद्ध ही है। वेद भी पौरुषेय है और सांख्य शास्त्र भी पौरुषेय, तब सांख्य शास्त्र ही

विरुद्धं च, न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति । वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये । पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृस्मृतिव्यवहितं चेति विप्रकर्षः । तस्माद्वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः ॥ १ ॥

भामती

वेदविरोधि कापिलं वचो नादरणीयमित्यत आह ❀ वेदस्य हि निरपेक्षम् इति ❀ । अयमभिसन्धिः—सत्यं शास्त्रयोनिरीश्वरस्तथाप्यस्य न शास्त्रक्रियायामस्ति स्वातन्त्र्यं कपिलादीनामिव, स हि भगवान् यादृशं पूर्वस्मिन् सर्गे चकार शास्त्रं तदनुसारेणास्मिन्नपि सर्गे प्रणीतवान् । एवं पूर्वतरानुसारेण पूर्वस्मिन् , पूर्वतमानुसारेण च पूर्वतर इत्यनादिरयं शास्त्रेश्वरयोः कार्यकारणभावः । तत्रेश्वरस्य न शास्त्रार्थज्ञानपूर्वा शास्त्रक्रिया येनास्य कपिलादिवत् स्वातन्त्र्यं भवेत् । शास्त्रार्थज्ञानं चास्य स्वयमाविर्भवदपि न शास्त्रकारणतामुपैति, द्वयोरप्यपर्यायेणाविर्भावात् । शास्त्रं च स्वतो बोधकतया पुरुषस्वातन्त्र्याभावेन निरस्तसमस्तदोषाशङ्कं सदनपेक्षं साक्षादेव स्वार्थे प्रमाणम् । कपिलादिवचांसि तु स्वतन्त्रकपिलादिप्रणेतृकाणि तदर्थस्मृतिपूर्वकाणि, तदर्थस्मृतयश्च तदर्थानुभवपूर्वाः । तस्मात्तासामर्थप्रत्ययाङ्गप्रामाण्यविनिश्चयाय यावत् स्मृत्यनुभवौ कल्प्येते तावत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावयाऽनपेक्षयैव श्रुत्या स्वार्थो विनिश्चायित इति शीघ्रतरप्रवृत्तया श्रुत्या स्मृत्यर्थो बाध्यत इति युक्तम् ॥ १ ॥

भामती—व्याख्या

अनादरणीय क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर है—"वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यम्" । भाव यह है कि वेदों का कारण ईश्वर है, इस प्रकार वेद सांख्य-शास्त्र के समान पौरुषेय ही है । तथापि ईश्वर वेद-प्रणयन में कपिलादि के समान स्वतन्त्र नहीं । ईश्वर तो इतना ही करता है कि पूर्व कल्प में जैसा वेद प्रचलित था, उसका स्मरण करके वैसा ही इस कल्प में भी उपदेश कर देता है । इसी प्रकार पूर्व-पूर्व कल्प के अनुसार ही उत्तरोत्तर कल्प में ईश्वर वेद की परम्परा अक्षुण्ण रखता है । वेद और ईश्वर दोनों ही अनादि हैं, उनका कार्य कारणभाव भी अनादि ही है । वेदों की रचना इतर दर्शनों के समान शास्त्रार्थज्ञानपूर्वक नहीं होती, अतः सांख्य में कपिलादि के समान ईश्वर का वेद में स्वातन्त्र्य नहीं माना जाता । यद्यपि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, उसको वेदार्थ का ज्ञान भी स्वयं ही होता है, तथापि वेद-प्रणयन-क्रिया में कारण नहीं माना जाता, क्योंकि ईश्वर के द्वारा वेद-प्रणयन श्वास-प्रश्वास के समान विना प्रयत्न के वैसे ही किया जाता है, जैसे उसका ज्ञान अयत्न-साध्य स्वतः आविर्भूत होता है । न तो उसका ज्ञान वेदाध्ययनपूर्वक होता है और न वेद-प्रणयन वेदार्थज्ञानपूर्वक । अपर्यायतः (युगपत्) आविर्भूत होनेवाले पदार्थों में परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं होता । [महर्षि जैमिनि ने कहा है—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (जै. सू, १।१।५) अर्थात् शास्त्रों में अप्रामाण्य तीन प्रकार का माना जाता है—(१) अबोधकत्व, (२) विपरीत या बाधितार्थ-बोधकत्व और (३) सन्दिग्धार्थ-बोधकत्व] । इनमें अबोधकत्वात्मक अप्रामाण्य वेद में इसलिए नहीं कि वह निसर्गतः बोधक है, जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते ब्रवीति वितथं चेति" (शाबर पृ. १४) । विपरीत और सन्दिग्ध अर्थ का ज्ञान उस वचन से होता है, जो भ्रम, प्रमादादि दोषों से युक्त हो—"दुष्टेषु हि ज्ञानं मिथ्या भवति" (शाबर. पृ. १८) । वेद में किसी प्रकार का दोष नहीं, वह स्वतः निर्दुष्ट और अपने अर्थावबोधन में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा वसे ही नहीं करता, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण, किन्तु कपिलादि के द्वारा प्रणीत शास्त्र तो स्वतन्त्रबुद्धिपूर्वक हैं, उनकी विषय वस्तु का पहले उन्होंने स्मरण किया, स्मरण तभी होगा, जब कि उसका अनुभव हो । इस

कुतश्च स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः ?—

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके वोपलभ्यन्ते । भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम् । अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते । यदपि क्वचित्तत्परमिव श्रवणमवभासते तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० सू० १।४।१) इत्यत्र । कार्यस्मृतेरप्रामाण्यात्कारणस्मृतेरप्यप्रामाण्यं युक्तमित्यभिप्रायः । तस्मादपि न स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो दोषः । तर्कावष्टम्भं तु 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र० सू० २।१।४) इत्यारभ्योन्मथिष्यति ॥ २ ॥

(२ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् । सू० ३)

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्य-

भामती

प्रधानस्य तावत् क्वचिद्वेदप्रवेशे वाक्याभासानि दृश्यन्ते, तद्विकाराणां तु महदादीनां तान्यपि न सन्ति । न च भूतेन्द्रियादिवन्महदादयो लोकसिद्धाः । तस्मादत्यन्तिकात् प्रमाणान्तरासंवादात् प्रमाणमूलत्वाच्च स्मृतेर्मूलाभावादभावो वन्ध्याया इव दौहित्रस्मृतेः । न चार्षं ज्ञानमत्र मूलमुपपद्यत इति युक्तम् । तस्मान्न कापिलस्मृतेः प्रधानोपादानत्वं जगत इति सिद्धम् ॥ २ ॥

भामती—व्याख्या

प्रकार सांख्यादि शास्त्रों की प्रमाणता के लिए अपेक्षित प्रतिपाद्यार्थविषयक स्मरण और अनुभव की कल्पना जब तक की जायगी, तब तक स्वतःप्रमाणभूत और निरपेक्ष वेद अपने अबाधित एवं असन्दिग्ध अर्थ का बोध शीघ्र ही करा देता है, जिसके द्वारा सांख्यादि स्मृतियाँ बाधितार्थक हो जाती हैं, वार्तिककार कहते हैं—

न च शीघ्रहृतेऽर्थेऽस्ति चिरादागच्छतो गतिः ।
अश्वैरपहृतं को हि गर्दभैः प्राप्तुमर्हति ॥ (तं. वा. पृ. १७७) ॥१॥

सांख्याभिमत पदार्थों में से प्रधान (प्रकृति) के प्रतिपादक कुछ वाक्याभास वेदों में मिल भी जाते हैं, किन्तु प्रधान तत्त्व के विकारभूत महदादि के बोधक वाक्याभास भी नहीं मिलते, महाभूत और इन्द्रियादि के समान लोक में भी महदादि प्रसिद्ध नहीं । स्मृति वही प्रमाणभूत मानी जाती है, जिसका अन्य प्रमाण से संवाद (समर्थन) हो और जो स्वयं प्रमाणमूलक हो, किन्तु सांख्य स्मृति का न तो कोई ठोस मूल उपलब्ध होता है और न प्रमाणान्तर का संवाद, तब वह क्योंकर प्रमाण होगी ? जैसे कोई वन्ध्या स्त्री कहे कि यह स्मृति हमारे दौहित्र की बनाई हुई है, तो उसका यह कहना नितान्त अप्रमाण और असङ्गत है, क्योंकि उसकी मूलभूत उसकी दुहिता है ही नहीं । वैसे ही सांख्य-परम्परा का यह कहना अत्यन्त निर्मूल है कि हमारे कपिलादि आचार्यों ने स्वयं प्रधानादि का अनुभव करके सांख्य-स्मृति का प्रणयन किया, क्योंकि उनके अनुभवादि का कोई मूल उपलब्ध नहीं होता । आर्ष ज्ञान को भी मूल मानना युक्ति युक्त नहीं, क्योंकि अन्य श्रुति-संवादित आर्ष ज्ञान से विरुद्ध है, फलतः कपिल-स्मृति के आधार पर प्रधानादि में जगदुपादानत्व नहीं माना जा सकता ॥ २ ॥

भामती

नानेन योगशास्त्रस्य हैरण्यगर्भस्य पातञ्जलादेः सर्वथा प्रामाण्यं निराक्रियते, किन्तु जगदुपादानस्वतन्त्रप्रधानतद्विकारमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रगोचरं प्रामाण्यं नास्तीत्युच्यते । न चैतावतैषामप्रामाण्यं भवितुमर्हति । यत्पराणि हि तानि तत्राप्रामाण्येऽप्रामाण्यमश्नुवीरन् । न चैतानि प्रधानादिसद्भावपराणि । किन्तु योगस्वरूपतत्साधनतदवान्तरफलविभूतितत्परमफलकैवल्यव्युत्पादनपराणि । तच्च किञ्चिन्निमित्तीकृत्य व्युत्पाद्यमिति प्रधानं सविकारं निमित्तीकृतं पुराणेष्विव सर्गप्रतिसर्गवंशमन्वन्तरवंशानुचरितं तत्प्रतिपादनपरेषु, न तु तद्विवक्षितम् । अन्यपरादपि चान्यनिमित्तं तत्प्रतीयमानमभ्युपेयेत, यदि न मानान्तरेण विरुध्येत । अस्ति तु वेदान्तश्रुतिभिरस्य विरोध इत्युक्तम् । तस्मात् प्रमाणभूतादपि योगशास्त्रान्न प्रधानादिसिद्धिः । अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताऽऽह स्म भगवान् वार्षगण्यः—

'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत् तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्' ॥ इति ॥

योगं व्युत्पिपादयिषता निमित्तमात्रेणेह गुणा उक्ताः न तु भावतः, तेषामतात्त्विकत्वादित्यर्थः । अलोकसिद्धानामपि प्रधानादीनामनादिपूर्वपक्षन्यायाभासोत्प्रेक्षितानामनुवाद्यत्वमुपपन्नम् । तदनेनाभिसन्धिनाह ● एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि ● प्रधानादिविषयतया । ● प्रत्याख्याता द्रष्टव्या

भामती—व्याख्या

सन्देह—योग-शास्त्र के अनुरोध पर सृष्टि-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय सङ्कुचित किया जाय ? अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—सांख्य-स्मृति के प्रतिपाद्य पदार्थों का बहुत-सा भाग वेद में उपलब्ध नहीं, किन्तु योग-दर्शनद्वारा अभिहित यमादि पदार्थ वेद में उपलब्ध होते हैं, अतः योग-स्मृति के अनुसार प्रधान तत्त्व को ही जगत् का उपादान कारण माना जाय, ब्रह्म को नहीं ।

सिद्धान्त—सांख्य-दर्शन के समान ही योग-दर्शन भी अप्रमाण ही है । यद्यपि इस अधिकरण के द्वारा इस योग-शास्त्र के प्रामाण्य का सर्वथा निराकरण नहीं किया जाता, क्योंकि स्मृतिकारों ने हिरण्यगर्भ से इस शास्त्र का प्रादुर्भाव माना है—"हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" (म. भार. शान्ति ३४९।६५) और महर्षि पतञ्जलि ने इसे सूत्र-बद्ध किया है । मुख्यरूप से इसमें मोक्ष-साधनीभूत विवेक-ज्ञान का विधान उपलब्ध होता है, अतः "यत्परः शब्दः, स शब्दार्थः"—इस न्याय के आधार पर उसी अर्थ में इस शास्त्र का तात्पर्य पर्यवसित होता है । इसके चार पादों में क्रमशः (१) योग का स्वरूप, उसके साधनीभूत यम-नियमादि (२) क्रिया योग, (३) विभूति और (४) सिद्धि एवं कैवल्यादि पदार्थ वर्णित हैं । वर्णनीय विषय वस्तु के लिए कुछ निमित्त चाहिए था, अतः प्रधान और उसके विकारभूत महदादि पदार्थों को वैसे ही निमित्तमात्र बनाया गया है, जैसे कि पुराणों का मुख्य उद्देश्य वैदिक तत्त्व का उपबृंहण है, किन्तु प्रसङ्गतः (१) सर्ग (सृष्टि), (२) प्रतिसर्ग (प्रलय), (३) वंश, (४) मन्वन्तर और (५) वंशानुचरित भी वर्णित हैं । प्रसङ्गतः प्रतिपादित पदार्थों में शास्त्र का तात्पर्य नहीं माना जाता, क्योंकि अन्यार्थपरक वाक्यों से प्रसङ्गतः अन्य पदार्थ भी स्फोरित हो जाते हैं । उन्हें भी तब स्वीकृत कर लिया जाता है, जब कि प्रमाणान्तर से वे विरुद्ध न होते हों, प्रधानादिगत जगत् की उपादानता का वेदान्त श्रुतियों से विरोध स्पष्ट है—यह कहा जा चुका है । अतः अपने मुख्य विषय में प्रमाणभूत योग-शास्त्र से प्रधानादि तत्त्वों की सिद्धि न होने के कारण भगवान् वार्षगण्य ने प्रधानादि को तात्त्विक नहीं माना है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥

अर्थात् वार्षगण्य का मुख्य उद्देश्य योग का व्युत्पादन ही था, केवल निमित्त या प्रासङ्गिकरूप

तिदिशति । तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते । नन्वेवं सति समानन्यायत्वात्पूर्वेणैव तद्गतम्, किमर्थं पुनरतिदिश्यते ? अस्ति ह्यत्राभ्यधिकाशङ्का—सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५) इति । 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे० २।८) इत्यादिना चासनादिकल्पनापुरःसरं बहुप्रपञ्चं योगविधानं श्वेताश्वतरोपनिषदि दृश्यते । लिङ्गानि च वैदिकानि योगविषयाणि सहस्रश उपलभ्यन्ते-'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' (का० २।६।११) इति, 'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्' (का० २।६।१८) इति चैवमादीनि । योगशास्त्रेऽपि 'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः' इति सम्यग्दर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते । अतः संप्रति-

---

भामती

इति ॐ । अधिकरणान्तरारम्भमाक्षिपति ॐनन्वेवं सति समानन्यायत्वाद् इति ॐ । समाधत्ते ॐ अस्त्यत्राभ्यधिकाशङ्का ॐ । मा नाम सांख्यशास्त्रात् प्रधानसत्ता विज्ञायि । योगशास्त्रात्तु प्रधानादिसत्ता विज्ञापयिष्यते । बहुलं हि योगशास्त्राणां वेदेन सह संवादो दृश्यते । उपनिषदुपायस्य च तत्त्वज्ञानस्य योगापेक्षास्ति । न तु जातु योगशास्त्रविहितं यमनियमादिबहिरङ्गमुपायमपहायान्तरङ्गञ्च धारणादिकमन्तरेणौपनिषदात्मतत्त्वसाक्षात्कारं उदेतुमर्हति । तस्मादौपनिषदेन तत्त्वज्ञानेनापेक्षणात् संवादबाहुल्याच्च वेदेनाष्टकादिस्मृतिवद्योगस्मृतिः प्रमाणम् । ततश्च प्रमाणात् प्रधानादिप्रतीतेर्नाशब्दत्वम् । न च तदप्रमाणं

भामती—व्याख्या

में गुणादि की चर्चा कर दी गई है, उनकी वास्तविकता में तात्पर्य नहीं, क्योंकि उन्हें माया के समान अतात्त्विक ही माना है । यद्यपि लोक-वेद में अत्यन्त अप्रसिद्ध प्रधानादि का अनुवाद भी सम्भव नहीं, तथापि अनादि काल से चले आए पूर्वपक्ष और न्यायाभास के आधार पर वादिगणों के द्वारा उत्प्रेक्षित और बहुचर्चित प्रधानादि का अनुवाद करके उन का निराकरण सम्भव हो जाता है । इस आशय को मन में रखकर सूत्रकार ने कहा है "एतेन योगः प्रत्युक्तः" अर्थात् सांख्य-स्मृति के प्रत्याख्यान से ही प्रधानादिविषयकत्वेन योग-स्मृति का भी प्रत्याख्यान हो जाता है ।

यदि सांख्य के निराकरण से ही योग का निराकरण हो जाता है, तब योग-निराकरणार्थ अधिकरणान्तर की रचना क्यों ? ऐसी शङ्का की जा रही है—"नन्वेवं सति समानन्यायत्वात् पूर्वेणैव तद्गतम्" । उक्त शङ्का का समाधान किया जाता है—"अस्ति ह्यत्राभ्यधिकाशङ्का" । अर्थात् सांख्य-शास्त्र के अनुरोध पर प्रधानादि की सत्ता यदि नहीं मानी जा सकती तो न सही, योग-शास्त्र के आग्रह पर प्रधानादि का अस्तित्व मान लेना चाहिए, क्योंकि सांख्यीय पदार्थ वेदों में उपलब्ध नहीं होते, किन्तु योग-शास्त्र का प्रायः बहुत-सा भाग वेद से संवादित (समर्थित) है । उपनिषत् में प्रतिपादित तत्त्व-ज्ञान को योग की पूर्णतया अपेक्षा है, क्योंकि योग-शास्त्र में विहित यम-नियमादि बहिरङ्ग और धारणादि अन्तरङ्ग साधनों के बिना औपनिषद आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कभी हो ही नहीं सकता । इस प्रकार औपनिषद आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार में अपेक्षित होने और वेद से संवादित होने के कारण योग-स्मृति वैसे ही प्रमाणभूत है जैसे अष्टकादि स्मृति [अगहन, पौष, माघ और फाल्गुन की कृष्णपक्षीय चार अष्टमी तिथियों में अनुष्ठेय श्राद्ध को अष्टका श्राद्ध कहते हैं, आश्वलायन गृह्य सूत्र (२।४।१) में इसका विधान किया गया है, वेद में विहित न होने से यह स्मार्त कर्म कहलाता है, अष्टका-विधायक आश्वलायनादि स्मृति-वचनों को प्रमाण इसी लिए माना जाता है कि वह वेद-विरुद्ध नहीं । वैसे ही वेदाविरुद्ध योग-शास्त्र को प्रमाण

पदार्थैकदेशत्वादष्टकादिस्मृतिवद्योगस्मृतिरप्यनपवदनीया भविष्यतीति–इयमभ्यधिकाशङ्काऽतिदेशेन निवर्त्यते, अर्थैकदेशसंप्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्तेः पूर्वोक्ताया

भामती

प्रधानादौ प्रमाणञ्च यमादाविति युक्तम् । तत्राप्रामाण्येऽन्यत्राप्यनाश्वासात् । यथाहुः —

"प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः ।
नाभिद्रवन्ति ते तावत् पिशाचा वा स्वगोचरे ॥" इति ।

सेयं लब्धप्रसरा प्रधानादौ योगाप्रमाणतापिशाची सर्वत्रैव दुर्वारा भवेदित्यस्याः प्रसरं निषेधता प्रधानाद्यभ्युपेयमिति नाशब्दं प्रधानमिति शङ्कार्थः । सा ※ इयमभ्यधिकाशङ्कातिदेशेन निवर्त्यते ※ । निवृत्तिहेतुमाह ※ अर्थैकदेशसम्प्रतिपत्तावपि इति ※ । यदि हि प्रधानादिसत्तापरं योगशास्त्रं भवेत् भवेत् प्रत्यक्षवेदान्तश्रुतिविरोधेनाप्रमाणम् । तथा च तद्विहितेषु यमादिष्वप्यनाश्वासः स्यात् । तस्मान्न प्रधानादिपरं तत् किन्तु तन्निमित्तीकृत्य योगव्युत्पादनपरमित्युक्तम् । न चाविषयेऽप्रामाण्यं विषयेऽपि प्रामाण्यमुपहन्ति । नहि चक्षूरसादावप्रमाणं रूपेऽप्यप्रमाणं भवितुमर्हति । तस्माद्वेदान्तश्रुतिविरोधात् प्रधानादिरस्याविषयो न स्वप्रामाण्यमिति परमार्थः । स्यादेतत्—अध्यात्मविषयाः सन्ति सहस्रं स्मृतयो बौद्धार्हत-

भामती–व्याख्या

मानना चाहिए] । फलतः योग-शास्त्ररूप प्रमाण के द्वारा प्रमाणित प्रधानादि पदार्थों को अशाब्द (अप्रमाण) कहना उचित नहीं । 'योग-शास्त्र प्रधानादि अंश में अप्रमाण और यम-नियमादि अंश में प्रमाण है'— ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि योग-शास्त्र को यदि किसी भी अंश में अप्रमाण माना जाता है, तब पूरे योग-शास्त्र पर से ही विश्वास उठ जायगा, जैसे कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः ।
नाभिद्रवन्ति ते तावत् पिशाचा वा स्वगोचराः ॥
क्वचिद् दत्तेऽवकाशे हि स्वोत्प्रेक्षालब्धधामभिः ।
जीवितुं लभते कस्तैस्तन्मार्गपतितः स्वयम् ॥' (तं. वा. पृ. १७१)

[मर्कट (वानर) और भूत (प्रेत) को जब तक कहीं घुसने का अवसर नहीं मिलता, तभी तक उनके उपद्रव शान्त रहते हैं । जब उनको कहीं पैर रखने का अवसर मिल जाता है, तब पूरा क्षेत्र उनके उपद्रवों से ऐसा आक्रान्त हो जाता है कि उनके मार्ग में आकर कोई व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता । उसी प्रकार] यदि अप्रमाणता को किसी अंश (प्रधानादि) में मान लिया जाता है, तब समग्र अंशी (योग-शास्त्र) अप्रमाण हो जाता है, अतः योग-शास्त्र के प्रधानादि अंश में भी अप्रमाणता की गति रोक कर प्रधानादि की वास्तविक सत्ता मान लेनी चाहिए । ऐसा मान लेने पर प्रधानादि में अशाब्दता का आरोप निराधार हो जाता है ।

सिद्धान्त—उक्त अभ्यधिक आशङ्का अतिदेश के द्वारा दूर की जाती है, क्योंकि "अर्थैकदेशसंप्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्तेः" । यदि योग-शास्त्र का मुख्य तात्पर्य प्रधानादि की सत्ता में होता, तब प्रत्यक्ष वेदान्त श्रुति से बाधित होकर योग-शास्त्र अप्रमाण हो जाता । इतना ही नहीं, उसके द्वारा विहित यम-नियमादि पर भी अविश्वास हो जाता । फलतः योग-शास्त्र को प्रधानादि-परक न मानकर प्रधानादि के निमित्त से यम-नियमादि का प्रतिपादक मानना ही उचित है । योग-शास्त्र प्रधानादि अंश में अप्रमाण होकर यम-नियमादि अंश में भी वैसे ही अप्रमाण नहीं होता, जैसे चक्षु अपने अविषयीभूत रसादि अंश में अप्रमाण होकर रूप में भी अप्रमाण नहीं होता ।

दर्शनात् । सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु सांख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः । सांख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेनोपबृंहितौ । 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे० ६।१३) इति । निराकरणं तु-न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेयसमधिगम्यत इति । श्रुतिर्हि वैदिकादात्मैकत्वविज्ञानादन्यन्निःश्रेयससाधनं वारयति -'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) इति । द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च नात्मैकत्वदर्शिनः । यत्तु दर्शनमुक्तं 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्' इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते प्रत्यासत्तेरित्यवगन्तव्यम् । येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम् । तद्यथा -'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ. ४।३।१६) इत्येवमादिश्रुतिप्रसिद्धमेव पुरुषस्य विशुद्धत्वं निर्गुणपुरुषनिरूपणेन सांख्यैरभ्युपगम्यते । तथा च योगैरपि 'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः' (जाबा० ५)

भामती

कापालिकादीनां, ता अपि कस्मान्न निराक्रियन्त इत्यत आह ❀ सतीष्वपि इति ❀ । तासु खलु बहुलं वेदार्थविसंवादिनीषु शिष्टानादृतासु कैश्चिदेव तु पुरुषापसदैः पशुप्रायैर्म्लेच्छादिभिः परिगृहीतासु वेदमूलत्वाशङ्कैव नास्तीति न निराकृताः, तद्विपरीतास्तु सांख्ययोगस्मृतय इति ताः प्रधानादिपरतया व्युदस्यन्त इत्यर्थः । ❀ न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण इति ❀ । प्रधानादिविषयेणेत्यर्थः । ❀ द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च ❀ ये प्रधानादिपरतया तच्छास्त्रं व्याचक्षत इत्यर्थः । संख्या सम्यग्बुद्धिर्वैदिकी तया वर्तन्त इति सांख्याः । एवं योगो ध्यानम् , उपायोपेययोरभेदविवक्षया, चित्तवृत्तिनिरोधो हि योगः, तस्योपायो

भामती—व्याख्या

अध्यात्मविषयक हजारों अन्य दर्शन हैं, जैसे -बौद्ध, आर्हत (जैन) और कापालिकादि । उनका भी यहाँ निराकरण क्यों नहीं किया जाता ? इस प्रश्न का उत्तर है—"सतीष्वपि अध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु" । अर्थात् बौद्धादि दर्शन वेदार्थ के विसंवादी (विपरीत होने के कारण शिष्ट पुरुषों के द्वारा ही अनादृत एवं समाज के गिरे हुए म्लेच्छप्राय पशु-स्तर के असभ्य पुरुषों के ही श्रद्धा-भाजन हैं । उनमें वेदमूलकत्व की आशङ्का ही नहीं हो सकती, अतः उनके निराकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं किन्तु सांख्य-योग ठीक उनके विपरीत वेदमूलक और शिष्ट-समाज में समादृत और प्रचलित हैं, अतः प्रधानादि-प्रतिपादन अंश में उनका निरास किया जाता है । "न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेयसमधिगम्यते"—इस भाष्य का आशय यह है कि सांख्य-योग का निराकरण इसी लिए किया जाता है कि उनका जो कहना है कि 'वेद-निरपेक्ष केवल प्रधानादिविषयक सांख्य-ज्ञान अथवा योग-मार्ग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है' उनका वह कहना अत्यन्त असङ्गत है, क्योंकि श्रुति ने यह नियम घोषित कर रखा है कि केवल वैदिक आत्मैकत्व-ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है किन्तु "द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च" । सांख्य-दर्शन और योग-दर्शन का सिद्धान्त आत्मैकत्ववाद का विरोधी द्वैतवाद एवं प्रधानादिपरक है । श्रुतियों में जो "सांख्ययोगाभिपन्नम्" (श्वेता. ६।१३) इस प्रकार 'सांख्य' और 'योग' शब्द आए हैं, वहाँ 'सांख्य' शब्द वैदिक सम्यक् आत्मैकत्वज्ञान और 'योग' शब्द ध्यान को कहता है । 'योग' शब्द से जो "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (यो. सू. १।२) इस प्रकार चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है, वह प्रत्ययैकतानतारूप ध्यान का उपाय है, उपाय और उपेय की अभेद-विवक्षा में वैसा कह दिया गया है । केवल चित्त-वृत्ति-निरोध ही ध्यान

इत्येवमादि श्रुतिप्रसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं प्रव्रज्याद्युपदेशेनानुगम्यते। एतेन सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि। तान्यपि तर्कोपपत्तिभ्यां तत्त्वज्ञानायोपकुर्वन्तीति चेदुपकुर्वन्तु नाम। तत्त्वज्ञानं तु वेदान्तवाक्येभ्य एव भवति—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३।९।२६) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ॥ ३ ॥

(३ विलक्षणत्वाधिकरणम्। सू० ४—१२)

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥

ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्याक्षेपः स्मृतिनिमित्तः परिहृतः, तर्कनिमित्त इदानीमाक्षेपः परिह्रियते। कुतः पुनरस्मिन्नवधारित आगमार्थे तर्कनिमित्तस्याक्षेपस्यावकाशः? ननु धर्म इव ब्रह्मण्यप्यनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति। भवेदयमवष्टम्भो यदि प्रमाणान्तरानवगाह्य आगममात्रप्रमेयोऽयमर्थः स्यादनुष्ठेयरूप इव धर्मः, परिनिष्पन्नरूपं तु ब्रह्मावगम्यते। परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणाम-

भामती

ध्यानं प्रत्ययैकतानता। एतच्चोपलक्षणम्। अन्येऽपि यमनियमादयो बाह्या आन्तराश्च धारणादयो योगोपाया द्रष्टव्याः। एतेनाभ्युपगतवेदप्रामाण्यानां कणभक्षाक्षचरणादीनां सर्वाणि तर्कस्मरणानीति योजना। सुगममन्यत् ॥ ३ ॥

— —०— —

अवान्तरसङ्गतिमाह * ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्य इति *। चोदयति * कुतः पुनः इति। समानविषयत्वे हि विरोधो भवेत्। न चेहास्ति समानविषयता, धर्मवद् ब्रह्मणोऽपि मानान्तराविषयतयाऽतर्क्यत्वेनानपेक्षाम्नायैकगोचरत्वादित्यर्थः। समाधत्ते * भवेदयम् इति *।

मानान्तरस्याविषयः सिद्धवस्त्ववगाहिनः।
धर्मोऽस्तु कार्य्यरूपत्वाद् ब्रह्म सिद्धं तु गोचरः ॥

भामती—व्याख्या

का उपाय नहीं, अपितु यम-नियमादि बाह्य और धारणादि आन्तरिक उपाय भी योग (ध्यान) के साधन हैं। भाष्यकार ने जो कहा है—"एतेन सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि"। वहाँ 'एतेनाभ्युपगतवेदप्रामाण्यानां कणभक्षाक्षचरणादीनां सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि'—ऐसी योजना कर लेनी चाहिए। अर्थात् ऐसे सभी दर्शन तत्त्व-ज्ञान के विविध उपाय यदि प्रस्तुत करते हैं, तब कोई क्षति नहीं, मोक्ष-प्रद तत्त्व-ज्ञान केवल वेद-वेदान्त से ही होता है, अन्य शास्त्र से नहीं—"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (तै. ब्रा. ३।१२।९।७) ॥३॥

संगति—"ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्य"। अर्थात् ब्रह्मगत अभिन्ननिमित्तोपादनता पर जो विभिन्न स्मृतियों (दर्शनों) के द्वारा आक्षेप किए जाते थे, उनका परिहार किया गया। अब तर्कनिमित्तक उसी आक्षेप का निराकरण किया जाता है।

शङ्का—ब्रह्म में जगत् की उभय-विध कारणता जब आगम प्रमाण से निर्णीत हो चुकी है, तब अप्रमाणभूत तर्क के द्वारा उस पर आक्षेप क्योंकर सम्भव होगा?

समाधान—धर्म और ब्रह्म में यह महान् अन्तर है कि धर्म केवल आगम प्रमाण का विषय है, प्रमाणान्तर का नहीं, अतः वहाँ तर्क की गति नहीं किन्तु ब्रह्म साध्यात्मक धर्म

स्त्यवकाशो यथा पृथिव्यादिषु। यथा च श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते एवं प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयेत। दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते। विप्रकृष्यते तु श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात्। अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमविद्याया निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयेष्यते। श्रुतिरपि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्कमप्यत्रादर्तव्यं दर्शयति, अतस्तर्कनिमित्तः पुनराक्षेपः क्रियते 'न विलक्षणत्वादस्य' इति॥

भामती

तस्मात्समानविषयत्वादस्त्यत्र तर्कस्यावकाशः। नन्वस्तु विरोधः, तथापि तर्कादरे को हेतुरित्यत आह ॐ यथा च श्रुतीनाम् इति ॐ। सावकाशा बह्व्योऽपि श्रुतयोऽनवकाशैकश्रुतिविरोधे तदनुगुणतया यथा नीयन्ते एवमनवकाशैकतर्कविरोधे तदनुगुणतया बह्व्योपि श्रुतयो गुणकल्पनादिभिर्व्याख्यानमर्हन्तीत्यर्थः। अपि च ब्रह्मसाक्षात्कारो विरोधितयाऽनादिमविद्यां निवर्त्तयन् दृष्टेनैव रूपेण मोक्षसाधनमिष्यते, न ब्रह्मसाक्षात्कारस्य मोक्षसाधनतया प्रधानस्यानुमानं दृष्टसाधर्म्येणादृष्टविषयं विषयतोऽन्तरङ्गं, बहिरङ्गं त्वत्यन्तपरोक्षगोचरं शाब्दं ज्ञानं तेन प्रधानप्रत्यासत्त्याप्यनुमानमेव बलीय इत्याह ॐ दृष्टसाधर्म्येण च इति ॐ। अपि च श्रुत्यापि ब्रह्मणि तर्क आदृत इत्याह ॐ श्रुतिरपि इति ॐ। सोऽयं ब्रह्मणो जगदुपादानत्वाक्षेपः पुनस्तर्केण प्रस्तूयते।

प्रकृत्या सह सारूप्यं विकाराणामवस्थितम्।
जगद् ब्रह्मसरूपञ्च नेति नो तस्य विक्रिया॥

भामती—व्याख्या

से विपरीत सिद्धात्मक है। वेदान्त और तर्क—दोनों समानविषयक (सिद्धार्थविषयक) हैं, अतः वेदान्त के क्षेत्र में तर्क को भी उतरने का अवकाश है। वेदान्त के साथ तर्क का विरोध होने पर भी तर्क को इतना प्रश्रय क्यों दिया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर है—"यथा च श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते"। जैसे अनेक सावकाश श्रुतियाँ अनवकाशभूत एक श्रुति से विरुद्ध होने पर उसके अनुसार ही व्याख्यात और संघटित की जाती हैं, वैसे ही अनवकाशभूत एक तर्क का विरोध होने पर वेदान्त-श्रुतियाँ उस (तर्क) के अनुरूप ही गौणी वृत्ति आदि का सहारा लेकर प्रवृत्त की जा सकती हैं।

दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान अनादि अविद्या को निवृत्त करता हुआ शुक्ति-साक्षात्कार के समान दृष्ट-मार्ग से ही मोक्ष का साधन माना जाता है। अनुमानरूप तर्क भी दृष्ट के अनुसार अदृष्ट की कल्पना है। इस प्रकार प्रधान (प्रकृति) का अनुमान विषयतः प्रत्यक्ष का अन्तरङ्ग (निकट-वर्ती) है किन्तु आगम-जन्य शाब्द ज्ञान अत्यन्तपरोक्षार्थावगाही होने के कारण बहिरङ्ग (दूरवर्ती) है। प्रत्यक्ष प्रधान है, तर्क और श्रुति—दोनों उसके अङ्ग हैं। तर्क के साथ प्रधान की प्रत्यासत्ति (समीपता) तर्क को श्रुति से प्रबल बनाती है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"दृष्टसाधर्म्येण चादृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य सन्निकृष्यते"। इतना ही नहीं, श्रुति ने स्वयं तर्क को आदर दिया है—"श्रुतिरपि—श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्कमप्यत्रादर्त्तव्यं दर्शयति"। मनन एक तर्क-प्रकार ही है।

पूर्वपक्ष—ब्रह्मगत जगदुपादानत्व पर तर्क के द्वारा इस प्रकार आक्षेप किया जाता है—

प्रकृत्या सह सारूप्यं विकाराणामवस्थितम्।
जगद् ब्रह्मसरूपं च नेति नो तस्य विक्रिया॥

यदुक्तं चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिरिति तन्नोपपद्यते, कस्मात्? विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः। इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं जगद् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, ब्रह्म च जगद्विलक्षणं चेतनं शुद्धं च श्रूयते। न च विलक्षणत्वे प्रकृतिविकारभावो दृष्टः। न हि रुचकादयो विकारा मृत्प्रकृतिका भवन्ति, शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतिकाः। मृदैव तु मृदन्विता विकाराः क्रियन्ते, सुवर्णेन च सुवर्णान्विताः। तथेदमपि जगदचेतनं सुखदुःखमोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हतीति, न विलक्षणस्य ब्रह्मणः। ब्रह्मविलक्षणत्वं चास्य जगतोऽशुद्ध्यचेतनत्वदर्शनादवगन्तव्यम्। अशुद्धं हि जगत् सुखदुःखमोहात्मकतया प्रीतिपरितापविषादादिहेतुत्वात्स्वर्गनरकाद्युच्चावचप्रपञ्चत्वाच्च। अचेतनं चेदं जगत् चेतनं प्रति कार्यकारणभावेनोपकरणभावोपगमात्। नहि साम्ये सत्युपकार्योपकारकभावो भवति, नहि प्रदीपौ परस्परस्योपकुरुतः। ननु चेतनमपि कार्यकारणं स्वामिभृत्यन्यायेन भोक्तुरुपकरिष्यति। न, स्वामिभृत्ययोरप्यचेतनांशस्यैव चेतनं

भामती

विशुद्धं चेतनं ब्रह्म जगज्जडमशुद्धिभाक्।
तेन प्रधानसारूप्यात् प्रधानस्यैव विक्रिया॥

तथाहि—एक एव स्त्रीकायः सुखदुःखमोहात्मकतया पत्युश्च सपत्नीनाञ्च चैत्रस्य च स्त्रैणस्य तामविन्दतोऽपर्यायं सुखदुःखविषादानाधत्ते। स्त्रिया च सर्वे भावा व्याख्याताः। तस्मात् सुखदुःखमोहात्मतया च स्वर्गनरकोच्चावचप्रपञ्चतया च जगदशुद्धमचेतनञ्च, ब्रह्म तु चेतनं विशुद्धं च, निरतिशयत्वात्। तस्मात् प्रधानस्याशुद्धस्याचेतनस्य विकारो जगन्न तु ब्रह्मण इति युक्तम्। ये तु चेतनब्रह्मविकारतया जगच्चैतन्यमाहुस्तान् प्रत्याह ॐ अचेतनं चेदं जगद् इति ॐ। व्यभिचारं चोदयति ॐ ननु चेतनमपि इति ॐ। परिहरति ॐ न स्वामिभृत्ययोरपि इति ॐ। ननु मा नाम साक्षाच्चेतन-

---

भामती–व्याख्या

विशुद्धं चेतनं ब्रह्म जगत् जडमशुद्धिभाक्।
तेन प्रधानसारूप्यात् प्रधानस्यैव विक्रिया॥

[प्रकृति (उपादान कारण) के साथ विकारों (उपादेयभूत कार्यों) का नियमतः सारूप्य (साजात्य) होता है, किन्तु आकाशादि प्रपञ्च ब्रह्म के सरूप न होकर विरूप है, क्योंकि ब्रह्म विशुद्ध (निरतिशय) चैतन्यात्मक और जगत् जड़, अविशुद्ध और स्वर्ग-नरकादिरूप में उच्चावच (सातिशय) है, अतः यह ब्रह्म का विकार नहीं हो सकता। हाँ, सांख्याभिमत प्रधान (प्रकृति) का सरूप होने के कारण प्रधान का विकार (उपादेय) हो सकता है, क्योंकि] यह कहा जा चुका है कि जैसे एक ही स्त्री अपने पति के लिए सुखरूप, अपनी सपत्नियों के लिए दुःखरूप और पति से भिन्न चैत्रादि कामुक पुरुषों को सुलभ न होने के कारण उनके लिए मोहरूप होती है। वैसे ही समस्त प्रपञ्च सुख-दुःख-मोहात्मक है और प्रकृति भी वैसी ही है, अतः प्रकृति और प्रपञ्च का सारूप्य एवं उपादानोपादेयभाव निश्चित है।

जो लोग चेतन ब्रह्म का विकार होने के कारण जगत् को चेतन कहते हैं, उनका निराकरण करने के लिए कहा जाता है—"अचेतनं चेदं जगत्"। अर्थात् जगत् को अचेतन मानने पर ही चेतन पुरुष के साथ उसका उपकार्य-उपकारकभाव बन सकता है, दोनों को समान (एक जातीय) मानने पर उपकार्योपकारकभाव नहीं बन पाता। इस नियम के व्यभिचार की शङ्का की जाती है—"ननु चेतनमपि"। राजा और उसके भृत्य सब चेतन हैं,

प्रत्युपकारकत्वात् । यो ह्येकस्य चेतनस्य परिग्रहो बुद्ध्यादिरचेतनभागः, स एवान्यस्य चेतनस्योपकरोति, नतु स्वयमेव चेतनश्चेतनान्तरस्योपकरोत्यपकरोति वा । निरतिशया ह्यकर्तारश्चेतना इति सांख्या मन्यन्ते । तस्मादचेतनं कार्यकारणम् । न च काष्ठलोष्ठादीनां चेतनत्वे किंचित्प्रमाणमस्ति । प्रसिद्धश्चायं चेतनाचेतनप्रविभागो लोके । तस्माद् ब्रह्मविलक्षणत्वान्नेदं जगत्तत्प्रकृतिकम् ।

योऽपि कश्चिदाचक्षीत-श्रुत्वा जगतश्चेतनप्रकृतिकतां, तद्बलेनैव समस्तं जगच्चेतनमवगमयिष्यामि, प्रकृतिरूपस्य विकारेऽन्वयदर्शनात् । अविभावनं तु चैतन्यस्य परिणामविशेषाद्भविष्यति । यथा स्पष्टचैतन्यानामप्यात्मनां स्वापमूर्छाद्यवस्थासु चैतन्यं न विभाव्यते, एवं काष्ठलोष्ठादीनामपि चैतन्यं न विभावयिष्यते । एतस्मादेव च विभावितविभावितत्वकृताद्विशेषाद् रूपादिभावाभावाभ्यां च कार्यकारणानामात्मनां च चेतनत्वाविशेषेऽपि गुणप्रधानभावो न विरोत्स्यते । यथा च पार्थिवत्वाविशेषेऽपि मांससूपौदनादीनां प्रत्यात्मवर्तिनो विशेषात्परोपकारित्वं भवत्येवमिहापि भविष्यति । प्रविभागप्रसिद्धिरप्यत एव न विरोत्स्यत इति । तेनापि कथंचिच्चेतनाचेतनत्वलक्षणं विलक्षणत्वं परिह्रियेत, शुद्ध्यशुद्धित्वलक्षणं तु विलक्षणत्वं नैव परिह्रियते । न चेतरदपि विलक्षणत्वं परिहर्तुं शक्यत इत्याह—तथात्वं च शब्दादिति । अनवगम्यमानमेव हीदं लोके समस्तस्य वस्तुनश्चेतनत्वं चेतनप्रकृति-

भामती

श्चेतनान्तरस्योप कार्षीत्, तत्कार्य्यकरणबुद्धयादिनियोगद्वारेण तूपकरिष्यतीत्यत आह ॐ निरतिशया ह्यकर्त्तारश्चेतनाः इति ॐ । उपजनापायवद्धर्मयोगोऽतिशयः, तदभावो निरतिशयत्वम्, अत एव निर्व्यापारत्वादकर्त्तारस्तस्मात्तेषां बुद्धयादिप्रयोक्तृत्वमपि नास्तीत्यर्थः । चोदकोऽनुशयबीजमुद्घाटयति ॐ योऽपि इति ॐ । अभ्युपेत्यापाततः समाधानमाह ॐ तेनापि कथञ्चिद् इति ॐ । परमसमाधानं तु सूत्रावयवेन वक्तुं तमेवावतारयति ॐ न चेतदपि विलक्षणत्वम् इति ॐ । सूत्रावयवाभिसन्धिमाह ॐ अनवगम्यमान-

भामती-व्याख्या

फिर भी उनमें उपकार्योपकारकभाव होता है। उक्त शङ्का का परिहार किया जाता है—"न, स्वामिभृत्ययोरपि"। भृत्य का जड़ शरीर ही चेतनरूप स्वामी का उपकारक होता है। यद्यपि एक चेतन दूसरे चेतन का साक्षात् उपकार नहीं कर सकता, तथापि शरीर, इन्द्रिय और बुद्धयादि का प्रेरक होकर उपकारक क्यों न होगा ? इस शङ्का का समाधान है—"निरतिशया ह्यकर्तारश्चेतना"। 'अतिशय' पद से आगमापायी धर्मवान् व्यापार (क्रिया) आदि विवक्षित हैं, सांख्य-मत के अनुसार चेतन में किसी प्रकार का प्रेरणादि व्यापार नहीं माना जाता, अतः वह शरीरादि का भी प्रेरक नहीं हो सकता।

शङ्कावादी अपना अभिप्राय प्रकट करता है—"योऽपि कश्चिदाचक्षीत"। अर्थात् जो शङ्कावादी कहता है कि श्रुतियाँ जगत् को चेतनप्रकृतिक कहती है, इतने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि समस्त जगत् चेतन है, क्योंकि प्रकृति के स्वभाव का अन्वय विकार में नियमतः देखा जाता है।

उस शङ्कावादी के उक्त कथन को आपाततः मान करके समाधान किया जाता है—तेनापि कथंचित् चेतनाचेतनत्वलक्षणं विलक्षणत्वं परिह्रियेत"। अर्थात् ऐसे शङ्कावादी के द्वारा वेदान्ति-सूचित बहुत-से वैलक्षण्यों में से केवल चेतनत्व-अचेतनत्वरूप वैलक्षण्य का ही कथञ्चित् परिहार हो सकेगा, शुद्धित्व-अशुद्धित्वादि का नहीं। वस्तुतः इतर (चेतनत्व-अचेतनत्वरूप) वैलक्षण्य का परिहार भी नहीं किया जा सकता, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—

कत्वश्रवणाच्छब्दशरणतया केवलयोत्प्रेक्षेत, तच्च शब्देनैव विरुध्यते। यतः शब्दादपि तथात्वमवगम्यते। तथात्वमिति प्रकृतिविलक्षणत्वं कथयति। शब्द एव 'विज्ञानं च' (तै० २।६) इति कस्यचिद्विभागस्याचेतनतां श्रावयंश्चेतनाद् ब्रह्मणो विलक्षणमचेतनं जगच्छ्रावयति ॥ ४ ॥

ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते—यथा 'मृदब्रवीत्', 'आपोऽब्रुवन्' (श० प० ब्रा० ६।१।३।२।४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६।२।३।४) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः। इन्द्रियविषयाणि 'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः' (बृ० ६।१।७) इति, 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति (बृ० १।३।२) इत्येवमाद्यन्द्रियविषयेति। अत उत्तरं पठति—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

तुशब्द आशङ्कामपनुदति। न खलु 'मृदब्रवीद्' इत्येवंजातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वमाशङ्कनीयम्, यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः। मृदाद्यभिमानिन्यो

भामती

मेव हीदम् इति॥ । शब्दार्थात् खलु चेतनप्रकृतित्वाच्चैतन्यं पृथिव्यादीनामवगम्यमानमुपोद्बलितं मानान्तरेण साक्षाच्छ्रुयमाणमप्यचैतन्यमन्यथयेत्। मानान्तराभावे त्वर्थोऽयं श्रुत्यर्थेनापबाधेयः, न तु तद्बलेन श्रुत्यर्थोऽन्यथयितव्य इत्यर्थः ॥ ४ ॥

सूत्रान्तरमवतारयितुं चोदयति॥ ननु चेतनत्वमपि क्वचिद् इति॥। न पृथिव्यादीनां चैतन्यमार्थमेव, किन्तु भूयसीनां श्रुतीनां साक्षादेवार्थ इत्यर्थः। सूत्रमवतारयति॥ अत उत्तरं पठति॥ अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥

विभजते॥ तुशब्द इति॥। नैताः श्रुतयः साक्षान्मृदादीनां वागादीनाञ्च चैतन्यमाहुः, अपि तु तदधिष्ठात्रीणां देवतानां चिदात्मनां, तेनैतच्छ्रुतिबलेन न मृदादीनां वागादीनाञ्च चैतन्यमाशङ्कनीयमिति।

भामती-व्याख्या

"अस्य तथात्वं च, शब्दात्"। इस सूत्र-खण्ड का आशय प्रकट किया गया है—"अनवगम्यमानमेव हीदं लोके समस्तस्य वस्तुनश्चेतनत्वम्"। अर्थात् पृथिव्यादि जगत् में श्रुतियों के द्वारा चेतनोपादानकत्व प्रतिपादित है, उसी के बल पर अर्थात् जगत् में जो चेतनत्व अधिगत होता है, वह यदि लौकिक अनुभव के द्वारा संवादित या अवगम्यमान होता, तब वह चेतनत्व अवश्य ही प्रपञ्चगत साक्षात् श्रुति-बोधित अचेतनत्व का अन्यथाकरण (बाध) कर देता, किन्तु अनुभवरूप प्रमाणान्तर की सहायता के बिना केवल श्रुतार्थापत्ति से गम्यमान जगद्गत चेतनत्व श्रुति-प्रतिपादित अचेतनत्व से बाधित होता है, अर्थादवगत चेतनत्व के द्वारा श्रुत्यर्थरूप अचेतनत्व का बाध कभी नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

पञ्चम सूत्र के अवतारणार्थ शङ्का की जाती है—"ननु चेतनत्वमपि क्वचित्"। शङ्कावादी का कहना यह है कि पृथिव्यादि में चेतनत्व केवल अर्थापत्ति-गम्य नहीं, अपितु बहुत-सी श्रुतियों के द्वारा साक्षात् प्रतिपादित है—"मृदब्रवीत, आपोऽब्रुवन्" (शत. ब्रा. ६।१।३।२।४)। "तत्तेज ऐक्षत" (छां. ६।२।३,४) इत्यादि। उक्त शङ्का का अपनोदन-सूत्र है—"अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्"। इस सूत्र की व्याख्या की जाती है—"तुशब्द आशङ्कामपनुदति"। आशय यह है कि कथित श्रुतियाँ मृदादि और वागादि इन्द्रियों में साक्षात् चेतनत्व का अभिधान नहीं करतीं, अपि तु उनके अधिष्ठाता देवगणों में चैतन्य ध्वनित करती हैं, जो कि चेतन ही हैं, अतः इन श्रुतियों के बल पर मृदादि और वागादि इन्द्रियों में

वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते, न भूतेन्द्रियमात्रम्। कस्मात्? विशेषानुगतिभ्याम्। विशेषो हि भोक्तॄणां भूतेन्द्रियाणां च चेतनाचेतनप्रविभागलक्षणः प्रागभिहितः। सर्वचेतनतायां चासौ नोपपद्येत। अपि च कौषीतकिनः प्राणसंवादे करणमात्राशङ्काविनिवृत्तयेऽधिष्ठातृचेतनपरिग्रहाय देवताशब्देन विशिषन्ति—'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति 'ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' (कौषी० उ० २।१४) इति च। अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽवगम्यन्ते। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२।४) इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां दर्शयति। प्राणसंवादवाक्यशेषे च 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' (छा० ५।१।७)

भामती

कस्मात् पुनरेतदेवमित्यत आह ❀ विशेषानुगतिभ्याम् ❀। तत्र विशेषं व्याचष्टे ❀ विशेषो हि इति ❀। भोक्तॄणामुपकार्यत्वाद् भूतेन्द्रियाणां चोपकारकत्वात् साम्ये च तदनुपपत्तेः सर्वजनप्रसिद्धेश्च "विज्ञानं चाभवत्" इति श्रुतेश्च विशेषश्चेतनाचेतनलक्षणः प्रागुक्तः स नोपपद्यते। देवताशब्दकृतो वात्र विशेषो विशेषशब्देनोच्यत इत्याह ❀ अपि च कौषीतकिनः प्राणसंवाद इति ❀। अनुगतिं व्याचष्टे ❀ अनुगताश्च इति❀। सर्वत्र भूतेन्द्रियादिष्वनुगता देवता अभिमानिनीरुपदिशन्ति मन्त्रादयः। अपि च 'भूयस्यः श्रुतयोऽग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' इत्याद्या इन्द्रियविशेषगता देवता दर्शयन्ति। देवताश्च क्षेत्रज्ञभेदाश्चेतनाः। तस्मान्नेन्द्रियादीनां चैतन्यं रूपत इति। अपि च प्राणसंवादवाक्यशेषे प्राणानामस्मदादिशरीराणामिव चेत्रज्ञाधिष्ठितानां व्यवहारं दर्शयन् प्राणानां

भामती–व्याख्या

चेतनत्व की शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्यों नहीं करनी चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर है—"विशेषानुगतिभ्याम्"। इन हेतुओं में 'विशेष' की व्याख्या की जाती है—"विशेषो हि भोक्तॄणाम्"। भोक्ता पुरुष उपकार्य और पृथिव्यादि उपकारक हैं—इस प्रकार की विशेषता की उपपत्ति के लिए "विज्ञानं चाविज्ञानं च" (तै० उ० २।६) इस प्रकार जो चेतनाचेतनरूप विशेषभाव प्रतिपादित है, वह दोनों (पुरुष और पृथिव्यादि) के समानरूप से चेतन होने पर उपपन्न नहीं हो सकता। अथवा श्रुति में प्रयुक्त 'देवता' शब्द के द्वारा ध्वनित विशेषता विशेष शब्द का अर्थ है—"अपि च कौषीतकिनः प्राणसंवादे कारणमात्राशङ्का विनिवृत्तयेऽधिष्ठातृ-चेतनपरिग्रहाय देवताशब्देन विशिषन्ति—'एता वै देवता' (कौ० ब्रा० २।१४)।" अर्थात् कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत् में प्राण के साथ इन्द्रिय-संवाद के अवसर पर केवल इन्द्रियों की आशङ्का निवृत्त करने और उनके अधिष्ठातृदेवताओं का ग्रहण करने के लिए 'देवता' शब्द का प्रयोग किया गया कि "एता वै देवता"—इन देवताओं ने विवाद किया, केवल जड़ इन्द्रियों ने नहीं।

'अनुगति' शब्द की व्याख्या है—"अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता"। मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणादि शास्त्र पृथिव्यादि में अनुगत अभिमानी चेतन देवताओं का प्रतिपादन करते हैं, जिसकी चर्चा विगत देवताधिकरण में आ चुकी है। "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्, आदित्यः चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" (ऐत. आ. २।४।२४) इत्यादि बहुत-सी श्रुतियाँ तत्तदिन्द्रिय में अनुगत देवताओं का प्रदर्शन करती हैं। फलतः इन्द्रियों में स्वरूपतः चैतन्य नहीं, अपि तु इन्द्रियानुगत देवताओं में चैतन्य विवक्षित है। दूसरी बात यह भी है कि प्राण-संवाद के वाक्य-शेष में प्राणों को वैसे ही जीव

इति श्रेष्ठत्वनिर्धारणाय प्रजापतिगमनं, तद्वचनाच्चैकैकोत्क्रमणेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रेष्ठ्यप्रतिपत्तिः। 'तस्मै बलिहरणम्' (बृ० ६।१।१३) इति चैवंजातीयकोऽस्मदादिष्विव व्यवहारोऽनुगम्यमानोऽभिमानिव्यपदेशं द्रढयति। 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यपदिश्यत इति द्रष्टव्यम्। तस्माद्विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत्॥ ५॥

विलक्षणत्वाच्च न ब्रह्मप्रकृतिकमित्याक्षिप्ते प्रतिविधत्ते—

दृश्यते तु॥ ६॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृतिकमिति। नायमेकान्तः। दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम्। नन्वचेतनान्येव पुरुषादिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्याणीति, उच्यते,—एवमपि किंचिदचेतनं चेतनस्यायतनभावमुपगच्छति, किंचिन्नेत्यस्त्येव वैलक्षण्यम्। महांश्चायं पारिणामिकः स्वभावविप्रकर्षः, पुरुषादीनां केशनखानां च स्वरूपादिभेदात्। यथा गोमयादीना वृश्चिकादीनां च अत्यन्तसारूप्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत। अथोच्येत—अस्ति कश्चित्पार्थिवत्वादिस्वभावः पुरुषादीनां केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां वृश्चिकादिष्विति। ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते। विलक्षणत्वेन च कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता किमशेषस्य

भामती

क्षेत्रज्ञाधिष्ठानेन चैतन्यं द्रढयतीत्याह ❀ प्राणसंवादवाक्यशेषे च इति ❀। ❀ तत्तेज ऐक्षतेत्यपि इति ❀। यद्यपि प्रथमेऽध्याये भाक्तत्वेन वर्णितं तथापि मुख्यतयापि कथञ्चिन्नेतुं शक्यमिति द्रष्टव्यम्। पूर्वपक्षमुपसंहरति ❀ तस्माद् इति ❀॥ ५॥

सिद्धान्तसूत्रम्—दृश्यते तु॥

प्रकृतिविकारभावे हेतुं सारूप्यं विकल्प्य दूषयति ❀ अत्यन्तसारूप्ये च इति ❀। प्रकृतिविकारभावाभावहेतुं वैलक्षण्यं विकल्प्य दूषयति ❀ विलक्षणत्वेन कारणेन इति ❀। सर्वस्वभावाननुवर्तनं

भामती—व्याख्या

से अधिष्ठित बताया है, जैसे हम लोगों के शरीर क्षेत्रज्ञाधिष्ठित हैं—'प्राणसंवादवाक्यशेषे च"। "तत् तेज ऐक्षत" इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः"। यद्यपि प्रथमाध्यायगत ईक्षत्यधिकरण में तेज आदि के ईक्षण को गौण ईक्षण ही कहा है, तथापि मुख्य ईक्षण का भी समन्वय किया जा सकता है। पूर्व पक्ष का उपसंहार किया जाता है—"तस्माद् विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत्"। 'विलक्षणत्व' हेतु सिद्ध होकर अपने साध्य-साधन में सक्षम है—जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकम्, ब्रह्मविलक्षणत्वात्॥ ५॥

सिद्धान्त—"दृश्यते तु"। पूर्वपक्षी ने कहा था कि ब्रह्म और जगत् का प्रकृति-विकारभाव तभी हो सकता है, जब कि दोनों में सारूप्य (सादृश्य) हो। प्रकृति-विकारभाव के लिए सारूप्य अपेक्षित नहीं—यह दिखाने के लिए सारूप्य का विकल्पपूर्वक खण्डन किया जाता है—"अत्यन्तसारूप्ये च"। अर्थात् प्रकृति-विकारभाव के लिए अत्यन्त सारूप्य अपेक्षित है? अथवा यत्किञ्चित्? तन्तुओं का अत्यन्त सारूप्य पट में नहीं, किन्तु तन्तुओं में ही है, वहाँ प्रकृति-विकारभाव नहीं और यत्किञ्चित् सारूप्य तो ब्रह्म और जगत् का भी है, क्योंकि ब्रह्म भी सत् है और जगत् भी सत्। प्रकृति-विकारभाव के दूषक (निषेधक)

ब्रह्मस्वभावस्यानुवर्तनं विलक्षणत्वमभिप्रेयत ? उत यस्य कस्यचित् ? अथ चैतन्यस्येति वक्तव्यम् । प्रथमे विकल्पे समस्तप्रकृतिविकारोच्छेदप्रसङ्गः । न ह्यसत्यतिशये प्रकृतिविकार इति भवति । द्वितीये चासिद्धत्वम् । दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमान इत्युक्तम् । तृतीये तु दृष्टान्ताभावः । किं हि यच्चैतन्येनानन्वितं तदब्रह्मप्रकृतिकं दृष्टमिति ब्रह्मवादिनं प्रत्युदाह्रियेत ? समस्तस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वाभ्युपगमात् । आगमविरोधस्तु प्रसिद्ध एव, चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यागमतात्पर्यस्य प्रसाधितत्वात् । यत्तूक्तं—परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुरिति, तदपि मनोरथमात्रम् । रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम् । आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो

भामती

प्रकृतिविकारभावाविरोधि । तदनुवर्तने तादात्म्येन प्रकृतिविकारभावाभावात् । मध्यमस्त्वसिद्धः । तृतीयस्तु निदर्शनाभावादसाधारण इत्यर्थः । अथ जगद्योनितयाऽऽगमाद् ब्रह्मणोऽवगमादागमबाधितविषयत्वमनुमानस्य कस्मान्नोद्भाव्यत इत्यत आह ❀ आगमविरोधस्तु इति ❀ । न चास्मिन्नागमैकसमधिगमनीये ब्रह्मणि प्रमाणान्तरस्यावकाशोऽस्ति येन तदुपादायागम आक्षिप्येतेत्याशयवानाह ❀ यत्तूक्तं परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि इति ❀ । यथा हि कार्यत्वाविशेषेऽप्यारोग्यकामः पथ्यमश्नीयात् स्वरकामः सिकतां भक्षयेदित्यादीनां मानान्तरापेक्षता, न तु दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेत्यादीनां, तत्कस्य हेतोः ? अस्य कार्यभेदस्य प्रमाणान्तरागोचरत्वात् । एवं भूतत्वाविशेषेऽपि पृथिव्यादीनां मानान्तरगोचरत्वं, न तु भूतस्यापि ब्रह्मणः, तस्याम्नायैकगोचरस्यातिपतितसमस्तमानान्तरसीमतया स्मृत्यागमसिद्धत्वादित्यर्थः । यदि

भामती—व्याख्या

'वैलक्षण्य' हेतु का विकल्पपूर्वक निरास किया जाता है—'विलक्षणत्वेन च कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता" । जगत् में ब्रह्म-वैलक्षण्य क्या (१) ब्रह्म के पूर्ण स्वभाव का अननुवर्तन है ? या (२) यत्किञ्चित् स्वभाव का अभाव ? अथवा (३) चैतन्य की अननुवृत्ति ? इनमें पूर्ण स्वभाव का अननुवर्तन प्रकृति-विकारभाव का विरोधी नहीं, क्योंकि सर्वथा वैलक्षण्य का अभाव या सर्वस्वभाव का अनुवर्तन होने पर प्रकृति-विकारभाव बन ही नहीं सकता । द्वितीय (मध्यम) विकल्प असिद्ध है, क्योंकि सत्तारूप ब्रह्म का स्वभाव आकाशादि प्रपञ्च में अनुवर्तमान हो है । तृतीय (चैतन्याननुवर्तन) विकल्प में कोई दृष्टान्त नहीं, अतः दृष्टान्त-हीन या सपक्षावृत्ति हेतु असाधारण नाम का हेत्वाभास होता है । जगत् ब्रह्मप्रकृतिकत्व का अनुमान ब्रह्मप्रकृतिकत्व-बोधक आगम प्रमाण से बाधित क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—"आगम विरोधस्तु प्रसिद्ध एव" । कथा में प्रसिद्ध दोष का उद्भावन महत्त्व-पूर्ण नहीं समझा जाता । ब्रह्म भी धर्म के समान ही आगमैक-समधिगम्य है, प्रमाणान्तर का विषय ही नहीं कि तर्क या अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा इस (ब्रह्म) पर आक्षेप हो सकता—"यत्तूक्तं परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयुः" । आशय यह है कि 'सभी कार्य (साध्य) पदार्थ आगमेतर प्रमाणगम्य और सभी सिद्धपदार्थ प्रमाणान्तर के विषय होते हैं'—ऐसा कोई नियम नहीं । आरोग्य और यागदि के समानरूप से कार्य होने पर भी आरोग्य के विधायक "आरोग्यकामः पथ्यमश्नीयात्", "स्वरकामः सिकतां भक्षयेत्"—इत्यादि शास्त्रों को प्रमाणान्तर की अपेक्षा होने पर भी याग-विधायक "दर्शपूर्णसाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों को प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं । इसका क्या कारण ? यागरूप कार्य स्वभावतः वेद से भिन्न प्रमाण का विषय ही नहीं । इसी प्रकार पृथिव्यादि और ब्रह्म समानरूप से सिद्ध पदार्थ हैं, किन्तु पृथिव्यादि ही प्रमाणान्तर के विषय हैं, ब्रह्म नहीं, क्योंकि वह वेदैक-समाधिगम्य,

धर्मवत् । तथा च श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (का० १।२।९) इति । 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' (ऋ० सं० १।३०।६) इति चैते ऋचौ सिद्धानामपीश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः । स्मृतिरपि भवति—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति । 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते,' (गी० २।२५) इति च । 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः । अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः' (गी० १०।२) इति चैवंजातीयका । यदपि श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयतीत्युक्तम् । नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः संभवति । श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते । स्वप्नान्तबुद्धान्तयोरुभयोरितरेतरव्यभिचारादात्मनोऽनन्वागतत्वं, संप्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना संपत्तेर्निष्प्रपञ्चसदात्मत्वं' प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात्कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इत्येवंजातीयकः । 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २।१।११) इति च केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति । योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षेत

भामती

स्मृत्यागमसिद्धं ब्रह्मणस्तर्काविषयत्वं, कथं तर्हि श्रवणातिरिक्तमननविधानमित्यत आह ❀ यदपि श्रवणव्यतिरेकेण इति ❀ । तर्को हि प्रमाणविषयविवेचकतया तदितिकर्त्तव्यताभूतस्तदाश्रयोऽसति प्रमाणेऽनुग्राह्यस्याश्रयाभावात् शुष्कतया नाद्रियते । यस्त्वागमप्रमाणाश्रयस्तद्विषयविवेचकस्तदविरोधी, स मन्तव्य इति विधीयते । ❀ श्रुत्यनुगृहीत इति ❀ । श्रुत्या श्रवणस्य पश्चादितिकर्त्तव्यतात्वेन गृहीतः । ❀ अनुभवाङ्गत्वेन इति ❀ मतो हि भाव्यमानो भावनाया विषयतयाऽनुभूतो भवतीति मननमनुभवाङ्गम् । ❀ आत्मनोऽनन्वागतत्वम् इति ❀ । स्वप्नाद्यवस्थाभिरसंपृक्तत्वमुदासीनत्वमित्यर्थः । अपि च चेतनकारणवादिभिः कारणसालक्षण्येऽपि कार्यस्य कथञ्चिच्चैतन्याविर्भावानाविर्भावाभ्यां विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवदिति जगत्कारणे योजयितुं शक्यम् । अचेतनप्रधानकारणवादिनां तु दुर्योजमेतत् । नह्यचेतनस्य जगत्कारणस्य विज्ञानरूपता संभविनी, चेतनस्य जगत्कारणस्य सुषुप्ताद्यवस्थास्विव सतोऽपि चैतन्यस्यानाविर्भावतया शक्यमेव

भामती–व्याख्या

एवं इतर सभी प्रमाणों की सीमा से परे है । 'नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठो. १।२।९) आगमों के द्वारा ब्रह्म में तर्काविषयत्व प्रतिपादित है । यदि ब्रह्म में तर्काविषयत्व आगम-सिद्ध है, तब श्रवण के पश्चात् मननरूप तर्क का विधान क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर है—"यदपि श्रवणव्यतिरेकेण इत्यादि" । आशय यह है कि तर्क की जो आदरणीयता सूचित की गई है, वह शुष्क तर्क की नहीं । जैसे कुठार काष्ठ-छेदन का करण और उद्यमन-निपातन कुठार का इतिकर्त्तव्य (सहायक व्यापार) मात्र है, वैसे ही प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति में प्रमाण करण एवं तर्क इतिकर्त्तव्यमात्र है । अपने जिस उपकरणीय एवं आश्रयीभूत प्रमाण के विषय का विवेचक है, उस प्रमाण के न होने पर असहाय तर्क को शुष्क तर्क कहा जाता है । इसके विपरीत जो तर्क अपने आगमादि प्रमाणों के अश्रित रह कर उनके विषय का विवेचन करता है, अपने मूलभूत प्रमाण का अविरोधी और सच्चा सहायक है, उस तर्क को पूर्ण समादर दिया गया है । उसी का मनन के रूप में विधान किया गया है—"श्रुत्यनुगृहीत एव तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते" । 'श्रुत्यनुगृहीतः' का अर्थ है—श्रुत्या श्रवणस्य पश्चाद् इतिकर्तव्यतात्वेन गृहीतः । मनन को अनुभव का अङ्ग इसी लिए कहा जाता है कि श्रुत और मत (मनन-युक्त) विषय निदिध्यासित या भाव्यमान होकर अनुभूत (प्रत्यक्ष) हो जाता है । "आत्मनोऽनन्वागतत्वम्" का अर्थ स्वप्नादि अवस्थाओं से असम्पृक्तता या उदासीनत्व है ।

तस्यापि 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतनविभागश्रवणं विभावनाविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम्। परस्यैव त्विदमपि विभागश्रवणं न युज्यते। कथम्? परमकारणस्य ह्यत्र समस्तजगदात्मना समवस्थानं श्राव्यते—'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' इति। तत्र यथा चेतनस्याचेतनभावो नोपपद्यते, विलक्षणत्वाद्, एवमचेतनस्यापि चेतनभावो नोपपद्यते। प्रत्युक्तत्वात्तु विलक्षणत्वस्य यथाश्रुत्यैव चेतनं कारणं ग्रहीतव्यं भवति ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येत, असत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत। अनिष्टं

भामती

कथञ्चिदविज्ञानात्मत्वं योजयितुमित्याह ® योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेन इति ®। परस्यैव त्वचेतनप्रधानकारणवादिनः सांख्यस्य न युज्येत। ® प्रत्युक्तत्वात्तु वैलक्षण्यस्य इति ® वैलक्षण्ये कार्य्यकारणभावो नास्तीत्यभ्युपेत्यैवमुक्तम्। परमार्थतस्तु नास्माभिरेतदभ्युपेयत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

न कारणात्कार्य्यमभिन्नमभेदे कार्य्यत्वानुपपत्तेः। कारणवत् स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् शुद्धयशुद्धयाविविरुद्धधर्मसंसर्गाच्च। अथ चिदात्मनः कारणस्य जगतः कार्य्याद्भेदः, तथा चेदं जगत्कार्य्यं सत्त्वेऽपि चिदात्मनः कारणस्य प्रागुत्पत्तेर्नास्ति, नास्ति चेदसदुत्पद्यत इति सत्कार्य्यवादव्याकोप इत्याह

भामती—व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि जो चेतन तत्त्व को जगत् का कारण कहते है, वे लोग कार्य में कारण का सारूप्य मानकर भी चैतन्य के आविर्भाव और अनाविर्भाव के द्वारा जड़-चेतन का कथञ्चिद् उपपादन कर सकते हैं, किन्तु प्रधानादि अचेतन तत्त्व को जगत् का कारण माननेवाले वादी उसका उपपादन किसी प्रकार भी नहीं कर सकते, क्योंकि जगत् के कारणीभूत अचेतन में श्रुति-कथित विज्ञानरूपता सम्भव नहीं। चेतन को जगत् का कारण मानने पर जगत् में भी चेतनत्व की सत्ता मानी जा सकती है, किन्तु जैसे सुषुप्ति अवस्था में चेतनत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती, वैसे ही जगत् में अनभिव्यक्त चेतनत्व है, अतः श्रुति ने उसे अविज्ञानरूप कह दिया है—"योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनेत्यादि"। 'परस्यैव त्विदमपि विभागश्रवणं न युज्यते" अर्थात् प्रधानकारणवादी सांख्य के मत में "विज्ञानं चाविज्ञानं च"—इस श्रुति की योजना नहीं हो सकती। "प्रत्युक्तत्वात्तु वैलक्षण्यस्य"-- यह जो कहा गया है कि कारण और कार्य के वैरूप्य का वेदान्तियों की ओर से खण्डन कर दिया गया है, वह वस्तु-स्थिति नहीं, अपि तु थोड़ी देर के लिए वैसा मान कर कहा है, परमार्थतः कार्य और कारण का अवैलक्षण्य हमें स्वीकृत नहीं ॥ ६ ॥

ब्रह्मरूप कारण से यह प्रपञ्चरूप कार्य अभिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य ब्रह्म से अभिन्न प्रपञ्च में भी नित्यत्व ही रहेगा, कार्य (जन्यत्व) नहीं रह सकेगा। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य सदैव रहता है, किन्तु अभिन्न कार्य अपने कारण में वैसे ही न रह सकेगा, जैसे कारण में स्वयं वही कारण नहीं रहता। दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म शुद्ध है और प्रपञ्चरूप कार्य अशुद्ध, एक या अभिन्न वस्तु में शुद्धि और अशुद्धिरूप विरुद्ध धर्मों का का संसर्ग सम्भव नहीं, इस लिए भी कार्य को अपने कारण से अभिन्न नहीं मान सकते। यदि चित्स्वरूप कारण का प्रपञ्च से भेद माना जाता है, तब चित्स्वरूप कारण के रहने पर भी जगत् को अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् मानना होगा। असत् कार्य की उत्पत्ति मानने पर सत्कार्यवाद भङ्ग हो जाता है, ऐसी शङ्का की जा रही है—"यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं

चैतत्सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत्, नैष दोषः, प्रतिषेधमात्रत्वात्। प्रतिषेधमात्रं हीदं नास्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति। न ह्ययं प्रतिषेधः प्रागुत्पत्तेः सत्त्वं कार्यस्य प्रतिषेद्धं शक्नोति। कथम्? यथैव हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सत्, एवं प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते। न हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रमेवास्ति, 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६) इत्यादिश्रवणात्। कारणात्मना तु सत्त्वं कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरविशिष्टम्। ननु शब्दादिहीनं ब्रह्म जगतः कारणम्, बाढम्, न तु शब्दादिमत्कार्यं कारणात्मना हीनं प्रागुत्पत्तेरिदानीं वाऽस्ति। तेन न शक्यते वक्तुं प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यमिति। विस्तरेण चैतत्कार्यकारणानन्यत्ववादे वक्ष्यामः ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

अत्राह यदि स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्ध्यादिधर्मकं कार्यं

भामती

❀ यदि चेतनं शुद्धम् इति ❀। परिहरति ❀ नैष दोषः इति ❀। कुतः? ❀ प्रतिषेधमात्रत्वात् ❀। विभजते ❀ प्रतिषेधमात्रं हीदम् इति ❀। प्रतिपादयिष्यति हि तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इत्यत्र। यथा कार्य्यं स्वरूपेण सदसत्त्वाभ्यां न निर्वचनीयम्, अपि तु कारणरूपेण शक्यं सत्त्वेन निर्वक्तुमिति। एवं च कारणसत्तैव कार्य्यस्य सत्ता न ततोऽन्येति कथं तदुत्पत्तेः प्राक् सति कारणे भवत्यसत्। स्वरूपेण तूत्पत्तेः प्रागुत्पन्नस्य ध्वस्तस्य वा सदसत्त्वाभ्यामनिर्वाच्यस्य न सतोऽसतो वोत्पत्तिरिति निर्विषयः सत्कार्य्यवादप्रतिषेध इत्यर्थः ॥ ७ ॥

असामञ्जस्यं विभजते ❀ अत्राह ❀ चोदकः, । ❀ यदि स्थौल्य इति ❀। यथा हि यूषादिषु हिङ्गुसैन्धवादीनामविभागलक्षणो लयः स्वगतरसादिभिर्यूषं रूषयत्येवं ब्रह्मणि विशुद्धयादिधर्माणि जगल्ली-

भामती—व्याख्या

च ब्रह्म"। उक्त शङ्का का परिहार किया जाता है—"नैष दोषः", क्योंकि "प्रतिषेधमात्रत्वात्"। इस सूत्रावयव का आशय स्पष्ट किया जाता है—"प्रतिषेधमात्र हीदम्, नास्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति"। असत्त्व सत्त्व का प्रतिषेध है और उस प्रतिषेध का प्रतिषेध्य है—सत्त्व, वेदान्त-सिद्धान्त में जगत् का पृथक् सत्त्व माना ही नहीं जाता। "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र. सू. २।१।१४) यहाँ पर यह स्पष्ट कर दिया जायगा कि जगद्रूप कार्य का सत् या असत् रूप से निर्वचन नहीं किया जा सकता। कारणरूपेण कार्य को सत् कहा जा सकता है। कारण की सत्ता ही कार्य की सत्ता है, कारण से पृथक् कार्य की सत्ता नहीं, अतः उत्पत्ति के पूर्व कारण के सत् होने पर कार्य असत् क्योंकर होगा? उत्पत्ति के पश्चात् सिद्धावस्थापन्न या विनष्ट कार्य सत् और असद्रूप से अनिर्वचनीय है, अतः 'सत् या असत् कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती'—इस प्रकार सत्कार्यवाद का प्रतिषेध अत्यन्त असङ्गत है, क्योंकि कार्य की स्वरूपेण सत्ता कभी मानी ही नहीं जाती, तब उस का निषेध अप्रसक्त-प्रतिषेधमात्र है ॥ ७ ॥

शङ्का—शङ्का-सूत्र का शब्दार्थ इतना ही है कि 'कार्य के अपीत (प्रलीन) होने पर उसी के समान उसको भी होना चाहिए-यह असमञ्जस है।' इस की व्याख्या चार प्रकार से की जाती है—

१—"अत्राह" अर्थात् शङ्कावादी ने कहा कि यदि स्थूलत्वाशुद्धत्वादि धर्म से युक्त कार्य प्रपञ्च अपनी विलयावस्था में ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है, तब जैसे यूस (पकी दाल या परवलादि का पानी जो रोगी को पथ्यरूप में दिया जाता है) में हींग, जीरा और काला

ब्रह्मकारणकमभ्युपगम्येत, तदपीतौ प्रलये प्रतिसंसृज्यमानं कार्यं कारणाविभागमापद्यमानं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यस्येवाशुद्ध्यादिरूपप्रसङ्गात् सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्कारणमित्यसमञ्जसमिदमौपषिदं दर्शनम्। अपि च समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद्भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसम्। अपि च भोक्तृणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं गतानां कर्मादिनिमित्तप्रलयेऽपि पुनरुत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम्। अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेत, एवमप्यपीतिश्च न संभवति, कारणाव्यतिरिक्तं च कार्यं न संभवतीत्यसमञ्जसमेवेति ॥ ८ ॥

अत्रोच्यते—न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९

भामती

पद्यमानमविभागं गच्छद् ब्रह्म स्वधर्मेण रूषयेन्न चान्यथा लयो लोकसिद्ध इति भावः। कल्पान्तरेणासामञ्जस्यमाह ॐ अपि च समस्तस्य इति ॐ। नहि समुद्रस्य फेनोर्मिबुद्बुदादिपरिणामे वा रज्ज्वां सर्पधारादिविभ्रमे वा नियमो दृष्टः। समुद्रो हि कदाचित् फेनोर्मिरूपेण परिणमते कदाचित् बुद्बुदादिना, रज्ज्वां हि कश्चित्सर्प इति विपर्यस्यति कश्चिद्धारेति। न च क्रमनियमः। सोऽयमत्र भोग्यादिविभागनियमः क्रमनियमश्चासमञ्जस इति। कल्पान्तरेणासामञ्जस्यमाह ॐ अपि च भोक्तृणाम् इति ॐ। कल्पान्तरं शङ्कापूर्वमाह ॐ अथेदम् इति ॐ ॥ ८ ॥

सिद्धान्तसूत्रम्— ॐन तु दृष्टान्तभावात्ॐ। नाविभागमात्रं लयोऽपि तु कारणे कार्यस्याविभागस्तत्र

भामती–व्याख्या

नमक मिलकर (प्रलीन या अविभागापन्न होकर) जूस को अपने धर्म (सौरभ और स्वाद) से युक्त कर देता है, वैसे ही विशुद्धयादि स्वभाववाले ब्रह्म में अशुद्धयादिधर्मक जगत् प्रलीन या अविभागापन्न होकर ब्रह्म को अपने अशुद्धयादि धर्मों से युक्त कर देगा। लोक में यही लय प्रसिद्ध है।

२—दूसरे प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"अपि च समस्तस्य विभागस्य"। जब समस्त प्रपञ्च एक बार प्रलीन हो जाता है, तब वैसे ही भोक्तृ-भोग्यादि-विभागवाले प्रपञ्च की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कोई नियामक नहीं, जैसे समुद्र कभी फेन और तरंगादिरूप में विकृत होता है और कभी बुद्बुदादिरूप में अथवा जैसे रज्जु कभी सर्परूप में, कभी धारा और कभी हारादिरूप में विवर्तित होती है, नियमतः एक ही रूप में नहीं, वैसे ही ब्रह्म सदैव एक ही रूप में क्यों विवर्तित होगा? किन्तु आप (वेदान्ती) जो पहली सृष्टि के समान ही नियमतः दूसरी सृष्टि मानते हैं, उस नियम का सामञ्जस्य कैसे होगा?

३—प्रकारान्तर से उक्त सूत्र की व्याख्या की जाती है—"अपि च भोक्तृणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं गतानाम्" अर्थात् जीवों का ब्रह्म में विलय हो जाने पर उनके कर्म (धर्माधर्म) भी समाप्त हो जाते हैं, अदृष्टों की सहायता के बिना उनकी उत्पत्ति मानने पर मुक्त पुरुषों की पुनरुत्पत्ति प्रसक्त होती है, जो कि असमञ्जस है।

४—अन्य रीति से व्याख्या करते हुए कहा जाता है—'अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव"। यदि प्रलयावस्था में भी ब्रह्म में कार्य का विलय नहीं माना जाता, तब वह कार्य पृथक् किसके आश्रित रहेगा ॥ ८ ॥

समाधान—"न तु दृष्टान्तभावात"। इस सूत्र की व्याख्या भी कथित चारों प्रकारों

नैवास्मदीये दर्शने किंचिदसामञ्जस्यमस्ति। यत्तावदभिहितं कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदिति, तददूषणम्, कस्मात्? दृष्टान्तभावात्। सन्ति हि दृष्टान्ता यथा कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण न दूषयति। तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थायामुच्चावचमध्यमप्रभेदाः सन्तः पुनः प्रकृतिमपिगच्छन्तो न तामात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतौ न सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। पृथिवीविकारश्चतुर्विधो भूतग्रामो न पृथिवीमपीतावात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। त्वत्पक्षस्य तु न कश्चिद् दृष्टान्तोऽस्ति। अपीतिरेव हि न संभवेद्यदि कारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत। अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इति वक्ष्यामः। अत्यल्पं चेदमुच्यते कार्यमपीतावात्मीयेन धर्मेण कारणं संसृजेदिति। स्थितावपि समानोऽयं प्रसङ्गः, कार्यकारणयोरनन्यत्वाभ्युपगमात्। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६)' 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इत्येवमाद्याभिर्हि श्रुतिभिरविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य कारणानन्यत्वं श्राव्यते। तत्र यः परिहारः कार्यस्य तद्धर्माणां चाविद्याध्यारोपितत्वान्नतैः कारणं संसृज्यत इति, अपीतावपि स समानः। अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं

भामती

च तद्धर्मादूषणे सन्ति सहस्रं दृष्टान्ताः। तत्र तु कारणे कार्य्यस्य लये कार्य्यधर्मदूषणे न दृष्टान्तलवोऽप्यस्तीत्यर्थः। स्यादेतत्—यदि कार्य्यस्याविभागः कारणे, कथं कार्य्यधर्मादूषणं कारणस्येत्यत आह ❀ अनन्यत्वेऽपि इति ❀। यथा रजतस्यारोपितस्य पारमार्थिकं रूपं शुक्तिर्न च शुक्ते रजतमेवमिहापीत्यर्थः। अपि च स्थित्युत्पत्तिप्रलयकालेषु त्रिष्वपि कार्य्यस्य कारणादभेदमभिवदन्ती श्रुतिरनतिशङ्कनीया, सर्वैरेव वेदवादिभिस्तत्र स्थित्युत्पत्त्योर्यः परिहारः, स प्रलयेऽपि समानः कार्य्यस्याविद्यासमारोपितत्वं नाम, तस्मान्नापीतिमात्रमनुयोज्यमित्याह ❀ अत्यल्पं चेदमुच्यते इति ❀। ❀ अस्ति चायमपरो दृष्टान्तः ❀।

भामती—व्याख्या

को ध्यान में रख कर की गई है—

१—कार्य का अविभागमात्र ही लयपदार्थ नहीं, अपि तु अपने कारण से कार्य का अविभाग लय कहा जाता है। कार्य अपने कारण में लीन होने पर भी अपने कारण को अपने दोषों से दूषित या आक्रान्त नहीं करता—इस तथ्य में हजारों दृष्टान्त हैं, किन्तु कार्य प्रलीन होकर अपने कारण को अपने धर्मों से युक्त कर देता है—इसमें कोई एक भी दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता। कार्य जब पूर्णतया कारण से अभिन्न हो जाता है, तब कारण कार्य-रूपापन्न क्यों न होगा? इस प्रश्न का उत्तर है—"अनन्यत्वेऽपि कार्यस्य कारणात्मत्वम्, न तु कारणस्य कार्यात्मत्वम्"। जैसे—शुक्ति में आरोपित रजत का पारमार्थिक रूप शुक्ति है, किन्तु शुक्ति का पारमार्थिक रूप रजत नहीं, वैसे ही कार्य कारण का रूप होता है, कारण कार्य का नहीं। दूसरी बात यह भी है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—इन तीनों कालों में कार्य का कारण से अभेद प्रतिपादन करने वाली श्रुति सर्वथा वेदवादियों के द्वारा मान्य एवं अनाशङ्कनीय है। केवल प्रलय में कार्य कारण से अभिन्न होकर अपने दोषों से कारण को दूषित करने की आपत्ति क्यों उठाई गई, उत्पत्ति और स्थिति में क्यों नहीं? कार्य तीनों कालों में अपने कारण से अभिन्न है। समानसत्ताक पदार्थों के सम्मिश्रण से ही उनके गुण-दोषों का परस्पर विनिमय होता है, विषमसत्ताक पदार्थों के मिश्रण या अभेदापत्ति से मौलिक तत्त्व में कोई अन्तर नहीं

प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शनमायया न संस्पृश्यत इति, प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात्। एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते। मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति। अत्रोक्तं वेदान्तार्थसंप्रदायविद्भिराचार्यैः—'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा' (गौड० कारि० १।१६) इति। तत्र यदुक्तमपीतौ कारणस्यापि कार्यस्येव स्थौल्यादिदोषप्रसङ्ग इत्येतदयुक्तम्। यत्पुनरेतदुक्तं समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनर्विभागेनोत्पत्तौ नियमकारणं नोपपद्यत इति, अयमप्यदोषः दृष्टान्तभावादेव। यथा हि सुषुप्तिसमाध्यादावपि सत्यां स्वाभाविक्यामविभागप्राप्तौ मिथ्याज्ञानस्यानपोदितत्वात्पूर्ववत्पुनः प्रबोधे विभागो भवति, एवमिहापि भविष्यति। श्रुतिश्चात्र भवति—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति, त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति' (छा० ६।९।२,३) इति। यथा ह्यविभागेऽपि परमात्मनि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धो विभागव्यवहारः स्वप्नवदव्याहतः स्थितो दृश्यते, एवमपीतावपि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धैव विभागशक्तिरनुमास्यते। एतेन मुक्तानां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्यापोदितत्वात्। यः पुनरयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षितोऽथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेतेति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव

भामती

* यथा स्वप्नदृगेकः इति *। लौकिकः पुरुषः। * एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकः इति *। अवस्थात्रयमुत्पत्तिस्थितिप्रलयाः। कल्पान्तरेणासामञ्जस्ये कल्पान्तरेण दृष्टान्तभावं परिहारमाह * यत् पुनरेतदुक्तम् इति *। अविद्याशक्तेर्नियतत्वादुत्पत्तिनियम इत्यर्थः। *एतेन इति *। मिथ्याज्ञानविभागशक्तिप्रतिनियमेन मुक्तानां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, कारणाभावे कार्य्याभावस्य प्रतिनियमात्, तत्त्वज्ञानेन च स्वशक्तितो

भामती—व्याख्या

जाता। जैसे अविद्यारोपित सर्प अपनी उत्पत्ति, स्थिति या लय की अवस्था में रज्जू को कभी विषाक्त नहीं बना सकता, वैसे यह समस्त प्रपञ्च अपने कारण को दूषित नहीं कर सकता—"एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचारी"। 'अवस्थात्रय' शब्द से उत्पत्ति, स्थिति और लय का ग्रहण किया गया है।

२—द्वितीय कल्प के अनुसार उद्भावित असामञ्जस्य का समाधान किया जा रहा है—"यत्पुनरुक्तं समस्तस्य"। अर्थात् यह जो कहा था कि प्रपंच के अपने कारण में प्रलीन हो जाने पर वैसे ही प्रपंच की उत्पत्ति में न तो कोई नियामक है और न दृष्टान्त। उस पर सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्ण सृष्टि के संस्कारों से युक्त अज्ञानरूप बीज ही वैसी ही सृष्टि की उत्पत्ति का नियामक है, जैसा कि सुषुप्ति और समाधि के अनन्तर देखा जाता है।

३—मुक्त पुरुषों की पुनरुत्पत्ति की आपत्ति भी इस लिए नहीं होती कि जो मिथ्या ज्ञान उत्पत्ति का नियामक होता है, वह मुक्त पुरुषों का नष्ट हो चुका होता है, अतः कारण का अभाव होने पर नियमतः कार्य का अभाव होता है। तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्या ज्ञान का समूल विनाश हो जाता है।

४—यह चतुर्थ विकल्प उठाया गया था कि प्रलयावस्था में जगत् यदि ब्रह्म से भिन्न रहता है तो किसके आश्रित रहेगा? वह वैसा वेदान्त-सिद्धान्त में माना ही नहीं जाता।

प्रतिषिद्धः । तस्मात्समञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम् ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः प्रादुःष्युः । कथमिति ? उच्यते—यत्तावदभिहितं-विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृतिकमिति, प्रधानप्रकृतिकतायामपि समानमेतत्, शब्दादिहीनात्प्रधानाच्छब्दादिमतो जगत उत्पत्त्युपगमात् । अत एव च विलक्षणकार्योत्पत्त्युपगमात्समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवादप्रसङ्गः । तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणाविभागाभ्युपगमात्तद्वत्प्रसङ्गोऽपि समानः । तथा मृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावभागात्मतां गतेष्विदमस्य पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक्प्रलयात्प्रतिपुरुषं ये नियता भेदाः, न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते, कारणाभावात् । विनैव कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभावसाम्यान्मुक्तानामपि पुनर्बन्धप्रसङ्गः । अथ केचिद्भेदा अपीतावविभागमापद्यन्ते केचिन्नेति चेत्—ये नापद्यन्ते तेषां प्रधानकार्यत्वं न प्राप्नोतीत्येवमेते दोषाः साधारणत्वान्नान्यतरस्मिन् पक्षे चोदयितव्या भवन्तीत्यदोषतामेवैषां द्रढयति, अवश्याश्रयितव्यत्वात् ॥ १० ॥

भामती

मिथ्याज्ञानस्य समूलघातं निहतत्वादिति ॥ ९ ॥

कार्य्यकारणयोर्वैलक्षण्यं तावत्समानमेवोभयोः पक्षयोः, प्रागुत्पत्तेरसत्कार्य्यवादप्रसङ्गोऽपीतौ तद्वत्प्रसङ्गश्च प्रधानोपादानपक्ष एव नास्मत्पक्ष इति यद्यप्युपरिष्टात्प्रतिपादयिष्यामस्तथापि गुडजिह्विकया समानत्वापादनमिदानीमिति मन्तव्यमिदमस्य पुरुषस्य सुखदुःखोपादानं क्लेशकर्माशयादीदमस्येति । सुगममन्यत् ॥ १० ॥

भामती—व्याख्या

ब्रह्म से पृथक् जगत् की कभी भी स्वतन्त्र सत्ता मानी ही नहीं जाती ॥ ९ ॥

कार्य और कारण के सारूप्य का न होना—यह दोष तो ब्रह्मवाद और सांख्य-सम्मत प्रकृतिवाद—इन दोनों मतों में समान है। किन्तु उत्पत्ति के पूर्व असत्कार्यवाद का प्रसङ्ग और विलय हो जाने के पश्चात् पूर्ववत् कार्य की अनुत्पत्ति—ये दोनों दोष केवल प्रकृतिवाद में ही हैं, हमारे ब्रह्मवाद में नहीं। यद्यपि यह सब कुछ आगे चल कर कहा जायगा, तथापि यहाँ जो भाष्यकार ने सभी दोषों का प्रसङ्ग दोनों पक्षों में समानरूप से कहा है, वह 'गुड़जिह्विका' न्याय को लेकर कहा है [बच्चे को कटु औषध पिलाने के लिए पहले उसकी जिह्वा पर गुड़ या शहद लगा दिया जाता है, उसके पश्चात् चिरायता, नीम या करेले का रस पिला दिया जाता है—इसी का नाम गुड़जिह्वका है। कटूक्ति से पहले मधुरोक्ति का प्रयोग सूत्रकारादि भी किया करते थे, जैसे पूर्वपक्ष का खण्डन करने के लिए सीधे 'न' या 'तुच्छम्' न कह कर 'अपिवा' या केवल 'वा' का मधुर प्रयोग करते थे. अत एव कल्पतरुकार ने आगे (ब्र. सू. ३।१।८ में) चलकर कहा है—"गुडजिह्विका मधुरोक्तिः, नैव युक्तमित्युक्ते नैष्ठुर्यं स्यादिति" । फलतः वेदान्ती के "तव पक्षे एवेमे दोषाः, नास्माकम्"— ऐसा कह देने पर लोग तालियाँ पीट देते और सांख्याचार्य का मर्मस्थल आहत हो जाता, अतः भाष्यकार ने कह दिया—"समानमेतत्" । समान दोषोद्भावन जय-पराजय का स्थान नहीं होता, जैसा कि कुमारिल भट्ट निर्णय देते हैं—

तस्माद् ययोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥ (श्लो. वा. पृ. ३४१)]।

भाष्यकार ने जो कहा है—"इदमस्य पुरुषस्योपादानम्, इदमस्य" । उसका अर्थ है—'इदं

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्ष-प्रसङ्गः ॥ ११ ॥

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम् । यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति, उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात् । तथा हि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते । तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्, पुरुषमतिवैरूप्यात् । अथ कस्यचित्प्रसिद्धमहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत, एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव, प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात् । अथोच्येतान्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति । नहिप्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति

भामती

केवलागमगम्येऽर्थे स्वतन्त्रतर्काविषये । न सांख्यादिवत् साधर्म्यवैधर्म्यमात्रेण तर्कः प्रवर्तनीयो येन प्रधानादिसिद्धिर्भवेत् । शुष्कतर्को हि स भवत्यप्रतिष्ठानात् । तदुक्तम्—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ इति ।

न च महापुरुषपरिगृहीतत्वेन कस्यचित्तर्कस्य प्रतिष्ठा, महापुरुषाणामेव तार्किकाणां मिथो विप्रतिपत्तेरिति । सूत्रे शङ्कते अन्यथानुमेयमिति चेत् । तद्विभजते अन्यथा वयमनुमास्यामहे इति । नानुमानाभासव्यभिचारिणानुमानव्यभिचारः शङ्कनीयः, प्रत्यक्षादिष्वपि तदाभासव्यभिचारेण तत्प्रसङ्गात् ।

भामती–व्याख्या

क्लेशकर्मादि अस्य पुरुषस्य सुखदुःखयोः उपादानम् (कारणम्), इदमस्य'—इस प्रकार का नियत भेद प्रलय के पश्चात् नहीं रहता, अतः मुक्त पुरुषों की पुनरुत्पत्ति प्रसक्त नहीं होती है ॥१०॥

जगत् का उपादानकारण कौन है ? इस प्रश्न का ठीक उत्तर केवल वेदों में है, स्वतन्त्र तर्क का विषय नहीं, अतः जैसे सांख्याचार्य जो स्वतन्त्र तर्क के आधार पर जगत् के त्रिगुणत्वादि साधर्म्य और चेतनत्वादि वैधर्म्य का अवलम्बन कर प्रधान तत्त्व की तर्कना किया करते हैं, वह सर्वथा अनुचित है । आगम-निरपेक्ष या शुष्क तर्क कभी किसी एक तत्त्व पर प्रतिष्ठित (स्थिर) नहीं रह सकता, जैसा कि वाक्यपदीयकार कहते हैं—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ (वा. प. १।३४)

[अर्थात् किसी एक तार्किक के द्वारा यत्नपूर्वक अनुमान से जो पदार्थ जैसा अनुमित (तर्कित) होता है, बड़ा तार्किक आकर अपनी ऊहापोह के द्वारा वह पदार्थ अन्यथा (विपरीत) सिद्ध कर दिया करता है, जैसी कि तार्किक-चक्र-चूडामणि श्री रघुनाथ शिरोमणि की गर्वोक्ति है—

विदुषां निवहैरिहैकमत्याद् यददुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम् ।
मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे रघुनाथे मनुतां तदन्यथैव ॥ (बाधप्र.)

अत एव महर्षि व्यास ने ही यह सत्परामर्श दिया है—"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत्' (भारत. भीष्म ५।१२)] । कोई तर्क किसी एक महापुरुष के द्वारा परिगृहीत है—एतावता उसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरे महापुरुषों को उसमें विप्रतिपत्ति है ।

शङ्का—सूत्रकारने शङ्का प्रस्तुत की है—"अन्यथानुमेयम्", उसकी व्याख्या की जाती है—"अन्यथा वयमनुमास्यामहे" । शङ्कावादी का आशय यह है कि किसी अनुमानाभास

वक्तुम्। एतदपि हि तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते, केषांचित्तर्काणामप्रतिष्ठितत्वदर्शनेनान्येषामपि तज्जातीयकानां तर्काणामप्रतिष्ठितत्वकल्पनात्। सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः। अतीतवर्तमानाध्वसाम्येन ह्यनागतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तमानो लोको दृश्यते। श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्केणैव वाक्यवृत्तिनिरूपणरूपेण क्रियते। मनुरपि चैवं मन्यते 'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥' इति। 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥' (१२।१०५।१०६) इति च ब्रुवन्। अयमेव तर्कस्यालंकारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम। एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति। नहि पूर्वजो मूढ आसीदित्यात्मनापि मूढेन भवितव्यमिति किंचिदस्ति प्रमाणम्। तस्मान्न तर्काप्रतिष्ठानं दोष इति चेद्—एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः। यद्यपि क्वचिद्विषये

भामती

तस्मात् स्वाभाविकप्रतिबन्धवल्लिङ्गानुसरणे निपुणेनानुमात्रा भवितव्यं, ततश्चाप्रत्यूहं प्रधानं सेत्स्यतीति भावः। अपि च येन तर्केण तर्काणामप्रतिष्ठामाह स एव तर्कः प्रतिष्ठितोऽभ्युपेयस्तस्याप्रतिष्ठायामितराप्रतिष्ठानाभावादित्याह ❀ नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव इति ❀। अपि च तर्काप्रतिष्ठायां सकललोकयात्रोच्छेदप्रसङ्गः। न च श्रुत्यर्थाभासनिराकरणेन तदर्थतत्त्वविनिश्चय इत्याह ❀ सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च इति ❀। अपि च विचारात्मकस्तर्कस्तर्कितपूर्वपक्षपरित्यागेन तर्कितं राद्धान्तमनुजानाति। सति चैव पूर्वपक्षविषये तर्के प्रतिष्ठारहिते प्रवर्तते, तदभावे विचाराप्रवृत्तेः। तदिदमाह ❀ अयमेव च तर्कस्यालङ्कारः इति ❀। तामिमामाशङ्कां सूत्रेण परिहरति ❀ एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ❀। न वयमन्यत्र तर्कमप्रमाणयामः, किन्तु

भामती—व्याख्या

(तर्काभास) के अप्रतिष्ठित (अर्थ-व्यभिचारी) हो जाने मात्र से सदनुमान (सत्तर्क) व्यभिचरित नहीं होता, अन्यथा किसी प्रत्यक्षाभास के अपने विषय से व्यभिचरित हो जाने पर प्रमाणभूत प्रत्यक्ष को भी व्यभिचारी मानना होगा। अतः अनुमान (तर्क) में अपेक्षित स्वाभाविकसम्बन्धरूप व्याप्ति जिस हेतु में विद्यमान है, ऐसे सद्धेतु के प्रयोग में अनुमाता व्यक्ति को सावधान रहना चाहिए। उस सद्धेतु के द्वारा प्रधान तत्त्व की निराबाध सिद्धि हो जायेगी। दूसरी बात यह भी है कि जिस तर्क के द्वारा अन्य तर्कों की अप्रतिष्ठता सिद्ध की जा रही है, उस तर्क को तो प्रतिष्ठित मानना होगा, क्योंकि उसके प्रतिष्ठित न होने पर अन्य तर्क अप्रतिष्ठित किसके आधार पर होंगे? यह कहा जा रहा है—"न हि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्ति"। किसी भी तर्क के प्रतिष्ठित न होने पर समस्त लोक-व्यवहार उच्छिन्न हो जायगा—"सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदः"। किसी श्रुति का अर्थ यह है? अथवा यह? ऐसा वैमत्य (संशय) उपस्थित होने पर वाक्य-तात्पर्य-निर्णायक तर्क के द्वारा ही अर्थाभास का निरास एवं सदर्थ का निश्चय किया जाता है—"श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन"। विचारात्मक तर्क के आधार पर ही वितर्कित पूर्वपक्ष का प्रतिक्षेप एवं सुतर्कित सिद्धान्त का अनुसन्धान किया जाता है, इसीलिए भगवान् मनु ने कहा है—

"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥" (मनु० १२।१०६)

अत एव प्रतिष्ठा-रहित तर्क (तर्काभास) की भी सत्ता माननी पड़ती है, क्योंकि उसके न रहने पर विचार में कथक-सम्प्रदाय की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। अतः तर्क का अप्रतिष्ठित होना एक अलङ्कार है—"अयमेव हि तर्कस्यालङ्कारो यदप्रतिष्ठितत्वम्"।

तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते, तथापि प्रकृते तावद्विषये प्रसज्यत एवाप्रतिष्ठितत्वदोषादनिर्मोक्षस्तर्कस्य, न हीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् । रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनामिति चावोचाम । अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः । तच्च सम्यग्ज्ञानमेकरूपम्, वस्तुतन्त्रत्वात् । एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः । लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते—यथाग्निरुष्ण इति । तत्रैवं सति सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना । तर्कज्ञानानां त्वन्योन्यविरोधात्प्रसिद्धा विप्रतिपत्तिः । यद्धि केनचित्तार्किकेणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपादितं तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितं ततोऽपरेण व्युत्थाप्यत इति प्रसिद्धं लोके, कथमेकरूपानवस्थितविषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत् ? न च प्रधानवादी तर्कविदामुत्तम इति सर्वैस्तार्किकैः परिगृहीतो येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि । न च शक्यन्तेऽतीतानागतवर्तमानास्तार्किका एकस्मिन्देशे काले च समाहर्तुं येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात् । वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेः, तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम् । अतः सिद्धमस्यैवौपनिषदस्य ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम् । अतोऽन्यत्र सम्यग्ज्ञानत्वानुपपत्तेः संसाराविमोक्ष एव प्रसज्येत । अत आगमवशेनागमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम् ॥ ११ ॥

(४ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् । सू० १२)

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

भामती

जगत्कारणसत्त्वे स्वाभाविकप्रतिबन्धवन्न लिङ्गमस्ति । यत्तु साधर्म्यवैधर्म्यमात्रं, तदप्रतिष्ठादोषान्न मुच्यत इति कल्पान्तरेणानिर्मोक्षपदार्थमाह * अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्षः इति * । भूतार्थगोचरस्य हि सम्यग्ज्ञानस्य व्यवस्थितवस्तुगोचरतया व्यवस्थानं लोके दृष्टं, यथा प्रत्यक्षस्य । वैदिकं चेदं चेतनजगदुपादानविषयं विज्ञानं वेदोत्थतर्कैतिकर्तव्यताकं वेदजनितं व्यवस्थितं वेदानपेक्षेण तु तर्केण जगत्कारणभेदमवस्थापयतां तार्किकाणामन्योन्यं विप्रतिपत्तेस्तत्त्वनिर्धारणकारणाभावाच्च न ततस्तत्त्वव्यवस्थेति न ततः सम्यग्ज्ञानम्, असम्यग्ज्ञानाच्च न संसाराद्विमोक्ष इत्यर्थः ॥ ११ ॥

भामती–व्याख्या

समाधान—कथित शङ्का का परिहार स्वयं सूत्रकार ने किया है—"एवमपि अविमोक्षप्रसङ्गः ।" आशय यह है कि सत्यार्थविषयक सम्यक् ज्ञान व्यवस्थित वस्तु का प्रतिष्ठापक होने के कारण लोक में प्रतिष्ठित माना जाता है, जैसे—प्रत्यक्ष चेतनगत जगत् की उपादानता का प्रमापक प्रकृत वैदिक विज्ञान व्यवस्थित है, क्योंकि वेदोत्थित तर्कों की सहायता लेकर वैदिक वाक्यों ने उसको जन्म दिया है किन्तु वेद-निरपेक्ष शुष्क तर्क के द्वारा तार्किकगण जो परमाणु आदि को जगत् का उपादान कहते है, उनकी परस्पर-विप्रतिपत्ति होने के कारण तत्त्वावधारण सम्भव नहीं, अतः उनका ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं, असम्यक् ज्ञान संसार-बन्धन से मोक्ष नहीं दिला सकता ॥ ११ ॥

भामती

न कार्यं कारणादभिन्नमभेदे कारणरूपवत् कार्य्यत्वानुपपत्तेः, करोत्यर्थानुपपत्तेश्च। अभूतप्रादुर्भावनं हि तदर्थः। न चास्य कारणात्मत्वे किञ्चिदभूतमस्ति यदर्थमयं पुरुषो यतेत। अभिव्यक्त्यर्थमिति चेत्, न, तस्या अपि कारणात्मत्वेन सत्त्वात्, असत्त्वे वाऽभिव्यङ्ग्यस्यापि तद्वत् प्रसङ्गेन कारणात्मत्वव्याघातात्। नहि तदेव तदानीमेवास्ति नास्ति चेति युज्यते। किं चेदं मणिमन्त्रौषधमिन्द्रजालं कार्य्येण शिक्षितं यदिदमजातानिरुद्धातिशयमव्यवधानमविदूरस्थानं च तस्यैव तदवस्थेन्द्रियस्य पुंसः कदाचित्प्रत्यक्षं परोक्षं च येनास्य कदाचित्प्रत्यक्षमुपलम्भनं कदाचिदनुमानं कदाचिदागमः। कार्य्यान्तरव्यवधिरस्य पारोक्ष्यहेतुरिति चेत्, न, कार्य्यजातस्य सदातनत्वात्। यथापि स्यात्कार्य्यान्तराणि पिण्डकपालशर्कराचूर्णकणप्रभृतीनि कुम्भं व्यवदधते, ततः कुम्भस्य पारोक्ष्यं कदाचिदिति। तत्र, तस्य कार्य्यजातस्य कारणात्मनः सदातनत्वेन सर्वदा व्यवधानेन कुम्भस्यात्यन्तानुपलब्धिप्रसङ्गात्। कादाचित्कत्वे वा कार्य्यजातस्य न कारणात्मत्वं, नित्यत्वानित्यत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्य

भामती-व्याख्या

संशय—कणाद और गौतम के मतवादों के अनुरोध पर जगदुपादनत्व-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय न किया जाय? अथवा निःसंकोच समन्वय किया जाय?

पूर्वपक्ष—प्रपञ्चरूप कार्य अपने कारण से सर्वथा अभिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि अभेद में कार्य-कारणभाव ही उपपन्न नहीं होता। एवं विद्यमान या सिद्ध पदार्थ के लिए 'कुरु' या 'करोमि'—इस प्रकार 'डुकृञ्' धातु का प्रयोग ही सम्भव नहीं होता, क्योंकि 'करोति' का अर्थ होता है—'निष्पादयति' या 'असन्तं सन्तं विधत्ते', किन्तु जो कार्यकारणरूप में पहले से ही विद्यमान है, उसे अभूत या असत् नहीं कहा जा सकता कि जिसे सत् करने के लिए कर्त्ता पुरुष की प्रवृत्ति होती। कार्य की उत्पत्ति के लिए नहीं, अभिव्यक्ति करने के लिए कर्त्ता की प्रवृत्ति होती है—एसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अभिव्यक्ति भी कारणरूप में सत् ही मानी जाती है, असत् नहीं। अभिव्यक्ति को यदि कारणरूपेण सत् नहीं माना जाता, तब अभिव्यङ्ग्यरूप कार्य को भी कारणरूपेण सत् मानना व्याहत हो जाता है, क्योंकि वही पदार्थ उसी समय सत् भी और असत् भी - यह युक्ति-संगत नहीं।

सांख्य-सम्मत कार्य पदार्थ ने क्या किसी जादूगर से कोई मणि या औषध प्राप्त कर ली है? अथवा कोई मन्त्र सीख लिया है? कि न कभी उत्पन्न होता है और न नष्ट, बराबर बना रहता है, न कभी व्यवहित होता है और न कभी दूर। फिर भी स्वस्थ एवं पटु इन्द्रियवाले उसी सांख्य पुरुष को यह कार्य कभी प्रत्यक्ष होता है और कभी परोक्ष। परोक्षरूप में भी वह (कार्य) कभी अनुमित होता है--

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥" (सा. का. ९)

वही कार्य उसी पुरुष को कभी आगम के द्वारा अधिगत होता है—"तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्" (सां. का. ६)। 'यद्यपि मृत्तिका में घट, मणिक, मल्लिकादि सभी कार्य हैं, तथापि एक कार्य की उपलब्धि से व्यवहित होने के कारण कार्यान्तर की उपलब्धि नहीं होती'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि समस्त कार्य सदातन माने जाते हैं, अतः घट की उपलब्धि होगी? अर्थात् घट की आश्रयीभूत मृत्तिका में घट से भिन्न पिण्ड, कपाल, शर्करा (कपालिका), चूर्ण और कणादि कार्य घट के व्यवधायक रहते हैं, अतः घट परोक्ष हो जाता है—ऐसी व्यवस्था जो की जाती है, वह उचित नहीं, क्योंकि समस्त कार्य अपने कारण के रूप में सदैव रहता है, व्यवधायक के सदैव रहने पर घट की कभी भी उपलब्धि नहीं होगी। यदि कार्य की सदैव कारणरूपेण अवस्थिति न मान कर कादाचित्क मानी जाती है, तब कार्य

भामती

भेदकत्वात् । भेदाभेदयोश्च परस्परविरोधेनैकत्र सहासम्भव इत्युक्तम् । तस्मात् कारणात् कार्य्यमेकान्तत एव भिन्नम् । न च भेदे गवाश्ववत् कार्यकारणभावानुपपत्तिरिति साम्प्रतम् । अभेदेऽपि कारणरूपवत्तदनुपपत्तेरुक्तत्वात् । अत्यन्तभेदे च कुम्भकुम्भकारयोर्निमित्तनैमित्तिकभावस्य दर्शनात् । तस्मादन्यत्वाविशेषेऽपि समवायभेद एवोपादानोपादेयभावनियमहेतुः । यस्याभूत्वा भवतः समवायस्तदुपादेयं, यत्र च समवायस्तदुपादानम् । उपादानत्वं च कारणस्य कार्य्यादल्पपरिमाणस्य दृष्टं यथा तन्त्वादीनां पटाद्युपादानानां पटादिभ्यो न्यूनपरिमाणत्वम् । चिदात्मनस्तु परममहत उपादानान्नात्यन्ताल्पपरिमाणमुपादेयं भवितुमर्हति । तस्मादत्रैवमल्पतारतम्यं विश्राम्यति यतो न क्षोदीयः सम्भवति तज्जगतो मूलकारणं परमाणुः । क्षोदीयोऽन्तरानन्त्ये तु मेरुराजसर्षपयोस्तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गोऽनन्तावयवत्वादुभयोः । तस्मात् परममहतो ब्रह्मण उपादानादभिन्नमुपादेयं जगत्कार्य्यमभिवदती श्रुतिः प्रतिष्ठितप्रामाण्यतर्कविरोधात् सहस्रसंवत्सरसत्रगतसंवत्सरश्रुतिवत् कथञ्चिज्जघन्यवृत्त्या व्याख्येयेत्यधिकं शङ्कमानं प्रति

भामती–व्याख्या

को कारणात्मक नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि कारण में नित्यत्व और कार्य में अनित्यत्वादि विरुद्ध धर्म होने से कार्य और कारण का भेद सिद्ध हो जाता है। भेदाभेद परस्पर विरुद्ध होने के कारण एकत्र रह नहीं सकते –यह कई बार कहा जा चुका है। फलतः कारण से कार्य एकान्ततः भिन्न सिद्ध होता है।

मृत्तिका से घटादि कार्य यदि अत्यन्त भिन्न है, तब वैसे ही उनमें कार्य-कारणभाव न बनेगा, जैसे गौ और अश्व का'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अत्यन्त अभेद में भी कार्य-कारणभाव की अनुपपत्ति दिखाई जा चुकी है, अत्यन्त भेद में तो कुम्भ और कुम्भकार के समान निमित्त-नैमित्तिकभाव ही देखा जाता है। उपादानोपादेयभाव नहीं। यद्यपि गौ से अन्य अश्व गौ का उपादेय नहीं, तथापि मृत्तिका से अन्य घट मृत्तिका का उपादेय माना जाता है, क्योंकि मृत्तिका में घट का समवाय सम्बन्ध है, गौ में अश्व का नहीं। जिस "अभूत्वा भवतः" (असत् कार्यभूत घटादि का) समवाय मृत्तिकादि में होता है, उस घटादि कार्य को उपादेय और वह समवाय जिस मृत्तिकादि पदार्थ में होता है, उसे उपादान कारण कहा जाता है। कार्य की अपेक्षा अल्प परिमाणवाले कारण में उपादानकारणता देखी जाती है. जैसे—तन्त्वादिरूप उपादान कारणों का पटादिरूप कार्य को अपेक्षा अल्पपरिमाण है। चिदात्मा का परम महत् (विभु) परिमाण माना जाता है, घटादि कार्य की अपेक्षा उसका अल्प परिमाण नहीं, अतः स्वल्पपरिमाणता जिस पदार्थ में समाप्त हो जाती है, जिस की अपेक्षा और कोई वस्तु क्षुद्र (स्वल्प) नहीं रहती, ऐसा परमाणु पदार्थ ही जगत् का उपादान कारण होता है। यदि परमाणु में स्वल्प परिमाण की विश्रान्ति न मान कर अनन्त अवयवों तक अल्पना का क्रम माना जाता है, तब मेरु पर्वत और सरसों के एक दाने का समान परिमाण मानना होगा, क्योंकि अनन्तावयवरूपता दोनो में समान है। फलतः अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप उपादान से परिच्छिन्न जगद्रूप उपादेय का अभेद बतानेवाली श्रुति प्रतिष्ठितप्रामाण्यक तर्क के द्वारा बाधित होकर वैसे ही गौणार्थपरक हो जाती है, जैसे—'विश्वसृजामयनं सहस्र संवत्सरम्"—इस श्रुति में 'सवंत्सर' शब्द गौणी वृत्ति से 'दिन' का वाचक है ["पञ्च-पञ्चाशतस्त्रिवृतः संवत्सराः, पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः, पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः, पञ्चपञ्चाशत एकविंशाः, विश्वसृजामयनं सहस्रसंवत्सरम्" (तै० ब्रा० ३।९।८) इस श्रुति ने विश्वसृजनामधारी ऋषियों के लिए सहस्रसंवत्सर-साध्य यज्ञ का जो विधान किया है, वहाँ 'संवत्सर' शब्द पर "सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु" (जै० सू० ६।७।३१) इत्यादि सूत्रों के द्वारा विचार करते हुए महर्षि ने सात पक्ष प्रस्तुत किए हैं। आठवाँ पक्ष सिद्धान्तरूप में

वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद् गुरुतरतर्कबलोपेतत्वाद्वेदानुसारिभिश्च कैश्चिच्छिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतत्वात्प्रधानकारणवादं तावद् व्यपाश्रित्य यस्तर्कनिमित्त आक्षेपो वेदान्तवाक्येषूद्भावितः स परिहृतः। इदानीमण्वादिवादव्यपाश्रयेणापि कैश्चिन्मन्दमतिभिर्वेदान्तवाक्येषु पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप आशङ्क्यते इत्यतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति-एतेनेत्यादि। परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः, न परिग्रहा अपरिग्रहाः, शिष्टानामपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः। एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य, नात्र पुनराशङ्कितव्यं किंचिदस्ति। तुल्यमत्रापि परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं, तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वम्, अन्यथानुमानेऽप्यविमोक्षः आगमविरोधश्चेत्येवंजातीयकं निराकरणकारणम्॥ १२॥

भामती

सांख्यदूषणमतिदिशति ＊ एतेन इति ＊ सूत्रेण। अस्यार्थः—कारणात् कार्य्यस्य भेदं तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इत्यत्र निषेत्स्यामः। अविद्यासमारोपणेन च कार्य्यस्य न्यूनाधिकभावमन्यप्रयोजकत्वादुपेक्षिष्यामहे। तेन वैशेषिकाद्यभिमतस्य तर्कस्य शुष्कत्वेनाव्यवस्थितेः। सूत्रमिदं सांख्यदूषणमतिदिशति। यत्र कथंचिद्वेदानुसारिभो मन्वादिभिः शिष्टैः परिगृहीतस्य सांख्यतर्कस्यैषा गतिस्तत्र परमाण्वादिवादस्यात्यन्तवेदबाह्यस्य मन्वाद्युपेक्षितस्य च कैव कथेति। ＊ केनचिदंशेन इति ＊। सृष्टवादयो हि व्युत्पाद्यास्ते च किञ्चित्सदसद्वा पूर्वपक्षन्यायोऽभ्युपगतमप्युदाहृत्य व्युत्पाद्यन्त इति केनचिदंशेनेत्युक्तम्। सुगममन्यत्॥१२॥

भामती—व्याख्या

वर्णित है—"अहानि वाऽभिसंख्यत्वात्" (जै० सू० ६।७।४०)। अर्थात् 'संवत्सर' शब्द गौणी वृत्ति के द्वारा 'दिन' का बोधक है, अतः एक हजार दिनों में सम्पन्न होनेवाले यज्ञ को सहस्र-संवत्सर क्रतु कहा गया है]।

सिद्धान्त—कथित अभ्यधिक शङ्का का निरास करने के लिए सूत्रकार ने सांख्यपक्षीय दूषणों के द्वारा ही वैशेषिक-पक्ष का निरास किया है—"एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः"। इस सूत्र का अर्थ यह है कि कारण से कार्य के भेद का निरास आगे किया जा रहा है—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र. सू. २।१।१४)। यह जो कहा था कि कार्य की अपेक्षा कारण का न्यून परिमाण होता है, वह नियम भी कार्य के अविद्यासमारोपितत्व-पक्ष में टूट जाता है, क्योंकि आरम्भवाद में भी अधिकपरिमाणवाली तूल-राशि से स्वल्प-परिमाण का तन्तु उत्पन्न होता देखा जाता है, विशेषतः विवर्तवाद में तो वैसा नियम सुरक्षित हो नहीं रहता, क्योंकि विशाल बिम्ब से क्षुद्र प्रतिबिम्ब और क्षुद्र बिम्ब से विशाल प्रतिबिम्ब अनुभव-सिद्ध है, अतः कार्य का परिमाण उपादान-प्रयुक्त न हो कर उपाधि-प्रयुक्त होता है। फलतः वैशेषिकाभिमत तर्क नितान्त शुष्क होने के कारण सांख्यपक्षोक्त दूषणों के द्वारा ही वैशेषिक पक्ष भी पूर्णतया दूषित हो जाता है। किसी-न-किसी प्रकार वेद का अनुसरण करनेवाले एवं मन्दप्रज्ञ शिष्ट व्यक्तियों के द्वारा गृहीत सांख्यीय तर्कों की जहाँ ऐसी दुर्गति होती है, वहाँ अत्यन्त वेद-बहिष्कृत तथा मन्वादि महर्षियों के द्वारा उपेक्षित वैशेषिक-सम्मत परमाण्वादिवाद की बात ही क्या? 'केनचिदंशेनापरिगृहीताः'—इस भाष्य के द्वारा यह ध्वनित होता है कि मनु, व्यासादि महर्षियों ने आंशिकरूप में परमाणुवाद का परिग्रह भी किया है, वह अंश कौन है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मन्वादि महर्षियों को सृष्टि-प्रकिया का

(५ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् । सू० १३)

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

अन्यथा पुनर्ब्रह्मकारणवादस्तर्कबलेनैवाक्षिप्यते । यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति, तथापि प्रमाणान्तरेण विषयापहारेऽन्यपरा भवितुमर्हति, यथा मन्त्रार्थवादौ । तर्कोऽपि स्वविषयादन्यत्राप्रतिष्ठितः स्यात् यथा धर्माधर्मयोः । किमतो यद्येवम् ? अत इदमयुक्तं यत्प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थबाधनं श्रुतेः । कथं पुनः प्रमाणान्तरप्रसिद्धोऽर्थः

भामती

स्यादेतत्—अतिगम्भीरजगत्कारणविषयत्वं तर्कस्य नास्ति, केवलागमगम्यमेतदित्युक्तं, तत् कथं पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप इत्यत आह ॐ यद्यपि श्रुतिः प्रमाणम् इति ॐ । प्रवृत्ता हि श्रुतिरनपेक्षतया स्वतःप्रमाणत्वेन न प्रमाणान्तरमपेक्षते । प्रवर्तमाना पुनः स्फुटतरप्रतिष्ठितप्रामाण्यतर्कविरोधेन मुख्यार्थात् प्रच्याव्य जघन्यवृत्तितां नीयते, यथा मन्त्रार्थवादावित्यर्थः । अतिरोहितार्थं भाष्यम् । ॐ यथा त्वद्यत्वे इति ॐ । यद्यतीतानागतयोः सर्गयोरेव विभागो न भवेत् ततस्तदेवाद्यतनस्य विभागस्य बाधकं स्यात्, स्वप्नदर्शनस्येव जाग्रद्दर्शनं, न त्वेतदस्ति । अबाधिताद्यतनदर्शनेन तयोरपि तथात्वानुमानादित्यर्थः । इमां

भामती–व्याख्या

निरूपण करना था, अतः पूर्वपक्ष के रूप में कहीं-कहीं परमाणुवाद की चर्चा कर दी है। पूर्वपक्ष सत्य ही हो ऐसा कोई नियम नहीं, मिथ्या भी हो सकता है । [किसी-किसी पुस्तक में "केनाप्यंशेनापरिग्रहीताः"—ऐसा पाठान्तर उपलब्ध होता है, जिसका अर्थ विस्पष्ट है ॥ १२ ॥

संशय—'यदि भोग्यादिप्रपञ्चो ब्रह्मणोऽभिन्नः स्यात्, तर्हि भोग्यस्य भोक्तृत्वप्रसङ्गः स्यात्'—इस तर्क के द्वारा अद्वैतवाद बाधित होता है ? अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—जगत् की कारणता एक अत्यन्त गम्भीर विषय है, इसमें तर्क की गति नहीं, केवल आगम प्रमाण से अधिगम्य है, अतः तर्क के आधार पर ब्रह्मगत जगत्कारणता पर आक्षेप क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति"। आशय यह है कि यद्यपि अपने विषय में प्रवर्तमान श्रुति इतर प्रमाणों से निरपेक्ष होने के कारण स्वतःप्रमाण है, वह अपनी प्रमाणता के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं करती, तथापि स्फुटतरप्रामाण्यक प्रखर तर्क के द्वारा अपने मुख्य विषय में बाधित होकर श्रुति मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थपरक वैसे ही हो जाती है, जैसे मन्त्र और अर्थवादादि . ["इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृह० उ० २।४।६), "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (मुं० २।२।११) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मरूप कारण का उसके कार्य प्रपञ्च से अभेद सिद्ध करती हैं, किन्तु ऐसा मानने पर भोक्ता चेतन और भोग्य पदार्थों का लोक-प्रसिद्ध भेद समाप्त हो जाता है, क्योंकि स्वाभिन्नाभिन्नत्व-नियम के अनुसार भोक्ता और भोग्य (शब्दादि प्रपञ्च) ये दोनों ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण परस्पर अभिन्न हो जायँगे । अतः उक्त अभेद-बोधक श्रुतियों का अभेदरूप मुख्यार्थ में तात्पर्य न मानकर ब्रह्मप्राशस्त्यरूप गौणार्थ में पर्यवसान मानना चाहिए] । भोक्ता और भोग्य के लोक-प्रसिद्ध भेद का अपलाप कभी भी नहीं किया गया । "यथा तु अद्यत्वे भोक्तृ-भोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोः"—इस भाष्य का आशय यह है कि यदि अतीत और भावी सृष्टियों में ही भोक्ता और भोग्यादि का विभाग प्रसिद्ध न होता, तब वर्तमान विभाग को स्वप्न के समान बाधित और मिथ्या माना जा सकता था, किन्तु वैसा नहीं, अपि तु भोक्ता-भोग्य का भेद सत्य है एवं इसी के आधार पर अतीत और अनागत सर्गों में भेद सत्यत्व का अनुमान किया जा सकता है ।

श्रुत्या बाध्यत इति ? अत्रोच्यते—प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके भोक्ता चेतनः शारीरः, भोग्याः शब्दादयो विषया इति। यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति। तस्य च विभागस्याभावः प्रसज्येत, यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत। तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वात्प्रसज्येत। न चास्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम्। यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः। तस्मात्प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यविभागस्याभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणमिति चेत्कश्चिच्चोदयेत्तं प्रति ब्रूयात्—स्याल्लोकवदिति। उपपद्यत एवायमस्मत्पक्षेऽपि विभागः एवं लोके दृष्टत्वात्। तथा हि—समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते। नच समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति। न च तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति। एवमिहापि—न च भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः, नच परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति। यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकारः, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्यास्त्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरङ्गादिन्यायेनेत्युक्तम्। १३॥

(६ आरम्भणाधिकरणम् । सू० १४–२०)

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति

भामती

शङ्कामापाततोऽविचारितलोकसिद्धदृष्टान्तोपदर्शनमात्रेण निराकरोति सूत्रकारः ® स्याल्लोकवत् ® ॥१३॥

परिहाररहस्यमाह —तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः।

पूर्वस्मादविरोधादस्य विशेषाभिधानोपक्रमस्य विभागमाह ® अभ्युपगम्य चेमम् इति ®।

भामती-व्याख्या

सिद्धान्त—उक्त शङ्का का निराकरण सूत्रकार ने लोक-प्रसिद्ध भेद को आपाततः मानते हुए किया है—"स्याल्लोकवत्"। अर्थात् लोक में फेन और तरङ्गादि का अपने कारणीभूत समुद्र से अभेद रहने पर भी परस्पर अभेद नहीं, भेद ही माना जाता है, वैसे ही भोक्ता और भोग्यादि का अपने कारणीभूत ब्रह्म से अभेद रहने पर भी परस्पर भेद-व्यवहार अक्षुण्ण रहेगा ॥ १३ ॥

संशय—पूर्वाधिकरण में जो ब्रह्म से कार्य प्रपञ्च के भेद और अभेद—दोनों सिद्ध किए गए हैं, दोनों पारमार्थिक हैं ? अथवा व्यावहारिक ?

पूर्वपक्ष—'कारणात् कार्यस्य भेदाभेदौ पारमार्थिकौ, अबाधितत्वाद्, ब्रह्मवत्' अथवा 'अविरुद्धौ, लोकप्रसिद्धत्वात्, समुद्रात् तरङ्गादिभेदाभेदवत्'—ऐसे अनुमानों के द्वारा उक्त भेद और अभेद पारमार्थिक सिद्ध होते हैं।

सिद्धान्त—यद्यपि अप्रतिष्ठितत्व दोष के कारण अनुमानादि तर्कों का निरा-

परिहारोऽभिहितः, नत्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति, यस्मात्तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते। कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात्कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते। कुतः ? आरम्भणशब्दादिभ्यः। आरम्भणशब्दस्तावदेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते -'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।४) इति। एतदुक्तं भवति -एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत्। यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्-वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते-विकारो घटः

भामिती

स्यादेतत् --यदि कारणात् परमार्थभूतादनन्यत्वमाकाशादेः प्रपञ्चस्य कार्य्यस्य, कुतस्तर्हि न वैशेषिकाद्युक्तदोषप्रपञ्चावतार इत्यत आह ॐ व्यतिरेकेणाभावः कार्य्यस्यावगम्यते इति ॐ। न खल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः, किन्तु भेदं व्यासेधामः, ततश्च नाभेदाश्रयदोषप्रसङ्गः। किन्त्वभेदं व्यासेधद्भिर्वैशेषिकादिभिरस्मासु साहाय्यकमेवाचरितं भवति। भेदनिषेधहेतुं व्याचष्टे ॐ आरम्भणशब्दस्तावद् इति ॐ। एवं हि ब्रह्मविज्ञानेन सर्वं जगत्तत्त्वतो ज्ञायेत, यदि ब्रह्मैव तत्त्वं जगतो भवेत्। यथा रज्ज्वां ज्ञातायां भुजङ्गतत्त्वं ज्ञातं भवति, सा हि तस्य तत्त्वम्। तत्त्वज्ञानं च ज्ञानमतोऽन्यन्मिथ्याज्ञानमज्ञानमेव। अत्रैव वैदिको दृष्टान्तः ॐ यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन इति ॐ। स्यादेतत्—मृदि ज्ञातायां कथं मृन्मयं घटादि ज्ञातं भवति, नहि तन्मृदात्मकमित्युपपादितमधस्तात्। तस्मात्ततो भिन्नं न चान्यस्मिन् विज्ञातेऽन्यद्विज्ञातं भवतीत्यत आह श्रुतिः ॐ वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् ॐ। वाचया केवलमारभ्यते विकारजातं, न तु तत्त्वतोऽस्ति, यतो नामधेयमात्रमेतद्, यथा पुरुषस्य चैतन्यमिति राहोः शिर इति विकल्पमात्रम्। यथा-

---

भामती-व्याख्या

करण पहले ही किया जा चुका है, तथापि इस अधिकरण की विशेषता यह है—अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं लोकवदिति परिहारोऽभिहितः, न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति"। अर्थात् ब्रह्मरूप कारण से आकाशादि कार्य का अनन्यत्व (भेद नहीं) ही है। यदि परमार्थभूत ब्रह्मरूप कारण से आकाशादि प्रपञ्च का अभेद है, तब वैशेषिकादि के द्वारा उद्भावित भोग्य में भोक्तृत्वापत्ति क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—"व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते"। आशय यह है कि हम 'अनन्यत्व' शब्द के द्वारा 'अभेद' का अभिधान नहीं करते किन्तु भेद का प्रतिषेध करते हैं, वैशेषिकोक्त अभेदपक्षीय दोष प्रसक्त नहीं होते, प्रत्युत अभेद का निषेध करके वैशेषिकों ने हमारी सहायता ही की है। भेद-निषेध के हेतु की व्याख्या की जाती है—"आरम्भणशब्दस्तावदेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय"। ब्रह्म के जानलेने मात्र से सभी जगत् तभी जाना जा सकता है, जब कि ब्रह्म ही जगत् का मूल तत्त्व हो। रज्जु के ज्ञान से उसमें आरोपित सर्प का ज्ञान इसी लिए हो जाता है कि रज्जु ही सर्प का मूल तत्त्व (अधिष्ठान) है। तत्त्व-ज्ञान ही प्रमा ज्ञान है, उससे भिन्न सर्पादि का ज्ञान मिथ्या ज्ञान या अज्ञान होता है, इसी भाव का स्पष्टीकरण एक वैदिक दृष्टान्त के द्वारा किया जाता है—"यथा सोम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्"। यहाँ यह शङ्का होती है कि मृत्तिका के ज्ञान से घट, शरावादि का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि घटादि मृत्तिकात्मक नहीं, क्योंकि यह शिष्टापरिग्रहाधिकरण के पूर्वपक्ष में कहा जा चुका है कारण से कार्य भिन्न होता है। अन्य पदार्थ के ज्ञान से अन्य पदार्थ का ज्ञान क्योंकर होगा ? इस शङ्का का निराकरण करने के लिए श्रुति कहती है—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्"। आशय यह है कि आकाशादि प्रपञ्च केवल शब्द के द्वारा व्यवहृतमात्र होता है, तत्त्वतः उसकी

शराव उदञ्चनं चेति । नतु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति । नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः । तत्र श्रुताद्वाचारम्भणशब्दाद्दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभाव इति गम्यते । पुनश्च तेजोऽबन्नानां ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोऽबन्नकार्याणां तेजोऽबन्नव्यतिरेकेणाभावं ब्रवीति— 'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (छा० ६।४।१) इत्यादिना । आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दाद् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मु० २।२।११), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९) इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनपरं वचनजातमुदाहर्तव्यम् । न चान्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं संपद्यते । तस्माद्यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं, दृष्टनष्टस्वरू-

भामती

हुर्विकल्पविदः—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इति । तथा चावस्तुतयाऽनृतं विकारजातं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । तस्माद् घटशरावोदञ्चनादीनां तत्त्वं मृदेव, तेन मृदि ज्ञातायां तेषां सर्वेषामेव तत्त्वं ज्ञातं भवति । तदिदमुक्तं ॐ न चान्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं सम्पद्यते इति ॐ । निदर्शनान्तरद्वयं दर्शयन्नुपसंहरति ॐ तस्माद्यथा घटकरकाद्याकाशानाम् इति ॐ । ये हि दृष्टनष्टस्वरूपा न ते वस्तुसन्तो यथा मृगतृष्णिकोदकादयः, तथा च सर्वं विकारजातं, तस्मादवस्तुसत् । तथाहि—यदस्ति तदस्त्येव, यथा चिदात्मा, नह्यसौ कदाचित् क्वचित् कथञ्चिन्नास्ति, किन्तु सर्वदा सर्वत्र सर्वथास्त्येव, न नास्ति । न चैवं विकारजातं, तस्य कदाचित् कथञ्चित् कुत्रचिदवस्थानात् । तथाहि—सत्स्वभावं

भामती-व्याख्या

कोई पृथक् सत्ता नहीं, क्योंकि वह वैसे ही नामधेयमात्र है, जैसे कि 'पुरुषस्य चैतन्यम्', 'राहोः शिरः' ऐसा विकल्पमात्र । विकल्प की परिभाषा योगसूत्रकार ने की है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (यो. सू. १।९) । जिस पदार्थ की कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती, केवल शब्द के द्वारा जो एक मानसिक वृत्तिमात्र हो जाती है, उसको विकल्प-वृत्ति कहते हैं, जैसे कि पुरुष से चैतन्य और राहु से शिर कोई भिन्न पदार्थ नहीं, फिर भी 'पुरुषस्य चैतन्यम्', 'राहोः शिरः'—ऐसा भेद-व्यवहार हो जाता है, वैसे ही घटादि विकार-प्रपञ्च अवस्तु होने के कारण अनृत (मिथ्या) है, मृत्तिका ही एक सत्य पदार्थ है । फलतः घट, शराव (सकोरा) और उदञ्चन (मिट्टी का डोल जिसके द्वारा खेत सींचने के लिए कुई से पानी निकालते हैं) आदि कार्य-वर्ग का तत्त्व मृत्तिका ही है, अतः मृत्तिका के ज्ञात हो जाने पर सभी विकार-वर्ग का ज्ञात हो जाना स्वाभाविक है । भाष्यकार ने व्यतिरेक-मुखेन यही कहा है—"न चान्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं सम्पद्यते ।" अन्य दो दृष्टान्तों को दिखाते हुए उपसंहार कर रहे हैं—"तस्माद् यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वम्" । अर्थात् जैसे घटाकाश, करकाकाशादि महाकाश से भिन्न नहीं होते अथवा जो पदार्थ दिखते ही नष्ट हो जाएँ—ऐसे मृगतृष्णिका-जलादि वस्तु-सत् नहीं होते, वैसे ही समस्त विकार-समूह वस्तु-सत् नहीं । उसके विपरीत जो स्वयं सत् है और दृष्ट-नष्ट नहीं होता, वह परमार्थ सत् होता है, जैसे—चिदात्मा, क्योंकि यह कभी भी कहीं भी और किसी प्रकार भी असत् नहीं, अपितु सर्वदा सर्वत्र और सर्वथा सत् ही है, असत् नहीं । किन्तु विकार-वर्ग ऐसा नहीं, क्योंकि वह कभी भी कहीं पर भी और किसी प्रकार भी अवस्थित नहीं । यदि विकार-समूह सत्स्वभाववाला है, तब कदाचित् असत् क्यों ? यदि विकार जगत् असत्स्वरूप

परत्वात्स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्य-

भामती

चेद्विकारजातं कथं कदाचिदसत् ? असत्स्वभावं चेत् कथं कदाचित् सत् ? सदसतोरेकत्वविरोधात्। नहि रूपं कदाचित् क्वचित् कथंचिद्वा गन्धो भवति। अथ तस्य सदसत्त्वे धर्मौ, ते च स्वकारणाधीनजन्मतया कदाचिदेव भवतः, तत्तर्हि विकारजातं दण्डायमानं सदातनमिति न विकारः कस्यचित्। अथासत्त्वसमये तन्नास्ति, कस्य तर्हि धर्मोऽसत्त्वम् ? नहि धर्मिण्यप्रत्युत्पन्ने तद्धर्मोऽसत्त्वं प्रत्युत्पन्नमुपपद्यते। अथास्य न धर्मः किन्त्वर्थान्तरमसत्त्वं, किमायातं भावस्य ? नहि घटे जाते पटस्य किञ्चिद्भवति। असत्त्वं भावविरोधीति चेद्, न; अकिञ्चित्करस्य तत्त्वानुपपत्तेः। किञ्चित्करत्वे वा तत्राप्यसत्त्वे तदनुयोगसम्भवात्। अथास्यासत्त्वं नाम किञ्चिन्न जायते किन्तु स एव न भवति। यथाहुः—

"न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव केवलम्।" इति।

अथैव प्रसज्यप्रतिषेधो निरुच्यतां किं तत्स्वभावो भाव उत भावस्वभावः स इति। तत्र पूर्वस्मिन् कल्पे भावानां तत्स्वभावतया तुच्छतया जगच्छून्यं प्रसज्येत। तथा च भावानुभवाभावः। उत्तरस्मिंस्तु सर्वभावनित्यतया नाभावव्यवहारः स्यात्। कल्पनामात्रनिमित्तत्वेऽपि निषेधस्य भावनित्यतापत्तिस्तदवस्थैव। तस्माद्भिन्नमस्ति कारणाद्विकारजातं न वस्तुसत्, अतो विकारजातमनिर्वचनीयमनृतम्।

भामती–व्याख्या

है, तब कदाचित् सत् क्यों ? सत् और असत् की एकरूपता सम्भव नहीं, क्योंकि रूप पदार्थ कभी भी कहीं भो और किसी प्रकार भी गन्ध पदार्थ नहीं होता। विकार-प्रपञ्च के सत्त्व और असत्त्व धर्म हैं और वे अपनी सामग्री के द्वारा कदाचित् उत्पन्न किए जाते हैं, तब विकार-प्रपञ्चरूप धर्मी दण्डायमान सदातन सिद्ध हो जाने के कारण वह किसी का विकार क्यों होगा ? यदि असत्त्वरूप धर्म के समय प्रपञ्च नहीं, तब असत्त्व किस का धर्म होगा ? क्योंकि धर्मी के विद्यमान न होने पर 'असत्त्व' उसका धर्म नहीं हो सकता। यदि असत्त्व प्रपंच का धर्म नहीं, अपितु उससे भिन्न ही है, तब प्रपञ्चरूप धर्मी की भावरूपता पर उसका क्या प्रभाव ? क्योंकि घट की उत्पत्ति का पट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि कहा जाय कि प्रपञ्चगत असत्त्व प्रपञ्च के भाव (सत्त्व) का विरोधी है, अतः असत्त्व के समय प्रपंच की सत्ता न रहने से उसकी सदातनत्वापत्ति क्यों होगी ? प्रपंचगत असत्त्व भाव का विरोधी क्या विना किसी विरुद्ध धर्म को जन्म देकर ही है ? अथवा विरुद्ध धर्म (भावासत्त्व) का उत्पादन करके ? विरुद्ध धर्मोत्पादन के बिना विरोधी नहीं हो सकता और यदि भावासत्त्व-रूप धर्म का उत्पादन करता है, तब उस उत्पद्यमान असत्त्व के विषय में भी ये ही विकल्प किए जा सकते हैं। यदि कहा जाय कि विरोधिरूप असत्त्व से भाव का असत्त्व उत्पन्न नहीं होता अपितु भाव ही नहीं रहता, जैसा कि श्री धर्मकीर्ति ने कहा है- "न तस्य किंचिद् भवति न भवत्येव केवलम्" (प्र. वा. स्वार्थां. २८१)। तब 'भावो न भवति'— यहाँ प्रसज्य-प्रतिषेध (अभाव) का प्रतिपादक नकार है, जैसा कि श्रीधर्मकीर्ति ने कहा है—"न भवतीति च प्रसज्यप्रतिषेध एव न पर्युदासः" (प्र० वा० स्वो० पृ० ९८) अतः उक्त वाक्य के दो अन्वयबोध हो सकते हैं– (१) 'भावोऽभावः', (२) अभावो भावः'। यदि भावपदार्थों को अभावरूप माना जाता है, तब समस्त आकाशादि जगत् अभावरूप हो जाने से तुच्छ (शून्य) हो जाता है फिर भावपदार्थ का अनुभव ही नहीं होना चाहिए। उत्तर (द्वितीय) कल्प के अनुसार अभाव भी जब भावरूप हो जाता है, तब अभाव-व्यवहार क्योंकर होगा ? 'भावो न'—यहाँ पर यदि भाव का निषेध काल्पनिकमात्र माना जाता है, तब भावपदार्थ में नित्यतापत्ति पूर्ववत् बनी रहती है। फलतः विकार-प्रपंच को ब्रह्मरूप कारण से भिन्न

भामती

तदनेन प्रमाणेन सिद्धमनृतत्वं विकारजातस्य कारणस्य निर्वाच्यतया सत्त्वं, मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादिना प्रबन्धेन दृष्टान्ततयाऽनुवदति श्रुतिः। "यत्र लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः" इति चाक्षपाद-सूत्रं प्रमाणसिद्धो दृष्टान्त इत्येतत्परं, न पुनर्लोकसिद्धत्वमत्र विवक्षितम्, अन्यथा तेषां परमाण्वादिर्न दृष्टान्तः स्यात्। नहि परमाण्वादिर्नैसर्गिकवैनयिकबुद्ध्यतिशयरहितानां लौकिकानां सिद्ध इति। सम्प्र-

भामती–व्याख्या

मानना होगा किन्तु वस्तु सत् नहीं। सत और असत् से भिन्न विकार-प्रपंच को अनिर्वचनीय और अनृत माना जाता है। [श्री धर्मकीर्ति ने 'वर्णानुपूर्वी वर्णों से भिन्न है? अथवा अभिन्न'? इस विषय में जो शैली उद्भावित की है, सम्भवतः वाचस्पति मिश्र ने वही शैली यहाँ अपनाई है। धर्मकीर्ति के श्लोक इस प्रकार है—

आनुपूर्व्याश्च वर्णेभ्यो भेदः स्फोटेन चिन्तितः॥
कल्पनारोपिता सा स्यात् कथं वाऽपुरुषाश्रया।
सत्तामात्रानुबन्धित्वान्नाशस्यानित्यता ध्वनेः॥
अग्नेरर्थान्तारोत्पत्तौ भवेत् काष्ठस्य दर्शनम्।
अविनाशात्, स एवास्य विनाश इति चेत् कथम्॥
अन्योऽन्यस्य विनाशोऽस्तु काष्ठं कस्मान्न दृश्यते।
तत्परिग्रहतश्चेन्न तेनानावरणं यतः॥
विनाशस्य विनाशित्वं स्यादुत्पत्तेस्ततः पुनः।
काष्ठस्य दर्शनं हन्तृघाते चैत्रापुनर्भवः॥
यथाऽत्राप्येवमिति चेद् हन्तुर्नामरणत्वतः।
अनन्यत्वे विनाशस्य स्यान्नाशः काष्ठमेव तु॥
तस्य सत्त्वादहेतुत्वं नातोऽन्या विद्यते गतिः।
अहेतुत्वेऽपि नाशस्य नित्यत्वाद्भावनाशयोः॥
सहभावप्रसङ्गश्चेदसतो नित्यता कुतः।
असत्त्वेऽभावनाशित्वप्रसङ्गोऽपि न युज्यते॥
यस्माद्भावस्य नाशेन न विनाशनमिष्यते।
नश्यन् भावोऽपरापेक्ष इति तज्ज्ञापनाय सः॥
अवस्थाऽहेतुरुक्तास्या भेदमारोप्य चेतसा।
स्वतोऽपि भावेऽभावस्य विकल्पश्चेदयं समः॥
न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव केवलम्।
भावे ह्येष विकल्पः स्याद्विधेर्वस्त्वनुरोधतः॥ (प्र. वा. स्वो. पृ. ९४)]।

कथित प्रमाण के द्वारा विकार-जगत् में जो अनृतत्व और ब्रह्मरूप कारण में निर्वाच्यता-प्रयुक्त सत्त्व सिद्ध होता है, उसी का अनुवाद श्रुति ने "मृत्तिकेत्येव सत्यम्"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा दृष्टान्त के रूप में किया है। यद्यपि "यत्र लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः" (न्या. सू. १।१।२५) इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने लोक-प्रसिद्ध पदार्थ को ही दृष्टान्त माना है, किन्तु कथित कार्यगत मिथ्यात्व और कारणगत सत्यत्व अनुमान-गम्य हैं, लोक-प्रसिद्ध नहीं। तथापि लोक-प्रसिद्ध का अर्थ है—प्रमाण-सिद्ध। लोक-सिद्ध विवक्षित नहीं, अन्यथा परमाण्वादि अलौकिक पदार्थों को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकेगा, क्योंकि परमाण्वादि बुद्धिगत नैसर्गिक (अविवेचित प्रमाण-सुलभ) और वैनयिक (विवेचित प्रमाण-

तिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम् । नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म । अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव । यथा वृक्ष इत्येकत्वं, शाखा इति नानात्वम् । यथा च समुद्रात्मनैकत्वं, फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम् । यथा च मृदात्मनैकत्वं, घटशरावाद्यात्मना नानात्वम् । तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति, नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति । एवं च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति । नैवं स्यात्, 'मृत्ति-

भामती

त्यनेकान्तवादिनमुत्थापयति ॐ नन्वनेकात्मकम् इति ॐ । अनेकाभिः शक्तिभिर्याः प्रवृत्तयो नानाकार्यसृष्टयस्तद्युक्तं ब्रह्मैकं नाना चेति । किमतो यद्येवमित्यत आह ॐ तत्रैकत्वांशेन इति ॐ । यदि पुनरेकत्वमेव वस्तुसद्भवेत् ततो नानात्वाभावाद्वैदिकः कर्मकाण्डाश्रयो लौकिकश्च व्यवहारः समस्त एवोच्छिद्येत । ब्रह्मगोचराश्च श्रवणमननादयः सर्वे दत्तजलाञ्जलयः प्रसज्येरन् । एवं चानेकात्मकत्वे ब्रह्मणो मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति । तमिममनेकान्तवादं दूषयति ॐ नैवं स्याद् इति ॐ । इदं तावदत्र वक्तव्यम्—मृदात्मनैकत्वं घटशरावाद्यात्मना नानात्वमिति वदतः कार्यकारणयोः परस्परं किमभेदोऽभिमतः, आहो भेदः, उत भेदाभेदाविति । तत्राभेद ऐकान्तिके मृदात्मनेति च घटशरावाद्यात्मनेति

भामती-व्याख्या

जा!ट) उत्कर्ष से रहित लौकिक व्यक्तियों की दृष्टि में प्रसिद्ध नहीं । [उक्त सौत्र लक्षण का स्वरूप निखारते हुए वार्तिककार ने कहा है—"बुद्धिसाम्यविषयोऽर्थो दृष्टान्त इति सूत्रार्थः । एवं चाकाशद्यवरोधः । यदि पुनरेवमेवावधार्येत लौकिकानां परीक्षकाणां च यो विषयः, स दृष्टान्त इति अलौकिकार्थो न दृष्टान्तः स्यादाकाशादि" (न्या० वा० पृ० ४२८) । श्री वाचस्पति मिश्र ने ही इसके अवतरण में कहा है—'अत्र वार्तिककारो लौकिकपरीक्षकस्वरूपमविवक्षितमिति मन्वान आह—बुद्धिसाम्येति" । इसी सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने 'लौकिक' और 'परीक्षक' शब्दों का अर्थ किया है—"लोकसामान्यमनतीताः लौकिकाः, नैसर्गिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः तद्विपरीताः परीक्षकाः—तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति" (न्या० भा० पृ० ४९७) । बुद्धि में दो प्रकार का उत्कर्ष होता है—नैसर्गिक और वैनयिक । इनकी व्याख्या परिशुद्धिकार ने की है—"क्षीरनीरवदविवेचितानि सांव्यवहारिकाणि प्रमाणानि निसर्गः, तद्भवो नैसर्गिकः । खलितैलवत् विवेचितानि दुर्निरूपार्थगोचराणि प्रमाणानि विनयः, स एव वैनयिकः" (ता० परि० पृ० ४९९)] ।

अनेकान्तवादी (भेदाभेदवादी) की ओर से शङ्का प्रस्तुत की जाती है—"नन्वनेकात्मकं ब्रह्म" । अनेक शक्तियों के द्वारा जो अनेक कार्य-सर्जनरूप विविध प्रवृत्तियाँ हैं, उनसे युक्त ब्रह्म एक ही है । ऐसा मानने से क्या लाभ ? इस प्रश्न का उत्तर है—"तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयः" । यदि ब्रह्म में एकत्व ही वस्तुसत् माना जाता है, तब नानात्व न होने के कारण वैदिक कर्मकाण्ड-प्रतिपादित व्यवहार एवं लौकिक भेद-व्यवहार अत्यन्त उच्छिन्न हो जाता है, ब्रह्मविषयक श्रवण, मननादि साधनों को तिलाञ्जलि देनी होगी । ब्रह्म को अनेकात्मक मानने पर मृदादि दृष्टान्त अनुरूप हो जाते हैं ।

उक्त अनेकान्तवाद का निरास करते हैं—"नैवं स्यात्" । जो वादी यह कहता है कि मृदात्मना एकत्व और घटशरावादिरूपेण नानात्व होता है । उस वादी से पूछा जाता है कि कार्य और कारण का क्या (१) अभेद विवक्षित है ? या (२) भेद ? अथवा (३) भेदाभेद ? अत्यन्ताभेद-पक्ष में 'मृदात्मना घटाद्यात्मना'—इस प्रकार का शब्द-विन्यास और व्यवस्था-

केत्येव सत्यम्' इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्, वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानाद्, दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात्, 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात्। स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते, न यत्नान्तरप्रसाध्यम्। अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं संपद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम्। बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत। दर्शयति च—'यत्र

भामती

चोल्लेखद्वयं नियमश्च नोपपद्यते। भेदे चोल्लेखद्वयानियमावुपपन्नौ, आत्मनेति त्वसमञ्जसम्। नह्यन्यस्यान्य आत्मा भवति। न चानेकान्तवादः। भेदाभेदकल्पे तूल्लेखद्वयं भवेदपि। नियमस्त्वयुक्तो नहि धर्मिणोः कार्यकारणयोः सङ्करे तद्धर्मयोरेकत्वनानात्वे न सङ्कीर्येते इति सम्भवति। ततश्च मृदात्मनैकत्वं यावद्भवति तावद् घटशरावाद्यात्मनापि स्यात्, एवं घटशरावाद्यात्मना नानात्वं यावद्भवति तावन्मृदात्मना नानात्वं भवेत्। सोऽयं नियमः कार्यकारणयोरैकान्तिकं भेदमुपकल्पयति, अनिर्वचनीयतां वा कार्यस्य। पराकान्तं चास्माभिः प्रथमाध्याये तदास्तां तावत्। तदेतद्युक्तिनिराकृतमनुवदन्तीं श्रुतिमुदाहरति * मृत्तिकेत्येव सत्यम् इति *। स्यादेतत्—न ब्रह्मणो जीवभावः काल्पनिकः, किन्तु भाविकः, अंशो हि सः, तस्य कर्मसहितेन ज्ञानेन ब्रह्मभाव आधीयत इत्यत आह *स्वयं प्रसिद्धं हि इति*। स्वाभाविकस्यानादेरिति। यदुक्तं नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयो लौकिकश्च व्यवहारः सेत्स्यतीति तत्राह * बाधिते च इति *। यावदबाधं हि सर्वोऽयं व्यवहारः स्वप्नदशायामिव तदुपदर्शितपदार्थजातव्यवहारः। स च यथा जाग्रद-

भामती–व्याख्या

नियम—ये दोनों अनुपपन्न हो जाते हैं और 'आत्मनः' ऐसा कहना भी असमञ्जस हो जाता है, क्योंकि अन्य पदार्थ अन्य का आत्मा (स्वरूप) नहीं होता। अनेकान्तवाद (भेदाभेदवाद) भी संगत नहीं, क्योंकि भेदाभेद-कल्प में उक्त द्विविध शब्द-विन्यास तो बन जाता है किन्तु उक्त कार्यकारणभाव का नियम युक्त नहीं होता, क्योंकि कार्य और कारणरूप धर्मों का सांकर्य सम्भव नहीं। फलतः जब तक मृदात्मना एकत्व रहता है, तब तक घटादिरूप से भी एकत्व रहेगा। इसी प्रकार जब तक घटादिरूप से नानात्व रहता है, तब तक मृद्रूप से भी नानात्व ही रहेगा। अतः यह कार्य-कारणभाव का नियम या तो कार्य और कारण का ऐकान्तिक भेद सिद्ध करता है अथवा कार्य-वर्ग का अनिर्वचनीयत्व। इस विषय का विशेष विचार प्रथमाध्याय में (विगत पृ० १२० पर) किया जा चुका है, यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। युक्ति के द्वारा जो अनेकान्तवाद का निराकरण किया गया, उसके अनुसार कारणमात्र के सत्यत्व का अनुवाद करनेवाली श्रुति का उल्लेख करते हैं—"मृत्तिकेत्येव सत्यम्"—इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्"। शङ्कावादी शङ्का करता है कि ब्रह्म में जीवभाव काल्पनिक नहीं, अपितु वास्तविक है, क्योंकि वह (जीव) ब्रह्म का अंश है, कर्म-समुच्चित ज्ञान के द्वारा जीव में ब्रह्मभाव आहित होता है। इस शङ्का का समाधान है—"स्वयं प्रसिद्धं हि एतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते"। अर्थात् जीव में ब्रह्मरूपता स्वाभाविक अनादि-सिद्ध है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए किसी प्रकार के कर्म की आवश्यकता नहीं। जो यह कहा था कि नानात्वांश को लेकर कर्मकाण्ड-प्रतिपादित यज्ञादि एवं लौकिक व्यवहार का निर्वाह हो जाता है, उस पर सिद्धान्ती का कहना है—"बाधिते च शारीरात्मत्वे"। अर्थात् जैसे रज्जु में सर्प-व्यवहार तभी तक होता है, जब तक उसका

त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम् । न चायं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषनिबद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात् । तस्करदृष्टान्तेन चानृताभिसंधस्य बन्धनं सत्याभिसंधस्य च मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति' (छा० ६।१६) । मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम् । उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसंध इत्युच्येत ? 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इति च भेददृष्टिमपवदन्नेवैतद्दर्शयति । न चास्मिन्दर्शने ज्ञानान्मोक्ष

भामती

वस्थायां बाधकान्निवर्तते एवं तत्त्वमस्यादिवाक्यपरिभावनाभ्यासपरिपाकभुवा शारीरस्य ब्रह्मात्मभावसाक्षात्कारेण बाधकेन निवर्तते । स्यादेतत्—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येद्' इत्यादिना मिथ्याज्ञानाधीनो व्यवहारः क्रियाकारकादिलक्षणः सम्यग्ज्ञानेनापनीयत इति न ब्रूते, किन्त्ववस्थाभेदाश्रयो व्यवहारोऽवस्थान्तरप्राप्त्या निवर्तते, यथा बालकस्य कामचारवादभक्षतोपनयनप्राप्तौ निवर्तते । न च तावतासौ मिथ्याज्ञाननिबन्धनो भवत्येवमत्रापीत्यत आह ❀ न चायं व्यवहाराभावः इति ❀ । कुतः ? ❀ तत्त्वमसीति ब्रह्मात्मभावस्य इति ❀ । न खल्वेतद्वाक्यमवस्थाविशेषविनियतं ब्रह्मात्मभावमाह जीवस्य, अपि तु न भुजङ्गो रज्जुरियमितिवत् सदातनं तमभिवदति । अपि च सत्यानृताभिधानेनाप्येतदेव युक्तमित्याह ❀ तस्करदृष्टान्तेन च इति ❀ । ❀ न चास्मिन् दर्शने इति ❀ । नहि जातु काष्ठस्य

भामती—व्याख्या

बाध न हो, वैसे ही जीवभाव का जब तक बाध नहीं होता, तब तक स्वाप्न व्यवहार के समान समस्त वैदिक और लौकिक व्यवहार प्रवृत्त हो जाता है। जाग्रद् बाध जैसे स्वप्नावस्था का बाधक और स्वाप्न व्यवहार का निवर्त्तक हो जाता है, वैसे ही "तत्त्वमसि"—आदि महावाक्यों के श्रवणादिरूप अभ्यास-परम्परा की परिपक्व अवस्था में समुत्पन्न ब्रह्मभावविषयक साक्षात्काररूप बाधक अज्ञान और उसके व्यवहार का निवर्तक हो जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्" (बृह० उ० ४।५।१५) ।

शङ्का—"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्"—यह श्रुति यह नहीं कहती है कि 'क्रिया, कारकादि समस्त व्यवहार मिथ्याज्ञान-प्रयुक्त है, सम्यक् ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का बाध हो जाने पर उक्त व्यवहार निवृत्त हो जाता है' । किन्तु उक्त श्रुति यह व्यवस्था देती है कि प्रत्येक अवस्था का व्यवहार भिन्न है, एक अवस्था का व्यवहार दूसरी अवस्था के प्राप्त होने पर निवृत्त हो जाता है, जैसे उपनयन संस्कार से पहले बालक का किसी के घर भी खा-पी लेना आदि ऐच्छिक व्यवहार यज्ञोपवीत हो जाने पर निवृत्त हो जाता है। इतने मात्र से उस ऐच्छिक व्यवहार को भ्रममात्र नहीं माना जा सकता। वैसे ही संसारावस्था में आत्मा का समस्त लौकिक और वैदिक व्यवहार सत्य होने पर भी मोक्षावस्था में निवृत्त हो जाता है, उसे मिथ्याज्ञान-प्रयुक्त मानने की क्या आवश्यकता ?

समाधान—भाष्यकार उस शङ्का का निरास करते हुए कहते हैं कि "व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषनिबद्धः", क्योंकि "तत्त्वमसीति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिबद्धः" । अर्थात् "तत्त्वमसि"—यह वाक्य किसी अवस्था-विशेष के लिए ही जीव में ब्रह्मरूपता का बोधक नहीं, अपितु 'न भुजङ्गः, रज्जुरियम्'—यह वाक्य जैसे सदातन रज्जुरूपता का बोधक है, वैसे ही सार्वदिक ब्रह्मरूपता का अभिधान करता है। जैसे काष्ठरूप कारण में दण्ड,

इत्युपपद्यते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनानभ्युपगमात्। उभयसत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते ?

नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात्प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि। तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि भेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याहन्येत मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याघातः स्यात्। कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य

भामती

दण्डकमण्डलुकुण्डलशालिनः कुण्डलित्वज्ञानं दण्डवत्तां कमण्डलुमत्तां वा बाधते। तत् कस्य हेतोः ? तेषां कुण्डलादीनां तस्मिन् भाविकत्वात्, तद्वदिहापि भाविकमेवरेणकात्म्यज्ञानेन न नानात्वं भाविकमपवदनीयम। नहि ज्ञानेन वस्त्वपनीयते, अपि तु मिथ्याज्ञानेनारोपितमित्यर्थः।

चोदयति ⊛ नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमः इति ⊛। अबाधितानधिगतासन्दिग्धविज्ञानसाधनं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणोपपत्त्या प्रत्यक्षादीनि प्रमाणतामश्नुवते। एकत्वैकान्ताभ्युपगमे तु तेषां सर्वेषां भेदविषयाणां बाधितत्वादप्रामाण्यं प्रसज्येत। तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि भावनाभाव्यभावककरणेतिकर्तव्यताभेदापेक्षत्वाद्व्याहन्येत। तथा च नास्तिक्यमेकदेशाक्षेपेण च सर्ववेदाक्षेपाद्वेदान्तानामप्यप्रामाण्यमित्यभेदैकान्ताभ्युपगमहानिः। न केवलं विधिनिषेधाक्षेपेणास्य मोक्षशास्त्रस्याक्षेपः स्वरूपेणास्यापि भेदापेक्षत्वादित्याह ⊛ मोक्षशास्त्रस्यापि इति ⊛। अपि चास्मिन् दर्शने वर्णपदवाक्यप्रकरणादीनामलीकत्वात्तत्प्रभवमद्वैतज्ञानमसमीचीनं भवेत्, न खल्वलीकाद् धूमाद् धूमकेतनज्ञानं समीचीनमित्याह ⊛ कथं चानृतेन

भामती–व्याख्या

कमण्डलु और कुण्डलादि सभी कार्य वस्तुतः उत्पन्न होते हैं, अतः 'कुण्डलवदिदं काष्ठम्'—यह ज्ञान काष्ठगत कुण्डलित्व या दण्डवत्ता का बाधक नहीं। वैसे ही जीव और ब्रह्म का नानात्व (भेद) यदि वास्तविक होता, तब एकत्व-ज्ञान से उसका बाध नहीं होता, क्योंकि ज्ञान के द्वारा किसी वस्तु का अपनयन नहीं होता, अपितु मिथ्या ज्ञान के द्वारा आरोपित पदार्थों का ही बाध होता है।

शङ्का—भाष्यकार ने शङ्का उठाई है कि यदि ऐकान्तिक एकत्व (अभेद) माना जाता है, तब (१) लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण, (२) विधि-निषेधात्मक शास्त्र एवं (३) मोक्षागम—ये सभी व्याहत (बाधितविषयक) हो जाते हैं, क्योंकि (१) जिस ज्ञान का विषय अबाधित, अनधिगत और असन्दिग्ध हो, उस ज्ञान को प्रमा और उसके साधन पदार्थ को प्रमाण कहा जाता है। इस प्रकार प्रमाण के सामान्य लक्षण से युक्त होकर ही प्रत्यक्षादि प्रमाणता की पदवी प्राप्त करते हैं किन्तु ऐकान्तिक एकत्व (अभेद) मान लेने पर उक्त प्रमाणता सुरक्षित नहीं रहती, क्योंकि वे सभी प्रमाण भेदविषयक हैं, अभेद के द्वारा भेद का बाध हो जाने से उनमें अप्रामाण्य प्रसक्त होता है। (२) विधि-निषेधात्मक शास्त्र भी भावना (शाब्दी और आर्थी द्विविध कृति), भाव्य (कार्य), भावक (शब्दादि), करण (यागादि) तथा इतिकर्त्तव्य (करण के सहायक व्यापार) के भेद की अपेक्षा करने के कारण अभेदाभ्युपगम से व्याहत हो जाता है। विधि-निषेधात्मक शास्त्रों के व्याहत हो जाने से परलोकादि का अभाव एवं नास्तिक्य प्राप्त होता है। (३) वेद के विधि-निषेधात्मक एक भाग पर आक्षेप होने के कारण वेदान्तरूप मोक्षागम का भी अप्रामाण्य एवं ऐकान्तिक एकत्वाभ्युपगम की हानि प्रसक्त होती है। केवल विधि-निषेधात्मक भाग के आक्षेप से ही यह वेदान्तरूप मोक्ष-शास्त्र व्याहत नहीं होता, अपितु भेद-सापेक्ष होने के कारण स्वरूपतः (साक्षात्) बाधित होता है—"मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याघातः स्यात्"। दूसरी

सत्यत्वमुपपद्येतेति ?

अत्रोच्यते - नैष दोषः, सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः, स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत् प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते । विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्ययाऽऽत्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा। तस्मात्प्राग्ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः। यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्न उच्चावचान्भावान्पश्यतो निश्चितमेव

भामती

मोक्षशास्त्रेण इति ⊛। परिहरति ⊛ अत्रोच्यते इति ⊛। यद्यपि प्रत्यक्षादीनां तात्त्विकमबाधितत्वं नास्ति, युक्त्यागमाभ्यां बाधनात्, तथापि व्यवहारे बाधनाभावात्सांव्यवहारिकमबाधनम्। नहि प्रत्यक्षादिभिरर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानो व्यवहारे विसंवाद्यते सांसारिकः कश्चित्। तस्मादबाधनान्न प्रमाणलक्षणमतिपतन्ति प्रत्यक्षादयं इति। ⊛ सत्यत्वोपपत्तेः इति ⊛। सत्यत्वाभिमानोपपत्तेरिति। ग्रहणकवाक्यमेतद्, विभजते ⊛ यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिः इति ⊛। विकारानेव तु शरीरादीनहमित्यात्मभावेन पुत्रपश्वादीन् ममेत्यात्मीयभावेनेति योजना। ⊛ वैदिकश्च इति ⊛। कर्मकाण्डमोक्षशास्त्रव्यवहारसमर्थना। ⊛ स्वप्नव्यवहारस्येव इति विभजते ⊛ यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य इति ⊛। कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेणेति यदुक्तं

भामती—व्याख्या

बात यह भी है कि इस दर्शन (वेदान्त-शास्त्र) में वर्ण (अकारादि), पद, वाक्य और प्रकरणादि की अपेक्षा है [जैसा कि न्यायवार्तिककार शास्त्र का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—"शास्त्रं पुनः प्रमाणादिवाचकपदसमूहः, पदं पुनः वर्णसमूहः, पदसमूहः सूत्रम्, सूत्रसमूहः प्रकरणम्, प्रकरणसमूह आह्निकम्, आह्निकसमूहोऽध्यायः" (न्या० वा० १।१।१)]। अभेदवाद में तो कल्पित वर्ण, पदादि का भेद मिथ्या या अलीक है, अतः ऐसे शास्त्र के द्वारा उत्पादित अद्वैत-ज्ञान भी असमीचीन (अप्रमा) ही होगा, क्योंकि अलीक धूम के द्वारा उत्पादित वह्निविषयक ज्ञान समीचीन नहीं होता, भाष्यकार ने यही कहा है—"कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येत"।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"नैष दोषः"। यद्यपि प्रत्यक्षादि को तात्त्विक प्रमाण (अबाधितविषयक) नहीं माना जाता, क्योंकि युक्ति और आगम के द्वारा प्रत्यक्षादि का विषय बाधित हो जाता है। तथापि सांव्यावहारिक प्रामाण्य प्रत्यक्षादि का माना जाता है, क्योंकि व्यवहार-काल में उनका विषय अबाधित होता है, अन्यथा सांसारिक पुरुष की प्रत्यक्षादि के विषय में प्रवृत्ति सफल न होती, किन्तु सफल होती है। फलतः व्यवहार-काल में अबाधित अनधिगत और असन्दिग्ध विषय को अपनाने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाण अपने सामान्य लक्षण से विभूषित हो जाते हैं। "सत्यत्वोपपत्तेः"—इस भाष्य का अर्थ है—'सत्यत्वाभिमानोपपत्तेः'। "सर्वव्यवहाराणां प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः"—यह भाष्य ग्रहणक वाक्य (व्याख्येय भाष्य) है, उसकी व्याख्या स्वयं भाष्यकार करता है—"यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिः"। यहाँ 'आत्मात्मीयेन भावेन' का इस प्रकार विश्लिष्ट अन्वय कर लेना चाहिए—"शरीरादिविकारान् अहमिति आत्मभावेन, पुत्रपश्वादीन् ममेति आत्मीयभावेन"। शरीरेन्द्रियादि में अहं और पुत्रपश्वादि में ममभाव का अध्यास स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही कहा है—"अहंममेति लौकिको व्यवहारः"। "वैदिकश्च व्यवहारः"—इस वाक्य के द्वारा भाष्यकार ने कर्मकाण्ड तथा मोक्ष-शास्त्र का समर्थन किया है—"स्वप्नव्यवहारस्येव"—इस दृष्टान्त की

प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक्प्रबोधात्, नच प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले भवति, तद्वत्। कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत ? नहि रज्जुसर्पेण दष्टो म्रियते । नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादि-

भामती

तदनुभाष्य दूषयति ॐ कथं त्वसत्येन इति ॐ। इदमत्र वक्तुं श्रवणाद्युपाय आत्मसाक्षात्कारपर्यन्तो वेदान्तसमुत्थोऽपि ज्ञाननिचयोऽसत्यः, सोऽपि हि वृत्तिरूपः कार्यतया निरोधधर्मा, यस्तु ब्रह्मस्वभावसाक्षात्कारोऽसौ न कार्यस्तत्स्वभावत्वात् , तस्मादचोद्यमेतत् ॐकथमसत्यात्सत्योत्पादः इतिॐ । यत् खलु सत्यं न तदुत्पद्यत इति कुतस्तस्यासत्यादुत्पादो ? यच्चोत्पद्यते तत्सर्वमसत्यमेव । सांव्यवहारिकं तु सत्यत्वं वृत्तिरूपस्य ब्रह्मसाक्षात्कारस्येव श्रवणादीनामप्यभिन्नं, तस्मादभ्युपेत्य वृत्तिस्वरूपस्य ब्रह्मसाक्षात्कारस्य परमार्थसत्यतां व्यभिचारोद्भावनमिति मन्तव्यम् । यद्यपि सांव्यवहारिकस्य सत्यादेव भयात्सत्यं मरणमुत्पद्यते तथापि भयहेतुरहितस्तज्ज्ञानं वाऽसत्यं ततो भयं सत्यं जायत इत्यसत्यात्सत्यस्योत्पत्तिरुक्ता । यद्यपि चाहिज्ञानमपि स्वरूपेण सत्तथापि न तज्ज्ञानत्वेन भयहेतुरपि त्वनिर्वाच्याहिरूषितत्वेन । अन्यथा रज्जुज्ञानादपि भयप्रसङ्गाज्ज्ञानत्वेनाविशेषात् । तस्मादनिर्वाच्याहिरूषितं ज्ञानमप्यनिर्वाच्यमिति सिद्धमसत्यादपि सत्यस्योपजन इति । न च ब्रूमः सर्वस्मादसत्यात्सत्यस्योपजनो, यतः समारोपितधूमभावाया

भामती–व्याख्या

स्पष्टीकरण किया गया है—"यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य" । अर्थात् जैसे स्वप्नावस्था में साधारण व्यक्ति जो कुछ भी देखता है, उसको तब तक सत्य और प्रत्यक्ष ही समझता रहता है, जब तक जाग नहीं जाता। वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति वस्तुतः मिथ्या प्रपञ्च को व्यवहार-काल में सत्य ही समझता है।

यह जो शङ्का की गई थी कि "कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्य सत्यत्वम् ?" उस शङ्का का अनुवादपूर्वक निरास किया जाता है—"कथं त्वसत्येन सत्यस्य प्रतिपत्तिः ?" यहाँ यह विस्पष्ट कहा जा सकता है कि श्रवणादि साधनों के द्वारा वेदान्त-वाक्य-जनित आत्मसाक्षात्कार-पर्यन्त ज्ञान-परम्परा असत्य है, क्योंकि वह अन्तःकरण की एक वृत्ति है, अन्तःकरण का विकार होने के कारण अन्तःकरण का धर्म है, किन्तु जो ब्रह्मस्वरूप साक्षात्कार है, वह किसी का कार्य (विकार) नहीं, क्योंकि वह ब्रह्मस्वरूप है, अतः यह आक्षेप निराधार है कि असत्य साधन से सत्य का उत्पाद क्योंकर होगा। अर्थात् जो ब्रह्मस्वरूप सत्य साक्षात्कार है, वह उत्पन्न नहीं होता और जो वृत्तिरूप साक्षात्कार उत्पन्न होता है, वह असत्य ही माना जाता है। वृत्तिरूप ब्रह्म-साक्षात्कार में सांव्यवहारिक (व्यवहार-काल में अबाधितत्वरूप) सत्यत्व माना गया है और उसके साधनीभूत श्रवणादि में भी सत्यत्व अभिमत है। फलतः वृत्तिरूप ब्रह्म-साक्षात्कार में परमार्थ-सत्यता समझ कर व्यभिचारोद्भावन किया गया है। यद्यपि व्यावहारिक सर्प के सत्य भय से ही सत्य मरण होता है, आरोपित सर्प से नहीं। तथापि आरोपित सर्प को देख कर जो भय उत्पन्न होता है, वह सत्य ही है, अतः असत्य से सत्य की उत्पत्ति कही गई है। आरोपित सर्प का ज्ञान भी सत्य ही है, अतः उससे भयादि की उत्पत्ति सत्य से ही सत्य की उत्पत्ति है, किन्तु सर्प-ज्ञान जिस रूप से सत्य है, उस रूप से भयादि का हेतु नहीं अर्थात् वह ज्ञानत्वेन सत्य है, ज्ञानत्वेन वह भयादि का जनक नहीं, अपितु अनिर्वचनीय सर्प-विशिष्टत्वेन भयादि का साधक है, अन्यथा [विषय-रहित केवल ज्ञान को भयादि का उत्पादक मानने पर] रज्जु के ज्ञान से भी भयादि की उत्पत्ति प्रसक्त होती है। अनिर्वचनीय विषय से विशिष्ट ज्ञान भी अनिर्वचनीय ही है, सत्य नहीं, फलतः सर्प-ज्ञान से भयादि की उत्पत्ति भी असत्य से ही

प्रयोजनं क्रियत इति, नैष दोषः; शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः, स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात् । तत्कार्यमप्यनृतमेवेति चेद् ब्रूयात्, तत्र ब्रूमः—यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं,

भामती

धूममहिष्या वह्निज्ञानं सत्यं स्यात् । नहि चक्षुषो रूपज्ञानं सत्यमुपजायत इति रसादिविज्ञानेनापि ततः सत्येन भवितव्यम् । यतो नियमो हि स तादृशः सत्यानां यतः कुतश्चित् किञ्चिदेव जायत इत्येवमसत्यानामपि नियमो यतः कुतश्चिदसत्यात्सत्यं कुतश्चिदसत्यं यथा दीर्घत्वादेर्वर्णेषु समारोपितत्वाविशेषेऽप्यजीनमित्यतो ज्यानिविरहमवगच्छन्ति सत्यम्, अजिनमित्यतस्तु समारोपितदीर्घभावाज्ज्यानिविरहमवगच्छन्तो भवन्ति भ्रान्ताः । न चोभयत्र दीर्घसमारोपं प्रति कश्चिदस्ति भेदस्तस्मादुपपन्नमसत्यादपि सत्यस्योदय इति । निदर्शनान्तरमाह ❀ स्वप्नदर्शनावस्थस्य इति ❀ । यथा सांसारिको जाग्रद्भुजङ्गं दृष्ट्वा पलायते ततश्च न दंशवेदनामाप्नोति, पिपासुः सलिलमालोक्य पातुं प्रवर्त्तते ततस्तदासाद्य पायम्पायमाप्यायितः सुखमनुभवति, एवं स्वप्नान्तिकेऽपि तदवस्थं सर्वमित्यसत्यात् कार्यसिद्धिः । शङ्कते ❀ तत्कार्यमप्यनृतमेव इति ❀ । एवमपि नासत्यात् सत्यस्य सिद्धिरुक्तेत्यर्थः । परिहरति ❀ तत्र ब्रूमः,

भामती–व्याख्या

सत्य की उत्पत्ति है। हमारा कहना यह नहीं कि सभी असत्य पदार्थों से सत्य की उत्पत्ति होती है। यदि वैसा कहते, तब अवश्य समारोपित धूम की आधारभूत धूम-महिषी (कुहरा) के द्वारा वह्नि की अनुमिति प्रमा होनी चाहिए। यह कोई आवश्यक नहीं कि चक्षु से उत्पन्न रूप-ज्ञान सत्य होता है, तो उससे रसादि का ज्ञान भी सत्य होगा, क्योंकि नियम या स्वभाव ही ऐसा है कि किसी सत्य पदार्थ से उत्पन्न कोई ही ज्ञान सत्य होता है, सभी ज्ञान नहीं। इसी प्रकार असत्य पदार्थों का भी नियम ऐसा ही है कि किसी ही असत्य पदार्थ से कोई ज्ञान सत्य होता है और किसी असत्य पदार्थ से जायमान ज्ञान असत्य होता है। जैसे कि ध्वनि के सभी दीर्घत्वह्रस्वत्वादि धर्म वर्णों में समानरूप से आरोपित हैं, तथापि दीर्घ 'अजीन' ['ज्या वयोहानौ' धातु के क्तान्त] शब्द से ही जीर्णत्वाभाव का सत्य ज्ञान होता है, ह्रस्व 'अजिन' शब्द से नहीं, अतः जो लोग 'अजिन' शब्द को 'अजीन' सुनकर जीर्णभावाभाव का ज्ञान प्राप्त करते है, उन्हें भ्रान्त ही माना जाता है, सत्यज्ञानवान् नहीं। 'अजीन' और 'अजिन'—इन दोनों शब्दों में दीर्घता का आरोप समान है ['ज्या वयोहानौ' से निष्पन्न 'अजीन' शब्द के 'ई' वर्ण में भी दीर्घत्व आरोपित है, क्योंकि वर्ण नित्य और निर्विकार है, उसके व्यञ्जकीभूत नाद में जो दीर्घत्वादि धर्म हैं, उन्हीं की प्रतीति वर्णों में मानी जाती है, जैसा कि "नादवृद्धिपरा" (जै. सू. १।१।१७) इस जैमिनि-सूत्र में स्पष्ट किया गया है। चर्म-वाचक 'अजिन' शब्द में श्रोता को 'अजीन' शब्द का भ्रम हो गया]। फलतः यह सिद्ध हो गया कि असत्य साधन से भी सत्य कार्य की निष्पत्ति होती है। इसी अर्थ में दूसरा दृष्टान्त प्रदर्शित किया जाता है—"स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात्"। जैसे सांसारिक पुरुष जाग्रत्काल में सर्प को देख कर भाग जाता है, अतः सर्प-दंश-जनित दुःख झेलना नहीं पड़ता और वही पुरुष ग्रीष्म के समय यात्रा-पथ में प्राप्त गंगा का दर्शन करके प्रसन्न हो जाता है, गंगा-जल पी-पी कर तृप्ति सुख का अनुभव करता है। वैसे ही स्वप्न-काल में आरोपित सर्प के दंश से दुःख एवं आरोपित सलिल के पान से सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार असत्पदार्थों से कार्य-सिद्धि देखी जाती है।

शङ्कावादी कहता है कि "तत् कार्यमप्यनृतमेव"। जब कार्य भी असत्य ही है, तब असत्य साधन से सत्य कार्य की सिद्धि नहीं होती। उक्त शङ्का का समाधान किया जाता

तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम्, प्रतिबुद्धस्याप्यबाध्यमानत्वात्। नहि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मन्यमानस्तदवगतिमपि मिथ्येति मन्यते कश्चित्। एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधनेन देहमात्रात्मवादो दूषितो वेदितव्यः। तथा च श्रुतिः—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्त-

भामती

यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य इति ❀। लौकिको हि सुप्तोत्थितोऽवगम्यं बाधितं मन्यते न तदवगतिं, तेन यद्यपि परीक्षका अनिर्वाच्यख्यातितामवगतिमनिर्वाच्यां निश्चिन्वन्ति तथापि लौकिकाभिप्रायेणैतदुक्तम्। अत्रान्तरे लौकायतिकानां मतमपाकरोति ❀ एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधनेन इति ❀। यदा खल्वयञ्चैत्रस्तारक्षवीं व्यात्तविकटदंष्ट्राकरालवदनामुत्तब्धवम्भ्रमन्मस्तकावचुम्बिलाङ्गूलामतिरोषारुणध्वस्तविशालवृत्तलोचनां रोमाञ्चसञ्चयोत्फुल्लभीषणां स्फटिकाचलभित्तिप्रतिबिम्बितामभ्यमित्रीणां तनुमास्थाय स्वप्ने प्रतिबुद्धो मानुषीमात्मनस्तनुं पश्यति तदोभयदेहानुगतमात्मानं प्रतिसन्दधानो देहातिरिक्तमात्मानं निश्चिनोति, न तु देहमात्रम्; तन्मात्रत्वे देहद्वयप्रतिसन्धानाभावप्रसङ्गात्। कथं चैतदुपपद्येत यदि स्वप्नदृशोऽवगतिरबाधिता स्यात् तद्बाधे तु प्रतिसन्धानाभाव इति। असत्याच्च सत्यप्रतीतिः श्रुतिसिद्धाऽन्वयव्यतिरेकसिद्धा चेत्याह ❀ तथाच श्रुतिः इति ❀। ❀ तथाकारादि इति ❀। यद्यपि रेखास्वरूपं सत्यं तथापि

भामती-व्याख्या

है—"तत्र ब्रूमः—यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य"। लौकिक पुरुष सो कर जागने पर यद्यपि स्वाप्न ज्ञान के विषयीभूत गज, वाजि आदि पदार्थों को मिथ्या मानता है, तथापि उनके ज्ञान को मिथ्या नहीं, सत्य ही मानता है। ज्ञान को भी केवल अविवेकी पुरुष की दृष्टि से ही सत्य कहा जा सकता है, विवेचक (परीक्षक) पुरुष की दृष्टि से नहीं, क्योंकि वह स्वप्न के अनिर्वचनीय गजादि पदार्थों से विशिष्ट ज्ञान को भी अनिर्वचनीय ही मानता है।

देहात्मवादी चार्वाक के मत का प्रसङ्गतः अपाकरण किया जाता है—"एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधेन"। आशय यह है कि स्वप्न-काल में जब चैत्रनामक पुरुष तरक्षु (व्याघ्र) का ऐसा शरीर धारण करता है, जिसका मुख पूरा खुला है, बड़ी-बड़ी विकराल दाढ़ें निकल रही हैं, क्रोधावेश में जिसकी लम्बी लांगूल (पूंछ) आकाश में ऊपर तन कर व्याघ्र के अपने ही शिर पर धनुषाकर झुकी हुई है, दोनों नेत्रों के विशाल अङ्गारे धधक रहे हैं, रोंगटे खड़े हैं, जो स्फटिकमय पर्वत की चमकीली स्वच्छ भित्ति में प्रतिबिम्बित-सा है, जिसकी मुद्रा शत्रु-संहारोन्मुख है। जब स्वप्न टूटता है और चैत्र जाग जाता है, तब वह अपने को मनुष्य शरीर में बिस्तर पर लेटा हुआ पाता है। चैत्र को यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि स्वप्न में मुझे ही व्याघ्र का भयङ्कर शरीर मिला और छूट गया—इस प्रकार स्वप्नानुभूति का अनुसन्धाता चैत्रात्मा अपने को शरीरादि से भिन्न समझ लेता है, शरीरमात्र मैं हूँ—ऐसा कभी नहीं मानता, क्योंकि आत्मा के शरीर-मात्रस्वरूप होने पर जैसे स्वाप्न शरीर का अभाव हो जाता है, वैसे ही उक्त अनुसन्धान का भी अभाव हो जायगा।

यह सब कुछ (देहात्मवाद-निरासादि) उपपन्न कब होगा ? जब कि स्वप्न-द्रष्टा का ज्ञान अबाधित हो। अन्यथा (स्वाप्न ज्ञान के बाधित होने पर) उस ज्ञान को स्वाप्न शरीर का ही धर्म मानना होगा, स्वाप्न शरीर का जाग्रत् अवस्था में बाध हो जाने पर मनुष्य शरीर का उसको स्मरण नहीं होगा, क्योंकि अन्य व्यक्ति के द्वारा अनुभूत वस्तु का अन्य को स्मरण नहीं होता। अबाधित ज्ञान को बाधित शरीर का धर्म नहीं माना जा सकता, अतः शरीर से अतिरिक्त अबाधित आत्मा मान कर ही अनुभविता और स्मर्ता के एकत्व-प्रत्यभिज्ञान का सामञ्जस्य करना होगा। असत्य पदार्थ से सत्य प्रतीति श्रुति से

स्मिन्स्वप्ननिदर्शने' (छा० ५।२।९) इत्यसत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति। तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा 'अथ यः स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेन तेनासत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति। प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यत ईदृशेनासाध्वागम इति। तथाऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः। अपि चान्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नातः परं किंचिदाकाङ्क्ष्यमस्ति। यथा हि लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते, नैवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्ते किंचिदन्यदाकाङ्क्ष्यमस्ति, सर्वात्मैकत्वविषयत्वावगतेः। सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्य-

भामती

तद्यथासङ्केतमसत्यं, नहि सङ्केतयितारः सङ्केतयन्तीदृशेन रेखाभेदेनायं वर्णः प्रत्येतव्यः, अपि त्वीदृशो रेखाभेदोऽकार ईदृशश्च ककार इति, तथा चासमीचीनात् सङ्केतात्समीचीनवर्णावगतिरिति सिद्धम्। यच्चोक्तमेकत्वांशेन ज्ञानमोक्षव्यवहारः सेत्स्यति नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयो लौकिकश्च व्यवहारः सेत्स्यतीति तत्राह ॐ अपि चान्त्यमिदं प्रमाणम् इति ॐ। यदि खल्वेकत्वानेकत्वनिबन्धनौ व्यवहारावेकस्य पुंसोऽपर्यायेण सम्भवतस्ततस्तद्धर्ममुभयसद्भावः कल्प्येत, न त्वेतदस्ति, नह्येकत्वावगतिनिबन्धनः कश्चिदस्ति व्यवहारस्तदवगतेः सर्वोत्तरत्वात्। तथाहि तत्त्वमसीत्यैकात्म्यावगतिः समस्तप्रमाणतत्फलतद्व्यवहारानवबाधमानैवोदीयते, नैतस्याः परस्तात् किञ्चिदनुकूलं प्रतिकूलं चास्ति यदपेक्षेत येन चेयं

भामती—व्याख्या

सिद्ध है—"तथा च श्रुतिः"। यद्यपि स्वाप्न-दर्शन सत्य है, तथापि स्त्री आदि स्वाप्न विषय असत्य हैं, अतः ऐसे विषय से विशिष्ट ज्ञान को भी असत्य ही माना गया है। सत्य और असत्य का कार्य-कारणभाव केवल श्रुति-सिद्ध ही नहीं, अन्वय-व्यतिरेक से भी सिद्ध है—"प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानाम्"। यहाँ नैयायिकादि-सम्मत कार्य-कारणभाव के नियामक अन्वय और व्यतिरेक का ग्रहण किया गया है, जिसके आधार पर विशेष स्वप्न-दर्शन से विशेष (समृद्धि या मरणादि) कार्य की सिद्धि होती है। जाग्रत्कालीन निदर्शन से भी यही सिद्ध होता है—"तथाकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिः"। मुख से बोला जानेवाला अकार वर्ण सत्य और 'अ' रेखा असत्य अकार है, इनका कार्य-कारणभाव लोक-प्रसिद्ध है। यद्यपि रेखा का स्वरूप सत्य है, तथापि उस रेखा से जो संकेत किया जाता है कि यह (रेखा) अवर्ण है, वह असत्य है, क्योंकि संकेतयिता पुरुष ऐसा संकेत नहीं करते कि 'इस रेखा को देखकर अकार या ककार का बोध करना चाहिए', अपितु 'यह रेखा ही अकार है और यह रेखा ककार'—ऐसा संकेत असत्य है। इस प्रकार के असमीचीन (असत्य) संकेत से समीचीन वर्णावगति होती है—यह सिद्ध हो जाता है।

यह जो कहा गया था कि 'एकत्वांश के ज्ञान से मोक्ष-व्यवहार और नानात्वांश के ज्ञान से कर्मकाण्ड-सम्बन्धी व्यवहार सिद्ध होगा', उस पर व्यवस्था दी जाती है—"अपि चान्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकम्"। आशय यह है कि यदि एकत्व-ज्ञान-प्रयुक्त और अनेकत्व-ज्ञान-प्रयुक्त दोनों व्यवहार एक ही पुरुष में क्रमशः सम्भव हो जाते, तब अवश्य ही एकत्व और नानात्व—इन दोनों धर्मों की कल्पना कर सकते थे, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि एकत्व की अवगति वह अन्तिम कार्य है, जिसके अनन्तर कोई व्यवहार रहता ही नहीं। "तत्त्वमसि"—इस प्रकार एकात्मत्व की अवगति अपने से पूर्वभावी समस्त (प्रमाण, तज्जन्य अर्थावगति और अर्थविषयक) व्यवहार का बाध करती हुई ही उदय होती

माणेऽर्थे आकाङ्क्षा स्यात्। न ह्यात्मैकत्वव्यतिरेकेणावशिष्यमाणोऽन्योऽर्थोऽस्ति य आकाङ्क्ष्येत। न चेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति शक्यं वक्तुम्, 'तद्धास्य विजज्ञौ' (छा० ६।१६।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अवगतिसाधनानां च श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात्। न चेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम्। अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तराभावाच्च। प्राक्चात्मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृत-

भामती

प्रतिक्षिप्येत, तत्रानुकूलप्रतिकूलनिवारणाद्यतः परं किञ्चिदाकाङ्क्ष्यमिति। न चेयमवगतिर्डुलिक्षीरप्रायेत्याह ® न चेयम् इति ®। स्यादेतत्— अन्यथा चेदियमवगतिर्निष्प्रयोजना तर्हि तथा च न प्रेक्षावद्भिरुपादीयेत, प्रयोजनवत्त्वे वा नान्त्या स्यादित्यत आह ® न चेयमवगतिरनर्थिका ®। कुतः ? ® अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात् ®। नहीयमुत्पन्ना सती पश्चादविद्यां निवर्त्तयति येन नान्त्या स्यात्, किन्त्वविद्याविरोधिस्वभावतया तन्निवृत्त्यात्मैवोदयते। अविद्यानिवृत्तिश्च न तत्कार्यतया फलमपि त्विष्टतयेष्टलक्षणत्वात् फलस्येति। प्रतिकूलं पराचीनं निराकर्त्तुमाह ® भ्रान्तिर्वा इति ®। कुतः ? ® बाधक इति ®। स्यादेतत्— मा भूदेकत्वनिबन्धनो व्यवहारोऽनेकत्वनिबन्धनस्त्वस्ति, तदेव हि सकलामुद्वहति लोकयात्राम्, अतस्तत्सिद्ध्यर्थमनेकत्वस्य कल्पनीयं तात्त्विकत्वमित्यत आह ® प्राक् च इति ®। व्यवहारो हि बुद्धिपूर्वकारिणां बुद्ध्योपपद्यते, न त्वस्यास्तात्त्विकत्वेन, भ्रान्त्यापि तदुपपत्तेरित्यावेदितम्।

भामती-व्याख्या

है। उस (एकत्व-विषयिणी) अवगति के पश्चात् कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल कर्त्तव्य शेष ही नहीं रहता, जिसकी अपेक्षा या उपेक्षा होती। 'यह अवगति डुलि (कछुई) के दूध के समान अत्यन्त अप्रसिद्ध और अलीक है'—ऐसा नहीं कह सकते—"न चेयमवगतिर्नोत्पद्यते"। "तद्धास्य विजज्ञौ" (छा० ६।१६।३) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मावगति का अपलाप नहीं किया जा सकता। 'उक्त अवगति यदि अन्तिम कार्य है, तब उसका कोई प्रयोजन पश्चात् सिद्ध न होने के कारण वह निष्प्रयोजन क्यों नहीं ? निष्प्रयोजन पदार्थ के सम्पादन में पुरुष-प्रवृत्ति सम्भव नहीं, अतः उस अवगति का कुछ प्रयोजन(लाभ) यदि माना जाता है, तब अन्तिम कैसे ? इस शङ्का का अनुवाद करते हैं—"न चेयमवगतिरनर्थिका", क्योंकि अविद्या की निवृत्ति उसका फल या प्रयोजन माना जाता है। आशय यह है कि उक्त अवगति स्वयं उत्पन्न होकर अविद्या-निवृत्तिरूप फल को उत्पन्न करती, तब अवगति को अन्तिम कार्य नहीं कहा जा सकता था किन्तु अवगति नाम है—ब्रह्म-साक्षात्कार का, ब्रह्म-साक्षात्कार ब्रह्मरूप होने के कारण नित्य-सिद्ध है। अविद्या का विरोधिस्वरूप है अवगति, अतः अवगति की अभिव्यक्ति होने पर अविद्या-निवृत्ति प्रकट होती है। अविद्या-निवृत्ति भी विद्यात्मक ब्रह्मस्वरूप है, अतः वह जनित नहीं होती, उसमें जन्यता-प्रयुक्त फलरूपता का व्यवहार नहीं होता, अपितु इष्यमाण (पुरुषाभिलषित) होने के कारण अविद्या-निवृत्ति को फल या पुरुषार्थ माना जाता है। उक्त अवगति के पश्चाद्भावी प्रतिकूल पदार्थ का निराकरण किया जाता है—"भ्रान्तिर्वा"। उस अन्तिम अवगति के पश्चात् यदि कोई भ्रान्ति होगी, तब उसका अन्य बाधक कौन होगा ?

यदि एकत्वावगति से व्यवहार का निर्वाह नहीं होता, तब अनेकत्व-निबन्धन व्यवहार तो उपपन्न हो जाता है, अतः अनेकत्व सम्पूर्ण लोक-यात्रा का उद्वाहक होने के कारण तात्त्विक क्यों न मान लिया जाय ? इस शङ्का का निरास करते हैं—"प्राक् चात्मैकत्वावगतेः"। सारांश यह है कि बुद्धिपूर्वकारी पुरुषों का व्यवहार केवल ज्ञान के आधार पर सम्पन्न हो जाता है, ज्ञान प्रमात्मक ही हो—ऐसा आवश्यक नहीं, भ्रम ज्ञान से भी व्यवहार

व्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम । तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादित आत्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनस्य भेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नानेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति । ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात्परिणामवद्ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते । परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति । नेत्युच्यते, 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात् । न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम् । स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत्—न, कूटस्थस्येति विशेषणात् । नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः

भामती

सत्यञ्च तदविसंवादादनृतञ्च विचारासहतयाऽनिर्वाच्यत्वात् । अन्त्यस्यैकात्म्यज्ञानस्यानपेक्षतया बाधकत्वमनेकत्वज्ञानस्य च प्रतियोगिग्रहापेक्षया दुर्बलत्वेन बाध्यत्वं वदन् प्रकृतमुपसंहरति * तस्मादन्त्येन प्रमाणेन इति * । स्यादेतत्—न वयमनेकत्वव्यवहारसिद्ध्यर्थमनेकत्वस्य तात्त्विकत्वं कल्पयामः, किन्तु श्रौतमेवास्य तात्त्विकत्वमिति चोदयति * ननु मृदादि इति * । परिहरति * नेत्युच्यते इति * । मृदादिदृष्टान्तेन हि कथञ्चित्परिणाम उन्नेयः, न च शक्य उन्नेतुमपि, मृत्तिकेत्येव सत्यमिति कारणमात्रसत्यत्वावधारणेन कार्यस्यानृतत्वप्रतिपादनात् साक्षात् कूटस्थनित्यत्वप्रतिपादिकास्तु सन्ति सहस्रशः श्रुतय इति न परिणामधर्मता ब्रह्मणः । अथ कूटस्थस्यापि परिणामः कस्मान्न भवतीत्यत आह * नह्येकस्य इति * । शङ्कते * स्थितिगतिवद् इति * । यथैकबाणाश्रये गतिनिवृत्ती एवमेकस्मिन् ब्रह्मणि परिणा-

---

भामती-व्याख्या

का निर्वाह हो जाता है, अतः व्यवहार-निर्वाहक ज्ञान के लिए उसके विषयीभूत अनेकत्व को तात्त्विक मानने की आवश्यकता नहीं । अनेकत्व को तात्त्विक या सत्य इसलिए नहीं कह सकते कि उसका विसंवाद होता है, अतः वह अनृत (मिथ्या) है, क्योंकि विचार की कसौटी पर खरा न उतरने के कारण अनिर्वचनीय है । अन्तिम एकात्मतावगति को अन्य ज्ञान की अपेक्षा न होने के कारण प्रमाण या बाधकरूप एवं अनेकत्वावगति को प्रतियोगिज्ञानादि की अपेक्षा होने के कारण बाध्यरूप बताते हुए प्रकरण का उपसंहार किया जाता है—"तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादिते" ।

अनेकत्व-व्यवहार की सिद्धि के लिए अनेकत्व को तात्त्विक नहीं माना जाता अपितु श्रुति के आधार पर आत्मा में अनेकत्व सिद्ध होता है—इस प्रकार की शंका की जाती है—"ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात्परिणामवद् ब्रह्म" । जैसे मृत्तिका घट, शराव आदि अनेक रूपों में परिणत होने के कारण अनेकरूप मानी जाती है वैसे ही ब्रह्म आकाश आदि अनेक रूपों में परिणत होने के कारण अनेकरूप क्यों नहीं ? उक्त शङ्का का परिहार किया जाता है—"नेत्युच्यते" । मृदादि दृष्टान्तों के आधार पर परिणामवाद की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि "मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इस वाक्य के द्वारा कारणमात्र की सत्यता अवधारित होने के कारण कार्यप्रपञ्च में अनृतत्व सिद्ध किया जाता है एवं ब्रह्म में कूटस्थत्व, नित्यत्व और एकत्व आदि की प्रतिपादिका अनन्त श्रुतियाँ हैं, अतः ब्रह्म को परिणामी कभी भी नहीं कहा जा सकता । कूटस्थ एकतत्त्व को परिणामी क्यों नहीं माना जा सकता—इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वम्" । एक तत्त्व को परिणाम और परिणामाभाव वाला नहीं कहा जा सकता । एक तत्त्व में भी कथित उभयरूपता की शङ्का की जाती है—"स्थितिगतिवत्स्यात्" । अर्थात् जैसे एक ही बाण कभी गति (स्पन्दन) और कभी उसके अभाव (स्थिति) का आश्रय होता है वैसे ही एक ही

स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं संभवति। कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम, न च यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनम्, एवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित्फलायाभिप्रेयते, प्रमाणाभावात्। कूटस्थब्रह्मात्मत्वविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्—'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्य 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इत्येवंजातीयकम्। तत्रैतत्सिद्धं भवति—ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत्तत्राफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि, तद्ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिवत्, नतु स्वतन्त्रं फलाय कल्प्यत इति। नहि परिणामवत्त्वविज्ञानात्परिणामवत्त्वमात्मनः फलं स्यादिति वक्तुं युक्तम्, कूटस्थनित्यत्वान्मोक्षस्य। ननु कूटस्थब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभाव ईश्वरका-

भामिती

मश्च तदभावश्च कौटस्थ्यं भविष्यत इति। निराकरोति ॐ न, कूटस्थस्येति विशेषणात् इति ॐ। कूटस्थनित्यता हि सदातनी स्वभावावप्रच्युतिः, सा कथं प्रच्युत्या न विरुध्यते? न च धर्मिणो व्यतिरिच्यते धर्मो येन तदुपजनापायेऽपि धर्मी कूटस्थः स्यात्। भेद ऐकान्तिके गवाश्ववद्धर्मधर्मिभावाभावात्। बाणादयस्तु परिणामिनः स्थित्या गत्या च परिणमन्त इति। अपि च स्वाध्यायाध्ययनविध्यापादितार्थवत्त्वस्य वेदराशेरेकेनापि वर्णेनानर्थकेन न भवितव्यम्, किं पुनरियता जगतो ब्रह्मयोनित्वप्रतिपादकेन वाक्यसन्दर्भेण, तत्र फलवद् ब्रह्मदर्शनसमाम्नानसन्निधावफलं जगद्योनित्वं समाम्नायमानं तदर्थं सत्तदुपायतयाऽवतिष्ठते नार्थान्तरार्थमित्याह ॐ न च यथा ब्रह्मणः इति ॐ। अतो न परिणामपरत्वमस्येत्यर्थः। तदनन्यत्वमित्यस्य सूत्रस्य प्रतिज्ञाविरोधं श्रुतिविरोधञ्च चोदयति ॐकूटस्थब्रह्मात्मवादिनः इतिॐ।

भामती—व्याख्या

ब्रह्म सृष्टि के समय परिणाम और प्रलय के समय परिणामाभाव का आश्रय क्यों नहीं हो सकता? इस शङ्का का निराकरण किया जाता है—"न, कूटस्थस्येति विशेषणात्"। कूटस्थनित्यता नाम है स्वभावाऽप्रच्युति का, वह ब्रह्म में नित्य है। अतः उसकी प्रच्युति कभी नहीं हो सकती। कूटस्थत्वाप्रच्युति के बिना परिणामवाद सम्भव नहीं। धर्मी से धर्मों को अत्यन्त भिन्न नहीं माना जा सकता कि उनकी उत्पत्ति और विनाश की अवस्था में धर्मी कूटस्थ बना रहे। धर्मों को अत्यन्त भिन्न मानने पर गो-अश्व के समान धर्मधर्मिभाव उपपन्न नहीं हो सकता। बाण आदि पदार्थ कूटस्थ न होने के कारण स्थिति और गति के रूप में परिणत हो जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य के द्वारा समस्त वेदराशि में अर्थवत्ता प्रसाधित की गयी है। अतः उसका एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता, फिर भला ब्रह्म को अपरिणामिता के प्रतिपादक अनेक वेदान्तवाक्यों का नैरर्थक्य सम्भव क्योंकर होगा? ब्रह्म के जगदाकारपरिणामित्व का प्रतिपादन करने वाले वेदान्तवाक्यों का स्वतन्त्र कोई फल या प्रयोजन नहीं माना जा सकता। क्योंकि ब्रह्मात्मतादर्शन का फल मोक्ष बताया गया है किन्तु ब्रह्म के प्रपञ्चाकार-परिणामित्व का कोई फल नहीं माना जाता। अतः 'फलवत्सन्निधौ अफलं तदङ्गं भवति' इस न्याय के आधार पर सृष्टिप्रक्रिया का प्रतिपादन ब्रह्मावगति का साधनमात्र माना जाता है। भाष्यकार यही कह रहे हैं—"न च यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनमेवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित्फलाय"। फलतः सृष्टिप्रतिपादक वाक्यों को परिणामपरक नहीं माना जा सकता। "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"—इस सूत्र पर प्रतिज्ञाविरोध और श्रुतिविरोध का आक्षेप किया जाता है—"ननु कूटस्थब्रह्मात्मवादिनः"। अर्थात् ब्रह्म को नित्यकूटस्थ

रणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत्, न; अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वराज्जगज्जनिस्थितिप्रलया नाचेतनात्प्रधानादन्यस्माद्वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।४) इति । सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव न तद्विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते । कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता ? शृणु यथा नोच्यते—सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते । ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः, 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) इति श्रुतेः, 'नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७), 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' (श्वे० ६।१२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि । स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातानुरोधिनो जीवाख्यान्विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये । तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च, न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते । तथा चोक्तम्—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७।२४।१) इति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना च, एवं

भामती

परिहरति ® न, अविद्यात्मक इति ® । नाम च रूपञ्च ते एव बीजं तस्य व्याकरणं कार्यप्रपञ्चस्तदपेक्षत्वादैश्वर्यस्य । एतदुक्तं भवति—न तात्त्विकमैश्वर्यं सर्वज्ञत्वञ्च ब्रह्मणः किन्त्वविद्योपाधिकमिति तदाश्रयं प्रतिज्ञासूत्रं, तत्त्वाश्रयन्तु तदनन्यत्वसूत्रं, तेनाविरोधः । सुगममन्यत् ॥ १४ ॥

भामती—व्याख्या

मानने पर ईश्वर में जगत्कारणता-प्रतिपादन की प्रतिज्ञा एवं तत्प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों का विरोध क्यों नहीं उपस्थित होता ? उसका परिहार किया जाता है–"न, अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात्सर्वज्ञत्वस्य" । [आशय यह है कि शङ्कावादी का कहना था कि सूत्रकार ने अपने द्वितीय ("जन्माद्यस्य यतः"—इस) सूत्र में जो प्रतिज्ञा की थी 'ईश्वरो जगतः कारणम्' । उस प्रतिज्ञा में अब (तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इस सूत्र में) जो 'तदनन्यत्व' हेतु का उपन्यास किया जाता है—'ईश्वरो जगतः कारणम् , जगदनन्यत्वात्' । यहाँ प्रयुक्त हेतु में 'प्रतिज्ञा-विरोध' नाम का निग्रहस्थान है, जैसा कि न्यायसूत्रकार ने कहा है—"प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः" (न्या. सू. ५।२।४) । जगत्कारणत्व और 'जगदभिन्नत्व'—ये दोनों धर्म अत्यन्त विरुद्ध हैं, क्योंकि घट कभी अपना कारण नहीं हो सकता] । इस शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार ने जो कहा है—"न अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात्", उसका आशय यह है कि ईश्वर में जो जगत्कर्तृत्वप्रयुक्त सर्वज्ञत्व माना जाता है, वह तात्त्विक नहीं, अपितु अविद्यारूप उपाधि के द्वारा कल्पित होता है, प्रतिज्ञा-सूत्र में कल्पित सर्वज्ञत्व ही अपेक्षित होता है और अपेक्षित ऐश्वर्य भी नामरूपात्मक बीजशक्ति का व्याकरण (प्रकटन) ही है, जिसे ईश्वर में मान लेने पर किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता ॥ १४ ॥

परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे। तथेश्वरगीतास्वपि—'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥' (गी० ५।१४-१५) इति परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते। व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः-'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) इति। तथा चेश्वरगीतास्वपि—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (गी० १८।६१) इति। सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण 'तदनन्यत्वम्' इत्याह। व्यवहाराभिप्रायेण तु 'स्याल्लोकवद्' इति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति। अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति—सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति॥ १४॥

भावे चोपलब्धेः॥ १५॥

इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्यमुपलभ्यते,

---

भामती

कारणस्य भावः सत्ता चोपलम्भश्च तस्मिन् कार्यस्योपलब्धेर्भावाच्च। एतदुक्तं भवति—विषयपदं विषयविषयिपरं, विषयिपदमपि विषयिविषयपरं, तेन कारणोपलम्भभावयोरुपादेयोपलम्भभावादिति सूत्रार्थः सम्पद्यते। तथा च प्रभारूपानुविद्धबुद्धिबोध्येन चाक्षुषेण न व्यभिचारः, नापि वह्निभावाभावानुविधायिभावाभावेन धूमभेदेनेति सिद्धं भवति। तत्र यथोक्तहेतोरेकदेशाभिधानेनोपक्रमते भाष्यकारः ❀ इतश्च कारणादनन्यत्वं ❀ भेदाभावः ❀ कार्यस्य, ❀ यत्कारणं ❀ यस्मात् कारणात्। ❀ भाव एव

भामती—व्याख्या

कार्य और कारण के अनन्यत्व (अभेद) का साधक यह अन्वय-सूत्र है—"भावे चोपलब्धेः"। [यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि 'यत् सत्त्वे यत्सत्त्वम्' या 'यदुपलब्धौ यदुपलब्धिः' इस प्रकार का प्रत्येक अन्वय केवल कार्य-कारणभाव का ही साधक है, कार्य और कारण के अभेद का नहीं। अभेद-सिद्धि के लिए 'सत्त्व' (भावत्व) और 'उपलब्धि'—इन दोनों का मिलित अन्वय अपेक्षित है—यद्भावोपलब्ध्योः यद्भावोपलब्धी, तयोरभेदः। इसके अनुरूप सौत्र पदों की योजना की जाती है]। 'कारणभावे च कार्योपलब्धेः'—इस प्रकार के प्रकरणोपयोगी वाक्य में यद्यपि 'भाव' पद केवल सत्त्वरूप विषय का एवं 'उपलब्धि' पद केवल ज्ञानरूप विषयी का वाचक है, तथापि दोनों पदों से विषय और विषयी—दोनों विवक्षित हैं, क्योंकि उपादान कारण के भाव एवं उपलम्भ पर उपादेय (कार्य) का भाव और उपलम्भ निर्भर है, अतः उपादान और उपादेय का अभेद है—ऐसा सूत्र का अर्थ विवक्षित है। यदि 'यदुपलब्धौ यदुपलब्धिः, तयोरभेदः'—इतना ही नियम माना जाता है, तब आलोक और घटादिरूप चाक्षुष विषय में व्यभिचार हो जाता है, क्योंकि आलोक की उपलब्धि होने पर ही घटादि की उपलब्धि होती है, तथापि आलोक और घटादि पदार्थों का अभेद नहीं होता। इसी प्रकार 'यद्भावे यद्भावः, तयोरभेदः'—इतनी ही व्याप्ति मानी जाय, तब अग्नि और धूमादि में व्यभिचार हो जाता है, क्योंकि अग्नि के होने पर धूम होता है, किन्तु वह अग्नि से अभिन्न नहीं होता। [उभयरूपता की उभयत्र विवक्षा होने पर कहीं भी व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि, न तो आलोक के होने पर घटादि का होना अनिवार्य होता है और न अग्नि की उपलब्धि होने पर धूम की उपलब्धि आवश्यक है]। कथित भाव और उपलब्धि—इन दो हेतुओं में से एक (भाव) हेतु का

नाभावे। तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते, सत्सु च तन्तुषु पटः। न च नियमेनान्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा। न ह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते। न च कुलालभाव एव घट उपलभ्यते, सत्यपि निमित्तनैमित्तिकभावेऽन्यत्वात्। नन्वन्यस्य भावेऽप्यन्यस्योपलब्धिर्नियता दृश्यते—यथाग्निभावे धूमस्येति। नेत्युच्यते, उद्वापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटिकादिधारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात्। अथ धूमं कयाचिदवस्थया विशिंष्यादीदृशो धूमो नासत्यग्नौ भवतीति। नैवमपि कश्चिद्दोषः, तद्भावानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे हेतुं वयं वदामः। न चासावग्निधूमयोर्विद्यते। 'भावाच्चोपलब्धेः' इति वा सूत्रम्। न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं, प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः। भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे। तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते, केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोंऽशुषु तदवयवाः। अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि, ततो वायुमात्रमाकाश-

भामती

कारणस्य इति ॐ। अस्य व्यतिरेकमुखेन गमकत्वमाह ॐ न च नियमेन इति ॐ। काकतालीयन्यायेनान्यभावेऽप्यन्यदुपलभ्यते, न तु नियमेनेत्यर्थः। हेतुविशेषणाय व्यभिचारं चोदयति ॐ नन्वन्यस्य भावेऽपि इति ॐ। एकदेशिमतेन परिहरति ॐ नेत्युच्यते इति ॐ। शङ्कैकदेशिपरिहारं दूषयित्वा परमार्थपरिहारमाह ॐ अथ इति ॐ। तदनेन हेतुविशेषणमुक्तम्। पाठान्तरेणेदमेव सूत्रं व्याचष्टे ॐ न केवलं शब्दादेव इति ॐ। पट इति हि प्रत्यक्षबुद्ध्या तन्तव एवातानवितानावस्था आलक्ष्यन्ते, न तु तदतिरिक्तः पटः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। एकत्वं तु तन्तूनामेकप्रावरणलक्षणार्थक्रियावच्छेदाद्बहूनामपि। यथैकदेशकालावच्छिन्ना

भामती–व्याख्या

अभिधान भाष्यकार करते हैं—"इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य"। 'अनन्यत्व' शब्द का अर्थ अभेद है। भाष्यस्थ 'यत्कारणम्' शब्द का भाव यह है कि कार्य और कारण का अनन्यत्व जिस कारण (हेतु) से सिद्ध होता है, वह कारण है—'भावे एव कारणस्य कार्योपलब्धेः'। इसी नियम में व्यतिरेकमुखेन अभेद-साधकत्व कहा जा रहा है—न च नियमेनान्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा"। अर्थात् काकतालीय न्याय से (अकस्मात्) भिन्न पदार्थ के होने पर भिन्न पदार्थ की उपलब्धि कभी हो जाती है किन्तु नियमतः नहीं। अभेद-साधक हेतुओं में उभयरूपता विशेषण की आवश्यकता दिखाने के लिए केवल हेतु के व्यभिचार की शङ्का उठाते हैं—"नन्वन्यस्य भावेऽपि"। उस शङ्का का परिहार एकदेशी के मत से करते हैं—"नेत्युच्यते"। दूध पकाने की भट्ठिकादि में अग्नि के बुझ जाने पर भी धूम देखा जाता है, अतः अग्नि के बिना भी धूम रहता है। एकदेशी-मत को दूषित करके वास्तविक परिहार किया जाता है—"अथ धूमं कयाचिदवस्थया विशिंष्यात्"। "तद्भावानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे हेतुं वयं वदामः"—इस भाष्य के द्वारा विवक्षित हेतु-विशेषण स्फुट किया गया है।

पाठान्तर-निर्देशपूर्वक इसी सूत्र की व्याख्या की जा रही है—"न केवलं शब्दादेव"। आशय यह है कि "अयं पटः"—इस प्रकार की प्रत्यक्षात्मक बुद्धि के द्वारा विशेष ताना-बाना वाले तन्तु ही गृहीत होते हैं, उनसे अतिरिक्त पट नाम की कोई वस्तु प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होती। यदि तन्तुरूप ही पट है, तब तन्तुओं में बहुत्व होने के कारण पट में 'अयमेकः'—इस प्रकार एकत्व-व्यवहार क्यों? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनेक तन्तुओं में भी एकत्व-व्यवहार तब होता है, जब कि वे मिलकर प्रावरण (शरीराच्छादनरूप) एक अर्थक्रिया

मात्रं चेत्यनुमेयम् (छा० ४।८।४)। ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं, तत्र सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

इतश्च कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं, यत्कारणं प्रागुत्पत्तेः कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० आ० २।४।१।१) इत्यादाविदंशब्दगृहीतस्य कार्यस्य कारणेन सामानाधिकरण्यात्। यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत उत्पद्यते,

भामती

धवखदिरपलाशादयो बहवोऽपि वनमिति। अर्थक्रियायाञ्च प्रत्येकमसमर्था अप्यनारभ्यैवार्थान्तरं किञ्चिन्मिलिताः कुर्वन्तो दृश्यन्ते, यथा ग्रावाण उखाधारणमेकम्, एवमनारभ्यैवार्थान्तरं तन्तवो मिलिताः प्रावरणमेकं करिष्यन्ति। न च समवायाद्भिन्नयोरपि भेदानवसायः इति साम्प्रतम्, अन्योन्याश्रयत्वात्—भेदे हि सिद्धे समवायः समवायाच्च भेदः। न च भेदे साधनान्तरमस्ति, अर्थक्रियाव्यपदेशभेदयोरभेदेऽप्युपपत्तेरित्युपपादितम्। तस्माद्यत्किञ्चिदेतत्। अनया च दिशा मूलकारणं ब्रह्मैव परमार्थसदवान्तरकारणानि च तन्त्वादयः सर्वेऽनिर्वाच्या एवेत्याह ❀ तथा तन्तुषु इति ❀ ॥ १५ ॥

विभजते ❀ इतश्च इति ❀। न केवलं श्रुतिः, उपपत्तिश्चात्र भवति ❀ यच्च यदात्मना इति ❀। नहि तैलं सिकतात्मना सिकतायामस्ति, यथा घटोऽस्ति मृदि मृदात्मना। प्रत्युत्पन्नो हि घटो मृदात्मनो-

भामती–व्याख्या

(प्रयोजन) का निष्पादन करते है, जैसे कि धव, खदिर और पलाशादि अनेक वृक्षों में ही 'वनम्'—इस प्रकार एकत्व-व्यवहार उनकी अवच्छेदकीभूत एक देश-कालरूप उपाधि को लेकर हो जाता है, वैसे ही अनेक तन्तुओं में प्रावरणरूप एक अर्थक्रिया की अपेक्षा 'अयमेकः पटः'—ऐसा व्यवहार माना जाता है। यद्यपि प्रत्येक तन्तु प्रावरणरूप प्रयोजन की सिद्धि में सक्षम नहीं होता, तथापि अनेक मिले हुए तन्तु पटादिरूप कार्यान्तर को उत्पन्न किए बिना ही प्रावरणरूप कार्य का सम्पादन वैसे ही कर लेंगे, जैसे कि अनेक पत्थर मिलकर (चूल्हे का रूप धारण कर) उखा (हाँडी या बटलोई) को धारण करते हैं। 'यद्यपि तन्तुओं से पट भिन्न है, तथापि दोनो के मध्य में समवाय होने के कारण भेद का भान नहीं हो पाता'—ऐसा मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि कार्य और कारण में भेद सिद्ध होने पर समवाय सम्बन्ध सिद्ध होगा और समवाय सिद्ध होने पर भेद। कार्य और कारण के भेद-साधन में अन्य कोई हेतु सम्भव नहीं। 'तन्तु को कोई सुई में डाल कर सिलाई के काम में लाते हैं, पट को नहीं और पट ओढ़ने-बिछाने के काम आता है, तन्तु नहीं'—इस प्रकार का अर्थक्रिया-भेद एवं 'इमे तन्तवः', 'अयं पटः'—इस प्रकार का व्यपदेश-भेद (विशेष शब्दों का प्रयोग) भी तन्तु और पट का भेद सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि एक ही वस्तु उपाधि-विशेष से उपहित होकर भिन्न-भिन्न कार्यों का सम्पादन करती है—यह कहा जा चुका है। [सांख्यतत्त्वकौमुदी में भी कहा है—"न.त्मनि क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ति, एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामेतेषामविरोधात्" (सां. त. कौ. का. ९)]। इस विचार के द्वारा यह सिद्ध होता है कि मूल कारण एक ब्रह्म वस्तुसत् है, तन्त्वादिरूप सभी अवान्तर कारण अनिर्वचनीय हैं—"तथा तन्तुषु अंशवोंऽशुषु तदवयवाः" ॥ १५ ॥

"सत्त्वाच्चावरस्य"—इस सूत्र की व्याख्या की जाती है—"इतश्च कारणात् कार्यस्यानन्यत्वम्"। केवल श्रुति अनन्यत्व की साधिका नहीं, अपितु युक्ति भी है—"यच्च यदात्मना यत्र

यथा सिकताभ्यस्तैलम् । तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात्कार्यमित्यवगम्यते । यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति, एवं कार्यमपि जगत्त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति । एकं च पुनः सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्वं कारणात्कार्यस्य ॥ १६ ॥

भामती

पलभ्यते, नैवं प्रत्युत्पन्नं तैलं सिकतात्मना । तेन यथा सिकतायाः तैलं न जायत एवमात्मनोऽपि जगन्न जायेत, जायते च, तस्मादात्मात्मनाऽऽसीदिति गम्यते । उपपत्त्यन्तरमाह * यथा च कारणं ब्रह्म इति * । यथा हि घटः सर्वदा सर्वत्र घट एव न जात्वसौ क्वचित् पटो भवत्येवं सदपि सर्वत्र सर्वदा सदेव न तु क्वचित् कदाचिदसद्भवितुमर्हतीत्युपपादितमधस्तात् । तस्मात् कार्यं त्रिष्वपि कालेषु सदेव । सत्त्वं चेत् किमतो यद्येवमित्यत आह * एकञ्च पुनः इति * । सत्त्वं चैकं कार्यकारणयोः, नहि प्रतिव्यक्ति सत्त्वं भिद्यते, ततश्चाभिन्नसत्तानन्यत्वादेते अपि मियो न भिद्येते इति । न च ताभ्यामनन्यत्वात् सत्त्वस्यैव भेद इति युक्तम् । तथा सति हि सत्त्वस्य समारोपितत्वप्रसङ्गः । तत्र भेदाभेदयोरन्यतरसमारोपकल्पनायां किं तात्त्विकाभेदोपादाना भेदकल्पनास्त्वाहो तात्त्विकभेदोपादानाभेदकल्पनेति । वयं तु पश्यामो भेदग्रहस्य प्रतियोगिग्रहापेक्षत्वाद्भेदग्रहमन्तरेण च प्रतियोगिग्रहासम्भवादन्योन्याश्रयापत्तेः, अभेदग्रहस्य च निरपेक्षतया तदनुपपत्तेः, एकैकाश्रयत्वाच्च भेदस्यैकाभावे तदनुपपत्तेः, अभेदग्रहोपादानैव भेदकल्पनेति सर्वमवदातम् ॥ १६ ॥

भामती—व्याख्या

न वर्तते, न तत् तत उत्पद्यते" । तेल बालू में तादात्म्येन नहीं रहता, अतः बालू से तेल उत्पन्न नहीं होता । घट मृत्तिका में मृत्तिकात्वेन रहता है, अतः वह मृत्तिका से उत्पन्न होता देखा जाता है । यही कारण है कि वर्तमान घट मृत्तिकात्वेन उपलब्ध होता है, किन्तु वर्तमान तेल सिकतात्वेन उपलब्ध नहीं होता । फलतः जैसे सिकता (बालू) से तैल उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही आत्मा से भी आकाशादि प्रपञ्च उत्पन्न नहीं हो सकता था, किन्तु उत्पन्न होता है, अतः प्रपञ्च आत्मरूपेण आत्मा में अवस्थित था—ऐसी अवगति (अनुमिति) होती है । इसी अर्थ की पुष्टि के लिए अन्य युक्ति दिखाते हैं—"यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं कार्यमपि" । जैसे कि घट सर्वदा सर्वत्र घट ही है, वह कभी पट नहीं होता, वैसे ही सत् पदार्थ सदैव सत् ही रहेगा, कभी असत् नहीं हो सकता—ऐसा पहले कहा जा चुका है । इससे यह सिद्ध हो गया कि कार्य प्रपञ्च तीनों कालों में सत् ही है । कार्य का सत्त्व मान लेने से क्या लाभ ? इस प्रश्न का उत्तर है—"एकं च पुनः सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्वं कारणात् कार्यस्य" । कार्य और कारण में सत्त्व एक ही है, प्रत्येक व्यक्ति में सत्त्व भिन्न-भिन्न नहीं रहता, इस लिए अभिन्न (एक) सत्ता से अभिन्न होने के कारण कार्य और कारण परस्पर भिन्न नहीं हो सकते । 'कार्य और कारण भिन्न हैं, अतः भिन्न पदार्थों से अभिन्न होने के कारण सत्त्व का ही भेद क्यों न मान लिया जाय ?' इस शङ्का का समाधान यह है कि वैसा मानने पर सत्त्व में समारोपितत्व प्रसक्त होगा, क्योंकि तब यह विकल्प उठ खड़ा होता है कि भेद और अभेद—इन दोनों में से एक के समारोप की कल्पना में क्या तात्त्विक अभेद में भेद की कल्पना (आरोप) की जाय ? अथवा तात्त्विक भेद में अभेद की कल्पना की जाय ? हम अद्वैतवेदान्तियों का दृष्टिकोण यह है कि भेद-ज्ञान अपने प्रतियोगियों के ज्ञान पर निर्भर है, क्योंकि प्रतियोगियों के ज्ञान के विना भेद-ज्ञान सम्भव नहीं, इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष हो जाता है, अतः अभेद में ही भेद की कल्पना माननी उचित है । अभेद-ज्ञान निरपेक्ष है, अतः अन्योऽन्याश्रयता नहीं । एक-एक व्यक्ति के आश्रित भेद रहता है, अतः भेद को एकत्व या अभेद की नियमतः अपेक्षा है, अतः अभेद-ग्रह में ही भेद की कल्पना न्याय-

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य व्यपदिशति श्रुतिः—'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१) इति, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७।१) इति च। तस्मादसद्व्यपदेशान्न प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमिति चेत्, नेति ब्रूमः,–न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः, किं तर्हि ? व्याकृतनामरूपत्वाद्धर्माद्व्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणानन्यस्य। कथमेतदवगम्यते ? वाक्यशेषात्। यदुपक्रमे संदिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते। इह च तावत् 'असदेवेदमग्र आसीद्' इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत्तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि 'तत्सदासीत्' इति। असतश्च पूर्वापरकालासंबन्धादासीच्छब्दानुपपत्तेश्च । 'असद्वा इदमग्र आसीद्' इत्यत्रापि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम्। तस्माद्धर्मान्तरेणैवायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य। नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम्। अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणादसदिवासीदित्युपचर्यते ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

युक्तेश्च प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते, शब्दान्तराच्च। युक्तिस्तावद्वर्ण्यते—दधिघटरुचककार्यार्थिभिः प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिकासुवर्णादीन्युपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते। न हि दध्यर्थिभिर्मृत्तिकोपादीयते, न घटार्थिभिः क्षीरं, तदसत्कार्यवादे नोपपद्येत। अविशिष्टे हि प्रागुत्पत्तेः सर्वस्य सर्वत्रासत्त्वे कस्मात्क्षीरादेव दध्युत्पद्यते ? न मृत्तिकायाः ? मृत्तिकाया एव च घट उत्पद्यते, न क्षीरात्। अथाविशिष्टेऽपि प्रागसत्त्वे क्षीर एव दध्नः कश्चिदतिशयो न मृत्तिकायां, मृत्तिकायामेव च घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीर इत्युच्येत, तर्ह्यतिशयवत्त्वात्प्रागवस्थाया असत्कार्यवादहानिः सत्कार्यवादसिद्धिश्च। शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था

भामती

व्याकृतत्वाव्याकृतत्वे च धर्मावनिर्वचनीयौ। सूत्रमेतन्निगदव्याख्यातेन भाष्येण व्याख्यातम् ॥१७॥

* अतिशयवत्त्वात्प्रागवस्थायाः इति *। अतिशयो हि धर्मो नासत्यतिशयवति कार्ये भवितुमर्हतीति। ननु न कार्यस्यातिशयो नियमहेतुरपि तु कारणस्य शक्तिभेदः, स चासत्यपि कार्ये कारणस्य

भामती–व्याख्या

संगत है। मण्डनमिश्र भी कहते हैं– "अभेदोपादानो भेदः" (ब्र० सि० पृ० ७०) ॥ १६ ॥

श्रुतियों में जो कार्य प्रपञ्च को कभी असत् कहा गया है—"असद्वा इदमग्र आसीत्', (तै. उ. २।७।१)। वहाँ असत्त्वका अर्थ अव्याकृतत्व (अनभिव्यक्तत्व) है। जगत् अव्याकृत से व्याकृत होता है। व्याकृतत्व और अव्याकृतत्व—दोनों धर्म अनिर्वचनीय माने जाते हैं। शेष भाष्य अत्यन्त सुगम है ॥ १७ ॥

[सांख्याचार्यों ने जिन असदकरण, उपादान-ग्रहण, सर्वसम्भवाभाव, शक्ताच्छक्योत्पत्ति, कारणात्मत्वादि युक्तियों के द्वारा सत्कार्यवाद की सिद्धि की है। सम्भवतः सूत्रकार ने उन्हीं युक्तियों का स्मरण यहाँ किया है—"युक्तेः"]। दूध से दधि बनता है, मृत्तिका से नहीं, अतः दधि की पूर्वावस्था दूध में सत् मानी जाती है, फलतः असत्कार्यवाद की हानि और सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है, क्योंकि मृत्तिका से दूध में जो विशेषता या अतिशय है, वह एक ऐसा धर्म है, जो कि दधि की पूर्वावस्था में ही रहेगा। 'यदि कहा जाय कि कार्य की पूर्वावस्था दूध से ही दधि होने का नियामक नहीं, अपितु कारण की शक्ति नियामक है,

कल्प्यमाना नान्याऽसती वा कार्यं नियच्छेत्, असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च। तस्मात्कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्। अपि च कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाश्वमहिषवद्भेदबुद्ध्यभावात्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्। समवायकल्पनायामपि, समवायस्य समवायिभिः संबन्धेऽभ्युपगम्यमाने, तस्य तस्यान्योऽन्यः संबन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः। अनभ्युगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः। अथ समवायः स्वयं संबन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैवापरं संबन्धं संबध्येत, संयोगोऽपि तर्हि स्वयं संबन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैव

भामती

सत्त्वात्सन्नेवेत्यत आह ॐ शक्तिश्च इति ॐ। नान्या कार्यकारणाभ्यां, नाप्यसती कार्यात्मनेति योजना। ॐ अपि च कार्यकारणयोः इति ॐ। यद्यपि भावाच्चोपलब्धेरित्यत्रायमर्थ उक्तस्तथापि समवायदूषणाय पुनरवतारितः। अनभ्युपगम्यमाने च समवायस्य समवायिभ्यां सम्बन्धे विच्छेदप्रसङ्गोऽवयवावयविद्रव्यगुणादीनां मिथः। नह्यसम्बद्धः समवायिभ्यां समवायः समवायिनौ सम्बन्धयेदिति। शङ्कते ॐ अथ समवायः स्वयम् इति ॐ। यथा हि सत्त्वयोगाद् द्रव्यगुणकर्माणि सन्ति, सत्त्वं तु स्वभावत एव सदिति न सत्त्वान्तरयोगमपेक्षते, तथा समवायः समवायिभ्यां सम्बद्धुं न सम्बन्धान्तरयोगमपेक्षते, स्वयं सम्बन्धरूपत्वादिति, तदेतत्सिद्धान्तान्तरविरोधापादनेन निराकरोति ॐ संयोगोऽपि तर्हि इति ॐ। न च संयोगस्य

भामती—व्याख्या

वह शक्ति कार्य के असत् होने पर भी कारण में रहती है' तब के लिए कहा गया है—शक्तिश्च कारणस्य"। अर्थात् वह शक्ति न तो कार्य और कारण से भिन्न हो सकती है और न कार्य के असत् होने पर उपपन्न हो सकती है। "अपि च कार्यकारणयोः"। यद्यपि कार्य और कारण का तादात्म्य "भावाच्चोपलब्धेः"—इस पन्द्रहवें सूत्र में कहा जा चुका है, तथापि समवाय सम्बन्ध का निरास करने के लिए तादात्म्य का पुनः पुष्टीकरण कर दिया गया है। "अनभ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः"—इस भाष्य का आशय यह है कि समवाय सम्बन्ध का अपने सम्बन्धियों के साथ सम्बन्धान्तर मानने पर अनवस्था और सम्बन्धान्तर न मानने पर समवाय के अवयव-अवयवी और गुण-द्रव्यादि संबंधियों का परस्पर विच्छेद प्रसक्त होता है। [पट और तन्तु—इन दोनों के साथ एक समवाय का सम्बन्ध माना जाता है, तब समवाय के द्वारा सम्बन्धित पट और तन्तुओं में 'पटवन्तः तन्तवः' या 'पटविशिष्टाः तन्तवः'—इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न हो जाता है किन्तु समवाय का पटादि कार्य और तन्त्वादि कारण से सम्बन्ध न मानने पर कार्य और कारण में विशिष्ट बुद्धि नहीं होगी, क्योंकि] समवाय सम्बन्ध अपने कार्य और कारणादिरूप सम्बन्धियों से असम्बद्ध होकर उनको परस्पर सम्बन्धित नहीं कर सकता।

शङ्का—समवाय स्वयं सम्बन्धरूप होने के कारण सम्बन्धान्तर की अपेक्षा के विना वैसे ही अपने सम्बन्धियों में विशिष्टता-ज्ञान का जनक हो जाता है, जैसे द्रव्य, गुण और कर्म में सत्ता जाति के सम्बन्ध से सत्त्व-बुद्धि होती है, किन्तु सत्ता में सत्तान्तर-सम्बन्ध के विना ही 'सत्' बुद्धि हो जाती है।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण भाष्यकार ने सिद्धान्तान्तर-विरोध की शैली पर किया है—"संयोगोऽपि तर्हि" [अर्थात् नैयायिकों का यह भी कहना है कि संयोग सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों में समवाय सम्बन्ध से रह कर अपने सम्बन्धियों को परस्पर सम्बन्धित करता है। यहाँ सिद्धान्ती का कहना यह है कि यदि समवाय सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों के साथ सम्बन्धान्तर की अपेक्षा के विना ही अपने सम्बन्धियों में परस्पर वैशिष्ट्य-ज्ञान का जनक हो जाता है, तब संयोग सम्बन्ध भी अपने सम्बन्धियों के साथ समवाय सम्बन्ध के

समवायं संबध्येत। तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्यगुणादीनां समवायकल्पनानर्थक्यम्। कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तेत ? किं समस्तेष्ववयवेषु वर्तेत,

भामती

कार्यत्वात् कार्यस्य च समवायिकारणाधीनजन्मत्वात् असमवाये च तदनुपपत्तेः समवायकल्पना संयोग इति वाच्यम्। अजसंयोगे तदभावप्रसङ्गात्। अपि च सम्बन्ध्यधीननिरूपणः समवायो यथा सम्बन्धि-द्वयभेदे न भिद्यते तन्नाशे च न नश्यत्यपि तु नित्य एक एव, एवं यदि संयोगोऽपि भवेत् ततः को दोषः ? अथैतत्प्रसङ्गभिया संयोगवत्समवायोऽपि प्रतिसम्बन्धिमिथुनं भिद्यते चानित्यश्चेत्यभ्युपेयते, तथा सति यथैक-स्मान्निमित्तकारणादेव जायत एवं संयोगोऽपि निमित्तकारणादेव जनिष्यत इति समानम्। ॐतादात्म्यप्रती-तेश्च इति ॐ। सम्बन्धावगमो हि सम्बन्धकल्पनाबीजं न तादात्म्यावगमस्तस्य नानात्वैकाश्रयसम्बन्ध-विरोधादिति। वृत्तिविकल्पेनावयवातिरिक्तमवयविनं दूषयति ॐकथञ्च कार्यम् इति ॐ। ॐ समस्त

भामती—व्याख्या

विना ही अपने संबन्धियों को परस्पर संबन्धित कर सकता, फलतः समवाय की सिद्धि ही न हो सकेगी]। यदि नैयायिक यह कहता है कि संयोग एक जन्य पदार्थ है, जन्य पदार्थ सदैव अपने समवायिकारण के अधीन होता है, उसका समवाय सम्बन्ध न मानने पर समवायिकारण के विना संयोग की उपपत्ति क्योंकर होगी ? इस शङ्का का निरास करता हुआ सिद्धान्ती कहता है कि दो विभु पदार्थों का संयोग नित्य माना जाता है, जन्य नहीं, वह संयोग जैसे समवायिकरण के विना उपपन्न हो जाता है, वैसे ही सामान्य संयोग भी उपपन्न हो जायगा, समवाय मानने की आवश्यकता क्या ?

दूसरी बात यह भी है कि "द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्" (प्रज्ञाकरभा. पृ. ४) इस न्याय के आधार पर समवाय सम्बन्ध भी अपने दोनों सम्बन्धियों के स्वभाव पर निर्भर है। दोनों सम्बन्धियों में परस्पर भेद है, किन्तु समवाय एक है, वह भिन्न नहीं होता। संबन्धियों के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता, क्योंकि नित्य माना जाता है। इसी प्रकार यदि संयोग संबन्ध को मान लिया जाता है, तब क्या दोष ? यदि इस समान प्रसङ्ग (प्रतिवन्दी) के भय से संयोग के ही समान समवाय को भी सम्बन्धी के भेद से भिन्न और अनित्य मान लिया जाता है, तब अनवस्था-प्रसङ्ग से बचने के लिए समवाय को समवायि-कारण के अधीन न मान कर केवल निमित्तकारण से ही उत्पन्न माना जा सकता है और उसी प्रकार संयोग भी केवल निमित्तकारण से उत्पन्न हो जायगा—इस प्रकार समान-प्रसङ्ग का घेराव बना ही रहता है।

"तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्यगुणादीनाम्" - इस भाष्य का आशय यह है कि दो पदार्थों में जब 'सम्बद्धौ' इस प्रकार संबन्ध की प्रतीति होती है, तब उस प्रतीति के आधार पर संबन्ध की कल्पना की जाती है, किन्तु तादात्म्य की प्रतीति संबन्ध की साधिका नहीं, प्रत्युत पदार्थों में नानात्व और संबन्ध की विरोधिनी है, क्योंकि तादात्म्यापन्न पदार्थ नाना नहीं, एक होता है और एक पदार्थ में संबन्ध होता नहीं, संबन्ध सदैव अनेक पदार्थों का ही होता है, फलतः तादात्म्य नानात्वसमानाधिकरणीभूत संबन्ध का विरोधी है।

जिस अवयवी पदार्थ का अवयवों में समवाय माना जाता है, वह अवयवी प्रत्येक अवयव में रहता है ? अथवा अनेक अवयवों में ? इस प्रकार उसकी वृत्तिता का विकल्प उठा कर अवयवी का निरास किया जाता है—"कथं च कार्यमवयविद्रव्यम्"। समस्त अवयवों में रहनेवाले वृक्षादि अवयवी की उपलब्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वृक्षादि के मध्य और पिछले भाग के अवयवों का द्रष्टा के इन्द्रिय से सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि वे अवयव साम्मुखीन

उत प्रत्यवयवम् ? यदि तावत्समस्तेषु वर्तेत, ततोऽवयव्यनुपलब्धिः प्रसज्येत, समस्तावयवसंनिकर्षस्याशक्यत्वात्। न हि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते। अथावयवशः समस्तेषु वर्तेत, तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणावयविनोऽवयवाः कल्प्येरन्, यैरारम्भकेष्ववयवेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत, कोशावयवव्यतिरिक्तैर्ह्यवयवैरसिः कोशं व्याप्नोति। अनवस्था चैवं प्रसज्येत, तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषामन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात्। अथ प्रत्यवयवं वर्तेत तदैकत्र व्यापारेऽन्यत्राव्यापारः स्यात्। न हि देवदत्तः स्रुघ्ने संनिधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि संनिधीयते। युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात्। देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्नपाटलिपुत्रनिवासिनोः। गोत्वादिवत्प्रत्येकं परिसमाप्तेर्न दोष इति चेत्, -न, तथा

भामती

इति॥। मध्यपरभागयोरर्वाग्भागव्यवहितत्वात्। अथ समस्तावयवव्यासङ्गयपि कतिपयावयवस्थानो ग्रहीष्यत इत्यत आह ॥ नहि बहुत्वम् इति ॥। ॥ अथावयवशः इति ॥। बहुत्वसंख्या हि स्वरूपेणैव व्यासज्य संख्येयेषु वर्तत इत्येकतमसंख्येयाग्रहणेऽपि न गृह्यते, समस्तव्यासङ्गित्वात्तद्रूपस्य। अवयवी तु न स्वरूपेणावयवान् व्याप्नोति, अपि त्ववयवशः, तेन यथा सूत्रमवयवैः कुसुमानि व्याप्नुवन्न समस्तकुसुमग्रहणमपेक्षते कतिपयकुसुमस्थानस्यापि तस्योपलब्धेः, एवमवयव्यपीति भावः। निराकरोति ॥ तदापि इति ॥। शङ्कते ॥ गोत्वादिवद् इति ॥। निराकरोति ॥ न इति ॥। यद्यपि गोत्वस्य सामान्यस्य

भामती–व्याख्या

अवयवों से व्यवहित होते हैं। 'समस्त अवयवों में रहनेवाले अवयवी का ग्रहण कतिपय अवयवों में ही क्यों न मान लिया जाय?' इस प्रश्न का उत्तर है—"न हि बहुत्वम्"। अर्थात् जैसे अनेक आश्रय में रहनेवाले बहुत्व का ग्रहण किसी एक आश्रय के ग्रहण से नहीं होता, वैसे समस्त अवयवों में रहनेवाले अवयवी का ग्रहण कतिपय अवयवों में संभव नहीं।

"अथावयवशः"—इस शङ्का-भाष्य का भाव यह है कि 'बहुत्व' संख्या अखण्ड एक और व्यासज्यवृत्ति (अनेक में रहनेवाली) है, अतः किसी एक आश्रय के ग्रहणमात्र से गृहीत नहीं होती, क्योंकि उसका स्वरूप अनेक आश्रयों में व्यासक्त (व्याप्त) होता है किन्तु अवयवी पदार्थ अखण्ड न होने के कारण स्वरूपतः समस्त अवयवों में पूरा व्याप्त नहीं, अपितु अवयवशः रहता है, अर्थात् पटादि का कुछ भाग साम्मुखीन तन्तुओं में, कुछ भाग मध्यावस्थित तन्तुओं में और कुछ भाग व्यवहित तन्तुओं में रहता है, अतः जैसे फूलों में धागा अवयवशः रहता है, अतः वह समस्त फूलों के ग्रहण की अपेक्षा न करके कतिपय फूलों में अवस्थित गृहीत होता है, उसी प्रकार अवयवी पदार्थ भी समस्त अवयवों के ग्रहण की अपेक्षा न करके कतिपय अवयवों के ग्रहणमात्र से गृहीत क्यों नहीं होगा?

उक्त शङ्का का निराकरण करते हैं—'तदापि'। अर्थात् पट के जो अवयव भिन्न-भिन्न तन्तुओं में रहते हैं, उन्हें तन्तुरूप आरम्भक अवयवों से भिन्न ही मानना होगा। उन अवयवों की भी अपने अवयवों में अवयवशः वृत्तिता माननी होगी—इस प्रकार अवयव-कल्पना अनवस्था-ग्रस्त हो जाती है।

शंकावादी कहता है—"गोत्वादिवत्"। अर्थात् जैसे गोत्व जाति समस्त गौओं में रहती हुई भी अवयवशः नहीं रहती, अपितु प्रत्येक गौ में पूर्णरूप से रहती है, अतः किसी एक गौ के ग्रहणमात्र से गृहीत हो जाती है। वैसे ही अवयवी पदार्थ को भी प्रत्येक अवयव में पूर्णतया वृत्ति मानने पर कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। उक्त शंका का निराकरण करते हैं—"न, तथा प्रतीत्यभावात्"। अर्थात् जैसे गोत्व प्रत्येक गौ में अनुभूत होता है, वैसे प्रत्येक

प्रतीत्यभावात्। यदि गोत्वादिवत्प्रत्येकं परिसमाप्तोऽवयवी स्यात्, यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति प्रत्यक्षं गृह्यत एवमवयव्यपि प्रत्यवयवं प्रत्यक्षं गृह्येत। नचैवं नियतं गृह्यते। प्रत्येकपरिसमाप्तौ चावयविनः कार्येणाधिकारात्तस्य चैकत्वाच्छृङ्गेणापि स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम्। न चैवं दृश्यते। प्रागुत्पत्तेश्च कार्यस्यासत्त्व उत्पत्तिरकर्तृका निरात्मिका च स्यात्। उत्पत्तिश्च नाम क्रिया, सा सकर्तृकैव भवितुमर्हति, गत्यादिवत्। क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिषिध्येत। घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना

भामती

विशेषा अनिर्वाच्या न परमार्थसन्तस्तथा च क्वाऽस्य प्रत्येकपरिसमाप्तिरिति, तथाप्यभ्युपेत्येदमुदितमिति मन्तव्यम्। अकर्तृका यतोऽतो निरात्मिका स्यात्, कारणाभावे हि कार्यमुत्पन्नं किं नाम भवेत् ? अतो निरात्मकत्वमित्यर्थः। यद्युच्येत घटशब्दस्तदवयवेषु व्यापाराविष्टतया पूर्वापरीभावमापन्नेषु घटोपजननाभिमुखेषु तादर्थ्यनिमित्तादुपचारात् प्रयुज्यते, तेषाञ्च सिद्धत्वेन कर्तृत्वमस्तीत्युपपद्यते घटो भवतीति प्रयोग इत्यत आह ❀ घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमानः इति ❀। उत्पादना हि सिद्धानां कपालकुलालादीनां व्यापारो नोत्पत्तिः। न चोत्पादनैवोत्पत्तिः, प्रयोज्यप्रयोजकव्यापारयोर्भेदादभेदे वा घटमुत्पादयतीतिवद्

भामती—व्याख्या

तन्तु में घट उपलब्ध नहीं होता।

यद्यपि हमारे अद्वैतवेदान्त में एक ही ब्रह्मरूप सत्ता पारमार्थिक तत्त्व है, वही गवादि पिण्डों में अभिव्यक्त होकर गोत्वादि पदों से अभिहित होती है, उससे भिन्न गोत्वादि विशेष जातियाँ अनिर्वचनीयमात्र हैं, परमार्थतः हैं ही नहीं, फिर वह प्रत्येक व्यक्ति में परिसमाप्त क्योंकर होगी ? तथापि गोत्वादि विशेष जातियों को पृथक् मान करके दोषान्तर का अभिधान किया गया है—"तथा प्रतीत्यभावात्"।

[पटादि असत् कार्यों की उत्पत्ति मान कर ही समवाय सम्बन्ध का उपपादन किया जाता है किन्तु वह उचित नहीं, क्योंकि यदि अपनी उत्पत्ति से पूर्व पटादि कार्य तन्त्वादि में नहीं रहता, तब 'पटः उत्पद्यते'—इत्यादि प्रयोगों के द्वारा जो उत्पत्ति क्रिया का कर्तृत्व (कर्तृकारकत्व) प्रतीत होता है, वह क्योंकर उपपन्न होगा ? क्योंकि असत् पदार्थ किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं होता। इतना ही नहीं, अपितु "उत्पत्तिरकर्तृका निरात्मिका स्यात्"। अर्थात्] कोई भी क्रिया कर्त्ता के बिना संपन्न नहीं हो सकती, अतः 'उत्पत्ति' क्रिया अकर्तृका (अपने कर्ता कारक के बिना) आत्मलाभ (स्वरूप-लाभ) न कर सकेगी, निरात्मिका (निःस्वरूपा) हो जायगी, क्योंकि जो किसी कर्त्ता के द्वारा की जाती है, उसे ही क्रिया कहते हैं, कर्त्ता के न होने पर क्रिया कैसे होगी ? यदि कहा जाय कि 'घट उत्पद्यते'—यहाँ 'घट' शब्द का गौण प्रयोग तादर्थ्य निमित्त को लेकर अपने अवयवरूप (आधारभूत) कपाल के लिए वैसे ही होता है, जैसे वीरण (उशीर या खस) के लिए 'कट' शब्द का प्रयोग, जैसा कि न्याय-भाष्यकार कहते हैं—"तादर्थ्यात् कटार्थेषु वीरणेषु व्यूह्यमानेषु कटं करोतीति भवति" (न्या. सू. २।२।६१)। कपालादि पदार्थ घटोत्पत्ति के समय सत् या विद्यमान ही हैं, अतः उनमें उत्पत्ति क्रिया का कर्तृत्व उपपन्न क्यों न होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना न घटकर्तृका, किं तर्हि ? अन्यकर्तृका"। घट की उत्पत्ति वह व्यापार (क्रिया) है, जिसका कर्ता (आश्रय) घट ही हो सकता है, कपालादि नहीं। कपालादि में उत्पादना (उत्पत्ति की प्रयोजकता या हेतुता) रहती है। उत्पादना को ही उत्पत्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रयोजक और प्रयोज्य का भेद लोक-प्रसिद्ध है। यदि उत्पादना और उत्पत्ति का अभेद माना जाता है, तब जैसे घट में उत्पादना की कर्मता को

न घटकर्तृका, किं तर्हि ? अन्यकर्तृकेति कल्प्या स्यात्। तथा कपालादीनामप्युत्पत्तिरुच्यमानाऽन्यकर्तृकैव कल्प्येत। तथा च सति घट उत्पद्यत इत्युक्ते कुलालादीनि कारणान्युत्पद्यन्त इत्युक्तं स्यात्। न च लोके घटोत्पत्तिरित्युक्ते कुलालादीनामप्युत्पद्यमानता प्रतीयते, उत्पन्नताप्रतीतेश्च। अथ स्वकारणसत्तासंबन्ध एवोत्पत्तिरात्मलाभश्च कार्यस्येति चेत्, कथमलब्धात्मकं संबध्येतेति वक्तव्यम्? सतोर्हि द्वयोः संबन्धः संभवति, न सदसतोरसतोर्वा, अभावस्य च निरुपाख्यत्वात्प्रागुत्पत्तेरिति

भामती

घटमुत्पद्यत इत्यपि प्रसङ्गात्। तस्मात् करोतिकारयत्योरिव घटगोचरयोर्भृत्यस्वामिसमवेतयोरुत्पत्त्युत्पादनयोरधिष्ठानभेदोऽभ्युपेतव्यः, तत्र कपालकुलालादीनां सिद्धानामुत्पादनाधिष्ठानानां नोत्पत्त्यधिष्ठानत्वमस्तीति पारिशेष्याद् घट एव साध्य उत्पत्तेरधिष्ठानमेषितव्यः। न चासावसन्नधिष्ठानं भवितुमर्हतीति सत्त्वमस्याभ्युपेयम्। एवञ्च घटो भवतीति घटव्यापारस्य धातूपात्तत्वात् तत्रास्य कर्तृत्वमुपपद्यते तण्डुलानामिव सतां विक्लित्तौ विक्लिद्यन्ति तण्डुला इति। शङ्कते ❀ अथ स्वकारणसत्तासम्बन्ध एवोत्पत्तिः इति ❀। एतदुक्तं भवति—नोत्पत्तिर्नाम कश्चिद् व्यापारो येनासिद्धस्य कथमत्र कर्तृत्वमित्यनुयुज्येत, किन्तु स्वकारणसमवायः स्वसत्तासमवायो वा, न चासतोऽप्यविरुद्ध इति। सोऽप्यसतोऽनुपपन्न इत्याह ❀ कथमलब्धात्मकम् इति ❀। अपि च प्रागुत्पत्तेरसत्त्वं कार्यस्येति कार्याभावस्य भावेन मर्यादाकरणमनुपपन्नमित्याह ❀ अभावस्य च इति ❀। स्यादेतत्—अत्यन्ताभावस्य वन्ध्यासुतस्य मा भून्मर्यादा

भामती—व्याख्या

लेकर कुलालो घटमुत्पादयति'—ऐसा प्रयोग होता है, वैसे ही उत्पादना से अभिन्न उत्पत्ति की भी कर्मता घट में मान कर 'घटमुत्पद्यते'—ऐसा प्रयोग होना चाहिए, घट उत्पद्यते—ऐसा नहीं। फलतः यह मानना होगा कि 'करोति' और 'कारयति'— इन दोनों क्रियाओं के आश्रय भिन्न होते हैं, जेसे कि 'स्वामी घटं कारयति' और 'भृत्यो घटं करोति'—यहाँ घटविषयक (घटकर्मक) स्वामी (प्रयोजक) की कारयितृता और भृत्य की कर्तृता भिन्न-भिन्न आश्रय में रहनेवाले धर्म हैं, वैसे ही उत्पादना और उत्पत्ति—इन क्रियाओं के भी आश्रय भिन्न हैं। इस प्रकार उत्पादना क्रिया के अधिष्ठानभूत कपाल-कुलालादि सिद्ध पदार्थ उत्पत्ति क्रिया के आश्रय नहीं हो सकते। परिशेषतः घटरूप साध्य पदार्थ को ही उत्पत्ति क्रिया का आश्रय मानना चाहिए। घट असत् होकर उत्पत्ति क्रिया का आधार कभी नहीं हो सकता, अतः घट का सत्त्व भी पहले मानना होगा। सत्त्व मान लेने पर 'घटो भवति'—यहाँ घट का जो भवन (उत्पत्ति)'भू' धातु से प्रतिपादित है, उसका कर्तृत्व घट में उपपन्न है।

शङ्का की जाती है—"अथ स्वकारणसत्तासम्बन्ध एवोत्पत्तिः"। आशय यह है कि उत्पत्ति कोई व्यापार या क्रिया नहीं, जिसकी आश्रयता असत् पदार्थों में अनुपपन्न होती। स्व-कारण-समवाय अथवा स्व-सत्ता-समवाय का नाम उत्पत्ति है। घट का स्वकीय कारणीभूत कपालों में जो स्व-समवाय अथवा स्व में जो सत्ता जाति का समवाय सम्बन्ध है, वह ऐसा उत्पत्ति पदार्थ है, जो असत् घट में भी रह सकता है, उसके लिए घट का सत्त्व पहले से मानने की आवश्यकता क्या ?

उक्त शङ्का का निरास किया जाता है—"कथमलब्धात्मकं सम्बन्ध्येत ?" सारांश यह है कि स्वकीय कारण में कार्य का सम्बन्ध हो, चाहे स्व में सत्ता का सम्बन्ध हो। असद्भूत कार्य का स्वप्रतियोगिक या स्वानुयोगिक कोई भी सम्बन्ध सम्भव नहीं, क्योंकि दो सत् पदार्थों का ही परस्पर सम्बन्ध होता है। दूसरी बात यह है कि 'घट का असत्त्व घट की उत्पत्ति से पूर्व'—इस प्रकार का मर्यादा-करण (सीमाङ्कन) असत्त्व के लिए संगत नहीं,

मर्यादाकरणमनुपपन्नम्। सतां हि लोके क्षेत्रगृहादीनां मर्यादा दृष्टा, नाभावस्य। न हि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक्पूर्णवर्मणोऽभिषेकादित्येवंजातीयकेन मर्यादाकरणेन, निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भवति भविष्यतीति वा विशेष्यते। यदि च वन्ध्यापुत्रोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वमभविष्यत्तत इदमप्युपापत्स्यत—कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं भविष्यतीति। वयं तु पश्यामो वन्ध्यापुत्रस्य कार्याभावस्य चाभावत्वाविशेषाद्यथा वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यत्येवं कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यतीति। नन्वेवं सति कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्येत। यथैव हि प्राक्सिद्धत्वात्कारणस्वरूपसिद्धये न कश्चिद् व्याप्रियते, एवं प्राक्सिद्धत्वात्तदनन्यत्वाच्च कार्यस्य स्वरूपसिद्धयेऽपि न कश्चिद्व्याप्रियेत, व्याप्रियते च। अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वाय मन्यामहे प्रागुत्पत्तेरभावः कार्यस्येति। नैष दोषः, यतः कार्याकारेण कारणं व्यवस्थापयतः कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वमुपपद्यते, कार्याकारोऽपि

भामती

अनुपाख्येयो हि सः, घटप्रागभावस्य तु भविष्यता घटेनोपाख्येयस्यास्ति मर्यादेत्यत आह ❀ यदि वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापाराद् इति ❀। उक्तमेतदधस्ताद्यथा न जातु घटः पटो भवत्येवमसदपि सन्न भवतीति। तस्मान्मृत्पिण्डे घटस्यासत्त्वेऽत्यन्तासत्त्वमेवेति। अत्रासत्कार्यवादी चोदयति ❀ नन्वेवं सति इति ❀। प्राक् प्रसिद्धमपि कार्यं कदाचित् कारणेन योजयितुं व्यापारोऽर्थवान् भवेदित्यत आह ❀ तदनन्यत्वाच्च इति ❀। परिहरति ❀ नैष दोषः इति ❀। उक्तमेतद्यथा भुजङ्गतत्त्वं न रज्जोर्भिद्यते, रज्जुरेव हि

भामती–व्याख्या

क्योंकि असत्त्व अभाव पदार्थ है, अभाव निरुपाख्य माना जाता है, अतः 'अभाव पदार्थ इन दैशिक और कालिक सीमाओं के बीच में रहता है'—ऐसी उपाख्या सम्भव नहीं। खेत और घर आदि भाव पदार्थों का ही सीमाङ्कन हो सकता है, अभाव का नहीं—"अभावस्य च निरुपाख्यत्वात् 'प्रागुत्पत्तेः'—इति मर्यादाकरणमनुपपन्नम्"। यदि कहा जाय कि अभावों में अत्यन्ताभाव और वन्ध्या-सुतादि अलीक पदार्थों का मर्यादा-करण अवश्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे अनुपाख्य हैं किन्तु प्रागभाव घटादि के द्वारा उपाख्येय (निरूपणीय) होता है, अतः उसकी मर्यादा घटकी उत्पत्ति क्यों न हो सकेगी? इस शङ्का का उत्तर है—"यदि च वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वमभविष्यत्"। इस तथ्य का स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है कि जैसे घट कभी पट नहीं हो सकता, वैसे ही असत् पदार्थ कभी सत् नहीं हो सकता, प्रागभाव भी असत् और अनुपाख्य है, अतः उसका भी मर्यादा-करण सम्भव नहीं। फलतः मृत्पिण्ड में घट की असत्ता मानने पर घट को अत्यन्त असत् ही मानना होगा।

शङ्का—"नन्वेवं सति" इत्यादि भाष्य में असत्कार्यवादी की ओर से यह शङ्का प्रस्तुत की गई है कि यदि घटादि कार्य को पहले से ही सत् (सिद्ध) माना जाता है, तब उसकी उत्पत्ति के लिए कुलालादि कारक-चक्र का व्यापार निरर्थक हो जाता है, क्योंकि उस समय जैसे सिद्ध तन्तुरूप कारण का स्वरूप-लाभ करने के लिए कोई व्यापार नहीं किया जाता, वैसे ही सिद्ध घटादि की सिद्धि के लिए कोई व्यापार क्यों किया जायगा? जैसे दो सिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए व्यापार किया जाता है, वैसे भी प्रकृत में कोई व्यापार अपेक्षित नहीं, क्योंकि "तदनन्यत्वात्"। सत्कार्यवाद में कार्य और कारण का अत्यन्त अभेद माना जाता है, जब कि सम्बन्ध को भेद की अपेक्षा होती है।

समाधान—उक्त शङ्का का भाष्यकार परिहार करते हैं—"नैष दोषः"। यह कहा जा चुका है कि जैसे आरोपित सर्प अपनी आधारभूत रज्जु से भिन्न नहीं, रज्जु ही सर्प है,

कारणस्यात्मभूत एवानात्मभूतस्यानारभ्यत्वादित्यभाणि। न च विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति। नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति, स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। तथा प्रतिदिनमनेकसंस्थानानामपि पित्रादीनां न वस्त्वन्यत्वं भवति, मम पिता मम भ्राता मम पुत्र इति प्रत्यभिज्ञानात्। जन्मोच्छेदानन्तरितत्वात्तत्र युक्तं नान्यत्रेति चेत्, न; क्षीरादीनामपि दध्याद्याकारसंस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात्। अदृश्यमानानामपि वटधानादीनां समानजातीयावयवान्तरोपचितानामङ्कुरादिभावेन दर्शनगोचरतापत्तौ जन्मसंज्ञा। तेषामेवावयवानामपचयवशाददर्शनापत्तावुच्छेदसंज्ञा। तत्रेदृग्जन्मोच्छेदान्तरितत्वाच्चेदसतः सत्त्वापत्तिः, सतश्चासत्त्वापत्तिः, तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसङ्गः। तथा च बाल्ययौवनस्थाविरेष्वपि भेदप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारलोपप्रसङ्गश्च। एतेन क्षणभङ्गवादः प्रतिवदितव्यः। यस्य पुनः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं तस्य निर्विषयः कारकव्यापारः स्यात्। अभावस्य विषयत्वानुपपत्तेराकाशहननप्रयोजनखड्गाद्यनेकायुधप्रयुक्तिवत्। समवायिकारणविषयः कारकव्यापारः स्यादिति चेत्, न; अन्यविषयेण कारकव्यापारेणान्यनिष्पत्तेरतिप्रसङ्गात्। समवायिकारणस्यैवात्मातिशयः कार्यमिति चेत्, न; सत्कार्यतापत्तेः। तस्मात्क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनावतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत्कार्यं वर्षशतेनापि शक्यं निश्चेतुम्। तथा मूलकारणमेवान्त्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। एवं युक्तेः कार्यस्य

भामती

तत्, काल्पनिकस्तु भेदः, एवं वस्तुतः कार्यतत्त्वं न कारणाद्भिद्यते, कारणस्वरूपमेव हि तत्, अनिर्वाच्यं तु कार्यरूपं भिन्नमिवाभिन्नमिव चावभासत इति। तदिदमुक्तं ॥ वस्त्वन्यत्वम् इति ॥। वस्तुतः परमार्थतोऽन्यत्वं न विशेषदर्शनमात्राद्भवति, सांव्यावहारिके तु कथञ्चित्तत्त्वान्यत्वे भवत एवेत्यर्थः। अनयैव हि दिशा संदर्भो योज्यः। असत्कार्यवादिनं प्रति दूषणान्तरमाह ॥ यस्य पुनः इति ॥। कार्यस्य कारणाभेदे सविषयत्वं कारकव्यापारस्य स्यान्नान्यथेत्यर्थः। ॥ मूलकारणं ॥ ब्रह्म। शब्दान्तराच्चेति। सूत्रावयवमवतार्य व्याचष्टे ॥ एवं युक्तेः कार्यस्य ॥ इति। अतिरोहितार्थम् ॥ १८ ॥

भामती-व्याख्या

उनका भेद काल्पनिकमात्र है। वैसे ही कार्यतत्त्व अपने कारणतत्त्व से परमार्थतः भिन्न नहीं होता, वह कारण-स्वरूप ही होता है किन्तु 'अनिर्वचनीय कार्य अपने कारण से भिन्न एवं अभिन्न जैसा प्रतीत होता है। यत्किञ्चित् विशेषता (भेद) देख लेनेमात्र से वस्तु अन्य नहीं हो जाती—"न च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं भवति"। यहाँ 'वस्तुतः' का अर्थ परमार्थतः है। थोड़ा-सा अन्तर दिख जाने मात्र से यदि वस्तु-भेद हो, तब एक देवदत्त अपने हाथ को संकुचित या विस्तारित कर लेनेमात्र से भिन्न हो जायगा और 'सोऽयं देवदत्तः'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा निराधार हो जायगी। 'ये तन्तु हैं, पट नहीं'—इत्यादि व्यवहार तो कथंचित् हो जाता है और पटाकारेण तन्तुओं को व्यवस्थित करने के लिए कारक-चक्र का व्यापार भी सार्थक है। इसी प्रकार भाष्य के शेष सन्दर्भ की व्याख्या कर लेनी चाहिए।

असत्कार्यवाद में दूषणान्तर का उद्भावन किया जाता है—"यस्य पुनः"। पटादि कार्यों का तन्त्वादि कारणों से अभेद मानने पर तन्तुओं के आश्रित कारक-व्यापार उपपन्न हो जाता है, किन्तु कार्य को तन्तुओं से अन्य एवं असत् मानने पर वह क्रिया किस द्रव्य पर होगी? भाष्यकार ने जो कहा है—"मूलकारणमेवान्त्यात् कार्यात्"। यहाँ 'मूलकारण' पद से 'ब्रह्म' का ग्रहण किया गया है। इस अट्ठारहवें सूत्र के "शब्दान्तराच्च"—इस भाग का

प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते। पूर्वसूत्रेऽसद्व्यपदेशिनः शब्दस्योदाहृतत्वात्ततोऽन्यः सद्व्यपदेशी शब्दः शब्दान्तरम्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीद्' इति चासत्पक्षमुपक्षिप्य 'कथमसतः सज्जायेत' इत्याक्षिप्य 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्' (छा० ६।२।१) इत्यवधारयति। तत्रेदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सच्छब्दवाच्येन कारणेन सामानाधिकरण्यस्य श्रूयमाणत्वात्सत्त्वानन्यत्वे प्रसिध्यतः। यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्यात्पश्चाच्चोत्पद्यमानं कारणे समवेयात्तदाऽन्यत्कारणात्स्यात्, तत्र 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।३) इतीयं प्रतिज्ञा पीड्येत। सत्त्वानन्यत्वावगतेस्त्वियं प्रतिज्ञा समर्थ्यते ॥ १८ ॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

यथा च संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते— किमयं पटः? किं वाऽन्यद् द्रव्यमिति। स एव प्रसारितो यत्संवेष्टितं द्रव्यं तत्पट एवेति प्रसारणेनाभिव्यक्तो गृह्यते। यथा च संवेष्टनसमये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते, स एव प्रसारणसमये विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते— न संवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति। एवं तन्त्वादिकारणावस्थं पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापारादिभिर्व्यक्तं स्पष्टं गृह्यते। अतः संवेष्टितप्रसारितपटन्यायेनैवानन्यत्कारणात्कार्यमित्यर्थः॥१९॥

यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्रेण रूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते, नाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यान्तरम्। तेष्वेव प्राणभेदेषु पुनः प्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चनप्रसारणादिकमपि कार्यान्तरं

भामती

"पटवच्च", "यथा च प्राणादि" इति च सूत्रे निगदव्याख्यातेन भाष्येण व्याख्याते ॥ १९–२० ॥

भामती–व्याख्या

अवतरणपूर्वक व्याख्यान किया जाता है—"एवं युक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्वं कारणादवगम्यते शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते"। पूर्वसूत्र में जो "धर्मान्तरेण"—ऐसा कह कर 'अव्याकृतत्व' धर्म के द्वारा असत्त्व का उपपादन कर कार्य-सत्त्व की स्थापना की गई है, वहाँ शब्दान्तर' को अभ्युच्चय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'शब्दान्तर' का अर्थ है—पूर्वसूत्र में उदाहृत 'असत्' शब्द से भिन्न 'सत्' शब्द के द्वारा भी सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१)। १८ ॥

"पटवच्च"—इस सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि जैसे वेष्टित (लिपटे हुए) वस्त्र का लम्बा-चौड़ा आकार दिखाई नहीं देता और प्रसारित (फैलाए हुए) वस्त्र का आकार प्रकट हो जाता है। वैसे ही कारणावस्था में कार्य सत् होने पर भी अव्यक्त और बुने जाने पर सुव्यक्त हो जाता है ॥ १९ ॥

"यथा च प्राणादि"—यह सूत्र अर्थक्रिया-भेद में असत्कार्य की साधकता को पङ्गु कर देता है। जैसे निरुद्ध (समाधिस्थ) प्राण अपने शरीर में आकुञ्चन-प्रसारणादि क्रियाएँ नहीं कर सकता, वैसे ही कारणावस्था में पटादि कार्य भी प्रावरणादि कार्य नहीं करता—एतावता असत् नहीं हो सकता ॥ २० ॥

निर्वर्त्यते। न च प्राणभेदानां प्रभेदवतः प्राणादन्यत्वं, समीरणस्वभावाविशेषात्। एवं कार्यस्य कारणादनन्यत्वम्। अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात्तदनन्यत्वाच्च सिद्धैषा श्रौती प्रतिज्ञा-'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इति ॥ २० ॥

(७ इतरव्यपदेशाधिकरणम् । सू० २१-२३)

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते। चेतनाद्धि जगत्प्रक्रियायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते। कुतः? इतरव्यपदेशात्। इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति प्रतिबोधनात्। यद्वा इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शारीरात्मत्वप्रदर्शनात्। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती न ब्रह्मणो भिन्नः शारीर इति दर्शयति। तस्माद्यद् ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति। अतः स स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवात्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम्। नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति। न च स्वयमत्यन्तनिर्मलः

भामती

यद्यपि शारीरात् परमात्मनो भेदमाहुः श्रुतयस्तथाप्यभेदमपि दर्शयन्ति श्रुतयो बह्व्यः। न च भेदाभेदावेकत्र समवेतौ, विरोधात्। न च भेदस्तात्त्विक इत्युक्तम्। तस्मात् परमात्मनः सर्वज्ञान्न शारीरस्तत्त्वतो भिद्यते। स एव स्वविद्योपधानभेदाद् घटकरकाद्याकाशवद्भेदेन प्रथते। उपहितं चास्य रूपं शारीरस्तेन मा नाम जीवाः परमात्मतामात्मनोऽनुभूवन्, परमात्मा तु तानात्मनोऽभिन्नाननुभवत्यननुभवे सार्वज्ञ्यव्याघातः। तथा चायं जीवान् बध्नन्नात्मानमेव बध्नीयात्। तत्रेदमुक्तं * नहि कश्चिदपरतन्त्रो

भामती-व्याख्या

संगति—'यदि तन्तु ही पट है, तब वह प्रावरणरूप कार्य नहीं कर सकता, वैसे ही सृष्टि-कर्ता ब्रह्म ही यदि जीव है, तब वह अपने अहित (दुःखादि अनिष्ट) पदार्थों की उत्पत्ति नहीं कर सकता—इस प्रकार के आक्षेप का समाधान इस अधिकरण में है।

सन्देह—उक्त आक्षेप की समानता से यहाँ यह सन्देह किया जाता है कि जीव और ब्रह्म का अभेद-प्रतिपादन युक्ति-संगत नहीं? अथवा है?

पूर्वपक्ष—यद्यपि शारीर आत्मा (जीव) से परमात्मा (ब्रह्म) का भेद बहुत-सी श्रुतियाँ कहती हैं, तथापि कतिपय श्रुतियां अभेद का भी प्रतिपादन करती हैं। भेद और अभेद—दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण एकत्र रह नहीं सकते, अतः केवल भेद माना जाता है। भेद भी तात्त्विक नहीं—यह कहा जा चुका है। फलतः सर्वज्ञ सर्व-स्रष्टा ब्रह्म से जीव वस्तुतः भिन्न नहीं, एक ही ब्रह्म शरीररूप उपाधियों के भेद से घटाकाश करकाकाशादि के समान भिन्न रूपों में अवभासित होता है, शरीररूप उपाधि से उपहित (विशिष्ट) होने के कारण ब्रह्म ही शारीर कहलाता है, अतः जीवगण भले ही ब्रह्म को अपना रूप न समझें किन्तु ब्रह्म उन जीवों को अपना ही रूप समझता है, अन्यथा उसकी सर्वज्ञता अक्षुण्ण नहीं रह सकती। इस प्रकार ब्रह्म जीवों को बन्धनागार में डालता हुआ अपने को ही बन्धन-ग्रस्त करता है। भाष्यकार यही कहते हैं—"नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मन कृत्वाऽनु-

सत्यत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात्। कृतमपि कथंचिद्यद् दुःखकरं तदिच्छया जह्यात्। सुखकरं चोपाददीत। स्मरेच्च मयेदं जगद्बिम्बं विचित्रं विरचितमिति। सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा स्मरति मयेदं कृतमिति। यथा च मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयाऽनायासेनैवोपसंहरति, एवं शारीरोऽपीमां सृष्टिमुपसंहरेत्। स्वमपि तावच्छरीरं शारीरो न शक्नोत्यनायासेनोपसंहर्तुम्। एवं हितक्रियाद्यदर्शनादन्याय्या चेतनाज्जगत्प्रक्रियेति गम्यते ॥ २१ ॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः। न तस्मिन्हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते। न हि तस्य हितं किंचित्कर्तव्यमस्त्यहितं वा परिहर्तव्यम्, नित्यमुक्तस्वभावत्वात्। न च तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति, सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वाच्च। शारीरस्त्वनेवंविधः। तस्मिन्प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः, न तु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः। कुत एतत्? भेदनिर्देशात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।), 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' (बृ० ४।३।३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति। नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः–'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः। कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम्? नैष दोषः, आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्। अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाभेदनिर्देशेना-

---

भामती

बन्धनागारमात्मनः कृत्वानुप्रविशति इत्यादि ॐ। तस्मान्न चेतनकारणं जगदिति पूर्वः पक्षः ॥२१॥

सत्यमयं परमात्मा सर्वज्ञत्वाज्जीवान् वस्तुत आत्मनोऽभिन्नान् पश्यति, पश्यत्येवं न भावत एषां सुखदुःखादिवेदनासङ्गोऽस्ति, अविद्यावशात्त्वेषां तद्वदभिमान इति। तथा च तेषां सुखदुःखादिवेदनायामप्यहमुदासीन इति न तेषां बन्धनागारनिवेशेऽप्यस्ति क्षतिः काचिन्ममेति न हिताकरणादिदोषापत्तिरिति राद्धान्तस्तदिदमुक्तम् ॐ अपि च यदा तत् त्वमसि इति ॐ। अपि चेति चः पूर्वोपपत्तिसाहित्यं द्योतयति नोपपत्त्यन्तरताम् ॥ २२ ॥

भामती–व्याख्या

प्रविशति।" किन्तु ब्रह्मात्मक जीव स्वयं अत्यन्त निर्मल होकर नितान्त मलिन शरीर को अपना रूप समझने की भूल क्योंकर करेगा? अतः चेतन तत्त्व के द्वारा जगत् की रचना सम्भव नहीं—यह पूर्वपक्ष है ॥ २१ ॥

सिद्धान्त—यह सत्य है कि परमात्मा सर्वज्ञ होने के कारण जैसे जीवों को अपना रूप समझता है और यह भी जानता है कि जीवों को वस्तुतः दुःखादिरूप अहित (अनिष्ट) उपभोग नहीं करना पड़ता, केवल अविद्या के चंगुल में फँस कर जीव अपने को बँधा हुआ मानते हैं किन्तु मैं असङ्ग उदासीन हूँ। जीवों को वैसा अभिमान होने पर भी मेरी (ब्रह्म की) कोई क्षति नहीं, फलतः पूर्वपक्षोक्त हिताकरणादि दोषों की प्रसक्ति नहीं होती। भाष्यकार यही कह रहे है—"अपि च यदा तत्त्वमसि"। 'अपि च'—यहाँ चकार के द्वारा पूर्वोक्त युक्ति की केवल अङ्गता इस युक्ति में सूचित की गई है, युक्त्यन्तरता नहीं अर्थात् अभेद-साक्षात्कार के पहले जीव अपने से भिन्न परमेश्वर को प्रपञ्च का रचयिता मानता है और अभेद-साक्षात्कार के अनन्तर किसी को भी स्रष्टा नहीं मानता ॥ २२ ॥

भेदः प्रतिबोधितो भवति, अपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वम्, समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। तत्र कुत एव सृष्टिः? कुतो वा हिताकरणादयो दोषाः? अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिर्हिताकरणादिलक्षणः संसारो न तु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृदवोचाम। जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यभिमानवत्! अबाधिते तु भेदव्यवहारे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्येवंजातीयकेन भेदनिर्देशेनावगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि॥ २२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः॥ २३॥

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां केचिन्महार्हा मणयो वज्रवैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः श्ववायसप्रक्षेपणार्हाः पाषाणा इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते, यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि बीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यं चन्दनकिंपाकचंपकादिषूपलक्ष्यते, यथा चैकस्याप्यन्नरसस्य लोहितादीनि केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्याणि भवन्ति, एवमेकस्यापि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इत्यतस्तदनुपपत्तिः, परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः। श्रुतेश्च प्रामाण्याद्विकारस्य च वाचारम्भणमात्रत्वात्स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्यवच्चेत्यभ्युच्चयः॥ २३॥

(८ उपसंहारदर्शनाधिकरणम्। सू० २४-२५)

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि॥ २४॥

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं; तन्नोपपद्यते। कस्मात्?

भामती

स्यादेतत्—यदि ब्रह्मविवर्त्तो जगत्, हन्त सर्वस्यैव जीववच्चैतन्यप्रसङ्ग इत्यत आह ※ अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ※। अतिरोहितार्थेन भाष्येण व्याख्यातम्॥ २३॥

ब्रह्म खल्वेकमद्वितीयतया परानपेक्षं क्रमेणोत्पद्यमानस्य जगतो विविधविचित्ररूपस्योपादानमुपेयते, तदनुपपन्नम्। नह्येकरूपात्कारणात् कार्यभेदो भवितुमर्हति तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। कारणभेदो हि कार्यभेदहेतुः। क्षीरबीजादिभेदाद्दध्यङ्कुरादिकार्यभेददर्शनात्। न चाक्रमात् कारणात्कार्यक्रमो युज्यते। समर्थस्य

भामती-व्याख्या

यदि समस्त (जड़ाजडात्मक) जगत् ब्रह्म का ही विवर्त (कार्य) है, तब जीव के ही समान जड़ात्मक जगत् भी चेतनरूप होना चाहिए—इस आक्षेप का निराकरण सूत्रकार ने किया है—"अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः।" अर्थात् लोक में जैसे एक ही पृथिवीतत्त्व के पाषाणादि कार्य सभी एक समान नहीं होते, अपितु कुछ हीरा-वैडूर्य (विदुरदेशोत्पन्न वैडूर्य या लहसुनिया) आदि के समान उत्तम (बहुमूल्य), कोई (सूर्यकान्तादि) मध्यम और कोई निकृष्ट (कूकर, सूकरादि को मार भगाने के काम के) होते हैं। इसी प्रकार जगत् में वैचित्र्य उपपन्न हो जाता है, अतः एकरूपापत्ति का दोष प्रसक्त नहीं होता॥ २३॥

संशय—सृष्टि-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यों का जो अकेले (सहायक-सामग्री-निरपेक्ष) ब्रह्म में समन्वय किया गया, वह युक्ति-विरुद्ध है? अथवा नहीं?

पूर्वपक्ष—एक, अद्वितीय, परानपेक्ष ब्रह्म को जो आकाशादि-क्रम से उत्पद्यमान

उपसंहारदर्शनात्। इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्दण्डचक्रसूत्रसलिलाद्यनेककारकसाधनोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते। ब्रह्म चासहायं तवाभिप्रेतं, तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्येत? तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत्, नैष दोषः, यतः क्षीरवद् द्रव्यस्वभावविशेषादुपपद्यते। यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमकरकादिभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं, तथेहापि भविष्यति। ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकं, कथमुच्यते क्षीरवद्धीति? नैष दोषः, स्वयमपि हि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वर्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय। यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि बलाद्दधिभावमापद्येत। नहि वायुराकाशो वौष्ण्यादिना बलाद्दधिभावमापद्यते। साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता संपाद्यते। परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म। न तस्यान्येन केनचित्पूर्णता संपादयितव्या। श्रुतिश्च भवति'—न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

भामती

क्षेपायोगाद् द्वितीयतया च क्रमवत्तत्सहकारिसमवधानानुपपत्तेः। तदिदमुक्तम् ® इह हि लोके इति ©। एकैकं मृदादि कारकं, तेषां तु सामग्र्यं साधनम्, ततो हि कार्यं साधयत्येव, तस्मान्नाद्वितीयं ब्रह्म जगदुपादानमिति प्राप्ते, उच्यते—''क्षीरवद्धि''। इदं तावद्भवान् पृष्टो व्याचष्टां, किं तात्त्विकमस्य रूपमपेक्ष्येदमुच्यते उतानादिनामरूपबीजसहितं काल्पनिकं सार्वज्ञ्यं सर्वशक्तित्वम्? तत्र पूर्वस्मिन् कल्पे किं नाम ततोऽद्वितीयादसहायादुपजायते? नहि तस्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य वस्तुसत्कार्यमस्ति, तथा च श्रुतिः—''न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते'' इति। उत्तरस्मिंस्तु कल्पे यदि कुलालादिवदत्यन्तव्यतिरिक्त-

भामती-व्याख्या

विचित्र प्रपञ्च का उपादान कारण माना गया है, वह युक्ति-सङ्गत नहीं, क्योंकि विचित्र कारण से ही विचित्र कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है, एकरूप (अविचित्र) कारण से नानारूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि होगी, तब उसमें आकस्मिकत्व (अकारणकत्व) प्रसक्त होगा, क्योंकि कारण का भेद ही कार्य के भेद का हेतु है, जैसे दूध और बीजरूप विभिन्न कारणों से उत्पन्न होने के ही कारण दधि और अंकुररूप कार्यों का भेद देखा जाता है। आकाश की उत्पत्ति के समय वायु आदि की उत्पत्ति क्यों नहीं हुई? इस प्रश्न का समुचित उत्तर विभिन्न कारणवादी ही दे सकता है कि 'उनके कारण भिन्न-भिन्न हैं, जिस क्रम से कारण उपस्थित होते गए, उसी क्रम से कार्य उत्पन्न होते गये'। किन्तु एक, अद्वितीय ब्रह्म को समस्त कार्य-सक्षम माननेवाला उस प्रश्न का उत्तर क्या देगा? एक काल में ही समस्त कार्य उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि सर्व-सक्षम कारणतत्त्व की क्षमता का न तो अवरोध या विलम्बन किया जा सकता है और न एक कारण में क्रम बिठाया जा सकता है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—''इह हि लोके कुलालादयो घटादीनां कर्त्तारः।'' भाष्यकार ने प्रत्येक मृदादि को 'कारक' एवं मृत्, दण्ड, चक्र, कुलालादि के समुच्चय को 'साधन' पद से निर्दिष्ट किया है, क्योंकि कर्त्ता आदि कारकों का समुच्चय होने पर कार्य की सिद्धि हो ही जाती है। फलतः अद्वितीय ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता।

सिद्धान्त—सूत्रकार ने 'क्षीरवद्धि' ऐसा कह कर सिद्धान्त स्थापित किया है। सारांश यह है कि पूर्वपक्षी से यह पूछा जा सकता है कि उसने क्या तात्त्विक (शुद्ध) ब्रह्म में अनुपादानत्व की प्रसक्ति की है? अथवा अनादि नाम-रूप-बीज-सहित (विशिष्ट) ब्रह्म में? प्रथम कल्प में तो इष्टापत्ति है, क्योंकि शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप ब्रह्म का वस्तुतः कोई कार्य

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।' (श्वे० ६।८) इति। तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात्क्षीरादिवद्विचित्रपरिणाम उपपद्यते ॥ २४ ॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

स्यादेतत् - उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनानामनपेक्ष्यापि बाह्यं साधनं दध्यादिभावः, दृष्टत्वात्। चेतनाः पुनः कुलालादयः साधनसामग्रीमपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमाना दृश्यन्ते। कथं ब्रह्म चेतनं सदसहायं प्रवर्तेतेति ? देवादिवदिति

भामती

सहकारिकारणाभावादनुपादानत्वं साध्यते, ततः क्षीरादिभिर्व्यभिचारः, तेऽपि हि बाह्यचेतनादिकारणानपेक्षा एव कालपरिवासवशेन स्वत एव परिणामान्तरमासादयन्ति। अथान्तरकारणानपेक्षत्वं हेतूक्रियते, तदसिद्धमनिर्वाच्यनामरूपबीजसहायत्वात्। तथा च श्रुतिः—''मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्'' इति। कार्यक्रमेण तत्परिपाकोऽपि क्रमवानुन्नेयः। एकस्मादपि च विचित्रशक्तेः कारणादनेककार्योत्पादो दृश्यते। यथैकस्माद्वह्नेर्दाहपाकावेकस्माद्वा कर्मणः संयोगविभागसंस्काराः ॥ २४ ॥

यदि तु चेतनत्वे सतीति विशेषणान्न क्षीरादिभिर्व्यभिचारः, दृष्टा हि कुलालादयो बाह्यमुपादानापेक्षाश्चेतनश्च ब्रह्मेति, तत्रेदमुपतिष्ठते *देवादिवद् इति* लोक्यतेऽनेनेति लोकः शब्द एव तस्मिन् ॥२५॥

भामती–व्याख्या

माना ही नहीं जाता, जैसा कि श्रुति कहती है—"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" (श्वेता० ६।८)। द्वितीय कल्प में यदि कुलालादि के समान अत्यन्त भिन्न सहकारी कारण का अभाव होने से ब्रह्म में अनुपादानत्व सिद्ध किया जाता है—'ब्रह्म जगतोऽनुपादानम्, कुलालादिवत्सहायकाभावात्। तब तो दुग्धादि में व्यभिचार है, क्योंकि चेतनादि बाह्य सामग्री के अभाव में भी दुग्धादि दध्यादिरूप कार्य के उपादान होते हैं। 'ब्रह्म जगतोऽनुपादानम्, आन्तरिककारणानपेक्षत्वात्'—इस प्रकार यदि आन्तर कारण (सहायक) के अभाव को हेतु बनाया जाता है, तब वह स्वरूपासिद्धिरूप दोष से युक्त होकर हेत्वाभास हो जाता है, हेत्वाभास से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। ब्रह्म की आन्तरिक सहायक सामग्री का प्रतिपादन श्रुति करती है–''मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' मायिनं तु महेश्वरम्'' (श्वेता. ४।१०)। यद्यपि माया में सर्वकार्योत्पादन का सामर्थ्य है, तथापि मायागत संस्काररूप बीजों का परिपाक (कार्यकरणोन्मुखत्व) जिस-क्रम से होता है, उसी क्रम से कार्यों की क्रमशः उत्पत्ति होती है। यह जो कहा गया कि एकरस (अविचित्र) कारण से विचित्र कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती। वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि विचित्र शक्ति-सम्पन्न एक कारणतत्त्व से भी अनेक और विचित्र कार्य होते देखे जाते हैं, जैसे कि एक ही अग्नि से दाह, पाक और प्रकाशादि एक ही क्रिया से संयोग, विभाग और संस्कारादि अनेक कार्य उत्पन्न होते हैं ॥ २४ ॥

यदि 'ब्रह्म न जगतोऽनुपादानम्, चेतनत्वे सत्यसहायत्वात्'—इस प्रकार हेतु का 'चेतनत्व' विशेषण लगाया जाता है, तब क्षीरादि जड़ पदार्थों में व्यभिचार न होने पर भी देवों, पितरों और ऋषियों में व्यभिचार होता है—"देवादिवदपि लोके"। लोक्यते प्रकाश्यतेऽनेन'— इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'लोक' पद से शब्द विवक्षित है, अर्थात् मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणादिरूप शब्दों में देवादि का ऐसा ऐश्वर्य वर्णित है कि वे किसी बाह्य सामग्री के विना ही अनेक शरीर, महल और रथादि का निर्माण कर देते हैं ॥ २५ ॥

ब्रूमः। यथा 'लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्बाह्यं साधनमैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि च रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात्। तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून्सृजति बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते, पद्मिनी चानपेक्ष्य किंचित्प्रस्थानसाधनं सरोऽन्तरात्सरोऽन्तरं प्रतिष्ठते, एवं चेतनमपि ब्रह्मानपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव जगत्स्रक्ष्यति, स यदि ब्रूयात्-य एते देवादयो ब्रह्मणो दृष्टान्ता उपात्तास्ते दार्ष्टान्तिकेन ब्रह्मणा न समाना भवन्ति, शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादन उपादानम्, नतु चेतन आत्मा, तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भवति. बलाका च स्तनयित्नुरवश्रवणाद्गर्भं धत्ते पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सत्यचेतनेनैव शरीरेण सरोऽन्तरात्सरोऽन्तरमुपसर्पति, वल्लीव वृक्षं, नतु स्वयमेवाचेतना सरोऽन्तरोपसर्पणे व्याप्रियते। तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ता इति। तं प्रति ब्रूयात्—नायं दोषः, कुलालादिदृष्टान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षितत्वादिति। यथा हि कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, तथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनमपेक्षिष्यत इत्येतावद्वयं देवाद्युदाहरणेन विवक्षामः। तस्माद्यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्हतीति नास्त्येकान्त इत्यभिप्रायः ॥ २५ ॥

(९ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् । सू० २६–२९)

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परि-

---

भामती

ननु न ब्रह्मणस्तत्त्वतः परिणामो येन कार्त्स्न्यभागविकल्पेनाक्षिप्येत, अविद्याकल्पितेन तु नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मना तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन परिणामादिव्यवहारास्पदत्वं ब्रह्म प्रतिपद्यते। न च कल्पितं रूपं वस्तु स्पृशति, न हि चन्द्रमसि तैमिरिकस्य द्वित्वकल्पना चन्द्रमसो द्वित्वमावहति, तदनुपपत्त्या वा चन्द्रमसोऽनुपपत्तिः, तस्मादवास्तवी परिणामकल्पनानुपपद्यमानापि न परमार्थसतो ब्रह्मणोऽनुपपत्तिमावहति, तस्मात्पूर्वपक्षाभावादनारभ्यमिदमधिकरणमित्यत आह ❀ चेतन-

---

भामती—व्याख्या

संशय—निरवयव ब्रह्म में जगत् की उपादानता क्या असम्भव है? अथवा सम्भव?

पूर्वपक्ष—निरवय ब्रह्म का परिणाम सम्भव नहीं।

शङ्का—यहाँ कृत्स्नशः या अवयवशः परिणाम का विकल्प तब कर सकते थे, जब कि जगत् को वस्तुतः ब्रह्म का परिणाम माना जाता। वेदान्त-सिद्धान्त में ब्रह्म का तत्त्वतः परिणाम माना नहीं जाता, केवल अविद्या-कल्पित नाम-रूपात्मक अनिर्वचनीय प्रपञ्च की अव्याकृतता (अनभिव्यक्ति) और व्याकृतता (अभिव्यक्ति) को लेकर ब्रह्म में परिणामित्व का व्यवहारमात्र हो जाता है। कल्पित पदार्थ का अपनी आधार वस्तु से कोई लगाव नहीं होता, जैसे कि एक चन्द्रमा में तैमिरिक (तिमिररोगाक्रान्त) व्यक्ति के द्वारा कल्पित द्वित्व एक चंद्रमा को न तो दो कर देता है और न द्वित्व की अनुपपत्ति से चंद्रमा की अनुपपत्ति होती है। फलतः अवास्तवी परिणाम-कल्पना स्वयं कथित विकल्पों के द्वारा अनुपपद्यमान होकर ब्रह्म को अनुपपन्न नहीं कर सकती। इस प्रकार उक्त विकल्प-संवलित पूर्वक्ष उठाया ही नहीं जा

णममानं जगतः कारणमिति स्थितम् । शास्त्रार्थपरिशुद्धये तु पुनराक्षिपति । कृत्स्नप्रसक्तिः कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति निरवयवत्वात् । यदि ब्रह्म पृथिव्यादिवत्सावयवमभविष्यत्, ततोऽस्यैकदेशः 'पर्यणंस्यदेकदेशश्चावास्थास्यत । निरवयवं तु ब्रह्म श्रुतिभ्योऽवगम्यते - निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२), 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृ० २।४।१२), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविशेषप्रतिषेधिनीभ्यः । ततश्चैकदेशपरिणामासंभवात्कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलोच्छेदः प्रसज्येत । द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यं चापद्येत, अयत्नदृष्टत्वात्कार्यस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य च ब्रह्मणोऽसंभवात्, अजत्वादिशब्दकोपश्च । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया सावयवमेव ब्रह्माभ्युपगम्येत, तथापि ये निरवयवत्वस्य प्रतिपादकाः शब्दा उदाहृतास्ते प्रकुप्येयुः । सावयवत्वे चानित्यत्वप्रसङ्ग इति । सर्वथायं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्याक्षिपति ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति । न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति । न तावत्कृ-

भामती

मेकम्* । यद्यपि श्रुतिशतादैकान्तिकाद्वैतप्रतिपादनपरात् परिणामो वस्तुतो निषिद्धस्तथापि क्षीरादिदेवतादृष्टान्तेन पुनस्तद्वास्तवत्वप्रसङ्गं पूर्वपक्षोपपत्त्या सर्वथाऽयं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्यपवाद्य "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्", "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि" इति सूत्राभ्यां विवर्तदृढीकरणेनैकान्तिकाद्वयलक्षणः श्रुत्यर्थः परिशोध्यत इत्यर्थः । * तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म * तत्त्वतः । * ननु शब्देनापि * इति चोद्यमविद्याकल्पितत्वोद्घाटनाय । नहि निरवयवत्वसावयवत्वाभ्यां विधान्तरमस्त्येकनिषेधस्येतरविधाननान्तरीयकत्वात् । तेन प्रकारान्तराभावान्निरवयवत्वसावयवत्वयोश्च प्रकारयोरनुपपत्तेर्ग्रावप्लवनाद्यर्थवादवदप्रमाणं शब्दः स्यादिति चोद्यार्थः । परिहारः सुगमः ॥ २६-२७ ॥

भामती-व्याख्या

सकता, अतः इस अधिकरण का आरम्भ सम्भव नहीं।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करने के लिए भाष्यकार ने कहा है—'चेतनमेकमद्वितीयम्'। यद्यपि ऐकान्तिकाद्वैतपरक अनेक श्रुतियों के द्वारा परिणाम की वास्तविकता निराकृत की गई है। तथापि क्षीर और देवादि दृष्टान्तों के द्वारा परिणाम की वास्तविकता सिद्ध करके पूर्वपक्षी ने यह आक्षेप किया कि निरवयव ब्रह्म का परिणाम सर्वथा असङ्गत है—ऐसा कह कर "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" (ब्र. सू. २।१।२७) और "आत्मनि चैवं विचित्राश्च" (ब्र. सू. २।१।२८) इन दो सूत्रों के द्वारा विवर्तवाद का दृढीकरण करते हुए ऐकान्तिक अद्वैतवाद को परिशुद्ध किया जाता है।

"तस्मादस्ति अविकृतं ब्रह्म"—इस भाष्य का आशय यह है कि मायामय (विशिष्ट) ब्रह्म विकारी होने पर भी तात्त्विक (विशुद्ध) ब्रह्म अविकारी ही है। "ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रतिपादयितुम्"—इस आक्षेप का उद्देश्य ब्रह्मगत परिणामित्व या सावयवत्व में अविद्या-कल्पितत्व प्रकट करना है, क्योंकि आक्षेपवादी का आशय यह है कि निरवयत्व और सावयवत्व—इन दो विधाओं को छोड़ कर कोई तीसरी विधा है नहीं, अतः उक्त दोनों विधाओं में से एक का निषेध करने पर दूसरी विधा का विधान अवश्यंभावी है। निरवयत्व और सावयत्व—इन दोनों प्रकारों की अनुपपत्ति होने पर उभय-प्रकार-प्रतिपादक आगम प्रमाण वैसे ही अप्रमाण है, जैसे "ग्रावाणः प्लवन्ते"—यह वाक्य। परिहार-भाष्य

त्स्नप्रसक्तिरस्ति। कुतः ? श्रुतेः यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत, एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात्, 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति, 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इति चैवंजातीयकात्, तथा हृदयायतनत्ववचनात् सत्संपत्तिवचनाच्च। यदि च कृत्स्नं ब्रह्म कार्यभावेनोपयुक्तं स्यात्, 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति सुषुप्तिगत विशेषणमनुपपन्नं स्यात्, विकृतेन ब्रह्मणा नित्यसंपन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात्। तथेन्द्रियगोचरत्वप्रतिषेधाद् ब्रह्मणो विकारस्य चेन्द्रियगोचरत्वोपपत्तेः तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म। नच निरवयवत्वशब्दव्याकोपोऽस्ति, श्रूयमाणत्वादेव निरवयवत्वस्याप्यभ्युपगम्यमानत्वात्। शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम्। शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च। लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते। ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्ते-अस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्तय इति। किमुताचिन्त्यस्वभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत। तथा चाहुः पौराणिकाः—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥' इति। तस्माच्छब्दमूल एवातीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः।

ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं निरवयवं च ब्रह्म परिणमते, न च कृत्स्नमिति। यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव परिणमेत। कृत्स्नमेव वा परिणमेत। अथ केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिच्चावतिष्ठेतेति रूपभेदकल्पनात्सावयवमेव प्रसज्येत। क्रियाविषये हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येवंजातीयकायां विरोधप्रतीतावपि विकल्पाश्रयणं विरोधपरिहारकारणं भवति, पुरुषतन्त्रत्वाच्चानुष्ठानस्य। इह तु विकल्पाश्रयणेनापि न विरोधपरिहारः संभवति, अपुरुषतन्त्रत्वाद्वस्तुनः। तस्माद् दुर्घटमेतदिति। नैष दोषः, अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्। नह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु संपद्यते। नहि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति। न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्। 'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्याह—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इति। तस्मादस्मत्पक्षे न कश्चिदपि दोषप्रसङ्गोऽस्ति॥ २७॥

भामती-व्याख्या

में आगम-प्रामाण्य का सामञ्जस्य ब्रह्मगत सावयत्व को अविद्या-कल्पित मानकर ही किया गया है—"अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्। न ह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवत्वं वस्तु सम्पद्यते"॥ २६–२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यं—कथमेकस्मिन्ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः स्यादिति। यत आत्मन्यप्येकस्मिन्स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते'—न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादिना। लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते। तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति ॥ २८ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

परेषामप्येष समानः स्वपक्षे दोषः। प्रधानवादिनोऽपि हि निरवयवमपरिच्छिन्नं शब्दादिहीनं प्रधानं सावयवस्य परिच्छिन्नस्य शब्दादिमतः कार्यस्य कारणमिति स्वपक्षः। तत्रापि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वात्प्रधानस्य प्राप्नोति, निरवयवत्वाभ्युपगमकोपो वा। ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युपगम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः, तेषां साम्यावस्था प्रधानं तैरेवावयवैस्तत्सावयवमिति। नैवंजातीयकेन सावयवत्वेन प्रकृतो दोषः परिहर्तुं पार्यते। यतः सत्त्वरजस्तमसामप्येकैकस्य समानं निरवयवत्वम्। एकैकमेव चेतरद्वयानुगृहीतं सजातीयस्य प्रपञ्चस्योपादानमिति समानत्वात्स्वपक्षदोषप्रसङ्गस्य। तर्काप्रतिष्ठानात्सावयवत्वमेवेति चेत्, एवमप्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः। अथ शक्तय एव कार्यवैचित्र्यसूचिता अवयवा

भामती

अनेन स्फुटितो मायावादः। स्वप्नदृगात्मा हि मनसैव स्वरूपानुपमर्देन रथादीन् सृजति ॥२८॥

चोदयति ❀ ननु नैव इति ❀। परिहरति ❀ नैवञ्जातीयकेन इति ❀। यद्यपि समुदायः सावयवस्तथापि प्रत्येकं सत्त्वादयो निरवयवाः। नह्यस्ति सम्भवः सत्त्वमात्रं परिणमते न रजस्तमसी इति। सर्वेषां सम्भूयपरिणामाभ्युपगमात्। प्रत्येकं चानवयवानां कृत्स्नपरिणामे मूलोच्छेदप्रसङ्गः, एकदेश-

भामती—व्याख्या

"आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि" –इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त 'मायावाद' स्फुटित किया है। सूत्रस्थ आत्मा स्वप्न-द्रष्टा विवक्षित है, क्योंकि वहाँ अपने स्वरूप को जैसे-का-तैसा अक्षुण्ण रख कर रथादिरूप विचित्र प्रपञ्च का सर्जन कर लेता है ॥ २८ ॥

आक्षेपवादी कहता है—'ननु नैव तैर्निरवयवम्"। अर्थात् सूत्रकार ने जो "स्वपक्षदोषाच्च" कह कर दोष दिया, वह सांख्य-पक्ष में तभी लागू हो सकता है, जब कि प्रधान (प्रकृति) निरवयव हो, किन्तु सत्त्व, रज और तम इन तीन लड़ियों से बटी हुई प्रकृतिरूप रज्जु निश्चितरूप से सावयव है, सांख्याचार्यों ने भी कहा है—"सावयवं परतन्त्रम्" (सां० का० १०)।

उक्त आक्षेप का परिहार है—'नैवं जातीयकेन सावयवत्वेन"। अर्थात् सत्त्व रज और तम का समूह यद्यपि सावय है, तथापि प्रत्येक गुण निरवयव है, अव्यक्त है। "तद्विपरीतमव्यक्तम्" (सां. का. १०) ऐसा कर कर उसमें सावयवत्व का विपर्यय (निरवयवत्व) सिद्ध किया गया है। ऐसा कभी सम्भव नहीं कि अकेला निरवयव सत्त्व गुण परिणत हो, रजो गुण और तमो गुण परिणत न हों। तीनों गुण मिल कर ही किसी कार्य के रूप में परिणत होते हैं, जैसा कि ईश्वर कृष्ण ने कहा है—"अन्योऽन्यजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः" (सां. का. १२)। प्रत्येक निरवयव गुण यदि समग्रतया परिणत होता है, तब गुणरूप मूल तत्त्व का उच्छेद हो जायगा

इत्यभिप्रायः, तास्तु ब्रह्मवादिनोऽप्यविशिष्टाः। तथाणुवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवयवत्वाद्यदि कार्त्स्न्येन संयुज्येत, ततः प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रत्व-प्रसङ्गः। अथैकदेशेन संयुज्येत, तथापि निरवयवत्वाभ्युपगमकोप इति स्वपक्षेऽपि समान एव दोषः। समानत्वाच्च नान्यतरस्मिन्नेव पक्ष उपक्षेप्तव्यो भवति। परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः॥ २९॥

भामती

परिणामे वा सावयवत्वमनिष्टं प्रसज्येत। ⊛ तथाणुवादिनोऽपि इति ⊛। वैशेषिकाणां ह्यणुभ्यां संयुज्य द्व्यणुकमेकमारभ्यते, तैस्त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमेकमारभ्यत इति प्रक्रिया। तत्र द्वयोरण्वोरनवयवयोः संयोगस्तावण् व्याप्नुयादव्याप्नुवन्वा तत्र त वर्तेत। न ह्यस्ति सम्भवः स एव तदानीं तत्र वर्तते न वर्तते चेति। तथा चोपर्यधःपार्श्वस्थाः षडपि परमाणवः समानदेशा इति प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रः पिण्डः प्रसज्येत। अव्यापने वा षडवयवः परमाणुः स्यादित्यनवयवत्वव्याकोपः। अथावयवश्च सावयवत्वमुपेतुं, तथा सत्यनन्तावयवत्वेन सुमेरुराजसर्षपयोः समानपरिणामत्वप्रसङ्गः, तस्मात् समानो दोषः। आपातमात्रेण साम्यमुक्तं परमार्थतस्तु भाविकं परिणामं वा कार्यकारणभावं वेच्छतामेव दुर्वारो दोषो न पुनरस्माकं मायावादिनामित्याह ⊛ परिहृतस्तु इति ⊛ ॥ २९ ॥

भामती—व्याख्या

और यदि उसका अवयवशः परिणाम माना जाता है, तब सावयवत्व की आपत्ति होती है, जो कि अनिष्ट है।

"तथाऽणुवादिनोऽपि"— इस भाष्य के द्वारा वैशेषिक-पक्ष में भी समानदोषता की प्रसक्ति की गई है, क्योंकि उनके मत की प्रक्रिया यह है कि दो परमाणु परस्पर संयुक्त होकर एक द्व्यणुक और तीन द्व्यणुक संयुक्त होकर एक त्र्यणुक आरम्भ करते हैं। वहाँ निरवयव-भूत दो परमाणुओं का संयोग दोनों परमाणुओं एवं एक परमाणु का अपनी (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे की) छहों दिशाओं में विद्यमान छः परमाणुओं के साथ संयोग सभी परमाणुओं को व्याप्त करेगा। व्याप्त किए बिना संयोग सम्भव नहीं, क्योंकि व्याप्त न करने का अर्थ है- सम्बन्धित न होना और संयुक्त होने का अर्थ—सम्बन्धित होना है। दोनों विरुद्ध घटनाएँ एक साथ घटित नहीं हो सकतीं। विभिन्न देशों (छः दिशाओं) में विद्यमान परमाणुओं से संयुक्त परमाणु के छः अवयव मानने होंगे। इस सावयवत्वापत्ति से बचने के लिए यह मानना होगा कि द्व्यणुक-निर्माणार्थ जिन दो परमाणुओं एवं त्र्यणुक-रचनार्थ जिन छः परमाणुओं या तीन द्व्यणुकों का संयोग माना जाता है, वे सभी परमाणु एक ही देश में विद्यमान हैं। तब द्व्यणुक और त्र्यणुकादि सभी पिण्ड अणु परिमाण के ही रहेंगे, उनका मध्यम या महत्परिमाण न हो सकेगा, जैसा कि आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥ (विंशति० १२)

इस प्रकार वैशेषिकों के पक्ष में परमाणु को सावय मानना सम्भव नहीं, निरवयव परमाणु का समग्रतया संयोग मानने पर प्रथिमा (महत्परिमाण) उपपन्न नहीं होती और अवयवशः संयोग मानने पर सावयवत्वापत्तिरूप समान दोष प्रसक्त होता है। अनन्त अवयव-परम्परा मानने पर सुमेरु पर्वत और सरसों के एक दाने का समान परिमाण का प्रसङ्ग दिखाया जा चुका है। भाष्यकार ने यहाँ पर सिद्धान्तों में दोष-साम्य का अभिधान आपाततः ही कर दिया है, वस्तुतः जो लोग परिणामवाद और आरम्भवाद को पारमार्थिक मानते हैं, उन्हीं

(१० सर्वोपेताधिकरणम् । सू० ३०-३१)

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तम्। तत्पुनः कथमवगम्यते विचित्रशक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति? तदुच्यते -सर्वोपेता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुतः? तद्दर्शनात्। तथा हि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगं परस्या देवतायाः-'सर्वकामा सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' (छा० ३।१४।४), 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।१), 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः (बृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयका ॥ ३० ॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

स्यादेतत्,-विकरणां परां देवतां शास्ति शास्त्रम्—अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३।८।८) इत्येवंजातीयकम्। कथं सा सर्वशक्तियुक्तापि सती कार्याय प्रभवेत्? देवादयो हि चेतनाः सर्वशक्तियुक्ता अपि सन्त आध्यात्मिककार्यकरणसंपन्ना एव तस्मै तस्मै कार्याय प्रभवन्तो विज्ञायन्ते। कथं च 'नेति नेति' (बृ० ३।९।२६) इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषायाः सर्वशक्तियोगः संभवेदिति चेत्-यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम्।

भामती

विचित्रशक्तित्वमुक्तं ब्रह्मणस्तत्र श्रुत्युपन्यासपरं सूत्रम्—"सर्वोपेता च तद्दर्शनात्" ॥ ३० ॥

एतदाक्षेपसमाधानपरं सूत्रम्—"विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्"।

कुलालादिभ्यस्तावद् बाह्यकरणापेक्षेभ्यो देवादीनां बाह्यानपेक्षाणामान्तरकरणापेक्षसृष्टीनां प्रमाणेन दृष्टो यथा विशेषो नापह्नोतुं शक्यः। यथा तु जाग्रत्सृष्टेर्बाह्यकरणापेक्षायास्तदनपेक्षान्तरकरणमात्रसाध्या दृष्टा स्वप्ने रथादिसृष्टिरशक्यापह्नोतुमेवं सर्वशक्तेः परस्या देवताया आन्तरकरणानपेक्षाया जगत्सर्जनं श्रूयमाणं न सामान्यतोदृष्टमात्रेणापह्नवमर्हतीति ॥ ३१ ॥

भामती-व्याख्या

के मत में कथित दोष प्रसक्त होते हैं, हम मायावादी वेदान्तियों के मत में नहीं, यही भाष्यकार ने कहा है—"परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः" ॥ २९ ॥

संशय—समन्वयाध्याय में माया शक्ति-समन्वित ब्रह्म से जगत् की सृष्टि प्रतिपादित है, वह युक्ति-विरुद्ध है? अथवा नहीं?

पूर्वपक्ष—लोक में सभी मायाकार (जादूगर) शरीरधारी ही होते हैं, शरीर-रहित ब्रह्म का मायावी होना सम्भव नहीं, अतः "मायी सृजते विश्वम्" (श्वेता. ४।९) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय युक्ति-विरुद्ध है।

सिद्धान्त—मायारूप विचित्र शक्ति से सम्पन्न ब्रह्म के प्रतिपादक श्रुति-वाक्यों का निदर्शक सूत्र है—"सर्वोपेता च तद्दर्शनात्"। इससे उक्त पूर्वपक्ष का सम्यक् समाधान हो जाता है। सूत्रकार का कहना है कि जैसे दण्ड, चक्रादि बाह्य सामग्री-सापेक्ष कुलालादि की अपेक्षा बाह्य सामग्री-निरपेक्ष देव, पितर और ऋष्यादि की जिस विशेषता का दर्शन किया जाता है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता जाग्रत्सृष्टि की अपेक्षा स्वाप्न सृष्टि की दृष्ट विशेषता भी नकारी नहीं जा सकती। वैसे ही शरीरादि बाह्य एवं आन्तर साधन-निरपेक्ष सर्वशक्ति-सम्पन्न ब्रह्म की श्रूयमाण जगत्कर्तृता केवल सामान्यतो दृष्ट अनुमान के द्वारा निरस्त

अत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्। न च यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथाऽन्यस्यापि सामर्थ्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्तीति। प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्यापि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः संभवतीत्येतदप्यविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेनोक्तमेव। तथा च शास्त्रम्—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३।१९) इत्यकरणस्यापि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति ॥ ३१ ॥

(११ नप्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् । सू० ३२--३३)

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृत्वं जगत आक्षिपति। न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्बिम्बं विरचयितुमर्हति कुतः? प्रयोजनवत्त्वात्प्रवृत्तीनाम्। चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत्प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः, किमुत गुरुतरसंरम्भाम्? भवति च लोकप्रसिद्ध्यनुवादिनी श्रुतिः—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृह० २।४।५) इति। गुरुतरसंरम्भा चेयं प्रवृत्तिर्यदुच्चावचप्रपञ्चं जगद्बिम्बं विरचयितव्यम्। यदीयमपि प्रवृत्तिश्चेतनस्य परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगिनी परिकल्प्येत परितृप्तत्वं

भामती

न तावदुन्मत्तवदस्य मतिविभ्रमाज्जगत्प्रक्रिया, आप्तस्य सर्वज्ञत्वानुपपत्तेः। तस्मात् प्रेक्षावतानेन जगत् कर्तव्यम्। प्रेक्षावतश्च प्रवृत्तिः स्वपरहिताहितप्राप्तिपरिहारप्रयोजना सती नाप्रयोजनाल्पायासापि सम्भवति, किं पुनरपरिमेयानेकविधोच्चावचप्रपञ्चजगद्बिम्बविरचना महाप्रयासा। अत एव लीलापि परास्ता। अल्पायाससाध्या हि सा न चेयमप्रयोजना, तस्या अपि सुखप्रयोजनवत्त्वात्तावर्थ्येन वा प्रवृत्तौ

भामती—व्याख्या

नहीं की जा सकती। [न्यायसूत्रकार ने अनुमानों के तीन भेद बताए हैं—''पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं च'' (न्या. सू. १।१।५)। इनमें किन्हीं दो विशेष धर्मों का कहीं सहचार देख कर सामान्य धर्म के द्वारा अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहलाता है, जैसे भौतिक प्राणियों में स्रष्टृत्व और शरीरित्व का सहचार देख कर 'स्रष्टृत्व' हेतु के द्वारा शरीरित्व का अनुमान—ईश्वरः शरीरी, जगत्स्रष्टृत्वात् , कुलालादिवत्'। यह अनुमान आगम प्रमाण से बाधित है—''अशरीरं शरीरेषु'' (कठो. १।२।२१)] ॥ ३०–३१ ॥

संशय—सर्वथा परितृप्त और निष्काम स्रष्टा का जगत्सर्जन युक्ति-विरुद्ध है? अथवा नहीं?

पूर्वपक्ष—निष्काम ब्रह्म जगत् की रचना यदि वैसे ही करता है, जैसे कोई उन्मत्त (विक्षिप्त) व्यक्ति अपने मति-विभ्रम से कुछ बना डालता है, तब वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता अतः ईश्वर को वैसे ही जगत् का सर्जन करना चाहिए, जैसे प्रेक्षावान् (प्रज्ञावान्) पुरुष कार्य करता है। प्रज्ञाशील पुरुष की प्रवृत्ति सदैव सभी के हित की प्राप्ति एवं अहित की निवृत्ति को ध्यान में रख कर ही होती है, उसकी प्रवृत्ति का लेशमात्र भी निष्प्रयोजन नहीं होता। जगद्रचना-जैसी महनीय एवं अनन्त उच्चावच विविधताओं और विषमताओं से परिपूर्ण रचना निष्प्रयोजन नहीं हो सकती। अत एव इसे किसी की लीला या क्रीड़ा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि क्रीड़ा के लिए इतने बड़े आयास (प्रयत्न) की अपेक्षा नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि क्रीड़ा भी निरर्थक नहीं होती, उसका मनोरञ्जनादि-जनित सुख-

परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत। प्रयोजनाभावे वा प्रवृत्त्यभावोऽपि स्यात्। अथ चेतनोऽपि सन्नुन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरेणैवात्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा परमात्मापि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत, तथा सति सर्वज्ञत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत। तस्मादश्लिष्टा चेतनात्सृष्टिरिति ॥ ३२ ॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति। यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किंचित्प्रयोजनमनभिसंधाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाह्यं किंचित्प्रयोजनं स्वभावादेव सम्भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। न हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति। न च स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते। यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बविरचना

भामती

तदभावे कृतार्थत्वानुपपत्तेः परेषां चोपकार्याणामभावेन तदुपकाराया अपि प्रवृत्तेरयोगात्। तस्मात् प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः प्रयोजनवत्तया व्याप्ता तदभावेऽनुपपन्ना ब्रह्मोपादानतां जगतः प्रतिक्षिपतीति प्राप्तम् ॥ ३२॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते— लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।

भवेदेतदेवं यदि प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः प्रयोजनवत्तया व्याप्ता भवेत्ततस्तन्निवृत्तौ निवर्तेत, शिंशपात्वमिव वृक्षतानिवृत्तौ, न त्वेतदस्ति प्रेक्षावतामननुसंहितप्रयोजनानामपि यादृच्छिकीषु क्रियासु प्रवृत्तिदर्शनात्। अन्यथा 'न कुर्वीत वृथा चेष्टाम्' इति धर्मसूत्रकृतां प्रतिषेधो निर्विषयः प्रसज्येत। न चोन्मत्तान् प्रत्येतत् सूत्रमर्थवत्तेषां तदर्थबोधतदनुष्ठानानुपपत्तेः। अपि चादृष्टहेतुकोत्पत्तिकी श्वासप्रश्वासलक्षणा प्रेक्षावतां

भामती—व्याख्या

प्राप्ति प्रयोजन होता है। जगद्रचना का सुख-प्राप्ति भी प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् की उत्पत्ति से पहले सुख का भी अभाव होता है। जिन प्राणियों का हित-साधन करने के लिए जगद्रचना अभिलषित है, उनका भी पहले अभाव होता है, अतः परोपकारार्थ भी प्रपञ्च-रचना सम्भव नहीं। फलतः प्रज्ञाशील पुरुष की प्रवृत्ति प्रयोजनवत्ता से व्याप्त होती है, अतः प्रयोजन के अभाव में प्रवृत्ति उपपन्न नहीं हो सकती। इस प्रकार जगद्रचना की प्रवृत्ति अनुपपन्न होकर ब्रह्मगत जगदुपादानत्व का निराकरण कर देती है ॥ ३२ ॥

सिद्धान्त—सूत्रकार ने "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" कह कर सिद्धान्त की स्थापना करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि प्रेक्षावान् पुरुष की प्रवृत्ति प्रयोजनवत्ता से व्याप्त होती, तब अवश्य ब्रह्मगत जगत्कर्तृत्व पर आघात आ सकता था कि व्यापकीभूत प्रयोजनवत्ता की निवृत्ति से ब्रह्मनिष्ठ जगदुपादानता की निवृत्ति वैसे ही हो जाती, जैसे वृक्षत्व की निवृत्ति हो जाने से शिंशपात्व की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु प्रज्ञावान् पुरुषों की भी कुछ प्रवृत्तियाँ विना उद्देश्य एवं विना प्रयोजन की देखी जाती हैं। यदि ऐसा न हो, तब निष्प्रयोजन प्रवृत्ति पर धर्म-शास्त्रकार ऐसा अंकुश न लगाते—"न कुर्वीत वृथा चेष्टाम्" (मनु. ४।६३)। उन्मत्त व्यक्तियों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए उक्त मनु-वचन की सार्थकता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इस वचन के द्वारा भी उन्हें व्यर्थ चेष्टा से उपरत नहीं किया जा सकता, उन्हें न तो इस वचन का अर्थ-बोध होगा और न वे इस आज्ञा का पालन ही करेंगे।

दूसरी बात यह भी है कि प्रेक्षावान् व्यक्तियों की भी श्वास-प्रश्वास क्रिया ऐसी है, जो विना किसी प्रयोजन के केवल अदृष्टानुप्राणित हो स्वाभावतः ही सञ्चारित है। 'चेतनात्मा

गुरुतरसंरम्भेवाभाति, तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम्, अपरिमितशक्तित्वात्। यदि नाम लोके लीलास्वपि किंचित्सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत, तथापि नैवात्र किंचित् प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः। नाप्यप्रवृत्तिरुन्मत्तप्रवृत्तिर्वा; सृष्टिश्रुतेः, सर्वज्ञश्रुतेश्च। न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगो-

भामती

क्रिया प्रयोजनानुसन्धानमन्तरेण दृष्टा न चास्यां चेतनस्यापि चैतन्यमनुपयोगि, सम्प्रसादेऽपि भावादिति युक्तं प्राज्ञस्यापि चैतन्याप्रच्युतेरन्यथा मृतशरीरेऽपि श्वासप्रश्वासप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। यथा च स्वार्थपरार्थ-सम्पादासादितसमस्तकामानां कृतकृत्यतयाऽनाकुलमनसामकामानामेव लीलामात्रात्सत्स्वप्यनुनिष्पादिनि प्रयोजने नैव तदुद्देशेन प्रवृत्तिरेवं ब्रह्मणोऽपि जगत्सर्जने प्रवृत्तिर्नानुपपन्ना। दृष्टञ्च यदल्पबलवीर्यबुद्धीनामशक्यमतिदुष्करं वा तदन्येषामनल्पबलवीर्यबुद्धीनां सुशकमीषत्करं वा न हि वानरैर्मारुतिप्रभृतिभिर्नगैर्न बद्धो नीरनिधिरगाधो महासत्त्वानाम्। न चैव पार्थेन शिलीमुखैर्न बद्धो न चायं न पीतः संक्षिप्य चुलुकेन हेलयैव कलशयोनिना महामुनिना। न चाद्यापि न दृश्यन्ते लीलामात्रविनिर्मितानि महाप्रासादप्रमदवनानि श्रीमन्नृगनरेन्द्राणामन्येषां मनसापि दुष्कराणि नरेश्वराणाम्। तस्मादुपपन्नं यदृच्छया वा स्वभावाद्वा लीलया वा जगत्सर्जनं भगवतो महेश्वरस्येति। अपि च नेयं पारमार्थिकी सृष्टिर्येनानुयुज्येत प्रयोजनम्, अपि त्वनाद्यविद्यानिबन्धना, अविद्या च स्वभावत एव कार्योन्मुखी न प्रयोजनमपेक्षते, नहि द्विचन्द्रालातचक्रगन्धर्वनगरादिविभ्रमाः समुद्दिष्टप्रयोजना भवन्ति। न च तत्कार्या विस्मयभयकम्पादयः स्वोत्पत्तौ प्रयोजनमपेक्षन्ते। सा च चैतन्यविच्छुरिता जगदुत्पादहेतुरिति चेतनो जगद्योनिराख्यायत इत्याह * न चेयं परमार्थविषया इति *। अपि च न ब्रह्म जगत्कारणमपि तत्तया विवक्षन्त्यागमा अपि तु

भामती—व्याख्या

का चैतन्य भी उस क्रिया में उपयोगी नहीं, क्योंकि सुषुप्त (प्राज्ञ) आत्मा में चैतन्य न होने पर भी श्वास-प्रश्वास क्रिया प्रवाहित रहती है'—ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि प्राज्ञात्मा में भी चैतन्य अक्षुण्ण रहता है, अन्यथा मृत शरीर में भी श्वासादि क्रिया होनी चाहिए।

जिन व्यक्तियों के सभी स्वार्थ और परार्थ सिद्ध हो चुके हैं, ऐसे कृत-कृत्य प्रशान्तमनस्क और निष्काम पुरुषों की भी लीलामात्र से जब सभी प्रयोजन अपने-आप निष्पन्न हो जाते हैं, अतः उनकी प्रवृत्ति जैसे सर्वथा निष्प्रयोजन होती है, वैसे ही ब्रह्म की जगद्रचनारूप प्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है। लोक में तो यह देखा ही जाता है कि जो कार्य अल्प बलवीर्य वाले व्यक्ति के लिए अत्यन्त अशक्य या दुष्कर होता है, वही कार्य महाशक्ति-सम्पन्न पुरुषों के लिए सुकर या ईषत्कर होता है। विशालकाय प्राणियों के लिए भी अगाध और अपार समुद्र में भी हनूमान्-जैसे वानरपुङ्गवों ने क्या महापर्वतों द्वारा सेतु बन्ध का निर्माण नहीं कर दिया था? महाधनुर्धर अर्जुन ने क्या बाणों की अद्भुत वर्षा से सागर को पाट नहीं दिया था? महर्षि अगस्त ने क्या महासागर को एक चुल्लू में भर की पी नहीं लिया था। नृग नरेश के सङ्कल्पमात्र से निर्मित गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ और मोहक प्रमद-वन क्या आज भी नहीं देखे जाते हैं? फलतः ब्रह्म की जगद्रचना को चाहे यादृच्छिक, चाहे स्वाभाविक या लीलामात्र कहा जाय, सर्वथा उपपन्न और युक्ति-संगत है।

दूसरी बात यह भी है कि यह सृष्टि पारमार्थिकी नहीं मानी जाती कि जिसके प्रयोजन का प्रश्न उठता। अनादि अविद्या की देन यह सृष्टि है, अविद्या स्वभावतः विभ्रम कार्य को जन्म दे डालती है, किसी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं करती, जैसे कि न तो द्विचन्द्र, अलातचक्र, गन्धर्वनगरादि विभ्रम किसी प्रयोजन को उद्देश्य करके उत्पन्न होते हैं और

परत्वात् ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम् ॥ ३३ ॥

(१२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम् । सू० ३४–३६)

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३४ ॥

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याक्षिप्यते, स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य दृढीकरणाय । नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते । कुतः? वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात् । कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्, कांश्चिदत्यन्तदुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः । श्रुतिस्मृत्यवधारितस्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत । तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात्सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत । तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

भामती

जगति ब्रह्मात्मभावं, तथा च सृष्टेरविवक्षायां तदाश्रयो दोषो निर्विषय एवेत्याशयेनाह ❀ ब्रह्मात्मभाव इति ❀ ॥ ३३ ॥

अतिरोहितोऽत्र पूर्वः पक्षः, उत्तरस्तूच्यते । उच्चावचमध्यमसुखदुःखभेदवत्प्राणभृत्प्रपञ्चं च सुखदुःखकारणं सुधाविषादि चानेकविधं विरचयतः प्राणभृद्भेदोपात्तपापपुण्यकर्मातिशयसहायस्यात्र भवतः परमेश्वरस्य न वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येते । न हि सभ्यः सभायां नियुक्तो युक्तवादिनं युक्तवाद्यसीति चायुक्तवादिनमयुक्तवाद्यसीति ब्रुवाणः सभापतिर्वा युक्तवादिनमनुगृह्णन्नयुक्तवादिनश्च निगृह्णन्नुरक्तो द्विष्टो

भामती–व्याख्या

न उनसे जनित विस्मय, भय और कम्पादि कार्य ही किसी प्रयोजन की अपेक्षा करते हैं। वह अविद्या चिदात्मा से तादात्म्य स्थापित करके ही जगत् की रचना करती है, अतः चेतन तत्त्व जगत् का उपादान कहा जाता है। भाष्यकार भी यही कह रहे हैं—"न चेयं परमार्थविषया"। वस्तुतः सृष्टि-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यों का परम तात्पर्य ब्रह्मात्मभाव के प्रदर्शन में है। सृष्टि अविवक्षित होने के कारण सृष्टिविषयक दोष निर्विषयक हैं—"ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वात्" ॥ ३३ ॥

संशय—निर्दोष ब्रह्म में सृष्टि-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यों का जो समन्वय किया गया, वह न्याय-विरुद्ध है? अथवा नहीं?

पूर्वपक्ष—ब्रह्म को यदि जगत् का रचयिता माना जाता है, तब उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य (क्रूरभाव) प्रसक्त होता है, क्योंकि देवादिरूप सात्त्विक और सुखी सृष्टि के प्रति राग, मनुष्यादिरूप राजस एवं दुःखाक्रान्त प्राणियों से द्वेष, पशु-पक्ष्यादि तामस जगत् के निर्माण एवं प्रलयार्थ अतिक्रूरत्व अपेक्षित है।

सिद्धान्त—यद्यपि भगवान् ने उच्च-नीचादि-भेद-भिन्न विश्व का निर्माण किया, जिसमें कोई सुखी और कोई दुःखी है, अमृत और विष-जैसी विषमताएँ हैं। तथापि उसमें किसी प्रकार का राग, द्वेष और क्रूरत्व नहीं, क्योंकि प्राणियों की अनादि कर्म-वासनाओं को अपने उदर में समेटे महाअविद्या विविधताओं और विषमताओं को जन्म देती जा रही है, भगवान् का क्या दोष? जैसे किसी सभा में नियुक्त साक्षी या अध्यक्ष युक्तवादी का अनुमोदन और अयुक्तवादी का प्रतारण करता हुआ भी राग-द्वेषपूर्ण या पक्षपाती नहीं होता,

वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। कस्मात्? सापेक्षत्वात्। यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते, स्यातामेतौ दोषौ—वैषम्यं निर्घृण्यं च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति। सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्, धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति। कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमध्यमोत्तमं संसारं निर्मिमीत इति? तथा हि दर्शयति श्रुतिः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ब्रा० ३।८) इति। 'पुण्यो वै पुण्येन

भामती

वा भवत्यपि तु मध्यस्थ इति वीतरागद्वेष इति चाख्यायते, तद्वदीश्वरः पुण्यकर्माणमनुगृह्णन्नपुण्यकर्माणञ्च निगृह्णन्मध्यस्थ एव नामध्यस्थः। एवं ह्यसावमध्यस्थः स्याद्यद्यकल्याणकारिणमनुगृह्णीयात्कल्याणकारिणञ्च निगृह्णीयान्न त्वेतदस्ति। तस्मान्न वैषम्यदोषोऽत एव न नैर्घृण्यमपि संहरतः समस्तान् प्राणभृतः। स हि प्राणभृत्कर्माशयानां वृत्तिनिरोधसमयस्तमतिलङ्घयन्नयमयुक्तकारी स्यात्। न च कर्मापेक्षायामीश्वरस्य ऐश्वर्यव्याघातः। न हि सेवादिकर्मभेदापेक्षः फलभेदप्रदः प्रभुरप्रभुर्भवति न च "एष ह्येव साधु कर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" इति श्रुतेरीश्वर एव द्वेषपक्षपाताभ्यां साध्वसाधुनी कर्मणी कारयित्वा स्वर्गं नरकं वा लोकं नयति। तस्माद्वैषम्यदोषप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमिति वाच्यम्; विरोधात्। यस्मात् कर्म कारयित्वेश्वरः प्राणिनः सुखदुःखिनः

भामती—व्याख्या

अपितु तटस्थ और वीतराग ही माना जाता है। वैसे ही परमेश्वर भी पुण्यवान् पर अनुग्रह और पापी का निग्रह करता हुआ भी मध्यस्थ ही सिद्ध होता है। हाँ, वह तब अमध्यस्थ या पक्षपाती कहा जा सकता था, जब कि अकल्याणकारी पर अनुग्रह और कल्याणकारी का निग्रह करता, किन्तु ऐसा नहीं, अतः उसमें वैषम्य दोष नहीं। इसी प्रकार समस्त प्राणियों का संहार कर देने पर भी वह निर्घृण (क्रूर) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रलय अवस्था है, जिसमें सभी प्राणियों के कर्म-बीज अवगुण्ठित एवं कार्याक्षम हो जाते हैं, अदृष्टों की इस क्रुञ्ज मर्यादा का उल्लङ्घन करके यदि ईश्वर संसृति-सजन करने लग जाता, तब अवश्य उसे अयुक्तकारी कहा जा सकता था। अपनी सृष्टि-क्रिया में उन अदृष्टों की अपेक्षा करने मात्र से ईश्वर का ऐश्वर्य वैसे ही व्याहत नहीं होता, जैसे भृत्यों की सेवा के अनुरूप पुरस्कार या भृति प्रदान करनेवाले गृहस्वामी का स्वातन्त्र्य समाप्त नहीं होता।

शङ्का—"एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति, तं यमधो निनीषते" (कौ. ब्रा. ३।८) यह श्रुति स्पष्ट कहती है कि ईश्वर ही जिस जीव को देव-लोक में ले जाना चाहता है, उससे साधु (पुण्य-प्रद) कर्म एवं जिसको नरक लोक में ले जाना चाहता है, उससे असाधु (पाप-प्रद) कर्म कराता है। इस प्रकार ईश्वर में स्वयं अपनी राग-द्वेष-युक्तता सिद्ध होती है—'ईश्वरो रागादिमान्, विषमस्रष्टृत्वात्'।

समाधान—ईश्वर में स्वतः विषम-स्रष्टृत्व का अनुमान करना आगम प्रमाण से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि उक्त आगमने ईश्वर में स्वतः विषम-स्रष्टृत्व का निराकरण करने के

कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० ३।२।१३) इति च। स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेवेश्वरस्यानुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वं च दर्शयति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इत्येवंजातीयका ॥ ३४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

भामती

सृजति इति श्रुतेरवगम्यते। तस्मान्न सृजतीति विरुद्धमभिधीयते। न च वैषम्यमात्रमत्र ब्रूमो न त्वीश्वरकारणत्वं व्यासेधाम इति वक्तव्यं किमतो यद्येवं, तस्मादीश्वरस्य सवासनक्लेशापरामर्शमभिवदन्तीनां भूयसीनां श्रुतीनामनुग्रहायोन्निनीषतेऽधो निनीषत इत्येदपि तज्जातीयपूर्वकर्माभ्यासवशात् प्राणिन इत्येवं नेयम् , यथाहुः—

जन्मजन्मयदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः।
तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यसते नरः॥

इत्यभ्युपेत्य च सृष्टेस्तात्त्विकत्वमिदमुक्तमनिर्वाच्या तु सृष्टिरिति न प्रष्टव्यमत्रापि तथा च मायाकारस्येवाङ्गसाकल्यवैकल्यभेदेन विचित्रान् प्राणिनो दर्शयतो न वैषम्यदोषः, सहसा संहरतो वा न नैर्घृण्यमेवमस्यापि भगवतो विविधविचित्रप्रपञ्चमनिर्वाच्यं विश्वं दर्शयतः संहरतश्च स्वभावाद्वा लीलया वा न कश्चित् दोषः ॥ ३४ ॥

इति स्थिते शङ्कापरिहारपरं सूत्रम्—न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् शङ्कोत्तरे अतिरोहि-

भामती-व्याख्या

लिए 'कर्म कारयित्वा सृजति'—ऐसा कहा है, अर्थात् प्राणियों के अदृष्टों का अनादि प्रवाह माना जाता है, ईश्वर जीवों से उनके पूर्व-पूर्व अदृष्ट के अनुसार ही शुभ या अशुभ कर्म कराता है, अपने-आप किसी से कुछ नहीं कराता। जीवों के शुभाशुभ कर्मों से जनित अदृष्टों के अनुरूप ही ईश्वर सृष्टि और प्रलय करता है, फिर वह दोषी क्यों होगा ? यदि कहा जाय कि जगत् में ईश्वरकारणत्व का निषेध नहीं किया जाता, केवल वैषम्य की सिद्धि की जाती है। तब प्रश्न उठता है कि इससे क्या होगा ? ईश्वर सर्वथा अविद्यादि क्लेश और उनकी वासनाओं (संस्कारों) से रहित है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (यो. सू. १।२४)। इस प्रकार के रागादि-रहित ईश्वर की प्रतिपादिका अनन्त श्रुतियों के अनुरोध पर यह मानना होगा कि ईश्वर में कतिपय प्राणियों की जो उन्निनीषा या अधोनिनीषा उत्पन्न होती है, वह उन प्राणियों के ही पूर्वकर्म की प्रेरणा से ही होती है, स्वतः नहीं जैसा कि कहा गया है—

जन्मजन्मयदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः।
तेनैवाभ्यासंयोगेन तच्चैवाभ्यसते नरः॥

अर्थात् जीव ने जो अपने पूर्व जन्म में दान, अध्ययन और तप किया है, उसी के संस्कारों का पाथेय लेकर वह इस जन्म में आया है, अतः वैसा ही अभ्यास (पुनरावर्तन) करता रहता है। ईश्वर तो केवल प्राणियों के सामूहिक अदृष्टों के आधार जगत् का सर्जन कर देता है, उसकी विषमता में तो कर्मों के संस्कार ही प्रयोजक होते हैं। यह समाधान तो सृष्टि को तात्त्विक मान कर किया गया है। वस्तुतः सृष्टि मायामयी अनिर्वचनीया है, अतः मायाकार (जादूगर) के समान सकल (सर्वाङ्ग पूर्ण) और विकल (अपूर्ण) प्राणियों की रचना करने पर भी ईश्वर में न तो किसी प्रकार की विषमता सिद्ध होती है और न समग्र प्राणियों का संहार कर देने पर नैर्घृण्य (निष्ठुरत्व) ॥ ३४ ॥

पूर्व सूत्र में "कर्मजं लोकवैचित्र्यम्" (अभि. को. ४।१) की जो स्थापना की गई, उस

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति प्राक्सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म, यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः स्यात्। सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत। अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम। प्राग्विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात्तुल्यैवाद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत्, नैष दोषः, अनादित्वात्संसारस्य। भवेदेव दोषो यद्यादिमान् संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते ॥ ३५ ॥

कथं पुनरवगम्यतेऽनादिरेष संसार इति ? अत उत्तरं पठति—

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

उपपद्यते च संसारस्यानादित्वम्। आदिमत्त्वे हि संसारस्याकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः, अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुखदुःखादिवैषम्यस्य निर्निमित्तत्वात्। न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम्। न चाविद्या केवला वैषम्यस्य कार-

भामती

तार्थेन भाष्यग्रन्थेन व्याख्याते ॥ ३५ ॥

अनादित्वादिति सिद्धवदुक्तं तत्साधनार्थं सूत्रम् —"उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" ॥ ३६ ॥

अकृते कर्मणि पुण्ये पापे वा तत्फलं भोक्तारमभ्यागच्छेत् तथा च विधिनिषेधशास्त्रमनर्थकं भवेत् प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावादिति मोक्षशास्त्रस्य चोक्तमानर्थक्यम्। न चाविद्या केवलेति तत्राभिप्रायम्। विक्षेपलक्षणाविद्यासंस्कारस्तु कार्यत्वात् स्वोत्पत्तौ पूर्वं विक्षेपमपेक्षते, विक्षेपश्च मिथ्याप्रत्ययो मोहापरनामा

भामती-व्याख्या

पर शङ्का उठाई गई कि द्वितीयादि सृष्टियों में पूर्व कर्म-जन्यत्व सम्भव होने पर भी प्रथम सृष्टि में कर्म-प्रयुक्तत्व क्योंकर सम्भावित होगा ? क्योंकि "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छा० ६।२।१) यह श्रुति प्रथम सृष्टि से पूर्व कर्त्ता, कर्म और करणादि-विभाग का निषेध करती है। इस शङ्का का समाधान है —"अनादित्वात्"। अर्थात् संसार अनादि है, इसकी कभी आदि (प्रथम) सृष्टि मानी ही नहीं जाती, अतः पूर्व-पूर्व कर्मों के आधार पर उत्तरोत्तर सृष्टि का उच्चावचभाव सम्पन्न हो जाता है ॥ ३५ ॥

'अनादित्व' हेतु को सिद्ध समझ कर उद्धृत कर दिया गया, वस्तुतः वह सिद्ध नहीं किया गया, अतः उसकी सिद्धि करने के लिए कहा गया है—"उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च"। यदि संसार को अनादि न मानकर आदिमान् माना जाता है, तब प्रथम सृष्टि के पहले पुण्य-पापादि रूप कर्मों के न रहने पर इस जन्म में जीव को सुख-दुःखादि रूप फल का लाभ जो मिलता है, वह अकृताभ्यागम (कर्म किए बिना ही फल की प्राप्ति) है। कर्म किए बिना ही जब उनका फल मिल जाता है, तब विधि-निषेधात्मक शास्त्र निरर्थक और अप्रमाण हो जाते हैं, क्योंकि शास्त्रों के द्वारा न किसी की प्रवृत्ति होती है और न निवृत्ति। केवल विधि-निषेधात्मक कर्मकाण्ड का ही आनर्थक्य नहीं होता, अपि तु मोक्ष-शास्त्र (वेदान्त-शास्त्र) भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि कर्मों के बिना ही यदि संसार होता है, तब मुक्त पुरुषों को भी संसरण (जन्म-मरणादिरूप बन्धन) प्राप्त हो जायगा, यही भाष्यकार ने कहा है—"मुक्तानामपि संसारोद्भूतिप्रसङ्गः"। भाष्यकार ने जो कहा है—"न चाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम्।" वह प्रलय-प्रयोजिका अविद्या को ध्यान में रखकर कहा है, क्योंकि विक्षेप (सृष्टि) की प्रयोजिका अविद्या कार्य (जन्य) होने के कारण अपनी उत्पत्ति में नियमतः अपने पूर्व संसाररूप विक्षेप की अपेक्षा करती है। विक्षेप नाम है—मिथ्या ज्ञान का, जिसकी दूसरी संज्ञा है—

णम् , एकरूपत्वात् । रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या वैषम्यकरी स्यात् । न च कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति, न च शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीतीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः । अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति । उपलभ्यते च संसारस्यानादित्वं श्रुतिस्मृत्योः । श्रुतौ तावत् 'अनेन जीवेनात्मना' (छा० ६।३।२) इति सर्गप्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाभिलपन्ननादिः संसार इति दर्शयति । आदिमत्त्वे तु प्रागनवधारितप्राणः सन् कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभिलप्येत ? न च धारयिष्यतीत्यतोऽभिलप्येत; अनागताद्धि सम्बन्धादतीतः सम्बन्धो बलवान् भवति, अभिनिष्पन्नत्वात् । 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता

भामती

पुण्यापुण्यप्रवृत्तिहेतुभूतरागद्वेषनिदानं, स च रागादिभिः सहितः स्वकार्यैर्न शरीरं सुखदुःखभोगायतनमन्तरेण सम्भवति । न च रागद्वेषावन्तरेण कर्म, त च भोगसहितं मोहमन्तरेण रागद्वेषौ, न च पूर्वशरीरमन्तरेण मोहादिरिति पूर्वपूर्वशरीरापेक्षो मोहादिरेवं पूर्वपूर्वमोहाद्यपेक्षं पूर्वपूर्वशरीरमित्यनादितैवात्र भगवती चित्तमनाकुलयन्ति । तदेतदाह ® रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या वैषम्यकरी स्याद् इति® । रागद्वेषमोहा रागादयस्त एव हि पुरुषं संसारदुःखमनुभाव्य क्लेशयन्तीति क्लेशास्तेषां वासनाः कर्मप्रवृत्त्यनुगुणास्ताभिराक्षिप्तानि प्रवर्त्तितानि कर्माणि तदपेक्षा लयलक्षणाऽविद्या । स्यादेतत्—भविष्यताऽपि व्यपदेशो दृष्टो यथा पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपतीत्यत आह ® न च धारयिष्यतीत्यतः इति ® । तदेव-

---

भामती—व्याख्या

मोह । मोह सदैव पुण्य-पापरूप प्रवृत्ति के हेतुभूत राग और द्वेष का कारण होता है । रागादि कार्यों से युक्त मोह सुख-दुःखरूप भोग के आयतनभूत शरीर के बिना नहीं हो सकता । राग-द्वेष के बिना पुण्य-पापात्मक कर्म, कर्मों (अदृष्टों) के बिना शरीर, राग-द्वेष और पूर्व शरीर के बिना मोहादि उत्पन्न नहीं हो सकते, अतः पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तरोत्तर मोहादि एवं पूर्व-पूर्व मोह की अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीर का लाभ—इस प्रकार बौद्ध सम्मत अविद्यादि बारह पदार्थों के समान अनादि भाव-परम्परा का अनुसरण करना आवश्यक है [जैसा कि वसुबन्धु ने भी कहा है—"क्लेशकर्म हेतुकं जन्म, तद्धेतुकानि पुनः क्लेशकर्मणि, तेभ्यः पुनर्जन्मेत्यनादि भवचक्रकं वेदितव्यम्" (अभि. को. भा. पृ. १३०] भाष्यकार यही कह रहे हैं—"रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या वैषम्यकरी स्यात्" । भाष्यस्थ रागादि पद से राग, द्वेष और मोह का ग्रहण किया गया है, क्योंकि वे ही जीव को संसाररूपी दुःख का अनुभव कराकर क्लेशित (दुःखी) करने के कारण क्लेश कहे जाते हैं । उन क्लेशों की जो वासनाएँ (संस्कार) हैं, उनके द्वारा आक्षिप्त (प्रवर्तित) कर्मों से युक्त होकर ही लयात्मिका अविद्या विश्व की विषमताओं को जन्म देती है । "अनेन जीवेनात्मना" (छा. ६।३।२) इस श्रुति में 'जीव प्राणधारणे' धातु से निष्पन्न 'जीव' पद के द्वारा जो आत्मा का व्यवहार किया गया है, वह अतीत सृष्टि-कालीन प्राण-धारण के निमित्त से ? अथवा भावी सर्ग के प्राण-धारण को दृष्टि में रखकर ? ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि अतीत सृष्टि मानने की आवश्यकता नहीं, भावी प्राण-धारण को वैसे ही निमित्त बनाया जा सकता है, जैसे "पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति" यहाँ पर भावी पुरोडाश-पाकादिरूप सम्बन्ध को लेकर 'पुरोडाशकपाल' शब्द का व्यवहार है, जैसा कि महर्षि जैमिनि कहते हैं—"अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् तदर्थो हि विधीयते" (जै. सू. ४।१।२६) । उक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"अनागताद्धि सम्बन्धादतीतः सम्बन्धो बलवान्" ।

यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० सं० १०।१९०।३) इति च मन्त्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति । स्मृतावप्यनादित्वं संसारस्योपलभ्यते—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा' (गी० १५।३) इति पुराणे चातीतानागतानां च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम् ॥ ३६ ॥

(१२ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम् । सू० ३७)

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्तान्विलक्षणत्वादीन्दोषान्पर्यहार्षीदाचार्यः । इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणं प्रारिप्समाणः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति । यस्मादस्मिन् ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म'

भामती

मनादित्वे सिद्धे सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमिति प्राक् सृष्टेरविभागावधारणं समुदाचरद्रूपनामादिनिषेधपरं न पुनरेतान् प्रसुप्तानप्यपाकरोतीति सर्वमवदातम् ॥३६॥

अत्र *सर्वज्ञमिति* वृध्यते सर्वस्य चेतनाधिष्ठितस्यैव लोके प्रवृत्तिरिति लोकानुसारो दर्शितः । *सर्वशक्ति इति* सर्वस्य जगत उपादानकारणं निमित्तकारणं चेत्युपपादितम् । *महामायम् इति*

भामती–व्याख्या

कर्म और सृष्टि का बीज-वृक्ष के समान अनादि हेतु-हेतुमद्भाव सिद्ध हो जाने पर जो "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"—इस श्रुति के बल पर कर्मादि के विभाग का निराकरण किया गया है, वह केवल प्रवर्तमान (स्थूल या सक्रिय) कर्मादि का ही निषेध है, प्रसुप्त (सूक्ष्म या संस्काररूपेण अवस्थित) कर्मादि का नहीं ॥ ३६ ॥

संशय—निर्गुण ब्रह्म में जगदुपादानत्व युक्तिविरुद्ध है ? अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—लोक में मृत्तिकादि सगुण पदार्थ ही घटादि पदार्थों के उपादान कारण देखे जाते हैं, रसादि निर्गुण पदार्थ किसी के भी उपादान नहीं होते, अतः 'ब्रह्म न जगत् उपादानम्, निर्गुणत्वाद्, रसादिवत्'—इस अनुमान के द्वारा निर्गुण ब्रह्म में उपादानत्व का समन्वय बाधित हो जाता है ।

सिद्धान्त—[ब्रह्म में परिणामित्वरूप उपादानत्व अवश्य युक्ति-विरुद्ध है, विवर्तोपादानत्व नहीं, क्योंकि ज्वरित व्यक्ति को मधुर रसरूप निर्गुण पदार्थ में भी कटुत्वादि का भ्रम हो जाता है, अतः कटुत्वादि की विवर्तोपादनता रसादि में सम्भव हो जाती है । ब्रह्म में अभिन्ननिमित्तोपादानत्व सिद्ध किया जा चुका है, उसकी पूर्ण योग्यता श्रुति-प्रतिपादित है, क्योंकि वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिक और महामाया का आश्रय है] यहाँ 'सर्वज्ञ' शब्द के द्वारा निमित्त कारणता प्रदर्शित की है, क्योंकि लोक में कुलालादिरूप विज्ञ (चेतन) व्यक्तियों से अधिष्ठित मृदादि पदार्थ ही घटादि निर्माणार्थ प्रवृत्त होते हैं, अतः कुलालादि के समान ही ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण माना जाता है । 'सर्वशक्ति' पद के द्वारा 'शक्तस्य शक्यकारणात्'—इस न्याय के अनुसार ब्रह्म में जगत् की उपादानता प्रदर्शित है । 'महामायम्'—इस पद के द्वारा समस्त अनुपपत्तियाँ परास्त की गई है, क्योंकि माया के द्वारा ब्रह्म में सभी धर्म

इति, तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनमिति ॥ ३७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यशंकरभगवत्पूज्यपादकृतो शारीरिक-
मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य सांख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च वेदान्त-
समन्वयविरोधपरिहाराख्यः प्रथमः पादः समाप्तः ॥ १ ॥

—०—

भामती

सर्वानुपपत्तिशङ्का परास्ता । तस्माज्जगत्कारणं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते भगवत्पादशारीरकभाष्यविभागे भामत्यां
द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

भामती-व्याख्या

उपपन्न हो जाता है—"न हि मायायां काचिदनुपपत्तिः" (ब्र. सि. पृ. २०)। आचार्य गौड-
पाद भी कहते हैं—

"स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥" (आगम. २।३२)

स्वामियोगीन्द्रानन्दोदासीनविरचितायां भामतीव्याख्यायां
अविरोधाख्यस्य द्वितीयाध्यायस्य
प्रथमः पादः समाप्तः ।